रीतियुगीन काव्य

•

डॉ. कृष्णचन्द्र वर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.,
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
भोपाल (म० प्र०)

मूल्य	१५.००
प्रकाशक	पुस्तक मन्दिर
	११, विवेकानन्द मार्ग इलाहाबाद
संस्करण	१९६५
मुद्रक	गायत्री प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

प्रस्तावना

रीतियुगीन काव्य दीर्घकाल से मेरे अध्ययन का प्रिय विषय रहा है। आज से १८ वर्ष पूर्व सन् १९४६ में जब प्रयाग विश्वविद्यालय में मैंने उच्चतर अध्ययन के लिए प्रवेश लिया उसी समय से व्रजभाषा काव्य के प्रति मेरी विशेष अभिरुचि जागृत हुई जिसका कारण एक तो व्रजभाषा की स्पष्ट एवं मधुर, व्यंजक एवं रसीली अभिव्यक्तियां थीं दूसरे भावों की वह मनोहर छटा थी जो घटाओं सी घुमड़ कर हृदय-भूमि पर रस बरसा बरसा जाया करती थीं। उसी समय से मैंने सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, केशव, बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, भिखारीदास, भारतेन्दु, सत्यनारायण 'कविरत्न' रत्नाकर आदि का, उनकी समस्त कृतियों का पारायण करना शुरू किया। इनके साथ अन्यान्य सदृश कवियों के काव्य का भी मैं सतत् उत्साहपूर्वक अनुशीलन करता रहा हूँ। इस काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश करने तथा व्रजभाषा काव्य-सागर के रत्नों के मूल्य आँकने का योग्य आदर्श मुझे न मिला होता यदि उसके अनन्य पारखी एवं अन्यतम मर्मज्ञ आचार्य प्रवर डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' की प्रयाग विश्वविद्यालय की कक्षाओं मे बैठने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ होता। योग्य गुरु अपने शिष्य में अपने विषय के प्रति ललक और अनुराग जगाने में समर्थ हुआ करता है; यदि वह रुचि जागृत कर देता है तो उसका कार्य एक बड़ी सीमा तक संपन्न हो जाता है। मुझे यह बात स्वीकार करने में लेश मात्र भी संकोच नहीं कि व्रजभाषा काव्य के प्रति रुचि और अनुराग उसी विद्यार्जन काल में मुझमें यथेष्ट परिमाण मे जागृत हो गया था जो कालांतर मे गाढ़तर ही होता गया है। सन् १९५० मे रीवां के स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दरबार कालेज में हिन्दी प्राध्यापक के पद पर आ जाने के अनन्तर तथा वहाँ से स्थानान्तरित हो अन्यत्र—महू (इन्दौर), रायपुर आदि स्थानों के महाविद्यालयों में भी स्नातकीय एवं स्नातकोत्तर स्तर पर सतत व्रजभाषा के मूर्धन्य कवियों बिहारी, सेनापति, केशव, घनआनन्द आदि की कविताओं के अध्ययन-अध्यापन का अवसर मुझे मिलता रहा है जिससे मेरी तत्सम्बन्धी रुचि में निरन्तर वृद्धि ही होती रही है। इसी व्रजभाषा प्रेम का परिणाम है कि मेरी समस्त प्रकाशित कृतियाँ आज भी किसी न किसी रूप में व्रजभाषा-काव्य से ही सम्बद्ध हैं तथा मेरे शोध कार्य का संबंध भी रीतियुगीन व्रजभाषा काव्य की ही एक प्रशस्त धारा से रहा है। 'आचार्य कवि केशवदास' पर मेरी समीक्षात्मक कृति तथा 'रत्नाकर' और 'घनआनन्द' के काव्यों पर मेरी विशद व्याख्याएँ एवं समीक्षाएँ इसी व्रजभाषानुराग का प्रतिफल हैं। रीति-युग के

स्वच्छन्द कर्ताओं—रसखान, आलम, घनआनन्द, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव—के काव्यों के विशद वैज्ञानिक अध्ययन का सुयोग मुझे अपने प्रबन्ध-लेखन के सिलसिले में प्राप्त हुआ। इन विविध सन्दर्भों में तथा व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण भी मैंने ब्रजभाषा काव्य पर लिखित शत शत समीक्षात्मक कृतियों एवं प्रबन्धों का भी अध्ययन-अनुशीलन किया जिसके परिणामस्वरूप मेरी काव्यास्वादिनी चेतना और अभिरुचि में निखार और विकास आया हो तो क्या आश्चर्य है। बस यही वह पीठिका है तथा यही वह अनुरक्ति है जो आज भी ब्रजभाषा तथा विशेषकर रीतियुगीन काव्य पर कार्य करने के लिए मुझे प्रेरित करती रहती है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'रीतियुगीन काव्य' इसी अनुरक्ति का प्रकाश है।

इस युग विशेष पर ही कुछ लिखने की मेरी इच्छा सन् १९५० से रही है जब मैंने एम० ए० किया था तथा इसी इच्छा और ब्रजभाषा काव्यानुराग की प्रेरणा के फलस्वरूप मैंने 'रीतिकालीन काव्य का मूल्यांकन' विषय अपने आदरणीय प्रोफेसर तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी-विभागाध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा जी के समक्ष प्रस्तावित किया था जो उन्हें स्वीकार भी हुआ। इस विषय की एक सूक्ष्म रूपरेखा भी मैंने बना ली थी किन्तु उसी समय रीवा के स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दरबार कालेज, का प्राध्यापकत्व प्राप्त हो जाने के कारण वह संकल्प मानस-तरङ्ग बन कर ही रह गया था। उसी समय के आसपास रीतियुग के काव्य पर दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। दोनों प्रबन्ध ग्रन्थ थे—एक था डा० नगेन्द्र कृत 'रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' तथा दूसरा था डा० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास'। तब से आज तक रीतियुग के काव्य, शास्त्र और कवियों से सम्बन्धित कितने ही प्रबन्ध एवं समीक्षात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए किन्तु रीतिकाव्य के स्वकीय अध्ययन का परिणाम हिन्दी काव्य-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करने की मेरी लगभग १४ वर्ष पुरानी स्पृहा एवं स्फूर्ति निःशेष न हो सकी। मुझे अपना अध्ययन प्रस्तुत करने की आवश्यकता फिर भी प्रबल से प्रबलतर ही प्रतीत होती रही। रीतियुग के काव्य पर लिखने की मेरी इस अभिलाषा की आंशिक पूर्ति मेरे विशद प्रबन्ध ग्रंथ 'रीति स्वच्छन्द काव्यधारा' से हो जाती है किन्तु जो कुछ उसमें नहीं कहा जा सका उसे प्रस्तुत कृति 'रीतियुगीन काव्य' मे मैंने कहने की चेष्टा की है। रीतियुगीन काव्य के प्रस्तुत अध्ययन की उपादेयता के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है उसे तो मैं रीतिकाव्य के मर्मज्ञों, अनुसन्धाताओं और अध्येताओं के निर्णय पर ही छोड़ता हूँ। मैं इस सन्दर्भ में इतना ही कहूँगा कि प्रस्तुत उद्योग द्वारा रीतिकालीन काव्य सम्बन्धी मेरे अध्ययन की सीमाओं में पर्याप्त विस्तार आ सका है। प्रस्तुत अध्ययन में रीति-

युग की की विविधमुखी काव्य-सृष्टि को दृष्टिपथ में रखा गया गया है और समूचे रीतियुगीन काव्य को समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवेश में रख देखा और परखा गया है तथा अध्ययन-जात निष्कर्षों को यथासंभव स्पष्टता से प्रस्तुत किया गया हैं। युगीन काव्य के नामकरण पर पुनर्विचार करते हुए उसके वर्गीकरण को भी अधिक व्यवस्थितरूप दिया गया है। युगीन काव्य की रीतिबद्ध शृंगार धारा का अधिक से अधिक विशद एवं सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करना इसलिए भी मेरा उद्देश्य रहा है क्योंकि रीतिमुक्त काव्य प्रवृत्ति पर मेरा विशद शोध-ग्रन्थ 'रीति स्वच्छन्द काव्यधारा' स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हो ही रहा हैं। इस प्रकार रीतियुगीन समस्त शृंगारी काव्य के समीक्षात्मक अध्ययन का विशद एवं दुस्तर कार्य संपन्न हो रहा हैं। आज अपनी दीर्घ-कालीन अभिलाषा और संकल्प को इस रूप में पूर्ण करते हुए मुझे पूर्ण परितोष का अनुभव हो रहा है।

इस अनुशीलन में रीति ग्रन्थों की परंपरा, उसकी आधारभूत भूमिका, उसके प्रारम्भ, उसकी निरूपण शैली तथा उनके वर्गोपवर्गों का एक ओर जहाँ आख्यान किया गया है वहीं रीतिबद्ध काव्य की प्रेरणा का संधान करते हुए उसकी शृंगारिकता, कलापरायणता, शैलीशिल्प का भी अध्ययन किया गया है तथा रीति कवि के व्यक्तित्व की, रीति कर्ता के कवि मन की भी खोज की गई है। अध्ययन की समग्रता की दृष्टि से युगीन शृंगार काव्य के रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त या स्वच्छन्द स्वरूप का भी यथासम्भव विस्तार से विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार रस-दृष्टि से शृंगारतेर काव्य की वीर, नीति, सन्त, सूफी, कृष्ण-भक्ति और रामभक्ति परक रचनाओं का भी संक्षिप्त वर्णन-विवेचन किया गया हैं। विविध प्रकार के शृंगारिक कवियों से कृतित्व का आकलन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को सर्वाधिक संतोष इस बात का है कि वह इन कृती कवियों की समस्त काव्य राशि के सर्वथा स्वकीय अध्ययन के बल पर सभी कवियों की पर्याप्त विशद समीक्षा प्रस्तुत कर सका है। प्रस्तुत अध्ययन के सर्वथा मौलिक अंश वे ही हैं जिनमें रीतिबद्ध, सिद्ध और मुक्त काव्यकारों के कवित्व का विश्लेषण और उनके कृतित्व का उद्घाटन किया गया है। लेखक कवियों की रचनाओं में जितना ही रमता गया है उतना ही उसे काव्य जनित आनन्द प्राप्त हुआ है और उतना ही वह उसमें निमग्नामग्न हो उसके विश्लेषण में, उसके अन्तस्तल में डूबकर रसोपलब्धि करने में और यथासंभव उसका निर्वचन करने में सफल हुआ है। यही वास्तव मे मेरी उपलब्धि रही है जिसे मैं विनत भाव से हिंदी काव्य के सुधी और सहृदय पाठकों और रज्ञसों की सेवा में समर्पित करता हूँ। रीतियुगीन काव्य की आत्मा तक पहुँचकर मैं समझता हूँ मुझे अब भी कुछ करना शेष है। मुझे

आशा है रीतियुगीन काव्य के और भी अधिक अंतदर्शन तथा उसके सौंदर्य के उद्‌घाटन एवं मूल्यांकन का अवसर भविष्य में भी आएगा।

प्रस्तुत ग्रंथ के संबन्ध में अब इतना ही कहना शेष है कि इसकी रचना मुख्यतः मेरे शोधकार्य के साथ होने वाले अध्ययन के दौरान होती रही है। इसके कुछ अंश अवश्य उसके बाद के आठ-दस महीनों में लिखे गए हैं उदाहरण के लिए तीसरे अध्याय 'शृङ्गार काव्य : रीतिबद्ध काव्य' के अन्तर्गत 'रीति काव्य की शृंगारधर्मिता, रीति कवि का व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्ति, भाषा और रचना शैली' शीर्षकों के अंतर्गत लिखित सामग्री; सातवें अध्याय के अंतर्गत 'मतिराम, देव, पद्माकर और ग्वाल' तथा आठवें अध्याय के अंतर्गत 'बिहारी के शृंगार काव्य' का अध्ययन। इस ग्रन्थ का प्रणयन जनवरी १९६१ से मई १९६४ के बीच के लगभग साढ़े तीन वर्षों की अवधि में हुआ है। इस अवधि में मैं शासकीय महाविद्यालय, महू (इन्दौर) और शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करता रहा हूँ अतः कहा जा सकता है—कि प्रस्तुत कृति का आरंभ महू और उसके प्रणयन की परिसमाप्ति रायपुर में हुई है। प्रस्तुत अध्ययन के कुछ अंश बहुत पहले के भी हैं उदाहरण के लिए केशवदास संबंधी अध्ययन, पद्माकर पर 'वृत्त और वृत्तितां' शीर्षक से दी गई सामग्री तथा बिहारी की 'भक्ति और नीतिपरक रचनाओं की आलोचना' जो सन् १९५२-५४ के आस पास लिखी गई थी पर इतनी पुरानी लिखी सामग्री समग्र अध्ययन को देखते हुए परिमाण में अत्यल्प है।

प्रस्तावना के अन्त में मुझे हार्दिक आभार प्रकट करना है सर्वप्रथम अपने अनन्य बाल सहपाठी बन्धु डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रति जिनकी पूरी सद्‌भावना और सहायता ही इस कृति के प्रकाशन के मूल में है। मेरे अनुज तुल्य स्नेही मित्रों डा० गंगाचरण त्रिपाठी (हिन्दी विभागाध्यक्ष, शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर) और डा० हरिशंकर शुक्ल (हिंदी विभाग, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर) के प्रति भी मेरी कृतज्ञता कुछ कम नहीं जिनका प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणयन-काल में उत्साहवर्धन मेरा बहुत बड़ा सहारा रहा है। ऐसे विशद ग्रंथ के प्रकाशन का भार पूरे सौजन्य के साथ और उत्साहपूर्वक अपने कंधों पर उठा लेने के लिए मैं प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन-व्यवस्थापक श्री रामनाथ मेहरोत्रा को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

१ जुलाई, १९६५
भोपाल

कृष्णचन्द्र वर्मा

अध्ययन-क्रम

रीतियुगीन काव्य

रीतियुग के प्रमुख कवियों के कृतित्व का अध्ययन

रीतियुगीन काव्य

समसामयिक परिस्थितियाँ

रीति अथवा शृङ्गारकाल की स्थूल सीमा रेखा सं० १७०० विक्रमी से सं० १९०० तक स्वीकार कर ली गई है किन्तु सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करने पर यह बात भी विदित हुए बिना नहीं रहती कि रीतियुग की सभी प्रवृत्तियाँ सं० १७०० से वर्षों पूर्व साहित्य-क्षेत्र में लक्षित होने लगी थीं और सं० १९०० के बाद भी बहुत काल तक चलती रहीं। रीतियुगीन प्रधान काव्य प्रवृत्तियाँ लगभग एक शताब्दी पूर्व सं० १६०० से ही मिलने लगती हैं और युग की तथाकथित समाप्ति की एक शताब्दी बाद सं० २००० तक चली चलती हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सं० १६०० से २००० तक के बीच की ४०० वर्षों की दीर्घ अवधि के बीच हम जिसे रीति या शृङ्गार काल कहते हैं उस काल विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियों—रीति के प्रति आग्रह, शृङ्गारिकता या शृङ्गार रस की प्रचुरता और काव्य के कलापक्ष की प्रधानता—के समुचित उत्कर्ष की शताब्दियाँ (सं० १७०० से सं० १९००) दो ही थीं जिन्हें हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। समयुगीन राजनीतिक जीवन, सामाजिक अवस्था और धार्मिक चेतना के सन्दर्भ में तत्कालीन काव्य के मूल्यांकन की दृष्टि से हम यहाँ पर समसामयिक परिस्थितियों की किञ्चित् चर्चा आवश्यक समझते हैं।

राजनीतिक परिस्थिति

रीति या शृङ्गार काल की जो एक स्थूल सीमा-रेखा मान ली गई है उसके अनुसार सं० १७०० में शाहजहाँ भारतवर्ष का शासक था। यह बात सर्वविदित ही है कि शाहजहाँ के पितामह अकबर के समय में सुशासन अपने चरम उत्कर्ष पर था क्योंकि शाह अकबर ने सहिष्णुता और उदारता के सर्वस्वीकृत आधार पर अपना शासन-कार्य संचालित किया। सं० १६६२ में उसके निधन के अनन्तर जहाँगीर ने अपने पिता की उदार नीति का ही अनुसरण करते हुए राज्य किया किन्तु उसमें अकबर के समान दूरदर्शिता और समन्वयकारिणी शक्ति न थी जो विविध जातियों, धर्मों और वर्गों को साथ-साथ लेकर चल सकती। फिर भी बहुत-कुछ इसी कारण कि अकबरी नीति से जहाँगीर का शासन-कार्य चालित होता था उसका राज्यकाल पतन और ह्रास का काल नहीं कहा जा सकता; वैसे जहाँगीर मद्यप और आशिक मिजाज था। सुरा और सुन्दरियों के रूपासव का छक-छक कर भोग ही उसका जीवन था इसी कारण राज्य-विषयक गम्भीर एवं महत्वपूर्ण समस्याओं के प्रति उसका अकबर सरीखा प्रौढ़, सुचिन्तित और योग्य दृष्टिकोण देखने को नहीं मिलता। मुगल शासन के विस्तार के लिये उसने दक्षिण भारत में जो युद्ध किये उनमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली।

शाहजहाँ का समय—सं० १६८३ में जहाँगीर की मृत्यु हुई और उसका पुत्र शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ। शाहजहाँ में अतिरिक्त शक्ति, प्रतिभा, तेज एवं अन्य गुणों का अधिवास था। उसने मुगल साम्राज्य का विस्तार भी किया-विशेष रूप से दक्षिणापथ में। अहमदनगर की निजामशाही शाहजहाँ ने अंतिम रूप से समाप्त कर दी (सं० १६९०) तथा बीजापुर और गोलकुण्डा के किले उसने जीत लिये तथा इनकी शाहियाँ अधीनता स्वीकार करने को बाध्य हुईं। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम में कन्धार का किला भी जीता गया (सं० १६९५)। कहने का आशय यह है कि शाहजहाँ के काल में मुगल साम्राज्य का सम्यक् विस्तार हुआ—पश्चिम में सिन्ध से लेकर आसाम में सिलहट तक और उधर उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान के बिस्त नामक किले से लेकर दक्षिण में औसा तक यह साम्राज्य फैला हुआ था। इस प्रकार अकबर द्वारा सुस्थापित साम्राज्य का राष्ट्रीय रूप जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में नष्ट न होने पाया, शाहजहाँ ने तो किसी सीमा तक उसका विकास भी किया। शाहजहाँ का समय अनेक दृष्टियों से 'मुगल शासन का स्वर्णकाल' भी कहा जाता है—शांति, व्यवस्था, समृद्धि सभी दृष्टियों से भारतवर्ष में शाहजहाँ का शासन-काल चिरस्मरणीय है। धर्म की दृष्टि से उसमें पर्याप्त सहनशीलता न थी किन्तु कला और सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से शाहजहाँ एक अप्रतिम शासक था। इसी कारण शांतिपूर्ण सुख-समृद्धि और कलात्मक उन्नति की दृष्टि से उसका युग चिरस्पृहणीय रहेगा। संसार में विकास के साथ-साथ ह्रास के क्रम का भी विधान है। 'ज्यों तपि-तपि मध्याह्न लौं अस्त होत है भानु'—शनैः-शनैः अपने तेज, ओज और ऊष्मा के साथ दिवाकर अधिकाधिक तेजस्वी, ओजस्वी और प्रतप्त होकर मध्याह्न काल में अतिशय प्रचण्ड हो उठता है किन्तु उसके बाद घड़ी आती है उसके तेज और ताप के ह्रास की और वह सन्ध्याकाल होते-होते अस्त होकर ही रहता है। शाहजहाँ के चरम वैभव और कला समृद्धि तथा सुख-शान्ति का प्रचण्ड युग भी क्रमशः अस्तंगत हुआ।

औरंगजेब का समय—सं० १७१५ में शाहजहाँ भीषण रूप से रोग-ग्रस्त हो गया। इसी वर्ष अपने पिता की ऐसी दीन-हीन दशा का जैसा लाभ औरंगजेब ने उठाया, उसकी कथा इतिहास-प्रसिद्ध है। उसने अपने ही भाइयों के रक्त से होली खेलते हुए हिन्दोस्तान के सिंहासन को हस्तगत किया। पिता की सख्त बीमारी का गैरवाजिब फायदा उठाते हुए पुत्र औरंगजेब ने मुल्क में यह अफवाह फैला दी कि शाहजहाँ की मृत्यु हो गई और उसे बंदीगृह में डाल दिया। उत्तराधिकार के स्पष्ट और निश्चित नियमों के अभाव में शाहजहाँ के चारों पुत्रों में राज्याधिकार के लिये युद्ध होने लगा। बूढ़े पिता को अपने जीवन-काल में ही अपने बेटों की ऐसी करनी देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह जो प्रजा द्वारा

अपने शील-स्वभाव के कारण अत्यंत सम्मानित था द्वितीय पुत्र औरंगजेब की कूट-नीति का शिकार हुआ। शाहजहाँ के अन्य दो पुत्रों—मुराद और शाहशुजा की भी यही दशा हुई। नीति और धर्म को एक साथ तिलाञ्जलि देकर असहिष्णु और कट्टर सुन्नी मुसलमान औरंगजेब रक्ताभिषिक्त सिंहासन पर बैठा। दो शताब्दियों तक फैले हुए रीतियुग की यह सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी क्योंकि मनुष्यता की बलि का ऐसा जघन्य और लोमहर्षक नाटक भारतीय जन समाज के लिये अभूतपूर्व था। सर्व-साधारण की नैतिक और धार्मिक मान्यताओं को इस घटना ने झकझोर दिया। औरंगजेब अपने विश्वासों की संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता और अदूरदर्शिता के कारण लोकप्रिय न हो सका। मुगल शासन की प्रतिष्ठा को पहले ही कुछ धक्के लग चुके थे। साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से जो आक्रमण मुगलों ने मध्य एशिया पर किये उनमें वे बुरी तरह असफल रहे। देश के अन्दर भी एकता की ठोस भूमि निर्मित न हो सकी थी। मेवाड़ के सीसोदिया वंशी राणा अपनी अन्तरात्मा में मुगलों की आधीनता स्वीकार न कर सके थे। बुन्देलखण्ड के वीर बुन्देलों का भी मन पराधीनता के विरुद्ध खौल-खौल उठता था। दक्षिण में मराठे वीर अपने पराभव और पराधीनता के प्रति हृदय में विक्षुब्ध थे। अकबर ने इन सारी विद्रोहिनी शक्तियों को किसी प्रकार जोड़-तोड़कर अनुकूल कर रक्खा था; किन्तु सुशासन की वैसी योग्यता, निष्ठा और मेधाविता के अभाव में परवर्ती काल में वैसी ही स्थिति बहुत काल तक न रह सकी। राज्य और शासन की गम्भीर समस्याओं के प्रति जहाँगीर की उदासीनता और तबीयत की मस्ती तथा शाहजहाँ के कला-प्रेम, ऐश्वर्यपरायणता और अपव्यय के कारण मुगल शासन के वृक्ष की जड़ों में घुन धीरे-धीरे लग चुका था। औरंगजेब ने सं० १७१५ से सं० १७६४ तक लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। लगभग आधी शताब्दी तक शासन करने वाले औरंगजेब ने सहिष्णुता और उदारता की नीति के बजाय अनुदार और कट्टरतावादी नीति का आश्रय लिया। इतना ही नहीं हिन्दुओं के देश पर शासनाधिकार करने वाले शहंशाह औरंगजेब ने राज्यशक्ति का उपयोग हिन्दुओं के दमन और इस्लाम धर्म के प्रसार के लिये किया। औरंगजेब का शासन हिन्दुओं के जीवन को नरक बना रहा था। हिन्दुओं पर औरंगजेब ने जज़िया कर लगाया, हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने का फरमान जारी किया गया जिसके परिणाम-स्वरूप अन्यान्य मन्दिरों के साथ-साथ भारत के तीन प्रसिद्ध मन्दिरों—काशी स्थित विश्वनाथ, गुजरात के सोमनाथ और मथुरा के केशवराय के मन्दिरों—को भी ध्वस्त कर दिया गया। मनुष्य के लिए उसके धर्म से अधिक पवित्र और कुछ नहीं होता। हिन्दुओं के धर्म पर जब इस प्रकार का नृशंस प्रहार होता तो हिन्दू विष के घूँट पी-पीकर रह जाते थे, अशक्त और निस्साधन हिन्दुओं का मन मसोस-मसोस कर रह जाता था। रीतिकालीन कवि भूषण (जो औरंगजेब के समकालीन थे) की कविता

में अनेक बार औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं पर किये जाने वाले जुल्मों का वर्णन आया है—

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे समै राव राने सबै गए लबकी।
गौरा गनपति आप औरंग को देखि ताप,
आपने मुकाम सब मारि गए दबकी।
पीरा पैगंबरा दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होति सबकी ॥

औरङ्गजेब हिन्दू व्यापारियों से अधिक कर लेता था और मुसलमान व्यापारियों से कम, जिससे हिन्दू व्यापारी लोभवश मुसलमान धर्म स्वीकार कर लें। इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दू को पुरस्कार, सम्मान और उच्च पद प्रदान किया जाता था। हिन्दू प्रकट या सामाजिक रूप से अपने पर्व, त्यौहार और उत्सव नहीं मना सकते थे, उन्हें ऊँचे पदों से हटाकर उनकी जगह पर मुसलमानों को रक्खा जाता था तथा मुगल राजसभा में प्रवेश-प्राप्त हिन्दू रीति-रिवाजों का चलन बन्द कर दिया गया। हिंदुओं के दमन और ज़लालत की ऐसी कट्टर और क्रूर नीति का परिणाम अच्छा न हुआ। इस हिन्दू-विरोधी नीति के परिणामस्वरूप राज्य में चारों तरफ क्षोभ और असंतोष की लपटें उठने लगीं और मुगल शासन पर उसकी आँच आए बिना न रही। जो हिन्दू राज्य के स्तम्भ एवं आधार थे उनके पदमर्दित और भूलुंठित होने पर मुग़ल सत्ता निरापद न रह सकी। असंतोष और रोष की विद्रोहमयी ज्वालाएँ चतुर्दिक उठने लगीं। औरङ्गजेब को अर्द्ध शताब्दी के सुदीर्घ शासन-काल में अपनी ही नीति के कारण शांति और सुख की साँस लेने का अवसर न मिला। इन ज्वालाओं को शांत करने के लिये वह 'बघूरे के पात की तरह' चारों ओर दौड़ता फिरता। अपने राज्य-काल का पूर्वार्ध औरङ्गजेब को जमींदारों, राजाओं और हिन्दुओं के धार्मिक झगड़ों और विद्रोहों को दबाने में व्यतीत करना पड़ा और उत्तरार्ध उसे मुक्तिकामी दक्षिणापथ को अधिकार में बनाए रखने में बिताना पड़ा। औरङ्गजेब के शासन और अधिकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाली शक्तियाँ इस प्रकार थीं—(१) आगरा प्रान्त के जाटों ने औरङ्गजेब की भेद-भावमूलक एवं अन्यायपूर्ण शासन-नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे लगभग २० वर्ष तक मुगल शासन से संघर्ष करते रहे। अवध के कुछ राजपूत और इलाहाबाद के अनेक जमींदारों ने भी छोटे पैमाने पर ही सही मुगल शासन पद्धति की खिलाफत की। (२) नारनौल और मेवाड़ के सतनामी संप्रदाय के संतों ने अपनी असाधारण धर्म-निष्ठा का निदर्शन किया; उन्होंने औरंग-

जेब की धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध विकट विद्रोह किया जिसका दमन करना औरङ्गजेब और उसके सैनिकों के लिये बहुत मुश्किल हो गया। संतों और साधुओं के इस असाधारण साहस और शौर्य को देख मुगल सैनिक आश्चर्यचकित रह गये, उन्हें उनमें अतिमानवीय एवं दैवी शक्तियों का संदेह होने लगा। सतनामी संतों का यह विरोध इस बात का सूचक है कि वे इस्लाम धर्म को अस्वीकार कर अपने धर्म की रक्षा प्राणपण से करना चाहते थे। (३) राजपूताना में भी विद्रोह की आग भड़क उठी जहाँ के अनेक प्रमुख राज्यों ने मुगलों की आधीनता अच्छी तरह स्वीकार कर ली थी। इसका कारण यह था कि राजपूत राज्यों की रही-सही स्वाधीनता का भी औरङ्गजेब ने अपहरण कर लिया।[1] यह बात राजपूतों के लिये एकदम असह्य हो उठी और उनका राजपूत रक्त फिर से बलकने लगा। मारवाड़ और मेवाड़ में तो विशेषरूप से विद्रोह की लपटें उठने लगीं। राजपूतों ने भी औरङ्गजेब का विरोध लगभग २५ वर्षों तक किया। राजपूतों के विद्रोह का नेतृत्व वीर दुर्गादास राठौर ने किया और मेवाड़ के राणा राजसिंह ने भी उसका साथ दिया। मुगल वाहिनी इन वीर राजपूतों को परास्त करने में बार-बार असफल हो जाती थी, ऐसा लगता था जैसे राजपूताना मुगलों के आधीन नहीं रह सकेगा। अन्त में औरङ्गजेब को बड़ी मुश्किल से सफलता मिली और वह भी संधि का मार्ग पकड़कर। दुर्गादास अन्त तक मुगलों से युद्ध करते रहे। (४) पंजाब में गुरु नानक द्वारा संस्थापित सिक्ख संप्रदाय के गुरु तेगबहादुर ने औरङ्गजेब की नीति का विरोध किया। मुगल बादशाह के खिलाफ बगावत करने के अपराध में सिक्खों का भीषण रूप से दमन किया गया और गुरु तेगबहादुर की नृशंसतापूर्ण हत्या कर दी गई। इस घटना ने सिक्खों की क्रोधाग्नि में घी का काम किया, सिक्ख प्रतिशोध लेने के लिए उतारू हो गये। उनके बाद गुरु गोविन्दसिंह ने मुगलों का विरोध और आत्मरक्षा के उद्देश्य से सिक्खों को एक युद्धपरायण जाति का रूप दे दिया। यह सिक्ख-शक्ति खालसा शक्ति कहलाई जो बराबर मुगलों से लोहा लेती रही। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों को जिस पाशविकता के साथ दीवाल में चुनवा दिया गया था वह घटना भी सिक्खों के मन में सदा हूल पहुँचाती रही। (५) उधर बुन्देलखण्ड में चम्पतराय मुगल शासन नीति के कारण विद्रोही हो गये तथा उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके सुयोग्य पुत्र पन्नानरेश छत्रसाल के नेतृत्व में दीर्घकाल तक औरङ्गजेब का विरोध होता रहा। रीतिकालीन भूषण कवि ने इन महाराज छत्रसाल

[1]जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने मुगल शासन को बनाए रखने के लिये ही अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी थी फिर भी औरङ्गजेब ने इनके राज्य हड़प कर इनके उत्तराधिकारियों के प्रति कृतघ्नता और निर्ममता का व्यवहार किया। उसने जयपुर पर अधिकार कर लिया फलस्वरूप मारवाड़ और मेवाड़ के राजपूत विद्रोही हो गए।

की वीरता, स्वाभिमान और स्वतंत्र प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। कविवर लाल या गोरेलाल ने तो छत्र-प्रकाश ही लिख डाला जिसमें महाराज छत्रसाल के गौरव-गरिमापूर्ण चरित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। (६) दक्षिण में औरङ्गजेब की धार्मिक असहनशीलता के कारण शिया राज्य-शक्ति शिथिल पड़ गई थी—औरंगजेब कट्टर सुन्नी था और शिया मुसलमानों का दमन करता एवं उन्हें नफरत की निगाह से देखता था—फल यह हुआ कि वहाँ पर वीर शिवाजी के नेतृत्व में मराठा-शक्ति उठ खड़ी हुई। समर्थ गुरु रामदास ने दक्षिण में स्वाधीनता और जागृति का शंख फूंक दिया। मराठे शिवाजी के निर्देशन में जातीय चेतना से स्पन्दित हो उठे। शिवाजी ने क्रूर और कट्टर शासक औरङ्गजेब के विशाल मुगल साम्राज्य का स्वप्न भंग कर दिया। जो मुगल वाहिनी अपराजेय समझी जाती थी उसे मराठा-शक्ति से बार-बार पराजय स्वीकार करनी पड़ी। शिवाजी का उद्देश्य मुगलों की आधीनता समाप्त कर स्वतन्त्र एवं सशक्त हिन्दू राज्य की पुनः प्रतिष्ठा करना था। भूषण कवि ने इसीलिये शिवाजी को 'हिन्दुत्व का संरक्षक' और 'दक्षिण की ढाल' कहा है—

वेद राखे विदित पुरान परसद्ध राखे
रामनाम राख्यौ अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी, रोटी, राखीहै सिपाहिन की
कांधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं।।

चारों तरफ विरोध और विद्रोह के बावजूद भी औरङ्गजेब के दृढ़ व्यक्तित्व के कारण उसका साम्राज्य टिका रहा। चाहे जितना भी समय लगा औरङ्गजेब ने विद्रोहों का दमन किया यहाँ तक कि मराठा शक्ति भी शिवाजी की मृत्यु (सं० १७३७) के बाद शिथिल पड़ गई और उसे भी मुगलों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। यह कहा ही जा चुका है कि विलासी जहाँगीर तथा ऐश्वर्य एवं प्रदर्शनप्रेमी शाहजहाँ के समय से ही मुगल साम्राज्य की जड़ों में घुन लगनी शुरू हो गयी थी। औरङ्गजेब की अहंवादिता और कट्टर धर्मान्धता ने उन जड़ों को और खोखला और जर्जर कर दिया। शाहजहाँ, औरङ्गजेब आदि एक से एक स्वेच्छाचारी शासक थे जो किसी का हस्तक्षेप नहीं पसंद करते थे। शाहंशाह की इच्छा ही उस समय नियम और कानून थी। इस अतिवैयक्तिक, स्वेच्छाचारी और अहंवादी शासन के कारण जिसका रूप औरङ्गजेब के काल में और भी उग्र एवं कठोर तथा असहिष्णुतापूर्ण हो चला था असंतोष की लू सर्वत्र चल रही थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है औरङ्गजेब को

अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए चारों तरफ दौड़ना पड़ता था और विद्रोहियों के दमन के लिये संघर्ष करना पड़ता था। विशाल सेना, सैनिक सामग्री एवं युद्ध का व्यय-भार राज्य की आर्थिक स्थिति को डावाँडोल कर रहा था। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक स्वातंत्र्य का ऐसे सामंती शासन में कहीं नाम-निशान तक न था। भयंकर अहंकार, स्वेच्छा और अत्याचार का शासन तभी तक चल सका जब तक कि औरङ्गजेब में दृढ़ता थी अन्यथा चारों तरफ वातावरण बहुत ही प्रतिकूल था। आर्थिक संकट के कारण सेवकों और स्वामिभक्तों को जागीरें बाँटी जाने लगीं, सामंत पद दिया जाने लगा। ये ओहदे भी बड़े-बड़े उपहार लेकर बाँटे जाते थे। परिणामस्वरूप जागीरदारों की भी आर्थिक स्थिति अतिशय शोचनीय हो गई थी। इसके अतिरिक्त अकबर की उदार और समन्वयपूर्ण धर्म-नीति के विपरीत औरङ्गजेब ने हिन्दू-विरोधी नीति अख्तियार की। इस प्रकार उसने हिन्दुओं के सद्भाव और सहयोग की जगह उनका असंतोष, आक्रोश और अभिशाप प्राप्त किया। शाहजहाँ के समय में अहमदनगर मुगलों के हाथ में आ गया था और बीजापुर की आदिलशाही तथा गोलकुण्डा की कुतुबशाही ने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया था किन्तु अहम्मन्य औरङ्गजेब इतने से ही क्यों संतुष्ट रहने लगा। सुदूर दक्षिण में भी मुगल शासन का विस्तार देखने के लिये उसने इन सबको भी जीतकर आधीन बना देना चाहा। उसकी इस महत्वाकांक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसके शासन-काल का उत्तरार्ध दक्षिण-विजय और दक्षिण की व्यवस्था करने में व्यतीत हुआ। अपने उद्देश्य में वह सफल भी हुआ क्योंकि इन शाहियों को तथा मराठों को औरङ्गजेब की प्रबलतर शक्ति के आगे झुकना पड़ा किन्तु इसी बीच उत्तरापथ की व्यवस्था शिथिल पड़ गई थी। उपर्युक्त कारणों से औरङ्गजेब के द्वारा अत्यंत परिश्रम से कायम रक्खा गया विशाल मुगल साम्राज्य सं० १७६४ में उसकी मृत्यु के बाद बरकरार न रह सका।

औरङ्गजेब के बाद : पतन का आरम्भ—व्यक्ति में केन्द्रीभूत सत्ता कैसे भीषण परिणाम दिखलाती है इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण औरङ्गजेब के उत्तरवर्ती भारत के इतिहास का अवलोकन करने से पता चलता है। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है औरङ्गजेब का शासन-काल अशांति और संघर्ष का काल था फिर भी अपनी शक्ति तेज और दृढ़ मनोबल तथा प्रतिभा के कारण औरङ्गजेब ने बाबर के वंश की प्रतिष्ठा बहुत कुछ अक्षुण्ण रक्खी। उसके बाद राजनीतिक पतन एवं अव्यवस्था का जैसा एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हुआ वैसा भारतीय इतिहास में विरल है। यह अशांति और अव्यवस्था लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक बनी रही। औरङ्गजेब की मृत्यु (सं० १७६४) के बाद भारतवर्ष व्यवस्थित शासन के अन्तर्गत सैनिक विद्रोह या गदर (सं० १९१४) के बाद ही आ सका। इसके बाद का इतिहास इस प्रकार है। औरङ्गजेब के उत्तराधिकारी राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अशक्त थे। उसकी मृत्यु के

अनन्तर उत्तराधिकार के लिये पदलोभी एवं स्वार्थी सिपहसालारों और शासन के उच्च पदाधिकारियों में युद्ध शुरू हो गया। सं० १७६४ से १७७६ तक लगभग १२ वर्षों के बीच बाबर के खानदान के पाँच बादशाह सिंहासन पर बैठे, जिनकी नामावली क्रमशः इस प्रकार है—बहादुरशाह (सं० १७६४-१७६६), जहाँदारशाह (१७६६), फर्रुखसियर (१७६६-१७७६), रफीउद्दरजात (१७७६) और रफीउद्दौला (१७७६)। इन सभी ने उत्तराधिकार के लिये भीषण युद्ध किया और अपने प्रतिद्वंद्वी को या तो समाप्त कर दिया अथवा बंदी-गृह में डाल दिया। इसके बाद मुहम्मदशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठे और उन्होंने लगभग ३० वर्ष तक (सं० १७७६-१८०५) राज्य किया। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह (सं० १८०५-१८११) और अहमदशाह के बाद आलमगीर द्वितीय (सं० १८११-१८१६) मुगल सिंहासन पर बैठे।

सं० १७६४ से १८१६ तक की लगभग आधी शताब्दी में एक के बाद एक होने वाले शक्तिहीन मुगल शासक लोभ, स्वार्थ और विलास की कठपुतली थे। जैसे-तैसे वे राज्याधिकार पाते और जैसे-तैसे उसका निर्वाह करते। एक के बाद एक उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले उपरिलिखित शासकों में शिक्षा, संस्कार, वीरता, राज्य-संचालन-क्षमता, दूरदर्शिता आदि गुणों का अभाव था। फलस्वरूप बड़े श्रम से सुसंगठित विशाल मुगल साम्राज्य का भवन शीघ्र ही धराशायी हो गया। दूर-दूर तक फैला हुआ मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। इस बीच[1] निजाम, रुहेलों, सिक्खों, मरहठों, नादिरशाह और उसके उत्तराधिकारी अहमदशाह अब्दाली ने जो आक्रामक एवं अशांतिपूर्ण कार्रवाइयाँ कीं उनका मुगल शासकों द्वारा तीव्र प्रतिरोध न हो सका। फलतः संपूर्ण मुगल साम्राज्य असंतोष, अत्याचार और रक्तपात की क्रीड़ा-भूमि बन गया। राजपूत जो मुगलों की आधीनता में ही सही अपनी वीरता और पौरुष दिखाया करते थे अब अशक्त और निर्जीव हो चले थे, भोग-विलास और आमोद-प्रमोद तक इनकी दुनियाँ सीमित हो चली थी तथा किसी बाहरी आक्रमणकारी का मुकाबला करने के बजाय ये राजपूत आपस में ही लड़कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। राजस्थान में गृहयुद्धों का बोलबाला था। इस स्थिति से मरहठों और पिंडारियों ने पूर्ण लाभ उठाया। इस स्थिति का चित्रण करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि—'मुगल-वंश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अंतःपुर में क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव में विलासी, निर्वीर्य एवं व्यक्तित्वहीन हो गए थे। मुगलों के जैसे राजत्व-विधान के लिए जहाँ सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिपति स्वतंत्र होने लग गए थे। मुगल-दरबार स्वयं

[1]मुहम्मद शाह के दीर्घ राजत्वकाल (सं० १७७६-१८०५) में

अमीरों और राजकीय अधिकारियों की उच्चाकांक्षाओं का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगों के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय में सैयद भाइयों और तूरानी सरदारों का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहों को बनाने-बिगाड़ने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना में जाट और राजपूतों के विद्रोह हो रहे थे, दिल्ली के उत्तर में सिक्खों का प्रभुत्व बढ़ रहा था—बन्दा बैरागी के उपद्रवों ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनों के नाक में दम कर दिया था। दक्षिण में मराठों की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ़ रही थी। निर्बल मुगल शासक प्रायः उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फरमान देकर जैसे-तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे।'[1] इस प्रकार औरंगजेब की मृत्यु के बाद बहुत दिनों तक हिन्दी प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये छोटी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों में नानाविध संघर्ष चलता रहा। इस परिस्थिति और दुर्बल मुगल शासन के परिणामों का उल्लेख करते हुए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं—'मुगल साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए, राजकीय आय कम हो गई, दिन-रात युद्ध-विग्रह, लूटमार, रक्तपात होने लगा, राज्य में विद्रोह और बाहर से आक्रमण होने लगे और समस्त हिन्दी-प्रदेश में प्रजा दुर्भिक्षों तथा अन्य कष्टों और यातनाओं से पीड़ित रहने लगी। रेवाड़ी, सरहिंद, दादरी, थानेश्वर, पानीपत, बागपत, बुलन्दशहर, अनूपशहर, दनकौर, मथुरा, दिल्ली, आगरा, डीग, करनाल, सहारनपुर, इटावा, सोनपत, फर्रुखनगर, मिर्जापुर, जयपुर, गाजियाबाद, खुर्जा, गढ़मुक्तेश्वर, गुड़गाँव, भरतपुर, रीवाँ, बरेली, पटना, वृन्दावन, दिल्ली, राजस्थान, मरहठा-राज्य, पंजाब और बिहार आदि के अनेक छोटे-बड़े स्थानों में समय-समय पर लूटमार, स्त्रियों का अपहरण, विध्वंस और विनाश आदि बातें साधारण घटनाएँ थीं। इनमें से अनेक स्थान तो हमेशा के लिये उजड़ गए। कुछ न मालूम कितनी बार उजड़े और कितनी बार बसे। नादिरशाह और अब्दालीशाह ने विभिन्न कालों में दिल्ली और मथुरा, वृन्दावन तथा आगरे के बीच का भूमि-भाग लूटा और भीषण नर-संहार किया। उस समय का वर्णन अत्यंत लोमहर्षक और रोमांचकारी है। यह तो खैर एक बड़े भारी आक्रमण और लूट का उल्लेख है लेकिन जब स्वयं भारतवासी ही आपस में एक दूसरे पर आक्रमण करते थे तो जनता को नाना भाँति के घोर कष्ट और यातनाएं सहन करनी पड़ती थीं। हिन्दी प्रदेश के एक कोने से दूसरे कोने तक अस्थिरता और अराजकताजन्य हाहाकार मचा हुआ था और एक दृष्टि से किसी भी प्रकार की नियमित, व्यवस्थित और वैध शासन-पद्धति का अंत हो गया था।'[2]

[1] डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० ५।

[2] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (सन् १९५२) पृ० ३५-३६।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारण एक तो औरंगजेब की असहिष्णुतापूर्ण एवं अनुदार शासन-नीति में ढूँढ़े जा सकते हैं—[1] उसकी हिन्दू राजपूत विरोधी नीति, राजधानी में ही शासकीय सत्ता का केन्द्रीकरण, राजकीय आय का निरर्थक युद्धों में व्यय, सुदूर भूभागों के सूबेदारों, आश्रित या विजित राजाओं और नवाबों पर नियंत्रण की कमी, यातायात की सुविधाओं का अभाव, संपन्न व्यक्तियों के माल का राज्यकोष में सम्मिलित किया जाना, धर्मगत कट्टरता, इतर धर्मानुयायियों की दुर्गति, समर्थ एवं निष्पक्ष न्यायाधीशों की कमी, राज्य की सैनिक एवं आर्थिक स्थिति का ह्रास आदि औरंगजेब के उत्तराधिकारियों को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए। ये उत्तराधिकारी स्वतः राजदण्ड सँभालने में असमर्थ थे। उत्तराधिकार के लिए होने वाले संघर्षों की कथा पहले कही ही जा चुकी है, इन्हीं कारणों से उत्तरवर्ती औरंग-जेब-काल में अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य रहा। उधर मराठा, सिक्ख आदि अन्यान्य शक्तियाँ मुगल-शासन के विरुद्ध चारों तरफ से उठ खड़ी हुई थीं। इन अनेकानेक कारणों के बीच एक शक्तिशाली मुगल सम्राट की कमी सबसे बड़ा कारण थी। उनका राजदण्ड निष्प्रभ हो गया था। राजकीय आज्ञाएँ अवज्ञा की दृष्टि से देखी जाती थीं। मुगल शासक की दशा ऐसी दीन हो गई थी कि कभी तो वह अपने प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध अपने शत्रुओं से ही सहायता की याचना करने लगता था वैसे शत्रु और मित्र दोनों समान रूप से अविश्वसनीय थे। प्रतिद्वंद्वी स्वार्थ के भूखे भेड़िये थे, प्रजाहित के कामी महिपाल नहीं। अर्थ और अधिकार-लोलुप वासनापरायण पदलिप्सुओं की ऐसी हीन मनोवृत्ति के कारण लूटमार, धोखाधड़ी, छलफरेब, पक्षपात, गद्दारी, सरकारी खजाने से गबन, रिश्वत, पदलोभ के लिए नीच कर्म आदि का बाजार गर्म था। साम्राज्य विस्तार, आक्रमण एवं सुरक्षा के लिए रक्खी गई विशाल सेनाएँ अतिशय व्ययसाध्य हो गई थीं जिसका व्यय-भार राज्य सँभालने में असमर्थ हो चला था। कूच करती हुई सेनाओं की अनियंत्रित गति के कारण भी प्रजा पीड़ित रहा करती थी। वीरतापूर्ण जीवन की जगह अकर्मण्यता, भीरुता और विलासप्रियता तात्कालिक राज्याधीशों का जीवन हो चला था। राज-नर्तकियों और वेश्याओं की प्रतिष्ठा राज्य-सभाओं में बढ़ चली थी। इनके इशारों पर भी अनेक कामोपासक नरेश अनेक अकरणीय कार्य कर बैठते थे। भोग-वासनामय जीवन के परिणामस्वरूप संगीत, नृत्य, चित्र स्थापत्यादि कलाओं को प्रोत्साहन भले ही मिला हो किन्तु जीवन की गंभीर और वांछनीय समस्याओं को सुलझाने की ओर लोगों का ध्यान न गया। राज्यशक्ति का जैसा क्षय हो चला था और देश में जैसी फूट तथा स्वार्थलिप्सा पैदा हो चुकी थी उसके परिणामस्वरूप कोई भी विदेशी शक्ति भारतीय वातावरण का लाभ उठा सकती थी।

---

[1] डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१, ३२, ३६, ३७।

मराठा शक्ति का अभ्युदय—रीतिकाल के पूर्वार्ध की समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उत्तरार्ध का विवरण मराठा शक्ति के उदय और अस्त तथा अँग्रेजों की प्रभुता के विस्तार के साथ संबद्ध है। मराठा शक्ति मुगल शासन के औरंगजेब-काल में ही प्रबुद्ध और जागृत हो सशक्त हो चुकी थी। उसके प्रथम उन्नायक थे पूना जागीर के स्वामी शाहजी (अहमदनगर की निज़ामशाही के एक प्रतिष्ठित जागीरदार) के पुत्र शिवाजी। मुगलों के हमलों से दक्षिण के राज्य जर्जर एवं अशक्त हो गए थे। शिवाजी ने इस स्थिति से लाभ उठा कर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। इस राज्य के दो भाग थे—एक स्वराज्य अर्थात् वह प्रदेश जो शिवाजी के निजी अधिकार या शासन में होता था दूसरे मुगलिया अर्थात् वह प्रदेश जो शिवाजी के निजी शासन में न होते हुए भी 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नामक कर देने को बाध्य था। कर देने वाले राज्यों की बाहरी आक्रमणों से रक्षा शिवाजी अपना पावन कर्तव्य समझते थे। प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ से शिवाजी चौथ और सरदेशमुखी वसूल किया करते थे। शिवाजी की मृत्यु सं० १७३७ में हो चुकी थी। उनका उत्तराधिकारी सम्भा जी उतना समर्थ शासक न था फलस्वरूप औरंगजेब ने शिवा जी की मृत्यु के अनंतर मराठा शक्ति का दमन किया। सं० १७४६ में संभा जी कैद कर लिये गए और नृशंसतापूर्ण ढंग से उसका वध कर दिया गया। औरंगजेब की मृत्यु (सं० १७६४) तक मराठा-शक्ति शिथिल पड़ी रही। इसके बाद इन लोगों ने फिर सिर उठाया। मराठों के अनेक दल थे जो औरंगजेब के बाद जर्जरीभूत मुगल साम्राज्य पर जिधर-तिधर छापे मारते तथा चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते। बाला जी विश्वनाथ मराठा-शक्ति के नये उन्नायक हुए (सं० १७७०-१७७७) जिनके प्रयत्नों से मराठों का गया हुआ 'स्वराज्य' तो वापस लौटा ही समूचे दक्षिणापथ से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। यह सब औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की निर्बलता का ही परिणाम था। पेशवा बाजीराव (सं० १७७७-१७९७) के नेतृत्व में मराठा-शक्ति और साम्राज्य का विस्तार हुआ। दक्षिणापथ के अतिरिक्त मध्यभारत और गुजरात तक इनके हमले हुए और नए प्रदेश अधिकार में आए। पेशवा की अधीनता में चार नए राज्य कायम हुए। राघो जी भोंसले, मल्हार राव होल्कर, रानो जी सिंधिया और पीलाजी गायकवाड़ की आधीनता में क्रमशः नागपुर, इन्दौर, ग्वालियर और गुजरात नवस्थापित मराठा साम्राज्य के केन्द्र बने। इन राजाओं ने स्वतंत्रतापूर्वक अपने-अपने साम्राज्य का विस्तार किया, जिसके परिणामस्वरूप मध्य प्रदेश का भी बहुत बड़ा भू-भाग मराठों की आधीनता में आ गया। दुर्बल मुगल उत्तराधिकारी अब मराठों के इशारों पर चलने लगे थे। बाजीराव के पुत्र बाला जी बाजीराव पेशवा के पेशवा-काल (सं० १७९७-१८१८) में मराठा-शक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इनके

हमले उड़ीसा, बंगाल, रुहेलखण्ड (पांचाल प्रदेश) और पंजाब तक हुए। उड़ीसा इनके अधिकार में आ गया था, बंगाल से इन्होंने चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल किये तथा पश्चिम में सिन्धु नदी तट स्थित अटक दुर्ग पर भी इनका भगवा झंडा फहराने लगा। मराठों के प्रदीप्त तेज और बल के समक्ष दिल्ली के मुगल उत्तराधिकारी निष्प्रभ और हीनबल हो रहे थे, इनके हाथ की कठपुतली मात्र।

आलमगीर द्वितीय के बाद सं० १८१६ में शाह आलम मुगल सम्राट बना किन्तु मराठों के चतुर्दिक व्याप्त प्रभुत्व के कारण वह दर-दर मारा फिरता था। वह इतना अशक्त बादशाह था कि स्वयं उसके मन्त्री उसे परेशान करते थे। ऐसी स्थिति में जगह-जगह भिखारी की तरह सहायता की याचना करना और अपनी खोई शक्ति पाने की कोशिश करना ही उसका एकमात्र काम था। उधर दिल्ली पर बार-बार मराठों के हमले हो रहे थे। शाह आलम के बाद दो मुगल सम्राट और हुए—अकबर शाह द्वितीय (सं० १८१७) और बहादुरशाह (सं० १८३२) किन्तु उनकी दशा भी शोचनीय थी। शक्ति और एकता के अभाव में ये अपने पतन का दृश्य अपनी आँखों देखते रहे। सिक्खों, जाटों और मराठों का उत्कर्ष हुआ। मराठा-शक्ति का जैसा विशिष्ट अभ्युदय हुआ उसकी चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है। मुगलों की जर्जर दशा देख केवल देश के अन्दर की ही शक्तियाँ प्रबल नहीं हो उठीं अपितु अनेक बाहरी आक्रामक भी आए। सं० १७९६ में ईरान के नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मराठों, सिक्खों, राजपूतों आदि के विद्रोह और विरोध के कारण मुगल सम्राट की शक्तियों ही क्षीण हो चली थीं, नादिरशाह के भयंकर आक्रमण ने रही-सही कमी भी पूरी कर दी। नादिरशाह ने भीषण रक्तपात किया और दिल्ली को बुरी तरह से लूटा। इसके बाद अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने साम्राज्य-विस्तार तथा वैभव-वृद्धि की दृष्टि से कई बार भारत पर आक्रमण किये। उसका पहला आक्रमण सं० १८१४ में हुआ, जिसके कारण देश में भीषण लूटपाट और रक्तपात तथा नरसंहार हुआ। परिणामस्वरूप पंजाब, सरहिंद, दिल्ली, आगरा, मथुरा तक के प्रदेश हाहाकार कर उठे। दिल्ली तो एकदम उजड़ ही गई; क्योंकि वहाँ बेतरह लूटपाट मची। अन्य स्थानों की भी लगभग ऐसी ही दशा हुई। जन-जीवन विशृङ्खलित हो गया। इस समय दिल्ली के मुगल शासक मराठों के हाथों की कठपुतली बने हुए थे। मराठा-शक्ति अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी। चार वर्ष बाद सं० १८१८ में अहमदशाह अब्दाली का दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण आक्रमण हुआ जिसका उद्देश्य मराठा शक्ति का अन्त करना था। अपने पहले आक्रमण में अब्दाली ने पंजाब को अपने अधिकार में कर लिया था और वहाँ अपना सूबेदार नियुक्त किया था किन्तु बाद में मराठों ने उस प्रदेश पर अधिकार कर अपना मराठा सूबेदार नियुक्त किया। सं० १७६१ के आक्रमण में अब्दाली ने मराठा सूबेदार को परास्त कर दिल्ली को फिर

अधिकृत किया। पेशवा को जब यह समाचार मिला तो उसने अब्दाली को परास्त करने की दृष्टि से बड़ी भारी सेना तैयार की और दिल्ली की ओर चला। सदाशिव-राव भाऊ के नेतृत्व में मराठा-शक्ति ने अफगान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली और उसके साथ मिले हुए नाजिब शुजा और रुहेलों की संगठित शक्ति से मोर्चा लिया। सब मराठे अपनी-अपनी सेनाओं के साथ पेशवा की सहायता के लिए आए। अनेक राजपूत-शक्तियों ने भी मराठों का साथ दिया। पहले दिल्ली का विजय हुआ और यह योजना बनी कि पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र विश्वनाथ राव को दिल्ली का मराठा सम्राट घोषित किया जाय। उधर अब्दाली भी पूरी शक्ति और तैयारी के साथ आया। पानीपत के मैदान में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें मराठों की हार हुई और कितने ही वीरों के साथ-साथ सदाशिवराव भाऊ और विश्वनाथ राव भी युद्ध में मारे गए। इस पराजय से मराठा-शक्ति को गहरा धक्का लगा। इसी समय से उनके अपकर्ष का युग शुरू होता है। सात-आठ वर्ष तक उत्तर-विजय की कामना इनके मन में उठी ही नहीं। उसके बाद जाटों और उनके पड़ोसी राज्यों पर इनके आक्रमण शुरू हुए। २०-२५ वर्षों तक यही दशा रही। सं० १८२२-१८६२ तक राजपूताना और बुन्देलखण्ड में मराठों के आक्रमण से महाविध्वंस का दृश्य उपस्थित होता रहा, जिसके कारण इन क्षेत्रों के लोगों में इनके प्रति आत्यन्तिक घृणा के भाव भर गए। फिर इन युद्धों में व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग मराठा सेनापतियों की महत्वाकांक्षा निहित थी न कि यह समस्त मराठा शक्ति की ओर से उठाया गया कोई कदम था। फिर भी मराठों का यह लक्ष्य अवश्य था कि वे एक बार फिर अपने खोए हुए साम्राज्य को अपनी आधीनता में लाना चाहते थे और इसी उद्देश्य से वे बार-बार उत्तरापथ पर आक्रमण करते रहे। मराठों में आपस में विशेष मतभेद नहीं था। उनके आक्रमणों के परिणामस्वरूप मथुरा, दनकौर, टप्पल, डिबाई, नौझील आदि स्थानों में युद्ध के भीषण परिणाम उपस्थित हुए। मराठे नाजिब की सहायता से जाटों पर शासन करना चाहते थे किन्तु नाजिब स्वतः मराठों का विपक्षी था इसलिये जाटों पर शासन करने की उनकी कामना पूरी न हो सकी। दूसरे मराठे यह भी चाहते थे कि शाहआलम को कठपुतला की तरह सिंहासन पर बिठाकर एक बार फिर दिल्ली का शासन करें। इसके लिए वे तरह-तरह की नीतियाँ अपनाते रहते। सं० १८२८ में मुगलों ने शाह आलम को सम्राट घोषित किया। जगह-जगह सहायता की याचना करने वाला शाह आलम सं० १८२९ में दिल्ली लौटा। वह तो नाम का ही बादशाह बना, असली शक्ति मराठों के हाथ रही। कुछ विरोधियों ने रुहेलखंड और दिल्ली के आस-पास उपद्रव भी किये किन्तु वे दबा दिये गए। सं० १८४५ में मौका देखकर नाजिब के पुत्र गुलाम-कादिर खाँ ने शाह आलम को कैद कर लिया और निर्ममतापूर्वक उसकी आँखें फोड़ दीं। मराठों ने कादिर खाँ से बदला लिया। महादजी सिंधिया की सेना यूरोपीय ढंग

पर सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुकी थी; उसी की सहायता से सं० १८६० तक उन्होंने दिल्ली का शासन सँभाला। इसी वर्ष नवागत अंग्रेज शक्ति से मराठे पराजित हुए और उन्हें दिल्ली छोड़नी पड़ी।

अंधे मुगल सम्राट शाह आलम की मृत्यु सं० १८६३ में हुई। उसके बाद अंग्रेजों ने शाह आलम के पुत्र अकबरशाह द्वितीय और उसकी मृत्यु के बाद सं० १८९४ में उसके पुत्र बहादुरशाह को उत्तराधिकारी बनाया। सं० १९१४ के सैनिक विद्रोह या गदर के परिणामस्वरूप बहादुरशाह रंगून भेज दिये गए जहाँ सं० १९१९ में उनकी मृत्यु हुई। ये दोनों भी नाम के ही सम्राट थे, वास्तविक राज्य सत्ता अंग्रेजों की थी। बहादुरशाह मुगल वंश परम्परा के आखिरी बादशाह थे। ऐसी दयनीय स्थिति में मुगल सत्ता सदा के लिए भारत से समाप्त हो गई। इतना ही नहीं राजपूत, सिक्ख, जाट, मराठा आदि अन्य देशी शक्तियाँ भी इस युग में क्रम-क्रम से उदित होकर विनष्ट हो गईं। देश आपस की फूट और कलह का शिकार हुआ।

अन्य शक्तियाँ : नाजिब, जाट, सिक्ख और राजपूत—औरंगजेब को अनुदार और हिन्दूविरोधी नीति तथा उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण मुग़ल शासन का राष्ट्रीय रूप समाप्त हो चुका था। मराठे, सिक्ख, राजपूत आदि अन्य शक्तियाँ मुग़लों के विरुद्ध खड़ी हो चुकी थीं तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना एवं विस्तार का आयोजन कर रही थीं।

मुग़लों को क्षीण बल होते देख आगरा, मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशों के जाटों ने अपने छोटे-छोटे अनेक स्वतंत्र राज्य कायम कर लिये थे। सं० १८१८ में पानीपत के रणक्षेत्र में अहमदशाह अब्दाली ने मराठा शक्ति को पराजित किया। इस घटना के कारण जाटों को अपना उत्कर्ष-साधन का अच्छा अवसर मिला। सूरजमल जाट के नेतृत्व में जाटों ने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखाबाद, मेवाड़, रिवाड़ी, गुड़गाँव और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और भरतपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। इस प्रकार जाट भी अपने समय की एक महत्वपूर्ण राज्यशक्ति थे। जाटों ने गंगा-जमुना के दोआब के बीच अपना आधिपत्य स्थापित कर रक्खा था। वे दिल्ली के पश्चिम में भी अपने साम्राज्य का विस्तार देखना चाहते थे किन्तु ऐसा संभव न हो सका। सं० १८२० में सूरजमल जाट की मृत्यु हो चुकी थी। उसके अनंतर उसका पुत्र जवाहर सिंह जाटों का नेता बना। उसने जयपुर के महाराज माधोसिंह, नजीबाबाद नगर के बसाने वाले महत्वाकांक्षी नाजिब तथा मराठों के साथ अनेक युद्ध किये जिसका कोई सत्परिणाम न निकला। इन युद्धों में आगरा, दिल्ली, कालपी, राजपूताना आदि के भू-भाग एक बड़ी सीमा तक उजड़े। जयपुराधीश माधोसिंह के साथ जवाहर सिंह का जो युद्ध हुआ वह अत्यंत भीषण था; धन-जन की ऐसी हानि हुई कि दोनों के

राज्यों की जड़ें हिल गईं । जयपुर के सभी वीर वंश वीरविहीन हो चले । हर परिवार के दो-तीन वीर युद्ध में काम आए । जाटों को इन युद्धों में जो असफलता मिली उसके कारण उनकी राज्य-सीमा संकुचित होने लगी । सं० १८२५ में जयपुर के माधोसिंह ने जवाहरसिंह के राज्य पर प्रतिशोध की भावना से फिर आक्रमण किया, जिसमें जवाहरसिंह को भारी पराजय मिली । इसी वर्ष कुछ दिनों बाद जवाहर सिंह की मृत्यु हो गई ।

नजीबाबाद का बसाने वाला महत्वाकांक्षी नाजिब छल, छद्म और कूटनीति द्वारा राज्य-प्रसार और आत्म-विकास चाहता था । वह अहमदशाह अब्दाली की सहायता से अपने राज्य का स्थायित्व और विस्तार चाहता था किन्तु उसे समय पर अब्दाली की सहायता न प्राप्त हो सकी । उधर सिक्खों की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभुता के कारण नाजिब का धैर्य और आत्मविश्वास जाता रहा । उसने दिल्ली का राज्य अपने पुत्र जाबित के सुपुर्द कर दिया (सं० १८२५) और स्वयं नजीबाबाद में जाकर शांति का जीवन व्यतीत करने लगा ।

सिक्खों की सैनिक शक्ति का उत्कर्ष औरंगजेब के समय में ही गुरु गोविन्द सिंह के कारण हो चुका था । किन्तु मराठों के व्यापक उत्कर्ष के कारण सिक्ख शक्ति का प्राबल्य विशेष न हो पाता था । सं० १८१८ में पानीपत के युद्ध में अब्दाली से मराठों की जो हार हुई उसके परिणामस्वरुप सिक्ख शक्ति पुनः प्रबल हो उठी । सं० १८२४ में सिक्खों ने अफगान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली को पराजित किया तथा पंजाब में उन्होंने अनेक स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की । सिक्खों, नाजिब तथा जाटों में पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता थी फलतः उन दिनों पटियाला, सरहिन्द, अंबाला आदि में काफी लूटपाट और विध्वंस हुआ किन्तु बाद में ये प्रदेश सिक्खों की आधीनता में आ गए । सिक्खों ने उत्तरी दोआब, सहारनपूर, मेरठ, नजीबाबाद के आस-पास काफी लूटपाट मचाई ।

राजपूत इस समय एक कमजोर शक्ति के रूप में थे । मुगल शासन के उत्कर्ष काल में ये उनकी आधीनता स्वीकार कर चुके थे । मेवाड़ के राना प्रताप आदि अपवादस्वरूप ही स्वतंत्रता का ध्वज लिये चल रहे थे । ये लोग वस्तुतः पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के शिकार थे और इसी कारण संगठित रूप में राजपूत शक्ति का विकास नहीं कर पाते थे । इनके अलग अलग छोटे-छोटे राज्य थे और ये मुगलों के सहायक एवं सूबेदार आदि के रूप में उनकी साम्राज्य-लिप्सा को प्रोत्साहन दिया करते थे किन्तु इनमें पारस्परिक ऐक्य का सदा अभाव रहा । सं० १८१८ में मराठा शक्ति को पानीपत के मैदान में जब गहरा धक्का लगा । उस अवसर का भी ये लोग लाभ न उठा सके । पारस्परिक विद्वेष, उचित नेतृत्व का अभाव आदि के कारण धीरे-धीरे ये अधोगति एवं सर्वनाश की स्थिति को पहुँच गए थे । राज्य-विस्तार के भूखे मराठे इन पर बार-

बार आक्रमण करते, राजपूत उन्हें पर्याप्त धन आदि दे कर वापस कर देते । इनके बीच गृह-युद्ध आदि चला करते थे । मराठे उसमें भी हस्तक्षेप करते रहते थे । आई हुई विपत्ति से जूझने का साहस इनमें शेष न था, ये किसी प्रकार उसे टाल दिया करते थे । अर्थ, शक्ति और साहस सब कुछ के अभाव में ये राजपूत निष्क्रिय और तेजहत होते गए यहाँ तक कि सं० १७७५ तक सभी राजपूत नवागत अँग्रेज शक्ति की आधीनता स्वीकार कर बैठे ।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना—अंग्रेज, फ्रांसीसी और पुर्तगाली आदि यूरोपीय जातियाँ समुद्र द्वारा भारत का मार्ग जान लेने पर व्यापार और आर्थिक लाभ की दृष्टि से भारत में आईं । पूर्वी देशों का व्यापार हस्तगत करने के उद्देश्य से हालैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन, स्पेन आदि देशों में व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित की गईं और इन देशों के व्यापारी पहले पोर्तुगीज मल्लाह वास्कोडिगामा द्वारा खोजे गए समुद्र-मार्ग से भारत में आए । विक्रम की १७वीं-१८वीं शती में ये कम्पनियाँ केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट रहीं क्योंकि उस समय तक शक्तिशाली मुगलों का इस देश में अच्छा शासन था किन्तु उनके पतन और देशी राज्यों की जर्जर शक्ति का लाभ उठाकर तथा उनकी पारस्परिक फूट और प्रतिद्वंद्विता का सुयोग पाकर ये कम्पनियाँ भारतीय राज्यों के गृह-कलह में स्वार्थपूर्ण भाग लेने लगीं और यहाँ के मतिभ्रष्ट राजा भी उनकी सहायता से अपना-अपना प्रतिशोध लेने लगे । इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के राजा तो आपस में जूझते ही थे, नवागत विदेशी कम्पनियों के व्यापारी विशेषत: ब्रिटिश और फ्रेंच भी आपस में जूझने लगे । व्यापार-वृद्धि की अपेक्षा साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से इनके बीच दक्षिण में अनेक युद्ध हुए जो 'कर्नाटक के युद्ध' नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं । इन युद्धों के परिणामस्वरूप फ्रांसीसियों को हार खानी पड़ी और भारत में साम्राज्य-विस्तार का उनका स्वप्न भंग हो गया । विजेता अंग्रेज जाति दक्षिण में ही अपना थोड़ा-सा प्रभाव जमाकर सन्तुष्ट नहीं रही । इन्होंने क्रमिक रूप से उत्तर भारत में भी अपना पैर फैलाना शुरू किया ।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद किस तेजी से मुगल साम्राज्य का ह्रास और पतन हुआ है यह दिखलाया ही जा चुका है । एक से एक निस्तेज शासक दिल्ली के सिंहासन पर आसीन होते रहे और सुसंगठित एवं विस्तृत मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया । इसी क्रम में बिहार और बंगाल के सूबेदार भी स्वतन्त्र हो गये । सं० १८१३ में सिराजुद्दौला बंगाल की गद्दी पर बैठा । सत्तालोभी अँग्रेजों ने षड्यन्त्र पूर्वक सिराजुद्दौला को सं० १८१४ में प्लासी की लड़ाई में हरा दिया । सिराजुद्दौला के सेनापति मीरजाफर तथा अनेक अमीर उमरावों ने अँग्रेजों का साथ दिया । सिराजुद्दौला की मृत्यु के बाद मीरजाफर बंगाल का नवाब बनाया गया किन्तु वह अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली से अधिक कुछ भी न था । बंगाल का नवाब बनने के एवज में पौने तीन

करोड़ रुपयों की इतनी बड़ी रकम की शर्त अंग्रेजों ने रक्खी जिसे वह शाही खजाना खाली करने और तमाम जवाहरातों को बेंच कर भी अदा न कर सका। परिणाम-स्वरूप सं० १८१७ में मीरकासिम बंगाल का नवाब बना दिया गया। उसे अपनी नवाबी की शर्तों में बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले ईस्ट इंडिया कम्पनी को देने पड़े। उसे काफी बड़ी रकम कम्पनी को भी देनी थी क्योंकि उसके पूर्ववर्ती यह रकम अदा न कर सके थे। मीरकासिम होशियार आदमी था उसने राज्य के खर्च कम कर दिये और अँग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए तरह-तरह से रकम जमा करने की युक्ति निकाली। स्वाधीनचेता मीरकासिम से अंग्रेज इसी बात पर असन्तुष्ट हो उठे और उन्होंने बंगाल की नवाबी मीरजाफर को फिर देनी चाही। अंग्रेजों का मुकाबला करने में अपने आपको अशक्त पाकर मीरकासिम अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास आया। वहीं उसकी भेंट, सहायता के लिए दरदर भटकने वाले दिल्ली के शहंशाह शाहआलम से हुई। तीनों की सम्मिलित शक्ति ने सं० १८२१ में बक्सर के युद्ध में अँग्रेजों का सामना किया किन्तु भाग्य के अनुरोध से विजय अंग्रेजों की ही रही। बक्सर के ऐतिहासिक युद्ध में पराजित हो जाने के बाद अंग्रेजों का उत्तर-विजय का मार्ग और भी निष्कंटक हो गया। बनारस, इलाहाबाद और अवध आदि के इलाके अंग्रेजों के आधीन हो गए। सं० १८२२ में अवध के नवाब शुजाउद्दौला को आत्म-समर्पण करना पड़ा। भारत में अँग्रेजी राज्य की नींव डालने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर क्लाइव का सबसे बड़ा हाथ था। सं०१८१७ से १८२२ तक क्लाइव इंगलैण्ड में रहा। अंग्रेजों के प्रभुत्व का खासा विस्तार होते देख वह फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति को सम्भालने और ब्रिटिश राज्य को और भी अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से भारत भेजा गया।

इस समय के हिन्दी प्रदेश का इतिहास एक दुःखद कहानी है जैसा कि एक विद्वान् ने लिखा है—'एक ओर तो भोग-विलास, वैभव-ऐश्वर्य और आमोद-प्रमोद तथा इन्द्रियजनित सुख और जीवन की शिष्ट और संस्कृत भावना में डूबे हुए, कला और सौंदर्य के पुजारी, जीवन की वास्तविक विभीषिकाओंसे अलग भावलोक के स्वप्निल और उन्मादकारी वातावरण में पालित-पोषित क्रियात्मक शक्तिसे हीन भारतीय नरेश थे और दूसरी ओर यूरोप की नवीन युद्ध-विद्या और नए अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित चतुर कूटनीतिज्ञ अंग्रेज थे। समस्त हिन्दी प्रदेश में अवसरवादिता, अतिव्यय, गृहकलह लूटमार, रक्तपात आदि का दौर-दौरा था। लगभग प्रत्येक वर्ष ऐसे लोमहर्षक अकाण्ड ताण्डव घटित होते रहते थे और कुछ नहीं तो बढ़े हुए सैनिक व्यय को पूरा करने के लिए ही एक नरेश दूसरे नरेश पर आक्रमण कर देता था। जीवन में अनिश्चितता घुस गई थी, किसी एक सर्वमान्य राजनीतिक सत्ता का अभाव था। अंग्रेजों ने भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कोई कसर न उठा रक्खी थी। भारत के तत्कालीन

वातावरण में दुर्बल किन्तु महात्वाकांक्षी नरेशों, सामन्तों और सेनापतियों का भी अभाव नहीं था। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में समस्त हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजों का प्रभुत्व छा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।'[1]

अर्थात् सं० १८२२ के आस-पास ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था मात्र न रह गई, वह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में परिणत हो चुकी थी। व्यापार तो व्यापार, राज्य-विस्तार उनका मूल उद्देश्य हो चुका था और विजित प्रदेश का शोषण उनका प्रधान कर्म था। बक्सर की लड़ाई में अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ-साथ शाह आलम को भी अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। यद्यपि बंगाल-बिहार के नवाब स्वतन्त्र थे फिर भी मुगल बादशाहत का अधिकार उनके ऊपर माना जाता था। क्लाइव ने बक्सर युद्ध के बाद शाहआलम से बंगाल-बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् राज्य-कर वसूल करने का अधिकार अंग्रेजों को दिया गया, इस आशय का फरमान निकलवाया। सं० १८२२ में बंगाल, बिहार और उड़ीसा अँग्रेजों के हाथ आ गए। इन प्रदेशों का शासन अब भी वहाँ के नवाबों के हाथ में था किन्तु धन वसूल करने की शक्ति अँग्रेजों के हाथ जा चुकी थी। दोहरे शासन का परिणाम कितना भयंकर होता है यह सभी जानते हैं —

दुसह दुराज प्रजान कों क्यों न बढ़ै दुख-द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद॥ (बिहारी)

इन प्रान्तों के किसानों की ऐसी दुर्दशा हुई, उनका ऐसा शोषण हुआ कि प्रजा में घोर अशान्ति और हाहाकार मच गया। राज्य में अभूतपूर्व अव्यवस्था और स्वेच्छा-चारिता मची, फलस्वरूप सं० १८२७ में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसमें लगभग एक करोड़ व्यक्ति मौत के मुँह में चले गए। सं० १८२९ में वारेन हेस्टिंग्ज कम्पनी का गवर्नर होकर आया। उसने नवाबी समाप्त कर दी और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में दुहरे शासन का अन्त हुआ। नवाबों को पेंशन दी और शासन अपने हाथों में ले लिया। वारेन हेस्टिंग्ज के समय में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिये अँग्रेजों को बहुत उद्योग करना पड़ा और अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। सं० १८१८ में पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली से पराजित होने पर भी मराठा ही भारत की प्रधान शक्ति थे। सँ० १८२९ में मुगल बादशाह शाह आलम अँग्रेजों की शरण छोड़ कर दिल्ली चला आया था और मराठे उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठाकर स्वयं दिल्ली से शासित राज्य का संचालन कर रहे थे। उधर अवध के हारे हुए नवाब

[1] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (सन् १९५२) पृ० ६०-६१।

शुजाउद्दौला तक अँग्रेजों का प्रभाव था ही; क्योंकि बक्सर के युद्ध के बाद इलाहाबाद की संधि के अनुसार अवध में अँग्रेजों की सेना स्थापित हो चुकी थी। अनेक छोटे-छोटे राजे-महाराजे और जमींदार मराठों के आक्रमणों, उपद्रवों और अत्याचारों से तंग आकर अँग्रेजों की शरण में आ गए थे। अँग्रेजों की सहायता से अवध के नवाब ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अवध में सम्मिलित कर लिया। सं० १८३२ में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद आसफउद्दौला अवध का नवाब हुआ। अँग्रेजों ने उसे और भी अधिक अँग्रेजी सेना रखने के लिये विवश किया और उसका खर्च चलाने के लिए गोरखपुर और बहराइच के जिलों की मालगुजारी अँग्रेजों को समर्पित करनी पड़ी। उसने बनारस का इलाका भी अँग्रेजों को दे दिया। अवध राज्य के राजघराने और इस प्रदेश के छोटे-छोटे अधिपति अँग्रेजों के रंग-ढंग से संतुष्ट न थे। बनारस के राजा चेतसिंह ने अँग्रेजों की आर्थिक सहायता करने से इनकार कर दिया और अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि भड़का दी। उसके इस कार्य में अवध की बेगमों ने उसकी सहायता की जिसके फलस्वरूप अँग्रेजों ने राजा चेतसिंह और अवध की बेगमों को दण्ड दिया। ये घटनाएँ इस प्रकार हैं:—दक्षिण में साम्राज्य-विस्तार के लिये और यों भी अँग्रेजों को धन की जरूरत थी, वे उसे किसी भी कीमत पर और किसी भी प्रकार प्राप्त करना चाहते थे। सं० १८३२ में बनारस का राजा चेतसिंह अँग्रेजों के आधीन हो गया। वह अपना वार्षिक कर उन्हें नियमित रूप से अदा कर दिया करता था। सं० १८३५ में वारेन हेस्टिंग्ज ने उससे ५ लाख रुपयों की माँग की। दो वर्ष तक वह इतनी अतिरिक्त धनराशि देता रहा। तीसरे वर्ष उसके लिये सम्भव न हो सका। अँग्रेजों ने इस बात पर उसे गिरफ्तार कर लिया और उसके भांजे को राजा बनाया। इस बात पर बनारस की सेना ने अँग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया जिसे अँग्रेजों ने बुरी तरह कुचल दिया। अनुचित ढंग से ही हेस्टिंग्ज ने अवध की बेगमों से रुपये वसूल किये। उनके राजमहल को सैनिकों ने घेर लिया, बेगमों पर अत्याचार किया, उन्हें कैद किया और धन देने को बाध्य कर दिया। कम्पनी धन-संग्रह और साम्राज्य-विस्तार के लिये हर सम्भव तरीके को काम में ले आती थी। राजगद्दी के लिए लड़ते हुए दो हकदारों में किसी एक का साथ देना और उससे जागीरें प्राप्त करना, निर्बल राज्यों की सहायता के उद्देश्य से उनसे सन्धि करना और बाहरी आक्रमण और आन्तरिक विद्रोहों से उनकी रक्षा करना तथा इस कार्य में जो धन व्यय होता था वह उसी से वसूल किया जाता था जिसकी सहायता की जाती थी। ऐसे राज्यों में कम्पनी अपना एजेण्ट या रेजीडेण्ट नियुक्त करती थी और उन्हें अपने आधीन समझती थी। तीसरे शक्तिशाली राज्यों को अधिकृत करने के तो कम्पनी घात में ही लगी रहती थी।

उस समय तक अँग्रेजों का प्रभुत्व रुहेलखण्ड तक स्थापित हो चुका था।

मराठा-शक्ति पतनशील होते हुए भी सशक्त थी। दिल्ली का शासन उनके हाथ में था किन्तु उनमें आपसी एकता कम हो चली थी। सं० १८४२ में पेशवा माधवराव की मृत्यु के बाद मराठा सरदारों पेशवा-पद के लिए झगड़े शुरू हो गए। अँग्रेजों ने अपनी नीति के अनुसार मराठों के गृह-कलह में भी भाग लेना शुरू कर दिया। कुछ समय तक यह गृह-कलह चला। अन्त में बाजीराव द्वितीय पेशवा बना। उसे अपने प्रभाव में रखने के लिए अनेक मराठा सरदार तत्पर थे। बाजीराव द्वितीय ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ रखने के लिए सं० १८५६ में अँग्रेजों से सहायता की संधि कर ली। इस संधि के अनुसार ६००० सैनिकों की अँग्रेजी सेना उसके राज्य में उसकी सहायता के लिए रक्खी गई और उसका खर्च वहन करने के लिए २६ लाख वार्षिक आय प्रदान करने वाला एक बड़ा भू-भाग अँग्रेजों को प्रदान कर दिया गया। ग्वालियर के सिंधिया, नागपुर के भोंसले तथा समस्त मराठा सरदारों को पेशवा का एक विदेशी सत्ता की शरण में जाना अच्छा न लगा। उन्होंने यह उद्योग किया कि विदेशियों की राज्य-विस्तार-नीति के विरुद्ध सभी मराठे मिलकर लड़ें। पेशवा को भी यह बात मान्य हुई। सं० १८६० में मराठों और अँग्रेजों में उत्तर दक्षिण सर्वत्र लड़ाई हुई। इन्हीं युद्धों में अँग्रेजी सेना की उस टुकड़ी ने जो लार्ड लेक के नेतृत्व में युद्ध कर रही थी अलीगढ़ और दिल्ली का विजय किया और मराठों के हाथ से दिल्ली का अधिकार सदा के लिए खत्म कर दिया। शाह आलम जो इस समय मराठों के हाथ की कठ-पुतली था अँग्रेजों के अधिकार में आ गया। अँग्रेजों ने आगरे पर भी अधिकार कर लिया। हारते हुए मराठे सन्धि करने को बाध्य हुए जिसके परिणामस्वरूप सिंधिया के प्रभुत्व में आये हुए दिल्ली, आगरा, गंगा-यमुना के बीच का एक बड़ा भूभाग, दोहद, ग्वालियर आदि अँग्रेजों को समर्पित करने पड़े। नागपुर के भोंसला सरदारों को भी वर्धा और कटक नदियों का पश्चिमवर्ती प्रदेश अँग्रेजों को देना पड़ा। अँग्रेजों को इन्दौर के होल्कर राजा से भी युद्ध करना पड़ा जो अधिक समय तक न चल सका क्योंकि इसी समय अँग्रेजों को यूरोप में नेपोलियन से युद्ध करना पड़ा। उधर से निश्चित होकर सं० १८७४ में अँग्रेजों ने फिर मराठों से युद्ध किया। इस युद्ध में पेशवा, सिंधिया, भोंसले, होल्कर आदि सभी मराठा राजाओं ने अन्तिम बार बढ़ती हुई अँग्रेज-शक्ति का प्रतिरोध किया किन्तु वे एक-एक कर पराजित हुए। सं० १८७५ में मराठा शक्ति का सदा के लिए पराभव हो गया। उन्हें अँग्रेजों का प्रभुत्व और आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। मराठों के आधीन राजपूत-शक्ति भी अँग्रेजी अधि-कार में आ गई। उस समय तक प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष अँग्रेजों की आधीनता स्वीकार कर चुका था। हिन्दी प्रदेश में पंजाब तथा सिन्ध और काश्मीर अब भी ब्रिटिश साम्राज्य की आधीनता में न आ सके थे। पंजाब में अब्दाली के प्रभाव की समाप्ति के बाद सिक्ख शक्ति का फिर अभ्युदय हुआ। सिक्ख साम्राज्य के विकास,

विस्तार और उत्कर्ष के सिलसिले में राणा रणजीतसिंह का नाम अविस्मरणीय है। पूर्व में सतलज से आगे न बढ़ने की उन्होंने अँग्रेजों से सन्धि कर ली तथा लाहौर को राजधानी बनाकर उन्होंने एक शक्तिशाली सिक्ख साम्राज्य की स्थापना कर ली। सं० १८६६ में महाराणा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई। मृत्यु के बाद सिक्खों के पारस्परिक कलह का अँग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया। सं० १६०२ और १६०५ में अँग्रेजों और सिक्खों की लड़ाइयाँ हुईं जिनमें सिक्ख पराजित हुए और तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने पंजाब को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कर लिया।

सामाजिक परिस्थिति

इस युग का सामाजिक जीवन जड़तापूर्ण और रूढ़िग्रस्त था, उसमें कितनी ही कुरीतियाँ और अंध आस्थाएँ चली चल रही थीं। शासक वर्ग अतिशय स्वेच्छाचारी हो गया था और शासित सर्वसाधारण वर्ग अपनी सहिष्णुता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। साधारण जनता अशिक्षित ही नहीं शिक्षा के अयोग्य ठहरा दी गई थी इससे उन्नति और उद्धार के द्वार उनके लिये सदा के लिए बन्द हो गए थे। केवल ब्राह्मण ही थोड़ी शिक्षा ग्रहण करते थे शेष लोग अपने पैतृक व्यवसाय की दीक्षा पाकर ही सन्तुष्ट रह जाते थे। समाज अज्ञान के अंधकार में भटक रहा था, उसे मार्ग दिखावे भी तो कौन ? फलतः वे पिसते जा रहे थे। निकम्मे सामंतवाद का जुआ उनकी गर्दनों पर बहुत भारी पड़ रहा था पर वे सिर झुकाए सब कुछ सहते जा रहे थे। निम्न वर्ग को विकास के अवसर सुलभ नहीं थे। ज्ञान के प्रसार के अभाव में अंध भ्रांतियों और अंध रूढ़ियों की जड़ें समाज में गहरी हो रही थीं। साधारण लोग ही नहीं, पढ़े-लिखे लोग भी अनुदार, संकीर्ण, कूपमंडूक, पुरानी लकीर के फकीर तथा रूढ़ियों और भ्रांतियों के शिकार हो रहे थे। वर्णव्यवस्था का जटिल बन्धन जरूर ढीला पड़ चला था और पेशे के हिसाब से नई-नई जातियाँ बन चली थीं। अलग-अलग पेशों के लोग अलग-अलग जातियों में ढलते जा रहे थे। सभी वर्गों के लोग सभी काम कर लेते थे। जनजीवन अगतिक और स्थिर होकर तमाम विकृतियों का केन्द्र हो गया था। उधर सामंतों और अधिकारप्राप्त व्यक्तियों की निरंकुशता गरीबों पर कहर ढा रही थी, इधर पिंडारियों और ठगों का आतंक भी समाज में कम न था। उत्तरवर्ती रीतिकाल में तो घोर अराजकता का साम्राज्य था। सारे देश में ठगों, चोरों, डाकुओं और युद्धजीवी वर्गों ने हड़कंप मचा रक्खा था। अरक्षा की यह स्थिति लोगों को स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित बना रही थी।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस युग के जीवन की सामान्य परिस्थितियों

पर विशद प्रकाश डाला है।[1] सामाजिक परिस्थिति की चर्चा करते हुए उन्होंने विस्तार से हिन्दी प्रदेश के हिन्दुओं के आकार-प्रकार, स्वभाव, भोजन, रहन-सहन, वेश-भूषा, हिन्दू स्त्रियों के रूप-सौंदर्य, स्वभाव, शिक्षा, वस्त्राभूषण, शृङ्गार-प्रसाधन, सजावट-प्रियता, धनिक वर्ग की मनोवृत्ति, हिन्दुओं की कुटुंब-व्यवस्था, स्त्री का जीवन, उसके जीवन का लक्ष्य, पुरुष पर उसकी निर्भरता, विधवाओं की स्थिति, नौकर-चाकर, हिन्दू संस्कार, वर्ण-व्यवस्था, प्रत्येक वर्ग की दशा और मनोवृत्ति, वर्णव्यवस्था के अभिशाप, समाज का चार वर्णों के अतिरिक्त अधिकाधिक वर्गों और टुकड़ियों में बँट जाना, विवाह की रीति-नीति, बहुविवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा, कौटुंबिक जीवन पद्धति, स्त्रियों की स्थिति, हिन्दुओं के खान-पान, विश्वासों आदि का पूरा व्यौरा दिया है।[2]

हिन्दू और मुसलमान—हिन्दू पराजित जाति के व्यक्ति थे और मुसलमान विजेता थे। फलस्वरूप उनमें स्वभावतः हिन्दुओं के प्रति उपेक्षा और असमानता की भावना भरी हुई थी। इधर हिन्दू भी उन्हें धर्मघातक समझ घृणा की दृष्टि से देखते थे और उन्हें विजातीय म्लेच्छ समझते थे। यद्यपि सम्राट अकबर तथा नाना संतों और भक्त-कवियों ने इनके पारस्परिक विद्वेष को मिटाने के लिए बहुत-कुछ किया फिर भी आक्रामकों और आक्रांताओं के बीच जो मूल मनोभाव बद्धमूल हो गए थे वे सर्वथा विलुप्त न हो सके। उधर शाहजहाँ के समय से ही हिन्दुओं पर अत्याचार बढ़ चला था जो औरंगजेब के समय में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इन बादशाहों की हिन्दू-विरोधी नीति ने हिन्दुओं के मन में घोर असंतोष और क्षोभ संकलित कर दिया था। हिन्दुओं के मन्दिरों, पूजा-पाठ, पुस्तकालय ,, धर्म-स्थानों तथा धर्मकृत्यों के प्रति जो प्रतिबन्ध था और जो दुर्व्यवहार होता था (मूर्तिखंडन, देवालय का विध्वंस, पुस्तकालय का दाह आदि) तथा हिन्दू बहू-बेटियों पर मुगलों की जो कुदृष्टि रहती थी उसके कारण दोनों धर्मों और जातियों के बीच विभेद की एक स्पष्ट रेखा खिंची हुई थी; किन्तु राजनीतिक पराभव के कारण वह समाज के अन्दर ही अन्दर घुट रही थी। जगह-जगह से समय-समय पर हो उठने वाले राजनीतिक विद्रोह और उपद्रव इसी सामाजिक क्षोभ की अभिव्यक्ति मात्र थे। मुगल सत्ता के क्षीयमान होते ही इस क्षोभ की उग्रता धीरे-धीरे कम होने लगी। गाँवों में यह विभेद या जातीय चेतना बहुत कम हो चली थी क्योंकि वहाँ शासित और शासक का विचार कम था। सामान्य जीवन के निर्वाह की ही समस्या प्रधान थी और उनके लिये दोनों फिरके के लोगों को मिल-जुल कर ही रहना पड़ता था। हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग भी पूर्ण ऐक्य से

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ४९।
[2]वही पृ० १०६ से १२४।

नहीं रहते थे। मुसलमानों में शिया-सुन्नी, इरानी-तूरानी आदि आधारों पर अनैक्य था और हिन्दू तो इस दृष्टि से अत्यन्त विश्रृङ्खलित थे। उनमें जाति-भेद का भाव अत्यन्त उग्र और व्यापक था। ब्राह्मण शूद्र का स्पर्श तो दूर छाया भी छूने को तैयार नहीं था। इन सब कारणों से निम्न वर्गों के हिन्दू धर्म-परिवर्तन भी कर रहे थे।

आर्थिक दृष्टि से समाज में दो वर्ग—आर्थिक दृष्टि से समाज स्पष्टतः दो वर्गों में बँटा दिखाई पड़ता है एक तो भोक्ता वर्ग जिसमें शाह, राजा, रईस, नवाब, अमीर, उमराव, मंसवदार, सामंत आदि थे। इस वर्ग के सहायक और आश्रित लोग भी इसी वर्ग में आते हैं—जैसे, सम्राट का परिवार, सभासद और राजकर्मचारी। दूसरा वर्ग था उत्पादकों का जिसमें नौकरी-पेशा के लोग, श्रमिक, कृषक, बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा आदि आते हैं। इन्हें शासन, युद्ध आदि राजनीतिक बातों से कोई सरोकार न था; ये मेहनत-मजदूरी करते थे, खेती-बारी में लगे रहते थे, खूब लगान देते थे और उपद्रवों से शासक इनकी रक्षा करता था। भोक्ता और उत्पादक वर्ग के बीच का व्यवधान थोड़ा न था, वह दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। यह अन्तर शासक और शासित या शोषक और शोषित का था।

सामन्ती समाज—समसामयिक राजनीतिक परिस्थिति के परिणामस्वरूप सामन्तवादी शासन चल रहा था, तदनुसार समाज भी सामन्तीय आधार ग्रहण किए हुए था। राजा के पास ही राज्य के समस्त अधिकार होते थे और उसकी इच्छा के विरुद्ध सोचा और रहा नहीं जा सकता था। उसकी आज्ञा की अवहेलना के परिणामस्वरूप प्राणदंड तो एक साधारण-सी बात थी। सारे देश में मंसबदारों और उच्चपदस्थ अमीरों का जाल फैला हुआ था। ये लोग राजकीय अधिकारों के वाहक हुआ करते थे। ये भोक्तावर्ग के लोग राज्य की प्रधान शक्ति होते थे, समस्त ऊँचे पद इन्हीं सामन्तों के हाथ में होते थे। योग्य और महात्वाकांक्षी व्यक्ति इन्हीं राजकीय पदों पर आने का उद्योग किया करते थे। अन्य नौकरियाँ तुच्छ समझी जाया करती थीं।

मुगलों के महलों और दरबारों का ऐश्वर्य—मुगल बादशाहों के महलों और राजदरबारों का ऐश्वर्य असाधारण था। विदेशी यात्रियों ने शाहजहाँ के वैभव का वर्णन चकित भाव से किया है। स्वयं सम्राट् के ही वस्त्राभूषणों पर असीम धन-राशि प्रतिवर्ष व्यय होती थी। उसका दैनन्दिन जीवन ही अत्यन्त खर्चीला था। रत्नाभरणों से महल के लोग अलंकृत रहते थे। सारा राजसदन जगमग करता रहता था। शाह तथा बेगमों के और इसी प्रकार सभासदों आदि के वस्त्र बेशकीमती हुआ करते थे क्योंकि वे स्वर्णखचित और रत्नजटित हुआ करते थे। रत्नों, मणियों और जवाहिरातों की तो शाहजहाँ के पास अशेष राशि थी। दरबारियों के पास भी रत्नों और मणियों की कमी नहीं होती थी। प्रसन्न होने पर शाह लोग अपने बहुमूल्य वस्त्र

और रत्नहार आदि भेंट कर दिया करते थे। स्त्रियों के पहनने के वस्त्रों आदि में रत्न मुक्तादि की मालाएँ और सजावटें देखी जा सकती थीं। हीरा, लाल, नीलम आदि मणियों की कांति से अन्तःपुर जगमग करता रहता था। वस्त्रादि सुगन्धि से सुवासित रहते थे तथा ये शाह और इनकी बेगमें दिन में कितने ही बार अपने वस्त्र बदलती रहती थीं।

विलासिता का नग्न नृत्य—मुगल सम्राटों का जहाँ इतना वैभव और ऐश्वर्य था वहीं भोग-विलास का भी नग्न नृत्य होता रहता था। इतिहासकारों ने लिखा है कि मुगलों के अंतःपुर में हजार-हजार की संख्या में युवतियाँ और परिचारिकाएँ रहा करती थीं। ये विविध जाति और वर्ण की होती थीं। इनमें जो कुटनियाँ होती थीं। वे छलपूर्वक लोभ दिखाकर जगह-जगह से सुन्दर लड़कियाँ ले आया करती थीं। राजमहलों में सुरापान की धूम रहती थी और इससे सम्बंधित जितने अवगुण होते हैं, उनका मुक्त नृत्य हुआ करता था। बाबर, हुमायूँ और अकबर में विलासिता का रूप फिर भी संयत था किन्तु जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलासिता का असंतुलित रूप दृष्टिगोचर होता है। शाहजहाँ की ऐश्वर्यप्रियता और विलासिता पर बर्नियर, मनूची तथा अन्य विदेशी यात्रियों ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शाहजहाँ एक अत्यन्त कामुक और विलासप्रिय व्यक्ति था 'पाशविक ऐन्द्रिय भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य था। हरम में लगने वाले रूपबाजार, राज्य के द्वारा अनुचरियों की व्यवस्था तथा अन्तःपुर में शत-शत अंगसेविकाओं की उपस्थिति उसकी इसी लोलुप वृत्ति की परिचायक हैं। उसके मन में मांसल ऐन्द्रिय उपभोग के लिये बड़ी दुर्बलता थी। कहीं-कहीं तो अनेक उच्च कर्मचारियों की पत्नियों तथा स्वयं अपनी पुत्रियों के साथ उसके अवैध ऐन्द्रिय सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है।'[1] औरंगजेब ने अवश्य इन दुर्व्यसनों को रोका, किन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने आँख मूँदकर बल्कि अधिकाधिक उन्मेष के साथ इस क्रम को चालू रखा। वेश्याएँ दरबार की शोभा हुआ करती थीं। औरंगजेब के बाद तो यह क्रम यहाँ तक बढ़ा कि कुछ मत पूछिये। मुहम्मदशाह तो अपनी रसिकता के कारण 'रँगीले' कहे जाते थे। नाच-रंग और मदिरा-पान में ही उनका सारा समय व्यतीत होता था। वेश्याओं का दरबार में खूब सम्मान होता था; ऊधमबाई नाम की वेश्या को उसके दरबार में यह सम्मान प्राप्त था। इन्हीं मुहम्मद शाह के दरबार की सुजान नाम की वेश्या पर स्वच्छन्द कवि घनआनन्द जी भी मुग्ध बताए जाते हैं। सम्राट जहाँदारशाह के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे हाथ में दर्पण और कंघा लिये हुए हर समय सुन्दर स्त्री के समान अपने केशों को ही सँवारा करते थे। लालकुँवरि वेश्या से तो उनका इतना ज्यादा लगाव था कि उनके सभासदों तक को भी इस बात पर रोष हो आया था। जहाँदारशाह के समय में विला-

[1]हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (सं० २०१५) षष्ठ भाग : पृ० १३-१४

सिता और कामुकता, मूर्खता और अधोगति की चरमसीमा पर पहुँच गयी थी, उसने मुगलों का सारा गौरव मिट्टी में मिला दिया था। शाह को राज्य-संचालन के लिए वेश्या लालकुँवरि से संकेत और आदेश लेना पड़ता था। लालकुँवरि की इच्छापूर्ति के लिए जहाँदरशाह ने क्या नहीं किया था—अन्न के भाव बढ़ा दिए गए थे, यात्रियों से भरी नाव पानी में डुबा दी जाती थी, उस वेश्या के रिश्तेदार ऊँचे पदों पर बिठा दिये गये थे और उन्हें रहने के लिए अच्छे से अच्छे महल दे दिये गये थे। सारंगी बजाने वाले और तबलची कुंजड़े और कुंजड़िनों को ऊँचे ओहदे और बड़ी जागीरें दे दी गई थीं। संतानोत्पत्ति की इच्छा से सामंत लोग दरगाहों में नग्न स्नान किया करते थे और रात्रि में वेश्या लालकुँवरि के नीचे दर्जे के आशिक महल में शराब पीने के लिए एकत्र होते। शराब में चूर होकर वे लोग बादशाह को ठोकरों और थप्पड़ों से बेहाल कर देते थे और बादशाह जहाँदारशाह लालकुँवरि को खुश रखने के लिए बखुशी यह सब सहन करता था।।[1] फिर बेचारे सामन्तों और अमीरों की क्या हस्ती थी। लालकुंवरि के हाँथों आए दिन वे भी अपमानित होते रहते थे। ऐसी ही हालत राजपूताना के मारवाड़ राजा विजयसिंह की भी थी। पासबनी नामक वेश्या के हाथों वे और उनके सामन्त जलील होते रहते थे। मुगल बादशाहों और सामन्तों के पतन का यह दृश्य बहुत ही मर्मभेदी है। वेश्याओं के इशारे पर नाचने वाले ये संपदभोगी कामुक देश, समाज और प्रजा का क्या उद्धार कर सकते थे? इतिहासकारों ने इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि यह वेश्याओं और हिजड़ों का ही युग था।[2]

सामन्तों और छोटे रईसों पर बादशाहों के ऐश्वर्य और विलास का प्रभाव—मुगल बादशाहों की इस आत्यंतिक ऐश्वर्यप्रियता एवं विलासिता का प्रभाव उस युग के अधीनस्थ राजाओं और सामंतों के ऊपर पड़े बिना न रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे दिन-दिन अकर्मण्य, क्षीण-बल और पौरुषहीन होते गए। मुगल सम्राटों को तो युद्धों, विद्रोहों तथा सीमान्त उपद्रवों के सिलसिले में थोड़ा बहुत श्रम और पराक्रम दिखाना ही पड़ता था परन्तु अधीनस्थ राजा और सामंत इन चिंताओं से अपेक्षाकृत मुक्त रहा करते थे, फलतः वे निश्चित होकर विलासिता में निमग्न रहते थे। और भी जो छोटे जागीरदार थे वे और अधिक निर्बाध हो विलासी बने हुए थे। शक्ति, ओज, सदाचार और प्रतिष्ठा का स्थान विलासिता और प्रदर्शन ने ले लिया था। सामंतों के परिवार के लोगों की खुले आम गुण्डागर्दी के भी विवरण ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलते हैं। दूकानों का लूटा जाना, रास्ता चलते हिन्दू-स्त्री का अपहरण कोई बड़ी बात न थी। जो हालत बादशाहों के अंतःपुर की थी

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १६।

[2] डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना (हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड, पृ० ७०)।

वही अधीनस्थ नवाबों, सामंतों और रईसों की भी। उनके अंतःपुर में भी अनेकानेक जातियों और वर्गों की स्त्रियाँ रहा करती थीं जो विलास की सामग्री मात्र थीं। ऐसे वातावरण में किसी महान और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के उदय की बात अकल्पनीय थी। सुरापान, द्यूत क्रीड़ा, वेश्यागामिता, नाच-रंग—यही इनका जीवन था। इन सामंतों की सन्तान सुख और ऐश्वर्य के वातावरण में पलकर शिक्षा और सत्संस्कारों से विरत रह कर इन्हीं दुर्व्यसनों का शिकार हो जाती थी। सामंती-जीवन का यही क्रम था। डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है कि 'शाहजादों, राजपुत्रों एवं अमीरजादों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं था। उनका भरण-पोषण जिस कलुषित वातावरण में होता था, वह उन्हें विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था—उन पर हिजड़ों और युवती दासियों का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवकों से अधिक सम्मान नहीं पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्जा तफख्खुर की तरह बाजार में आवारागर्दी और औरतों से छेड़-छाड़ शुरू कर देते थे। जनता के आचार-रक्षकों के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे।'[1]

सामन्तों की अनेक पत्नियाँ और रक्षिताएँ—सामंत लोग भी जैसा ऊपर कहा जा चुका है मुगल बादशाहों के ही समान अनेक पत्नियाँ और रक्षिताएँ रखते थे। स्त्री के प्रति ये विलासी लोग प्रकृत्या दुर्बल हो चुके थे क्योंकि जीवन में ऊँचे आदर्शों का उनके लिये कोई महत्व न रह गया था। इन स्त्रियों और रक्षिताओं को भी अपनी उपयोगिता का पूरा ज्ञान था। वे फारसी के आशिकाना गजलों को सुनती सीखती थीं। अपने आपको सजाकर इन सामंतों के सामने तरह-तरह की भाव-भंगियों के साथ प्रस्तुत करने में ही वे जीवन की चरितार्थता समझती थीं। वे विलास का चेतन उपकरण बनी हुई थीं। अपने कटाक्षों, हाव-भावों और शृङ्गार-सज्जा के द्वारा अपने स्वामी को रिझाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। इन स्त्रियों को गृहस्थी सम्भालने की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि वहाँ दास-दासियों की कमी न थी। राज्य के कर्मचारी और दास भी इस रंगीनी और रसिकता का मजा लूटते थे और इसी स्वार्थवश वे सामंतों के भोग-विलास के उपकरण जुटाने में तत्परता से संलग्न रहते थे।

समाज में नारी का स्थान—नारी को इस युग के समाज में कोई स्वतंत्र सत्ता या व्यक्तित्व नहीं प्राप्त था। सर्वसाधारण के बीच तो वह एक आश्रित प्राणी मात्र थी। पुरुष का अनुसरण और इच्छानुवर्तन ही जिसका एकमात्र जीवनोद्देश्य था। अशिक्षा और दरिद्रता के कारण उसे श्रमिक-सा जीवन यापन करना पड़ता था। किन्तु शाही और सामंती वातावरण की नारी एक भिन्न प्राणी थी—सजी-धजी,

[1] रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १४।

इन्द्रलोक की अप्सरा बनी हुई, नाना वस्त्राभरणों से अलंकृत, सुख-भोग के उपकरणों से सम्पन्न तथा दूती और दासियों से सेवित, किन्तु फिर भी वह कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व न रखती थी, क्योंकि थी वह पुरुष के विलास का उपकरण ही। उसका कोई सामाजिक अस्तित्व न था, समाज व्यवस्था का वह कोई प्रधान अंग या इकाई न थी। वह भोग-वासना की तृप्ति का साधन मात्र थी चाहे वह वारवनिता हो चाहे कुल-वधू—

कौन गनै पुर वन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कौं चित्त हरै करि प्रीति॥

स्त्री मात्र चाहे वह किसी जाति की हो, किसी धर्म की हो, किसी वर्ग की हो उस युग के कवियों द्वारा कामोद्दीपक मांसलता के रूप में ही अंकित हुई। ग्रामीण नायिकाओं के वर्णन में तथा विविध जातियों (तमोलिन, काछिन, भड़भूँजिन, नाइन) तथा स्थानों की नायिकाओं के निदर्शन में बिहारी, देव आदि ने उनकी जातीय या स्थानीय विशेषताओं का परिचय न देकर उनके जगमग यौवन का ही उन्मादक चित्र प्रस्तुत किया है। इससे स्त्री-मात्र के प्रति उनकी दृष्टि का परिचय मिलता है। नारी के समाज में स्थान, उसके प्रति युग के लोगों का दृष्टिकोण, उसकी विलास-साधन रूप में स्वीकृति, उसके शृङ्गार प्रसाधन, वस्त्राभूषणों, महलों या अन्तःपुरों के ऐश्वर्य और समसामयिक समाज का स्वरूप समझने के लिए स्वयं युग का साहित्य भी एक बहुत सच्चा साधन है।[1] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है कि रीति-काल की नारी का जो चित्र हमें रीति-साहित्य में मिलता है उसमें नारी व्यक्ति नहीं टाइप के ही रूप में चित्रित हुई है। जहाँ-तहाँ उसका गार्हस्थिक रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी उसका व्यक्तित्व नहीं उभरने पाया है।[2]

सामन्तों के भोग-विलास का वातावरण—शाहों और सामन्तों के भोग विलास का वातावरण सचमुच ही बहुत शोभा एवं ऐश्वर्यपूर्ण रहा करता था। उच्च सौध और अट्टालिकाएँ विलास-सामग्री से परिपूर्ण रहती थीं। महल् चन्द्राकार होते थे। स्फटिक की फर्श हुआ करती थी। अट्टालिकाओं की खिड़कियाँ राजपथों की ओर अभिमुख हुआ करती थीं। रजत ज्योत्सना में ये भवन और प्रासाद दुग्धस्नात हो उठते थे। अनेक महल और प्रकोष्ठ शीशे के हुआ करते थे जैसे कि दिल्ली के लाल किले, आगरे के किले और जयपुर तथा आमेर में आज भी देखे जा सकते हैं। झाड़फानूसों

[1]इस साधन या माध्यम से इस युग के समाज की झाँकी देखने के लिए पढ़िये डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा प्रस्तुत विवरण : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २३५-३८।

[2]हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २९८।

और आदमकद शीशों या आईनों से महलों के प्रकोष्ठ सज्जित रहा करते थे—जैसे ग्वालियर के सिंधिया महल, रीवा के व्यंकट भवन और गोविन्दगढ़ के रघुराज महल में आज भी देखे जा सकते हैं। जब इन महलों में प्रकाश किया जाता था तो ज्योति की चतुर्दिक जगमग देखने योग्य हुआ करती थी। नग्न स्नान या जलक्रीड़ा के लिए बावड़ियाँ या वृत्ताकार स्नानकुण्ड बनाये जाते थे जैसे माण्डू (माण्डवगढ़, धार) की चम्पा बावड़ी और जहाजमहल में आज भी देखे जा सकते हैं। राजोपवन की शोभा अलग ही हुआ करती थी। जहाँगीर की उद्यानप्रियता प्रसिद्ध ही है। इन शाहों और सामन्तों के राजोपवनों में भारतीय और फारसी गुलों की बहार रहा करती थी। 'भारतीय पुष्पों में चम्पा, केतकी, बेला, जुही, कचनार, कुन्द, जपा, हरसिंगार आदि उपवन की शोभा बढ़ा रहे थे तो फारसी फूलों में गुलाब, मोगरा, गुल्लाला आदि। इन उपवनों में पुष्पचयन के बहाने नायक-नायिका का मिलन हो जाया करता था। फूलों का प्रचुर उपयोग होता था। कक्ष-शय्या पर उनकी पंखुड़ियाँ बिछाई जाती थीं, विरह-ताप में उनसे शीतोपचार का काम लिया जाता था। सामन्त सरदार और उनकी पुत्रियों के पुष्प-प्रेम का कहना ही क्या? नगर के बाहर स्थित श्वेत-नील कमलों से सुशोभित तथा भ्रमरावलियों से मुखरित स्वच्छ सरोवरों में स्नान करती हुई सुन्दरियों के अनावृत सौंदर्य को अनायास देखकर ये कवि उसे अपनी कविता में अंकित कर देते थे।'[1] सामन्तों के शयन-कक्ष पुष्प-सौरभ तथा अन्यान्य सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित रहा करते थे। कामिनियों के अंग-अंग इत्रादि की सुगन्धि से आपूर रहा करते थे। वे विविध जवाहिरातों, रत्नाभरणों से सजी और बहुरंगी झीने पारदर्शी वस्त्रों को पहने रहा करती थीं जिससे उनकी आंगिक सुन्दरता अत्यन्त उन्मादक हो जाया करती थी। उनके अवगुण्ठनों से मर्म को भेद देने वाली जो 'चखचोट' होती थी वह भी कुछ कम प्रभावी न थी। सामन्त उससे जितने आहत हुआ करते थे कवि उससे कुछ कम घायल न होते थे। हर ऋतु में हर पहर के सुखोपभोग का विधान था। इस दृष्टि से कवियों के ऋतु वर्णन और अष्टयाम देखने लायक हैं। बसन्त और वर्षा में प्रकृति का वैभव ही भोग-वासना संवर्धक उपकरण जुटा दिया करता था। ग्रीष्म में फौव्वारे, शीतलपाटी, उसीर की टट्टी, गुलाब जल, शीतल पेय आदि रहा करते थे और शिशिर का मसाला तो पद्माकर कवि बता ही गए हैं—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी हैं चिकैं हैं चिरागन की माला हैं।
कहैं पदमाकर त्यौं गजक गिजा हैं सजी
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं॥

---

[1] रीति-कालीन कवियों की प्रेम व्यंजना : डा० बच्चन सिंह, पृ० ११

सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिन्हके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ॥ (पद्माकर)

ऋतुओं के रस को और भी अधिक उन्मादक बनाने के लिए सुरा और सुंदरी का सेवन प्रति ऋतु में किया जाता था। सामंत लोगों के मनोविनोद के और भी साधन थे। वे तरह-तरह के 'इनडोर' और 'आउट डोर' खेल भी खेला करते थे—जैसे, चौसर, गंजीफा, शतरंज और पोलो (गोह), कबूतर की उड़ान, पतंग, बाज-तीतर-बटेर आदि पक्षियों की लड़ाई, हाथी की लड़ाई, शिकार आदि।[1] स्पर्श सुख प्रदान करने वाली 'चोरमिहीचनी' नाम की क्रीड़ा भी उन्हें विशेष रुचिकर थी। सामंती जीवन-विधि में इन चीजों का विशेष महत्व था। इस प्रकार आठों याम इनके सुख और भोग में ही व्यतीत होते थे। इसी कारण उस काल का मुगल शासन और सामंती समाज लड़खड़ाता हुआ चल रहा था।

उत्पादक और श्रमी वर्ग

उत्पादक या श्रमिक वर्ग की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उनकी दशा सामंतों से एकदम विपरीत थी। उनका बेतरह शोषण होता था। दिन भर कठोर परिश्रम के बाद भी उन्हें भर पेट भोजन नहीं नसीब होता था। उनसे बेगार लिया जाता था। मजदूरों और कारीगरों से पूरी मेहनत ली जाती थी और इसके बदले में बेचारों को कोड़ों से पीटा भी जाता था। इस काल का कृषक बेचारा अत्यंत दुर्दशाग्रस्त था। डा० नगेन्द्र ने उनकी दशा का विवरण देते हुए लिखा है कि 'मुगल बादशाहों के असंख्य युद्धों, बहुमूल्य इमारतों, उनके अमीरों के विलास-वैभव सभी का भार अंत में जाकर इन किसानों पर ही पड़ता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े हुए थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूंदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। राजा के अबाध अपव्यय की क्षति-पूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी, कर्मचारी गण राजा का और अपना उदर किसानों का खून-चूसकर भरते थे। सम्राट, सूबेदार, फौजदार, जमींदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिसके कष्टों को केवल भगवान ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारों की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उनकी हरी-भरी फसलों को तहस-नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी।'[2] इस प्रकार ये श्रमिक और कृषक तरह-तरह के

[1] रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना : डा० बच्चनसिंह पृ० १२।
[2] रीति-काव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १३।

अत्याचारों के शिकार थे। बेगार और अत्याचार सहकर भी क्षुधित जीवन उन्हें व्यतीत करना पड़ता था। उनका जीवन एक अभिशाप था। उधर समय-समय पर फैलने वाली भीषण महामारी और अकाल की स्थिति उनके जीवन को और दूभर किये दे रही थी। ऐसे संतप्त जीवन से क्षुब्ध होकर अनेक श्रमिकों एवं कृषकों ने दस्यु-वृत्ति धारण कर ली थी।

भ्रष्टाचार और अव्यवस्था—एक तरफ विलासिता का बोलबाला था दूसरी तरफ शोषण और अत्याचार का कठोर यंत्र चल रहा था। शास्त्रों और राज-कर्मचारियों में नैतिकता का लेश भी बाकी न था। बेचारे कृषक से राजकीय कर निर्ममतापूर्वक वसूले जाते थे और इस प्रकार उनका खून चूस-चूसकर राजकर्मचारी राज्यकोष तो भरते ही रहते थे अपना निजी कोष भी बढ़ाते चलते थे। उनके पास इतने अधिकार होते थे कि बेचारा कृषक और श्रमिक चूँ तक न कर सकता था। समाज में घोर अव्यवस्था व्याप्त थी। बंजारों और पिण्डारियों ने जन-जीवन को आतंकग्रस्त कर रक्खा था। राज्यकर्माधिकारी राजकीय कार्यों से जाते हुए मार्ग में पड़ने वाले गाँवों की लूट-खसोट करते चलते थे। इन भ्रष्टाचारों और अत्याचारों के विरुद्ध कहीं सुनवाई न थी। इन्हीं कारणों से जन-साधारण की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उनका जीवन-स्तर अत्यंत दीन हो गया था। आर्थिक, सामाजिक स्थिति के वैषम्य के कारण देश में घुन लग चुका था। इस दुःशासन के प्रति जगह-जगह जो प्रबल विद्रोह हुए उनका हवाला राजनीतिक परिस्थितियों के विवरण में दिया जा चुका है।

नैतिकता—ऐसी स्थिति में भला नैतिकता क्या रह सकती थी। विलास-जर्जर बादशाहों और सामंतों में नैतिक बल नाम की कोई चीज न रह गई थी। इंद्रिय-लिप्सा की तुष्टि के लिए जो व्यभिचार चल रहा था उसकी तो चर्चा की जा चुकी है। अपव्यय बढ़ा हुआ था। गरीब की मेहनत को मेहनत न समझा जाता था। ऊँचे आदर्शों से जीवन का लगाव न रह गया था। राज्यकर्मचारी वर्ग खुले आम रिश्वत लेता था। छोटे-छोटे राज्यों को वश में करने के लिए षड्यंत्र और दुरभि-संधियाँ की जाती थीं। धन और ओहदे का लोभ देकर छोटे-छोटे राज्यों को फोड़ा जाता था। स्वयं औरंगजेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार जीते थे। शासक आत्मरक्षार्थ सशक्त अमीरों और आक्रामकों को धन-वैभव आदि के उपहार दिया करता था। बादशाह की ओर से ओहदे बेचे जाते थे। धन और ओहदों का लालच देकर हिंदुओं को मुसलमान बना लिया जाता था। बादशाहों और अमीरों तथा सामंतों के निजी परि-वारों में ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट और षड्यंत्र का नग्न नृत्य होता था। मुगल शाहजादे उत्तराधिकार के लिए किस प्रकार अपने ही भाइयों या पिता का रक्त बहाया करते थे, यह बात राजनीतिक परिस्थिति के विवरण में बताई ही जा चुकी है। सार्वत्रिक

नैतिक पतन का परिणाम यह हुआ कि ये अकर्मण्य शाह और सामंत ऊँचे लक्ष्यों की बात न तो कर ही सकते थे और न सोच ही सकते थे। अभ्युदय, प्रगति और विकास के मार्ग उनके लिए बन्द थे। वे ज्योतिषियों पर बहुत भरोसा करने लगे थे और भाग्यवादी हो गए थे। हिंदू राजाओं में तो घोर अंधविश्वास व्याप्त था। इस भाग्यवाद और नैराश्य का परिणाम यह हुआ कि अपनी वृत्तियाँ अंतर्मुखी कर भोग-वासना की पूर्ति करते हुए ही वे अपना जीवन ढोए चल रहे थे। उधर सर्व-साधारण में भी निष्क्रियता और जड़ता आ गई थी। उनके लिए जीवन घोर अंधकारमय और नैराश्यपूर्ण हो गया था। दूर-दूर तक उन्हें प्रकाश नजर नहीं आता था; किन्तु फिर भी नैतिकता की दृष्टि से जन-साधारण का चरित्र विभव और विलासप्रेमी राजाओं और सामंतों से बेहतर था। हिंदू धार्मिक आचार्यों एवं संतों की भक्ति और नीतिमयी वाणी तथा उपदेश सर्व-साधारण पर अपना प्रभाव डाल रही थी। रामचरितमानस, भक्तों के पदों तथा आचार्यों एवं विविध संप्रदायों एवं पंथों के संतों की उपदेशमयी वाणी जनता के नैतिक बल को इस दीन-हीन और अत्याचार-पीड़ित दशा में भी जाग्रत रख रही थी और उन्हें मानसिक पराभव और नैतिक-पतन से बचाए चल रही थी। इतिहासकारों ने भी इस तथ्य को स्वीकर किया—'जन-साधारण में धार्मिक एवं नैतिक चेतना को जाग्रत करने वाली साहित्यिक धारा बराबर बहती रही है। निर्गुण धारा के विभिन्न संप्रदायों और पंथों—जैसे, कबीर पंथ, दादू पंथ, सतनामी संप्रदाय, बावरी पंथ, शिवनारायणी संप्रदाय आदि के कवियों ने निर्धन और निराश जनता के भीतर ईश्वर की अटूट भक्ति और संयम, तप, सत्यता और परोपकार से युक्त जीवन में गहरी आस्था जागृत की। सगुणोपासक भक्ति काव्य का भी प्रभाव अंशतः इसी प्रकार रहा—विशेषतः राम भक्ति शाखा का।.........इतिहासकारों का मत है कि जन-साधारण के जीवन में भारतीय आत्मा की विशेषता प्रकट है, जिसने न जाने कितने राजनीतिक तूफानों को अपने सामने आते और जाते देखा, परन्तु जो सदैव उनसे अछूते रहे और जब तूफान निकल गया, तो फिर अपने सहज जीवन-क्रम में संलग्न हो गए।"[1]

इस युग के कवियों की दशा—रीति काल में कवि की दशा साधारणतः यह थी कि जन्म से तो वह निर्धन वर्ग का जीव होता था किन्तु पेशे और कर्म से सामन्ती वर्ग का। सुख और ऐश्वर्य या समृद्धि की कामना करने वालों को राजा और सामन्तों का आश्रय लेना पड़ता था। फलतः पढ़े-लिखे प्रतिभाशाली कवि भी मान-सम्मान के लिए राज्याश्रय के अभिलाषी और राजाओं के मुखापेक्षी हुआ करते थे। रीतिबद्ध तो रीतिबद्ध स्वच्छंद धारा के प्रसिद्ध कवि ठाकुर तक ने राज्याश्रय की अनिवार्यता पर बल दिया है—

[1]हिन्दी रीति साहित्य : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १०।

ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा मैं बड़प्पन पावैं ।

उच्च वर्ग के आश्रय के बिना इन कवियों का काम न चलता था। उत्पादक वर्ग के होकर भी इनकी प्रतिभा का वहाँ कोई मूल्य न था । न वहाँ कोई उसकी प्रशंसा करने वाला और न उसे पुरस्कृत करने वाला । इधर भोग-विलासप्रधान शाही और सामन्ती जीवन-क्रम में कविता का मान-सम्मान और चलन था फलतः इस वर्ग के व्यक्ति इसी सामन्ती समाज की आशाकांक्षाओं का चित्रण करते हुए इसी समाज के अंग बन जाते थे । जहाँ केशवदास, बिहारी ऐसे कुछ कवि इनाम-इकराम और सम्मान पाकर स्वयं छोटे-मोटे राजा या सामन्त की बराबरी करने लगते थे, वहीं देव, बोधा ऐसे कवि एक राज्य से दूसरे राज्य में आश्रय के लिए टक्कर भी खाते फिरते थे। राज्याश्रय उनकी प्रतिभा के चमकने और प्रतिष्ठा के प्रसार का निश्चित साधन था । अतएव ये उससे सम्बन्ध तोड़ने की बात सोच भी नहीं सकते थे । इधर ऐश्वर्य और विलासिता के क्रमशः प्रदर्शन और तुष्टि में सहायक होने के कारण कवि और काव्य को इन आश्रयदाता शाहों और सामन्तों के यहाँ अच्छा स्थान और महत्व भी प्राप्त था। प्रतिभासंपन्न कवि और कलाकारों को वे उदारतापूर्वक दान, उपहार और आश्रय देते थे तथा इस प्रकार काव्य और कला को प्रोत्साहन मिलता था । फलस्वरूप समाज में कवियों का स्थान और सम्मान था तथा उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय नहीं रहने पाई थी । कवियों में पारस्परिक स्पर्धा भी होती थी जिससे कवित्व का हित ही होता था, किन्तु अल्प प्रतिभाशाली कवि और कलाकार अवश्य असंतोष का जीवन व्यतीत करते रहे होंगे । इस आश्रय और सम्मान के परिणामस्वरूप कवियों ने सामान्यतया अपने व्यक्तित्व को इन सामन्तों के व्यक्तित्व में ही लय कर दिया था। वैसे इस तथ्य के अनेक अपवाद भी मिल जायंगे । आर्थिक समस्या के सुलझ जाने से ये कवि और कलाकार काव्य और कला की ही साधना में अपना जीवन लगा देते थे भले ही वह कला आश्रयदाता की विलासिता की तुष्टि के ही लिए क्यों न सृष्ट की जाती हो । शाहजहाँ के बाद मुगलों के शाही दरबार के कवियों की आजीविका को अवश्य धक्का लगा क्योंकि औरंगजेब ऐसी चीजों को नफरत की निगाह से देखता था; किन्तु औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य ही क्षीणबल हो विकेन्द्रित हो गया था, फलतः कवि और कलाकार छोटे-छोटे राजाओं, अमीरों, सूबेदारों और नवाबों के आश्रय में चले गये थे । उत्तरोत्तर सामन्तों की आर्थिक स्थिति के ह्रास के साथ-साथ इन कवियों की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ होगा ।

धार्मिक परिस्थिति

रीतिकाल में आकर धर्म का पतित और कुत्सित रूप ही देखने को मिलता है। न तो शासक या सामन्त वर्ग ही धर्म के मूल तत्वों से अवगत था और न ही शासित ।

शासितों के लिये तो धर्म एक अन्ध आस्था थी जो जीवन के लिए अपरिहार्य थी । अंध-गति से पण्डितों और पुजारियों द्वारा बताए गए मार्ग पर चले चलना ही इस काल की धार्मिकता थी । भोग-विलास, शोषण-अत्याचार, अज्ञान-अशिक्षा और अनुदात्त जीवन-दर्शन के इस युग में धर्म अपने निकृष्टतम रूप में चल रहा था विशेषतः हिंदुओं में । धर्म के तत्व से अवगत संत, साधु और महात्मा रहे होंगे किन्तु धर्म के ढोंगी ठेकेदारों के जोर-शोर के सामने उनका अस्तित्व नगण्य ही था । कबीर और नानक ऐसे शक्तिशाली तथा सूर और तुलसी ऐसे प्रभावशाली संत और भक्त महात्मा इस युग में कहाँ थे तथा अकबर ऐसे उदारचेता और सहिष्णु शासकों का भी इस युग में नितांत अभाव था । फल यह हुआ कि धर्म का गिरा हुआ रूप ही सामने आया और लोग उसे ही अपना पुनीत कर्तव्य समझकर निभाते रहे । इस युग का धर्म सामाजिक जीवन की विपन्नता और विषण्णता से उत्पन्न है, ब्राह्मणों, पंडों और पुजारियों द्वारा शासित और चालित धर्म है ।

भक्ति काल में धर्म जीवन को आन्दोलित कर देने वाली एक चेतन शक्ति थी । रीतिकाल में वह जड़ता और अवनति की ओर ले जाने वाली बेड़ी बन गया था । बात यह है कि इस युग के धर्म में जीवन को जगाने और उन्नत करने की क्षमता न थी । धर्म जीवन को ऊर्ध्वमुखी करता है, वह ताकत इस युग के धर्म में नहीं रह गई थी । धर्म का रूप उदात्त न रह गया था वरन् वह संकीर्ण और निष्प्राण हो चला था । वह जड़ रूढ़ियों का अंधानुकरण मात्र रह गया था ।

परम्परागत धर्म—रीतिकाल में हिन्दू जनता के बीच जो धर्म चल रहा था वह परम्परागत या लोक-प्रचलित हिन्दूधर्म ही था । यह वही धर्म था जिसे हिन्दू वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि से निकला हुआ मानते थे और जिसमें त्रिदेवोपासना, बहुदेवोपासना, ब्राह्मणों (भूसुरों) की सर्वोपरि महत्ता, विस्तृत कर्मकाण्ड, जन्मांतर आदि के सिद्धान्त प्रतिपादित और मान्य थे । वह प्राचीन हिन्दू धर्म कालांतर में कितने ही धर्मों तथा मतमतांतरों से प्रभावित होता गया । वैदिक देवताओं की जगह पौराणिक देवी-देवताओं का महत्व अधिक हो गया । ब्रह्मा, विष्णु और महेश में अन्तिम दो की उपासना अधिक हुई । शिव और विष्णु को भी लेकर कितने धर्म और भक्ति संप्रदाय उठ खड़े हुए । शिव की उपासना करने वालों में अघोरी, ऊर्ध्ववासी, आकाशमुखी, कापालिक, अवधूत, कनफटे योगी और सन्यासी अपने-अपने सम्प्रदाय चला रहे थे । इनकी कुछ क्रियाएँ और साधनाएँ तो अत्यन्त त्रास और जुगुप्साजनक हुआ करती थीं, जिनकी भयंकरता और वीभत्सता के कारण वैष्णव धर्म अधिक लोकप्रचलित हुआ, जहाँ सौंदर्य, प्रेम, आदर्श और भक्ति के मानव-सुलभ रूप का साक्षात्कार कराया गया । वैष्णव अवतारों में राम और कृष्ण को लेकर ही विशेष सम्प्रदाय चले । जितने भी प्रमुख धर्म और सम्प्रदाय थे, वे सभी

आलोच्यकाल के पूर्व ही प्रवर्तित हो चुके थे किन्तु वे इस काल में निर्जीव रूप में चले चल रहे थे। उनमें धर्म-प्रवर्तकों और संचालकों का जोशखरोश न था। उनकी सजीवता और सप्राणता जाती रही थी। उनमें अज्ञान और अंध-विश्वास तथा इनसे उत्पन्न दोष घर कर गये थे। कुछ छोटे-मोटे नए पंथ और सम्प्रदाय भी इस युग में उठ खड़े हुए विशेषतः निर्गुण सन्तों के बीच, किन्तु वे अत्यन्त क्षीण और सीमित प्रभाव वाले थे जो समूचे देश के जीवन को झकझोरने की क्षमता नहीं रखते थे। उनके चलने का भी मूल कारण धर्म-प्रचार की अपेक्षा आत्म-प्रचार ही था। जड़ता और अंधविश्वास के कारण धर्म अधःपतित रूप में चला चल रहा था। इस प्रकार हिंदू धर्म मोटे तौर से अपनी पुरानी लीक पर चल रहा था। कालान्तर में आ मिलने वाली बातें और प्रभाव भी उसमें समा गए थे किन्तु थी उसमें जड़ता ही। इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रभाव से हिन्दी के भक्तिकाल में जो धार्मिक जोश और भावना देखने को मिली वह इस काल में मन्द पड़ गई थी। डा० वार्ष्णेय लिखते हैं कि 'साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग उपस्थित करने वाले रामानन्द, कबीर और वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित आंदोलन कुंठित हो चुके थे और चारों ओर फैली हुई अराजकता के बीच किसी नवीन शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन की सम्भावना भी नहीं थी। पहले से चले आ रहे धार्मिक सम्प्रदाय अपनी संकीर्ण परिधि और कर्मकाण्ड लिए भक्तों की मानसिक परितुष्टि करते रहे। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उल्लिखित नियमों से वे जरा भी इधर-उधर होना नहीं चाहते थे।.........राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के कारण रूढ़ि और परम्परा का और भी कट्टरता के साथ पालन होता रहा।'

विविध धर्म सम्प्रदायों की स्थिति—विद्वान् पंडित और मौलवी अपने-अपने धर्मग्रन्थों का निष्ठापूर्वक अध्ययन करते और उसी के अनुसार अपना जीवन चलाते थे और दूसरों को भी वैसा ही करने का उपदेश देते थे। धर्म ग्रन्थों में कथित नियमों के पालन में उनका पक्का विश्वास था। कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में महत्वपूर्ण कार्य करने वाले आचार्य वल्लभ और गोस्वामी बिट्ठलनाथ का समय बीत चुका था। अब उनके द्वारा स्थापित गद्दियों पर वैभव-प्रेमी महन्त आसीन होने लगे थे जो राजाओं और श्रीमानों से विशेष सम्पर्क रखते थे, सर्वसाधारण से कम। इन लोगों में साधुवृत्ति की जगह ऐश्वर्य-परायणता आ चली थी। सेवा, अर्चा, पूजा, भोग, प्रसाद आदि के ब्यौरों पर अधिक ध्यान दिया जाता था। अब के गोस्वामी भोग-विलास में भी लिप्त रहा करते थे तथा छल, धोखा और आडम्बर उनके जीवन के अंग हो गए थे। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किये गए थे कि अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती या कुतुबशाह भी अपने अन्तःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते। यही दशा

मध्व, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों की गद्दियों की थी। उनमें राधा की महत्ता के कारण शृङ्गार-भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी। ....मठ और मन्दिर, देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छन-छन से गूँज रहे थे।'[1] इस भोगवृत्ति के विकास से धर्म का तात्विक रूप दृष्टि से ओझल होता जा रहा था। जब धर्माचार्यों की यह स्थिति थी तब उनके भक्तों और अनुयायियों का क्या! उन पर तो दुगुना नशा सवार रहा होगा। तपस्या, साधना, तत्वचिंतन और पुनीत जीवन-क्रम के अभाव में वैष्णव धर्म इस प्रकार ह्रासोन्मुख हो रहा था। भक्ति-काल में कृष्णभक्ति धारा के अन्तर्गत माधुर्यभाव की जैसी पुनीत भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं, वह इस काल में तिरोहित हो चुकी थी। भक्तों और उनकी रचनाओं में स्थूल मांसल शृङ्गारिकता गोचर होती है। जैसे सामाजिक क्षेत्र में वैसे ही धार्मिक जगत में भी नैतिक भ्रष्टाचार व्याप्त मिलता है। यदि इस युग की जनता में धर्म के प्रति परिष्कृत रुचि और उदात्त भावना का अभाव था तो इसका दायित्व बड़े-बड़े धर्माचार्यों पर था। यद्यपि चैतन्य सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी सरीखे आचार्यों और भक्तों ने माधुर्यभाव की भक्ति और शृङ्गार रस का एक उज्ज्वल और दिव्य रूप सामने रक्खा किन्तु कालान्तर में उसकी भावात्मक पवित्रता तो नष्ट हो गई किन्तु स्थूल भोगप्रवणता और कामचेष्टाओं का वर्णन ही भक्ति की तथाकथित रचनाओं में प्रधान हो गया। जहाँ पुनीत प्रेम के भाव थे वहाँ ऐन्द्रिक कामुकता के भाव फैलाए गए और यह सब धर्मसंरक्षक महन्तों की कृपा का फल था। उनका निजी जीवन भ्रष्ट हो चला था तथा कृष्णभक्ति सम्प्रदायों (राधावल्लभीय, चैतन्य आदि) की गद्दियाँ रसिकता का केन्द्र हो गई थीं। 'भक्ति में वित्त सेवा का भी बड़ा महत्व था, फलस्वरूप बड़े-बड़े महन्तों की गद्दियाँ छत्रवान राजाओं के वैभव से टक्कर लेने लगीं। ....मन्दिरों और मठों में देवदासियों का सौंदर्य और उनके घुँघुरुओं की झनकार मठाधीशों की सेवा और मनोरंजन के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहती थीं। सूक्ष्म आध्यात्मिकता की विकृति का यह स्थूल रूप वास्तव में धर्म के इतिहास में एक अंधकारपूर्ण पृष्ठ है।'[2] कृष्णभक्ति तो कृष्णभक्ति रामभक्ति में भी शृङ्गारभावना और कामुकता का पूर्ण रूप से प्रचार हुआ। अवश्य ही यह कृष्णभक्ति की अवनत माधुर्य-भावना के प्रभाव के कारण हुआ होगा किन्तु यह निश्चित है कि मर्यादा पुरुषोत्तम का चरित्र भी कलंकित करने में इन शृङ्गारी भक्तों को लज्जा का अनुभव न हुआ। रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय का समावेश हो चला जिसका परिणाम यह हुआ कि राक्षसों के संहार और मानवता के कल्याण के लिए कृतसंकल्प राम अब सरयू तट

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र (१९५९ ई०) पृ० १६।

[2] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० १८, डा० सावित्री सिनहा।

पर कामक्रीड़ा करते हुए दिखाए गए। वे एक कामी पुरुष के रूप में और सीता एक विलासप्रिय रमणी के रूप में चित्रित की गईं तथा उनके रसिक भक्त सखीरूप में उनकी संभोग लीलाओं का तृषित भाव से दर्शन किया करते थे।[१] आचार्य शुक्ल ने भी राम-भक्तों की इस पतितावस्था का संकेत अपने इतिहास में किया है।[२]

निर्गुणोपासक संत और सूफी—निर्गुण भक्ति में विकृति का अवकाश कम था क्योंकि विकृति का एक मूल कारण वैभव हुआ करता है। निर्गुण संत प्रायः समाज के निर्धन वर्ग के लोग थे और उनके धर्म का प्रचार भी सर्वसाधारण में ही विशेष हुआ। फलतः भोग-विलासिता के साधनों से असंपृक्त संत मत में वैसी विकृति सम्भव न थी किन्तु इस धारा में भी कबीर, नानक, दादू एवं सुन्दरदास ऐसे शक्तिशाली संतों की परम्परा देखने को नहीं मिलती। पूर्ववर्ती संतों के पंथ तो चले ही कुछ नए संतों ने भी अपने-अपने पंथ और सम्प्रदाय चलाये जैसे चरणदासी सम्प्रदाय, शिवनारायणी सम्प्रदाय, गरीबदासी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय, यारी सम्प्रदाय, जगजीवनदास द्वारा पुनर्गठित सतनामी सम्प्रदाय आदि जिनमें से अनेक तो इस्लाम से इस तरह प्रभावित हुए कि हिंदू धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों तक का विरोध करने लगे।[३] कुछ हिंदू पंथ सशक्त और सुसंगठित भी थे जैसे सतनामी, लालदासी आदि। सतनामियों ने तो औरंगजेब के समय अपनी संगठित शक्ति का परिचय भी दिया था। अनेक ऊँचे चरित्र के भी संत हुए जैसे जगजीवन, बुल्ला साहब, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि। इनकी बानियों में आज भी अक्षय पवित्रता के दर्शन होते हैं। इनमें मिथ्याचार और ढोंग नहीं था। कुछ संत तो विवाहित रहकर भी समाज में स्त्री-पुरुषों को उपदेश देते फिरते थे। ये संत सामाजिक धर्म एवं चरित्र को उठाने में निश्चय ही क्रियाशील रहे किन्तु इनके विविध सम्प्रदायों में कोई भी ऐसा प्रभावशाली संत नहीं हुआ जो देश के सामाजिक जीवन और चरित्र को एक नई दिशा दे सकता। जनसाधारण के समक्ष इनके द्वारा कोई एक जीवंत आदर्श न प्रस्तुत किया जा सका जो समाज की दुरवस्था से उसे नजात दिला सकता। सामान्य रूप से संत मत उतना विकृत न हुआ था जितना वैष्णव धर्म किन्तु ये भी उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख हो रहे थे, यह निश्चित है। विद्वानों ने लिखा है कि युग की विलास-वृत्ति और ऐश्वर्य-तृष्णा ने अनेक संतों को भी विचलित कर दिया। सम्पन्न लोग इन्हें

---

[१]राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह।

[२]हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १४०-४२।

[३]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३६।

सम्मान देने लगे और इनसे दीक्षा लेने लगे। फलतः इनकी भी गद्दियाँ स्थापित होने लगीं।[1]

सूफी संतों के भी अनेकानेक सम्प्रदाय हो गए थे। चिश्तिया, निज़ामिया, नक़्शबंदिया, क़ादिरिया, शत्तारिया आदि। एक ही मूल मत को मानने वालों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का हो जाना पारस्परिक असंतोष, अनुदारता, वैयक्तिक महत्ता या प्रतिष्ठा की आकांक्षा तथा साध्य के प्रति विभक्त निष्ठा का परिचायक है। जो हो, ये सूफी भी प्रेम-कहानियाँ लिखते रहे तथा अपने-अपने मतों का प्रचार करते रहे। संतों और सूफियों के विचार एवं आदर्श एक दूसरे के बहुत निकट थे। हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के एकेश्वरवाद से प्रभावित संतों ने ईश्वर की एकता, समस्त जीवधारियों की समानता, सबके प्रति प्रेम तथा हिंदू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र आदि के झूठे भेदों के त्याग पर विशेष बल दिया। इस दुःखमूला सृष्टि से नजात पाकर परमात्मा से ऐक्य स्थापन ही जीवात्मा का चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिये तप और त्याग का जीवन ही एकमात्र उपाय है। संसार की लिप्सा, माया छोड़े बिना परमगति सम्भव नहीं। धर्म के दिखावे और ढोंग जैसे तीर्थाटन, व्रतोपवास, रोजा-नमाज, मूर्तिपूजा आदि व्यर्थ हैं। योग और प्रेम के द्वारा निर्गुण का साक्षात् सम्भव है किन्तु बिना गुरु के उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। उधर सूफी भी आडम्बररहित प्रेम-पंथ के पथिक थे जो जीवन में सदाचार को सबसे अधिक महत्व प्रदान करते थे। प्राणिमात्र में भेद करना या धर्म का दिखावटी कर्मकाण्ड अपनाना उनके दीन के खिलाफ था। वे भी गुरु की महत्ता और अनिवार्यता के कायल थे तथा ईश्वरीय प्रेम में अपने को लगा देना ही सच्चा जीवन समझते थे। यह धर्म भी मनुष्य के चारित्रिक धरातल को उन्नत करने वाला था और वर्ण-भेद को निर्मूल करने वाला था। समाज के गिरे हुए और उपेक्षित वर्गों के लोग स्वभावतः इन धर्मों की ओर आकृष्ट हुए। अनेक हिन्दू, मुस्लिम एवं सूफी संतों और इनके दरगाहों की पूजा करते थे। बहराइच के सैयद सालार नामक संत की समाधि पर प्रति वर्ष हिंदुओं की बड़ी भीड़ दूर-दूर से आया करती थी। सैयद सालार के पिता शौक सालार भी इसी प्रकार के एक समादृत सूफी संत थे। शेख ख्वाजा मुईनुद्दीन की दरगाह पर भी बहुत बड़ी संख्या में हिंदू श्रद्धांजलि चढ़ाने और अपनी मनौती मानने या पूरी करने की मुराद से जाया करते थे और यह क्रम आज भी कायम है। यह सब होते हुए भी ये संत सामाजिक जागृति न ला सके और न जन-जीवन को अपेक्षित रूप में उन्नत ही कर सके। इनमें प्रवर्त्तक संतों और सूफी महात्माओं की वाणी की क्षीण प्रतिध्वनि ही थी। मौलिक प्रतिभा-

---

[1] रीति काव्य की भूमिका (१९५९ ई०) पृ० १८ और हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ट भाग, पृ० १८।

सम्पन्न संत और सूफी इस युग में न हुए जो परम्परा प्राप्त सिद्धान्तों और आदर्शों में कोई नया आवेग ला सकते। इस पतन-काल में किसी प्रकार की सामाजिक क्रांति इनके द्वारा सम्भव न हो सकी।

अन्य धर्म सम्प्रदाय—वैष्णव और निर्गुण सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे-छोटे धर्म सम्प्रदाय हिन्दी प्रदेश में चल रहे थे—जैसे शैव, गोरखपंथी, जैन तथा काली, दुर्गा और भवानी के पूजकों का। साहित्यिक दृष्टि से ये विशेष महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि रीति युग का साहित्य इनके प्रभाव से मुक्त ही रहा। इन छोटे सम्प्रदायों में अनेक भद्दी, क्रूर और घृणित प्रथाएँ प्रचलित थीं।

इस युग के शासकों या विजेताओं का भी धर्म—इसलाम—जोरों पर था। पहले तो उन्होंने धर्म परिवर्तन का क्रम जोरों से चलाया जो रीतिकाल में भी वेग के साथ चलता रहा और औरंगजेब के जमाने में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था किन्तु मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर इसलाम का प्रचार करने वाले मुल्लाओं और मौलवियों का भी विशेष उत्साह न रह गया था। ये परिवर्तित देश-काल में भी अपना जीवन-क्रम कुरान में बताए आदर्शों पर ही चलाए जा रहे थे किन्तु मुगलों की विलासिता और नैतिक अधोगति का प्रभाव इसलाम पर भी पड़े बिना न रहा। उनका धर्माचार भी परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ढलने के बजाय रूढ़िग्रस्त ही था।

उत्तरवर्ती रीतिकाल में (सं० १८५० के आस-पास) दक्षिण और पूर्व में ईसाई धर्म-शक्ति धीरे-धीरे निम्न वर्ग की जनता में अपना प्रचार-आन्दोलन दृढ़ कर रही थी। हिन्दू धर्म की बुराइयों और दुर्बलताओं का लाभ उठाकर जिस प्रकार मुसलमानों ने धर्म-प्रचार करना शुरू कर दिया था उसी प्रकार ईसाइयों ने भी, किन्तु हिन्दी-क्षेत्र इससे उस समय बहुत प्रभावित न हुआ।

रूढ़ि और अंधविश्वास—सर्वसाधारण में अशिक्षा और अज्ञान के कारण अंधविश्वास की जड़ें गहरी हो गई थीं। लोग धर्म के तत्व तक न जाकर उसकी ऊपरी और दिखावे की बातों के अनुसरण और पालन में ही सच्चा धर्म पालन या धार्मिक जीवन समझते थे। तीर्थ, व्रत, जादू, टोना, सन्तों और पीरों पर इन्हें बहुत विश्वास था। पीरों और गुरुओं पर आस्था इस हद तक बढ़ी हुई थी कि स्त्री-पुरुषों के समूह उनके तकियों और मठों में अपनी-अपनी मुरादें और मनौतियाँ ले-ले कर पहुँचा करते थे और वे लोग इन्हें अच्छी तरह ठगते भी थे। हिन्दू-मुसलमान सभी अपने-अपने गुरुओं और पीरों को ईश्वर के ही समान महत्व देते थे। यह व्यक्ति-पूजा इस हद तक बढ़ी हुई थी कि किसी भी विशाल भुजा वाले व्यक्ति को हनुमान का अवतार समझ लिया जाता था तथा उसे श्रद्धा और भक्ति की भरपूर भेंट चढ़ाई जाती थी।

समग्र रूप से इनका धार्मिक जीवन रूढ़ियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। जनता में अनेक अमानुषीय और घृणित आचार-विचारों, रीति-रस्मों और निर्जीव धार्मिक रूढ़ियों और परंपराओं का चलन था। ये अमानुषी और घृणित धार्मिक कृत्य अपनी आत्यंतिक अर्थहीनता के कारण उपहासास्पद भी थे, उदाहरण के लिए भैरव, भवानी, दुर्गा आदि रुद्र रूप वाले देवताओं को तुष्ट करने के लिए बकरे, भैंसे और मनुष्य तक की बलि चढ़ाना, जादू - टोने में विश्वास, संतानोत्पत्ति के लिए समाधियों मकबरों की पूजा और महन्तों के पास आशीर्वाद के लिए जाना, भूत-प्रेतों में विश्वास, बरगद और पीपल की पूजा, फकीरों और दरवेशों की शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास, किसी भी भयभीत करने वाली वस्तु की पूजा—जैसे महामारी, सांड़, पत्थर आदि। धर्म के नाम पर अपने शरीर को घोर यातना और पीड़ा पहुँचाना और ऐसा करने वालों की पूजा (क्योंकि वे समझते थे कि जब तक कोई पापी अपने शरीर को अच्छी तरह पीड़ा नहीं पहुँचाता तब तक वह पाप से मुक्त नहीं होता) यातनामूलक क्रियाओं में प्रवृत्त हो कर अनेक साधु जनता में श्रद्धाभक्ति जगाए रखते थे—जैसे दोनों हथेलियों को सिर पर रखकर, मुट्ठी बाँध कर या भुजाएँ फैलाकर या एक पैर पर खड़े रहकर वर्षों का समय काट देना, नाखून बढ़ा लेना, जटाएँ रखना, कीलों और काँटों की शैय्या पर सोना, जंजीर से अपने को बाँध कर पड़े रहना, वृक्ष के सहारे झुके हुए ही सोना, देवी-देवताओं के रथ के नीचे लेटकर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना, दण्डवत करते हुए तीर्थों तक जाना, भारी बोझ लाद कर चलना, हाथों और घुटनों के बल चलना, पेट के बल रेंगकर तीर्थ स्थानों का भ्रमण करना, आग पर चलना, उलटे सिर लटक जाना, लोहे की शलाकाएँ या छल्ले शरीर के आर-पार कर देना, जीवित अवस्था में जल प्रवाह लेना, जीवित जमीन पर गड़े रहना आदि ऐसे कितने ही साधु प्रयाग के माघ मेले में आज भी देखे जा सकते हैं। ऐसे साधु और योगी अपनी असाधारण कष्ट सहिष्णुता के कारण अपढ़ समाज को आकर्षित किया करते थे।[1]

कपटी और ढोंगी साधु—इस युग में साधुता एक आसान बात थी। 'मुई नारि घर सम्पति नासी, मूँड़ मुँडाय भये सन्यासी' वाली बात इस युग में और भी सार्थक थी। हिन्दी प्रदेश में प्रचलित संप्रदायों की संख्या मामूली नहीं थी। हर संप्रदाय के साधुओं की ही जमात बहुत बड़ी हो गई थी। सामान्य जन-समाज में अज्ञान और अशिक्षा के कारण इन साधुओं का मान-सम्मान भी था। फलतः साधु वेश आजीविका का एक अच्छा साधन हो गया था। कितने ही सैनिक साधु बनकर जनता की अंध-श्रद्धा के सहारे जी रहे थे। हिन्दू वैरागी और गोसाईं होकर तथा मुसलमान फकीर होकर जनता पर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व जमाये रहते थे। कविवर सेनापति ने

---

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ६४-६७।

अपने 'कवित्त रत्नाकर' में 'भगतों के भेष की कमाई खाने वाले साधुओं' और सम-सामयिक 'गुसाइयों' का रोचक वर्णन किया है—

गीतहिं सुनावैं तिलकन झलकावैं भुज,
मूलन छपावैं द्वारका हू के पयान हौ।
बैसनव भेष भगतन की कमाई खाहिं,
सेवैं हरि साहिबै न साँच है निदान हौ॥
देखि कै लिबास नीची सबन की नारि होति,
मोहि कै बिकच करैं, मन धन ध्यान हौ,
सेनापति सुमति बिचारि देखौ भली भाँति,
कलि के गुसाईं मानौं माँगना समान हौ॥

—

मालै हठि लै कै भले जन ए बिसारैं राज,
भोग ही सौं काज रीति करैं न बरत की।
लेहिं कर मुद्रा देह बुरी यौं बनावैं छाँड़ि,
निगम की संक अब लाज न रमत की।
पाइ पकरावैं जो निदान करैं उपदेस,
रास उतसव ही सौं केलि जनमत की।
सेनापति निरखि बिचारि कै बताए देखौ,
कलि के गुसाईं मानौं माँगना जगत की॥

सेनापति ने बताया है कि उनके जमाने के साधु और गोसाईं किस प्रकार के व्यक्ति हुआ करते थे। वे साधुता का प्रदर्शन करते थे, वास्तविक साधु न थे। उनके हृदय में न तो सत्य था और न वे हरि के सच्चे भक्त ही थे। वे साधुओं का वेश पर-श्रद्धाकर्षण के लिए धारण किए रहते थे तथा उनका ध्यान लोगों के धन और वैभव पर लगा रहता था जिसे वे अपना बनाने की फिराक में रहते थे। प्रवृत्ति से भी वे लोग त्यागी न होकर भोगी ही थे, वे व्रतादि नहीं करते थे और न ही वेद-मत का परिपालन। अपनी पूजा कराने में वे विश्वास करते थे और रास तथा उत्सव से उन्हें विशेष प्रयोजन रहता था। ऐसे साधु-वेशधारी लोग जहाँ जाते थे वहाँ अपने चेले बना लेते थे, अंधी जनता उनमें रहस्यमयी शक्तियों का वास समझा करती थी। कभी-कभी ऊँचे घरों की स्त्रियाँ उन्हें भोजन कराने भी जाया करती थीं तथा उनसे 'आशीर्वाद' प्राप्त किया करती थीं। अजगर और पंछी के समान सब को ही देने वाले राम के भरोसे रहने वाले अनेक साधु मादक वस्तुओं का भी सेवन किया करते थे। अनेक बार ये ढोंगी, प्रवंचक और स्वार्थसाधक साधु और योगी बड़े प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। उनका सर्वसाधारण पर और धनिक वर्ग पर भी अच्छा खासा आतंक रहता

था। उनमें किसी से कुछ भी करा सकने या ले सकने की शक्ति थी। वैष्णव भक्तों के अनेक गुरुओं की चर्चा पहले की ही जा चुकी है जो आत्म-पीड़न तथा संयम और व्रत से रहित भोग और ऐश्वर्य, ऐश और इशरत की जिन्दगी बसर कर रहे थे। ये लोग केवल नाम के ही भक्त, साधु और महात्मा थे। इस युग में इनकी इतनी अधिकता थी कि सच्चे भक्त महात्मा और धार्मिक व्यक्तियों का इनके सामने विशेष मान और महत्व नहीं स्थापित हो पाता था, उधर जनता भी इतनी ज्ञान-मूढ़ थी जो असली और नकली साधुओं में भेद नहीं कर पाती थी।

इस युग का धर्म पंडे, पुजारियों और पुरोहितों के हाथ में था—इस युग का धर्म ऐसे ही ढोंगी साधुओं द्वारा चालित था। दूसरी तरफ सगुण-भक्ति का पथ भी पण्डों, पुरोहितों, पुजारियों और गुरुओं के संरक्षण में था। जनता में भय और अज्ञान था। ये पण्डे और पुरोहित उसे कायम रखकर उसी के सहारे खुद जीते थे क्योंकि भय और अज्ञान के निकल जाने पर इन पुरोहितों और पुजारियों को कौन पूछता। ये पुजारी-पुरोहित जनता का अज्ञान दूर नहीं करते थे और न उसे दूर करने की आवश्यकता ही समझते थे। इन्हें स्वयं भी धर्म का ज्ञान था ही ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यह क्रम किसी सीमा तक आज भी चला चल रहा है। ये पंडे और पुजारी इतने स्वार्थ-परायण थे कि ईश्वर की अपेक्षा अपनी पूजा-अर्चा कराने में इनका अधिक विश्वास था। शास्त्र, धर्म एवं अध्यात्म तत्व से ये स्वतः अनभिज्ञ थे फिर भला ये जनता का मार्ग-दर्शन क्या करते। वहाँ तो 'अंधै-अंधा ठेलिया' वाली बात थी। फिर इनमें स्वार्थपरायणता और मक्कारी इतनी थी कि ये जन-साधारण का वास्तविक हितचिंतन भी नहीं करते थे। इसीलिए इस युग में धर्म का भी बेतरह ह्रास हुआ। हिन्दू धर्म बुरा था ऐसा नहीं है किन्तु उसके उदात्त और उन्नायक स्वरूप को सामने रखने की चेष्टा न की गई और जो धर्मतत्वज्ञ थे वे इन ढोंगियों के कारण आगे न आ सके। फलतः धर्म के मामले में त्याज्य बातों का ग्रहण हुआ और ग्रहणीय बातों का त्याग—

> **भजन कह्यौ तातें भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।**
> **दूरि भजन जातें कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार॥** (बिहारी)

लोग साध्य को छोड़ साधन को ही धर्म मान बैठे और मूल को छोड़ डालों को लगे सींचने, तभी तो जहाँ-तहाँ रीति कवियों को इस प्रकार के प्रबोधनात्मक वाक्य लिखने पड़े—

> **जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।**
> **मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम॥ (बिहारी)**

इन पंडों, पुजारियों और ब्राह्मणों पर जनता की इतनी आस्था थी कि उनके बताए हुए मार्ग पर आँख मूंद कर चलने के सिवा उनके पास कोई दूसरा चारा

न था। जनता को शास्त्रों का अध्ययन तो दूर दर्शन तक न हो पाता था फिर वह घोर अपढ़ और निरक्षर थी, ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों, पुरोहितों तथा सदृश धर्मगुरुओं की बातों के खंडन एवं किसी स्वमत-स्थापन का बल और साहस ही उसमें कहाँ था। ऊँचे वर्णों के लोग ही शास्त्रों का पठन-पाठन करते थे फलतः सर्व-साधारण के बीच पुरोहितों द्वारा चलाया गया धर्म का विकृत और अंध-विश्वास पूर्ण रूप ही प्रचलित रहा। नासमझ और ज्ञान-मूढ़ जन-समाज के लिए ब्राह्मण वाक्य वेद-वाक्य से कम महत्व नहीं रखता था तथा उसकी अवहेलना करने से वह पाप का भागी होता था जिसका प्रायश्चित किये बिना उसे किसी लोक में भी ठौर-ठिकाना न था। धर्म एक ऐसा जाल बन गया था जिसमें जाने या फँसने के लिए भी ब्राह्मण आवश्यक होता था और जिससे निकलने के लिए भी उसकी आवश्यकता थी। जीवन कितने जटिल नियमों और संस्कारों तथा धार्मिक कृत्यों और बंधनों में जकड़ उठा था और उसकी हर जकड़न से नजात दिलाने के लिए ब्राह्मण देवता की शरण आवश्यक थी। इस प्रकार धर्म भी जनता के आर्थिक शोषण का भयानक साधन बना हुआ था। जन्म, छठी, बरही, मूल-पूजा, यज्ञोपवीत, विवाह, पिण्डदान आदि कुछ भी ब्राह्मण देवता के बिना संभव न था। कोई भी शुभ-कर्म गृह-प्रवेश, तीर्थयात्रा, मंदिर निर्माण या नींव डालना, सन्तति-लाभ के लिए यज्ञ, व्रत, पूजा-पाठ, गंगा स्नान ब्राह्मण और पुरोहित द्वारा ही संपन्न हो सकता था। जीवन की समस्त धार्मिक उपलब्धियाँ मंत्र-ज्ञान, देवतुष्टि आदि ब्राह्मणों के ही आधीन थीं। पंडों-पुजारियों का महत्व यहाँ तक बढ़ चला था कि वे साक्षात् ईश्वर के ही प्रतिद्वंद्वी हो चले थे। उन्हें तुष्ट करके लोग देवता को तुष्ट करने का-सा आनन्द और लाभ मानते थे। इस प्रकार की धार्मिक रूढ़ियों तथा उनके पालन की अनिवार्यता और पंडे-पुजारियों और ब्राह्मणों को दिये जाने वाले पुजापे के कारण हिन्दुओं की बुरी दशा थी। पंडे-पुजारी उनके समस्त धार्मिक कृत्यों पर चारों ओर छाए हुए थे। ये लोग धर्म-तत्व की शिक्षा देने के बजाय सर्वसाधारण के लिए अभिशाप-स्वरूप थे। लोगों को न धर्म का न धर्म के इतिहास का ही ज्ञान था, और न धर्म के शाश्वत रूप से ही वे परिचित थे। ब्राह्मणों ने बता रक्खा था कि समाज इसी ढंग से, इन्हीं धार्मिक कृत्यों को करता हुआ सनातन काल से चला आ रहा है तथा हर रीति-रस्म की उत्पत्ति देवताओं से ही हुई है। उन्हें विश्वास था कि नीलाकाश के पीछे ही स्वर्ग और नरक है तथा वहीं से बैठा हुआ परमात्मा सृष्टि का संचालन किया करता है। ब्राह्मणों और पशुओं को भोजन देना पुण्य है। अंतिम अवस्था में काशीवास से स्वर्ग मिलता है आदि बातें ब्राह्मणों ने ही उनके हृदय में जमा रक्खी थीं।

हिंदुओं की धार्मिक प्रवृत्ति एवं विश्वास—धर्मप्राण हिंदू स्वभाव से भी दयाशील थे। वे हत्या और हिंसा, शिकार या पर-पीड़न से दयार्द्र हो उठने

वाले प्राणी थे, रक्त-पात के दृश्य नहीं देख सकते थे। मांसादि का सेवन नहीं कर सकते थे, गोमांस का देखना या छूना तथा गोहत्या आदि का प्रायश्चित वे दीर्घकाल तक किया करते थे। मनुष्य क्या प्राणिमात्र के पुनर्जन्म में उनकी आस्था थी। उनका जीवन सरल था, इच्छाएँ बहुत नहीं थीं, धर्माचारपूर्ण जीवन-यापन करते हुए स्वर्ग पहुँचना उनकी अभिलाषा रहती थी। ऐसी धार्मिक वृत्ति वालों को शास्त्रों और धर्मतत्व का ज्ञान न होने के कारण ब्राह्मणों की सहायता, परामर्श और आदेश का मुखापेक्षी रहना पड़ता था और ब्राह्मण जो कुछ कहते उसे आँख मूँद कर पालन करने को वे उद्यत रहते थे। जहाँ वे लोग ईश्वर को अनादि, अनंत, अजर, अमर, मानते थे वहीं उसके सगुण रूपों, विविध देवी-देवताओं की पूजा अर्चा में भी विश्वास रखते थे। किसी सीमा तक राम-कृष्ण आदि के जीवन की नकल उपस्थित करके वे लोग धर्म के द्वारा आह्लाद का भी अनुभव कर लिया करते थे। वार्षिक रामलीला, कृष्ण जन्म की झाँकियाँ, पर्वों एवं उत्सवों पर कथा-कीर्तन, सूर और मीरा के पदों का गायन, मानस पाठ आदि से उनकी धर्म-वृत्ति को पूर्ण परितृप्ति और तोष मिलता था। मुसलमान भी अपने पीरों की मजारों पर होने वाली उर्सों में गजलों और कव्वालियों द्वारा अपनी भक्ति और ईश्वर-निष्ठा व्यक्त किया करते थे। भगवद् लीलाओं का यह मनोहर दर्शन और गायन उनके विपद-ग्रस्त जीवन में किसी तरह सरसता और जीवनाभिलाष जगाए रखता था और इससे उत्पन्न स्फूर्ति और उल्लास के बल पर वे अपने जीवन के संकटों को भुला दिया करते थे।

धर्म का ह्रास और अधःपतन—ऊपर के पर्यवेक्षण के आधार पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इस युग का धर्म अगतिक, गंदा और अतिशय ह्रासग्रस्त था। उदात्त भावों का लोप, मानसिक एवं हार्दिक अःधपतन के लक्षण उसमें स्पष्ट थे। लोगों की थोड़ी-बहुत तुष्टि उससे भले ही होती रही हो किन्तु था वह ह्रासोन्मुख ही। धर्म से भव्यता और मानवता तिरोहित हो चुकी थी, वह शोषण का भी एक साधन था। शास्त्रज्ञ पंडित, मंदिरों और तीर्थस्थानों के पंडे-पुजारी, पुरोहित-ज्योतिषी, गुरुओं आदि को जनता के अज्ञान के कारण ही पर्याप्त आर्थिक लाभ हुआ करता था। बहुत से मठ और मंदिर अर्थ-वैभव की खान हो चले थे। काशी, प्रयाग, और मथुरा पंडित, पण्डों और महंतों के बड़े-बड़े केन्द्र थे। इस प्रकार के रूढ़िग्रस्त धर्म को धनिक वर्ग का भी प्रश्रय मिला। तत्कालीन सम्पन्न वर्ग धर्म के प्रस्तुत रूप को बनाए रखने में पूरा विश्वास रखता था क्योंकि ऐसे अंधे धर्म की बदौलत ही उनका धन-वैभव और भोग-विलास सुरक्षित रह सकता था जो यह सिखलाता है कि प्राणिमात्र का सुख-दुख, संपन्नता-दरिद्रता उसके अपने ही कर्मों का भोग है। ऐसे धर्म को मान्यता देने से ही सम्पन्न वर्ग की सम्पन्नता अक्षुण्ण रह सकती थी।

समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि इस युग में धर्म का कोई उदात्त

रूप सामने नहीं लाया जा सका क्योंकि यह भोग-विलास तथा शोषण और दमन का युग था। समाज मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक सभी प्रकार के ह्रास की स्थिति से गुज़र रहा था। धर्म मनुष्य के नैतिक स्तर को उन्नत करता है, जनता को जीवन की विपदाओं से लोहा लेने की शक्ति प्रदान करता है किन्तु इस युग का धर्म ऐसा कुछ करने के बजाय सामंतों और सर्वसाधारण दोनों को गड्ढे में ढकेल रहा था। इस युग के धर्म का उदात्त रूप थोड़ा-बहुत निर्गुण धारा के सन्तों में ही लक्षित होता है अन्यथा तो वह सब प्रकार की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, आडंबरों और विकृतियों का आग लगा देने लायक घूरा हो रहा था। लोग चली आती हुई परंपराओं और तथाकथित धर्म-नेताओं द्वारा बताए गए गंदे नियमों की शृङ्खला में बँधकर चलने में ही धर्म का निर्वाह मानते थे। जीर्ण-शीर्ण प्रथाओं और अंधविश्वासों पर आधारित इस युग का धर्म राजनीतिक दुरवस्था के कारण और भी दूषित हो उठा था। वह जीवन की धारा को गतिशील बनाने के बजाय उसे पंकिल कर रहा था।

हालाँकि हिन्दू ससाज धर्म की दृष्टि से विभिन्न संप्रदायों में विभक्त था फिर भी यह विभाजन उतना कठोर न था। एक के प्रभाव दूसरे पर पड़ रहे थे। उनके सामान्य विश्वास बहुत कुछ एक-से थे उदाहरण के लिए निर्गुण की सत्ता और ईश्वर की एकता की स्वीकृति, पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार नर्क-स्वर्ग की प्राप्ति, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, वेदों का महत्व आदि। इन संप्रदायों में पारस्परिक विभेद होते हुए भी तीव्र वैमनस्य न था और सभी संप्रदाय वाले अपने-अपने ढंग से जीवन-यापन कर रहे थे।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रीतियुगीन धर्म स्वस्थ और नवजात तथा उन्नत करने वाले विचारों से रिक्त, थोथा, रूढ़िवादी, पंडे-पुजारियों को महत्व देने वाला, अज्ञान और अंधविश्वास पर आधारित एक अगतिक धर्म था जिसमें धर्म की शाश्वत और पवित्र मान्यताओं का कहीं स्थान न था। धर्म में जीवन की शक्ति न रह गई थी। उसमें स्वस्थ दार्शनिक विचारों का प्रवेश न था। लोगों में धर्म की वास्तविक प्रवृत्ति तो ऐसी स्थिति में संभव भी न थी किन्तु धर्म-भीरुता अवश्य आ गई थी। सामंत लोग विशेष कर संपन्न हिंदू वर्ग ऐहिकता और परलोक-भय की द्विविधा में झूल रहा था। विलासियों के लिए धर्म का शृङ्गारमूलक रूप ही विशेष प्रयोजनीय था और सर्वसाधारण के लिए धर्म आर्थिक शोषण का एक दूसरा भीषण यंत्र बना हुआ था। जीते हुए भी यह धर्म मृतक-सा ही था जिससे पाप और दुर्गति की सड़ांध आ रही थी। ऐसे दूषित धर्म के कारण साहित्य में भी नवीन और जीवंत चेतना की अपेक्षा रूढ़ि-प्रियता, भोग-भावना आदि का ही आधिक्य रहा और सर्वसाधारण की दुर्दशा का चित्र अंकित कर उनके प्रति सहानुभूति और समवेदना जगाने वाले साहित्य का सृजन न हो सका। लोग आत्म-केन्द्रित और आत्मसुख-व्यंजक साहित्य के सृजन में ही दत्त-चित्त रहे।

नामकरण और वर्गीकरण

रीतिकाल का नामकरण

विभिन्न मत :—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग (सं० १७००-१९००) के नामकरण के सम्बन्ध में हिन्दी में कोई विवाद नहीं चला, हाँ थोड़ा मतभेद अवश्य रहा है और वह अभी भी बना हुआ है। सर्वप्रथम इस युग का नामकरण मिश्रबन्धुओं ने किया। उन्होंने आज से लगभग ५० वर्ष पहले सं० १९७० में इस काल को 'अलंकृत काल' कहा था तथा इस युग के भी दो भाग कर उन्हें 'पूर्वालंकृत हिन्दी' और 'उत्तरालंकृत हिन्दी' नाम दिये।[1] इसके १६ वर्ष बाद संवत् १९८६ में अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प० रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग का नाम 'रीतिकाल' रक्खा। दो वर्ष बाद सं० १९८८ में अपने इतिहास में प० राम शङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने इस युग को 'काव्य-कला-काल' नाम दिया। सं० १९९९ में 'वाङ्मय विमर्श' में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उत्तर मध्य काल को 'शृङ्गार काल' नाम से अभिहित किया। वे अपने इस नाम के पक्ष में उत्तरोत्तर अधिक दृढ़मत होते गये हैं तथा बिहारी, घनानन्द ग्रन्थावली और हिन्दी साहित्य का अतीत भाग-२ 'शृङ्गार काल' नामक ग्रन्थों में उन्होंने 'शृङ्गारकाल' नाम के औचित्य पर अपना अभिमत विस्तार के साथ व्यक्त किया है और कहा है कि अनेक दृष्टियों से 'शृङ्गार काल' नाम ही अधिक उपयुक्त है अतएव 'रीतिकाल' की जगह इस नाम के प्रचलन की अपेक्षा है। उत्तर मध्ययुग के काव्य में अलंकरण या अलंकार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की प्रचुरता के कारण तथा काव्य के कलापक्ष के प्रति कवियों के विशेषाग्रह के कारण ही मिश्रबन्धुओं तथा डा० रसाल ने 'अलंकृतकाल' या 'काव्य कलाकाल'[2] नाम सुझाए थे किन्तु इन आलोचकों ने अपने दिये हुए नामों के प्रति किसी प्रकार का आग्रह नहीं प्रदर्शित किया है साथ ही रीति और शृङ्गारिकता को इस युग के काव्य की प्रधान प्रवृत्ति ठहराते हुए 'रीति' शब्द का भी इस काल, कवि तथा काव्य के साथ प्रयोग किया है। उपर्युक्त सभी नामों में 'रीतिकाल' नाम का प्रचलन

---

[1]देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन' (प्रथम भाग) लेखक गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र। प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, खण्डवा व प्रयाग (सं० १९७०)।

[2]'कलाकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें हिन्दी-क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया अर्थात उसमें काव्य के चमत्कृत रूप एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गईं और साथ ही काव्य की कला के नियमोपनियमों से सम्बन्ध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई।'—डा० रसाल। साहित्यप्रकाश, सन् १९३१ (इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग) पृ. ११४।

सबसे अधिक हुआ। रीति शास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ डा० नगेन्द्र ने भी 'रीति काल' नामक अभिधा के प्रति अपना मत प्रकट किया है।

अब प्रश्न यह है कि औचित्य की दृष्टि से कौन-सा नाम उपयुक्त है और ग्राह्य होना चाहिये। इस युग का नाम 'रीतिकाल' रखते हुए भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने नामकरण के कारणों की चर्चा नहीं की है किंतु उनके इतिहास से आप नामकरण के का णों तक अवश्य पहुँच सकते हैं। उन्होंने साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार उनका नामकरण किया है। उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहने का कारण यही जान पड़ता है कि इस काल में रीतिग्रन्थों अर्थात रस-अलंकार आदि काव्यांगों अथवा काव्य-रीति का निरूपण करने वाले ग्रन्थों की परम्परा-सी चल पड़ी। यही उनकी दृष्टि में इस युग के काव्य की व्यापक प्रवृत्ति रही है। काव्यांग-निरूपक लक्षण-ग्रन्थों को आचार्य शुक्ल ने 'रीति ग्रन्थ' की संज्ञा दी है। 'रीति' शब्द संस्कृत में एक काव्य सम्प्रदाय विशेष का वाचक था जिसके प्रवर्तक आचार्य वामन थे। उन्होंने एक विशिष्ट प्रकार की पद रचना को 'रीति' कहा और उसे ही काव्य की आत्मा करार दिया। हिन्दी में रीति शब्द कुछ स्वतन्त्र अर्थ रखता था। उसका आशय था पन्थ या मार्ग, शैली या पद्धति। इन अर्थों में यह शब्द रीतिकाल में बराबर व्यवहृत होता रहा है—

क—रीति सु भाषा कबित की बरनत बुध अनुसार। (चिंतामणि)

ख—छन्द रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान। (सोमनाथ)

ग—अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (देव)

घ—सो विश्रब्ध-नवोढ़ यों बरनत कवि रसरीति। (मतिराम)

ङ—काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातें। (भिखारीदास)

च—थोरे क्रम क्रमते कही अलंकार की रीति। (दूलह)

छ—कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग अर्थ चित लाय। (प्रतापसाहि)

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य-पन्थ या काव्य-विधान के अर्थ में यह शब्द भाषा काव्य परम्परा में प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य शुक्ल ने 'रीति' शब्द को एक काव्य युग और काव्य परम्परा का बोधक बनाकर इस शब्द को नई अर्थमत्ता प्रदान की।[1] 'रीति शास्त्र' शब्द काव्य के किसी भी अंग को लेकर लिखे गए काव्य शास्त्र

[1] संस्कृत में 'रीति' शब्द का व्यवहार ऐसे व्यापक अर्थ में नहीं होता, पर 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में 'रीति' शब्द का प्रयोग रस, अलंकार, पिंगल आदि काव्यांगों के लिए किया गया है जिसे हिन्दी काव्य परम्परा का मान्य अर्थ समझना चाहिये। 'रीति' वस्तुतः 'काव्य रीति' का संक्षिप्त रूप है। (काव्य की रीति सीखी सुकबीनसों देखी सुनी बहुलोक की बातें)—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृङ्गार काल (सं० २०१७), पृ० ३५४।

या अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का वाचक हो गया 'रीति-काव्य' शब्द काव्य-शास्त्रीय नियमों से बद्ध काव्य रचना का सूचक हो गया और रीति-काल उस युग विशेष का बोधक हो गया जिसमें 'रीतिग्रन्थ' और 'रीतिकाव्य' लिखा गया। 'रीति' शब्द में आचार्य वामन द्वारा निर्दिष्ट 'विशिष्ट पदरचना' तथा 'काव्य-पंथ' और 'काव्य विधान' वाले प्रचलित अर्थ भी किसी न किसी रूप में निहित रहे। यह बात सभी को मान्य हुई कि 'रीतिकाव्य' में काव्य के साधन पक्ष या बाह्याकार पर विशेष जोर दिया जाता है और वह एक खास ढर्रे पर की गई रचना होती है। इस प्रकार 'रीति शब्द' को एक विशेष काव्य युग और काव्य पद्धति का वाचक बना कर शुक्लजी ने अनोखी सूझ-बूझ का परिचय दिया इसमें सन्देह नहीं। डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी द्वारा दिये गए नाम 'रीतिकाल' के अर्थ और अभिप्राय से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए इस नाम के प्रयोग का पूर्ण समर्थन किया है।[1]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र औचित्य के विचार से 'उत्तर मध्य युग' को 'रीतिकाल' की अपेक्षा 'शृङ्गार-काल' की अभिधा देने के पक्ष में हैं। इस बात की घोषणा उन्होंने लगभग २३ वर्ष पहले की थी[2] तथा इस विषय पर वे ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विचार करते गए हैं उनका मत अधिकाधिक दृढ़तर होता गया है। अब तो वे अपने प्रस्तावित नाम के पक्ष में अत्यन्त दृढ़मत हैं यहाँ तक कि लगभग तीन दशाब्दियों के बीच किये गये रीतियुगीन

---

[1]'हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रन्थों के लिये होता है। जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीतिग्रन्थ कहते हैं और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीतिशास्त्र कहते हैं।.........यहाँ काव्य रचना सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो वही रीतिकाव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।.......उनसे (शुक्लजी से) पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षणग्रन्थों के लिए भी जिनमें रीति कथन तो नहीं है, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है, रीति संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी।..........उनके विधान में जिसने रीतिग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध है वह भी रीति कवि है।'

—रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १२६-३०।

[2]वाङ्मय विमर्श (सं० १९९९) पृ० २८६-८७।

काव्य के अध्ययन के आधार पर उन्होंने जिस ग्रन्थ का प्रणयन 'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २' नाम से किया है उसका अपर नाम 'शृङ्गारकाल' रक्खा है।' 'शृङ्गार काल' नाम की ग्राह्यता के पक्ष में उनके कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनका मत है कि साहित्य के किसी काल के नामकरण के अनेक आधार हो सकते हैं उदाहरण के लिए कृति, कर्ता, विषय, पद्धति आदि किन्तु किसी साहित्यकाल के नामकरण की उपयुक्तता के दो तत्व प्रधान होंगे, एक सर्वसामान्य या व्यापक प्रवृत्ति की बोधकता दूसरे अन्तर्विभाग का सुभीता। साहित्य के किसी काल विशेष की सर्वसामान्य प्रवृत्ति का बोध उस काल विशेष में प्रस्तुत ग्रन्थराशि के बाहुल्य से हो सकता है उसकी समस्तता से नहीं। एक ही काल में कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती युग की चलती रहती हैं और कुछ आगत युग की भी सामने आती हैं इसलिए युग विशेष की व्यापक प्रवृत्तियों का स्वरूप बाहुल्य के ही आधार पर निर्दिष्ट किया जा सकता है।

कृति, कर्ता और पद्धति की अपेक्षा किसी युग विशेष में उस युग के साहित्य का प्रधान वर्ण्य विषय ही नामकरण का सर्वथोपयुक्त आधार होता है। वर्ण्य के भी दो पक्ष हो जाते हैं—एक बाह्य दूसरा आभ्यंतर। भारतीय दृष्टि से साहित्य का आभ्यंतर प्रतिपाद्य भाव या रस होता है। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीति अर्थात् अलंकार, नायिकाभेद, शब्द-शक्ति, पिंगल आदि बाह्य वर्ण्य हैं तथा शृङ्गार आभ्यंतर वर्ण्य। रीति-काल में प्रणीत लगभग समस्त रचनाओं में न्यूनाधिक रूप में शृङ्गार सर्वत्र व्याप्त है, इसी कारण इस काल का नाम 'शृङ्गारकाल' होना चाहिए। रीति के कवियों के काव्यांग-विवेचन के उदाहरण अधिकांशतः शृङ्गार के रहे। जिन्होंने रीति से बँधकर रचना नहीं की (उदाहरण के लिए बिहारी या घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि) उनके काव्य का भी मुख्य वर्ण्य शृङ्गार ही रहा। रीति के रचयिता भी अधिकतर काव्य-शास्त्र के समर्थ आचार्य नहीं थे। इससे भी पता चलता है कि इन्होंने रीति का पल्ला केवल सहारे के लिए ही पकड़ा था वैसे ये कहना शृङ्गार ही चाहते थे। इसी कारण रस नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु, बारहमासा आदि सम्बन्धी ग्रन्थ ही विशेषतः प्रणीत हुए। शब्द-शक्ति और ध्वनि ऐसे गम्भीर विषयों की ओर लोग कम गए। अलंकारों से सम्बन्धित रीति-ग्रन्थ पर्याप्त परिमाण में तैयार किये गए परन्तु उनका कथितव्य प्रधानतः शृङ्गार ही रहा। उस समय की परिस्थितियाँ अर्थात् दरबारी वातावरण और वह काव्य भी, जिसकी प्रतिद्वंद्विता में भाषा-कवियों को अपना करतब दिखलाना पड़ता था, शृङ्गारमय ही था; इसके कारण भी काव्य शृङ्गारी ही हुआ करता था।

'रीतिकाल' नाम देने से आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा, द्विजदेव ऐसे काव्योत्कर्ष में अद्वितीय शृङ्गारी कवियों को खींचकर फुटकल खाते में झोंकना पड़ा क्योंकि 'रीति' की सीमा में ये कवि न समा सके। रीति नाम देने से लोगों को यह बात

स्वीकार करनी पड़ी कि इसके विभाजन का कोई मार्ग अभी मिल नहीं रहा। 'रीति' नाम देने से यदि उप-विभाग का मार्ग मिला भी तो अत्यंत संकीर्ण। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से विचार करने पर अलंकृत काल या रीतिकाल नामों में अपेक्षित व्याप्ति का अभाव है। ऐसी दशा में इन नामों के हटाने और 'शृंगार काल' नाम के स्वीकार करने की स्पष्ट अपेक्षा है। यह ध्यान देने की बात है कि 'शृङ्गार' शब्द में इस युग के काव्य की सजावट का अलंकरण के व्यापक स्वरूप का भी संकेत मिलता है।

निष्कर्ष—हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में लगभग सभी पूर्ववर्त्तिनी काव्य धाराएँ प्रवाहित होती रहीं तथा निर्गुण और सगुण उपासना की सन्त और सूफी तथा राम और कृष्ण भक्ति धाराएँ और वीर गाथा काल की वीर काव्य धारा तथा अभिनव नीति काव्य धाराओं में भी पर्याप्त परिमाण में कवि-समाज ने योग दिया। मात्रा या परिमाण की दृष्टि से उक्त धाराओं के अन्तर्गत लिखित साहित्य कम नहीं है जैसा कि अन्यत्र दिये गए विवरणों से विदित होगा फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सबसे अधिक प्राणवान साहित्य 'शृङ्गार धारा' का ही है। बड़े-बड़े काव्य-शास्त्र के पंडितों का शास्त्रचिंतन कच्चा, हल्का और शिथिल है। हाँ, शृङ्गारी रचना में कवि अवश्य एक से एक बढ़कर हुए और इस दिशा में उन्होंने अपनी अच्छी गति का परिचय दिया है। शृङ्गार की प्रवृत्ति इस युग में इतनी प्रबल और व्यापक हुई कि रीति ग्रन्थ तो रीति ग्रन्थ रामभक्ति और कृष्णभक्ति प्रधान रचनाओं में भी शृङ्गारिकता का प्राधान्य हो चला। सूफी तो प्रेम-भावना को लेकर चलते ही हैं तथा संतों में भी शृङ्गार की झलक जहाँ-तहाँ मिलती है। वीरकाव्य प्राचीन परम्परा का अवशेष है तथा नीति काव्य समयुगीन सामाजिक चेतना का क्षीण प्रतिबिम्ब। जो हो यह बात निर्विवाद है कि इस युग के काव्य की सर्वाधिक व्यापक और प्रबल प्रवृत्ति या सर्वप्रधान वर्ण्य शृङ्गार था। रीति की प्रचुरता थी किन्तु उसकी गुणात्मक शक्तिमत्ता संदिग्ध है फिर 'रीति' संज्ञा के चलन से अनेक समर्थ कवियों को 'रीति' की महत्वपूर्ण सीमा से बहिष्कृत करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'शृङ्गार काल' नाम का स्वीकरण ही बुद्धिसंगत है। 'शृङ्गार काल' नाम स्वीकार कर लेने से रीतिमुक्त अनेक महत्वशाली कवि अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेंगे और काल के उपविभाग का मार्ग भी अनवरुद्ध हो जायगा। फिर वीर-काल, भक्ति-काल ऐसे आभ्यंतर वर्ण्य के सूचक नामों का मेल भी 'शृङ्गार काल' नाम से अच्छी तरह बैठ जायगा। 'रीति-काल' नाम उक्त क्रम में बेमेल बैठता है। यह पहले ही कह चुके हैं कि 'शृङ्गार काल' नाम उत्तर मध्ययुगीन समस्त प्रवृत्तियों का बोधक नहीं फिर भी वह सर्वप्रधान और सर्वव्यापक प्रवृत्ति का निश्चय ही बोध कराता है। वर्ण्यगत प्रवृत्ति की समस्तता के आधार पर किसी साहित्यिक युग का नामकरण असम्भव है इसलिए प्रवृत्ति विशेष की

सशक्तता और व्यापकता ही वह आधार हो सकती है जिस पर किसी युग का नाम रक्खा जा सकता है। अलंकृत काल, कला काल, रीति काल ऐसे बाह्यार्थ या वर्णित प्रणाली सूचक नामों में वह व्याप्ति, गरिमा और प्रवृत्तिद्योतन-सामर्थ्य और काव्य के आभ्यंतर प्रयोजन की व्यंजना नहीं है जो 'श्रृङ्गार काल' नाम में है। इसलिए आग्रहमुक्त हो कर हिन्दी के विद्वानों को इस नाम को स्वीकार करना चाहिये। 'रीति श्रृङ्गार काल' ऐसे समन्वयात्मक नाम समस्या को उलझाने वाले ही हैं। सुलझाने वाले नहीं।

रीतियुगीन काव्य का वर्गीकरण

रीति या श्रृङ्गार काल (सं० १७००-१६००) में लिखित समस्त उपलब्ध साहित्य का वर्ण्य अथवा विषय के अनुसार विभाजन पहली बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में चलते हुए ढंग से कर दिया था। ३२ वर्ष बाद आज हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग सम्पादक डा० नगेन्द्र) में भी हम इस विभाजन को लगभग ज्यों का त्यों पाते हैं। उन्होंने रीति ग्रन्थों की रचना को इस युग के साहित्य की प्रधान एवं प्रतिनिधि प्रवृत्ति मान कर इस काल का नामकरण भी 'रीतिकाल' किया था। इतर प्रवृत्तियों को गौण ठहराते हुए उन्होंने उनका विवरण एक भिन्न प्रकरण में दिया। शुक्ल जी का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) रीति ग्रन्थकार कवि—जिन्हें रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं।

(२) रीतिकाल के अन्य कवि—जिन्होंने रीति ग्रन्थ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखीं।

इस दूसरे ढंग के कवियों की कविता को उन्होंने सात वर्गों में विभक्त किया है[1] :—

पहला वर्ग—श्रृङ्गारी कवियों अथवा श्रृङ्गार रस के फुटकल पद्य लिखने वालों का।

दूसरा वर्ग—प्रबन्ध काव्य या कथात्मक प्रबन्ध लिखने वालों का।

तीसरा वर्ग—वर्णनात्मक प्रबन्ध लिखने वालों का।

चौथा वर्ग—नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का।

पाँचवाँ वर्ग—ज्ञानोपदेशकों का जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातें पद्य में कहते थे।

छठाँ वर्ग—भक्त कवियों का जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढंग पर गाए हैं।

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६७-२६६।

सातवाँ वर्ग—आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर-रस की फुटकल कविताएँ लिखने वालों का।

रीति ग्रन्थ रचना को आधार मानकर किया गया उपर्युक्त विभाजन ठीक होते हुए भी उपविभागों की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है; क्योंकि उपविभाजन के वर्ग २, ३ और ७ को मिलाकर एक ही वर्ग में रक्खा जा सकता है और इसी प्रकार वर्ग ५ और ६ को भी जैसा कि पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया भी है।[1] उनके अनुसार ये उपविभाग इस प्रकार हैं—

(१) कुछ तो रीति मुक्त शृङ्गारी कविताएँ हैं, (२) कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबन्ध काव्य हैं, (३) कुछ नीति और उपदेशविषयक रचनाएँ हैं और (४) कुछ भक्ति और ज्ञानविषयक उपदेश के काव्य हैं।

आचार्य शुक्ल के पूर्व रीतियुगीन काव्य के वर्गीकरण की ओर किसी का ध्यान न गया था। मिश्र बन्धुओं ने रीतिकाल को 'अलंकृत काल' कहकर उसके दो भेद 'पूर्वालंकृत हिन्दी' और 'उत्तरालंकृत हिन्दी' नाम से किये थे, वे निरर्थक थे।

डा० रसाल ने शुक्ल जी के इतिहास के एक ही वर्ष बाद प्रकाशित अपने इतिहास में रीतिकाल (उनके अनुसार 'काव्य-कला-काल') के समस्त काव्य पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए उसके ११ विभाग किये तथा कुछ प्रमुख विभागों के उप-विभाजन की आवश्यकता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—१. लक्षण ग्रन्थकार, २. जय काव्य (वीर काव्य), ३. पौराणिक कथा या प्रबंध-काव्य, ४. कृष्ण लीला काव्य, ५. कृष्ण काव्य, ६. राम-काव्य, ७. नीति और स्फुट काव्य, ८. मुसलमान कवि, ९. प्रेमात्मक सूफी काव्य, १०. स्त्री लेखिकाएँ, ११. सन्त-काव्य। प्रथम वर्ग के कवियों का वर्गीकरण उनकी उपलब्धि के आधार पर (आचार्य श्रेणी, अनुवादक श्रेणी, साधारण श्रेणी), काव्यांग विवेचन के आधार पर (सम्यक् काव्य शास्त्रकार, केवल अलंकार-लेखक और रस तथा नायिका भेद लेखक) तथा रचना शैली के आधार पर (दोहात्मक शैली, छन्द शैली और कवित्त-सवैया शैली) तथा पंचम वर्ग 'कृष्ण काव्य' का कवियों की भावना के आधार पर (भक्त कवि और प्रेमी कवि) विभाजन किया गया है।[2] इस विभा-जन से रीतिकालीन साहित्य की विशद भाव-भूमि प्रत्यक्ष होती है; किन्तु इसमें भी विभाजन सुगठित और व्यवस्थित नहीं है। आज के विकसित युग में धर्म और जाति अथवा सेक्स के आधार पर मुसलमान कवि और स्त्री लेखिकाएँ आदि वर्गीकरण अर्थहीन हैं। वर्ग संख्या ४ और ५ को पृथक् करने की आवश्यकता नहीं। इस

---

[1] हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३४०।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० रसाल, पृ० ४००-५४७

वर्गीकरण में एक अन्य विशेषता यह है कि घन आनन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि को पाँचवें वर्ग 'कृष्ण काव्य' के अन्तर्गत द्वितीय उपवर्ग 'प्रेमी कवि' में रक्खा गया है; किन्तु ये कवि अपने कृतित्व के आधार पर जिस स्थान के अधिकारी हैं इस वर्गीकरण में उन्हें वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। हाँ, रसालजी द्वारा लक्षण ग्रन्थकारों का काव्यांग विवेचन के आधार पर जो वर्गीकरण है वह परवर्ती विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुआ है।[1]

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृङ्गारकालीन काव्य का विभाजन रीति-ग्रहण के आधार पर दो भागों में किया है—१. रीतिबद्ध काव्य धारा २. रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्य धारा। फिर प्रथम वर्ग के दो भेद किये हैं (लक्षणबद्ध काव्य और लक्ष्यमात्र काव्य) और द्वितीय वर्ग के भी दो भेद (रहस्योन्मुख काव्य और शुद्ध प्रेम काव्य)।[2] मिश्र जी का वर्गीकरण अत्यन्त व्यवस्थित एवं साधार है किन्तु 'रहस्योन्मुख काव्य' की कोई विशिष्ट धारा नहीं जिसके आधार पर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जा सके। अतएव उसका उल्लेख आवश्यक नहीं। दूसरी कमी इस वर्गीकरण में यह है कि इसके अन्तर्गत रीतिकाल की शृङ्गारेतर काव्य-प्रवृत्तियों का अन्तर्भाव नहीं हो सका है। फलतः, यह वर्गीकरण श्लाघनीय होते हुए भी असम्पूर्ण है। इसी कारण मिश्र जी को 'इस काल के अन्य कवि' शीर्षक देकर वीर-रस, नीति तथा भक्ति के कवियों की पृथक् से विवेचना करनी पड़ी है।[3]

स्पष्ट ही रीतिकाल की प्रभूत काव्य-राशि का विधिवत् वर्गीकरण उपर्युक्त विद्वानों द्वारा नहीं हो सका है। मेरे मत से हिन्दी की रीति या शृङ्गारकालीन कविता का वर्गीकरण इस युग के कवियों की मूल आंतर वृत्ति के आधार पर इस प्रकार किया जाना चाहिए :—

इसके अतिरिक्त भी यदि किसी भाव विशेष की रचना उपलब्ध हो तो उसे 'शृङ्गारेतर वर्ग' के अन्तर्गत सातवें उपवर्ग के रूप में लिया जा सकता है।

---
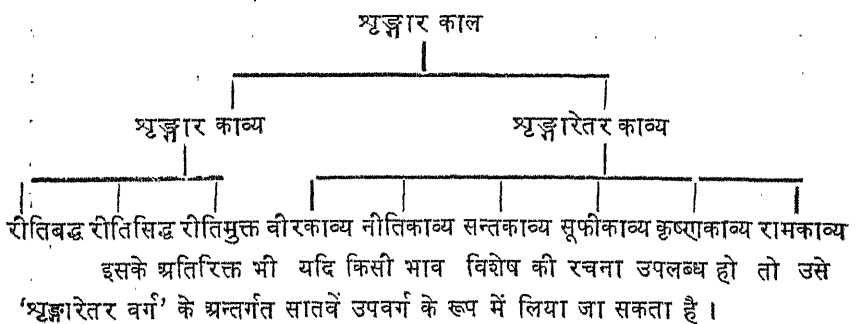
[1] हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३६-३७ तथा हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० २६८-६९।

[2] घन आनन्द ग्रन्थावली, वाङ्मुख, पृ० १६।

[3] वाङ्मय, विमर्श पृ० ३०६।

श्रृङ्गार तथा रीतिबद्ध काव्य

हिन्दी रीति-ग्रन्थों की परम्परा का आरम्भ

'शिव सिंह सरोज' के आधार पर हिन्दी साहित्य तथा अलंकार शास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में संवत् ७७० विक्रमी के लगभग पुण्ड, पुण्ड्र या पुष्य नामक कवि का उल्लेख मिलता है। ये बंदीजन थे और इन्होंने हिन्दी में संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रन्थ का अनुवाद किया था (अनुवाद दोहा, छन्दों में किया गया) किन्तु यह ग्रन्थ अप्राप्य है। परिणामस्वरूप हिन्दी के प्रथम रीति ग्रन्थकार हैं कृपाराम जिन्होंने सं० १५९८ में 'हित-तरंगिणी' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने दोहा-सोरठा ऐसे छोटे छन्दों में श्रृङ्गार-रस का निरूपण किया है। इनकी 'हित-तरंगिणी' से पता चलता है कि इनके समसामयिक अन्य लक्षणकार भी थे जो बड़े-बड़े छन्दों में श्रृंगार निरूपण कर रहे थे[1] किन्तु ये कर्त्ता कौन थे, उनकी कृतियाँ कौन-कौन सी हैं इसका हमें कुछ पता नहीं चलता। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि रीति ग्रन्थों का प्रणयन रीतिकाल के स्वीकृत प्रारम्भ-काल से लगभग १०० वर्ष पूर्व शुरू हो चुका था। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' जिसमें भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार लिया गया है हिन्दी का सर्वप्रथम रीति ग्रन्थ है। इसके पश्चात् संवत् १६१६ के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने श्रृङ्गार-रस सम्बन्धी ग्रन्थ 'श्रृङ्गार-सागर' लिखा जिसमें नायिका भेद का विशेष विस्तार है। सं० १६३७ के आस-पास अकबरी दरबार के नरहरि कवि के साथी करनेस बंदीजन ने अलंकार सम्बन्धी तीन ग्रन्थ लिखे—कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण। ये अलंकार ग्रन्थ साधारण हैं। रीति परम्परा का निर्वाह करते हुए भी इनके द्वारा रीति-निरूपण की किसी प्रभावशाली शैली का प्रवर्तन नहीं हो सका। इसी समय के आस-पास गोप या गोपा नामक एक अन्य रीतिकार का उल्लेख किया जाता है। इनके समय के सम्बन्ध में मतभेद है।[2] इनके लिखे दो ग्रन्थ हैं—१. रामभूषण जिसमें राम के यश-वर्णन के साथ-साथ अलंकारों का निरूपण किया गया है। २. अलंकार चन्द्रिका जिसमें स्वतन्त्र रूप से अलंकारों का विवेचन है। केशव के बड़े भाई बलभद्र मिश्र ने सं० १६४० के आस-पास 'नखशिख' तथा 'रसविलास' नामक ग्रन्थ लिखे जिनमें क्रमशः नायिका भेद एवं भावों का निरूपण है।

---

[1]बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच, याते सुघर विचारि॥

[2]मिश्रबन्धु इनका समय सं० १६१५ मानते हैं, डा० भगीरथ मिश्र सं० १७७३ और 'हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास' (पृ० १६८) में इनका समय सं० १६७० दिया हुआ है।

हिन्दी-रीति-परम्परा का आरम्भ और विकास दिखलाते हुए तीन अन्य कवियों की ओर दृष्टि जाती है। ये हैं सूरदास, रहीम और नन्ददास। यदि 'साहित्य लहरी' (सं० १६०७) सूरदास की ही रचना मानी जाय तो स्पष्ट है कि दृष्टिकूट पद्धति पर यह अलंकार और नायिका भेद का ही ग्रन्थ है भले ही उसमें लक्षणों का विधान न हो। रहीम का 'बरवै नायिका भेद' (सं० १६४०) का वर्ण्य तो ग्रन्थ नाम से ही स्पष्ट है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि नन्ददास ने भी 'रसमंजरी' नामक एक रीति ग्रन्थ लिखा जिसमें हाव-भाव हेलादिकों के वर्णन के साथ नायक-नायिका-भेद निरूपण हुआ है। किसी मित्र के आग्रह पर नन्ददास ने यह ग्रन्थ लिखा। आधार रूप में उन्होंने भानुदत्त की 'रसमंजरी' को स्वीकार किया—

रसमंजरि अनुसारि कै, नन्द सुमति अनुसार।
बर्णत बनिता भेद जहँ, प्रेमसार विस्तार ॥

केशव के पूर्व हिन्दी में रीति ग्रन्थों के प्रणयन की यही परम्परा थी। इसके पश्चात् केशव ने सं० १६४८ में 'रसिकप्रिया' और सं० १६५८ में 'कविप्रिया' लिखी। इसमें तो सन्देह नहीं कि हिन्दी रीति-ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा के आविर्भाव का श्रेय कृपाराम को ही है, जिन्होंने रीतिकाल के सर्वस्वीकृत आरम्भ-काल (सं० १७०० विक्रमी) से लगभग १०० वर्ष पूर्व (सं० १५९८) 'हित-तरंगिणी' की रचना की किन्तु दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जो हिन्दी के रीति काव्यालोचन-क्षेत्र में उठा है वह यह है कि रीति का प्रथम आचार्य होने का श्रेय किसको मिले, केशवदास को या चिंतामणि त्रिपाठी को। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में यह श्रेय चिंतामणि त्रिपाठी को मिलना चाहिए, केशवदास को नहीं। इस सम्बन्ध में उनका कथन यह है कि हिन्दी रीति साहित्य में केशव के काव्यादर्शों का अनुगमन नहीं हुआ। दूसरे केशव के तत्काल बाद रीति ग्रंथों की परम्परा नहीं चली वरन् उनकी कविप्रिया के ५० वर्ष बाद उसकी अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली। किन्तु शुक्ल जी के दोनों तर्क अब रीतिशास्त्र के विद्वानों को अमान्य हैं। एक तो यह कथन ही सत्य से दूर है कि केशव के बाद रीति ग्रन्थों का प्रणयन रुक गया उसकी तो पूरी शृङ्खला जुड़ती चली गई है जैसा कि शोध द्वारा प्राप्त नवीनतम सूचनाओं से स्वतः प्रमाणित है—

रचनाकाल (संवत्)	कवि या रीति ग्रन्थकार	रीति ग्रन्थ
१५९८	कृपाराम	हित-तरंगिणी
१६०७	सूरदास	साहित्य लहरी
१६१६	गंग	फुटकल
१६१६	मोहनलाल	शृङ्गार सागर

१६२०	मनोहर	फुटकल
१६२०	गंगा प्रसाद	ग्रन्थनाम अज्ञात
१६३७	करनेस	कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नखशिख
१६४०	रहीम	बरवै नायिका भेद
१६४८	केशवदास	रसिकप्रिया, कविप्रिया
१६५०	मोहनदास	बारहमासा
१६५१	हरिराम	छन्द रत्नावली
१६५७	बालकृष्ण	रसचन्द्रिका[१] (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलकशतक, तिलशतक
१६७०	गोप	अलंकार चन्द्रिका
१६७६	लीलाधर	नखशिख
१६८०	ब्रजपति भट्ट	रंगभाव माधुरी
१६८५	छेमराज	फतेह प्रकाश
१६८८	सुन्दर	सुन्दर श्रृंगार
१६९८	नन्ददास	रसमञ्जरी
१७००	सेनापति	षट् ऋतु वर्णन

उपर्युक्त परम्परा इस बात की स्पष्ट घोषणा करती है कि रीतिग्रन्थों की परम्परा कृपाराम से प्रारम्भ होकर अविरल और अखंड रूप से चली चलती है। वह शिथिलप्राय या लुप्त तो हुई ही नहीं। स्वीकृत 'रीति युग' के पूर्ववर्ती १०० वर्षों के इस प्रस्तावना काल में कृतित्व और रीतिग्रन्थ प्रणयन की दृष्टि से केशवदास का महत्व असंदिग्ध है और वे ही रीति परम्परा के प्रथम आचार्य ठहरते हैं। यह मत आज अनेक विद्वानों द्वारा मान्य है।[२]

सं० १६०० से १७०० के बीच लिखे गए रीति ग्रन्थ स्वीकृत रीतिकाल से

---

[१]रसचन्द्रिका का नाम हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास षष्ठ भाग (सभा द्वारा सं० २०१५ में प्रकाशित) में रामचन्द्रप्रिया दिया हुआ है जो पिंगल ग्रन्थ है। लेखक बालकृष्ण और रचनाकाल सं० १६७५, पृ० १६७।

[२]हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० रसाल, पृ० ४०१-४०३

हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र (सं० २०१५) पृ० ४८-५०

हिन्दी रीति साहित्य : डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २६

हिन्दी अलंकार साहित्य : डा० ओम प्रकाश, पृ० ४८-५०

पूर्व युग के हैं जिसे रीति का प्रस्तावना काल भी कहा गया है। सं० १७०० के आस-पास संस्कृत रीतिशास्त्र की परम्परा क्षीण होने लगी थी। संस्कृत के अन्तिम प्रकांड आचार्य 'रस गंगाधर' के कर्त्ता पंडितराज जगन्नाथ और पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार हिन्दी रीति के प्रथम आचार्य चिंतामणि दोनों समसामयिक थे। पंडितराज जगन्नाथ शाहजहाँ के सभापंडित थे और चिंतामणि को शाहजहाँ की सभा में पुरस्कार प्राप्त हुआ था। स्पष्ट है कि संस्कृत की क्षीयमाण परम्परा हिन्दी के आचार्य कवियों द्वारा उठा ली गई किन्तु इस बात को हम पहले ही दिखा चुके हैं कि हिन्दी रीति की परम्परा चिंतामणि से लगभग १०० वर्ष पहले ही कृपाराम द्वारा प्रवर्तित हो चुकी थी और वह धारा इस शताब्दी में अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही। सं० १७०० के बाद यह और वेगवान हो उठी और लगभग २०० वर्षों तक उसका यह वेग अनवरुद्ध रहा। आधुनिककाल में रीतिकालीन परिपाटी पर रीति ग्रन्थ अवश्य लिखे गए किन्तु गद्य में लिखे गये रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों की परिपाटी दूसरी ही रही और इस दिशा में गम्भीर प्रयत्न किये गए।

रीति काव्य का शास्त्रीय आधार : भारतीय काव्य-संप्रदाय

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में रीति-काल में जो रीति काव्य लिखा गया उसका मूल आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र ही है। संस्कृत साहित्य में काव्य-शास्त्र पर अत्यन्त व्यापक रीति से गंभीर विवेचना मिलती है। संस्कृत का काव्य-शास्त्र एक स्वतंत्र विषय अथवा दर्शन के रूप में विकसित हुआ है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में काव्य की आत्मा, काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, गुण, अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, दोष, कवि-शिक्षा आदि विषयों का विवेचन है। यह विवेचन सूक्ष्म तथा खण्डन-मण्डनयुक्त है। काव्य का मूल तत्व क्या है इसी की शोध में संस्कृत के उद्भट विद्वान प्रवृत्त हुए और उन्होंने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि सिद्धान्तों का निर्धारण किया। इन्हीं से सम्बधित अलग-अलग पाँच प्रमुख संप्रदाय बने जिनके प्रवर्तक आचार्य संस्कृत साहित्य के गंभीर विद्वान एवं अध्येता हैं। काव्य की आत्मा का संधान करते हुए इन आचार्यों ने अपनी दृष्टि के अनुसार काव्य के भिन्न-भिन्न तत्वों को महत्व दिया और इस प्रकार विभिन्न काव्य संप्रदायों की सृष्टि हुई। भरत, भामह, वामन, कुन्तक और आनंदवर्धन ऐसे संप्रदाय-उद्भावक आचार्यों के अनेकानेक महत्वपूर्ण मतानुयायी विद्वान एवं आचार्य हो गए हैं जिन्होंने प्रतिपादित काव्य सिद्धान्तों का और भी अधिक विशद एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। परवर्ती पालि, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य इनसे प्रवाहित हुआ है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रायः सभी आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि

आनंद की साधना ही काव्य का उद्देश्य है। जिन्होंने यश, अर्थ आदि को भी काव्य-लक्ष्य माना है वे भी काव्य के प्रधान उद्देश्य आनंद-साधकता के संबंध में सहमत हैं। इन आचार्यों में जिस प्रकार काव्य के प्रधान उद्देश्य को स्वीकार करने में कोई मत-भेद नहीं है उसी प्रकार उस आनंद-साधना के मूलभूत उपादानों में भी कोई मतभेद नहीं है। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सभी को काव्य के आनंद विधायक तत्व के उपादान रूप में स्वीकार किया गया है, अंतर केवल महत्व या प्रधानता का है। एक के मत में इनमें से कोई एक उपादान प्राण अथवा आत्मा रूप है दूसरे के मत में कोई दूसरा। भरतमुनि भारतीय काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य हैं तथा उनके अनंतर संस्कृत में काव्य और काव्यशास्त्र दोनों की ही प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर अधिक होती गई। भरत के द्वारा प्रतिष्ठापित रससिद्धान्त अथवा रस सम्प्रदाय ही आज भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सम्मान्य सिद्धान्त है। भामह, दण्डी आदि द्वारा प्रवर्त्तित अलंकार, रीति आदि सम्प्रदाय बाद में आए। अब हम संक्षेप में यह देखने की चेष्टा करेंगे कि काव्य के मूल तत्व अथवा उसकी आत्मा के सम्बन्ध में इन विविध आचार्यों का क्या मत है।

रस संप्रदाय— रस-तत्व की सर्व प्रथम विवेचना भरत मुनि ने अपने नाटच-शास्त्र में की है। उनका नाटचशास्त्र काव्य शास्त्र से सम्बन्धित सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें नाटक अथवा रूपक एवं रस का तात्विक निरूपण किया गया है। भरत के पूर्व भी उक्त विषयों का निरूपण करने वाले आचार्य हुए होंगे किन्तु हमें उनके सम्बन्ध में न तो कोई उल्लेखनीय जानकारी ही प्राप्त है और न ही उनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में नाटक से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी बातों के विवेचन के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि नाटक का प्रधान लक्ष्य है प्रेक्षक श्रोता अथवा दर्शक को रस का अनुभव कराना तथा रसानुभूति की प्रकिया इस प्रकार है—'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति:' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभि-चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के इस प्रसिद्ध सूत्र की पृथक्-पृथक् रीति से विवेचना की गई और रस की अनुभूति जो एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है—को लेकर संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक वाद खड़े हो गए जिनमें भट्ट लोल्लट का आरोपवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्ति-वाद या भोगवाद तथा अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन विविध आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भरत के उक्त सूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं। पर्याप्त वैमत्य होते हुए भी अभिनव गुप्त का मत अधिक सम्मानित रहा जिसके अनुसार दर्शकों के हृदय में वासना रूप से अवस्थित रति, हास, शोक, क्रोध आदि मनोविकार विभावों (आलंबन और उद्दीपन) के संयोग से व्यंजनावृत्ति के साधारणी-किरण या विभावन व्यापार से सजग हो जाते हैं तभी दर्शक या आस्वादयिता रसानु-

भूति की अभिलषित अवस्था प्राप्त करता है। इसी अवस्था में स्थायीभाव सम्बन्धी रस की अनुभूति होती है, जिसे रस की अभिव्यक्ति कहते हैं।

अंतस् की स्थायी वृत्तियों को स्थायी भाव कहते हैं। उनको जागृत एवं उद्दीप्त करने वाले कारण अथवा हेतु को (जो व्यक्ति अथवा परिस्थिति कोई भी हो सकते हैं) आलंबन और उद्दीपन विभाव कहते हैं। स्थायी भाव के अतिरिक्त उसकी सहायता करने वाले बीच-बीच में जल बुद्बुदवत उठने-मिटने वाले सहकारी भावों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं तथा जिन आंगिक चेष्टाओं, क्रियाओं अथवा संकेतों से मूल स्थायी भाव झलकता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ही रस के अंग या अवयव हैं। इन्हीं के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।

पर्याप्त खण्डन-मण्डन के अनंतर अभिनव गुप्त द्वारा यह रस-सिद्धान्त सम्यक रूप से प्रतिपादित हुआ तथा कालांतर में रस-नाटक के साथ ही साथ काव्य की आत्मा के रूप में भी मान्य हुआ। विक्रम की ९वीं शती उत्तरार्द्ध में ध्वनि सिद्धान्त के जोर पकड़ने पर रस-सिद्धान्त की भी विशेष प्रतिष्ठा हुई। ध्वन्यालोक के श्रेष्ठतम व्याख्याता अभिनव गुप्त ने रस-ध्वनि को ही काव्य का जीवन-तत्व स्वीकार किया तथा वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को रस-ध्वनि के आधीन उसी का सहायक एवं उपकारक होने पर ही काव्योपयोगी कहा।

अभिनव गुप्त के बाद रस के व्याख्याताओं में भानुदत्त और विश्वनाथ महत्वपूर्ण हैं। विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कह कर रस को सीधे काव्य की आत्मा ही करार दिया। उन्होंने ध्वनि को रस के ही अंतर्गत स्थान दिया और रस का महत्व सर्वोपरि सिद्ध किया। आगे चल कर काव्य प्रमाणकार मम्मट और रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस सिद्धान्त की महत्ता और प्रतिष्ठा में योग ही दिया। ध्वनिवादी आचार्यों के कारण भी रस-सिद्धान्त की अधिक प्रतिष्ठा हो सकी।

रसों में वैसे तो श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये ९ रस सर्वमान्य हुए किन्तु विशेष प्रतिष्ठा श्रृङ्गार की ही रही और अन्य रसों के भी महत्व के प्रतिपादक आचार्यों के पाण्डित्यपूर्ण विवेचनों के बावजूद श्रृङ्गार को ही अधिकांश आचार्यों ने रसराज स्वीकार किया; क्योंकि श्रृङ्गार सबसे अधिक आकर्षक एवं सार्वभौमिक प्रभावसम्पन्न रस होता है। श्रृङ्गार रस की आत्यंतिक व्यापकता के ही कारण दो भेद किये गए—संयोग और वियोग तथा उसके एक-एक अवयव पर ही लक्षण ग्रन्थों की रचना-परम्परा तक विकसित हो चली। संस्कृत में भी तथा उससे भी अधिक हिन्दी में। रसग्रन्थ, नायक-नायिका भेद के ग्रन्थ, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा सम्बन्धी ग्रन्थों की भरमार श्रृङ्गार की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के कारण हो चली। संस्कृत में रस-परिचय सम्बन्धी अनेकानेक ग्रन्थ लिखे

गए जिनके लेखक काव्यशास्त्र के श्रेष्ठ विद्वान हो गए हैं जैसे दशरूपककार धनञ्जय, शृङ्गार प्रकाश और सरस्वती कण्ठाभरण के लेखक भोजराज, अलङ्कार शेखर के कर्त्ता भाव मिश्र, भाव-प्रकाशनकार शारदातनय, रसमञ्जरी के रचयिता भानुदत्त आदि। भोजराज शृङ्गार रस के प्रतिष्ठित आचार्य हैं जिन्होंने पूरी शक्ति तथा आवेशोन्मेष के साथ शृङ्गार की रसराजकता स्थापित कर दी। रस-सिद्धान्त का एक अभिनव विकास हमें चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णव महात्मा रूप गोस्वामी में देखने को मिलता है जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में शृङ्गार रस का एक सर्वथा नवीन दृष्टि से अत्यन्त विशद विवेचन किया है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति-सिद्धान्तों के आधार पर रस की एवं रस-सिद्धान्त के आधार पर भक्ति की व्याख्या करते हुए भक्ति के पाँच प्रकार (शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य) माने गये हैं तथा सभी प्रकार की भक्ति के आधार शृङ्गार के ही देवता श्रीकृष्ण ठहराए गए हैं। इन समस्त प्रकार की भावनाओं में माधुर्य का स्थान सर्वोपरि ठहराया गया है। शृङ्गार रस और मधुरा भक्ति की भावना से, रस सिद्धान्त तथा उसके अंगोपांगों पर लिखित संस्कृत रीति ग्रन्थों से हिन्दी का मध्ययुगीन काव्य किस असाधारण रूप में प्रभावित है यह बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब अलङ्कार-सम्प्रदाय के ही समान रस-सम्प्रदाय की भी प्रतिष्ठा बढ़ी और ध्वनि-सम्प्रदाय की सत्ता स्थापित एवं स्वीकृत हो जाने के अनन्तर रस सिद्धान्त ने दूसरे सम्प्रदायों का महत्व क्षीण कर दिया और काव्यात्मा के रूप में रस तत्व ही प्रायः सर्वत्र स्वीकार किया जाने लगा। भोज के 'शृङ्गार प्रकाश' में शृङ्गार की विशद विवेचना हुई और उसके बाद तो शृङ्गार की विवेचना करने वाले ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गई। सारी रस विवेचना शृङ्गार में सीमित हो गई और परिस्थितियों की कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि सारी शृंगार रस सम्बन्धिनी चर्चा नायिका भेद तक आ सिमटी। आगे चलकर भानुदत्त के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस तरंगिणी' और 'रस मञ्जरी' प्रणीत हुए। पहले में रसमात्र की विवेचना है तथा अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार की विशद किन्तु दूसरे ग्रन्थ में भानुदत्त ने नायक-नायिका-भेद विषय ही प्रधान रूप से उठाया है। अपनी स्वच्छता और सुबोधता के कारण ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुए तथा हिन्दी के कितने ही रस और नायिका भेद ग्रन्थकारों ने इन ग्रन्थों का सहारा लिया। उदाहरण के लिए हित-तरंगिणी (कृपाराम), कवि कल्पद्रुम (चिंतामणि), रसराज (मतिराम), भाव-विलास (देव), जगद्विनोद (पद्माकर) आदि का हवाला दिया जा सकता है।

अलंकार संप्रदाय—रस की चर्चा तो रूपक या नाटक के संदर्भ में शुरू

हुई परन्तु काव्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अलंकार की ही महत्ता स्वीकार की गई थी। इस दृष्टि से काव्य सम्बन्धी सम्प्रदायों में अलंकार संप्रदाय सबसे अधिक प्राचीन ठहरता है। बात यह हुई कि रस को नाटक (रूपक) का प्रमुख प्रतिपाद्य स्वीकार कर लेने से अधिकांश आचार्य काव्य की शोभा का प्रधान आधार अलंकारों को मान कर चले और अलंकारों के विवेचन से ही काव्य सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन का श्री गणेश हुआ इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र को अलंकार शास्त्र भी कहा गया। अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाले सर्वप्रथम आचार्य भामह हैं। हो सकता है कि भामह के पूर्व भी कुछ अलंकारशास्त्री हो गए हों किन्तु उनके ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हैं, स्वयं भामह ने अलंकार शास्त्र के प्रणेता के रूप में मेधाविन् का उल्लेख किया है किन्तु मेधाविन् का लिखा कोई अलंकार ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। भामह का 'काव्यालंकार' इस विषय की एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें स्पष्ट रूप से यह न कहने पर भी कि अलंकार ही काव्य की आत्मा है भामह ने अलंकारों पर ही विशेष बल दिया है, 'सौन्दर्यमलंकार:' कह कर उन्होंने काव्यगत सौन्दर्य एवं अलंकार की अभिन्नता का उद्घोष किया था। दण्डी ने भी अलंकारों को पर्याप्त महत्व देते हुए उसे काव्य का शोभाकारक धर्म बतलाया—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'—परन्तु उन्होंने प्रमुखता रीति को प्रदान की है। भामह का अनुसरण करने वाले अन्य आचार्य थे उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि। उद्भट के दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—१. भामह-विवरण, २. अलंकार-सार-संग्रह जिनमें से प्रथम अप्राप्य है। उद्भट की ख्याति भामह से कम नहीं। उनकी अलंकार विषयक विवेचना में एक ओर जहाँ प्राचीन मान्यताओं का विकास मिलता है वहीं दूसरी ओर नवीनता भी मिलेगी। रुद्रट ने अलंकारों का सूक्ष्म और सुन्दर विवेचन करते हुए काव्य में उनकी प्रधानता स्वीकार की है। उनके विवेचन में अलंकारों के वर्गीकरण तथा रस भावादि से अलंकारों का पार्थक्य (अलंकार और अलंकार्य का भेद) विशेष रूप से निर्दशित किया गया है। आगे चलकर ध्वनि आदि अन्य सिद्धान्तों का भी महत्व प्रतिपादन होता रहा फिर भी अलंकारों को काव्य में सर्वाधिक महत्व देने वाले आचार्य आते गए। रस या ध्वनि सम्प्रदायों को जब काव्यशास्त्रियों ने अधिक महत्व देना शुरू किया उस समय अलंकार सम्प्रदाय कुछ काल के लिए निष्प्रभ पड़ गया किन्तु आगे चलकर जयदेव, अप्यय दीक्षित, विद्याधर आदि ने इस सम्प्रदाय को विशेष उत्कर्ष प्रदान किया। सरल एवं बोधगम्य भाषा-शैली के कारण जयदेव का चन्द्रालोक, अप्यय दीक्षित विरचित कुवलयानन्द काव्य शास्त्राभ्यासियों के बीच में अत्यन्त समादृत ग्रन्थ रहे और हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के परवर्ती रीतिशास्त्रियों—महाराज जसवंत सिंह, दूलह, पद्माकर आदि ने अपने भाषा-भूषण, कविकुल कंठाभरण, पद्माभरण आदि में इन्हीं दो संस्कृत अलंकार ग्रन्थों का आदर्श ग्रहण कर अलंकार विषयक अपनी कृतियों का प्रणयन किया। हिंदी में केशवदास

जो काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होंने अलंकारों को भामह, दण्डी आदि द्वारा प्रतिपादित व्यापक अर्थ में ग्रहण किया और काव्य-कल्पनावृत्ति, अलंकार शेखर आदि ग्रन्थों का सहारा लिया। देव पर भी संस्कृत के पुराने काव्यशास्त्रियों का प्रभाव था परन्तु हिंदी के परवर्ती रीति कवि चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को ही अपना उपजीव्य मानते रहे। इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत काव्यशास्त्र के परवर्ती अलंकार-वादी आचार्यों में चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव तथा कुवलयानन्द और चित्र-मीमांसा के लेखक अप्पय दीक्षित विशेष महत्वपूर्ण हैं। जयदेव ने तो काव्य के अन्तर्गत अलंकारों की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए यहाँ तक कह दिया कि अग्नि में जिस प्रकार उष्णता होती है काव्य में उसी प्रकार अलंकार की सत्ता समझनी चाहिए—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ (चन्द्रालोक)

हम यह देखते हैं कि संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों में जिन्होंने अलंकार को काव्य का प्राण नहीं भी माना उन्होंने भी बड़े ही विस्तार के साथ अलंकारों का उनके भेद-प्रभेदों सहित सूक्ष्म निरूपण किया है, जिससे काव्य में अलंकारों की विशिष्ट सत्ता की सार्वभौम स्वीकृति का आभास मिलता है। अलंकारवादी आचार्यों की ही कृपा का यह फल था कि अलंकार काव्य का एक प्रकार से अनिवार्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग सभी के द्वारा मान्य हुआ।

अलंकारवादी आचार्य रस सिद्धान्त से अनभिज्ञ न थे परन्तु वे काव्य में महत्व और प्रधानता अलंकार को ही देते थे रस को नहीं। कालान्तर में अलंकारों का विवेचन अधिकाधिक सूक्ष्मता से होता गया और उत्तरोत्तर निरूपित अलंकारों की संख्या में वृद्धि ही होती गई। भरत ने ४ अलंकारों (उपमा, रूपक, दीपक और यमक) की चर्चा की जबकि अग्निपुराण में १६ अलंकारों का उल्लेख है। भामह और भट्टि ने ३८ अलंकार माने तथा दण्डी, उद्भट और वामन (ईसा की ८वीं शती) तक अलंकारों की संख्या ५२ हो गई। रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक तक आते-आते यह संख्या १०३ हो गई तथा जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ (१८वीं शती ईसा) तक आते-आते अलंकारों की संख्या १६१ तक पहुँच गई। हो सकता है कि इनमें से कुछ अलंकार अन्यों के बीच अन्तर्भुक्त होने के योग्य हों और कुछ विद्वानों द्वारा अमान्य या अग्राह्य भी ठहरा दिए जायँ परन्तु तथ्य यह है कि नए-नए अलंकारों की शोध बराबर होती गई और सम्बन्धित शास्त्र उत्तरोत्तर समर्थ ही होता गया। अलंकारों के वर्गीकरण की ओर भी रुद्रट, विद्यानाथ, रुय्यक आदि आचार्यों ने विशेष ध्यान दिया और अलंकारों के वैज्ञानिक विवेचन एवं वर्गी-

करण का मार्ग प्रशस्त होता रहा। अलंकार विषय को लेकर जो विवेचना रुद्रट, प्रतिहारेन्द्रराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, अप्पय दीक्षित प्रभृति आचार्यों द्वारा हुई, उसमें अलंकारों की संख्या, परिभाषा और वर्गीकरण आदि सम्बन्धी बातों को लेकर विस्तृत विवेचना मिलती है किन्तु अलंकारों का काव्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है इसकी छान-बीन वक्रोक्ति सिद्धान्त के आचार्यों—कुन्तक, रुय्यक, जयरथ आदि की विवेचना में सम्भव हो पाई।

रीति सम्प्रदाय—रीति गुणों पर आधारित होती है तथा गुणों की चर्चा वामन से पूर्व मिलती है। गुणों का वामन से पहले भी विशद विवेचन हो चुका था किन्तु रीति शब्द का व्यवहार सर्वप्रथम वामन में ही मिलता है। भरतमुनि और भामह ऐसे प्राचीनतम आचार्यों ने भी गुणों का वर्णन किया है। भरत ने १० गुणों की व्याख्या की है, भामह ने ३ गुण स्वीकार किये हैं। इस प्रकार किसी न किसी रूप में रीति सम्प्रदाय रस और अलंकार सम्प्रदायों के समानान्तर ही चल रहा था। किन्तु उसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रदान करने का श्रेय आचार्य वामन को ही है। इन्होंने १० गुणों के स्थान पर १० शब्दगुण और १० अर्थगुण बतलाये और गौड़ तथा वैदर्भ मार्गों की जगह ३ प्रकार की रीतियों—गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली का अस्तित्व घोषित किया। रीति सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले आचार्य वामन ही थे जिन्होंने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में रीति को ही काव्य की आत्मा कहा है और रीति को विशिष्ट प्रकार की पद-रचना बतलाया। पद-रचना में विशिष्टता गुण से आती है इसलिये गुण का भी महत्व उन्होंने काव्य में स्थापित किया है—

रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टा पद-रचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा। रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है मार्ग या पंथ जिससे रचनाकार विशेष की अपनी रचना-प्रणाली या रचना-शैली अथवा लेखन-मार्ग का अभिप्राय निकलता है। दण्डी ने तो रीति के लिये मार्ग शब्द का ही व्यवहार किया है तथा रचयिता-भेद से उसके अनन्त भेद भी बतलाए हैं। वामन ने गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी इन तीन रीतियों की प्रतिष्ठा की। प्रारम्भ में ये रीतियाँ एक भौगोलिक आशय लेकर निर्धारित की गई थीं तथा देश के विभिन्न प्रदेशों के रचयिताओं के रचना-पंथ या रचना-रीति से उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया था किन्तु आगे चलकर विषय की दृष्टि से इन रीतियों या रचना-शैलियों का निर्धारण हो गया। उदाहरण के लिए परुष या कठोर विषयों के वर्णन में गौड़ी रीति, सुकुमार विषयों या प्रसंगों के वर्णन में वैदर्भी रीति तथा दोनों के सम्मिश्रित वर्णन विधि में पांचाली रीति का होना निर्धारित हुआ। कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में रीतियों के नाम से भौगोलिक अभिप्राय को सदा के लिए दूर कर दिया। उन्होंने तो गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी के लिए नए

नाम क्रमशः विचित्र मार्ग, मध्यम मार्ग और सुकुमार मार्ग भी दिये, पर वे चल नहीं सके।

संस्कृत काव्यशास्त्र के बहुत बड़े आचार्यों में वामन की गणना की जाती है तथापि रीतिसम्बन्धी इनका सिद्धान्त परवर्ती आचार्यों को मान्य न हुआ और रीति को काव्य का प्राण समझने वाला कोई भी दूसरा आचार्य न हुआ। हाँ परवर्ती आचार्यों ने रीति का वर्णन अवश्य किया और किसी-किसी ने कुछ नई रीतियों की भी उद्भावना की जैसे रुद्रट ने लाटी की और भोजराज ने मागधी और अवन्तिका की। लाटी तो एक सीमा तक अन्य आचार्यों को मान्य भी हुई परन्तु मागधी और अवन्तिका किसी को भी मान्य न हुई। रीति की संख्या के सम्बन्ध में आगे चलकर रुद्रट, भोज, वाग्भट्ट, राजशेखर आदि के ग्रन्थों में मतभेद मिलता है तथा काव्यांगों की विवेचना में शास्त्रीय विवेचना की पूरी गम्भीरता भी है फिर भी रीति सम्प्रदाय संस्कृत में अपना कोई असाधारण महत्व स्थापित नहीं कर सका। अलंकार के ही समान इसने काव्य के बहिरंग पर ही जोर दिया तथा आगे चलकर इसे रस और ध्वनि सम्प्रदायों में ही अंतर्भुक्त कर लिया गया। हिन्दी के रीतियुगीन कवियों पर इस सम्प्रदाय का कोई विशेष प्रभाव गोचर नहीं होता।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक कुन्तक थे जिन्होंने अपने 'वक्रोक्ति जीवितं' नामक ग्रन्थ में ध्वनि को नहीं वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना। वक्रोक्ति द्वारा ही कथन में चमत्कार की सृष्टि होती है और जिस कथन में वक्रता नहीं वह मर्मस्पर्शी एवं कवित्वपूर्ण किस प्रकार हो सकता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का महत्व स्वीकार करते हुए उसे एक शब्दालंकार के रूप में स्वीकृति दी थी। रुद्रट ने सर्वप्रथम इसे शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया था और इसके दो भेद किये थे—श्लेष वक्रोक्ति और शकु वक्रोक्ति। हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में माना है किन्तु भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया है और उसे सभी अलंकारों का मूल तत्व कहा है। इन आचार्यों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस असाधारण शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्ति कथन की शैली से भिन्न है--'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति अयमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तरभावः।' (अभिनवगुप्त) भामह आदि के ही समान कुन्तक ने भी लोकोत्तर वर्णन के व्यापक उक्तिवैचित्र्य के अर्थ में ही वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि कवि का शब्दचयन साधारण व्यक्ति के शब्द चयन से भिन्न और विशिष्ट होता है तथा अपनी लोकातिक्रांत या लोकोत्तर अभिव्यक्ति के कारण ही उसकी रचना काव्य कहलाती है। उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन-तत्व बताने की कोशिश की और कहा—

लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते ॥

इस वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए इसे उन्होंने असीम व्यापकता प्रदान कर दी है तथा अलंकार, रस, भाव, ध्वनि तथा उसके सम्पूर्ण भेद एवं काव्य के अन्य सभी तत्वों को उन्होंने वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत समेट लिया है। कुन्तक में असाधारण विवेचन-शक्ति थी और मौलिकता भी किन्तु यह सम्प्रदाय अधिक विकसित न हो सका। कुछ आचार्यों ने तो इसे अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा कहा है, किसी-किसी ने वक्रोक्तिकार को प्रच्छन्न रूप में ध्वनिवादी ही बतलाया है। इस काव्य सम्प्रदाय का भी हिंदी के रीतिकाव्य पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा।

ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं आचार्य आनन्दवर्धन किन्तु उन्होंने स्वयं लिखा है—इस सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त का प्रवर्त्तन उनसे पहले के आचार्य कर गए हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधर्य: समाम्नातपूर्व:'। अभिनव गुप्त ने उद्भट और वामन को ध्वनि का महत्व स्वीकार करने वाले पूर्ववर्ती आचार्य माना है। इसमें सन्देह नहीं है कि आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' संस्कृत काव्य-शास्त्र का एक असाधारण ग्रन्थ है जिसमें ध्वनि सिद्धान्त की अविचल प्रतिष्ठा की गई है। आनंदवर्धन के मतानुसार अलंकार, रीति और वक्रोक्ति का सम्बन्ध काव्य के बहिर्पक्ष से ही है तथा रस सिद्धान्त भी सर्वथा निर्दोष नहीं क्योंकि एक तो ब्रह्मानन्द सहोदर कह कर रस सिद्धान्त को जैसे कोई अलौकिक-सी चीज बना दिया गया था दूसरे छोटी-छोटी मुक्तक रचनाओं में रस के समस्त अवयवों अथवा उपकरणों का विधान सम्भव न हो सकने के कारण ऐसी रचनाओं का महत्व ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता था और छोटे-छोटे सुन्दर मुक्तकों को उचित गौरव नहीं मिल पाता था। इन दोषों का निराकरण करते हुए आनंदवर्धनाचार्य ने व्यंजनाश्रित ध्वनि सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसकी अखण्ड महत्ता स्थापित की। उन्होंने कहा कि ध्वनि पूर्ववर्ती किसी भी काव्य सम्प्रदाय रस; अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के अंतर्भूत नहीं की जा सकती दूसरे उन्होंने ध्वनि का उचित सम्बन्ध रस रीति अलंकार आदि से भी भली-भाँति स्थापित किया। इस प्रकार एक अत्यन्त व्यापक एवं पूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सिद्धान्त स्थापित हो गया किन्तु यह न समझना चाहिए कि यह सिद्धान्त सहज ही अथवा निर्विरोध ही स्थापित हो गया। भट्ट नायक ने आनंदवर्धन का विरोध करते हुए व्यंजना शक्ति के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया तथा भावकत्व और भोजकत्व नामक दो काव्य-शक्तियों का होना निर्धारित किया। भट्टनायक का खंडन अभिनव गुप्त ने किया और व्यंजना का अस्तित्व प्रमाणित किया। ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों में भट्ट नायक के बाद कुन्तक और महिमभट्ट ऐसे

दिग्गजों का नाम आता है— कुन्तक ने तो ध्वनि को वक्रोक्ति के ही अंतर्भूत कर उसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया और महिमभट्ट ने फिर व्यंजना के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया। ऐसे बड़े-बड़े विरोधियों के बावजूद ध्वनि सिद्धान्त की मान्यता बनी रही। मम्मट ने समस्त विवादों का निराकरण करते हुए ध्वनि का विवेचन किया एवं उसके महत्व को पुनर्स्थापित किया। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को विशेष महत्व दिया परन्तु पंडितराज जगन्नाथ ने ऐसा न होने दिया। ध्वनि और रस-सिद्धान्तों का समन्वय अभिनव गुप्त ने ही किया था जो आगे चल कर उभय सम्प्रदायों के प्रवक्ताओं द्वारा और भी अधिक होता गया तथा पंडितराज तक आते-आते उभय सम्प्रदायों में विशेष भेद नहीं रह गया। ये दोनों सम्प्रदाय अपना महत्व अक्षुण्ण रख सके तथा एक दूसरे के उपकारक ही रहे, अपकारक नहीं।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि शब्द की अभिधा और लक्षणा नामक वृत्तियों पर नहीं वरन् उसकी व्यंजना शक्ति पर आधारित है। इसी व्यंजना शक्ति की उपस्थिति के आधार पर काव्य की उत्तमता और अनुत्तमता का भी निर्धारण किया गया और उत्तम, मध्यम तथा अधम नामक तीन काव्य-कोटियाँ निर्धारित की गईं जिन्हें क्रमशः ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यंग्य काव्य और चित्र काव्य कहा गया। ध्वनि के भी तीन भेद कहे गए—वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि जिसमें रस-ध्वनि सबसे महत्वपूर्ण ठहराई गई। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त में भी रस की अखण्ड महत्ता को स्वीकृति प्रदान की गई तथा रसशून्य काव्य को चित्र काव्य, अवर काव्य या अधम-काव्य कहा गया। अनेक विद्वान ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त का ही विस्तार मानते हैं। इस अत्यंत गम्भीर एवं सम्मान्य ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना में आनन्द वर्धन से भी अधिक महत्वपूर्ण काम अभिनव गुप्त का था जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से इन नूतन काव्यात्मा सिद्धान्त का ऐसा पण्डित्य-पूर्ण प्रतिपादन अपना 'ध्वन्यालोक-लोचन' के माध्यम से किया। अपने समय तक के ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों का उन्होंने मुँहतोड़ जवाब दिया और ध्वनि की अखंड महत्ता प्रमाणित की। उनके द्वारा रस की भी प्रतिष्ठा कम न हुई। अभिनवगुप्त के 'लोचन' से ध्वनि सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हुआ। मम्मट ने आगे चलकर ध्वनि सिद्धान्त को पूर्ण रूप से व्यवस्थित किया तथा अभिनवगुप्त परवर्ती ध्वनि विरोधियों के मतों की परीक्षा करते हुए उनके आरोपों का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया। १८ वीं शती विक्रमी में पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस गंगाधर' में बलिष्ठ तर्कों द्वारा ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन किया। पंडितराज के पश्चात् संस्कृत काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कोई ऐसा महत्वपूर्ण ग्रंथ न लिखा जा सका जैसा कि विभिन्न काव्य सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्यों के द्वारा लिखे गए थे और न ध्वनि सिद्धान्त के पश्चात् कोई अन्य काव्य सम्प्रदाय ही सामने आया। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ ऐसे काव्य-

शास्त्र नदीष्ण आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित होकर ध्वनि सिद्धान्त भारतीय आलोचना शास्त्र के श्रेष्ठतम सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुआ।

हिन्दी रीतिकारों ने जब रीति ग्रंथ लिखना शुरू किया उस समय तक संस्कृत कव्यशास्त्र के उक्त सभी काव्य सिद्धान्त आविर्भूत हो चुके थे तथा पर्याप्त तर्क-वितर्क एवं खण्डन-मण्डन की घाटियाँ पार कर रस और ध्वनि के शिखरों पर न पहुँचे थे इसलिए हिन्दी के रसवादी रीति-आचार्यों ने ध्वनि को स्वतन्त्र रूप से तो ग्रहण नहीं किया किन्तु रस के सन्दर्भ में ध्वनि की भी थोड़ी चर्चा कर दी थी। संस्कृत काव्यशास्त्र में ही ध्वनि और रस के समन्वय का क्रम आरम्भ हो चुका था। हिन्दी के रीतिकार प्रधान रूप से अलंकार और रस सिद्धान्तों के अनुसर्त्ता थे फिर भी कुलपति और प्रतापसाहि जैसे आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य का प्राण माना है।

रीति ग्रन्थों का वर्गीकरण

लगभग २०० वर्षों के रीतियुग में इतने रीतिग्रन्थ लिखे गए कि उनसे हिन्दी काव्य का भण्डार प्रचुर परिमाण में भर-सा गया। इन रीति या लक्षण ग्रन्थों का वर्ण्य विषय के आधार पर वर्गीकरण करने से इस बात का ज्ञान होता है कि रीतिकाल में किस काव्यांग पर कितने ग्रन्थ लिखे गए। हमारे विवरण में रीतिकाल की स्थूल सीमा सं० १७०० से १९०० के बीच के ही ग्रन्थों का उल्लेख मिलेगा। यह संख्या निश्चय ही काफी बढ़ जायगी जब रीतिकाल के पूर्ववर्ती लगभग १०० वर्षों के प्रस्तावनाकाल तथा लगभग ७५ वर्षों के उपसंहार काल का भी लेखा-जोखा हम लेने लगेंगे।

डा० ओम प्रकाश का मत है कि विषय, काव्य सम्प्रदाय या शैली के आधार पर किया गया कोई भी वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। इसलिये रीति ग्रन्थकारों का वर्गीकरण काव्यांग निरूपण के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है—१. अनेकांग निरूपक। २. एकांग निरूपक। एकांग निरूपकों के वर्ग हो सकते हैं—(क) रस निरूपक, (ख) अलंकार निरूपक, (ग) छन्द निरूपक आदि। नायिका भेद, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि का वर्णन करने वाले रसनिरूपकों की कोटि में अन्तर्भुक्त किये जा सकते हैं। कुछ कवियों ने (उदाहरण के लिये मतिराम को ले लीजिये) एक से अधिक अंगों का विवेचन पृथक-पृथक ग्रन्थों में किया है परन्तु फिर भी उन्हें एकांग निरूपकों में ही गिना जाना चाहिये क्योंकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर न थी।[1]

---

[1]. डा० ओम प्रकाश : हिन्दी अलंकार साहित्य (सन् १९५६) पृ० ५४

मोटे तौर से चार प्रकार के रीतिग्रन्थ इस युग में प्रणीत हुए—

१. अलंकार निरूपक ग्रन्थ—

२. रस एवं नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ—(क) रस निरूपक ग्रन्थ (ख) श्रृंगार एवं नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ

३. काव्यशास्त्र या विविधांक निरूपक ग्रन्थ—(काव्य से समस्त, अधिकांश या एकाधिक अंगों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ)

४. पिंगल निरूपक ग्रन्थ

रीतिकाल में लिखे गए अलंकार ग्रन्थ ३५, रस ग्रन्थ ३७, श्रृंगार एवं नायिका भेद ग्रन्थ ३०, काव्य शास्त्र या विविधांग ग्रन्थ २७ तथा पिंगल ग्रंथ १४ हैं। जब हम रीति के प्रस्तावना एवं उपसंहार कालों पर भी दृष्टि डालते हैं तब यह संख्या क्रमशः ५३, ४८, ३२, ३९ और १५ हो जाती है।[१] मेरे विचार से अधिक शोध करने पर यह संख्या निश्चय ही और बढ़ जायगी। इस प्रकार रीति काल में लिखित कुल रीति ग्रंथों की संख्या १४३ और उसके बाहर के युगों की प्रणतियों को मिलाकर १८७ ठहरती है; किन्तु हमारा विश्वास है कि इससे भी अधिक संख्या में रीतिग्रन्थ लिखे गये जो भावी शोध द्वारा निश्चय ही उद्घाटित होंगे। हमारे संतोष के लिये यही क्या कम है कि इतने विपुल परिमाण में रीतिबद्ध साहित्य लिखा गया। उसका लक्षण अथवा निरूपण वाला अंश उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि औदाहरणिक भाग क्योंकि रीति कवियों का सच्चा कर्तृत्व लक्षणों की अपेक्षा उन्हें चरितार्थ करने वाले छंदों में मूर्त्त हुआ है।

डा० भगीरथ मिश्र के शोध के आधार पर हिन्दी रीति ग्रन्थों की वर्गीकृत सूची इस प्रकार है[२] :—

(१) गोपा कृत अलंकार चंद्रिका (सं० १६१५ सं० १६७३ वि०), (२) करनेस कृत कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण (सं० १६३७ के लगभग), (३) छेमराज कृत फतेह प्रकाश (सं० १६८५ के लगभग), (४) जसवंतसिंह कृत भाषा भूषण (सं० १६६५ के लगभग), (५) मतिराम कृत ललितललाम (सं० १७१६ और १७४५ के बीच), (६) भूषण कृत शिवराज भूषण सं० १७३०), (७) गोपालराय कृत भूषण विलास, (सं० १७३६ के लगभग), (८) बलवीर कृत उपमालंकार (सं० १७४१ के लगभग), (९) सूरति मिश्र कृत अलंकार माला (सं० १७६६), (१०) श्रीपति कृत अलंकार गंगा

१. देखिये डा० भागीरथ मिश्र का हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास (सं० २०१५) पृ० ३७-४३ और डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (सं० २०१५ पृ० २६६

२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास (सं० २०१५) पृ० ३७-४३

(सं० १६७० के लगभग) (११), गोप कृत रामचन्द्राभरण, रामचन्द्र भूषण (सं० १७७३), (१२) रसिक सुमति कृत अलंकार चन्द्रोदय (सं० १७८६', (१३) सूपति, (गुरुभक्त सिंह) कृत कंठाभूषण (सं० १७६१ के लगभग), (१४) बंशीधर कृत अलंकार रतनाकार (सं० १७६२), (१५) रघुनाथ कृत रसिक मोहन (सं० १७५६), (१६) गोविन्द कवि कृत कर्णाभरण (सं० १७६२), (१७) दूलह कृत कविकुल कंठाभरण (सं० १८०० के लगभग), (१८) शम्भुनाथ कृत अलंकार दीपक (सं० १८०६ के लगभग), (१६) रसरूप कृत तुलसीभूषण (सं० १८११), (२०) गुमान मिश्र कृत अलंकार दर्पण (सं० १८१८), (२१) बैरीसाल कृत भाषा-भरण (सं० १८२५), (२२) नाथ (हरिनाथ) कृत अलंकार दर्पण (सं० १८२६), (२३) रतनेश या रतन कवि कृत अलंकार दर्पण (सं० १८२७ वि० या सं० १८४३), (२४) दत्त कृत लालित्यलता (सं० १८३०), (२५) महाराज रामसिंह कृत अलंकार दर्पण (सं० १८३५), (२६) ऋषिनाथ कृत अलकारमणि मंजरी (सं० १८३१), (२७) सेवादास कृत रघुनाथ अलंकार (सं० १८४०), (२८) चंदन कृत काव्याभरण (सं० १८४५), (२६) मान कवि कृत नरेन्द्र भूषण (सं० १८५५), (३०) ब्रह्मदत्त कृत दीप प्रकाश (सं० १८६७), (३१) संग्रामसिंह कृत काव्यार्णव (सं० १८६६ के लगभग), (३२) पद्माकर कृत पद्माभरण (सं० १८६७ के लगभग), (३३) बलवान सिंह कृत चित्र-चन्द्रिका (सं० १८८६), (३४) गिरिधरदास कृत भारती भूषण (सं० १८६०), (३५) प्रताप सिंह कृत अलंकार चिन्तामणि (सं० १८६४), (३६) चतुर्भुज कृत अलंकार आभा (सं० १८६६), (३७), लेखराज कृत लघु-भूषण (सं० १६०० के लगभग) तथा गंगा भरण (सं० १६३४), (३८), ग्वाल कृत अलंकार भ्रम भंजन (सं० १६०० के लगभग), (३६) शालिग्राम शाकद्वीपी कृत भाषाभूषण की समालोचना (सं० १६२० के लगभग), (४०) कन्हैयालाल पोद्दार कृत अलंकार प्रकाश (सं० १६५३), (४१) भगवान दीन कृत अलंकार मंजूषा (सं० १६७३), (४२) कन्हैया लाल पोद्दार कृत अलंकार मंजरी (सं० १६६३), (४३) जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत अलंकार दर्पण (सं० (१६६३), (४४) रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत अलंकार पीयूष (सं० १६८६), (४५) अर्जुनदास केडिया कृत भारती भूषण (सं० १६८७), (४६) लछिराम कृत रामचन्द्र भूषण (सं० १६४७), (४७) गुलाब सिंह कृत वनिता भूषण (सं० १६४६), (४८) गंगाधर कृत महेश्वर भूषण (सं० १६५२) (४६), मुरारिदीन कृत जसवन्त जसोभूषण (सं० १६५०)

२. रस एवं नायिका भेद निरूपक ग्रंथ (क)—रस निरूपक ग्रंथ—

(१) केशवदास कृत रसिक प्रिया (सं० १५४८), (२) व्रजपति भट्ट कृत रंगभाव माधुरी (सं० १६८०), (३) तोष कृत सुधानिधि (सं० १६३१) (मिश्रबन्धु), (४) मंडन कृत रसरत्नावली और रस विलास (सं० १८ वीं शताब्दी का प्रारम्भ) (५) तुलसीदास

कृत रस कल्लोल तथा रस भूषण (सं० १७११), (६) कुलपति कृत रस रहस्य (सं० १७२४), (७) गोपाल राम कृत रस सागर (सं० १७२६), (८) सुखदेव मिश्र कृत रसार्णव (सं० १७३०) तथा फाज़िल अली प्रकाश (सं० १७३३),(६) श्री निवास कृत रस सागर (सं० १७५०), (१०) लोकनाथ चौबे कृत रस तरंग (सं० १७६०), (११) सूरति मिश्र कृत रस रत्नाकार, रस रत्नमाला तथा रस ग्राहक चन्द्रिका (सं० १७६० के लगभग), (१२) देव कृत भवानी विलास, रस विलास और कुशल विलास (सं० १७८३ के लगभग),(१३) वेनी प्रसाद कृत रस शृंगार समुद्र (सं० १७६५ के लगभग), (१४) श्रीपति कृत रस सागर (सं० १७७०), (१५) याकूब खाँ कृत रस भूषण (सं० १७७५), (१६) बीर कृत कृष्ण चन्द्रिका (सं० १७७६), (१७) भिखारीदास कृत रस सारांश (सं० १७६६),(१८) गुरुदत्त सिंह कृत रस रत्नाकर, रसदीप (१८ वीं शताब्दी का अंत), (१६) रसलीन कृत रस प्रबोध (सं० १७६८), (२०) रघुनाथ कृत काव्य कलाधर (सं० १८०२, (२१) उदयनाथ कृत रस चन्द्रोदय (सं० १८०४),(२२) शम्भु नाथ मिश्र कृत रस कल्लोल, रस तरंगिणी (सं० ३८०६), (२३) समनेस कृत रसिक विलास (सं० २८२७ या १८४७), (२४) दौलत राम या उजियोर कृत रस चन्द्रिका (सं० १८३७ के लगभग) तथा जुगुलप्रकाश (सं० १८३७), (२५) रामसिंह कृत रसनिवास (सं० १८३६), (२६) सेवादास कृत रसदर्पण (सं० १८४०), (२७) बेनी बन्दीजन कृत रसविलास सं० १८४६), (२८) पद्माकर कृत जगत् विनोद (सं० १८६७) (२६) बेनी 'प्रवीन' कृत नवसतरंग (सं० १८७८), (३०) करन कवि कृत रसकल्लोल (सं० १८८५), (३१) ग्वाल कृत रसरंग (सं० १६०४), (३) नन्दराम कृत शृंगार दर्पण (सं० १६२६), (३३) लेखराज कृत रसरत्नाकर (सं० १६३०), (३४) महाराजा प्रताप नारायण कृत रसकुसुमाकर सं० १६५१), (३५) बलदेव (द्विजगंग) कृत प्रमदा-पारिजात (सं० १६५७), (३६) हरिऔध कृत रसकलस (सं० १६८८), (३७) कन्हैयालाल पोद्दार कृत रसमंजरी (सं० १६६१), (३८) ब्रजेश कृत रस-रसांग-निर्णय (सं० १६६३)।

(ख) शृंगार एवं नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ

(१) कृपाराम कृत हिततरंगिणी (सं० १५६८), (२) सूरदास कृत साहित्य लहरी (सं० १६०७), (३) नन्ददास कृत रसमंजरी (१७ वीं शताब्दी का प्रारंभ), (४) मोहनलाल कृत शृंगार-सागर (सं० १६१६), (५) सुन्दरकवि कृत सुन्दर शृंगार (सं० १६८८), (६) चिंतामणि कृत शृंगार मंजरी (१८ वीं शताब्दी का प्रारंभ), (७ शम्भुनाथ सोलंकी कृत नायिकाभेद (सं० १७०७) (८) मतिराम कृत रसराज (सं० १७०१ के लगभग) और साहित्यसार (सं० १७४० के लगभग), (६) सुखदेव मिश्र कृत शृंगारलता (सं० १७३३ के लगभग) (१०) कृष्णभक्त देवऋषि कृत शृंगार

रस माधुरी (सं० १७६६), (११) देव कृत सुखसागर तरंग और जाति विलास (१८ वीं शताब्दी का मध्य), (१२) कालिदास कृत बधूविनोद (सं० १७४६), (१३) कुंदन कृत नायिकाभेद (सं० १७५२), (१४) केशवराय कृत नायिकाभेद (सं० १७५४), (१५) बलवीर कृत दंपति विलास (सं० १७५६), (१६) खड़गराम कृत नायिकाभेद (सं० १७६५), (१७) आजम कृत शृंगार रसदर्पण (सं० १७८६), (१८) भिखारीदास कृत शृंगार निर्णय (सं० १८०७), (१९) शोभाकवि कृत नवलरस चन्द्रोदय (सं० १८१८), (२०) रंग खाँ तथा हितकृष्ण कृत नायिकाभेद (सं० १८४०), (२१) देवकी नन्दन कृत शृंगार चरित (सं० १८४१), (२२) लालकवि कृत विष्णु विलास (सं० १८ वीं शताब्दी का मध्य), (२३) मोगीलाल दुबे कृत बखत विलास सं० १८५६), (२४) यशवंतसिंह द्वितीय कृत शृंगार शिरोमणि (सं० १८५६), (२५) माखनलाल पाठक कृत वसंत मंजरी (स० १८६०), (२६) यशोदानंदन कृत बरवैनायिक-भेद (सं० १८७०), (२७) दयानाथ दुबे कृत आनन्दरस (सं० १८८९), (२८) जगदीशलाल कृत व्रजविनोद नायिका भेद (बीसवीं शताब्दी) (२९), नवीन कवि कृत परमानन्द-रस-तरंग, रंग तरंग आदि (सं० १८९९), (३०) चंद्रशेखर कृत रसिक विनोद (सं० १९०३)।

(३) काव्य शास्त्र या विविधांग निरूपक ग्रन्थ

(१) केशवदास कृत कविप्रिया (स० १६५८), (२) चिंतामणि कृत कविकुल-कल्पतरु, (सं० १७०७) चिंतामणि कृत काव्य प्रकाश (सं० १७०० के लगभग), (३) कुलपति कृत रसरहस्य (सं० १७२७), (४) देव कृत भाव विलास (सं० १७४६) और काव्यरसायन या शब्दरसायन (सं० १७६० के भगभग), (५) सूरति मिश्र कृत काव्य सिद्धांत (सं० १८ वीं शताब्दी का अंतिम चरण), (६) कुमारमणि कृत रसिक रसाल (सं० १७७६), (७) श्रीमणि कृत काव्य सरोज (सं० १७७७) तथा काव्य कल्पद्रुम (सं० १७८०), (८) गंजन कृत कमरुद्दीन हुलास (सं० १७८६), (९) सोमनाथ कृत रसपीयूषनिधि सं० १७९४), (१०) भिखारीदास कृत काव्य निर्णय (सं० १८०३, (११) रूपसाहि कृत रूपविलास (सं० १८१३), (१२) रतनकवि कृत फतेहभूषण (सं० १८३० के आसपास), (१३) जनराज कृत कविता रसविनोद (सं० १८३३), (१४) थानकवि कृत दलेलप्रकाश (सं० १८४०), (१५) गुरुदीन पांडे कृत बागमनोहर (सं० १८६०), (१६) करन कृत साहित्यरस (सं० १८६०), (१७) प्रतापसाहि कृत व्यंग्यार्थ कौमुदी (सं० १८८२) काव्य विलास (सं० १८८६) तथा काव्य विनोद (सं० १८९६), (१८) भवानी प्रसाद पाठक कृत काव्य शिरोमणि और काव्य कल्पद्रुम, (१९) रणधीर सिंह कृत काव्य रत्नाकर (सं० १८९७), (२०) ग्वाल कृत साहित्य दर्पण तथा साहित्य दूषण (सं० १९०० के लगभग), (२१) रामदास कृत कवि कल्पद्रुम (साहित्यसार) (सं० १९०१), (२२) सालिग्राम शाकलद्वीपी कृत काव्य-प्रकाश की समा-

लोचना (सं० १९२०),(२३) बलदेव कृत प्रतापविनोद (सं० १९२६),(२४) लछिराम कृत कमलानन्द कल्पतरु (सं० १९४०) और रावणेश्वर कल्पतरु सं० १९४७), (२५) नारायण कृत नाट्यदीपिका (२० वीं शताब्दी का प्रथम चरण), (२६) मुरारिदीन कृत जसवन्तजसोभूषण (सं० १९५०), (२७) जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत काव्य प्रभाकर (सं० १९६७), (२८) सीताराम शास्त्री कृत साहित्य सिद्धांत (सं० १९८०), (२९) कन्हैयालाल पोद्दार कृत रसमंजरी (सं० १९९१), (३०) बिहारीलाल भट्ट कृत साहित्य सागर (सं० १९९४) (३१) मिश्रबन्धु कृत साहित्य पारिजात (सं० १९९७) (३२) रामदहिन मिश्र कृत काव्यालोक, काव्यदर्पण (सं० २००१ तथा सं० २००४)।

(४) पिंगल निरूपक ग्रंथ[1]—

(१) केशवदास कृत छंदमाल, (२) चिंतामणि कृत पिंगल, (३) मतिराम कृत छंदसार, (४) सुखदेव मिश्र कृत वृत्तविचार, (५) माखन कृत श्रीनाग पिंगल छंद विलास, (६) जयकृष्णभुजंग कृत पिंगलरूपदीपमाला, (७) भिखारीदास कृत छंदार्णव, (८) नारायणदास कृत छंदसार, (९) दशरथ कृत वृत्त विचार, (१०) नन्दकिशोर कृत पिंगलप्रकाश, (११) चेतन कृत लघुपिंगल, (१२) रामसहाय कृत वृत्त तरंगिणी, (१३) हरिदेव कृत छंदपयोनिधि, (१४) अयोध्या प्रसाद बाजपेयी कृत छंदानन्द पिंगल।

रीतिबद्ध-काव्य की प्रेरणा

रीतिबद्ध काव्य की तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं : (१) रीति निरूपण या आचार्यत्व, (२) शृंगार-प्रधान काव्य रचना और (३) कला पक्ष का आग्रह या कलात्मकता। यहाँ इस बात का विवेचन अभीष्ट है कि इन प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत साहित्य की रचना किन कारणों से हुई।

रीति निरूपण अथवा आचार्यत्व—रीति अथवा लक्षण ग्रंथों की रचना का एक कारण यह बतलाया जाता है कि काव्य परंपरा में जब लक्ष्य ग्रंथों अथवा मौलिक काव्यों का सृजन पर्याप्त परिमाण में हो चुकता है तब साहित्यिकों का ध्यान लक्षण ग्रंथों अथवा काव्य शास्त्र की रचना की ओर जाता है जिनमें काव्य रचना के सिद्धान्तों तथा नियमों आदि का विधान होता है। यह प्रवृत्ति सभी देशों के साहित्य में देखी जाती है। संस्कृत साहित्य में ऐसा ही हुआ हिन्दी में भी। साहित्य की जाति विधि दखते हुए तथा उसकी आवश्यकताओं का अनुभव करते हुए कुछ आचार्य अवश्य ऐसे हुए जिन्होंने हिन्दी काव्य का दिशा-निर्देशन किया। उनमें केशवदास अग्रगण्य हैं; भिखारीदास इसी कोटि के आचार्य थे। दूसरा कारण यह था कि संस्कृत में काव्य-

---

[1]. पिंगल ग्रंथों की नामावली हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास (सं० २०१५) के आधार पर दी गई है देखिये पृ० २९९।

शास्त्र का अच्छा मंथन किया जा चुका था। काव्यात्मा, काव्य लक्षण आदि पर काफी खंडन-मंडनपूर्ण विवेचना हो चुकी थी, विभिन्न काव्य-संप्रदाय निर्मित हो चुके थे फलतः अनेक संस्कृतज्ञ हिन्दी कवियों ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र को हिन्दी में अवतरित कर काव्य को नई दिशा देने की चेष्टा की; क्योंकि भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्यपरक काव्य पर्याप्त मात्रा में प्रणीत हो चुका था। रीतिकाल में ही शाहजहाँ के समसामयिक पंडित-राज जगन्नाथ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' निर्मित किया था। संस्कृत अलंकार शास्त्र की परंपरा का अंत हो रहा था, हिन्दी अलंकार शास्त्र की परंपरा का आरंभ। यह एक सुन्दर संयोग था। हिन्दी में रीति की सारी सामग्री संस्कृत से ही आई। नवीन उद्‌भावना के लिये न तो विशेष अवकाश ही था और न हिन्दी रीतिशास्त्री उतने समर्थ ही थे। पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों का ग्रहण, अनुगमन, पुनर्प्रतिष्ठापन अथवा अनुवाद ही अधिकतर हुआ। केशव, श्रीपति, देव, दास ऐसे कतिपय आचार्यों ने कुछ मौलिकता भी दिखलाई परन्तु वह कुछ विशेष महत्वपूर्ण न थी। रस, ध्वनि, अलंकार आदि पूर्वप्रतिष्ठित संप्रदायों का हिन्दी काव्य रीति के आचार्यों ने अनुगमन किया। संस्कृत में विवेचित काव्यशास्त्र मोटे तौर पर ही हिन्दी में ग्रहीत हुआ, विवेचना का वह सारा विस्तार और सूक्ष्मता हिन्दी रीति ग्रन्थों में अप्राप्य है फलतः ये ग्रन्थ प्रारंभिक जानकारी ही देने में समर्थ हैं। अनेक ग्रन्थ इस दृष्टि से भी सदोष ही हैं। हिन्दी रीतिकारों ने बिना खंडन-मंडन किये और बिना किसी विशेष नवीनता का योग किये संस्कृत की सामग्री भाषा ग्रन्थों में अवतरित की। केशव सरीखे कुछ भाषा कवि जब शास्त्ररचना कर आचार्य रूप में प्रतिष्ठित हुए तो औरों में भी आचार्यत्व का लोभ जगा। धीरे-धीरे सभी कवि-रीति ग्रन्थ लिखने लगे। हालत यह हुई कि बिना रीति ग्रन्थ लिखे कवि-कर्म पूरा न समझा जाता था। यह चसका यहाँ तक बढ़ा कि भूषण ऐसे हिन्दुत्वप्रेमी वीर रस के कवि को भी 'शिवराजभूषण नामक' अलंकार ग्रन्थ लिखकर आचार्य पद पाने की इच्छा हुई। भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्यपरक काव्य की अतिशयता की प्रतिक्रियास्वरूप में केशवदास सरीखे काव्य रीति के हिन्दी आचार्यों ने काव्य के स्वतंत्र रूप की प्रतिष्ठा की। यह शास्त्रसम्मत काव्य-रचना का मार्ग संस्कृत में पहले से ही खुला हुआ था। हिन्दी में इस दिशा का निर्देश करने के कारण दीर्घकाल तक आचार्य केशव सम्मानित हुए। शताधिक कवियों ने केशव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए काव्य रीति के उदाहरणस्वरूप काव्य की रचना की। रीतिबद्ध ग्रन्थ-रचना का तीसरा कारण राज्याश्रय प्रतीत होता है, क्योंकि इस काल में मुगल बादशाहों तथा अधीनस्थ राजे-महाराजों और नवाबों की सभाओं में नृत्य-संगीत आदि अन्य कलाओं की भाँति काव्य को भी प्रश्रय और प्रोत्साहन प्रदान किया जाता था। काव्य के मूल्यांकन के लिये राजाओं और काव्य-प्रेमियों को काव्य-रचना के लिये नये काव्याभ्यासियों को काव्य रीति के ज्ञान की

अपेक्षा हुई। केशव ने अपने आश्रयदाता महाराज इन्द्रजीतसिंह के आदेश से 'कवि-प्रिया' की रचना की थी और अपनी शिष्या प्रवीणराय पातुर को काव्य की शिक्षा देने के लिये 'रसिकप्रिया' लिखी। काव्य के नवाभ्यासियों के लिये ये रीति ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और बहुतेरे तो इन्हीं के सहारे कवि भी बन गए। आश्रयदाता राजाओं को इन रीति ग्रन्थों से काव्य की उत्तमता का पता चलने लगा। इधर लक्षण ग्रन्थ लिखकर कवि जब आचार्य रूप में प्रख्यात हुए तो सभी राज्याश्रित कवियों ने ख्याति के उद्देश्य से लक्षणबद्ध काव्य-रचना शुरू कर दी। यही कारण है कि शास्त्र-चिन्ता का स्तर न केवल कायम न रह सका अपितु गिरने भी लगा। अकबर के पूर्व भाषा-कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त न था, वे चारण या भाट के रूप में ही विशेष प्रसिद्ध थे। लोक में भी उनकी कीर्ति इसी रूप में थी, हाँ फारसी और संस्कृत के कवि अवश्य सम्मानित होते थे। अकबर की देखा-देखी राजपूताना तथा मध्य भारत की रियासतों में कवियों को हिन्दू और मुसलमान दोनों दरबारों में राज्याश्रय प्राप्त हुआ फलतः लक्षणबद्ध काव्य की रचना व्यापक रूप से हुई। कवि लोग साधारणतः आर्थिक दृष्टि से निम्नवर्ग के थे। राजसभा में धीरे-धीरे कवि के व्यक्तित्व और काव्य की प्रतिष्ठा हो चली। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से अभ्युदय-प्राप्ति के लिये ये कवि उद्योगशील हुए। कवि और आचार्य रूप में कीर्तिलाभ के लिये जहाँ ये लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन करते थे वहीं ऐसे ग्रन्थों का निर्माता बनने की स्पृहा भी इन लोगों में जागृत हुई क्योंकि काव्य लक्षण और कवि-कर्म का जब प्रचार-प्रसार हुआ तब काव्य-शास्त्र का ज्ञाता और रचयिता हुए बिना कीर्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति संभव न थी। इसलिये भी कविजन रीति ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हुए। संस्कृत के जानकारों ने संस्कृत से रीति की सामग्री उधार ली; बहुतों ने तो भाषा के ही ग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ लिखे। परिणाम यह हुआ कि प्रारंभिक जानकारी देने वाले लक्षण ग्रन्थ ही अधिकतर लिखे जा सके। संस्कृत में प्राप्त सांगोपांग काव्यशास्त्र हिन्दी में प्रतीत न हो सका क्योंकि भाषा के काव्यकर्ता प्रमुखतः कवि थे; आचार्यत्व की उन्हें लिप्सा थी। रीति ग्रन्थों की रचना के एक अन्य कारण का भी अनुमान किया जाता है वह है काव्य-रचना की गुरु-शिष्य परंपरा का आरंभ। केशव, मतिराम ऐसे काव्याचार्यों के कुछ शिष्य भी हुआ करते थे जो उनसे काव्य रचना पद्धति की शिक्षा लिया करते थे। उस्ताद और शागिर्द की परंपरा फारसी और उर्दू के शायरों की देखादेखी तो हिन्दी में थोड़ा-बहुत चली ही स्वतः भी चली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार काव्य-रचना करने-कराने की एक व्यवस्थित पद्धति विकसित हुई भले ही उसका सम्यक् विकास न हो सका। शिष्य कालांतर में गुरु बनने की आकांक्षा से आचार्यत्व सूचक लक्षण ग्रन्थों के प्रणयन में निरत हुआ। फलतः कवि संस्कृत में विद्यमान अलंकार शास्त्र का थोड़ा बहुत अध्ययन कर हिन्दी में उसे उतारने लगे। इन कारणों

से रीति या लक्षण ग्रन्थों की भाषा-काव्य परंपरा में ऐसी बाढ़-सी आ गई कि यह युग का युग ही ऐतिहासिकों द्वारा 'रीतिकाल' कहा जाने लगा।

श्रृङ्गारिकता—श्रृंगारिकता रीति काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है। समूचा रीतिबद्ध काव्य यहाँ तक कि लगभग पूरा का पूरा रीतियुगीन काव्य श्रृंगार-भावना से ओत-प्रोत है। कृष्ण भक्ति की पूर्ववर्तिनी काव्यधारा में तो श्रृंगार का स्थान था ही फलतः इस युग में प्रवाहित कृष्णकाव्यधारा में तो प्रगाढ़ श्रृंगारिकता आई ही साथ ही साथ चलने वाली मर्यादा-प्रवण रामभक्ति काव्य धारा भी श्रृंगारिकता तो क्या ओछी रसिकता से ओत-प्रोत हो चली, कुछ सन्तों पर भी उसका प्रभाव पड़ा तथा सूफी तो श्रृंगार और लौकिक सम्भोग के कायल थे ही। हाँ, वीर और नीति काव्य की धारा श्रृंगारिक प्रभाव से अपेक्षाकृत मुक्त रहीं। श्रृंगारिकता के इस सर्वतोमुखी प्रभाव के कारण अनेक हैं। पहला कारण तो समसामयिक युग का प्रभाव ही जान पड़ता है। युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ श्रृंगारप्रधान काव्य के ही अधिक अनुकूल थीं। राजनीतिक दृष्टि से देश विभक्त था, युद्ध जर्जर था। हिन्दू पादाक्रान्त हो अधःपतन के गर्त में जा चुके थे। देश की राजनीति में सब तरह की क्षुद्रता आ गई थी। मुसलमान विलास-जर्जर थे। क्या हिन्दू राजे क्या मुसलमान शाह और नवाब व्यक्तित्वहीन सन्ततियों को जन्म दे रहे थे। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमणों से रहा-सहा नैतिक बल भी जाता रहा; शासक शक्ति के संभोग-प्रधान आदर्श सभी नवाबियों और रियासतों में मान्य हुए क्योंकि क्षीणबल जीवन में इससे महत आदर्श ही नहीं रह गया था। पार्थिव सुख के समग्र उपकरण जुटाकर ये लोग अतिशय तुष्ट थे।[1] अचिर अस्थिर जीवन का प्रदीप राजनीतिक विग्रहों के झंझावात में कब बुझ जाय ! इस आशङ्का से राज्य शक्तिसम्पन्न व्यक्ति, उनके सभासदादि जीवन के पूर्ण उपभोग में विश्वास करने लगे थे। फलतः जीवन के भोग और विलासप्रधान स्वरूप के चित्रण में रीतिकालीन कवि प्रवृत्त हुए; क्योंकि इन कवियों के आदर्श आश्रयदाता राजा, रईसों, नवाबों और मनसबदारों के आदर्श से

गुलगुली गिलमैं हैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं ॥
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुशाला हैं, विशाला चित्रशाला हैं ॥

भिन्न न थे। सामाजिक दृष्टि से रीतिकालीन शृंगार काव्य के कर्ता सामान्य, दलित या शोषित वर्ग के व्यक्ति थे। किन्तु राजा, रईस, अमीर उमरावों के आश्रय में आकर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर ये लोग सामान्य जन समुदाय के कृषकों और मजदूरों को भूल चुके थे। ऐश्वर्य और भोग के परवर्ती संस्कारों ने दैन्य और दारिद्र्य के पूर्ववर्ती संस्कारों पर विजय पा ली थी। उधर मुगल शाहों के दरबारों और राजा-रईसों के भवनों में ऐश्वर्य और वैभव का समुद्र लहरा रहा था। वैभव का विलास से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इन राजभवनों में कितनी ही रानियाँ, रक्षिताएँ, शिक्षिकाएँ, कुटनियाँ और दूतियाँ रहा करती थीं। वाह्य जीवन में अस्थिरता, अव्यवस्था, असंतोष और क्षोभ के उपकरण विद्यमान थे। उनके निवारण की ओर ये शक्तिसम्पन्न राजे, रईस, शाह और नवाब तत्पर न हुए। जीवन की गम्भीरता सच्चाइयों से मुँह मोड़ ये लोग घर की चहारदीवारी के भीतर ही जीवन का चरम आनन्द लूटने लगे जैसा कि डा० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है[२]—"भक्ति युग में हिन्दुओं को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पड़ा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिंताजनक नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोकनायक महात्माओं ने आध्यात्मिक विश्वासों का ऐसा मांगलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिन्दुओं ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नहीं खोया था। परन्तु रीतिकाल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आंतरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ घर की चहारदीवारी में ही सीमित रह गईं।........ निदान विलास की सरिता दोनों कूलों को तोड़ कर बह रही थी। विलास का केन्द्र-विन्दु थी नारी, जिसके चारों ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे।....आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिये। इस युग में यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकांक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मँडरा सकती थीं। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन में आए, पर उन सभी में काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नहीं हुई। कारण यह था कि उन युगों में नैतिक आदर्श दृढ़ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पड़ते थे। परन्तु रीति काल में कृष्ण भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक सङ्कोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप में होती थी।" इस कामोपासना में रीति के कवियों ने पूरा-पूरा योग दिया। रूप, विलास, ऐश्वर्य,

---

[२] रीति काव्य की भूमिका : (सन् १९५३) पृ० १९८

कामक्रीड़ा और सम्भोग के चित्रण में इन शृंगारी कवियों ने अपनी लेखनी का कमाल दिखलाया। ये कवि आपादचूड़ काम रस में डूबे हुए थे। राधा अथवा गोपी कृष्ण के चले आते हुए वर्णन के व्याज से इन कवियों ने उस युग के ऐहिक और विलासपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत की। रीतिकाव्य में वर्णित तमाम दूतियाँ, नायिकाएँ, अभिसारिकाएँ, मुग्धाएँ, गणिकाएँ आदि शाहों और सामन्तों के घरों की कुटनियों, रक्षिताओं और वेश्याओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं। धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि रीतिकाल में आकर धर्म सम्प्रदायों का भी ह्रास हो चला था। महात्मा तुलसीदास के मर्यादापुरुषोत्तम इस काल में आकर 'रसिकेश' हो गये थे और परम शृंगारी कृष्ण की प्रतिद्वन्द्विता करने लगे थे। कृष्णभक्ति के नाना सम्प्रदाय विकसित हो चले। स्वयं वल्लभ-सम्प्रदाय की गोकुल, कामबन, काँकरौली, नाथद्वार, सूरत, बम्बई और काशी में सात गद्दियाँ स्थापित हुईं। गद्दियाँ स्थापित होने के अनन्तर गद्दीधारी महन्त भी समसामयिक रुचि में ही तन्मय हुए। इन्हें सर्वसाधारण से सरोकार न था, राजाओं और श्रीमानों को दीक्षित करने में ये लोग विशेष अभिरुचि रखते थे। भक्त महंतों ने वैभव और ऐश्वर्य की पूजा-अर्चा शुरू की, मठ और मन्दिर देवदासियों एवं मुरलियों की नूपुरध्वनि से अनुरणित होने लगे। मध्व, निंबार्क, चैतन्य, राधावल्लभीय आदि अधिक प्रचारप्राप्त कृष्ण भक्ति संप्रदायों में इस प्रकार शृंगार-भावना ही प्रधान हो गई। रीतियुगीन सगुणभक्ति काव्य में इसी कारण शृंगार का तत्व उभर कर सामने आता है यहाँ तक कि समसामयिक रीति शृंगार काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य में विशेष अन्तर नहीं रह गया है।

रीतियुगीन काव्य की शृंगारिकता का दूसरा प्रधान कारण है राजदरबारों में कवियों का आश्रय प्राप्त करना। इस युग में विभिन्न राजदरबार, काव्य रचना के केन्द्र हो गए तथा अधिकांश कवि राजकवि या राज्याश्रित कवि का पद सुशोभित करने लगे। कवि लोग यश और सम्मान प्राप्ति के लिए राजा, रईस और सामन्तों के मुखापेक्षी होने लगे। बिना राजसभा में बड़प्पन पाये कवि की प्रतिष्ठा नहीं होती थी और न उसकी धाक ही जम पाती थी। हाँ किसी राज दरबार का मण्डन हो जाने पर कवि की कीर्तिकौमुदी शीघ्र ही पसर जाती थी। इन राजदरबारों का शृंगार और विलासिता से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था फलतः रीतिकाल में काव्य और शृङ्गार तत्व बहुत कुछ अभिन्न हो गये थे। मध्यकालीन राजदरबारी संस्कृति में पली कविता का शृंगारिक होना प्रायः सभी विद्वानों को मान्य है। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि, "राजदरबारों में हिन्दी कविता को अधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्णभक्ति की कविता को अधःपतित होकर वासनामय उद्‌गारों में परिणत हो जाने का अधिक अवसर मिला। तत्कालीन नरपतियों की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिए कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिन्दी के कवियों ने लौकिक

मर्यादाहीन प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ कीं। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीतिकाल की कविता शृंगाररसमई हो गई और अन्य प्रकार की कविताएँ उसके सामने दब-सी गईं।"[१] डा० रसाल का मंतव्य भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही है—"साधारणतया हम कह सकते हैं कि इस समय में साहित्य रचना के केन्द्र प्रायः राजदरबारों में ही थे।....मुगल दरबार की विलासप्रियता तथा फारसी भाषा के शृंगारप्रधान साहित्य से प्रवाहित होकर राजदरबारी तथा धनी-मानी लोगों की, जो कवियों के आश्रयदाता होने लगे थे, विलासिता की रुचि भी अपना प्रभाव पूर्ण रूप से साहित्य पर डाल रही थी। अतएव साहित्य में शृंगार रस की प्रधानता एवं प्रचुरता होने लगी।....चारित्रिक ह्रास से इस रुचि को और भी प्रौढ़ता प्राप्त हुई और शुद्ध शृंगार के स्थान पर अश्लील श्रृङ्गार की बढ़ती-सी होने लगी।"[२] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि, "इन दो वर्गों के मध्य में कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों आदि कलावन्तों का वर्ग था जो प्रायः उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोदन करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरञ्जन इन कवियों और कलावन्तों को करना पड़ता था, उस वर्ग को संतुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है, वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं था। उसके लिए इन्हें पुस्तकी विद्या की आवश्यकता थी। दो मूलों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था—रतिरहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थों से और दशरूपक रसमञ्जरी आदि नायिकाभेद का वर्णन करने वाले ग्रंथों से।"[३] इन ग्रन्थों के सहारे इन कवियों या कलावन्तों ने राज-सभा में अपने आश्रयदाता के मनोविनोदनार्थ श्रृङ्गार की सामग्री जुटाई। इस प्रकार इस युग के काव्य की श्रृङ्गारिकता का राजदरबारों से अविच्छेद्य सम्बन्ध प्रमाणित होता है। यह तो सभी जानते हैं कि रीतिकविता राजा और रईसों के आश्रय में पली। ये राजा और रईस निश्चिन्त और विलासप्रिय अधिक थे, अपनी राज्य शक्ति को सुदृढ़ कर सामयिक राजनीति के प्रति सजग रहने वाले कम थे। बिहारी के आश्रयदाता मिर्जाराजा जयसिंह की विलासिता की प्रसिद्ध कथा उक्त तथ्य का ज्वलन्त दृष्टान्त है; वे एक कली पर ही आसक्त थे और उससे विरत नहीं होते थे। ऐसे आश्रयदाता राजाओं में न तो आत्मगौरव ही था और न अपने कर्तव्य का ज्ञान। भोग-लिप्सा ही उनका जीवन था

१, डा० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी साहित्य, पृ० २४२

२, डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १६३१) पृष्ठ ३८३

३, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य पृ० २६६.

"अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को—विनोद के सभी रसालायों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिसमें सुबाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ तान तुकताला और गुणी जनों का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का रसाला ही नहीं थी एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृङ्गार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्सङ्ग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक और संस्कृत बनता था।"[1] इस प्रकार काव्य जहाँ भोग और शृङ्गारिकता के उत्तेजक उपकरण के रूप में राजदरबारों में स्वीकृत हुई वहीं कलाप्रेमी व्यक्तित्व के विकास में सहायक भी। स्पष्ट है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ग्राह्य कविता शृङ्गारिक हो सकती थी।

रीतियुगीन काव्य की श्रृंगारप्रवणता का तीसरा कारण है पूर्ववर्ती कृष्णभक्ति काव्य का प्रभाव। भक्तिकाल के अंतिम चरण में कृष्ण भक्त कवि कृष्ण लीलाओं का उत्साहपूर्वक वर्णन एवं गायन कर रहे थे। कृष्ण, राधा और गोपियों के रूप, सौन्दर्य एवं प्रेमादि के वर्णनों से कृष्ण भक्ति काव्य ओत-प्रोत था। गोपी कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण की यह मधुराभक्ति रीतियुगीन वातावरण एवं कवि समाज के लिए परमोपयोगी सिद्ध हुई क्योंकि इसके बहाने उन्हें अपना लोक-परलोक दोनों सुधरता दिखाई दिया। गोपी कृष्ण के प्रणय-प्रसंगों के वर्णन में कवि की निजी रुचि तो व्यक्त होती ही थी; कविजनों के रीझने लायक वर्णन हुए तो कवित्व की प्रतिष्ठा हुई अन्यथा राधाकन्हाई का स्मरण ही सही—

आगे के सुकवि जो पै रीझि हैं तो कविताई।
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥
(भिखारीदास)

यह भक्ति आई कहाँ से है? स्पष्टतः यह भक्तिकालीन भावना ही है जो रीति काल में जगह-जगह व्यक्त हुई है—

राधा अरु नन्दलाल कौ जिन्हें न भावत नेह।
परियौ मुठी हजारदास तिनकी आँखन खेह॥
(देव)

होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तपु कीजै।
ह्वै बनमाल गरै लगियै अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥
(मतिराम)

---

1. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १३२

किन्तु यह भक्ति है श्रृंगार भावना के ही आधीन । राधा-कृष्ण के प्रणय, मिलन, रास, संभोग, परिरंभ आदि के कितने उन्मादक चित्र सूर आदि ने प्रस्तुत किये हैं। भक्तों के पवित्र चित्त से निर्गत होने के कारण ये काव्य कितने ही पवित्र रहे हों किन्तु साधारण पाठकों को इनका भौतिक पक्ष ही सबल प्रतीत हुआ। उसमें उन्हें तथा परवर्ती कवियों को श्रृंगारिकता की ही विशेष प्रतीति हुई। इतना ही नहीं श्रृंगारी वृत्ति वाले कवियों को इस प्रकार की काव्य सृष्टियाँ विशेष प्रेरणाप्रद भी हुईं। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि कृष्ण भक्ति की श्रृंगारिक काव्य परंपरा से रीति कवियों को नैतिक अनुमति तो प्राप्त हो चुकी थी अतएव श्रृंगार काव्य की रचना करते हुए उन्होंने एक तो वही विषय उठाया और दूसरे अप्राकृतिक संकोच और दमन[1] को अनावश्यक समझ काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप में की। 'इस प्रवृत्ति का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि रीति-श्रृंगार काव्य दमित या रुग्ण मनोवृत्ति की उपज न हो सका अपितु अकुंठ चित्त से प्रस्तुत भावों की निश्छल अभिव्यक्ति का रूप पा सका। यों तो प्रेम ही किसी न किसी रूप में भक्ति युग का भी एक प्रधान प्रतिपाद्य था क्योंकि सन्तों ने प्रेम को ही जीवन का सार ठहराया था तथा उक्त उद्देश्य के लिऐ श्रृङ्गारी रूपक बाँधे थे। प्रेम की पोर के गायक सूफियों की प्रणय-भावना में लौकिक प्रणय (जिसमें संभोग का पूरा-पूरा स्थान था) और श्रृङ्गारिकता भरपूर थी। रामभक्ति की परम्परा में रसिकता आ ही चली थी और कृष्ण भक्ति काव्य तो श्रृङ्गार संबलित था ही अतएव रीतिकाल में सर्वत्र परिलक्ष्यमान श्रृङ्गारिकता की प्रबल प्रवृत्ति के मानसिक स्वरूप की भूमिका भक्ति युग में ही बँध चुकी थी; एक सीमा तक भक्ति युगीन प्रेम भावना रीतिकालीन श्रृङ्गारिकता का आधार और प्रेरणा स्रोत भी कही जा सकती है। रीतियुगीन प्रेम का अधःपतित स्वरूप समसामयिक वातावरण एवं परिपार्श्व में देखा जा सकता है जैसा कि पहले प्रमाणित भी किया जा चुका है। भक्ति काल के अलौकिक आलम्बन कृष्ण और राधा रीति काल में सामान्य नायक-नायिका के रूप में चित्रित किये गये। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "मधुर भाव की कृष्णभक्ति ने भी अपने ढंग से नायिका भेद के साहित्य को प्रभावित किया था यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव इस काल के साहित्य पर नहीं पड़ा परन्तु परोक्ष रूप से उसने इसे प्रभावित अवश्य किया। यही कारण है कि इस सम्पूर्ण श्रृङ्गारी साहित्य के भीतर गोपी और गोपाल का नाम अवश्य आ जाता है। रीतिकाल के श्रृंगारी साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें श्रृंगार के आश्रय भी उस युग के धर्म और अध्यात्म के आश्रय

---

[1] डा० नगेन्द्र: रीतिकाल की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५८

की भाँति श्रीकृष्ण ही हैं[1] ।" भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियों का शृंगारी काव्य रीति की शृंगारी रचना की प्रेरणा बनी—इस तथ्य को आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया है—"श्रृङ्गार काल की प्रस्तावना भक्ति काल के भीतर हो गई थी । राधाकृष्ण की जैसी प्रेम-क्रीड़ा का वर्णन कृष्ण भक्त कवि कर चले वह शृंगार का बहुत बड़ा अवलम्ब सिद्ध हुई ।"[2] न केवल वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों में अपितु समस्त कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में मधुर भाव की उपासना प्रचलित हुई । "भक्ति की पिछले काँटे की रचना काव्य दृष्टि से शृंगार की ही रचना हो गई, भले ही उसे हम लौकिक शृंगार की सीमा में न घेर सकें, पर वह श्रृङ्गार का ही परिष्कृत, संस्कृत या ईश्वरसम्बद्ध—चाहे जो नाम रखें —रूप हो गई ।..........पर भारतीय काव्य परम्परा में आचार-निष्ठता का ध्यान बराबर रखा गया है । शृंगार काल में कवियों ने नायक-नायिकाओं की प्रेमलीलाओं का निरूपण आरम्भ किया तो उसमें स्वकीया प्रणय के विस्तार का अवकाश न मिला । ....अलौकिक दृष्टि से भक्ति के भीतर जो दाम्पत्य प्रेम रखा गया वह सर्वत्र स्वकीया का प्रेम न रहा, क्योंकि उपास्य और उपासक या आकर्षक और आकृष्ट के रूप की लम्बी-चौड़ी भूमि परकीया प्रेम के परिष्कार में दिखाई पड़ी, जिसमें अलौकिक सम्बन्ध का आरोप होने लगा । इस प्रकार प्रेम की विवृत्ति ने साहचर्य में परकिया-प्रेम के विस्तार विशेष उत्तेजना प्राप्त हुई । हिन्दी साहित्य को उस समय जिस साहित्य से प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी उसमें परकीया प्रेम का बाहुल्य था । प्रतिद्वन्द्विता से पीछे हटने पर कवियों की हेठी होती थी अतः नायिका भेद से परकीया प्रेम ले लिया गया पर आचारनिष्ठता को ध्यान में रखकर प्रेम के आलम्बन श्रीकृष्ण और राधिका माने गए । प्रेम की घोर वासना-पूर्ण रचना करने वालों ने भक्ति की श्रृङ्गारिकता की ओट लेने का पूरा प्रयत्न किया। ....इस प्रकार रीतिकाल में जितनी रचना हुई उसमें प्रायः हरि और गोपी या राधा का कीर्तन तो मिलता है पर उसे भक्ति की रचना नहीं कह सकते । इन कवियों ने भक्ति की शृंगारमयी रचना का भक्ति वाला अंश त्याग दिया । आवरण के रूप में भक्ति अवश्य रह गई, पर सारी रचना लौकिक प्रेम प्रसंगों की ही प्रस्तुत होने लगी ।"[3]

रीतिकाव्य में व्याप्त श्रृङ्गारिकता का चौथा कारण पूर्ववर्ती एवं सामयिक संस्कृत एवं फारसी साहित्य की परम्पराओं का प्रभाव भी है । समसामयिक वाता-

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य, पृ० २९९–३००

२ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, श्रृङ्गारकाल पृ० ३७२

३. वही पृ० ३७३–७४

कारण तथा जिन अन्य बातों की चर्चा शृंगारिकता के कारण रूप में ऊपर की गई है उनमें एक कारण यह भी था – संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय एवं कामशास्त्रीय ग्रन्थों का सहारा भी इस युग के कवियों ने लिया। संस्कृत के अमरुक शतक, भर्तृहरि के शृङ्गार शतक तथा प्राकृत के शृंगार काव्यों से भी रीतिकालीन कवियों की काव्य-भूमि को पोषण प्राप्त हुआ। संस्कृत-प्राकृत से होकर आती हुई लौकिक प्रेमपरक काव्यधारा तथा नायिका भेद आदि के ग्रन्थों से रीतिकवियों ने अपने युग एवं रुचि तथा प्रकृति के अनुरूप तत्वों को ग्रहण किया। इसके साथ ही साथ रीतिकाल में ही राजदरबारों में फारसी साहित्य की परम्परा भी समान्तर रूप से चल रही थी। फारसी के समृद्ध एवं शक्तिशाली साहित्य का प्रभाव भी रीति कवियों पर पड़ा इसमें सन्देह ही क्या ! उनका काव्य-विषय भी शृङ्गार था। प्रेम लौकिक प्रेम के एक-एक पहलू पर हर नजर से ये शायद विचार करते थे और उक्तियाँ बाँधते थे। उसी साहित्य के मुकाबले में ब्रजभाषा के कवियों को अपनी भाषा की कविता को खड़ा करना था फलतः चेतन या अचेतन रूप से यह साहित्य फारसी काव्य की परम्पराओं से अवश्य प्रभावित हुआ। कुछ तो नवीनता के कारण फारसी साहित्य ने आकर्षित किया, कुछ मुसलमानी राजदरबार की भाषा होने के कारण, कुछ उसकी अभिज्ञता को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलने के कारण बड़े-बड़े मुसलमानी राजदरबारों में फारसी, संस्कृत, ब्रज सभी भषाओं के कवि रहा करते थे। शृङ्गार प्रधान फारसी मुक्तक छन्दों या अक्षरों की जोड़ और बराबरी में संस्कृत एवं हिन्दी के कवियों को अपनी मुक्तक रचनाएँ रखनी पड़ती थीं और वे भी शृङ्गार प्रधान। अपने यहाँ नायक-नायिका भेद ही जोड़-तोड़ के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विषय था। संस्कृत और हिन्दी के कवि फारसी वातावरण और वर्ण्य तो अपने काव्य में रख नहीं सकते थे, उन्हें अपनेपन की और स्वदेशीपन की भी रक्षा करनी थी और कोरी नकल करके वे पार नहीं पा सकते थे। उसमें स्वाभिमान की भी रक्षा सम्भव न थी फलतः संस्कृत के नाट्य-ग्रन्थों से नायक-नायिका-भेद लाकर इन संस्कृत हिन्दी के कवीश्वरों ने उसे दरबारी प्रतिस्पर्धा की कविता का विषय बनाया। फारसी शायरी के आशिक-माशूकों और रकीबों की प्रणय-चेष्टाओं एवं वचनभंगियों की जोड़-तोड़ पर भाषा कवियों ने नायक-नायिका भेद से ही बहुत प्रकार के प्रेमी-प्रेमिकाओं को निकाला, नायक-नायिका-भेद का अतिशय विस्तार किया और उनके नाना प्रकार के प्रणय-व्यापारों एवं चेष्टाओं, प्रणय की अभिव्यक्तियों तथा सम्भोग वर्णन के बहुसंख्यक रसीले चित्रों द्वारा उन्होंने भी दरबारों में अपने निजत्व और देशीपन की रक्षा करते हुए बड़ा रंगीन साहित्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार रीतिबद्ध काव्य की शृंगार-प्रवणता का दरबारदारी और फारसी शायरी की प्रतिद्वंद्विता भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारण रहा है।

कलात्मकता—रीति काव्य की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति है कलात्मकता। समूचे रीतिकालीन काव्य में कलाकार का जैसा और जितना आग्रह रहा है वैसा और उतना आग्रह हिन्दी साहित्य के किसी दूसरे युग में देखने को नहीं मिलता। इस काल का कवि कला के प्रति विशेष जागरूक था। इस काल के काव्य में भावतत्व एक बार पिछड़ जाय तो पिछड़ जाय परन्तु कला-कौशल या उक्ति-चमत्कारशून्य रचना कदापि सह्य न थी। हो सकता है रीतिकालीन काव्य की कलाप्रधानता के पीछे साहित्य का यह सिद्धांत कार्य कर रहा हो कि साहित्य के आरम्भिक युगों में भावप्रधान काव्य लिखा जाता है और बाद में कवि कला के उत्कर्ष की ओर विशेष प्रवृत्त देखे जाते हैं। युग की प्रवृत्ति में भी कला-प्रधानता का करण ढूँढ़ा जा सकता है। यह युग विलास और भोग का था इसी कारण अनुरूप साहित्य की सृष्टि हुई। जीवन की गंभीर विवेचना करने वाला साहित्य इस युग में प्रणीत न हो सका जितना कि चमत्कृत करने वाला। यह चमत्कार शब्द-योजना, नाद-सौन्दर्य, अलंकरण, कल्पना अथवा उक्ति वैलक्षण्य आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया। वैसे इस युग में लिखा गया फारसी का साहित्य भी हल्का चमत्कारक ही रहा, उसके प्रभावस्वरूप भी रीति काव्य में आलंकारिता आई। रीति अथवा लक्षण का अनुधावन करते हुए तो रचना अलंकृत हुई ही, उक्ति अथवा कथन को सजाना इस युग का एक फैशन-सा हो गया था। सेनापति, बिहारी, मतिराम, पद्माकर सभी इस बात के कायल थे। सहजोक्ति में कवित्व का अधिवास ही नहीं माना गया। कविता को, 'भूषन बिनु न विराजई' तो केशवदास ने ही कहा किन्तु यह बात सिद्धान्ततः स्वीकार सभी रीतिकवियों को हुई। अलंकारों में भी भाव की गंभीरता का विधान करने वाले अलंकार अल्प व्यवहृत हुए, उक्ति का चमत्कार प्रस्तुत करने पर विशेष दृष्टि रही यही कारण है कि कवित्त अथवा सवैये के अंतिम चरण की उत्तमता पर पूरे छंद की उत्तमता निर्भर होने लगी। उक्ति अनूठी हो इस पर सभी की दृष्टि निबद्ध होने लगी। भाषा और छंद को कलात्मकता इसलिये भी प्रदान की गई क्योंकि भाषा-काव्य को फारसी की चटपटी शायरी की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा करना था। ऐसा करते हुए हिन्दी कवियों ने संस्कृत कवियों के भावों एवं उक्तियों का भी जहाँ-तहाँ निःसंकोच भाव से अपहरण किया। यह समझ लेना चाहिये कि रीति ग्रन्थकारों का प्रधान उद्देश्य शास्त्रचिन्तन न था क्योंकि यदि वास्तविक शास्त्र-चर्चा के लक्ष्य से इस काल के लक्षण ग्रन्थ लिखे गए होते तो सूक्ष्म विवेचन द्वारा नए-नए तथ्यों का विधिवत उद्घाटन होता और रीति-ग्रंथों की इतनी बड़ी राशि एकत्र न की गई होती। स्पष्ट है कि काव्य-कौशल का प्रदर्शन रीतिकर्ताओं का प्रमुख उद्देश्य था और यही प्रवृत्ति कला के प्रति विशेषाग्रह का प्रमुख कारण बनी। रीतिबद्ध काव्य अधिकतर तो कला के प्रदर्शन के लिए ही लिखा गया। रीति कवि की इस कलाप्रियता की प्रवृत्ति का विवेचन और उसके

कारणों की खोज डा० नगेन्द्र ने अपने प्रबंध में बड़ी अंतर्दृष्टि के साथ की है [1] — "रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी— काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्त्तव्य कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे परन्तु अपनी काव्य-कला के द्वारा ऐसे राजाओं और रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका संपूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिए मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे।.......(इस काल की कविता) कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तु तत्व (Objectivity) असंदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल्य प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति में न खोज कर आत्मप्रदर्शन की प्रवृति में खोजनी चाहिए। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।"

रीति निरूपण

संस्कृत में काव्यशास्त्र का ऐसा विशद, व्यापक और सूक्ष्म निरूपण और विवेचन हो चुका था कि केशव, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापाहि ऐसे अनेक संस्कृतज्ञ हिन्दी कविया के मन में यह लोभ जागृत हुआ कि संस्कृत की काव्य-रीति की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करें। ऐसा करने का उन्होंने उद्योग भी किया किन्तु काव्य-सिद्धान्तों की जैसी समृद्ध विवेचना संस्कृत में उपलब्ध थी वैसी हिन्दी में प्रस्तुत नहीं की जा सकी। हिन्दी रीति ग्रंथों में जो कुछ भी विवेचित हुआ वह अधिकतर संस्कृत काव्यशास्त्र पर ही आधारित था फिर भी विषयवस्तु और प्रतिपादन-शैली दोनों दृष्टियों से वह उतना प्रौढ़ और गंभीर नहीं है। देखादेखी हिन्दी में रीति ग्रंथों की बाढ़ तो बड़ी आई किन्तु विवेचन और निरूपण हल्का और सतही ही रहा। उसमें गंभीरता, नवीनता, मौलिकता और सूक्ष्मता का अभाव ही रहा। ये कवि अधिक से अधिक कवि-शिक्षा की पाठ्य पुस्तकें ही प्रस्तुत कर सके। रस, अलङ्कार आदि का साधारण निरूपण मात्र हो पाया। कुछ आचार्यों ने अवश्य मौलिकता, जानकारी

---

१. डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ. १३२-३३

और आचार्यत्व का परिचय दिया[1] किन्तु शेष का तात्विक योगदान नगण्य ही रहा। फिर प्राचीन स्थापनाओं का प्रत्याख्यान और अभिनव नियमों और सिद्धान्तों का अन्वेषण तो दूर की चीज थी। एक-दो साधारण रीतिग्रन्थ लिखकर कवि जब आचार्य रूप में प्रसिद्धि पाने लगे तो उनके शिष्यों ने कालान्तर में बिना प्रयास ही साधारण रीतिग्रंथों का प्रणयन कर डाला और चट आचार्य पद पर आसीन हो गये। कवि-शिक्षा का यह क्रम ऐसा चला कि शास्त्र और कवित्व दोनों आहत होने लगे। कविता रीतिबद्ध होकर ह्रासोन्मुख हुई और रीति या काव्यशास्त्र का चलता हुआ या आरम्भिक ज्ञान गंभीर गवेषणात्मक या विश्लेषणात्मक शास्त्रसृष्टि कर सकने में सर्वथा असफल रहा। जिन्होंने रीति ग्रन्थ न लिख काव्य ही लिखा वे ही भले रहे। कवित्व का उनमें कुछ उत्कर्ष ही रहा परन्तु रीति का पल्ला जिन्होंने पकड़ा वे दोनों दीन से गए। केशव, मतिराम, देव, भूषण, पद्माकर, भिखारीदास आदि को अपवाद ही समझना चाहिए। वास्तविक बात यह थी कि हिन्दी के रीति कवि सरस काव्य की रचना द्वारा अपने शौकीनमिजाज आश्रयदाता, राजा, रईसों, उमरावों और संभ्रांत रसिक नागरिकों का मनोविनोदन कर प्रतिष्ठा पाना चाहते थे। कभी-कभी उन्हें अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन की भी स्पृहा होती थी। रीति ग्रन्थ की रचना तो उन्होंने आचार्यत्व की झूठी पदवी के प्रलोभन में आकर की या अपने-अपने आश्रय-दाताओं, कतिपय काव्यरसिकों या नवाभ्यासियों को काव्यांगों का साधारण ज्ञान करा देने के उद्देश्य से की। मौलिक सिद्धान्तों का निर्वचन तो इनका लक्ष्य ही न था, इनमें उसकी क्षमता भी न थी। रीति के ये आचार्य संस्कृत के उन्हीं उत्तरकालीन लक्षण ग्रंथों के सहारे अपने रीतिग्रन्थों के निर्माण में प्रवृत्त हुए जो सरल और सुबोध शैली में लिखे गये थे जिनमें मौलिक सिद्धान्तों की सूक्ष्म मीमांसा तो न थी किन्तु काव्यरीति सम्बन्धी बातों को सरलता से समझाया गया था। उदाहरण के लिए चन्द्रा-लोक, कुवलयानन्द, रसतरंगिणी, रसमञ्जरी आदि। किसी-किसी की दृष्टि साहित्य-दर्पण और काव्यप्रकाश पर भी गई किन्तु मौलिक काव्य सिद्धान्तों के उद्भावक आचार्यों की इस प्रकार की कृतियों—काव्यालङ्कार, काव्यादर्श, काव्यालङ्कार सूत्र, वक्रोक्ति जीवितम्, ध्वन्यालोक, काव्यालङ्कार, सूत्र वृत्ति, ध्वन्यालोक लोचन आदि—तक हिन्दी रीति के आचार्यों को जाने का साहस न हुआ क्योंकि काव्यसम्बन्धी सूक्ष्म तथ्यानुसंधान तथा खंडन-मण्डन द्वारा किन्हीं सिद्धान्तों का निषेध और किन्हीं की स्थापना की। इनमें न तो गम्भीर अभिरुचि ही थी, न उसके लिए अपेक्षित पाण्डित्य ही और न वैसी तथ्यान्वेषिणी मेधा ही। केशव दास ऐसे दो-एक आचार्यों ने दण्डी

---

[1], देखिये डा० सत्यदेव चौधरी कृत 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' जिसमें हिन्दी के रीति आचार्यों के मौलिक शास्त्रचिंतन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

के काव्यादर्श और केशव मिश्र के अलङ्कारशेखर तक की यात्रा की किन्तु सूक्ष्म विवेचन-निरूपण का लक्ष्य उनके सामने भी न था। छन्दोबद्ध रचना भी सूक्ष्म विवेचना के लिए उपयुक्त साधन नहीं प्रस्तुत करती थी। हिन्दी रीति के आचार्य अभिनववादों की कल्पना और स्थापना क्या करते जब उन्होंने काव्यसम्बन्धी मूल-भूत बहुत सी बातों की ही चर्चा नहीं की है। उदाहरण के लिए काव्य का स्वरूप, उसकी आत्मा, रस निष्पत्ति के सिद्धान्त, रस और अलङ्कारों की काव्य में स्थिति, काव्य लक्षण, शब्दशक्ति, गुण, वृत्ति आदि।

वैसे तो संस्कृत में प्राप्य कितने ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दी रीतिकारों के उपजीव्य रहे किन्तु फिर भी प्रमुख रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र के जिन कृती कर्ताओं की कृतियों का हिन्दी रीति शास्त्रीय ग्रन्थों पर प्रभाव रहा वे इस प्रकार हैं—

१. भरत—नाट्यशास्त्र
२. भामह— काव्यालङ्कार
३. दण्डी—काव्यादर्श
४. उद्भट—अलङ्कार सार संग्रह
५. भोज—शृङ्गार प्रकाश, सरस्वती कण्ठा भरण
६. केशव मिश्र—अलङ्कारशेखर
७. अमरदेव—काव्य कल्पलता वृत्ति
८. जय देव—चन्द्रालोक
९. अप्पयदीक्षित—कुवलयानन्द
१०. मम्मट—काव्य प्रकाश
११. विश्वनाथ—साहित्यदर्पण
१२. आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक
१३. भानुदत्त—रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी

हिन्दी में केशव तथा कुछ अन्य आचार्यों ने उपरिलिखित पहले ६ आचार्यों के ग्रन्थों को आधार बनाया शेष कवियों ने अन्य ७ का आधार ग्रहण किया। अलङ्कार ग्रन्थ लिखने वाले हिन्दी कवियों ने अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का सहारा लिया, ध्वनि को महत्व देने वालों ने काव्य प्रकाश का और रस नायिका-भेद के लेखकों ने रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी, साहित्यदर्पण और नाट्यशास्त्र का। यह आधार किसी ने तो स्वाध्याय से प्राप्त किया और किसी ने देखादेखी, श्रुति परम्परा से या योग्य गुरुओं से। इन संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन करने वाले अनेक न थे, अधि-कांश ने आधार भी चलताऊ ढङ्ग से ग्रहण किया। कारण स्पष्ट है। दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। संस्कृत के आचार्य काव्य-सिद्धान्तसम्बन्धी गम्भीर कर्म में रत थे, हिन्दी के कवि साधारण शास्त्रज्ञान के बल पर आचार्य पद पाना चाहते थे। आचार्यत्व उनके पास न था कवित्व जरूर था अतएव चलते हुए ढङ्ग से लक्षण देकर अपनी ललित रचना को वे यथास्थान बिठा दिया करते थे या फिर लक्षण के अनुरूप छंद का निर्माण कर दिया करते थे। लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक यही क्रम रहा। इन रचनाओं को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिकाल के अधिकांश रीति

ग्रन्थकर्ता रीति के आचार्य न थे उनके लक्षण अस्पष्ट और अपूर्ण हैं। उनकी कृतियों के औदाहरणिक भाग ही सुन्दर बन पड़े हैं, उन्हीं में उनकी काव्य-प्रतिभा, भाषाधिकार, सौन्दर्य-कल्पना आदि का सच्चा प्रस्फुटन हुआ है। इसी कारण रीतिकाव्य के कड़े से कड़े आलोचक ने एक बात बेलाग स्वीकार की है। वह यह कि रसों और अलङ्कारो या अभिनव शृङ्गारिक उद्भावनाओं के जितने अधिक सरस और मार्मिक उदाहरण रीतिकाल में प्रस्तुत किये गये उतने संस्कृत के समस्त लक्षणग्रन्थों में भी नहीं मिल सकते।

रीतिकालीन रीति-निरूपण में पहली विलक्षण बात यह हुई कि एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य होने लगे। संस्कृत में यह परम्परा न थी। आचार्य लक्षणों का निरूपण या मत प्रतिपादन करता था उदाहरण यशस्वी कवियों के रखता था। हिन्दी के रीतिकार रीतिनिरूपण भी करते थे और उदाहरण भी खुद गढ़ते थे। संस्कृत में आचार्य और कवि भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते थे हिन्दी में इस प्रकार का कोई भेद न रहा। इस एकीकरण से हिन्दी आचार्यत्व को क्षति पहुँची। काव्य-सिद्धान्तों की जैसी सूक्ष्म विवेचना होनी चाहिये थी न हो सकी, खण्डन-मण्डन तर्क-वितर्क द्वारा स्वमत स्थापन, अभिनव सिद्धान्त निरूपण आदि कुछ न हो सका। एकाध दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर काम चलता किया गया, काव्य-कौशल का निदर्शन उदाहरण रूप में दिये गये कवित्त सवैयों में किया गया। एक श्लोक या चरण में ही लक्षण देने की यह पद्धति चन्द्रालोक से ग्रहण की गई। फल यह हुआ कि अलङ्कारादि का स्वरूप विश्लेषण तक ठीक-ठीक न हो सका। इसका एक कारण यह अवश्य था कि ये रीति ग्रन्थ पद्यबद्ध थे। पद्य में सिद्धान्तों की सूक्ष्म और तर्कसम्मत विवेचना सम्भव नहीं। अनेक स्थलों पर लक्षण भ्रामक हो गये हैं और उदाहरण सदोष या अनुपयुक्त। शब्दशक्ति, ध्वनि, रूपक या नाट्य-सिद्धान्तों का विवेचन तो न के बराबर ही रहा। कहने का आशय यह है कि गम्भीर शास्त्र-चिंतन तो दूर सफल, सुबोध और सच्चा काव्याङ्ग निरूपण तक मुश्किल से मिलता है। ऐसी स्थिति में अलङ्कार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य आदि काव्य मतों के विवेचन का सवाल ही नहीं उठता। इधर रीतिकाव्यालोचकों और अनुसन्धानकर्ताओं ने अवश्य विभिन्न रीतिकारों को विभिन्न काव्य सिद्धान्तों का मानने वाला सिद्ध करने की अथवा उन्हें विभिन्न मतों के पृथक-पृथक वर्गों में डालने की चेष्टा की है[1]; परन्तु उक्त काव्य सम्प्रदायों की स्थापना या प्रवर्तन का काम हिन्दी में नहीं हुआ, यह सत्य है। उपर्युक्त विवेचन

---

[1], हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग) सन् १९५९ पृ० ४२७-४५९ तथा डा० नगेन्द्र: रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५४-५७ भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीति साहित्य (सन् १९५६) पृ० २८-१०४

से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक और सहृदय कवि थे, काव्यरीति के ज्ञान से अधिक उसके प्रयोग और व्यवहार में प्रवीण। उनका उद्देश्य काव्य-सृजन था। शास्त्रचिन्तन या प्रौढ़ काव्याङ्ग-निरूपण नहीं। सच बात तो यह है कि संस्कृत में काव्यचिंतन पूरी प्रौढ़ता को पहुँच चुका था, उस परिपक्व सैद्धान्तिक विचारणा से ही हिन्दी रीतिप्रेमी पूरी तरह अवगत नहीं थे, उससे आगे जाकर कुछ कह सकने की तो बात ही वृथा है। पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के अधोलिखित कथन से[१] उक्त मत की पुष्टि होती है "यदि रीति का विवेचन इनका साध्य होता तो ये संस्कृत के आचार्यों की भाँति प्रत्येक विषय के विमर्श में लगते, दोहों में लक्षण देकर काम चलता न करते। शास्त्र के पुराने विवेचक पहले से प्रस्तुत ग्रन्थों या विवेचित पक्षों को हृदयङ्गम करते थे, तब उस पर अपना स्वच्छन्दमत प्रकट करते थे। हिन्दी के ये आचार्य तो काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, रसतरंगिणी, रसमञ्जरी, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, वृत्तरत्नाकर में से एक या दो ग्रंथ सामने रख लेते और लक्षणों का टेढ़ा-सीधा पद्यबद्ध उल्था करके हिन्दी में संस्कृत-उदाहरण से मिलता-जुलता दूसरा उदाहरण गढ़ देते थे। कहीं-कहीं लक्ष्य का भी उल्था ही दिया जाता था। फल यह हुआ कि जहाँ रीति के विवेचन का अल्प प्रयास दिखाई भी पड़ा वहाँ भी सारा ग्रंथ भ्रान्तिशून्य न बन सका। विषय पूर्णतया हृदयङ्गम करके यदि ग्रन्थ प्रस्तुत किये जाते तो ऐसा प्रायः न होता। केशव, देव, दास, पद्माकर ऐसे आचार्यों से भी संस्कृत की विवेचित सामग्री का संग्रह करने में भ्रान्ति हो गई है. फिर औरों की तो बात ही क्या!"

यह बात निर्विवाद ही है कि भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की काव्यविषयक गंभीर मीमांसा के रहते हुए हिन्दी राज्याश्रित कवि कोई नया काव्य-चिन्तन नहीं कर सकते थे। स्थूल नियमों को बोधगम्य रूप से निरूपित कर लेते इतना ही बहुत था। इनके रीति-निरूपण की सदोषता एवं उसके स्तर की साधारणता के ४ कारण डा० नगेन्द्र ने गिनाए हैं[२]—

(१) संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की जिस उत्तरकालीन परिपाटी का वे अनुकरण कर रहे थे, स्वयं उसमें ही खंडन-मण्डन और सूक्ष्म विवेचन की प्रणाली नहीं रह गई थी।

(२) जिसके लिए इन ग्रंथों की रचना हो रही थी वह पंडितों का वर्ग न

---

[१] शृङ्गारकाल (सन् २०१७) पृ० ३५९-६०

[२] डा० नगेन्द्र: रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १३३-३४ (हिन्दी रीतिकारों द्वारा गृहीत रीति निरूपण शैलियों, उनकी मौलिक उद्भावना और आलोचना-शक्ति के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये पृ० १३४-१५४

होकर केवल रसिकों का ही समुदाय था, जिनमें अंतर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने का धैर्य नहीं था। जो केवल उतने ही काव्याङ्ग परिचय की अपेक्षा करते थे जितना कि उनकी रसिकता के पोषण के लिए अनिवार्य था।

(३) गद्य की विवेचना-शैली का अभाव।

(४) अनेक कवियों का अपरिपक्व शास्त्र-ज्ञान।

एक अन्य कारण यह प्रतीत होता है कि जिन लोगों के लिए ये ग्रंथ लिखे गये वे काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान भी रखने वाले नहीं थे फलतः इन ग्रन्थों के माध्यम से काव्य सिद्धान्तों या काव्याङ्गों का प्रारम्भिक ज्ञान कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य था। गम्भीर शास्त्रीय विवेचन की ओर गुरु और शिष्य किसी की रुचि न थी। राज सभा में बड़प्पन पाने के लिए गुरु ग्रंथ प्रणयन करता था और शिष्य उसका अनुशीलन। अपने आश्रयदाता को काव्य-शिक्षा देकर उसका कृपाभाजन बनना भी इन रीतिग्रंथकारों का लक्ष्य था अतएव अनेक रीति-रचयिताओं ने अधूरे या चलते हुए लक्षण देकर उदाहरणों में अपने आश्रयदाता की प्रशंसा भी की है। रीति-रचना और काव्य-प्रणयन दोनों का लक्ष्य गिर जाने से भी शास्त्र और काव्य दोनों की क्षति हुई है। फिर भी उदाहरणों में सरसता या चमत्कार ले आने की कवियों ने कोशिश की और इस उद्देश्य में वे अवश्य सफल रहे। रीतिग्रंथों में चमत्करण का वैशिष्ट्य अवश्य मिलेगा।

काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण या परिपालन की जहाँ तक बात है यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र के इन ५ मतों--अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस में सभी का प्रभाव हिन्दी रीतिकारों पर पड़ा परन्तु विशेष प्रभाव अलङ्कार ध्वनि और रस संप्रदायों का ही रहा, रीति और वक्रोक्ति का नहीं। इन सिद्धान्तों का भी तर्कसङ्गत विवेचन या निरूपण नहीं, उनकी शास्त्रीय चर्चा नहीं वरन् साधारण परिचय ही दिया गया है। रस का गम्भीर विवेचन नहीं है और न उसके आस्वाद या साधारणीकरण आदि की व्याख्या की गई है। समस्त रसों का भी निरूपण ठीक से नहीं मिलता। रस ग्रन्थों में भी नायिका-भेद के विवेचन की ओर विशेष प्रवृत्ति है। हाँ, अलङ्कारों के लक्षणोदाहरणयुक्त विवेचन का प्रयास सबसे अधिक हुआ है।[१] अनेक बार अलङ्कारों का निर्भ्रान्त निरूपण भी संभव नहीं हो सका है, उदाहरण लक्षणानुकूल नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। ध्वनि और शब्द-शक्ति की बहुत ही साधारण चर्चा थोड़े से रीतिग्रंथों में मिलती है। फिर भी इतना तो

[१]. अलङ्कार निरूपण की अधिकता और अलङ्कारों के प्रयोगों की अतिशयता के कारण मिश्र बंधुओं ने इस युग को 'अलंकृत काल' और डा० रसाल ने 'कलाकाल' नाम दे डाला।

है कि औदाहरणिक या काव्य-रचना वाला अंश पर्याप्त आकर्षक बन पड़ा है। और यही इन रीतिकारों का प्रमुख उद्देश्य था। शास्त्रीय प्रणाली को दृष्टि में रखते हुए कवित्व का प्रदर्शन ही इनका अभीष्ट था, साहित्य शास्त्र के विविधाङ्गों का पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन करना नहीं। गुण, रीति, वृत्ति आदि की प्रासङ्गिक या आनुषंगिक रूप से कहीं-कहीं चर्चा कर दी गई है जैसे वृत्ति की चर्चा केशव की 'रसिकप्रिया' में रस वर्णन की शैली के रूप में की गई है। गुणों की चर्चा चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' में कुलपति के 'रस रहस्य में' और श्रीपति, सोमनाथ, दास आदि के ग्रंथों में मिलती है। रति का हल्का वर्णन जगतसिंह के 'साहित्य सुधानिधि' में उपलब्ध है।

यह बात तो सर्वस्वीकृत ही है कि रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ अधिकतर संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर आधारित हैं। संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य-सिद्धान्त के साथ-साथ नाट्य सिद्धान्त और कवि-शिक्षा विषय भी विवेचित हुए हैं परन्तु रीति काल में नाट्य सिद्धान्त और कवि-शिक्षा का विवेचन नहीं के बराबर है। नारायण कृत 'नारायण-दीपिका' हिन्दी का नाट्यविधान संबंधी एक मात्र ग्रंथ है। इसी प्रकार कवि-शिक्षासंबंधी एक मात्र हिन्दी ग्रंथ केशव की 'कविप्रिया' ही है जो रीतिकाल के पहले ही लिखी जा चुकी थी।

हिन्दी के रीति ग्रन्थकार संस्कृत साहित्य शास्त्र के विभिन्न वादों के अंगीकरण या तिरस्करण के फेर में नहीं पड़े। वे अधिकतर अलंकार तथा रस (नायिका-भेद) पर रीति ग्रंथ लिखते रहे। कुछ ने उभय विषयों को उठाया। अलंकार विवेचन के लिए ये कवि अधिकतर अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद और रस या नायिका-भेद विवेचन के लिए भानुदत्त मिश्र की 'रस मंजरी' के ऋणी रहे। संस्कृत के ये आचार्य किसी संप्रदाय विशेष के न थे फलतः इनके हिन्दी अनुकर्त्ता भी किसी वाद या संप्रदाय के मानने वाले न हुए। कछ हिन्दी रीतिकार अनेकांग निरूपक हुए। उन्होंने मम्मट (काव्य-प्रकाश या विश्वनाथ (सहित्य दर्पण) का सहारा लिया। मम्मट और विश्वनाथ क्रमशः ध्वनि और रसवादी थे। इन सिद्धान्तों का प्रभाव हिन्दी अनुकर्ताओं पर भले रहा हो परन्तु सज्ञान भाव से ये इन संप्रदायों के अनुसर्ता थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी रीतिकारों को विभिन्न काव्य संप्रदायों में हम अपनी ओर से बाँट लें तो बात अलग वे किन्हीं संप्रदायों में विभक्त नहीं थे। उनका वह उद्देश्य ही नहीं था। विभिन्न काव्य-मतों की उन्हें सम्यक जानकारी भी नहीं थी अतएव किसी एक के अनु-सरण की बात ही नहीं उठती। मात्र रस या अलंकार-निरूपण की ओर उन्मुख होने के कारण हम किसी को रसवादी या अलंकारवादी नहीं कह सकते।

जब हिन्दी रीतिकार इतनी बड़ी संख्या में रीति ग्रंथों की रचना करते हुए भी अपने कार्य में सफल न हो सके तो स्वभावतया यह प्रश्न उठता है कि ये कवि रीति-ग्रंथों के प्रणयन के फेर में पड़े ही क्यों? क्या इसलिये कि ये हिन्दी साहित्य के विकास-

क्रम से परिचित थे और उसके आधार पर हिंदी को ये अपना रीति शास्त्र बनाना चाहते थे और इस प्रकार हिंदी काव्य का दिशा निर्देशन करना या संस्कृत में उपलब्ध प्रभूत शास्त्र सामग्री को हिंदी में लाकर उसके भंडार की श्रीवृद्धि करना। यदि हिंदी लक्ष्य के आधार पर लक्षणों की रचना कर हिन्दी काव्य का नियमन इनका उद्देश्य होता तो इनके रीति ग्रंथों का औदाहरणिक भाग पूर्ववर्ती हिंदी कवियों के उदाहरणों से ओत-प्रोत होता जैसा कि संस्कृत रीति ग्रंथों में मिलता है। पूर्ववर्ती हिंदी काव्य में उदाहरणार्थ दी जाने वाली सामग्री की कोई कमी न थी। दूसरे यदि हिंदी काव्य के आधार पर रीति के नियमों का निर्धारण इनका लक्ष्य होता तो रीति ग्रंथों में विचार की दृष्टि से कुछ प्रगति या नवीनता आई होती परन्तु दो सौ वर्षों के इस रीतिकाल में रीति-निरूपण या काव्यचिंतनसंबंधी कोई क्रम-विकास या नवीनता नहीं मिलती। यदि कहीं कोई नवीनता मिलती भी है तो वह प्रसंगवश, तत्वचिंतन के परिणाम-स्वरूप नहीं। ऐसी नवीनता का स्रोत संस्कृत के ग्रंथों में ढूँढ़ने पर मिल भी सकती है यदि हिंदी रीतिकारों ने हिंदी रीति ग्रंथों को देखा भी है तो सुविधा और श्रम-लाघव की ही दृष्टि से देखा है रीति विवेचन को अग्रसर करने की दृष्टि से नहीं। उदाहरण के लिए प्रतापसाहि, सोमनाथ और भूषण ने क्रमशः कुलपति, जसवंतसिंह और मतिराम के ग्रन्थों से सहायता ली है। कुछ आचार्य ऐसे अवश्य थे जिनकी दृष्टि हिन्दी काव्य के विकास पर रही जैसे देवदास आदि। इन्होंने सर्वथा नई नायिकाओं का उल्लेख किया है। दास का तुक-वर्णन और दोषविवेचन हिंदी की दृष्टि से मौलिक और महत्वपूर्ण है परन्तु यह नवीनता या मौलिकता हिन्दी रीति विवेचन के परिणाम को देखते हुए नगण्य है। इस क्षमता के आचार्य भी हिंदी में कितने हैं? कहीं-कहीं हमें जो नवीनता मिलती है उसे हम भ्रमवश ही नवीनता कहने लगते हैं उदाहरण के लिए तोष, रसलीन, दास आदि की उद्बुद्ध या उद्बोधिता नामक नायिकाएँ अकबर-शाह कृत 'शृंगार मंजरी' में देखी जा सकती है। केशव के नवीन लगने वाले काव्य-दोष मम्मट के दोष प्रकरण में नाम भेद से, पाये जा सकते हैं। केशव द्वारा वर्णित अंध और बधिर दोष मम्मट के 'प्रसिद्ध-विरुद्ध' और 'असमर्थ दोष' ही हैं। पंगु परंपरागत 'हतवृत्तता' ही है। भूषण के 'भाविक छवि' और देव के 'छत्र' संचारी की भी यही दशा समझिये। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी रीतिकारों का लक्ष्य लक्ष्यग्रन्थों के आधार पर हिंदी के किसी नवीन काव्य शास्त्र का निर्माण करना नहीं था वरन् संस्कृत काव्य-रीति से अनभिज्ञ हिन्दी कवियों और काव्यप्रेमियों को परिचित कराना और इसीलिए उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अधिकतर उल्था किया अथवा आधार ग्रहण करते हुए अपने रीति ग्रन्थ लिखे।

रीति के निरूपण में हिंदी रीतिकारों ने कठिन विषयों का त्याग और सरल विषयों का ग्रहण किया। काव्य-सिद्धान्त विषयक दुरूह विवेचनात्मक प्रसंगों यथा रस-

निष्पत्ति, साधारणीकरण, काव्य की आत्मा, ध्वनिविचार, काव्य का स्वरूप, अलंकार और रस का संबंध, काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, व्यंजना, रससंबंधी भरत सूत्र के व्याख्याताओं के चारों मतों—गुण-अलंकार गत भेद, काव्य दोष आदि गंभीर विवेचनापेक्षी मत-मतांतरों के तो पचड़े में ये सामान्यतया पड़े ही नहीं। इनमें इन सबके विवेचन की न क्षमता ही थी और न धैर्य ही। नायक-नायिका-भेद जैसे रोचक और अलंकार-परिचय जैसे सरस विषयों तक ही इन्होंने अपने को प्रमुखतः सीमित रखा। इस विषय-निर्वाचन से भी इतना स्पष्ट हो जाता है कि गंभीर शास्त्रचिंतन का तो लक्ष्य लेकर ये चले ही नहीं। हिंदी काव्य-रीति के अनेकांग या विविधांग निरूपक आचार्य भी गंभीर शास्त्रचिंतन से विरत ही रहे। स्थूल विषयों के स्थूल वर्गीकरण एवं लक्षण उदाहरण देने तक ही उनका रीतिकर्म सीमित रहा। इक्के-दुक्के कुलपति और प्रतापसाहि जैसे आचार्यों ने जब शास्त्रगत किन्हीं सूक्ष्म समस्याओं को उठाया भी है तो वे उसमें असफल ही रहे हैं। दास और कुलपति ऐसे एकाध मौलिकता लाने वाले आचार्यों का प्रयत्न भी निष्फल ही रहा है। विविधांग निरूपक आचार्यों के प्रयत्नों को यदि सम्मिलित कर दिया जाय तो भी काव्यशास्त्र या साहित्य दर्पण के समान व्यवस्थित और पूर्ण विवेचनात्मक सामग्री प्रस्तुत नहीं की जा सकती। नायिकाभेद विवेचन अपेक्षाकृत अच्छा है परन्तु सर्वथा निर्दोष वह भी नहीं रहने पाया है। भानुदत्त की रसमंजरी के समान नायिकाओं के भेदोपभेदों के अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषरहित लक्षण प्रस्तुत नहीं किये जा सके हैं। इस प्रकार शास्त्रीय वर्ण्य के विस्तार, विवेचना की सूक्ष्मता और शास्त्रीयता तथा प्रतिपादन की गंभीरता आदि के विचार से हिंदी का रीतिकालीन रीतिशास्त्र अपंग है जिसका मूल कारण यही है कि हिन्दी रीतिकार संस्कृत काव्यशास्त्रियों की भाँति गंभीर शास्त्रचिन्तन का उद्देश्य ले कर चले ही नहीं। संस्कृत आचार्य लक्ष्य को दृष्टि में रखकर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण कर रहे थे जब कि हिन्दी आचार्य पहले से बने हुए लक्षणों का आधार मात्र ग्रहण कर सुन्दर लक्ष्य का निर्माण करना चाहते थे। अपने इस उद्देश्य में वे अवश्य सफल रहे। सरस और सुन्दर उदाहरणों का इन्होंने ढेर खड़ा कर दिया जो हिन्दी काव्य की गौरवपूर्ण संपदा है। उनमें अक्षय काव्यसौंदर्य के साथ-साथ तत्कालीन राजसिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन की प्रतिच्छाया भी है। हिन्दी रीति ग्रन्थों में से सरस उदाहरणों की इतनी अधिकता है कि वे लक्षण ग्रन्थ कम लक्ष्य ग्रंथ ही अधिक प्रतीत होते हैं। यह तथ्य भी इसी बात की ओर इंगित करता है कि हिंदी लक्षणकार कवि पहले थे रीतिशास्त्री बाद में जब कि संस्कृत काव्य शास्त्री सच्चे अर्थों में आचार्य थे।

हिन्दी रीति कवियों का रीति-विवेचन न तो पुष्ट, व्यवस्थित और पूर्ण ही है और न मौलिकतासंपन्न। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) ये रीतिकार आचार्य होने के साथ-साथ कवि भी थे। इतना ही नहीं ये कवि पहले थे आचार्य बाद में फलतः ये कवित्व-शक्ति का तो सच्चा निदर्शन करने में प्रयत्नशील थे और आचार्य पद पाने के लोभवश लगे हाथ लक्षणों की रचना द्वारा रीति की परंपरा का अनुसरण भी कर रहे थे। सच बात यह है कि इनका कवित्व इनके आचार्य को आच्छादित किये हुए था। इसीलिए इनका आचार्य कर्म शिथिल और हल्का था। इनका मूल उद्देश्य कवि कर्म था। आचार्य कर्म का आधार मात्र था।

(२) ये आचार्य संस्कृत रीति शास्त्र के निष्णात विद्वान् न थे। केशवदास, भिखारीदास ऐसे कुछ आचार्य इस कथन के अपवाद हैं। कदाचित् वैसी विद्वत्ता की इन्हें आवश्यकता भी न थी क्योंकि दरबार में रहते हुए रसिकों का रंजन ही इनका उद्देश्य था। शास्त्र की गंभीरता को समझने और समझाने की न इन्हें फुरसत थी और न सुनने वालों को। शास्त्र की दुरूह और जटिल तथा सूक्ष्म समस्याओं को ग्रहण करने और उनकी चर्चा सुनने का धीरज किसको था। राजदरबारों के रंगीन वातावरण में इस सब की अपेक्षा न थी। हाँ काव्यरसिकों को अलंकार नायिका-भेद ऐसे रोचक विषयों का हल्का ज्ञान करा देने का उद्देश्य ये कवि अवश्य रखते थे जिससे काव्य-पाठ के समय वाहवाही पूरी मिल सके। इस हल्के और सीमित उद्देश्य के लिये ही ये रीति ग्रंथ लिखे गए थे और अपने इस उद्देश्य में ये रीतिकार अवश्य सफल रहे। दरबारों में ऐसा काव्योपयोगी वातावरण इन रीतिसंबंधिनी रचनाओं द्वारा व्याप्त हो गया था। नवाभ्यासी कवि, काव्यप्रेमी राजे-रईस, कलाप्रेमी वेश्याएँ और सभासद विशिष्ट विशिष्ट अलंकारों और नायिकाओं की जानकारी रखने लगे थे। उधर कवित्त तरंगित हुआ और इधर नायिका विशेष का नाम उच्चरित होने लगा।

(३) फिर हिन्दी की गद्य शैली अविकसित और अशक्त अवस्था में पड़ी थी जब कि संस्कृत का सबल और सशक्त गद्य रीति की बारीकियों को धुन-धुन कर सामने रख चुका था। ये सूक्ष्मताएँ पद्य में लाई ही नहीं जा सकती थीं और फिर दोहा जैसे छोटे छंद के अन्दर जिनका अधिकतर प्रयोग लक्षणों के निरूपण में किया गया।

हिन्दी में रीतिबद्ध काव्य की अपेक्षा क्यों हुई ? इस संबंध में "लोगों ने प्रायः यही अनुमान लगाया है कि हिन्दी में काव्य की सरणि का व्यवस्थित विधान करने के लिये शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण की आवश्यकता हुई और हिन्दी के कवियों ने अपना कर्तृत्व दिखलाया, जो लोग ऐसा कहते हैं वे यह भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दी के ये कर्ता कर्ता ही थे आचार्य नहीं। अर्थात् इन्होंने शास्त्रीय विचार-विमर्श के लिये रीति-ग्रंथों का निर्माण नहीं किया, प्रत्युत अपनी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये उसका अवलंब लिया। यदि इन सब का प्रयोजन साहित्य-विमर्श होता तो जितनी

ग्रंथ राशि इस युग में एकत्र हुई, उतनी की आवश्यकता ही न होती । संस्कृत में शास्त्र-चर्चा प्रभूत परिमाण में हुई है, किन्तु शास्त्र ग्रंथों का ऐसा पहाड़ वहाँ नहीं दिखाई देता । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि रीतिबद्ध काव्य करने वालों का लक्ष्य लक्षणग्रंथ प्रस्तुत करना होता तो इतना अधिक पिष्टपेषण या चर्वित-चर्वण की आवश्यकता न होती । यह तो नहीं कहा जा सकता कि इनमें से किसी ने शास्त्र-चर्चा का लक्ष्य रखा ही नहीं, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्र-चर्चा का स्वच्छंद विचार को खोज निकालने के लिए रीति काव्यों का ढेर फटकने पर भी विफल ही होना पड़ेगा । अतः यह निश्चित है कि काव्य-कौशल का प्रदर्शन यदि सबके लिये नहीं तो बहुतों या अधिकांश के लिए साध्य था ।"[1]

रीति निरूपण की शैली—हिन्दी रीतिग्रन्थकारों के रीति-निरूपण की शैली पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि इस दिशा में भी उन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्रियों की शैलियों का स्थूल रूप से अनुकरण किया है । संस्कृत रीति के आचार्यों की ३ शैलियाँ बताई गई हैं[1]—

१. पद्यात्मक शैली—लक्षण और उदाहरण दोनों पद्य में उदाहरण के लिये दण्डी, उद्भट, वाग्भट्ट प्रथम, जयदेव और अप्पय दीक्षित ।

२. सूत्रवृत्ति शैली—शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध और सूत्रों की वृत्ति गद्य में, उदाहरण पद्य में । उदाहरण के लिये वामन और रुय्यक ।

३. कारिकावृत्ति शैली—शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध, व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति में और उदाहरण पद्य में ।

हिन्दी में पद्यात्मक शैली ही विशेषतया स्वीकृत हुई । रीतिकारों ने शास्त्रीय विवेचन के लिये प्रायः दोहों का उपयोग किया है तथा उदाहरण कवित्त सवैयों में दिये हैं । केशव, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, पद्माकर, बेनीप्रवीन आदि ने इसी शैली को अपनाया है । जसवंत सिंह की शैली कुछ भिन्न है; उन्होंने जसवंत सिंह के समान दोहों में ही लक्षण उदाहरण भरने की चेष्टा की है । शेष दो शैलियाँ हिन्दी में ग्रहीत नहीं हुईं ।[3]

---

[1]. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र :—श्रृंगारकाल, पृ० ३७७-७८

[2]हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (सं० २०१५) पृ० २९३ डा० सत्यदेव चौधरी

[3]वही पृ० २९३ डा० सत्यदेव चौधरी लिखते हैं कि 'सूत्रवृत्ति शैली में रचित हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । कारिकावृत्ति शैली में चितामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसाहि के ग्रन्थों को रख सकते हैं । पर वस्तुतः ये ग्रंथ संस्कृत आचार्यों की इस शैली के ठीक अनुरूप नहीं हैं ।'

कंठाभरण में केवल कवित्त-सवैयों का ही उपयोग किया है। इस शैली को स्वीकार करने वाले बहुत कम हैं।

इसी शैली में कुछ रीत्तिकार तो ऐसे हुए जिन्होंने लक्षण अपने रखे तथा उदाहरण दूसरों के रचे हुए। इसी कारण कुछ ने लक्षण दूसरों के लिखे हुए स्वीकार कर लिये तथा उदाहरण स्वरचित दिये; परन्तु ऐसे रीतिकारों की संख्या कम ही है। कुछ रीतिकार ऐसे हुए जिन्होंने अपने लक्षण अपने आश्रयदाता पर ही घटाए अर्थात् उदाहरण में आश्रयदाता का चरित्रगान किया। कुछ ने उदाहरणों का बाहुल्य रखा। कुछ ने लक्षण एक साथ दिये उदाहरण एक साथ। इस प्रकार रीति निरूपण में कुछ छोटी-छोटी प्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं।

(२) रीति निरूपण की दूसरी शैली विस्तृत पद्धति कही जा सकती है। काव्य प्रकाश, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर की व्याख्यात्मक शैली बहुत कम लोगों ने स्वीकार की। चिंतामणि (कविकुल कल्पतरु, काव्यविवेक), कुलपति (रस रहस्य), श्रीपति (काव्यसरोज), सोमनाथ (रसपीयूषनिधि), भिखारीदास (काव्य निर्णय), प्रतापसाहि (काव्य विलास) आदि ने किसी सीमा तक इसी दूसरी पद्धति का आश्रय लिया। इन कवियों की प्रवृत्ति रीति निरूपण की ओर ही रही है। कभी-कभी इन्होंने टूटे-फूटे गद्य का भी सहारा लेकर अपनी बात स्पष्ट करनी चाही है। काव्य के समस्त अंगों पर विचार करने का लक्ष्य लेकर ये रीतिकार चले हैं। इन्होंने गंभीरतापूर्वक रीति कर्म करने की चेष्टा की है तथा काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस भाव ध्वनि, नायिका शब्दशक्ति रीति गुण-दोष पिंगल आदि सभी विषयों पर व्यवस्थित रूप से कुछ लिखा है। ऐसे आचार्य कम हैं किन्तु इनके रीति ज्ञान के संबंध में शंका नहीं की जा सकती। ऐसे आचार्य जो शास्त्रीय पद्धति पर रीतिशास्त्र का सर्वाङ्गीण विवेचन करना चाहते थे दूसरों के उदाहरण भी कभी-कभी रखते थे तथा उसे लक्षणानुरूप सिद्ध करने के लिये थोड़ी बहुत गद्यात्मक व्याख्या भी दिया करते थे।

रीति काव्य की शृङ्गारधर्मिता

रीति काल की समूची काव्य राशि में शृंगार की कविता का प्राधान्य एक सर्वस्वीकृत सत्य है और इसी कारण इसे शृंगार काल कहने में भी कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता। यहाँ हमें यही देखना है कि क्यों शृंगार ही इस युग के काव्य की प्रधान रस एवं भावधारा के रूप में ग्रहीत हुआ।

जीवन के प्रति ऐहिकतामूलक दृष्टिकोण— समसामयिक युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण इस युग के काव्य में एक ऐहिकता-

मूलक दृष्टिकोण विकसित हुआ जो पूर्ववर्ती भक्तिकाल में नहीं मिलता। वीर रस, सगुण भक्ति, निर्गुणोपासना, सूफी प्रेमाख्यान, नीति आदि की अन्यान्य धाराएँ भी इस काल में प्रवाहित होती रहीं किन्तु रीतिरचना और शृंगारिक काव्य की प्रवृत्ति ऐसी प्रधान हुई कि अन्यान्य प्रकार की कृतियाँ परिमाण की दृष्टि से प्रचुर होते हुए भी नगण्य पड़ गईं। इस धारा के अधिकांश कवियों का दृष्टिकोण मूलतः ऐहिक था आध्यात्मिक नहीं। हाँ, आध्यात्मिकता के संस्कार अवश्य शेष्य थे। इस युग के कवियों की दृष्टि जीवनपरक थी जबकि पूर्ववर्ती भक्त कवियों की दृष्टि वैराग्यपरक थी। इस जीवनपरकता या प्रवृत्तिपरकता के ही कारण रीतियुगीन काव्य में नर और नारी के सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा मिलती है। दोनों एक दूसरे के प्रति किस प्रकार आकृष्ट होते हैं, संकोच करते हैं, ललकते हैं, मिलते हैं, लोकलाज की बाधाओं, चबाइयों की चुगलियों और गुरुजनों की मर्यादाओं के रहते हुए अपने प्रणयपंथ पर अग्रसर होते हैं; मिलन की स्थिति में नानाविध प्रणय प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं, इसी प्रकार वियोग में चित्त की नाना अन्तर्वृत्तियों का व्यवहार कैसा हो जाता है, भावि-प्रवास आदि के सैकड़ों अवान्तर प्रसंग—ये सारी बातें इस युग के शृंगार काव्य में उपस्थित की गई हैं। संक्षेप में यह कि ये कवि प्रेम के क्षेत्र का कोना-कोना झाँक आये हैं, यह क्षेत्र कितना ही सँकरा और लौकिक क्यों न रहा हो। मानव मन की प्रणयाकांक्षाओं का इसमें विशद चित्रण हुआ है, वह परंपरागत, अमौलिक, अश्लील और स्थूल ही क्यों न हो। सौन्दर्य के विधान और कुण्ठाहीन शृंगार-चित्रण की दृष्टि से यह साहित्य हिन्दी के लिए लांछन का कारण नहीं कहा जा सकता वरन् उसका मंडन ही रहेगा। इसका खंडन जिन्हें अभिप्रेत हो उन्हें आधुनिक युग में प्रणीत मानसिक घुटन को व्यक्त करने वाली वे रचनाएँ पढ़नी चाहिये जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिदिन प्रकाशित होती रहती हैं या फिर संस्कृत के उस शृंगारिक काव्य का अवलोकन करना चाहिए जहाँ श्लीलता को तिलांजलि देकर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं। जिन्हें इस पर भी ग्लानि न आती हो उन्हें आज के मानव का 'नहिं जानत कोउ अनुजातनुजा' वाला आचरज देखना चाहिए। मनोवृत्ति की अधोगति और नैतिक ह्रास आज रीतियुग की तुलना में कम से कम पचास गुना अधिक है। रीति युग के कवि की रचना में इसी रूप में समाज का बिंब देखना चाहिए। हाँ तो रीति युग के कवियों की दृष्टि ऐहिकतापरक थी इसके परिणामस्वरूप इस युग में विभिन्न भौतिक जीवनोपयोगी विषयों पर ग्रंथों का प्रणयन हुआ उदाहरण के लिए राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, रमल, सामुद्रिक, पाकशास्त्र, आहारशास्त्र, सुरापान, मैत्रीभाव, संगीत, ज्योतिष, पक्षीज्ञान, आखेट, रत्न परीक्षा आदि। खोज रिपोर्टों से ऐसे ग्रंथों के प्रणीत होने का प्रमाण मिलता है। इन ग्रंथों के अध्ययन के परिणामस्वरूप इस युग के कर्ताओं की जीवन दृष्टि पर विशद प्रकाश पड़ने की सम्भावन है। ये कवि

अपने विनोद के क्षणों में 'हुक्का' और 'मदिरास्वाद' ऐसे विषय के माहात्म्य का वर्णन कर किस प्रकार समाज-विनोदन किया करते थे, देखिये—

(क) तौर ते याके न तौर है और सुवास ते याके न और सुवास है।
याके अनादर ते न अनादर आदर याके न आदर कासु है॥
धीरता धीरज साहस सील उदारता औ प्रभुता को निवासु है।
अष्टऊ सिद्धि नऊ निधि के सुख हुक्कहि देखत पावत आसु है॥

(ख) येकई उदर तैं प्रगट है सुधा औ सुरा
येकै रूप येकै वर्ण सबन बनाई है।
अजर अमर सुधा करत प्रसिद्धि सुरा
सुरनर मुनि देव जानि बस दाई है॥
सुधा मधुराई देव लोक में अलभ्य सुरा
षटरस तीनों लोक सुलभ सदाई है।
सुरन सुहाई गुन स्वाद गरु आई याते
सुधा सुरा नाम के पुराननि कहाई है॥

जीवन के प्रति यह मस्ती, उसके प्रति दृष्टिकोण का यह याथार्थ्य कितना प्रशंसनीय है। इस ज़िन्दादिली की जितनी क़द्र की जाय कम है। यह ज़िन्दादिली, यही लौकिक भौतिकतावादी या ऐहिकतापूर्ण दृष्टि श्रृंगार काव्य की सर्जना के मूल में है जिसके कारणों की अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है। रीति के बंधन में जकड़े हुए कवि के काव्य में भी यह दृष्टि स्पष्ट लक्ष्य की जा सकती है। प्रणय के संयोग-वियोग पक्षों में नाना मनोदशाओं का जैसा स्वाभाविक विधान किया गया है वह साधारणतया प्राप्य नहीं। यौवनागम, रूपराशि के प्रभाव, प्रगाढ़ अनुराग, प्रियतम का प्यार, रूप और प्रेम का गर्व, अभिलाषाएँ, ईर्ष्या, रोष, खीझ, प्रणय, आसक्ति आदि के चित्र इतने हृदयग्राही और मन को खींच लेने वाले हैं क्योंकि इनमें जीवन की स्वाभाविकता पूर्णतया बिंबित है। कला की आयोजना ने इन चित्रों को अधिक मार्मिक और अनुरंजक बना दिया है। कला और जीवन दोनों ने मिलकर रीति काव्य को सौन्दर्य से मढ़ दिया है। इन रचनाओं के माध्यम से हम तत्कालीन सामाजिक जीवन को समग्रतः नहीं तो अंशतः अच्छी तरह जान सकते हैं। इस युग का साहित्य इतिहास को भी पर्याप्त सामग्री प्रदान कर सकता है। नीति और उपदेश सम्बन्धिनी रचनाएँ तो इस युग के समाज को उद्घाटित करती ही हैं, श्रृंगारिक कृतियाँ भी इस दिशा में पीछे नहीं हैं। रीति कवि की दृष्टि में भोग की कितनी ही प्रधानता और दरबारदारी की कितनी ही उत्कट अभिलाष क्यों न हो मन और आँखों में बसे हुए जीवन के बिंब उसकी रचना में यथावसर उतर ही पड़े हैं। पारिवारिक मर्यादाएँ, सामाजिक

विश्वास और मान्यताएँ, वैयक्तिक आदर्श और आचरण आदि के कितने ही स्फुट चित्र यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे। इन चित्रों में लुभा लेने की ऐसी अमोघ शक्ति है कि कुछ पूछिये नहीं। कहीं-कहीं वृत्तियों का ऐसा मनोग्राही चित्रण हुआ है कि देखते ही बनता है। दूर के खेड़े (गाँव) को जाते हुए नायक को नायिका जाने नहीं देना चाहती। उसने और कोई स्थूल या प्रत्यक्ष उपाय इसके लिये न किये केवल गुलाब के फूलों का गजरा उसके मार्ग में डाल दिया जिसका व्यंग्य आशय यह हुआ कि नायक नायिका के पाटप्रसून से सुकुमार भावों को रौंद कर जाना चाहे तो चला जाय। भाव संवेदन का यह उपाय कितना मार्मिक है सहृदयों को बतलाने की जरूरत नहीं:—

गोगृहकाज गुवालन के कहे देखिबे को कहूँ दूरिके खेरो।
माँगि विदा लई मोहिनी सों पद्माकर मोहन होत सबेरो।
फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गोपाल की गैल में गेरो।। (पद्माकर)

जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति—इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि इस युग के काव्य में जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति प्रधान है, उसमें भौतिकता की ही प्रवृत्ति विशेष है आध्यात्मिकता की अत्यल्प। जो कुछ आध्यात्मिकता है भी वह स्वार्जित नहीं संस्कारवश है। रीति कवि जीवन और जगत को माया और भ्रम मानकर उसके प्रति अवहेलना का भाव नहीं रखते थे। उसके लिए जीवन यथार्थ और भोग्य था इसीलिये वे इसे प्रतीयमान समझ अपने को झुठलाने की कोशिश नहीं करते थे। इसी वास्तविक और भौतिक आनन्दमय जीवन के प्रति उनकी गहरी अभिरुचि थी। उसके उपभोग में उनका पूर्ण विश्वास था। इसी कारण इनकी रचना में व्यक्त जीवन यथार्थ सौन्दर्य से पूर्ण, आकर्षक और लुब्ध करने वाला है। यौवन, विलास, संभोग, उन्माद आदि के जितने मोहक चित्र यहाँ मिलते हैं अन्यत्र नहीं। विषय की संकीर्ण परिधि में भी रीति कवि ने बड़ी विशाल संसृति की सृष्टि की है जो अपनी व्यामोहिनी शक्ति के कारण पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रहती। सौन्दर्य क्या है, उसमें आकर्षण की गुरुता कितनी होती है, पहले-पहल की रीझ किस प्रकार लिप्सा जागृत करती है और आँखें किस प्रकार जाकर रूप की राशि में मुँह के बल गिर पड़ती हैं और यह गिरना भी ऐसा होता है कि फिर उससे विकास संभव नहीं दिखता इस सब का जीता-जागता चित्र यदि देखना हो तो रीति-काव्य को देखना पड़ेगा। इस सब का मूल उत्स रीति-कवि की उस प्रवृत्ति में निहित है जो जीवन को इन्द्रियों का समारोह मानती आई है। देव ने इसी जीवनाभिरुचि को कितनी विदग्धता से प्रस्तुत किया है—

धार में धाय धँसीं निरधार है, जाय फँसीं उकसीं न उधेरी।
री! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी।।

'देव' कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ।। (देव)

शृङ्गार की प्रधानता—इस युग में लिखित समस्त काव्य-राशि में शृंगारी रचना ही परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक मिलती है। अन्य रस का वर्णन करने वालों ने भी शृंगार का त्याग नहीं किया इसके विपरीत शृंगार का वर्णन करने वाले ऐसे एक-दो नहीं पचासों कवि मिलेंगे जिन्होंने शृंगार को छोड़ दूसरे रस की कविता की ही नहीं, बात यह है कि शृंगार ही उनका साध्य था। भक्ति की रचना भी शृङ्गार-मिश्रित मिलती हैं। रीतिबद्ध अधिकांश कवियों का प्रधान वर्ण्य शृङ्गार ही था इसी कारण रस और नायिकाभेद के ग्रंथ अधिक लिखे गए और शब्द-शक्ति तथा ध्वनि ऐसे क्लिष्ट काव्यांगों की ओर ये कवि गए ही नहीं। अलंकार ग्रंथ भी अधिक लिखे गए किन्तु उनके औदाहरणिक भाग में शृङ्गार के ही उदाहरण हैं। नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि विभावमूलक रचनाएँ शृङ्गार-प्रधानता का ही प्रमाण प्रस्तुत करने वाली हैं।

रस और अर्थकारों का निरूपण करते हुए कविजन शृङ्गार के ही सरस और मनोहर उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। नायिका-भेद विषयक ग्रंथ सबसे अधिक लिखे गए फलस्वरूप शृङ्गार रस के एक से एक अनूठे छंद सामने आए। ऐसे छंदों की संख्या शृङ्गार काल में इतनी अधिक हो गई कि परिमाण में इतनी रचना संस्कृत के लक्षण ग्रंथों से भी खोज कर नहीं जुटाई जा सकती। शृङ्गार के एक-एक अवयव को लेकर कवियों ने कितनी ही उद्भावनाएँ की हैं। शृङ्गार का वर्णन या निरूपण करते हुए उसके आलंबन नायिका का वर्णन-वर्गीकरण अत्यधिक विस्तार से किया गया यहाँ तक कि रस के एक अंग आलंबन के एक अंग नायिका को तो छोड़िये, नायिका के एक-एक अंग पर अलग-अलग ग्रंथ लिखे गए जिसके परिणामस्वरूप 'तिलशतक' और 'अलकशतक' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं। यह शृङ्गारिकता की हद है। 'नखशिख' वर्णन तो अत्यंत प्रिय विषय बन गया। अकेले इसी पर कितने काव्य ग्रंथ लिखे गए। इसी प्रकार शृङ्गार के उद्दीपक ऋतुओं तथा वर्ष के द्वादश मासों को लेकर कितने ही षड्ऋतु वर्णनात्मक ग्रंथ और बारहमासे लिखे गए। यह सब शृङ्गारिकता और शृङ्गार रस को ग्रहण करने के परिणामस्वरूप हुआ। नारी युग की सारी शृङ्गार वर्णना का केन्द्र-बिन्दु हो गई। अधिकांश रचनाओं का वर्ण्य वही हो गई। नायक बेचारा दब गया। उसे काव्य का स्वतन्त्र विषय नहीं बनाया जा सका। इस बात से भी इस युग के काव्य की प्रवृत्ति पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। रस का निरूपण करते हुए शृंगार का ही अत्यंत विस्तार से वर्णन किया गया, शेष आठ रसों को उसके अंतर्भुक्त कर दिया गया और एक-एक छद में उनका उल्लेख कर काम चलता किया

विश्वास और मान्यताएँ, वैयक्तिक आदर्श और आचरण आदि के कितने ही स्फुट चित्र यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे। इन चित्रों में लुभा लेने की ऐसी अमोघ शक्ति है कि कुछ पूछिये नहीं। कहीं-कहीं वृत्तियों का ऐसा मनोग्राही चित्रण हुआ है कि देखते ही बनता है। दूर के खेड़े (गाँव) को जाते हुए नायक को नायिका जाने नहीं देना चाहती। उसने और कोई स्थूल या प्रत्यक्ष उपाय इसके लिये न किये केवल गुलाब के फूलों का गजरा उसके मार्ग में डाल दिया जिसका व्यंग्य आशय यह हुआ कि नायक नायिका के पाटप्रसून से सुकुमार भावों को रौंद कर जाना चाहे तो चला जाय। भाव संवेदन का यह उपाय कितना मार्मिक है सहृदयों को बतलाने की जरूरत नहीं:—

> **गोगृहकाज गुवालन के कहै देखिबे को कहूँ दूरिके खेरो।**
> **माँगि बिदा लई मोहिनी सों पद्माकर मोहन होत सबेरो।**
> **फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौन ते फेरो।**
> **गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गोपाल की गैल में गेरो।।** (पद्माकर)

जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति—इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि इस युग के काव्य में जीवन के उपभोग की प्रवृत्ति प्रधान है, उसमें भौतिकता की ही प्रवृत्ति विशेष है आध्यात्मिकता की अत्यल्प। जो कुछ आध्यात्मिकता है भी वह स्वार्जित नहीं संस्कारवश है। रीति कवि जीवन और जगत को माया और भ्रम मानकर उसके प्रति अवहेलना का भाव नहीं रखते थे। उसके लिए जीवन यथार्थ और भोग्य था इसीलिये वे इसे प्रतीयमान समझ अपने को झुठलाने की कोशिश नहीं करते थे। इसी वास्तविक और भौतिक आनन्दमय जीवन के प्रति उनकी गहरी अभिरुचि थी। उसके उपभोग में उनका पूर्ण विश्वास था। इसी कारण इनकी रचना में व्यक्त जीवन यथार्थ सौन्दर्य से पूर्ण, आकर्षक और लुब्ध करने वाला है। यौवन, विलास, संभोग, उन्माद आदि के जितने मोहक चित्र यहाँ मिलते हैं अन्यत्र नहीं। विषय की संकीर्ण परिधि में भी रीति कवि ने बड़ी विशाल संसृति की सृष्टि की है जो अपनी व्यामोहिनी शक्ति के कारण पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रहती। सौन्दर्य क्या है, उसमें आकर्षण की गुरुता कितनी होती है, पहले-पहल की रीझ किस प्रकार लिप्सा जागृत करती है और आँखें किस प्रकार जाकर रूप की राशि में मुँह के बल गिर पड़ती हैं और यह गिरना भी ऐसा होता है कि फिर उससे विकास संभव नहीं दिखता इस सब का जीता-जागता चित्र यदि देखना हो तो रीति-काव्य को देखना पड़ेगा। इस सब का मूल उत्स रीति-कवि की उस प्रवृत्ति में निहित है जो जीवन को इन्द्रियों का समारोह मानती आई है। देव ने इसी जीवनाभिरुचि को कितनी विदग्धता से प्रस्तुत किया है—

> **धार में धाय धँसीं निरधार है, जाय फँसीं उकसीं न उधेरीं।**
> **री ! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरीं।।**

'देव' कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥ (देव)

शृङ्गार की प्रधानता—इस युग में लिखित समस्त काव्य-राशि में शृंगारी रचना ही परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक मिलती है। अन्य रस का वर्णन करने वालों ने भी शृंगार का त्याग नहीं किया इसके विपरीत शृंगार का वर्णन करने वाले ऐसे एक-दो नहीं पचासों कवि मिलेंगे जिन्होंने शृंगार को छोड़ दूसरे रस की कविता की ही नहीं, बात यह है कि शृंगार ही उनका साध्य था। भक्ति की रचना भी शृङ्गार-मिश्रित मिलती हैं। रीतिबद्ध अधिकांश कवियों का प्रधान वर्ण्य शृङ्गार ही था इसी कारण रस और नायिकाभेद के ग्रंथ अधिक लिखे गए और शब्द-शक्ति तथा ध्वनि ऐसे क्लिष्ट काव्यांगों की ओर ये कवि गए ही नहीं। अलंकार ग्रंथ भी अधिक लिखे गए किन्तु उनके औदाहरणिक भाग में शृङ्गार के ही उदाहरण हैं। नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि विभावमूलक रचनाएँ शृङ्गार-प्रधानता का ही प्रमाण प्रस्तुत करने वाली हैं।

रस और अर्थकारों का निरूपण करते हुए कविजन शृङ्गार के ही सरस और मनोहर उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। नायिका-भेद विषयक ग्रंथ सबसे अधिक लिखे गए फलस्वरूप शृङ्गार रस के एक से एक अनूठे छंद सामने आए। ऐसे छंदों की संख्या शृङ्गार काल में इतनी अधिक हो गई कि परिमाण में इतनी रचना संस्कृत के लक्षण ग्रंथों से भी खोज कर नहीं जुटाई जा सकती। शृङ्गार के एक-एक अवयव को लेकर कवियों ने कितनी ही उद्भावनाएँ की हैं। शृङ्गार का वर्णन या निरूपण करते हुए उसके आलंबन नायिका का वर्णन-वर्गीकरण अत्यधिक विस्तार से किया गया यहाँ तक कि रस के एक अंग आलंबन के एक अंग नायिका को तो छोड़िये, नायिका के एक-एक अंग पर अलग-अलग ग्रंथ लिखे गए जिसके परिणामस्वरूप 'तिलशतक' और 'अलकशतक' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं। यह शृङ्गारिकता की हद है। 'नखशिख' वर्णन तो अत्यंत प्रिय विषय बन गया। अकेले इसी पर कितने काव्य ग्रंथ लिखे गए। इसी प्रकार शृङ्गार के उद्दीपक ऋतुओं तथा वर्ष के द्वादश मासों को लेकर कितने ही षड्ऋतु वर्णनात्मक ग्रंथ और बारहमासे लिखे गए। यह सब शृङ्गारिकता और शृङ्गार रस को ग्रहण करने के परिणामस्वरूप हुआ। नारी युग की सारी शृङ्गार वर्णना का केन्द्र-बिन्दु हो गई। अधिकांश रचनाओं का वर्ण्य वही हो गई। नायक बेचारा दब गया। उसे काव्य का स्वतन्त्र विषय नहीं बनाया जा सका। इस बात से भी इस युग के काव्य को प्रवृत्ति पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। रस का निरूपण करते हुए शृंगार का ही अत्यंत विस्तार से वर्णन किया गया, शेष आठ रसों को उसके अंतर्भुक्त कर दिया गया और एक-एक छद में उनका उल्लेख कर काम चलता किया

गया। शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति तो यहाँ तक प्रबल हुई कि वीर या रौद्र रस का उदाहरण देना हुआ तो भी शृङ्गार के प्रसंग के अंदर से ही उदाहरण छाँट कर लाये और वीरों के युद्ध के बजाय प्रेमी-प्रेमिका के 'रतिरण' का दृश्य सामने रखने लगे—

प्रिया जी को वीर रस—गति गजराज साजि देह की दीपति बाजि,
हाव रथ भाव पति राजि चल चाल सों।
लाज साज कुलकानि शोच पोच भवभानि,
भौहैं धनु तानि बान लोचन विशाल सों॥
केशोदास मन्द हास असि कुच भट भिरे,
भेंट भये प्रतिभट भाले नख जाल सों।
प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै,
जीति रति रण आजु मदन गुपाल सों॥
(केशव : रसिकप्रिया)

प्रिया जू को रौद्र रस—केहरी को हरी कटि करी मृग मीन फणि,
शुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो है।
मृदुल मृणाल बिब चम्पक मराल बेल,
कुंकुमरु दाडिम को दूनो दुख दीनो है॥
जारत कनक तन तनक तनक शशि,
घटत बढ़त बन्धु जीव गन्ध हीनो है।
केशोदास दास भयो कोविद कुँहर कान्ह,
राधिका कुँवरि कोप कौन पर कीनो है॥
(केशव : रसिकप्रिया)

शृङ्गार के अन्तर्गत भी अन्य अवयवों की अपेक्षा आलंबनान्तर्गत नायिका ही कवियों और रीतिकारों का प्रधान वर्ण्य हुई फलतः शृंगार की जैसी एकनिष्ठ आराधना इस युग में सम्भव हो सकी हिन्दी साहित्य के किसी दूसरे काल में नहीं। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतियुक्त सभी इसी दिशा की ओर दौड़े। भेद उनमें पद्धति और दृष्टिकोण का था, दिशा सबकी एक ही थी इसीलिये आलोचकों ने इसे शृंगार काल कहने का आग्रह किया है।

भक्तिकाल में शृंगारकाल की शृङ्गारिकता की भूमिका बँध चुकी थी। सूर आदि भक्तों ने राधाकृष्ण की जैसी प्रेम-क्रीड़ा का चित्रण किया वह उत्तरवर्ती रीति कवियों के लिये अवलम्ब बन गया। राधाकृष्ण की भक्ति को लेकर कितने ही सम्प्रदाय चले जैसे माध्व, निबार्क, टट्टी, अनन्य, राधावल्लभीय आदि। किन्तु मधुरा भक्ति का ही प्राबल्य रहा। राधा का जैसा मधुर और मोहक स्वरूप विभिन्न कृष्ण भक्तों ने

अंकित किया उसने उत्तरकालीन साहित्य में शृंगार-भावना का पोषरण किया। राधा-कृष्ण या गोपीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का इतना अधिक और आकर्षक विस्तार हुआ कि शृंगारी कवियों को अपर नायक-नायिकाओं के चयन का विकल्प ही नहीं रह गया। शृंगार रस के देवता श्रीकृष्ण और नायिका-भेद ग्रन्थों के नायक-नायिका कृष्ण और राधा ही मान्य हुए। इन्हीं के प्रणय-जीवन को लेकर असंख्य प्रणय-प्रसंगों की उद्भावना की गई।

✓ **शृङ्गारिकता के कारण**—शृंगारिकता समसामयिक वैभव-विलास और साज-सज्जा की रुचि तथा वातावरण के कारण आई और यह वातावरण जन-समाज में न होकर राजदरबारों में था। राजदरबार मुग़ल विलासिता से ओत-प्रोत थे। राजा और नवाब भोग को जीवन का पर्याय समझ बैठे थे फलस्वरूप राजाश्रित कवि ने जब शृंगार का चषक भरना शुरू किया तो फिर उसका क्रम ही चल पड़ा। परम्परागत कृष्णभक्ति काव्य के अन्तर्गत शृंगार के सन्निवेश का पूरा अवसर देख रीति कवि राधाकृष्ण के ब्याज से युग की और अपनी भी शृंगारिक भावनाओं को व्यक्त करने लगे। फलस्वरूप राधाकृष्ण का वह दिव्य अलौकिक और भक्तिभावोत्तेजक रूप मन्द पड़ गया और उनका विलासप्रिय कामुक रूप ही प्रकर्ष रूप में सामने आया। रीति ग्रन्थों में कृष्णभक्ति का शृङ्गारप्रधान रूप और शृंगारी कृष्णभक्ति काव्य में रीति ये दोनों समान रूप से प्रविष्ट हुए मिलते हैं। गोपीकृष्ण के बहाने कवियों ने रूप-सौन्दर्य, नाना अंग चेष्टाओं, मानसिक भाव-व्यापारों तथा रीतिशास्त्र में गिनाए गए विषयों यथा अष्टयाम अथवा दिनचर्या, मान, ऋतुकृत उद्दीपन या षड्ऋतु, बारहमासा, नख-शिख, हाव-भावों तथा संभोग शृंगार के अश्लील प्रसंगों का वर्णन प्रचुरता से किया।

इस युग में शृंगार रस के काव्य लिखे जाने का कारण था भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य जिसमें विलासिता का भाव पहले से ही विद्यमान था। भक्तियुग में लिखित शृंगार काव्य ने रीतियुग के कवियों के लिए शृंगारिक रचना का मार्ग खोल दिया और परिणामस्वरूप जहाँ भक्तियुग में शृंगार के साथ-साथ भक्ति की भावना चला करती थी अब रीतिकाल में आकर भक्ति की पवित्रता बहुत कुछ शेष हो चली, यदि रही भी तो अत्यल्प परिमाण में। उसका स्थान लौकिक प्रेम सम्बन्धों ने तथा वैषयिक भावनाओं ने ले लिया। रीतिकाल की शृंगारी रचनाओं में कवियों ने कभी तो राधा-कृष्ण की ओट ले ली है और कभी साधारण नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका की प्रीति रतिकेलि आदि का मुक्त भाव से चित्रण किया है।✓

शृङ्गार का त्रिविध चित्रण—शृंगार का चित्रण तीन शैलियों में हुआ है—रीतिबद्ध, रीत्यनुसारी (रीतिसिद्ध) और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध अर्थात् लक्षणकार कवियों

ने काव्यशास्त्र या काव्यांगों का विवेचन करते हुए उदाहरण रूप में स्वरचित श्रृंगारिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। संस्कृत आचार्य भी कामांग निरूपण करते हुए श्रृंगारी उदाहरण ही दिया करते थे क्योंकि यह रस यों भी व्यापक रस है तथा जीवन के अनेक अंग इसमें समाहित हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्यशास्त्र के सभी अंगों के उदाहरण इसी एक रस में प्राप्य होने लगे। यही परम्परा हिन्दी रीतिकारों ने भी अपना ली, यह स्वाभाविक ही था। भूषण ऐसे एकाध कवियों ने अपवादस्वरूप ही वीर रस के उदाहरण प्रस्तुत किये।

श्रृंगार-वर्णन की दूसरी शैली थी रीतिसिद्ध कवियों की जो रीति ग्रन्थ तो नहीं लिखते थे किन्तु जिनका वर्णन बहुत-कुछ रीति की छाप लेकर चलता था। ये कवि रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे और अपने प्रिय वर्ण्य विषय को रीतिग्रंथों से चुनकर काव्यबद्ध किया करते थे। बिहारी, रसनिधि आदि रीत्यनुसारी इसी कोटि के कवि थे।

तीसरा वर्ग रीति की परिपाटी को बलाए ताक रखकर स्वच्छन्द भाव से प्रेम की उमंग के छन्द लिखने वाले कवियों का था, प्रेम जिनका स्वभाव था। ये प्रेमी जीव हो गए हैं—घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि। प्रेम के मार्ग में इन्होंने लोक-परलोक, जाति, धर्म, कुलकर्म का भेद अस्वीकार कर दिया। प्रणय के संयोग और वियोग के ताने-बानों से इनका व्यक्तित्व ही विनिर्मित था।

शृङ्गार-वर्णन—युग के सामंती वातावरण और परम्परागत साहित्यिक प्रभावों के कारण रीतिकालीन कवि में वह गहरी भगवदास्था न रह गई और न सात्त्विक पवित्र भावों का वैसा अस्तित्व ही बच रहा। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि 'भक्ति के ही गर्भ से श्रृंगार की कड़ी घूमी' फलतः पूर्व युग से ही श्रृंगारिकता के अनुकूल उपकरण उत्तर युग में लाए गए। नायिका अर्थात राधा या गोपी और कृष्ण श्रृंगारी काव्य के केन्द्र बन गए। इन्हीं को लेकर श्रृंगार का व्यापक वर्णन शुरू हुआ। शुरू तो पहले ही हो चुका था, आगे बढ़ा। राजे, शाह, नबाब, सामन्त सभी शक्ति और उत्साह के अभाव में प्रेमी और रसिक, हो गए। उनकी इस अभिरुचि के अनुरूप ही आश्रित कवियों ने काव्य लिखा। ऐश्वर्य, भोग और विलास के उन्मादक चित्र—ऊँची अट्टालिकाएँ, विशाल प्रासाद, प्रशस्त राजपथ, अभिराम, उद्यान, मनहर बगीचियाँ, तड़ाग और वाटिकाएँ, नाना वर्ण की सुमनावली, काँच के महल, विशालकाय फानूस, रजतज्योत्स्ना, रत्नाभरणमण्डित देहद्युति, मणिमय आभूषण, फूलों के गहने, पुष्पसज्जित शैया, विविध प्रकार के अंगराग और सुगन्धियाँ,[1] पारदर्शी

[1]. पामरी के पामरे परे हैं पुर पौर लागि
 धाम धाम धूपनि के धूम धुनियत हैं।
कस्तूरी, अतरसार, चोवा, रस, घनसार,
 दीपक हजारन अँध्यार लुनियत हैं॥

वस्त्र, मखमल, और मखतूल, पाटल प्रसून की पंखुरियाँ, आसव, उसीर, हमाम आदि ऋतु के अनुकूल सम्भोग के उपकरणों का विशद चित्रण किया गया है। कवि और राजा रईस, सभासद और दरबारी इन्हीं भोग के रसालाओं में डूबने-उतराने लगे, न्याय और सच्चाई का दरबारों में प्रवेश निषिद्ध था।[1] उसयुग के रसिक शृंगार ही चाहते थे और इसकी अभिव्यञ्जना रीतिकाव्य में नायिका-भेद प्रकरण को लेकर इतने विस्तार से हुई कि उससे सम्बन्धित एक विशाल साहित्य ही ब्रजभाषा में खड़ा हो गया। नायिकाओं अथवा शृंगार के वर्णन में कवियों ने दमित मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया, जो कुछ कहा है कुंठाहीन भाव से। डा० नगेन्द्र ने इस तथ्य का बड़ा सुन्दर उद्घाटन किया है—'साँचा चाहे नायिका भेद का रहा हो चाहे नखशिख आदि का, उसमें ढली है शृगारिकता ही; इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। इसलिए उनकी शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों परन्तु शृङ्गारिक कुंठाओं से ये मुक्त थीं, इसी कारण इस युग की शृङ्गारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।'[2]

रीतियुग के कवि और रसिक दोनों का दृष्टिकोण उपभोगमूलक रहा है फलतः आत्मिक या आंतरिक पवित्रता और मनोगत सौन्दर्य के चित्र कम हैं। प्रेम के उदात्त स्वरूप का निदर्शन अधिक नहीं; उसके लिए अपेक्षित तप, त्याग, निष्ठा, अनन्यता आदि का चित्रण बहुत कम हुआ है। इसके विपरीत भोगवृत्ति की प्रधानता के कारण प्रेम के बाह्य रूप को ही लेकर मांसल भोग के चित्र ही विशेष उरेहे गए। यह प्रवृत्ति नायिका-भेद तो नायिका-भेद अलंकार, रस, नखशिख, बारहमासा, अष्टयाम, षड्ऋतु आदि सभी प्रकार के रीति ग्रन्थों में देखी जा सकती है। रूप और अंग-प्रत्यंग का चित्रण अधिकता से किया गया है जो समस्त शृङ्गार वर्णन का अधार है। बात यह है कि रूपासक्ति के बिना प्रेम-व्यापार संभव ही नहीं। रीतिमुक्त कवियों में तो यह रूप की रीझ खूब मिलती है। नेत्र भी तो अपना समारोह मनाना चाहते हैं इसलिये रीति कवियों ने रूप और अंगद्युति का विशेष वर्णन किया है। अंग-अंग का पृथक्-पृथक् चित्रण करने की भी प्रणाली चली किन्तु जो सौन्दर्य समग्र रूप के चित्रण में है वह पृथक्-पृथक् अंगों के वर्णन में नहीं। रूप के संवेगात्मक चित्र जिसमें कवि की अपनी अनुभूति भी लिपटी होती है विशेष आकर्षक होते हैं। देव कवि द्वारा प्रस्तुत एक चित्र देखिये—

[1] साहब अंध, मुसाहब मूक, सभा बहिरी रंग रीझ को माच्यो।

(देव)

[2]. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, पृ० १८७—८८

जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़ो परत ।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिन्दु,
बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।।
गोरे मुख स्वेत सारी कञ्चन किनारीदार
देव मणि झूमका झमकि झुमड़े परत ।।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ
बड़ी बरुनीन होड़ा होड़ी आड़े परत । (देव)

रूप सौन्दर्य के अलंकृत चित्रों में वह आनन्द नहीं आता जो संयोगात्मक चित्रों द्वारा संभव होता है । जहाँ रूप का प्रभाव पाठक पर डालने की चेष्टा की जाती है अथवा जहाँ रूप के प्रति कवि की निजी प्रतिक्रिया अंकित की जाती है वहाँ रूप का बिब ग्रहण हुए बिना भी चित्र पर्याप्त प्रभावोत्पादक होता है । रूप या नायिका के अंग-प्रत्यंग के चित्रण में ऐन्द्रिकता की मात्रा प्रयाप्त है । नारी के कामोत्तेजक अंगों एवं हावभावों का कवि ने सतृष्ण भाव से वर्णन किया है । मनुष्य की कामवृत्ति को सहलाने वाली सामग्री रूप या अंगसौन्दर्य के वर्णनों में विशेष है । देव से ही एक उदाहरण लीजिये—

आई हुती अन्हवावन नायन सौंधे लिये कोइ सौंधे सुभायनि ।
कंचुकी छोरि धरी उबटैबे कौं इंगुर से अंग की सुखदायनि ।
'देव' सुरूप की रासि निहारति पाँय तें सीसलौं सीस तें पायनि ।
ह्वै रहीं ठौरई ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोड़ी दिये ठकुरायनि ।। (देव)

सहज रूप चित्रण भी कम प्रभावशाली नहीं होती । ग्राम्ययुवती के नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्र देखिये —

(क) गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार ।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार ।। (बिहारी)
(ख) गौरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़ ।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आंड़ ।। (बिहारी)

शृङ्गार के आलम्बन विशेषतः नायिका का वर्णन करते हुए नखशिख वर्णन की भी एक प्रणाली चली जो नई न होते हुए भी बहुप्रयुक्त हुई । नखशिख वर्णन में कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध व्यापारों और रूपकातिशयोक्ति आदि चमत्कार-विधायक अलङ्कारों का विशेष प्रयोग हुआ है जिसके द्वारा चमत्कृति अधिक पैदा की गई है, रूप या अंगों का प्रभाव कम । नखशिख वर्णन के स्वतन्त्र ग्रंथ और अन्य ग्रंथों में नखशिख वर्णन

दोनों प्रचुरता से पाये जाते हैं किन्तु ऐसे वर्णनों में रसात्मकता कम विलक्षणता अधिक पाई जाती है और प्रायः वर्णन की अलंकृत शैली प्रयोग में लाई जाती है। कहीं-कहीं नखशिख वर्णन अत्यंत प्रभावशाली भी बन पड़े हैं किन्तु रूपकातिशयोक्ति आदि के सहारे खड़े किये गये नख से शिख तक के चित्रों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कागजी दृश्य कहा है। रूप या अंग के स्वाभाविक चित्रणों में जो आनन्द आता है वह कमल पर कदली, कदली पर कुन्द, शङ्ख पर चन्द्रमा ऐसे परंपरासिद्ध कागजी दृश्यों में नहीं। फिर नखशिख के वर्णनों में कवि के स्वानुभूत अंगसौन्दर्य का चित्रण कम और शास्त्रोक्त उपमानों का विधान ही अधिक किया जाता है। इस खानापूरी के कारण नखशिख वर्णनों में कृत्रिमता विशेष मिलती है।

शृङ्गार वर्णन की पराकाष्ठा होती है मिलन प्रसंगों में। प्रेमी और प्रेमिका की रूपाशक्ति क्रमशः उन्हें एक दूसरे के निकट ले आती है। निगाहें मिलती हैं, सँदेसे आते-जाते हैं। एकांत में अचानक या आयोजित रूप में भेंट होती है, सम्बन्ध प्रगाढ़ होते हैं। अंगस्पर्श, ललक, तृषा सब कुछ वर्णित होती है और उसके बाद प्रगल्भ कवि सम्भोग के चित्र भी कभी सांकेतिक और कभी खुले हुये ढंग से उतारते है। शरीर सम्पर्क के साथ-साथ मनोगत उल्लास के चित्र भी अंकित किये गए हैं। वास्तव में ये दोनों स्थितियाँ परस्पर-सम्बद्ध हैं। हृदय का उल्लास काया अनुभव करती है और काया का सुखानुभव हृदय को उल्लसित करता है। हाव-भावों, अनुभवों का वर्णन इन्हीं के अन्तर्गत होता है। स्पर्श-सुख इसी के अन्तर्गत आता है जिसका वर्णन बार-बार कविजन करते पाये जाते हैं—

(क) लरिका लैबे के मिसनि लंगर मो ढिग आय।
गयो अचानक आँगुरी छतियाँ छैल छुवाय॥ (बिहारी)

(ख) स्वेद सलिल रोमाञ्च कुस, गहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा ही हाथ॥ (बिहारी)

(ग) कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आज अचानक नाहु गयो छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिनि के दोउ फूलि कदंब के फूल गयो ह्वै॥

इसी स्पर्श-सुख की ऐन्द्रिकता परिरंभन, चुम्बन, सुरति आदि वर्णनों में अधिक उत्तान रूप में आती है। कुछ कवि शृङ्गार को उस सीमा तक भी खींच ले गए हैं जहाँ शरीफ आदमी जाना नहीं पसन्द करेगा। शृङ्गार के सम्भोग पक्ष की मनोहारिता बढ़ाने में हास्य, व्यंग्य और विनोद के प्रसंग विशेष उपयोगी होते हैं, वे संयोग की सरलता में अभिवृद्धि करते हैं। इसी प्रकार ऋतुओं या त्यौहारों का भी प्रेमियों के जीवन में विशेष स्थान होता है। वसन्त, वर्षा, शरद, फाग, दीपावली

आदि के प्रसंग ऐसे होते हैं जब हृदय का अनुराग अधिक गाढ़ा हो जाता है और मन का उल्लास भी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर चलता है। प्रकृति और पर्व प्रेमी युगलों में प्रणय की अभिनव चेतना भर देते हैं।

जीवन में केवल सुख ही नहीं हुआ करता दुख के भी दिन आते हैं परिणाम-स्वरूप संयोग की घड़ी जो बिता चुकते हैं उन्हें वियोग के कल्प भी व्यतीत करने पड़ते हैं। प्रवास और मानजन्य विरह का वर्णन कवियों ने अपेक्षाकृत अधिक किया है। विरह में प्रेम परिपक्व हो जाता है और उसकी ऐन्द्रिकता आत्मिकता में परिणत हो जाती है। रतिबद्ध कवियों का वियोग वर्णन अनुभूति सम्वलित कम ऊहात्मक या चमत्कारपूर्ण अधिक है। बिहारी की रचना इसका सर्वोत्तम प्रमाण उपस्थित करती है।

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति ॥
(ख) औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरी बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो छींटौ छुयौ न गात ॥
(ग) इति आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ ॥ (बिहारी)

हृदय-दशाओं की जैसी वास्तविक विवृत्ति रीति-स्वच्छन्द कवियों ने की है रीतिबद्ध कवियों ने नहीं। रीति कवियों का विरह प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यतपतिका, आगतपतिका, मानवती आदि के बँधे बँधाए पैमानों पर वर्णित है। नायिका के अंगताप और क्षीणता आदि की माप-जोख ही उसके विरह-ताप की कसौटी है। मेघ से, पवन से, पक्षी से, दूतियों से संदेश-निवेदन या पत्र-प्रेषण कराकर परंपरा की लीक कायम रखी गई है। उधर शठ और धृष्ट नायकों को परस्त्रीरत दिखाकर खंडितादि के वर्णन द्वारा मानजन्य वियोग के उदाहरण भी प्रचुरता से प्रस्तुत किये गये हैं। व्यंङ्ग और वक्रोक्तिपूर्ण कथनों द्वारा मानजन्य विरह सरस हो उठा है। पूर्वरागजन्य विरहविकलता के चित्र अपेक्षाकृत कम हैं। वियोगान्तर्गत ऋतुवर्णन प्रणय-वेदना को उद्दीप्त करता हुआ ही पाया गया है।

समग्रतः यह कहना पड़ता है कि युग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति शृङ्गारिकता का स्वरूप रीतिबद्ध काव्य में वैसा गम्भीर नहीं रहा है जैसा होना चाहिए। उसमें कामुकता, वासनावृत्ति, वैषयिकता और छिछली रसिकता का प्राधान्य रहा है। इनकी तुलना में रीतिमुक्त कवियों ने प्रणय का महान् आदर्श प्रस्तुत किया है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै ॥

घन आनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरैं मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति को परसै ॥

रीतिबद्ध कवि की वर्णन-सीमा अति विस्तृत नहीं थी । रीति ग्रंथों की चहार-दीवारी के बीच ही उन्होंने प्रेम की उछलकूद दिखाई है फलतः प्रणय के उदात्त त्याग-मय और पावन स्वरूप का चित्रण ये कवि न कर सके । बात यह है कि प्रेम की स्फूर्तिप्रदायिनी भावना का विकास जब जीवन के विशाल कर्मक्षेत्र में दिखाया जाता है तब वह प्राणप्रद अभीष्ट और मंगलमय हुआ करती है । जब वह बैठे-ठाले की दिनचर्या मात्र दिखलाई जाती है तब उसमें वासना की मलिन छाया के सिवा और कुछ नहीं रह जाता । जीवन के हर्ष-विषाद और ह्रास-विकासमय घाटियों से पार हुए बिना प्रणय का स्वरूप उदात्त और परिष्कृत नहीं हो सकता, उसमें अपेक्षित गहराई नहीं आ सकती । शृङ्गार युग का वातावरण और तत्कालीन राजा-रईसों की भोगैषणा ही इसके लिये उत्तरदायी है जिसमें बनाव-शृंगार, रसिकता और दिखावे के सिवा और कुछ नहीं रह गया था ।

फिर प्रणय ऐसी व्यक्तिगत चीज के लिए रीतिकवि का दृष्टिकोण भी कम उत्तरदायी नहीं है । वे प्रेम का व्यक्तिनिष्ठ रूप उतारने में नहीं लगे, परंपरागत रूढ़िबद्ध प्रेम के स्वरूप का पोषण करना ही उनके कवि-कर्म की इतिश्री भी रहा । कवि-कर्म की दृष्टि से कोई नवीनता और ताजगी आई है तो आई है प्रणय-भावना के वैशिष्ट्य के कारण नहीं । इसी कारण रीतियुग की नारी निजी व्यक्तित्व से रहित किन्तु आंगिक सौन्दर्य से संपृक्त भोग के उपकरण से अधिक कुछ नहीं, वह एक 'टाइप' है । उसकी शृंगार-चेष्टाएँ, हाव-भाव, अभिलाषाएँ और मान-अमर्ष आदि उसकी अपनी नहीं, प्रथा-विशेष का पालन मात्र हैं जिसे नायिकाओं के रूढ़िगत हाव-भाव हेलाओं के वर्णन में देखा जा सकता है जहाँ शास्त्रोक्त स्वभावज, अंगज, अयत्नज आदि अलंकार दिखाए जाते हैं । ऐसी जड़मूर्ति के ऊपरी सौन्दर्य पर रीतिबद्ध कवि विशेषतः रीझे हैं फल यह हुआ है कि इस काव्य से एक प्रकार का मनोविनोदन हुआ है उस युग के सामाजिकों का जिनमें ऐन्द्रिक रसिकता विशेष परिमाण में थी । बँधी लीक पर चलता हुआ जीवन एक बँधे ढर्रे के काव्य से अपने मन को कुछ तोष और अनुरंजन प्रदान कर लिया करता था । संघर्ष, प्रेरणा और उत्साह के अभाव में जीवन को इस प्रकार का शृङ्गारी काव्य कुछ स्फूर्ति और उल्लास दे पाता था । यह भी इस युग के शृङ्गार काव्य की कुछ ओछी सिद्धि न थी ।

अश्लीलता—शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि नारी-सौन्दर्य का खुला हुआ चित्रण किया गया तथा अनेक अश्लील प्रसंगों की आयोजना हुई जिनसे शृङ्गार का गम्भीर रूप सामने न आने पाया तथा कामुकता की वृत्ति को विशेष प्रश्रय

मिला। जनता की रुचि अश्लील शृङ्गारिक काव्य का कारण नहीं थी। अश्लीलता समसामयिक अकर्मण्य राजाओं की भोग-विलासवृत्ति के परिणामस्वरूप तो आई ही, संस्कृत के शृङ्गार काव्य, कामशास्त्रीय ग्रंथों के प्रभावस्वरूप भी आई। नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन भी शृङ्गार की नग्नता और अतिशयता को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। शृगार की यह उत्तानता या अश्लीलता जिसमें स्त्री के लज्जास्पद अंगों का खुलकर वर्णन किया गया और सुरति, सुरतान्त और विपरीत रति के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत किये गए, फाग की मौज में 'नै-बै' वालों को कितने ही अवगुन कराते दिखाया गया है। ये सब बातें अति तक पहुँची हुई हैं यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि रीतिकाल के कवि इस दिशा में उतना दिखा नहीं पाए हैं जितना बदनाम हुए हैं। इस माने में संस्कृत का शृङ्गार साहित्य कहीं अधिक खुला हुआ, नग्न और अश्लील है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सीमातिक्रमण करने वाली शृङ्गारिकता अपनी अश्लीलता के कारण अनेकानेक आक्षेपों का कारण बनी है और उसके कारण शृङ्गार काव्य के महत्व को धक्का लगा है। वीर रस की रचनाएँ भी हुईं किन्तु शृङ्गार की सार्वभौम प्रवृत्ति के आगे वे दब-सी गईं। प्रेम की जो प्रगाढ़ निष्ठा होती है उसके सामने इनकी रचना फीकी-सी लगती है जिसमें आलिंगन चुंबनादि सभी प्रकार के रतिकर्मों या शरीर-व्यापारों की आयोजना की गई है।

रीतिकालीन प्रेम का स्वरूप—रीति युग में वर्णित प्रेम व्यक्तिनिष्ठता के अभाव में आन्तरिक और गंभीर नहीं वह ऊपरी या बाहरी मात्र है। वह इन्द्रियार्थों की पूर्ति तथा वैषयिकता की तृप्ति का साधन है। उसमें विलासिता, कामुकता और नग्नता का साम्राज्य है। बहुनिष्ठ नायक और बहुनिष्ठ नायिकाएँ जहाँ-तहाँ देखने को मिल सकती हैं—

(क) बाल कहा लाली भई लोयन कोयन माँहि।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँहि॥ (विहारी)

(ख) मूँदे तहाँ एक अलबेलो के अनोखे दृग
सु दृग मिचावनै के ख्यालनि हितै हितै।
नैसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धनि दूसरी कों
औचका अचूक मुख चूमत चितै चितै॥ (पद्माकर)

(ग) यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै।
त्यों पद्माकर एकन के उर में रसबीजनि बै चलै बै चलै।
एकन सौं बतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरी कनैखिन दै चलै दै चलै॥ (पद्माकर)

खंडिताओं और परकीयाओं के विवरण इसी एक तथ्य को प्रमाणित करते

हैं। प्रेम की अनन्यता और उसके लिए सर्वोत्सर्ग की महान भावना कम दिखाई देती है। छिछले प्रेम की व्यंजना करने वाले बहुत हैं। कितने ही प्रेमियों का प्रेमकपट खुले रूप में दिखलाया गया है।

ऊपरी प्रेम वर्णन और रसिकता—प्रेम-भावना की यह स्थूलता या ऐन्द्रिकता बाह्य रूप वर्णन में प्रवृत्ति करती है, इसीलिये नायक-नायिका के ऊपरी सौन्दर्य को अधिक उरेहा गया है आंतरिक सौन्दर्य को कम। प्रणय की गहराई रीतिबद्ध शृंगार काव्य में कम देखने को मिलती है, उसकी जड़े दूर तक गई नहीं मिलतीं। रूपाकर्षण, प्रथम मिलन, संयोग आदि संबन्धी अनेक चित्र मिलेंगे। नायक का प्रेम विशेषयकर ऐन्द्रिक है इसी लिये विरह में उसकी व्यथा का चित्रण अत्यल्प हुआ है, नायिका की ही पीड़ा का विशेष। कवि उसकी भी वास्तविकता से अनवगत रहे हैं इसीलिये उन्होंने हास्यास्पद ऊहाओं और अतिशयोक्तियों का सहारा लेकर वियोग-वेदना की गहराई में उतरने का ढोंग रचा है। सच्ची भावुकता या प्रेम की अनुभूतिजन्य तीव्रता के दर्शन नहीं होते। इस प्रकार ये कवि दोनों दीनों से गये नज़र आते हैं। 'माया मिली न राम' वाली उक्ति इनके लिये बावन तोला पावरत्ती ठीक उतरती है। शृङ्गार के फेर में ये रीति के आचार्य-पद से गिर जाते हैं और रीति के फेर में शृंगार की प्रकृष्ट भूमि से अधःपतित होते हैं। रीति काव्य के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि रसिक ही कहे गये हैं प्रेमी नहीं। इन रसिकों ने रूप पर रीझना, जिस तिस पर आसक्त होना। आंगिक सुघराई पर ही निसार होना तात्पर्य यह है कि प्रेम-पात्र के बाह्यावरण पर ही सर्वस्वार्पण करने की बान अपना ली थी फलतः इनकी दृष्टि रमणीय नायिका के मनोगत सौन्दर्य पर कम जा सकी, अन्नमय अथवा प्राण-मय कोषों तक ही रही, उन्हें भेदकर मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों तक न जा सकी। गहरी आंतरिकता के अभाव में रीति कवि की प्रेम-वर्णना में अपेक्षित तीव्रता नहीं मिलती। उसमें भावना का प्रवाह मन्द रहता है। स्थूलता, कामुकता या विलासिता, बहुन्मुखी अनुरक्ति, उपभोग-वृत्ति, वासना-भिव्यक्ति का ही प्रयत्न अधिक मिलता है। प्रेम विवृत्ति की यह बहिर्मुखता उसे अनियंत्रित और उच्छृङ्खल भी बनाने में सहायक हुई है। रीति कवि की यह विशेषता है कि उसमें उद्दाम शृंगार या भोगवृत्ति का अंकुठ भाव से चित्रण किया है। रीति कवियों द्वारा वर्णित यह प्रेम की प्राथमिक विशेषता है। रीति काव्य की नायिका भी पर्याप्त रसिक होती थी इसका एक चित्र बानगी के तौर पर देखिये—

> **कंज नयनि मंजनु किये, बैठी ब्यौरति बार।**
> **कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार॥ (बिहारी)**

गार्हस्थिकता—रीति कवियों के शृङ्गार-वर्णन का वातावरण अभारतीय

नहीं होने पाया है। उसमें अश्लीलता और वैषयिकता या इन्द्रियलोलुपता चाहे कितनी ही क्यों न हो और वह फारसी आदि विदेशी प्रभावों से कितना ही प्रभावित क्यों न हो किन्तु फिर भी उसकी परंपरागत मर्यादा अक्षुण्ण रही है। फारसी आदि के प्रभाव हिन्दी काव्य की भावभूमि का स्पर्श कम ही कर पाए हैं, अभिव्यंजना शैली तक उनकी पहुँच थोड़ी-बहुत जरूर रही है। रीतियुगीन शृङ्गार काव्य में बाजारू ढंग की हुस्न-परस्ती की बू नहीं आने पाई है और न वेश्यावृत्ति का खुला प्रदर्शन ही उसमें हुआ है। रीति कवियों के प्रेमवर्णन में स्वदेशी गार्हस्थिकता के दर्शन होते हैं। भारतीय गृहस्थ-जीवन में प्रणय-निर्वाह निरापद नहीं हो पाता क्योंकि परिवार में छोटे भी होते हैं और बड़े भी। गुरुजनों का भय उनके आगे-पीछे लगा रहता है। यह भीति पुरुष और स्त्री दोनों को निःसंकोच कभी नहीं होने देती। संकोच का उतार मन के धरातल पर चाहे जितना होता हो व्यवहार के धरातल पर तो वह चढ़ाव पर ही रहता है। एक गृहस्थ के परिवार में जहाँ नायिका या नववधू हुआ करती है परिवार के अन्य प्राणी भी तो होते हैं। पति या नायक के अतिरिक्त सास, ससुर, ननद, जिठानी, देवरानी, दास, दासियाँ (दूतियाँ,) छोटे बालक आदि सभी होते हैं। अवसर विशेष पर पंडित-पुरोहित, नाते-रिश्ते के अन्यान्य कितने लोग जुटते हैं। प्रणयी जीवन का आरंभ और अंत अपने देश में अधिकांशतः इसी वातावरण के बीच होता है। फिर परिवार के अतिरिक्त मुहल्ले-टोले के लोगों, बड़े-बूढ़ों का भी लाज-संकोच करना पड़ता है। हमारी सभ्यता में टोला-मुहल्ला भी परिवार का वृहद रूप ही मान्य हुआ है। वसुधा को कुटुम्ब मानने वालों के देश में यह बात नितांत स्वाभाविक ही हैं। गाँवों में यह ऐक्य आज भी समाप्त नहीं हुआ है यद्यपि यूरोपीय सभ्यता के निरन्तर प्रसार और प्रभाव के कारण वैयक्तिकतावादी (Individualistic) दृष्टिकोण दिन-दिन विकास पर हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रणय का विकास रीतिकाल में गृहस्थी के वातावरण में ही विशेषतः दिखाया गया है जहाँ प्रेमी-युगल को बात करने की स्वतंत्रता नहीं, देखने की स्वतन्त्रता नहीं, नायक के जाने या आने के समय विदा देने या स्वागत करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बेचारी नायिका इसीलिए तो कभी प्रवास से लौटे हुए नायक को 'पावक झर के समान झरोखे से झमक कर देखती और भाग जाती है' या जाते हुए नायक को आँसू भरे नेत्रों से विदा देती है। बेचारा नायक भी परदेश जाते समय ऊपर से झाँकती हुई नायिका को पगड़ी ठीक करने के बहाने 'टा-टा' करता है। नायिका शाम होते ही सारे काम-काज जल्दी-जल्दी निपटाने लगती है। सास और ननद यदि संकीर्ण विचारों की हुईं तब तो जीवन और भी दूभर हो जाता है। दिन-रात चुगली चला करती है 'घरहाइनें' आफत मचाए रहती हैं। ऐसे घुटन से भरे हुए गार्हस्थिक वातावरण के भीतर भारतीय युवक-युवतियाँ अपने प्रेमपूर्ण जीवन को किसी प्रकार निभाते आये हैं। पारिवारिक मर्यादा की वेदी पर उनकी आकांक्षाओं

की बलि चढ़ा दी गई है। यौवन के समस्त उत्साहों को गृहस्थ जीवन की काशी में 'करवत' लेना पड़ गया है। फिर भी प्रेमी हुए हैं जिन्होंने इन सब दिक्कतों के बावदूद भी अपना प्रेम का मधुर जीवन यापित किया है और बड़ी जिन्दादिली के साथ। ऐसे भी प्रेमी हुए हैं जिन्होंने चारित्रिक अधःपतन के दृष्टांत प्रस्तुत किये हैं। नायिकाएँ भी अन्य पुरुषानुरक्त देखने में आई हैं परन्तु कम। रीतिकालीन काव्य की प्रणय-भावना का आदर्श त्याग और बलिदानपूर्ण तथा उदात्त और महत् न था फिर भी एक बड़ी बात यह देखी गई है कि उसमें परकीया प्रेम या गणिकानुराग की अल्पता है। डा० नगेन्द्र ने इस बात को स्वीकार किया है—'यद्यपि एक-एक राजा था रईस के यहाँ अनेक वेश्याएँ थीं······ परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होंने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या !······गणिका के प्रेम को उन्होंने स्पष्ट रूप से रसाभास माना और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया—प्रेमहीन चित्र वेश्या है शृंगाराभास।'[1] नायिका-भेद के प्रकृष्ट ग्रंथ लिखने वाले महाशृंगारी आचार्यों ने भी परकीया तथा सामान्या (गणिका) नायिकाओं का अत्यल्प वर्णन किया है। गणिका के प्रेम-वर्णन में आचार्यों ने शृङ्गार रसाभास ही माना है। इससे भी इतना तो सूचित होता ही है कि चारित्रिक स्तर को किसी सीमा तक बनाए रखने का ध्यान इन कवियों को भी रहा है रीति कवियों के प्रेम-वर्णन की तुलना में हम देखते हैं कि भक्तियुगीन कवियों का प्रेमवर्णन अधिक स्वच्छंद और बाधा-बंधनरहित है चाहे सूर की गोपियों का हो चाहे तुलसी की सीता का चाहे सूफी प्रेमाख्यानों के विरही-विरहिनियों का। थोड़ी बहुत लोक लज्जा मीरा के रास्ते में आई किन्तु उसने उसका पूर्ण तिरस्कार कर दिया।

इस प्रकार रीतिकवियों के प्रेम-वर्णन का जो गार्हस्थिक वातावरण है वह उसे असामाजिक नहीं बनने देता। उसमें विकृतियाँ हैं किन्तु है वह घर-घर की ही कथा। यह गार्हस्थिकता वर्णाश्रम-मर्यादाओं से प्रभावित उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के शृङ्गारी काव्यों में भी देखी जा सकती है। रीति कवि का शृङ्गार वर्णन उस परंपरा से अपनी खूराक पाता रहा है। परिवार के जटिल जंजालमय जीवन में पलने वाला प्रेम साहसिक और घटनासंकुल नहीं हो सका है। हो भी कैसे सकता था जब घर की चहारदिवारी के बाहर पाँव नहीं निकाले जा सकते थे। फिर यह युग ऐसा था जिसमें मुस्लिम शासन के कारण हिन्दू घरों में परदे आदि की प्रथाएँ प्रचलित हो चली थीं। सड़कों पर स्त्रियाँ अपवाद रूप में ही दिखाई देती थीं इसलिए प्रेम का रोमानी और साहसिकता-संवलित रूप यहाँ नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तो मात्र

---

[1]. डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १६०-६१

रसिकता है, लोभ है, ललक है, अप्राप्ति की छटपटाहट है, प्राप्ति या भोग की तृप्ति है। साहस यदि है तो इस प्रकार का—

> अँगुरिन उचि, भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
> रुचि सों दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल ॥ (बिहारी)

या उसकी भावना मात्र से भी काम चला लिया गया है। नायिकाभेद ग्रन्थों की अभिसारिकाएँ अवश्य कुछ साहसमयी हैं। एक प्रच्छन्न प्रेमाभिसारिका को देखिये :—

> लीनै हमैं मोल अनबोले आई जान्यो मोह,
> मोहिं घनश्याम घनमाला बोलि ल्याई है।
> देखो ह्वै है दुख जहाँ देहऊ न देखी परै,
> देखो कैसे बाट केशो दामिनि दिखाई है॥
> ऊँचे नीचे बीच कीच कंटकन पींडे पग,
> साहस गयन्द गति अति सुखदाई है।
> भारी भयकारी निशि निपट अकेली तुम,
> नाहीं प्राणनाथ साथ प्रेम जो सहाई है॥
> (केशव : रसिकप्रिया)

श्रृंगार के पोषण में दूतियाँ खूब काम करती हैं। सद्भाव या रुचि जागृत करने में, मानमोचन में, मिलन कराने में उनका सहयोग अमूल्य होता है। वे नायक को आकृष्ट करने के नाना विधियाँ बतलाती हैं गरूर कम कराती हैं आदि आदि और कभी-कभी मौका लगने पर नायक का संभोग सुख भी प्राप्त करती हैं। रीतिकालीन श्रृङ्गार की गार्हस्थिकता इसी प्रकार के नाना प्रेम-प्रसंगों की उद्भावना कराने में सहायक हुई है।

निर्वैयक्तिक प्रेम—अनुभूतिप्रधान प्रेम जो कवि के निजी जीवन से संजात होता है उसकी विवृत्ति कुछ और ही होती है। बोधा और घनानन्द के काव्य में कवियों का जो दीवानापन और मस्ती है वह रीतिबद्ध कवियों के बाँटे नहीं पड़ी है। उसका कारण क्या है? यही कि रीति की छाप से छपे हुए आचार्य या कवि श्रृङ्गार की रचना पर रीति का ठप्पा लगा देते थे। काव्य का एक पैटर्न निर्धारित हो चुका था। उसी ढब पर कुछ कह देना ही उनका काम था। कथ्य भी वही था, विधि भी वही थी। सब कुछ पूर्वनिर्धारित रहता था हाँ थोड़ा कथन-चमत्कार, थोड़ी प्रसंगोद्भावना में बुद्धि व्यय करना पड़ता था। फल यह हुआ कि कविता बहुत-कुछ एक रस, एक रूप हो चली। केवल देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर जैसे समर्थ कवियों को ही भाषा या शैली-भेद से पहचाना जा सकता है, शेष लगभग एक से ही

हैं वक्तव्य और उसकी विधि दोनों की ही दृष्टि से। वैयक्तिकता का यह विकास रीति के शताधिक कवियों में न हो सका। इसका कारण युग और काव्य-परम्परा में ढूँढ़ा जा सकता है। सभी कवि थे, आचार्यत्व की स्पृहा थी। आचार्य बनने के लिए रीति की उँगली पकड़नी जरूरी थी। रीति ग्रन्थों में जो कथित होता था उसी पर उदाहरण लिखना इनका काम था। बँधे ढर्रे पर चलने से काव्य एकरूप न होता तो और क्या? यही कारण है कि शृङ्गार, संयोग, विप्रलम्भ, मान, प्रवास, आगमन, मिलन, उत्कंठा, अभिसार, ऋतु, मास, दूतियाँ, सखियाँ आदि रस और नायिका-भेद के सुनिश्चित विषयों पर भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी के निर्धारित अवयवों को समेटती हुई कविता निकल जाया करती थी। इसी सङ्कीर्ण दायरे के बीच रीति कवि अपना नट-कौशल दिखाया करता था। भावना की धारा में कभी बरसाती नद की-सी उच्छृङ्खलता न आती थी, फलस्वरूप कवि उसमें अत्युक्तियों और ऊहाओं के भँवर डाल दिया करता था, जिसमें कृत्रिम सौन्दर्य भी आ जाय, कविता की एकतानता टूट जाय, चमत्कृति भी आ जाय और नवीनता भी दिखने लगे। भँवर जैसे नदियों के लिये सौन्दर्य का कारण भले हो किन्तु वह उसके या किसी के लिए श्रेयस्कर कदापि नहीं कहा जा सकता वैसे ही काव्य की ऊहाएँ भी।

प्रेम वैषम्य का अभाव—प्रेम में वैषम्य मजा ले आता है। प्रेम के कठोर मार्ग पर चलने वाला प्रायः दुख पाता है इस बात को सूरदास ने अपने इस प्रसिद्ध पद—**'प्रेम करि काहू सुख न लह्यो'** में कितने ही दृष्टान्तों से उदाहृत किया है। यह सर्वमान्य, सार्वभौम सत्य है। वैषम्य प्रेम की प्रकृति है इसीलिए प्रणय के अन्तर्गत काव्यशास्त्री कलह का भी जान-बूझ कर विधान करते हैं किन्तु प्रेम व्यञ्जना में परिस्थिति, स्वभाव, सन्देह, निष्ठुरता, अप्राप्ति, उदासीनता, वियोग, उपेक्षा, परप्रीति आदि नाना कारणों से व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर विरोध या वैषम्य की स्थिति प्रायः उत्पन्न हो जाया करती है। यह विपरीतता मन में नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने वाली होती है। विदग्ध और मर्मी कवि इन मनोगत प्रतिक्रियाओं और विकृतियों का चित्रण बड़े अभिनिवेश के साथ करते पाये जाते हैं। सूर ने, जायसी ने, घनानन्द ने, बोधा ने ऐसा ही किया है। प्रीति-विषमता, वियोग आदि कारणों से प्रेम-काव्यों में अनूठी भाव-सृष्टियाँ सम्भव हो सकी हैं—

> **प्रीति कर दीन्हीं गरे छुरी।**
> **पहले श्याम चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी॥ (सूर)**

और इसी कारण उस विषम स्थिति में वियोग के गीतों से मर्मी कवियों का सारा प्रणय-काव्य ओतप्रोत हो रहता है। विरह प्रेम को पुनीत कर देता है। विरह की असीम और प्राणान्तक वेदना झेलने वाला प्राणी भी प्रेम करना छोड़ता नहीं वरन् बिहारी

के कुरंग की भाँति और भी उलझता ही जाता है। उस विषम परिस्थिति के अन्दर निहित मानसिक सुख के आगे सुख का साक्षात पारावार अनीप्सित और उपेक्षणीय हो जाता है—

> **जाके या वियोग दुःखहू मैं सुख ऐसो कछू।**
> **जाहि पाइ ब्रह्म सुखहू को दुख मानै हम ॥** (रत्नाकर)

इस प्रकार की तीव्र और विशिष्टताव्यंजक प्रेमावेगपूर्ण रचनाएँ जो अपने प्रवाह में पाठक को कुछ दूर तक बहा ले जाएँ विरले हैं। यह सामर्थ्य रीतिकाल के किन्हीं प्रेमी कवियों को यदि प्राप्त है तो वे हैं स्वच्छन्द धारा के उन्मुक्त गायक घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि जो बेचैनी और पीड़ा में रास्ता नहीं पाते। कहाँ जायँ यह समझ में नहीं आता। प्रमत्तता उन्हें दिक्-काल-ज्ञान-शून्य कर देती है और वे चीख उठते हैं—

> **अन्तर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।**
> **आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।**
> **जौ घन आनन्द ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानिनि पीरौं।**
> **पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी में धसौं कि अकासहिं चीरौं ॥** (घनआनन्द)

[शास्त्र की लीक पर चलने वाले सरस्वती-पुत्रों के भाग्य में प्रेम की ऐसी मार्मिक व्यञ्जनाएँ न थीं।]

परकीया प्रेम का वर्णन—शृंगार काल में राधाकृष्ण नायक-नायिका बनाकर जिस प्रणय का सविस्तार वर्णन किया गया वह प्रणय स्वकीया प्रणय न होकर परकीया प्रणय ही रहा। बात यह है कि परकीया प्रेम के चित्रण में ही प्रणय-प्रसङ्गों के असीम विस्तार की संभावनाएँ दिखाई दीं, स्वकीया के प्रेम में नहीं। राधा स्वयं परकीया नायिका थीं। इसके अतिरिक्त व्रज भाषा काव्य इस युग में फारसी काव्य की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा हुआ जहाँ परकीया का ही इश्क प्रधानता से वर्णित हुआ है। फारसी शायरी में परकीया प्रेम या परकीया की अदाओं, वचनावली के चुटीलेपन की अधिकता देखी जा सकती है साथ ही एक माशूक के अनेक आशिकों या रकीबों का वर्णन मिलता है। भाषा कवियों ने ऐसी शायरी की प्रतिस्पर्धा में और अपनी कविता द्वारा मजलिस में अपना रङ्ग जमाने के इरादे से नायक-नायिका भेद के ग्रन्थों की शरण ली। इस स्पर्धा-भाव के कारण भी परकीया प्रणय का कवियों ने डट कर वर्णन किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि वह परकीया-प्रेम जो सामान्यतः बहुत कम वर्णित होता था फारसी काव्यों की प्रतियोगिता में आ खड़ा हुआ और तद्-विषयक रचनाओं की अधिकता हो चली। नैतिकता की सुरक्षा के लिए नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका के रूप में राधाकृष्ण का ही नाम लिया गया। यह परकीया-भाव

का प्रेम भक्ति की परम्परा से भी थोड़ा-बहुत रीतिकाल में आया यद्यपि रीति या नायिका-भेद के ग्रंथों में परकीया प्रेम को सर्वत्र अनुचित कहा गया है-- देव ने स्वकीया का वर्णन वाच्य, परकीया का लक्ष्य और सामान्या या गणिका का व्यंग्य ही रखना उचित माना है अर्थात् स्वकीया का वर्णन काव्य में प्रत्यक्ष करना चाहिये, परकीया का उपलक्ष्य के रूप में और सामान्या का संकेत रूप में । जिस परकीया प्रेम का रीतिबद्ध कवियों ने सविस्तार वर्णन किया है उसके लिए कृष्ण चरित्र में पूरा अवकाश था फलस्वरूप इन कवियों ने कृष्ण और गोपियों के मधुर प्रणय-प्रसङ्ग को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया । युग की आवश्यकता एवं अपने मनोभावों को कृष्णार्पित कर वे एक सीमा तक लोक-भर्त्सना से भी बचे रहे । जयदेव और विद्यापति भी राधाकृष्ण के प्रणय की मधुर भावना के मोहक चित्र उतार चुके थे । इस प्रकार परकीया भाव के प्रणय-चित्रण की परम्परा रीतिकाल के लिए कोई नई चीज न थी, उसका क्रम परम्परागत ही था । प्रतिस्पर्धा में लिखित साहित्य स्वकीया-प्रेम के सहारे बहुत दूर तक नहीं जा सकता था और मुकाबले में ठहर भी नहीं सकता था । अपभ्रंश की पुरानी रचनाओं और देशी गीतों में स्वकीयाओं के प्रेम का मधुर मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है परन्तु हिन्दी के रीति कवियों का सम्बन्ध उससे नहीं था और इसीलिए स्वकीया प्रणय के उस प्रकार के भावविभोर कर देने वाले चित्र इनमें नहीं मिलते । 'अलौकिक दृष्टि से भक्ति के भीतर जो दाम्पत्य प्रेम रक्खा गया वह सर्वत्र स्वकीया का प्रेम न रहा, क्योंकि उपास्य और उपासक या आकर्षक और आकृष्ट के रूप की लम्बी-चौड़ी भूमि परकीया प्रेम के परिष्कार में दिखाई पड़ी जिसमें अलौकिक सम्बन्ध का आरोप होने लगा । इस प्रकार प्रेम की विवृत्ति के साहचर्य में परकीया प्रेम के विस्तार को विशेष उत्तेजना प्राप्त हुई । हिन्दी साहित्य को उस समय जिस साहित्य से प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी उसमें परकीया-प्रेम का बाहुल्य था । प्रतिद्वन्द्विता से पीछे हटने पर कवियों की हेठी होती थी । अतः नायिका-भेद से परकीया-प्रेम ले लिया गया पर आचारनिष्ठता को ध्यान में रखकर प्रेम के आलम्बन श्री कृष्ण और राधिका माने गए ।,[१] भक्ति काल के काव्य में जहाँ शृङ्गार के साथ भक्ति अच्छी तरह जुड़ी हुई थी वहाँ इस युग में भक्ति संस्कार या आवरण के रूप में ही रह गई थी प्रधानता शृंगार की हो चली थी ।

रीतियुगीन काव्य की शृंगारिकता के प्रेरक तत्वों, उसके पीछे निहित दृष्टिकोण एवं उसके स्वरूप का अनावरण करते हुए विदग्ध समालोचक डा० नगेन्द्र के ये निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं[२]—

---

[१], विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृंगार काल, पृ० ३७३

[२], रीति काव्य की भूमिका (१९५३ ई०) पृ०१६३

(१) उसका (रीतिकाव्य का) मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय अतएव उपभोगप्रधान है। उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य संकेत नहीं।

(२) इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगार उपभोगप्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती।

(४) इसीलिए इनमें तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।

हार्दिकता एवं भावप्रवणता—रीति काव्य या रीतिबद्ध काव्य की आलोचना करते हुए आलोचकों ने इधर उसके एक पक्ष की उपेक्षा कर दी है, वह है उसका भावपक्ष। रीतियुगीन रीतिनियन्त्रित काव्यधारा में रीति की जकड़ या छाप के होते हुए भी पर्याप्त भावुकता और सरसता के दर्शन होते हैं। कलात्मकता ही नहीं सरसता की दृष्टि से भी इस युग के काव्य का महत्व कम नहीं है। रीति की छाप या परम्परा का अनुसरण या सृष्टकाव्य की वर्ण्यगत एकरूपता के होते हुए भी पर्याप्त सहृदयता और भावात्मक नवीनता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक कवि एक ही वर्ण्य को लेकर काव्य-रचना करता हुआ भी नवीनता की ओर जाता है कवि की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। इसी कारण काव्य के सीमित वर्ण्य—शृंगार—के अन्दर भी कवियों ने भावों का एक असीम विस्तार दिखलाया है; उस सबकी अभी पूरी-पूरी टोह नहीं हो पाई है। यदि शृङ्गार-काव्य का पाठक इस समस्त भाव-राशि के ही विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो तो उसे देखने और काम करने का एक बहुत बड़ा क्षेत्र मिल सकता है। अभी एक-एक कवि के ही विशेषाध्ययन की प्रवृत्ति जोरों पर है या वर्गीकृत काव्यधाराओं के पृथक्-पृथक् अनुशीलन की। रीतिकाव्य के सर्वप्रधान वर्ण्य शृङ्गार के ही अन्तर्गत असंख्य भावों का नानाविध चित्रण हुआ है। उस सबका आकलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि रीति कवियों की भावात्मक सम्पदा कुछ कम नहीं थी, गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से। जितने सूक्ष्म, सुन्दर, सुकुमार और अभिनव मनस्थितियों की ओर ये कवि अग्रसर हुए हैं और इस प्रकार की जितनी सुन्दर से सुन्दर छन्दसृष्टि इन कवियों ने की है वह गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से असाधारण महत्व रखती हैं। रीतिकाव्य अपनी इसी शक्ति पर तो भाषा-काव्य का मंडन बना हुआ है। सच्चा कवि-कर्म यदि किसी युग

में हुआ है तो वह हिन्दी का रीतियुग ही है; जहाँ कविता कविता के लिये ही लिखी जाती रही है; भक्ति, नीति, युद्धादि की उत्तेजना प्रदान करना तथा सामाजिक सुधार और देशोत्थान आदि के इतर लक्ष्य जहाँ भुला दिये गए थे। यह सोचना कि कलापक्ष का विशेषाग्रह लेकर चलने वाले रीतिकार कवियों में रस-तत्व का अभाव था या भावात्मक पक्ष क्षीण था उनके साथ अन्याय करना होगा। ये कवि गहरी वैयक्तिक अनुभूति से उस प्रमत्तकारिणी अन्तर्व्यथा से प्रेरित हो काव्य-रचना भले ही न करते रहे हों जो श्रेष्ठ काव्यों का सृजन करने में समर्थ हुआ करती है किन्तु भावजगत के ये भी द्रष्टा और पारखी थे मानव प्रकृति के ये भी ज्ञाता और मर्मी थे। यहाँ यह अवकाश नहीं कि रीति कवि की विशाल सहृदयता का परिचय कराया जाय किन्तु संकेत रूप में इतना ही कथन अभीष्ट है कि रीति कवि की भावात्मक सम्पदा अनल्प थी और उसके अनावरण और विश्लेषण का क्षेत्र अब भी अपनी विशाल सम्भावनाएँ रखता है। कितने महत्वशाली रीतिकवियों की रचनाएँ हिन्दी के अनुसन्धाताओं, विद्वानों और आलोचकों के समक्ष आज भी नहीं हैं। ऐसी रचनाएँ भी इस युग के रीतिबद्ध काव्य में पर्याप्त मिल जायँगी जो भाव-प्रवणता में भक्तिकालीन रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं—

(क) पिय कें ध्यान गही गही रही वही है नारि।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ (बिहारी)

(ख) आपनी ओर की चाहै लिख्यौ लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी दया करि वेगि मिलौ, सहि जाति बिथा नहिं मैन मरोर की।
आपु हीं बाँचि लगावति अंक, अहो किन आनी चिठी चित चोर की।
राधिके राधे रही जकि भोर लौं, ह्वै गई सूरति नन्द किसोर की ॥
(अज्ञात)

(ग) साँसन हीं में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयौ गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥ (देव)

(घ) झहरि-झहरि झीनी बूँद हैं परत मानों,
घहरि-घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यौ स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज'
फूली न समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई उठि गई री निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनश्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगन में ॥ (देव)

(ङ) क्यों इन आँखिन सौं निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नैकु निहारे कलंक लगै, यहि गोकुल गाँव बसे किमि जीजै।
होत यहै मन मैं 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥ (मतिराम)

यह सोचना कि कला की वेदी पर भावुकता की बलि चढ़ी है इस काल के कवियों के साथ अन्याय करना है। आवेगपूर्ण मनोदशाओं के कितने ही चित्र इन कवियों ने अंकित किये हैं। जिस संश्लिष्ट रूप में भावों और परिस्थितियों को इन कवियों ने अंकित किया है उससे काव्य में मूर्तिमत्ता या चित्रात्मकता काव्यामोहक सन्निवेश हुआ है—

(क) नाक मोरि सींबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥ (बिहारी)

(ख) चलत घेरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराय।
समुझि वहै घर कौं चलै भूलि वहै घर जाय॥ (बिहारी)

(ग) आरस सों आरत सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै 'पदमाकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिधुर बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीली छिति छहरि छरा को छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरै,
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥ (पद्माकर)

(घ) आई खेलि होरी घरैं नवल किसोरी कहूँ
बोरी गई रंग में सुगंधनि झकोरै है।
कहैं पदमाकर एकन्त चलि चौकी चढ़ि
हारन के बारन तें फन्द बन्द छोरै है॥
घांघरे को घूमनि सु ऊरुन दुबीचे दाबि
आंगीहू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि
चौवर पचौवर कै चूनरि निचोरै है॥

(ङ) भरत जहाँई जहाँ पग है गुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।

हार तें हीरे झरैं, सारी के किनारन ते,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात ॥

पद्माकर, बिहारी, मतिराम और देव ऐसे कवियों में इस प्रकार के अनेक चित्र मिलेंगे जो पाठक के हृदय पर अपना अचूक प्रभाव डालने में समर्थ हैं। रीति के बँधे-बँधाए संकीर्ण दायरे में भी इन रीति कवियों ने नये-नये भावात्मक प्रसंगों की जो अनेकानेक उद्भावनाएँ की हैं वे कवियों की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और असाधारण सहृदयता की परिचायिका हैं। शृङ्गार की संयोग-वियोगात्मक स्थितियों के अनुरूप असंख्य प्रणय-भाव-भावित परिस्थितियाँ कवियों ने खड़ी की हैं जहाँ भावना और कल्पना का मणि-कांचन-संयोग संघटित हुआ है और कितनी ही मनोहर एवं रमणीय काव्यसृष्टियाँ सम्भव हो सकी हैं। तीव्र भावावेग की ही स्थिति में इस प्रकार की पंक्तियाँ भी लिखी गई हैं—

(क) मन मोहन सों नेह करि तू घनश्याम निहारि।
कुंज बिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि ॥ (बिहारी)

(ख) ऐसो जु हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पायँ तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हेरि बदन निहारतो ॥
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेमपाथर नगारो दै, गरे सों बाँधि,
राधाबर-बिरद के बारिधि में बोरतो ॥ (देव)

(ग) कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँख ऊजरी होति ॥ (बिहारी)

जहाँ ऐसी भावुकता के दर्शन होते हैं वहाँ कला के उपकरण मात्र साधन ही रह गए हैं।

कलात्मक प्रवृत्ति और अलंकरण

कलाप्रधानता या आलंकरिता इस युग की एक अन्य प्रधान प्रवृत्ति थी। कवि-जन अपनी उक्तियों को अलंकारों से सजाया करते थे। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि रचना रस-शून्य हो सकती थी किन्तु अलंकारशून्य नहीं। किसी बात को साधारण ढंग से कहने में कवित्व कहाँ जब तक उसे उक्तिगत चमत्कार से संश्लिष्ट न कर दिया जाय।

इसी प्रवृत्ति के कारण इस युग की रचना में ऊपरी अलंकृति पूरी पाई जायगी । इस युग के अधिकांश कवि उक्तिशूर हुआ करते थे । वचन-वक्रता, उक्तिवैलक्षण्य, कथन-सौष्ठव आदि बातों पर पूरा ध्यान रहता था इसी कारण रीति कवियों की कविताएँ कवि-समाजों या सभा-समाजों में विशेष रूप से समादृत होती थीं। राजसभाओं में सुनाने का उद्देश्य भी इन कवियों की काव्य-रचना के पीछे था। सभा-समाजों में उक्ति का सौन्दर्य दिखलाने वाले कवि किस प्रकार पद-पद पर प्रशंसित और सम्मानित होते हैं यह हमसे-आपसे छिपा नहीं है। इस प्रकार काव्य में अलंकरण की प्रधानता का कारण एक बड़ी सीमा तक राज्याश्रय भी रहा जहाँ उक्तिगत चमत्कार और शब्दों की बाजीगरी पर रीझने वालों की बहुतायत थी। अलंकार-साधित काव्य-कला की उस प्रदर्शन के युग में अच्छी क़द्र थी तथा अलंकृत काव्य-रचना का कौशल दिखलाने वाले कवि सभा-समाजों में विशेष आदृत होते थे। बिहारी, केशव और सेनापति की कविता का समादर उसकी कलात्मकता के ही कारण हुआ। रचना के अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते रसिक-समाज यदि झूम न जाय तो कविता कविता नहीं इसी कारण रीति काल के अधिकांश कवित्त-सवैयों में अंतिम चरण बहुत अच्छे और वजनी बन पड़े हैं। रचना अपने अंतिम चरण तक आते-आते अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। चरण और कल्पना दोनों का विधान इसी दृष्टि से किया गया है। इतनी कलात्मक चेतना लेकर हिन्दी के किसी दूसरे काव्य युग के कवि न चले। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसीलिये कहा है कि 'सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिन्दी साहित्य के सहस्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं।'[१] रीतियुग में समस्यापूर्तियाँ खूब होती थीं, कला का चमत्कार खूब दिखलाया जाता था आदि आदि। दरबारी वातावरण के लिए लिखे जाने के कारण इस युग के काव्य में बहुत साज-सज्जा और चमत्कारप्रवणता आई। दरबार में पढ़ी जाने वाली रीति कविता एक तो अधिकांश में मुक्तक रही दूसरे उसमें कलापक्ष की प्रधानता हुई। सभा-समाजों में वही रचना विशेष अभिनंदित होती है जिसमें कला एवं चमत्कार की विशिष्टता होती है। यह बात आज के कविसम्मेलनों में भी देखी जा सकती है। विगत युग की ब्रज-भाषा गोष्ठियों का तो वह प्राण ही हुआ करती थी। सभा-समाजों में गंभीर रचना जम नहीं पाती। साधारण जन की रुचि को उत्तेजित और आकर्षित करने की क्षमता अलंकरण और चमत्करण में ही हुआ करती है। इसी प्रकार रचना में छंदगत सौन्दर्य

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—देखिये परिचय पृ० २ (घनानन्द और स्वच्छंद काव्य-धारा, सं० २०१५)

भी विशेष लाने की चेष्टा की जाती है। रीतिकाल के कवित्त और सवैयों में अनुप्रास, प्रवाह, नाद, लय और वर्ण-विधान का जो मनोग्राही सौन्दर्य है वह भक्तिकालीन कवित्त सवैयों में नहीं। इसका विशेष कारण कविता का राजदरबारों में पाठ किया जाना ही है, यही कारण है जिससे काव्य के इन बाह्य उपादानों पर कवियों ने पूरा-पूरा ध्यान दिया।

इस युग के काव्य में अलंकरण की अधिकता का अन्य कारण था अलंकार-सम्बन्धी ग्रंथों का प्रणयन। सैकड़ों रीति कवियों ने अलंकार विषय को लेकर रीति ग्रंथ लिखे। उनकी बहुत-सी रचना अलंकारों के निदर्शनार्थ ही हुई फलस्वरूप भी अलंकारिकता काव्य का एक अनिवार्य अंग बन गई। अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन ही संभवत: सबसे अधिक हुआ भी।

काव्य के रसपक्ष का पर्याप्त उद्रेक पूर्ववर्ती काव्य में किया जा चुका था। कवि-जनों ने अब उसके ऊपरी साज सज्जा तथा बाह्य सौष्ठव की ओर दृष्टि फेरी। कविता कामिनी अनलंकृत रहे ऐसा उनकी सौन्दर्य दृष्टि सह नहीं सकती थी। 'अर्थालंकार-रहिता विधवैव सरस्वती' की भावना इनमें प्रबुद्ध हो चुकी थी। काव्य को निर्दोष रखने की पूरी चेष्टा की जा रही थी—

दूषन कों करिकै कवित्त बिन भूषन कौं
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है। (सेनापति)

काव्य के सभी अंग ठीक हों किन्तु भूषण तत्व यदि क्षीण हो तो काव्य अशोभन माना जाता था। यह बात केशव तो केशव रसवादी देव को भी माननी पड़ी थी—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥ (केशवदास)
कविता कामिनि सुखद पद, शुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥ (देव)

इस कथन में युग की सामान्य प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। भक्ति काल में काव्य की भाषा को सूर, तुलसी, जायसी ऐसे परम प्रतिभाशाली कवियों के संसर्ग से शक्ति और प्रौढ़ता प्राप्त हो चुकी थी। उत्तर मध्यकाल में आवश्यकता थी उसको व्यवस्थित और अलंकृत करने की। उत्तर युग के कवियों ने उसे व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा तो नहीं की किन्तु उसे सजाने-सँवारने की चेष्टा अवश्य की। इस चेष्टा में ये कवि शब्दार्थगत अलंकारों के प्रयोग, भाषा की लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों के विनियोग और भाषा को कोमल, ललित एवं मधुर बनाने की ओर विशेष रूप से गए। अलंकृत भक्त कवियों में भी थी पर वह आयास साधित नहीं, अंत: प्रेरित है। उनके भावोन्मेष ने उनकी वाणी को सहज सौंदर्य और अलंकृति से विभूषित किया। फिर

वे कवि काव्यशास्त्रीय परम्पराओं से अवगत थे। संस्कार रूप में परम्परागत सौन्दर्य-विधान उनके काव्यों में आए हैं। हाँ, कभी-कभी जब ये कवि बड़े-बड़े रूपक बाँधने लगते हैं तब अलंकरण का प्रयास अवश्य लक्षित होता है किन्तु रीतिकाल के कवि अपने काव्य के अंतर्बाह्य को सजाने में विशेष प्रयत्नशील हुए। बात यह है कि काव्य को ये कवि एक कला समझते थे जिसकी साधना से उसका काव्य तो काव्य-व्यक्तित्व भी समाज में प्रतिष्ठा के योग्य बनता था। इसलिए ये कवि काव्य को अलंकृत किये बिना बेचैन रहते थे। कविता कामिनी को ये निराभरण नहीं देख सकते थे। इसीलिए इन्होंने अपने काव्य को शब्दार्थगत अलंकारों से अच्छी तरह सजाया है। पद-पद पर अनुप्रास, यमक और श्लेष के प्रयोग देखे जा सकते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, रूपकादि नगों की भाँति पूरी पदावली में विजड़ित मिलेंगे। अलंकृति का ऐसा आधिक्य किसी दूसरे युग की रचना में नहीं मिलेगा। कारण यह था कि इनकी दृष्टि ही अलंकारों पर बड़ी सीमा तक टिकी रहती थी। इनकी रचनाएँ एक बार भावशून्य हो सकती थीं परन्तु अलंकारशून्य नहीं। अलंकारशून्य हुई कि ये कवि सारा खेल बिगड़ा समझ लिया करते थे। इन कवियों का जो प्रधान वर्ण्य प्रेम या श्रृंगार था उसकी व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति ये नहीं करते थे। जो कवि भावावेश या प्रेमावेश में कविता करते हैं उन्हें अलंकरण की विशेष परवाह नहीं होती, किन्तु जो कला की सृष्टि का लक्ष्य लेकर चलते हैं उनकी रचना में कला-कौशल न हो यह सम्भव नहीं। केशव, सेनापति ऐसे चमत्कार-प्राण कवियों में तो अलंकार काव्य के प्राण रूप में प्रतिष्ठित मिलेगा। वहाँ अलंकरण की सीमा हो गई है। सेनापति के कवित्त रत्नाकर के श्लेष तरंग का प्रत्येक छंद इसका प्रमाण है। केशव की रचना भी ऐसी ही है—

(क) तिन नगरी तिन नागरी, प्रति पद हंसक हीन।
जलजहार शोभित न जहँ, प्रगट पयोधर पीन॥

(ख) चढ़यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारिका कुसुम बिनु।

(ग) भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की,
नैन अमल कमलदल लोचन निकाई है॥
केसौदास प्रबल करेनुका गमनहर,
मुकुत सु हंसक सबद सुखदाई है।
अंबर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है॥ (केशवदास)

इस प्रकार अलंकार-ज्ञान और अलंकार-प्रयोग इस युग की काव्य-चेतना का एक प्रमुख अङ्ग था। कविता इससे रहित हो अपने सौन्दर्य और अस्तित्व दोनों से खारिज समझी जाती थी।

अलंकरण-कौशल इस युग में कवि के सम्मान का कारण होता था। कवि के व्यक्तित्व का रीतियुग में जैसा सम्मान हुआ वैसा सम्मान किसी दूसरे युग में नहीं।[१] यह बात भी कलाप्रधान काव्य-सर्जना के लिए पर्याप्त उत्साहप्रद सिद्ध हुई। जो इस दिशा में जितनी प्रौढ़ और परिष्कृत रुचि रखता था वह उतना ही आदर का आस्पद था। इस अलंकरण की अतिशयता का एक परिणाम यह भी हुआ कि कभी-कभी अलंकारों से रचना इतनी बोझिल हो गई है कि उसका रस या आनन्द-तत्व निकल गया है। केशव और सेनापति की काफी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।

वह बात तो सर्वमान्य ही है कि इस युग का काव्य एक बड़ी सीमा तक कला-कौशल के प्रदर्शनार्थ लिखा गया। अधिकांश कवियों के लिए कलात्मक काव्य-रचना साध्य ही थी। इसका एक और भी महत्वपूर्ण कारण था। कला-कौशल-प्रधान काव्य फारसी काव्य की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा किया गया। केशवदास ने वैसे तो प्रबन्ध रचना और नाटक रचना का भी मार्ग दिखलाया परन्तु लोग उस रास्ते गए नहीं क्योंकि वह आदर्श संस्कृत काव्यों का था जो इस जमाने में पुराना पड़ चला था। विदेश के नवागत फारसी काव्य का आकर्षण ही इस युग में अधिक था। फारसी की शृङ्गारपरक मुक्तक रचनाओं के जोड़-तोड़ में इस युग के कवियों ने मुक्तकों को ही लिया और उसी में अपनी कारीगरी दिखलाई। 'यह कारीगरी नाजुक खयाली के पेश करने में, उक्ति वैचित्र्य में और शब्द-विधानगत सौन्दर्य में दिखलाई गई। प्रतिद्वन्द्विता में कला तत्व खूब उभरा, यह मानना पड़ेगा।

धार्मिक काव्य की प्रचुरता हो चुकी थी और स्वधर्म-भावना हिन्दुओं में तत्परिणामस्वरूप स्थिर हो चुकी थी। पिछली दो-तीन शताब्दियों में इस धार्मिक चेतना का उद्रेक और क्रमशः शमन हो चुका था अतएव अब काव्य को दूसरी दिशा ग्रहण करनी थी। नये-नये कवियों को इस युग ने उत्पन्न किया जिन्हें आध्यात्मिकता की चिन्ता न थी वरन् काव्य को कलापूर्ण और सौन्दर्यसमन्वित देखने की अभिलाषा थी जिससे हिन्दू काव्य-रसिक फारसी और उर्दू की ही मँजी हुई भाषा के प्रवाह में

१, डा० रसाल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १९३१) पृ० ३८३-८४

'अब चूँकि राजदरबारों में कवियों का मान-सम्मान होने लगा था, उन्हें पुरस्कार प्राप्त होने लगे थे और कहीं-कहीं जागीरें या मुआफियाँ भी मिलने लगी थीं, अतः हिन्दी काव्य-रचना की ओर सभी पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा और बहुत-से आदमी काव्य-रचना का प्रयास करने लगे।'

बहकर अपनी भाषा और साहित्य को भुला न बैठें वरन् उसके प्रति अभिरुचि जगाए रहें। संस्कृत साहित्य क्षीयमान हो ही चला था, स्वदेशी भाषाओं के साहित्य की धारा स्वदेशी शासन के बीच सूख ही न जाय इस बात की बड़ी आशंका थी। अकबर ऐसे मुगल गुणज्ञों के हाथ भी ब्रजभाषा की परम्परा सम्मानित हुई और उसकी समृद्धि की ओर रीति कवियों ने विशेष ध्यान दिया यह महत्व की बात है। आवेशशील या भावप्रवण भक्तिपरक काव्य-रचना के बाद काव्य की प्रवृत्ति बदलनी ही थी। कला और शास्त्र के सजग पण्डितों ने उसे कलात्मक कौशल और अलंकरण या चमत्करण की राह दिखलाई; इससे एक बड़ी बात हुई वह यह कि लोक में सौन्दर्य-भावना का विकास हुआ और यह क्रम शताब्दियों तक चला यहाँ तक कि आधुनिक युग में भी रीति काव्य की रूढ़िमत्ता की कटु आलोचना करने वाले छायावादियों की दृष्टि भी कलाप्रधान ही रही। लोक मानस रीति युग में काव्यकला और सौंदर्य का आग्रही हो गया जैसा पहले नहीं था। रीति काव्य की यह भी कोई साधारण सिद्धि नहीं।

यह बात निर्विवाद है कि निरन्तर कलाप्रधान काव्य-रचना का क्रम स्थापित हो जाने से इस संपूर्ण युग में ही एक विशिष्ट कलात्मक दृष्टि का विकास हुआ। लोक में काव्याभिरुचि और सौन्दर्यादर्श जागृत हुए और कला-निर्णय की शक्ति विकसित हुई। इतना ही नहीं सभी प्रकार की काव्यधाराओं में सौंदर्य-चेतना का सन्निवेश हुआ। संतों में सुन्दरदास हुए जिनके द्वारा प्रणीत संत-काव्य कलात्मक सौंदर्यपूर्ण उत्कर्ष पर है। जो भी विषय काव्यबद्ध हुआ, कला का कुंकुम मस्तक पर लगाता गया, सौंदर्य उस पर विशेषतः मढ़ा गया। कला की पारसमणि ने हर लौह खण्ड को सुवर्ण बना दिया। मनुष्य तो मनुष्य प्रकृति के उपकरणों के चित्रण में भी याथार्थ्य की अपेक्षा सौन्दर्य का संश्लेष विशेष रूप से हुआ। यह प्रवृत्ति रीतिबद्धों में ही नहीं रीति-मुक्तों में भी देखी जा सकती है। द्विजदेव के प्रकृति-चित्रण में इस कलात्मकता और सौन्दर्यचेतना का विकास विशिष्ट रूप में हुआ—

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यौं ही मधुभारन अपारन सौं
नैकु झुकि झूमि रहे मोंगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयौ सो चन्द
गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन॥

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलै,
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं वृन्द वृन्द तरु
औरै छवि पुञ्ज कुञ्ज कुञ्जन उनै गए॥
औरै भांति सीतल सुगंध मंद डोलैं पौन
'द्विजदेव' देखत न ऐसैं पल द्वै गए।
औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गए॥

यह कला की साधना थी जिसने काव्योत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया। अन्यान्य काव्यधाराएँ भी चलती रहीं। रीति काव्य की कलाप्रधान धारा के कारण उनमें सौंदर्य का ज्वार ही आया है किसी प्रकार का अवरोध नहीं उपस्थित हुआ।

रीति की परम्परा का आरम्भ करने वाले आचार्यों कृपाराम, केशवदास, चिंतामणि आदि ने शुद्ध काव्य की रचना का मार्ग खोल दिया। रीतिकाल के पूर्व हिन्दी में काव्य-रचना केवल काव्य-रचना के ही उद्देश्य से कभी नहीं की गई। उसका उद्देश्य आश्रयदाता की प्रशस्ति करना, उसे युद्धादि में उत्साहित करना, निःश्रेयस की प्राप्ति करना अथवा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण तथा नीति अथवा उपदेश-कथन करना आदि ही रहा। काव्य की रचना काव्य-रचना के ही लिये इसके पहले और बाद के किसी भी युग में न हुई। कोई न कोई इतर लक्ष्य सामने जरूर रहा। शुद्ध काव्य की धारा रीतिकाल में ही प्रवाहित हुई फलस्वरूप इस युग के कवियों की काव्य-दृष्टि, कलात्मक सौंदर्य उत्पन्न करने की वृत्ति तथा उसके साधन—काव्यशास्त्र—द्वारा ही प्रधानतः निर्दिष्ट हुई; फलस्वरूप काव्य-रचना की शास्त्रीय प्रणाली स्वीकृत हुई और काव्य के प्रति रुचिरता या कलात्मकता की दृष्टि प्रधान रही। रीतियुग का काव्य कवियों और काव्य-रसिकों की कला और सौंदर्य की तृषा को मिटाने वाला काव्य है—यह तृषा एक बड़ी सीमा तक मिटी भी इसमें सन्देह नहीं।

रीति कवि की कलाविषयक दृष्टि—राजसी वातावरण में रहने और काव्य-रचना करने के कारण इन कवियों की काव्य के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टि विकसित हो चली थी। काव्य की रचना में उसके बाह्य सौन्दर्य को ये कवि विशेष महत्व देने लगे थे। कवि की कविता काव्य-लक्षणों से संयुक्त सुवृत्त (छन्दमयी) और सरस होने पर भी भूषणापेक्षी बनी ही रहती थी। यह 'भूषण' या अलंकारप्रधानता उनकी प्रधान प्रवृत्ति थी इसी कारण इस युग के कवि को प्रत्येक पद का विन्यास करते हुए सुबरन (सुन्दर अक्षरों) का शोधन करना पड़ता था। इनका काव्य 'रसआर्द्र'

भी हुआ करता था, यह भी उसकी एक अनिवार्य शर्त थी जिसकी ओर किसी-किसी ने ध्यान आकृष्ट किया है—

'बानी पुनीत ज्यों देवधुनी रस आरद सारद के गुन गाहैं ।' (देव)

काव्य में चन्द्रमा का शील हो और सूर्य की कांति तभी वह सच्ची कविता है—

'सील ससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहैं ।' (देव)

परन्तु सब गुण होने पर अलंकार न हो तो उसमें वह बात नहीं आती जो अपेक्षित है । इसे रसवादी देव ने भी स्वीकार किया है –

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति ।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति ।। (देव)

देव के इस कथन में केशव की उक्ति की छाया बहुत स्पष्ट है । रस को देव ने विशेष महत्व दिया है परन्तु अलंकार की महत्ता वे भी कम नहीं कर सके हैं । उनकी रचना स्वतः अलंकरण प्रधान है । इस युग में अलंकार की अतिशयता रही और उसकी महत्ता की दुंदुभी भी बजी; परन्तु वह रस तत्व का विरोधी नहीं माना गया । रीतिकाल के सबसे बड़े चमत्कारवादी केशवदास थे, उन्होंने भी रसविहीन काव्य को 'रस हीन' दोष से दूषित माना । इस मत को अन्य विद्वानों ने भी माना है—'रीति काव्य में अलंकरण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है पर रसात्मकता का आधार भी इतनी दृढ़ता से पकड़ा गया कि रीति कवियों की रसानुभूति से स्पंदित उक्तियाँ, शब्द-वैभव से संयुक्त वर्णन-भंगिमाएँ और स्वतः जिये हुए जीवन की साक्षी दैने वाली श्रृंगारिक ध्वनियाँ काव्य के मर्मज्ञ प्रेमियों के चित्त को सदा ही अपहृत करती रहेंगी ।'[१] रीतिकाव्य का कलापक्ष इतना समृद्ध एवं प्रौढ़ है कि वह अपनी तुलना आप ही है । परवर्ती युग में भी उसका प्रभाव बहुत समय तक हिन्दी काव्य पर देखा जा सकता है । भारतेन्दु युग तो भारतेन्दु युग द्विवेदी-युगीन एवं उत्तरवर्ती हिन्दी काव्य में भी रीतिकालीन प्रभाव अनेकानेक कवियों पर अच्छी तरह देखा जा सकता है । स्वयं छायावादी कवि भी शैलीगत सौंदर्य के प्रति जागरूकता के लिए रीति कवियों के ऋणी माने जायँगे । उन्हीं का विरोध कर उन्होंने उनसे ही काव्य-सौंदर्य की प्रेरणा प्राप्त की भले ही यह प्रेरणा कितनी ही अप्रत्यक्ष क्यों न हो ।

कला एवं काव्य-कौशल के परिचायक एक से एक सुन्दर छंद रीतिकाव्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं । वास्तव में ऐसे छंदों की संख्या 'अत्यधिक है' शब्द द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती । वस्तु का चित्रण, वर्ण्यगत सौंदर्य, पदावली का चमत्कार सब कुछ अतिशय अनुरंजक एवं व्यामोहक मिलेगा—

[१]—डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य संग्रह (सन् १९६१) भूमिका पृ० ६१

(क) पग पग मग अगमन परत चरन-अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि ॥ (बिहारी)

(ख) धरत जहाँई जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।
हारन ते हीरे झरैं, सारी के किनारन ते,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात ॥ (पद्माकर)

(ग) जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ बहै उमहै वह बेनी।
त्यों पद्माकर हरि के हारनि गंग-तरंगन को सुख देनी ॥
पायन के रंग सों रंग जाति सी भांति ही भांति सरस्वति स्रेनी।
पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मैं होत त्रिवेनी ॥
(पद्माकर)

जो लोग काव्य को नग्न यथार्थ और उपयोगिता के निकष पर कसने के अभ्यासी हैं उन्हें रीतियुगीन काव्य में निहित अपार सौंदर्य सूझेगा ही नहीं, उनके लिये वह काव्य है भी नहीं। युग के अनिवार्य प्रभाव को दृष्टि से ओझल कर साहित्य-चर्चा करने वाले प्रगतिशील समीक्षकों को यह सामंती साहित्य जला देने योग्य प्रतीत होता किन्तु काव्य को सौंदर्य की साधना मानने वाले रीतियुगीन कला-साधना की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेंगे। दैनंदिन जीवन की रुग्ण और अस्वस्थ अवस्था के बीच हमारे मनोलोक में सौंदर्य का नया संसार खोल देने वाला रीतिकाव्य चिरस्पृहणीय रहेगा। उसे हिन्दी साहित्य के शृंगार के रूप में ही देखना समीचीन है, कलंक के रूप में सोचना अपनी ही आँखों में धूल डालना है।

यदि मानव मन को अनुरंजित और आनन्दित कर देने की क्षमता काव्य की कसौटी है तो इस कसौटी पर रीतिकाव्य खरा उतरता है। उसमें साहित्य और कला की ऊँची अभिरुचि के दर्शन होते हैं। सौंदर्य के मध्ययुगीन प्रतिमानों का परिचय मिलता है। इस कलाप्रधान साहित्य की प्रेरणा शुद्ध साहित्य-सृजन की भावना में है। किसी राजनीतिक, धार्मिक या सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि में नहीं। काव्य का सृजन अपने आप में ही एक महत्वपूर्ण कार्य है। और इस आत्मसिद्धि में यह साहित्य पूर्णतः कृतकार्य है। रीति काव्य यौवन, सौंदर्य और प्रणय का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करता है और अपने इस परम व्यामोहक कार्य में अतिशय प्रभावपूर्ण है। यहीं उसकी चरम सिद्धि भी है।

रीति कवि का व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्ति

रीतिकाल में काव्य की विविध धाराएँ प्रवहमान थीं परन्तु इस काल में लिखी गई विशाल काव्यराशि का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ किसी न किसी प्रकार

'रीति' से अवश्य सम्बद्ध थीं। रीतिग्रन्थों के निर्माता या रीति की परम्परा के अनुसरणकर्ता कवियों की संख्या इतनी अधिक है तथा उनका काव्य रूढ़ियों में आबद्ध होने के कारण इतना एक सा हो गया है कि व्यक्तिवैशिष्ट्य के आधार पर उन्हें पृथक् करना असम्भव-सा है। केशव, बिहारी, देव, भूषण, मतिराम, पद्माकर, भिखारीदास आदि कुछ गिनती के कवियों को छोड़ देने पर रीतिपरक समस्त रचनाएँ लगभग एक-सी ही हैं। इसका कारण यही है कि ये कवि काव्य की परम्पराओं से इस तरह जकड़ गए कि स्वतन्त्र चिंतन या भावन की शक्ति ही निःशेष हो गई। क्या वक्तव्य वस्तु, क्या कथन पद्धति, क्या कल्पना विधान सब कुछ ऐसा मिलता-जुलता-सा बन पड़ा है कि लगता है जैसे ये कवि एक ही चटसार के पढ़े हुए बटुक हों। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ छाप सब पर एक ही थी। आश्रयदाता की प्रशस्ति और दरबारदारी, आचार्य पदाकांक्षा, शृंगारिकता या भोगवृत्ति हल्की सी भक्तिभावना, कला-कौशल का आग्रह आदि बातें थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ, सभी रीति कवियों में देखी जा सकती हैं। इसी कारण रीति कवि को व्यक्ति न कह कर यदि 'टाइप' कहा जाय तो कदाचित् अधिक युक्तियुक्त होगा।

इस 'टाइप' की विशेषताओं एवं अन्तर्वृत्तियों का संधान बहुत कठिन नहीं। अधिकांश रीतिकवि समाज के निम्न, दलित या शोषित वर्ग की उपज थे। अपनी कवित्व-शक्ति के कारण वे राजन्य वर्ग के संसर्ग में आ जाया करते थे तथा वहाँ धन-वैभव, सम्मान आदि उपलब्ध कर उसी सामन्त वर्ग की प्रशस्ति करते हुए या उनके सुखद जीवन को ही जीवन का चरम आदर्श मान उनकी आशाकांक्षाओं का चित्रण करने में अपने कविकर्म की चरम सफलता मानते थे। घोर दरिद्रता से निकल कर कवि और कलावंत जब उच्च एवं अभिजात वर्ग का आश्रय पा लेते थे तब इनमें निर्धनता के संस्कार धीरे-धीरे क्षीण पड़ जाते थे तथा ये कुलीन एवं सम्पन्न वर्ग के संस्कारों से संपृक्त हो उन्हीं के हर्ष-विषाद में रम लेते थे। निर्धन वर्ग के सुख-दुखों को ये प्रायः भूल-सा जाते थे। प्रकृति का यही नियम भी है। साधारण स्थिति में मनुष्य जब ऊँची स्थिति को पहुँच जाता है तब अपनी पूर्व स्थिति को भूल-सा जाता है। उसे पाना तो नहीं ही चाहता उस स्थिति में पड़े हुए लोगों को प्रायः हिकारत, घृणा, उपेक्षा या अवहेलना की दृष्टि से भी देखने लगता है। बिहारी ने इस तथ्य की ठीक व्यंजना की है :—

बढ़त बढ़त सम्पति-सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय॥ (बिहारी)

बेचारा निर्धन समाज न तो इन कलावंतों की कला का उचित पुरस्कार ही दे सकता था और न उनकी कला-साधना का आस्वाद ही ले सकता था। इसी कारण

ये कलाकार रईसों, उमरावों, सरदारों, नवाबों, छोटे-छोटे राजाओं, सूबेदारों इत्यादि की शरण ढूँढ़ा करते थे। उस युग में किसी सम्पन्न महाप्रभु की सभा या आश्रय में रहना भी कवि की प्रतिष्ठा का एक गहरा मानदण्ड था। शाहजहाँ के बाद तो इन राज्याश्रित कवियों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी। उत्तर रीतिकाल में तो इन्हें जगह-जगह बुरी तरह भटकना भी पड़ा। देव कवि किसी एक आश्रयदाता के यहाँ अधिक दिन ठहर ही न पाते थे, फलस्वरूप उन्हें कितनी ही जगह शरण लेनी पड़ी। स्वच्छन्द धारा के बोधा कवि का भी यही हाल था। कितने आश्रयदाता देख चुकने के बाद उन्हें 'खेतसिंह' महाराज ही ठीक जँचे—

देवगढ़ चाँदागढ़ मंडला उजैन रीवा
साम्हर सिरोज अजमेर लौं निहारो जोई।
पटना कुमाऊ पैंधि कुर्रा औ जहानाबाद
साँकरी गली लौं बारे भूपदेव आया सोई॥
बोधा कवि प्राग औ बनारस सुहागपुर
खुरदा निहार फिर मुरक्यो निराश होई।
बड़े बड़े दाता ते अड़े न चित्त में कहूँ
ठाकुर प्रवीन खेतसिंह सों लखो न कोई॥ (बोधा)

कभी-कभी बड़े-बड़े गुणी कवि आश्रय न पाने के कारण बड़े दुखी और जीवन से निराश भी हो जाया करते थे। एक कवि ने अपने बेबस और हतभाग्य होने का कैसा दारुण चित्र प्रस्तुत किया है—

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरौं।
बैठि जानौं सभा माँझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बाँधि खेत माँझ सत्रुन सों हौं लरौं॥
राग धरि गाऊँ औ कुदाऊँ घोड़े बाग धरि,
कूप ताल बावरीन नारन में हौं तरौं।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं॥[1]

स्थिति यह थी कि कवि या कलाकार रूप में आदृत हो चुकने के अनन्तर इनके लिये अपने दरिद्र भाइयों के बीच फिर से लौटना असम्भव था।

अर्थ और सम्मान की दृष्टि से राज्याश्रय पर अवलंबित रहते हुए भी रीति कवि आश्रयदाता के हाथ सर्वथा बिक ही गए थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनका

[1] डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य संग्रह (सन् १९६१) पृ० ३५

व्यक्तित्व, उनका आदर्श, उनकी प्रतिमा दरबारी वातावरण से ओत-प्रोत थी यह बात ठीक है और यह भी ठीक है कि आश्रयदाता की इच्छानुसार ये अनुरंजनकारी काव्य-सृष्टि किया करते थे; किन्तु इनका समस्त कृतित्व आश्रयदाता के लिए ही अर्पित नहीं हो गया था और न ही इनके काव्य आद्योपांत राजप्रशस्तियों से ही ओत प्रोत मिलते हैं। दो-चार छन्द आश्रयदाता के लिए लिख ये शुद्ध काव्य-रचना की प्रवृत्ति से चालित हो काव्य-प्रणयन में रत हो जाते थे। इनमें भी स्वाभिमान होता था और ये राजाओं को फटकार भी सुना दिया करते थे। राजसम्मान से वंचित होने पर बोधा अपने आश्रयदाता को खरी-खरी सुना बैठे—

जो धन है तो गुनी बहुतै अरु जो गुन है तौ अनेक हैं गाहक। (बोधा)

इन कवियों का खरापन इनकी एक जातिगत विशेषता है। जब-तब ये अपने ईश्वर को भी ऐसी ही खरी-खरी सुना दिया करते थे—

करौं कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभङ्गीलाल॥ (बिहारी)

सेनापति ने तो एक हाथ आगे बढ़कर यहाँ तक कह दिया कि—

आपने किये पै जब हौं ही निबहौंगो तौ
हौं ही करतार, करतार तुम काहे के॥ (सेनापति)

इनका अहंकार ईश्वर को अर्पित न हो सका था वरन् इनके व्यक्तित्व में ही अक्षुण्ण था। अपने आश्रयदातओं की इन्होंने प्रशस्ति की है परन्तु उनके समक्ष इन्होंने दैन्य का प्रदर्शन नहीं किया है। अपने को कुछ न समझने की भावना इनमें न थी। ये अपनी दृष्टि में तुच्छ और नगण्य नहीं थे। रीतिकवि की गर्वोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका स्वाभिमान अदम्य हुआ करता था। कभी-कभी यह स्वाभिमान अपने आश्रयदाता के कारण होता था कभी अपनी कवित्व शक्ति के बूते पर। इस मामले में ये अपने आपको दूसरा विधाता ही समझा करते थे, इतना ही नहीं उससे भी बढ़कर—

छै रस बिधि की सृष्टि में नौ रस कविता माहिं।
कवि सब विधि बिधि ते बड़े यामैं संशय नाहिं॥

एक अर्वाचीन कवि की गर्वोक्ति देखिये—

महापात्र विश्वनाथ तैसे नरहरि नाथ
भए हरिनाथ कवि मंडल में रवि हैं।
वंशज हैं तिनके ब्रजेश ब्रजभाषाचार्य,
काव्याचार्य कोविद महीपन में छवि हैं॥
जानैं अलंकार गूढ़ तत्व ध्वनि भाव भेद,
छन्द रचना में दास देव ते न दबि हैं।
महाराज रीवा के पुराने कविराज हम
ओरछाधिराज की सभा के राजकवि हैं॥ (ब्रजेश)

उक्त छंद में महान कविवंश की पम्परा के वाहक होने का, उच्च कोटि की कवित्व-शक्ति से सम्पन्न होने का तथा अच्छे आश्रयदाता की सभा का राज-कवि होने का स्वाभिमान व्यक्त किया गया है। स्वछन्द धारा के ठाकुर का स्वाभिमान और निर्भीकता तो प्रसिद्ध ही है[1] उन्होंने पद्माकर के आश्रयदाता महाराज हिम्मत बहादुर को ललकारा था—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनहीं के जे सनेही साँचे उरके ।।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजन के चोर रस मौजन के पातसाह,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के ।। (ठाकुर)

ये कवि मात्र कोमल भावनाओं के ही व्यक्ति नहीं होते थे, अनेक गुणों एवं विद्याओं के आकर होते थे। कभी-कभी वीरतापूर्वक अपने आश्रयदाता के संग युद्ध-भूमि में जाकर युद्ध भी किया करते थे। इस प्रकार इन कवियों का व्यक्तित्व आधुनिक चाटुकार कवियों की अपेक्षा कहीं ऊँचा था 'जो चाटुकारिता वर्तमान स्वतन्त्र भारत में राजकीय मंत्रियों को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने में हिंदी के कविमन्य और पंडितंमन्य महानुभावों के द्वारा देखी जा रही है उसका शतांश ही उनमें मिल सकता है। दरबारी मनोवृत्ति संप्रति आज कहीं अधिक है और राजनीति के नाम पर साहित्य न्यौछावर हो रहा है। रीतिबद्ध कवि नीतिगलित नहीं थे और न वैसा करके धन बटोरना चाहते थे। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है उतने उस समय नहीं थे। जितने थे भी उनका उपयोग कोई कवि कुटिलतापूर्वक नहीं करता था।....वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बड़प्पन पाने के अभिलाषी थे, वे स्वार्थसिद्धि के स्थान पर समाजसिद्धि का भी ध्यान रखते थे।'[2] ये कवि पतित नहीं थे। कभी-कभी पथभ्रष्ट राजाओं को ठीक राह पर भी ले आया करते थे। बिहारी ने जयपुर नरेश महाराज जयसिंह को घोर शृंगार से उबारा था यह बात प्रसिद्ध ही है। चारित्रिक दृष्टि से भी ये ऐसे गये-गुजरे न थे इतना अवश्य है कि इनकी कविता का क्रीड़ाक्षेत्र मुख्य रूप से दरबार या सभाएँ होने के कारण राजप्रशस्ति या शृंगार के संकीर्ण दायरे में ही इनकी कविता घिर कर रह गई। इसीलिए इनकी

---

[1] देखिये ठाकुर का जीवन-वृत्त

[2] विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : शृंगार काल (सं० २०१७) पृ० ३८५

मनोवृत्ति दरबारी और शृंगारी कही गई है। इस सत्य से अवश्य इनकार नहीं किया जा सकता।

अधिकांश रीतिकवि राज्याश्रित थे और अर्थ के ही लिए राजाश्रय की खोज में रहते थे। इनके स्वाभिमान को जब ठेस पहुँचती थी तब एक राजा को छोड़ दूसरे की शरण में पहुँचते थे। यह बात सत्य है कि अर्थ की उपलब्धि इनकी काव्य-रचना का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। असाधारण परिश्रम करने पर भी जितना धन जीवन भर में कदाचित् नहीं पाया जा सकता था उतना धन कभी-कभी कवि लोग एक छंद पर ही पा लिया करते थे। प्रसिद्ध है कि कविवर बिहारी को एक-एक दोहे पर एक-एक मुद्रा या अशर्फी मिला करती थी। केशवदास तो स्वयं किसी नरेश से कम न थे, उनके एक-एक छद नो लाखों का वारा-न्यारा किया करते थे। कविता करके उन्होंने कितना ऐश्वर्य संचित किया वह तो इस एक पंति से ही स्पष्ट है—

धरती कौ इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
जाके राज केशोदास राज सो करत है।

देव ने भोगीलाल नामक एक साधारण भूप की प्रशंसा की है क्योंकि उसके निकट सुविन्यस्त अक्षरों का मूल्य लक्ष-लक्ष मुद्राएँ था—

भोगी लाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

राजतन्त्र का यह युग ही ऐसा था जब काव्य और कला पर रीझने वाले राजे-महाराजे लाखों की सम्पदा लुटा दिया करते थे। स्वभावतः कवियों की वृत्ति भी तदनुसार हो गई थी। असाधारण वैभव-प्राप्ति के इस प्रलोभन को सूर, तुलसी और परमानन्द ऐसे लोग ही छोड़ सकते थे। इन सन्तों को सीकरी से भले ही काम न रहा हो परन्तु रीति कवियों को तो था। रीति कवि जीवन से बीतरागी नहीं था। इतना पुष्कल धन पाने के बाद उसे छोड़ना इनके बूते की बात न थी। आज भी कवियों को उनकी रचना पर रीझ कर इतना धन तो क्या इसका दशांश देने वाले गुणग्राही यदि मिल जायँ तो वे दरबारदारी और चाटुकारिता का बीसगुना अच्छा उदाहरण पेश कर सकते हैं। अनेक रीति कवि बड़ी शाही तबियत के थे, मिला हुआ धन ज्यों का त्यों दान कर देते थे। आधुनिक युग में ऐसे एक ही फक्कड़ कवि का नाम सुना गया है—वह है निराला; परन्तु निराला को इतना धन मिला कहाँ? वे तो आजीवन कला की सूखी रोटी ही खाते रहे। रीतिकाल के हरिनाथ कवि की कथा प्रसिद्ध है। हरिनाथ जहाँगीर के सभाकवि नरहरिनाथ के पुत्र थे। इन लोगों को शहंशाह से लाखों की सम्पदा प्राप्त हो चुकी थी। एक बार कवि हरिनाथ जी बान्धव-

[1]. १५ अक्तूबर १९६१।

नरेश रामसिंह की सभा में बान्धवगढ़ आए। इन्हें भारी विद्वान् और शाही कवि समझ महाराज रामसिंह उठकर आदर के साथ इनसे दोनों हाथों से मिले परन्तु हरिनाथ जी महाराज से तो एक ही हाथ से मिले और दूसरा हाथ उन्होंने पीछे को कर लिया। जब कारण पूछा गया तब हरिनाथ जी ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

मोसों औ तोसों विपत्ति अबै लौं रही रसरीति की प्रीति सहेली।
तो हित हार पहार मँझाय के देखो मैं आय कै भूमि बघेली।
तैं हरिनाथ सों मान करै जनि मातु कहै हठ छाँड़ि दै हेली।
भेंटत हौं अब राम नरिन्दहिं भेंटि ले री फिर भेंट दुहेली॥
(हरिनाथ)

ऐसी उक्ति सुनकर शाह रामसिंह और सभासदों का चित्त प्रसन्न हो गया। महाराज रामसिंह की दानशीलता की प्रशंसा में हरिनाथ ने निम्नलिखित छन्द पढ़ा—

काहू के करम उमराई पातसाई रई,
काहू के करम राज राजन सों हेत है।
काहू के करम हय हाथी परगने पुर,
काहू के करम हेम हीरन सों नेत है॥
हरिनाथ जोई जोई जाहि के लिलार लीक
सोई सोई यहि दरबार आनि लेत है।
महाराज बाँधव नरेश रामसिंह तेरे,
करके भरोसे कर तारौ लिखि देत है॥ (हरिनाथ)

इस छन्द पर महाराज रामसिंह ने एक लाख का दान दिया। जब दान-सम्मान से अलंकृत राजकवि हरिनाथ की सवारी बाँधवगढ़ से बाहर निकली तब कलंक नाम के एक उपेक्षित कवि ने हरिनाथ कवि की प्रशस्ति में यह दोहा पढ़ा—

दान पाय दोई बढ़े कै हरि कै हरिनाथ
उन बढ़ि ऊँचो पग कियो इन बढ़ि ऊँचो हाथ॥

कलंक कवि के इस दोहे की गम्भीर भावध्वनि तथा व्यतिरेकमिश्रित उक्ति पर मुग्ध हो कविवर हरिनाथ ने एक लाख का समस्त दान कलंक कवि को दे दिया। बघेलखण्ड में यह वृत्त बहुत प्रसिद्ध है।[1] यह मान-सम्मान और अर्थ का यह विनिमय रीतिकाल में एक साधारण-सी बात थी। केशवदास महाकवि की रचना की इस प्रसिद्ध पंक्ति—

"दै करतापन आपन ताहि, दई करतार दुनौ करतारी।"

---

[1] स्वर्गीय महाकवि ब्रजेश के हस्तलेख से—जो लेखक के पास सुरक्षित है।

पर रीझकर बीरबल ने महाराज इन्द्रजीत पर जो जुर्माना हुआ था उसे अकबर से कह कर माफ करा दिया था और प्रसन्न हो ६ लाख रुपयों की हुण्डियाँ केशव को पुरस्कार-स्वरूप दीं।[1] इस प्रकार अर्थोपार्जन और प्रतिष्ठा दोनों दृष्टियों से इस युग के कवियों के लिए राज्याश्रय से अधिक श्रेयस्कर कुछ न था। उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाया। कुछ छंद राजप्रशस्ति के रूप में लिख देने से इनका कुछ जाता न था, पुष्कल सम्पदा हाथ लगती थी। जीवन का पूर्ण भोग जैसा रीति कवि कर सके न तो वह हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों को नसीब हुआ और न बाद के। कुछ दिनों तक मानो लक्ष्मी और सरस्वती ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त हो साथ-साथ रहीं। यह बात अधिकांश बड़े कवियों तथा बड़े-बड़े रजवाड़ों की है। छोटे-छोटे कवियों और आश्रय-दाताओं के यहाँ भी स्थिति यही थी—बस पैमाना छोटा या साधारण रहता था, वृत्ति में कोई अन्तर न था। कविता अर्थकरी हो गई थी। अर्थोपलब्धि कवि की प्रतिष्ठा का मानदण्ड भी माना जाता था। अपनी रचना के बल पर जो कवि जितना द्रव्य प्राप्त कर लेता था कवि अथवा राज-समाज तथा गण्यमान्य सामाजिकों में वह उतना ही समादृत भी होता था। परवर्ती कवि कभी-कभी इसी आधार पर उनका कीर्ति-गायन भी कर गए हैं जो उक्त तथ्य को अच्छी तरह प्रमाणित करते हैं—

लाख दियो हरनाथ को राम, द्वै लाख दियो राजा मान अमाने।
छत्तिस लाख दियो कवि गंग को जी के उमंग ते त्यों खानखाने।
केसव को दियो ब्रह्म छ कोटि नगारे सबै हरनाथ सुजाने।
साह अकब्बर त्यों नर नाहर, भूषन को सनमान सिवा ने॥

संग्रह, भोग-वृत्ति या प्रवृत्तिपरकता का ही यह परिणाम था कि इस काल के कवियों में दरबारी वृत्ति का विकास हुआ। यह तो अवश्य है कि कवि अर्थाश्रयी हो काव्य और जीवन के ऊँचे आदर्शों से स्खलित होता है तथा कविता का भी किन्हीं अंशों में पतन होता है— वह ऊँचे सन्देश और गहरे विचारों को वहन करने में असमर्थ हो जाती है। शृंगारिकता, भोग-वृत्ति का प्राधान्य, ऐन्द्रिकता आदि की अतिशयता से काव्य में उदात्त तत्वों का क्रमशः अभाव होने लगता है और जीवन-दृष्टि में संकीर्णता आने लगती है। यह सब बातें रीति कवि की अर्थ एवं भोगपरक दृष्टि के कारण रीतिकाव्य में आईं। त्याग और विनम्रता के बजाय संग्रह और अहंकार की वृत्तियाँ जागृत हुईं। जहाँ तुलसी ऐसे कवीश्वर यह कहते हुए पाये गए कि—

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

वहाँ रीति कवि अपनी कवित्व-शक्ति की सरेआम दुंदुभि पीटते मिलेंगे—

---

[1] कृष्णचन्द्र वर्मा : आचार्य कवि केशवदास (सम् १९५७) पृ० २५

(क) कवि मतिराम राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है। (मतिराम)

(ख) मूढ़न कौं अगम सुगम एक ताकौं जाकी,
तीछन अमल विधि बुद्धि हैं अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि,
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद-कोष सावधान, जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की॥ (सेनापति)

रीति कवि का दृष्टिकोण काव्य के सृजन में आर्थिक तो था ही मान-सम्मान या प्रतिष्ठा की प्राप्ति भी कुछ कम नहीं। रीतिवद्ध तो रीतिबद्ध, रीतिमुक्त प्रेमी ठाकुर ने भी कविता का एक लक्ष्य राजसभा में वड़प्पन पाना स्वीकार किया है—

ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।

ये कवि प्रतिष्ठा के भी भूखे थे। 'आदर न देयँ तहाँ कबहूँ न जैये' वाली बात इन्हें सिद्धान्ततः ही नहीं व्यवहारतः भी मान्य रही है। अनेक बार इन कवियों ने इस सिद्धान्त को उदाहृत करके भी दिखलाया है।

वैभव, सम्मान, प्रतिष्ठा, सभी कुछ राज्याश्रय लेने से मिलती थी फिर भला ये उसे क्यों छोड़ते। यह युग ऐसा था जिसमें आकर भक्ति का पुनीत स्वर मंद पड़ गया था। जन-जीवन निराश और आहत था। शोषण के जुए में सिर झुकाकर पिसते चले जाने के सिवा अन्य मार्ग न था। ऐसी दशा में इन कवियों, इन प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को राज्याश्रय आत्मोत्थान का अमोघ उपचार प्रतीत हुआ और उन्होंने कविता को वैभव और प्रतिष्ठा के हेतु राज्यश्री पर अर्पित कर दिया। राजप्रशस्ति और शृंगार-वर्णन ही मानों कविता के दो प्रधान लक्ष्य रह गए। किसी-किसी कवि को यह बात खली भी है। भूषण ने इस प्रवृत्ति से क्षुब्ध होकर कहा था—

भूषण यों कलि के कविराजनि राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सरन्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥ (भूषण)

वास्तविक बात यह है कि काव्य के भक्ति-युगीन आदर्श इन्हें मान्य थे। अमान्य रहे हों सो बात नहीं। जिस प्रकार भक्त कवि काव्य को ईश्वरार्पण करने में ही अपने कवि-कर्म की चरम सफलता माना करते थे उसी प्रकार रीति कवि भी। वही युक्ति इनकी दृष्टि में भी अच्छी होती थी जिसमें हरि का यश वर्णित हो—'हरि

जस जामैं सो ई कथनि सुहाई है ।' स्वयं केशवदास ने कवि कोटियों का निर्धारण इसी भक्तिवर्णना के आधार पर किया था—

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरिरस लीन । (केशव)

इन पंक्तियों में तुलसी का वही उज्ज्वल आदर्श झलक रहा है—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।

एक अज्ञात नाम रीति कवि का यह कथन तत्वतः तुलसीदास के उक्त कथन से अभिन्न ही है—

सन्तमन भाई सुखदाई है सुहाई जामैं
कृष्ण केलि गाई सोई साँची कविताई है।

इस प्रकार जहाँ तक काव्य के आदर्श का सवाल है वह सिद्धांततः ज्यों का त्यों स्वीकृत हुआ था। उसके व्यवहार में अवश्य भेद हो गया था। उदाहरण के लिए इस काल में आकर सन्तों को भी कृष्ण-भक्ति में आनन्द कम मिलता था, कृष्णकेलि में ही अधिक। इसका व्यापक प्रमाण रीति युग में प्रणीत कृष्ण और रामभक्ति साहित्य की धाराओं में तथा सन्तों की माधुर्य-भाव परक प्रेम-व्यञ्जनाओं में देखा जा सकता है। यह युग ही ऊँचे उद्देश्यों से गिर गया था फलतः कवि और काव्य उच्चादर्शों से च्युत हो भोगप्रधान हो चले थे। प्रतिष्ठा, धनलिप्सा, दैहिक वासनाओं की तृप्ति जब राज्याश्रय में ही होने लगी तब ईश्वर की शरण में जाने की आवश्यकता ही क्या थी ? नर-काव्य लिखने पर भी भौतिक साधन जब न जुट पायें तब कविता अवश्य निष्प्रयोजन और त्याज्य समझी जाती थी—

नर को बखान करै तोऊ न अरथ सरै,
ऐसी कविताई को बहाय दीजै पानी में।

इस कथन से युग की माँग के अनुरूप कविता के आदर्श का स्खलित होना स्पष्ट लक्षित हो रहा है।

कवि का राज्याश्रय में जाना कोई अनुचित बात न थी। हिन्दी के कवियों के समक्ष अतीत के महान कवियों और उनके यशस्वी आश्रयदाताओं का उज्ज्वल आदर्श भी था। कविता ऐसी ऊँची कला का राज्याश्रय में कितना अधिक विकास हुआ करता है इसका ज्वलन्त इतिहास इनके आँखों के सामने था। महाराज विक्रमादित्य और भोज के राज्याश्रित कवियों के सम्मान और यश की गाथाओं से ये कवि अच्छी तरह परिचित थे। ये कवि इन्हीं आदर्शों को लेकर चले थे। ये आश्रयदाता गुणी हों यह तो ठीक है किन्तु दानशील भी हों इसी बात विशेष की आवश्यकता थी। भूषण के आश्रयदाता ऐसे ही थे। कवि ने उन्हें राजा भोज से भी अधिक दानी कहा है—

साहितनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुंदुभि बाजै ।
भूषन भिच्छुक भीरन को अति भोजहु तें बढ़ि मौजनि साजै ।। (भूषण)

जहाँ ऐसी दानशीलता और उदारता नहीं दिखाई देती थी वहाँ मतिराम ऐसे कवि पूर्वोक्त आदर्शों को प्रस्तुत कर तत्कालीन राजाओं को प्रबोधित भी किया करते थे—

करन के विक्रम के भोज के प्रबंध सुनो
कैसी भाँति कबिन को आगे लीजियतु है ।

हिन्दी के अनेक कवि उसी मान-सम्मान से विभूषित हुए थे । चन्द बरदाई को महाराज पृथ्वीराज ने हाथी-घोड़े और बीसों गाँव उपहार में दिये थे । भूषण की पालकी में महाराज छत्रसाल ने कन्धा तक लगा दिया था ।

ऊपर रीति कवि के व्यक्तित्व एवं उसकी मनोवृत्तियों का आकलन करते हुए जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं कि ये रीति-कवि इतने सम्पन्न और सुखी थे कि इनके जीवन में असन्तोष कभी आता ही न था । मान-सम्मान का यह जीवन इस युग में श्रेयस्कर था इसमें सन्देह नहीं और इसीलिए ये कवि रजवाड़ों में पड़े भी रहे । छोटे-छोटे राजा-रईसों के आश्रय किस प्रकार गहरे क्षोभ और असन्तोष को व्यक्त करते हैं इसकी बड़ी अच्छी बानगी डा० जगदीश गुप्त ने पेश की है । वे कहते हैं—'आदर्श जिसकी माँग करता है यथार्थ कभी-कभी उसका उलटा नज्जारा ही पेश करता है । साधारणतः राजाओं की गुणग्राहकता से कवियों को प्रसन्न ही होना चाहिए था पर आजीविका का प्रश्न उससे सम्बद्ध होने के कारण बिना आर्थिक लाभ के कोरी गुणग्राहकता सन्तोषप्रद सिद्ध नहीं होती थी । कवियों का यह असन्तोष गहरे क्षोभ के रूप में उत्तर-रीति काल में विशेषतया लक्षित होता है; क्योंकि उस समय तक राजा-सामन्तों की स्थिति और भी गिर चुकी थी ।'[1] उन्होंने कुछ ऐसे क्षुब्ध स्वर उद्धृत किये हैं—

(क) सूमन के रहे दुइ बातन की तंगी एक
ईस्वर निमित्त औ कवीस्वर के दैबे की ।

(ख) काके ढिग गाई काहि कवित सुनाई भाई
अब कविताई भई फ़जीहतिताई है ।

(ग) सौक सेर मारिबे को सभा मैं सुनावैं सदा,
स्यार हू न मारो कहुँ झारो की झरीन की ।

× × × ×

बाजे बाजे भूप ऐसे बेसरम होत जात
राखि लेत हाथी चारो डारत चिरीन को ।

---

[1]. रीति काव्य संग्रह (सन् १९६१) पृ० ५३ । देखिए पृ० ५४ भी ।

(घ) खात हैं हराम दाम, करत हराम काम,
धाम धाम तिनहीं के अपजस छावैंगे।
दोजख में जैहैं तब काटि काटि कीरा ख्वैहैं
खोपरी को गृद्ध काक टोंटिन उड़ावैंगे।
कहैं करनेस वर घुस्सनि ते बाज, तजैं
रोजा औ नमाज, अंत जम काढ़ि लावैंगे।
कविन के मामले में करैं जौन खामी
तौन नमकहरामी मरे कफन न पावैंगे ।।

यह क्षोभ असन्तुष्ट होने पर छोटे तो क्या बड़े-बड़े कवियों ने भी व्यक्त किया है। बिहारी,[१] पद्माकर,[२] देव, बोधा आदि कितने कवियों ने इस क्षोभ की प्रकारान्तर से व्यञ्जना की है। कहने का प्रयोजन यह है कि राज-सम्मान या प्रतिष्ठा में जब कमी आई है कवि क्षुब्ध हुआ है, जब वह अनादृत रही है कवि ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

रीति कालील कवि की जीवन-दृष्टि को समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश में देखना सङ्गत होगा। राजनैतिक दृष्टि से रीतिकाल अनेकानेक उथल-पुथलों एवं अव्यवस्थाओं का युग है, सामाजिक क्षेत्र में जीवन नैतिक आदर्शों से च्युत एवं सभी प्रकार के व्यभिचरण से मुक्त था और धार्मिक दृष्टि से जीवन अभिनव भक्ति-चेतना से शून्य पूर्ववर्ती भक्तों और सन्तों के स्वरों की अनुगूँज से अधिक नहीं था। समग्र रूप से यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि इस युग का अभिजात वर्ग ऊँचे आदर्शों से च्युत हो भोग-वासना से परिपूर्ण जीवन-यापन में ही अपने देह धारण की चरम सिद्धि मानता था। यह मनोवृत्ति शासक वर्ग की थी जिसे भोक्ता वर्ग भी कहा जा सकता है। इस भोक्ता वर्ग के अन्तर्गत सम्राट, उसका परिवार, उसके सभासद, उसके अधीन मनसबदार या ऊँचे-ऊँचे ओहदोंवाले अमार, राज-कर्मचारी तथा दास-दासियाँ तक आते थे क्योंकि उत्पादक वर्ग के ऊपर इन सब का पूर्ण प्रभुत्व था। इस युग के कवि और कलावंत भी इसी वर्ग में आ मिले थे। शासक की जो मनोवृत्ति होती थी वही समस्त भोक्ता वर्ग की मनोवृत्ति हो जाती थी, उनसे भिन्न होने की कहीं कोई गुञ्जाइश न थी। स्वच्छन्द राजतन्त्र का दूसरा अर्थ ही क्या हो सकता था। ये शासक रत्नाभरणों से जटित, इत्रादि से सुवासित वस्त्र धारण करते थे। सारा राज प्रासाद सैकड़ों सुन्दरियों से भरा रहता था। सुरा सुन्दरी का

---

१. स्वारथ सुकृत न स्रमु वृथा, देखु विहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर तू पंछीन न मारि।

२. आप महाराज हैं तो हौं हूँ कविराज हौं ।।

सेवन नैमित्तिक कर्म समझा जाता था। वेश्याओं और रक्षिताओं की सर्वत्र क़द्र थी। सुन्दरियों के बीच भी आशिकाना गजलों और अश्लील प्रेम-कहानियों की विशेष चर्चा चलती थी। रस, रङ्ग और यौवन के मदभरे प्याले में ये भोग और विलास के दीवाने डूबे रहते थे। ऐसी स्थिति में इस काल के रीति एवं शृंगारी कवियों से किन्हीं ऊँचे आदर्शों की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। आदर्श और नैतिकता को ताक़ पर रख इस युग के कवियों ने भोग को ही जीवन का चरम प्राप्य मान रक्खा था। राज्य को दृढ़ और विस्तृत करने की चिन्ता जब स्वयं शासकों को न थी तब उनके आश्रित कवियों को क्या होती। ये कवि तो अधिकतर उसी रुचि और स्वाद की मदिरा-काव्य के प्याले में ढाल-ढाल कर अपने आश्रयदाताओं को पिलाया करते थे जिसकी उन्हें विशेष चाह हुआ करती थी। यह बात सही है कि शाहजहाँ और औरङ्गजेब के बाद मुगल-शक्ति जितनी तीव्रता और व्यापकता से विकेन्द्रित हुई उसके परिणामस्वरूप गायक, चित्रकार, कवि, शिल्पी आदिकों को विशेष असुविधा का सामना करना पड़ा। छोटे-छोटे राजा-रईसों की शरण में उन्हें जाना पड़ा जिनकी खुद की आर्थिक हालत खस्ता हो चली थी। ये छोटे-छोटे राज्याश्रय भी बड़े-बड़े मुगल शासकों की प्रतिच्छाया मात्र थे। आत्म-गौरव की चेतना से रहित ये रसिक वर्ग इस पतन के युग में भी वेश्याओं का नृत्य और संगीत तथा काव्य-पाठ द्वारा आत्मविनोदन कर सकता था। नैतिक पराभव का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है। इस युग के राजाओं और नवाबों की समस्त शक्तियाँ निःशेष हो चुकी थीं, शेष रह गई थी एक भोग की वासना मात्र। उसी अग्नि को प्रज्ज्वलित रखने के लिए इस युग के कलाकार अपनी कला के घृत का अर्घ्य चढ़ाया करते थे। काव्य इसी कारण शृंगार परक हो गया था और शृंगार के अन्तर्गत भी कवि के व्यक्तित्व के अनुसार शृङ्गारिकता अथवा अश्लीलता के विविध स्तर देखने को मिलते हैं। शृंगार के संयत आदर्श कम हैं गहरी अश्लीलता या नग्नता अधिक है और इस सब का कारण है युग की अधोमुखी प्रवृत्ति। इस काल के कवि साधारण हाड़-मांस के प्राणी थे, भक्तियुगीन सन्तों की भाँति जीवन में तप कर जीवन को उच्चतर मार्ग की ओर ले जाने वाले नहीं वरन् जीवन की कीच में ही प्रफुल्लित होने वाले। इनके जीवन में यदि कोई संघर्ष था तो आर्थिक, यदि कोई चिन्ता थी तो दैहिक भोग के साधनों की। जीवन के महत्तर लक्ष्यों और समाज के विकास के साधुतर उद्देश्यों की ओर इनकी दृष्टि ही न जाती थी। नीति और विवेक की जो बातें इन्होंने कही हैं वे परम्परा के अनुसरण में ही, किसी निजी गम्भीर अनुभूति के प्रतिफल के रूप में नहीं। इसी कारण इस युग के कवियों के व्यक्तित्व में प्रखरता और तेजस्विता न थी। सदसद के निर्णय द्वारा सन्मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा और सामयिक जीवन की अधोगति से उबरने की उत्तेजना देने की शक्ति इनके काव्य में न थी। ये अपने युग

की परिस्थितियों से ऊपर न उठ सके थे वरन् उन्हीं के शिकार हो गये थे । लोक-जीवन से ये और इनका काव्य विमुख था । इनके निजी जीवन में कोई महत् आदर्श प्रतिष्ठित न हो सके थे । युग की वायु के अनुरूप ये भी अपना आचरण ढालते हुए 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै' की उक्ति चरितार्थ कर रहे थे । जग की वायु से ये तो क्या कदाचित इनका ईश्वर भी अछूता न था ।[1] उच्चादर्शों के सङ्घात से इनके व्यक्तित्व में निखार नहीं आने पाया था । सामन्ती जीवन जिस ढर्रे पर चल पड़ा था लगभग निरपवाद रूप से रीति कवि उसी लीक पर चले चल रहे थे । भूषण ने अवश्य इस सम्बन्ध में औरों की अपेक्षा जागरूकता का प्रमाण दिया है । अपवाद-स्वरूप अन्य कवियों ने भी कभी-कभी अपने आश्रयदाता को विवेक के मार्ग का अनु-सरण करने की सलाह दी है । उदाहरण के लिए बिहारी और ठाकुर ने अपने आश्रय-दाताओं को समय-समय पर सजग किया था किन्तु इन अपवादात्मक उदाहरणों से इस युग के कवियों की सामान्य अंधानुसरण की स्पष्ट प्रवृत्ति को झुठलाया नहीं जा सकता । रीति कवि के सामने नैतिक या सामाजिक आदर्शों की द्वन्द्वमयी स्थितियाँ न थीं । इन्हें तो चुपचाप निर्धारित मार्ग पर चले चलना था और ऐसा करने में इन्हें अर्थ, धर्म, काम ऐसे परम पुरुषार्थों की सिद्धि सहज ही प्राप्त हो रही थी ।

रीति कवि परम शृंगारी और रसिक था । कामक्रीड़ा, विपरीत रति और सुरतांत के विशद चित्रण द्वारा उसने संभोग वर्णन की तो सीमा-रेखा ही छू दी है साथ ही छिछली रसिकता और कामुकता का प्रदर्शन भी उसने अपने काव्य में खुले आम किया है —

(क) अहे दहेंड़ी जनि धरै जनि तू लेइ उतारि ।
नीके है छींके छुए ऐसी हीरहु नारि ।। (बिहारी)

(ख) चौकी पै चंदमुखी बिन कंचुकी अंचर में उचकैं कुच कोरे ।
बारन गौनी बधू बड़ी बार की बैठी बड़े बड़े बारन छोरे ।।

(ग) चौक मैं चौकी जराय-जरी तिहि पै खरी बार बगारति सौंधे ।
छोरि धरी हरी कंचुकी न्हान कों अंगन तें जगे जोति के कौंधे ।
छाई उरोजन की छबि यों 'पद्माकर' देखत ही चकचौंधे ।
भाजि गई लरिकाई मनो लरिकै करि कै दुहुं दुंदुभि औंधे ।
(पद्माकर)

---

[1] नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि ।
तज्यो मनो तारन बिरद, बारक बारन तारि ।।
कब कौं टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु जग नायक जग बाय ।। (बिहारी)

रीति कवि की शृंगारप्रवणता का कारण एक बड़ी सीमा तक तो राज्याश्रय एवं वहाँ का वातावरण ही था, इस बात की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। एक तो विदेशी सत्ता के सामने छोटे-छोटे देशी राजा निस्तेज-से हो गए थे दूसरे कालांतर में मुगल शासन भी क्षीण-बल हो विकेन्द्रित हो चला था। विद्रोह, ईर्ष्या, द्वेष, और विशृंखलता की प्रबल शक्तियों के सामने ये छोटे-बड़े नरेश घुटने टेक चुके थे। बाहर उनके अहं की पूर्ति न हो सकने पर अंतःपुर में उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की। मदिरा के प्यालों, वेश्याओं के नृत्यों और सुकुमार सुन्दरियों के आंगिक सौन्दर्य पर रीझ-रीझ कर ही ये अपने अहं को तुष्ट करने लगे। कवियों ने राजरुचि की तृप्ति में ही अपना कवि-कर्म अर्पित कर दिया। इस मनोवृत्ति का डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़ा सुन्दर मानसिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है—'रीति काल का काव्य यद्यपि शृंगारप्रधान है पर इस शृंगार रस की साधना में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है; जैसे सब ओर से चोट खा कर किसी ओर रास्ता न पाकर बुद्धि घर के भीतर सिमट गई हो, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रों में मनोनिवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरंजन का एक मात्र साधन नारी-देह की शोभाओं और चेष्टाओं के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया हो। इस शृङ्गार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है (उसका साधारण नारीत्व ही आकर्षण का एक मात्र हेतु है) न प्रिया की प्रीति जीतने के लिये रूमानी ढंग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना ही बन पाई है (केवल लला का रूप ही—चाहे वह चित्र-दर्शन से प्राप्त हो, स्वप्न में दर्शन से लब्ध हो, सखिमुख से सुनकर प्राप्त हुआ हो, प्रत्यक्ष देखकर दृग्गोचर हुआ हो या विवाह की भाँवरी के समय झलक गया हो-इस प्रीति को जीतने के लिए पर्याप्त है) और न प्रिया के रूप में सूफी कवियों की भाँति किसी अपूर्व पारस-रूप का ही कोई उल्लेख है। यह प्रेम शुरू से अन्त तक महत्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के भाव से प्रायः अस्पृष्ट, पिण्ड-नारी के आकर्षण से हततेजा और स्थूल प्रेमव्यंजना से परिलक्षित है। फिर भी वह मोहन है, क्योंकि उसमें चित्त को विश्राम देने का महान गुण है। वस्तुतः यह मोहनता उसे पूर्ववर्ती शृङ्गारी कविताओं से भिन्न और विशिष्ट बना देती है। यह सब ओर से रुद्धगति हो गये हुए मानस-व्यापारों की विश्राम-भूमि है, कर्मठ और बहुधा-विभक्त चित्त की गतिशील प्रक्रिया का सामयिक विराम-स्थल नहीं। इसीलिए ठीक-ठीक वह भौतिकवादी भी नहीं। वह वास्तविक जीवन की कठोरताओं पर आधारित नहीं। उसका आधार-फलक (कैनवास) सीमित, संकुचित और सँकरा है। जीवन के मूल प्रश्नों से उसका सम्बन्ध बहुत थोड़ा है। जीवन की वास्तविक जटिलताओं के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार का वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है वह इसमें नहीं है और न शृंगार-भावना को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही। सब ओर से सिमटी मनोवृत्ति का वह एक विराम स्थान मात्र है।

यद्यपि प्रायः सभी कवियों ने श्रृङ्गार की रसराजता की घोषणा की थी, तथापि इसको तर्कसंगत परिणति तक घसीट ले जाने का साहस कम कवियों में रहा। इस श्रृंगार-भावना को उन्होंने भक्ति का आवरण दिया। राधारानी और गोपाललाल घूम-फिर कर सभी प्रकार की श्रृंगार-चेष्टाओं के विषय बन जाते हैं। यह भक्ति-भावना कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही उनके मन को प्रबोध भी देती है — आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो राधिका गोविंद सुमिरन को बहानों हैं।[1]

राजा या आश्रयदाता की इच्छा का अनुसरण करते हुए रीति कवि ने काव्य-सर्जना को जीवन के प्रति उसकी दृष्टि भी भोगपरक ही थी इसीलिए अपनी ओर से वह राजेच्छा को कोई नई दिशा न दे सका। ये कवि किन्हीं महान् उद्देश्यों से प्रणोदित न हुए थे फलस्वरूप राजा की भावना के अनुकूल ये कविता लिखा करते थे। राजाओं की अभिरुचि कैसी थी इसकी चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है। शासनाधिकार के परिणामस्वरूप मनुष्य में जो तेजस्विता और दर्पशीलता आती है उसकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति राज्यविस्तार, पौरुषपूर्ण कर्मों, अन्याय और अत्याचार के दमन एवं लोकरक्षण या लोक-सेवा ऐसे पुनीत कार्यों में जब न हो सकी तब ये हततेज शासक नारी के सौंदर्य में, विलास के उपकरणों में, ऐश्वर्य और वैभव के प्रदर्शन में रमने लगे। कर्मप्रधान और उच्चादर्श युक्त जीवन में जब इनके लिए कोई आकर्षण न रह गया तब ये आश्रयदाता अपना मन रमाने के लिए नारी के झीने अंचल और सुकुमार अंग-जाल की शरण में आए। अन्य दिशाओं में या जीवन की अन्य समस्याओं की ओर जाने से अवरुद्ध मन को नारी की कामोत्तेजक श्रृंगार-भूमि में ही विश्राम मिला। रीति कवि ने अपने आश्रयदाता की इस विश्राम-भूमि को बड़े अभिनिवेश के साथ सजाया है। उसे मौलिक चिंतन द्वारा राजा के मन को फेरने और शक्ति एवं तेजपूर्ण कार्यों की ओर ले जाने की आवश्यकता न दिखाई पड़ी। उसकी निजी भौतिक आकांक्षाओं की सिद्धि इसी में दिखी कि वह अपने आश्रयदाता के मनोनुकूल श्रृंगारी काव्य-सृष्टि करता चले। इसी में उसकी, उसके आश्रयदाता की तथा राजसभा के रसिकों की तृप्ति सन्निहित थी। फलस्वरूप रीतिकवि एक ओर जहाँ वैभव-विलास के उपकरणों, शीश महलों, रजत ज्योत्स्नाओं, स्फटिक भवनों, दीप ज्योति एवं विविध सुगन्धों से सुवासित प्रकोष्ठों, पुष्पसुरभि से आमोदित उपवनों, कुंजों, बासंती मलयजों, पुष्प सज्जित पर्यंकों, हिंडोलों, नाना अंगरागों और रत्नावेष्टित भूषाओं आदि के वर्णन द्वारा परम राजसिक वातावरण तैयार करने में लीन हुआ है वहीं विविध नायिकाओं की अंग-द्युति, नखशिख, हाव-भाव, रूप, सौन्दर्य, यौवनच्छटा, श्रृंगार-चेष्टाओं एवं रति-केलियों आदि के उन्मादक चित्रणों में प्रवृत्त हुआ है। इसी में उसकी राजसेवा

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ३०२-३०३

और आत्माभिव्यक्ति दोनों एकाकार हो गए थे। इस शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था इसलिए प्रेम के उच्च धरातल तक ये कवि नहीं जा सके। प्रेम जिन गुणों अथवा बातों से प्रेमी को महान और अमर बना देता है वे बातें इनमें देखने को बहुत कम मिलती हैं उदाहरण के लिए प्रेम की अनन्यता, त्याग, एकनिष्ठता आदि। युग और समाज में जिस प्रकार की छिछली रसिकता या ऐन्द्रिक-लिप्सा व्याप्त थी उसी के अनुरूप विलासितावर्धक शृंगार अथवा प्रेमसम्बन्धी बाह्य चित्र ये कवि प्रस्तुत कर सके जिसे हम कवियों के नायिकाभेद निरूपण, नख-शिख या ऋतु वर्णनसम्बन्धी ग्रन्थों में देख सकते हैं। छिछली, बहिर्मुखी अथवा ऊपरी शृंगारिकता का इस युग के काव्य में इतना प्राधान्य हो गया था कि उसे इस युग के काव्य का सर्वप्रधान तत्व कहा जा सकता है। पराभव के इस युग में किसी में आत्म-चेतना तक शेष न रह गई थी, चेतना का अलौकिक प्रकाश विकीर्ण करने वाले संत शान्त हो चुके थे, जो थे भी वे निष्प्रभ और कबीर, नानक, दादू ऐसे समर्थ संतों की क्षीण छाया मात्र। राजसिक जीवन नारी के शरीर को जीवन के आकर्षण का चरम-केन्द्र मान कर उसी के चारों ओर परिक्रमा कर रहा था। कवि भी इसी कामोपासना में लिप्त हुआ। भक्ति युग के कवि मार्ग-दर्शन कर ही गए थे, रीतिकार उस पथ पर चलते हुए झिझके नहीं। काम और विलास की वृत्तियों को सहलाने और उभारने वाली रचना से इस युग का काव्य ओत-प्रोत हो गया। रीति कवि ने इस कामोपासना में पूरा-पूरा योग दिया। अकुंठ चित्त से उसने कामवृत्ति की अभिव्यंजना की। डा० नगेन्द्र ने इसीलिए शृंगारिकता को इस युग के 'काव्य की स्नायुओं में बहने वाली रक्तधारा कहते हुए उसके कारण, स्वरूप, उसके पीछे छिपे जीवन दर्शन पर अच्छा प्रकाश डाला है।[1] युग जीवन विलासिता से पंकिल हो चला था तथा संयत स्वस्थ और ऊर्ध्वमुखी जीवन-चेतना विलुप्त हो चुकी थी। धनीमानी संपदभोगी प्रदर्शन और इंद्रियतुष्टि को ही जीवन का पर्याय समझ बैठे थे। जीवन आत्मिक शुद्धि और आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक जाने में सर्वथा अक्षम था फलतः युग के राजा-रईस-नवाब आदि विलास के केन्द्रीय उपकरण को शमा बनाकर खुद परवाने बने हुए थे। उनका प्रत्येक आचरण सुरा और सुन्दरी के प्रति रसिकता का भाव लिये होता था। सामंतों के निस्तेज व्यक्तित्व और जीवन में कामुकता का ही सर्वत्र साम्राज्य था। साक्षात् वायु-मंडल में ही परिव्याप्त जीवन के इस रंग से सामंती शरण में पले हुए ये कवि कैसे नजरन्दाज कर सकते थे। कृष्ण-प्रेम की कविता की आड़ में तो ये कवि क्या कुछ नहीं लिख डालते थे। गोपीकृष्ण के प्रेममय जीवन के विविध वृत्तों ने इन कवियों को युग की छिछली रसिकता के चित्रण का अवसर प्रदान किया। कृष्ण-भक्ति के

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५३) पृ० १५९-१६५

बहाने ये राधिका कन्हाई की निगूढ़ परम गोप्य सभोग-लीलाएँ भी चित्रित करने लगे। कृष्णभक्ति की ओट ले लेने के कारण इन्हें इस प्रकार की कविता लिखने का जैसे लाइसेंस-सा मिल गया था। इस नैतिक अनुमति का इन्होंने भरपूर उपयोग भी किया। शृंगार मुक्तक काव्य-रचना की प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि से चली आती हुई परंपरा तथा विद्यापति, सूर आदि की रचनाओं में प्राप्य भक्तिमिश्रित शृंगार की परंपरा, समसामयिक शृंगार-प्रधान फारसी शायरी, युग का वातावरण सभी कुछ तो शृंगारी काव्य-रचना के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर रहा था फिर ये कवि शृंगार का ही आसव क्यों न भर-भर कर पिलाते।

एक बात जो विशेष रूप से इस युग की कविता में द्रष्टव्य है वह यह कि रीतिकवियों ने पूरी निर्बंधता के साथ अपनी आंतर वृत्तियों अथवा भावनाओं को वाणी दी है। उनकी शृंगारी भावनाएँ और काममूलक वृत्तियाँ अदम्य भाव से फूट पड़ी हैं और उन्होंने जो कुछ भी कहना चाहा है अकुंठ चित्त से कहा है। अपनी चित्तवृत्तियों को दमित रखने की उन्हें आवश्यकता न थी, अंग संसर्ग सुख आदि की बातें वे पूरे आवेशोन्मेष के साथ कह गए हैं, उसमें किसी प्रकार की कुंठा या मनोग्रंथि के दर्शन नहीं होते और न उन्होंने अपनी कथित बातों पर आवरण ही डालना चाहा है। कृष्ण-राधा के प्रेम का पल्ला पकड़ने तथा उनकी भक्ति की आड़ ले लेने से एक प्रकार की नैतिक अनुमति जो उन्हें समाज से मिल गई थी उसी के कारण शृंगारी काव्य का ऐसा अकुंठ प्रवाह फूट सका। उन्होंने शुद्ध कायिक, लौकिक प्रेम की कविता को आवश्यक रूप से आध्यात्मिक रंग देने की चेष्टा नहीं की। ऊँची बातों के फेर में ये कवि सूफियों की भाँति नहीं पड़े। इस प्रकार की कायिक अथवा संभोग सुख की आकांक्षा से भरी अभिव्यक्तियों के कारण प्रेम के बहिस्वरूप का ही चित्रण अधिक हो पाया यह एक बड़ी कमी देखने में आई। रीतिकालीन रीति कवियों को रसिक कवि कहा गया है, प्रेमी नहीं। रसिक का संबंध वासना मात्र से है संबन्ध की आंतरिकता से नहीं। स्थूल शारीरिकता और विलासिता से ही उसका प्रयोजन होता है आंतर संबन्धों की प्रगाढ़ता, एकनिष्ठता; प्रेम के लिये सर्वस्व त्याग आदि की भावनाएँ वहाँ गोचर नहीं होतीं। ऊपरी-ऊपरी बातों को ही असाधारण विस्तार से दिया गया है, अनेकमुखी प्रीति का खुल कर कथन किया गया है—

(क) मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग
सुदृग मिचावनै के ख्यालनि हितैहितै।
नैसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धनि दूसरी कों
औचक अचूक मुख चूमत चितै चितै।

(ख) एकन सों बतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै॥ (पद्माकर)

जहाँ प्रेम में अनेकोन्मुखता हुई वहाँ वह प्रेम की पवित्र संज्ञा नहीं पा सकता। उसे छिछली रसिकता या कामुकता ही कहा जायगा। उपभोग की वृत्ति प्रधान होने के कारण रीति कवियों में प्रेम का गंभीर मानस पक्ष उभर कर सामने नहीं आ सका है। रीति के प्रमुख कवियों-केशव, मतिराम, पद्माकर, दास आदि को प्रेमी कवि न कहकर रसिक कवि ही कहना पड़ेगा क्योंकि इनकी प्रेम-साधना रूप-रंग और बाह्याकार के आकर्षण तक ही सीमित थी। प्रेमिका के और अपने अथवा प्रेमी के मनोदेश की गहराइयों में उतरकर आंतरिक भावनाओं को ऊपर लाने का प्रयत्न इनमें गोचर नहीं होता। यह काम रसखान, बोधा, ठाकुर, घन-आनन्द आदि स्वच्छन्द धारा के शृंगारी कवियों ने किया है तभी तो उनकी वाणी का विधान ही अलग है और व्यंजना की मार्मिकता भी सर्वथा दूसरी है। इनमें छिछलापन है उनमें गहराई, इनमें बहिर्मुखी आसक्ति है उनमें आंतरिकता से परिपूर्ण समर्पण।

रीति कवि की दृष्टि में नारी उपभोग का एक उपकरण मात्र थी। सामंती वातावरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विलास-सामग्री के रूप में उसकी स्वीकृति हो चुकी थी। भोग-वासना से भिन्न सन्दर्भों में नारी का चित्रण इस युग के कवियों ने किया ही नहीं। नारी का कोई निजी चेतन व्यक्तित्व हमें नहीं मिलता, वह स्वयमेव भोग-विलास की वासनाओं को तुष्ट करने के लिए सहर्ष तत्पर दिखाई देती है। उसके हाव-भाव, चेष्टाएँ, गति-विधियाँ इसी एक आशय को व्यक्त करने वाली हैं कि वह नर के सुख-संभोग की सजी-सजाई सामग्री है। उसका यह रूप इन शृंगारी कवियों का ही दिया हुआ है। नारी का जितना सारा रूप-चेष्टा-क्रीड़ा-विलासादि का चित्रण नायिका-भेद अथवा अन्यान्य कृतियों में फैला हुआ है वह सब उसकी उपभोग-योग्यता का ही प्रसार है। उसे कामकेलि का सरोवर समझ कर रसिक कवि जन उसके रूप और अंग-जल में निमग्नामग्न होते रहे हैं। उसके प्रति कवियों की जो दृष्टि रही है इस प्रकार के कुछ कथनों से ही भली-भाँति व्यक्त हो रही है—

तातैं कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।
राचै पागै प्रेम रस मेटै मन के खेद॥
कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों चित्त हरै करि प्रीति॥ (देव)

इन उक्तियों से जाहिर है कि नायिका-भेद का सारा पसारा इसी एक बात को लेकर है कि वह अपने सौन्दर्य-रस में कवि के मन को या पुरुष मात्र के मन को अनुरक्त कर लेती है और उसके समस्त मानसिक संतापों को मिटा देती है। उसके रूप-रंग-अंग आदि का आकर्षण नर के चित्त एवं विवेक सब कुछ को हरण कर लिया करता है। नारी मात्र के प्रति यही एक दृष्टि थी जिसे लिये-दिये कविजन चले चल रहे थे—

जग जीवन को फल जानि पर्‌यो घनि नैननि कों ठहरैयतु है।
पद्माकर ह्यो हुलसै पुलकै तनुसिंधु सुधा के अन्हैयतु है।
मन पैरत सो रस कै नद में अति आनन्द मैं मिलि जैयतु है।
अब ऊँचे ऊरोज लखे तियके सुरराज को राजसो पैयतु है॥

नारी के प्रति कोई सम्मान एवं गौरवपूर्ण भावना भी उनके मन में थी ऐसा जान नहीं पड़ता—'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' आदि विविध रूपों में उसे देखने की कदाचित् अपेक्षा ही न थी। उसका महत्व गृहस्थी के बीच भी कुछ था, वह गृहिणी, माँ, बहन, पुत्री, परामर्शदात्री आदि रूपों में देखी ही नहीं गई। कामिनी का एक ही रूप—उपभोग-सामग्री का—ही उनके मन के समूचे पर्दे पर छाया हुआ था। नायिका-भेद के ग्रन्थों में मानवती, खंडिता, स्वकीया, परकीया, मुग्धा, मध्या आदि जो शत-शत रूप दिखाए गए हैं वह उसके इस एक ही रूप के अवान्तर भेद हैं और कुछ नहीं।

इस प्रकार रीति कवि एक अस्वस्थ जीवन-दर्शन लेकर चल रहा था। उसका कर्मक्षेत्र इतना संकुचित हो गया था कि संघर्ष और वृत्तियों के विकसित होने का अवसर ही न था। कवियों का निजी जीवन निश्चिन्तता का जीवन था। जीवन एक निश्चित लीक पर चल रहा था। राज्याश्रय में होने से जीविका की समस्या सुलझी ही हुई थी, काव्य-रचना उनका कर्त्तव्य कर्म था और रसप्राप्ति ही उनके समग्र जीवन का लक्ष्य था। परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए जीवन के कर्ममय क्षेत्र में अग्रसर होते रहने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो स्फूर्ति और वैशिष्ट्य आता है वह रीतिकवि में नहीं आने पाया। एक ही दिशा में निरन्तर लिप्त रहने के कारण उसकी वृत्तियाँ असंतुलित हो गयीं, उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो गया और उसकी सृष्टि कविता निर्विशिष्ट हो गई। व्यक्तित्व का तेज और दीप्ति उनकी रचनाओं में न उतर सका। सभी कवियों की रचना बहुत-कुछ एक-सी ही हो गई है क्योंकि परिस्थितियाँ वही, कवि का जीवन वही। नवीन अनुभवों या अनुभूतियों की गुञ्जाइश नहीं, भावना के नए-नए क्षेत्रों तक दौड़ नहीं। ऐसी दशा में कवि और काव्य दोनों 'टाइप' मात्र हो कर रह गए। केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर सरीखे कुछ बड़े कवियों में अवश्य थोड़ा व्यक्तिवैशिष्ट्य दिखाई देता है फलतः इनकी रचना भी थोड़ी विशिष्टता लिये हुए है किन्तु टाइप फिर भी वही है; क्योंकि रस, नायिकाभेद, अलंकार के निर्धारित लक्षणों पर ही तो छन्द बाँधने पड़ते थे, बहुत भिन्नता आती भी तो कहाँ से। परिणाम यह हो गया है कि कवियों की रचनाएँ एक दूसरे में मिल जाने लगीं और परवर्ती काव्यरसिकों की रचना के बल पर कवि की पहचान में धोखा होने लगा। संग्रह ग्रन्थों में यह घाल-मेल बहुत हुआ। किसी की रचना किसी के नाम चढ़ गई। बिहारी, रसनिधि, रसलीन, मतिराम आदि के दोहे एक दूसरे के नाम पर चढ़ गए। कवित्त-सवैयों की भी यही दशा होने लगी। कविता ही जहाँ अर्थोपार्जन और प्रतिष्ठा

का एक बड़ा आधार हो वहाँ असमर्थ और चौर वृत्ति वाले लोग भी जैसे-तैसे स्वार्थ-साधन के लिए आगे आये। कविता की चोरी होने लगी। भावापहरण तक तो कोई बात न थी परन्तु इस काल में तो शब्द, पद, वाक्य, चरण यहाँ तक कि पूरा का पूरा कवित्त चुराया जाने लगा—

> **सुनु महाजन चोरी होत चारि चरन की**
> तातें सेनापति कहै तजि करि ब्याज कौं
> **लीजियौ बचाइ ज्यौं चुरावै नहिं कोई, सौंपी**
> **वित्त की सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं।** (सेनापति)

स्वभावतः कवियों को अपनी परिश्रम से बनाई हुई इस मूल्यवान पूँजी के संरक्षण की बड़ी चिंता हुई। वे अपनी रचनाओं को अपने आश्रयदाताओं को समर्पित करने लगे। ग्रंथार्पण करने में कभी-कभी जागीरें तक मिलने लगीं साथ ही ग्रन्थ के चोरी जाने का भय भी कम हो गया। रीतिकाल में लिखा हुआ प्रत्येक छन्द अपने कर्त्ता का नाम वहन करता है उसका प्रधान कारण कवि के अहं की तुष्टि और चोरी का भय प्रतीत होता है।

रूढ़िबद्ध जीवन, अवैयक्तिक दृष्टि, राजनीतिक और आर्थिक पराभव, वृत्तियों का असंतुलन, ऊँचे लक्ष्यों के प्रति अनाशक्ति, संघर्ष का अभाव या संघर्षों से बचते रहने की चेष्टा—संक्षेप में यही सामंती जीवन था जिसके बीच व्यक्तित्व का स्वस्थ और चतुर्मुखी विकास सम्भव न था। ऐसा रूढ़ि से ग्रस्त-रुग्ण और जर्जर जीवनक्रम में तेजस्वी कवि-व्यक्तितत्व का जन्म नहीं हो सका। यह भी इस एक ही बात को प्रमाणित करता है कि इस युग का कवि अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं रखता था। निस्तेज और स्वाभिमानरहित सामन्तों की भोगवृत्तियों को तोष देने के लिए कविता लिखनेवाले कवि किसी स्वतन्त्र और व्यापक जीवनदृष्टि को सामने न ला सके तथा अपने आश्रयदाता को मात्र भोग-विलास के जीवन से नजात न दिला सके। वे उन्हें प्रबुद्ध करने वाली सरस्वती न दे सके जो उन्हें लोककल्याण-कारी कर्मों में प्रवृत्त करती। अत्यन्त बँधी हुई परम्परागत दृष्टि रखने के कारण ये कवि उससे बाहर न जा सके। जिस प्रकार ये रीतिकवि किसी सूक्ष्म एवं गम्भीर आध्यात्मिक आशयों को अपने काव्य में प्रतिफलित न कर सके उसी प्रकार ये लोग भौतिक जीवन के भी नाना पक्षों को न ला सके, भौतिक जगत और जीवन की अनेक-रूपता इनके काव्य में न आ सकी। भौतिक जीवन का स्वस्थ एवं सुन्दर चित्रण के योग्य अनन्त विस्तार छोड़कर ये कवि नारी के देह की सुन्दरता के ही भ्रमर बने रहे। इससे आगे वे नहीं जा सके। काम की ऐसी सार्वभौम उपासना इन लोगों ने की कि उस वृत्त से ये बाहर ही न जा सके। कामवृत्ति की तृप्ति का यह आयोजन अपने आप में ही एक बड़ा लक्ष्य था, किसी महत्तर लक्ष्य की सिद्धि का साधन नहीं। भोग

की चतुर्मुखी प्रभा ही ये कवि देखते रह गए। उसके आगे इन्हें अनन्त अन्धकार ही गोचर होता था। लोक के प्रति ऐसी अंधी-पथराई दृष्टि रखते हुए भी ये कवि अपनी अनन्त सीमाओं के बावजूद चित्तानुरंजक भावलोक प्रस्तुत कर गए इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। अपनी इस अनुरंजनकारिणी उपलब्धि के कारण वे अविस्मरणीय भी हो गए हैं। जीवन-संघर्ष से टक्कर लेने की बात से दूर रह कर भी इन्होंने अपनी कविता की गागर में जीवन-रस का जो सागर भरा है वह आपको परिपूर्ण संतोष देने वाला है—यह बात द्विधाहीन भाषा में स्वीकार करनी पड़ेगी।

रीति कवि ने जन जीवन और मानव व्यक्तित्व को स्फूर्त करने देने वाली कोई बात नहीं लिखी। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में आन्दोलन मचा देने वाली कोई संवेदना ये पैदा न कर सके, परम्परा और रीति की दासता की शृंखलाओं को इन्होंने भी तोड़ने का उत्साह नहीं दिखलाया। सर्वथा मौलिक और अछूते भावलोक का दिग्दर्शन ये न करा सके। रीति कवि के निजी विचार प्रायः दृष्टिगत नहीं होते। जीवनानुभव या नीति-सम्बन्धी जो विचार इनमें आए हैं वे भी परम्पराप्राप्त कथनों के मेल में ही हैं। काव्य-विषयों के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि स्वतन्त्र या वैयक्तिक न होकर रूढ़िबद्ध ही रही है। रीति के पालन या अनुसरण में ही उसकी निजी प्रतिभा का विनियोग हुआ है इसलिए उसका काव्य निर्वैयक्तिक रहा है और काव्य दृष्टि भी। यदि आत्मप्रसार या वैयक्तिकता कहीं मिलती भी है तो वह अपवाद स्वरूप ही। घनआनन्द की निजी वेदनासमन्वित रचनाओं में रीति की काव्यधारा का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं होता।

रीति कवि के व्यक्तित्व में अलंकरण की प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है। इसका कारण है जीवन के प्रति किसी गहरी दृष्टि का अभाव। स्वतन्त्र चेतना और जीवन-उद्भाविनी क्षमता के अभाव में ये कवि रीति से बँधे रह गए और अलंकारों के परम प्रेमी बन चले। गम्भीर जीवन-दृष्टि न होने पर सतही या ऊपरी शोभा तथा दिखावों के चक्कर में पड़ जाना स्वाभाविक ही है। उनके काव्य में वैयक्तिकता की कमी का भी यही कारण है—नई स्फूर्ति, स्वच्छन्द जीवन और गहरी जीवन-दृष्टि का अभाव। उन्होंने काव्य के कलापक्ष को खूब बनाया, सजाया, संवारा और निखारा। सीमित भावजगत के भीतर ही उन्होंने भावना, कल्पना और कला की समूची कारीगरी दिखलाई तथा समसामयिक कवियों और अपने पूर्ववर्तियों से वे उक्त क्षेत्रों में बढ़ जाने का निरन्तर प्रयास करते रहे। काव्यान्तर्गत कला विधान के प्रति ऐसी सजग दृष्टि रखने वाले कवि हिन्दी में इस युग से पहले कभी नहीं हुए थे। और चाहे जिस चीज में ये कलाकार पीछे रहे हों पर कला की साधना तथा अपने जीवन धर्म 'कवि कर्म' में ये लेशमात्र भी पीछे न रहे।

रीतिकवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि वे

भक्त थे अथवा नहीं ? ऊपर जो कुछ रीति कवि के सम्बन्ध में कहा गया है उसे रीति-कवि द्वारा लिखित काव्य को दृष्टि में रखते हुए यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रख लेनी चाहिये कि इन कवियों के काव्य की प्रेरणा भक्ति नहीं थी। भक्ति की किसी तीव्र भावना से अनुप्रेरित हो ये काव्यक्षेत्र में प्रविष्ट हुए ऐसी बात नहीं। भक्ति संस्कार रूप में या परम्परागत काव्य-पद्धति के प्रभाव रूप में इनके काव्य में आई है किन्तु वह चमत्करण, शृंगारिकता, कौशल-प्रदर्शन, राजप्रशस्ति आदि प्रबलतर वृत्तियों के सामने दब-सी गई है। जब कभी उसका थोड़ा-बहुत उद्रेक हुआ है कुछ सुन्दर पंक्तियाँ रीतिकवि द्वारा लिखी जा सकी हैं। भक्तिकाव्य सम्बन्धिनी जो धाराएँ रीतिकाल में प्रवाहित हो रही थीं उनकी चर्चा तो अन्यत्र की गई है किन्तु यहाँ पर हमारा अभिप्रेत रीति के कर्त्ताओं द्वारा की गई भक्ति भावपरक रचनाओं से है तथा उनके आधार पर इन कर्त्ताओं के व्यक्तित्व के विश्लेषण से है। रीति की ओर ये कवि मुड़े इसलिए कि रीति या कला-कौशलप्रधान रचना द्वारा राजा के सभा का शृङ्गार बनना इस युग के कवियों के लिये जरूरी हो गया था। वह सामंती युग की ही सही, अपने युग की माँग थी। रीति-भक्ति की प्रतिक्रिया न थी। भक्ति और रीति की धारायें भक्ति और रीति युगों में समानान्तर चल रही थीं। प्राधान्य के ही कारण ये युग दो विभिन्न नामों से अभिहित हुए हैं। रीति कवि में भक्त कवि की भाँति परमात्मा के प्रति सर्वस्व अर्पित कर देने की वृत्ति नहीं, लोक से उसे वैराग्य न था, लोकमंगल की प्रबल स्पृहा उसमें न थी, लोक को प्रबुद्ध करने की तथा रूढ़ विश्वासों से पृथक कर उसे जीवन का सात्विक मार्ग बतलाने की कामना रीति कवि में न थी। भक्ति-भावना की वह गम्भीरता और पवित्रता तथा भावावेश की वह तीव्रता उसमें लक्षित नहीं होती जो सूर, जायसी, तुलसी, मीरा आदि संतों में स्वतः व्यक्त है। ये कवि हाड़-माँस की देह को पाकर फूले-फूले फिरने वाले थे। संसार की अनित्यता से भीत न थे। जीवन की इच्छाओं और प्रवृत्तियों में रसात्मक भाव से प्रवृत्त होने वाले प्राणी थे। ऐन्द्रिक तृप्ति, नारी का रूप-जाल, धन और वैभव का उन्मादक आह्लाद इनके समक्ष मूल्यवान उपकरण थे, त्याज्य और विगर्हणीय नहीं। हरि और गोपाल, राधा और कृष्ण, गोपी और नन्दलाल, मोहन और घनश्याम ऐसे लोकप्रिय एवं पुनीत नामों को लेते हुए इन्होंने अति शृङ्गारिक उद्भावनाएँ की हैं। अपने पूज्य ईश्वरावतारों की नितांत लौकिक, मांसल और कामुक वर्णना की है। जहाँ यह सब है भक्ति इनसे कोसों दूर है। उधर जब कभी अपनी शृङ्गारिकता से विरक्ति हुई है या जिस क्षण भोगप्रधान जीवन की घृणितता का भाव मनोगत हुआ है इन्होंने वैराग्यमिश्रित भक्ति-निवेदन किया है। ऐसे समय रचनाएँ अच्छी बन पड़ी हैं परन्तु यह इन कवियों का स्थायी और मूलवर्ती स्वर नहीं। यह व्यंजन तो स्वाद बदलने के लिए उपयोग में लाया जाता है। गम्भीर और सात्विक विचा

राशि से इन कवियों का काव्य प्रायः शून्य है। तीव्र और गहरी संवेदनाओं से रिक्त है। रीतिकवि 'कविताई' के लिए तो काव्यक्षेत्र में आए ही थे, वही इनका मुख्य लक्ष्य था। उसकी सिद्धि न होने पर इन्हें पश्चाताप न होने पाए इस उद्देश्य के लिए इन्होंने उसमें 'राधिका-कन्हाई' का नाम और जोड़ दिया है। काव्य-रचना इन्होंने अहेतुकी भाव से न की। कवि-समाज में प्रतिष्ठा उसका प्रथम उद्देश्य था। उसकी सिद्धि से धन, सम्मान, वैभव, भोग के उपकरण सब कुछ सुलभ होते थे। उसमें यदि कहीं असफलता हुई तो हरिनामस्मरण तो कहीं गया नहीं। रीतिकवि की इस मनोवृत्ति का खुलासा करते हुए भिखारीदास 'फिसल पड़े की हर गंगा' वाली उक्ति चरितार्थ कर गए हैं। बहुत बढ़िया बात इन कवियों के विषय में यह है कि इनका व्यक्तित्व जो कुछ भी है, जैसा भी है एकदम स्पष्ट है, द्विधारहित नहीं है। कुछ विद्वानों ने कहा है कि रीतिकवियों में प्राप्य भक्ति-भावना ने 'सामाजिक कवच' का काम किया, ये कवि लोक-निन्दा से इसी कारण बच सके। असल बात यह है कि शृङ्गारप्रधान काव्य-रचना के कारण उस युग में कोई तिरस्कृत या निन्द्य नहीं माना गया। भक्ति की भावना या राधाकृष्ण और गोपी का नामोल्लेख इन्होंने कदाचित् परम्परागत काव्यसंस्कारवश किया है न कि लोकापवाद से आत्मरक्षण के निमित्त। डा० नगेन्द्र ने रीति कवियों में प्राप्य भक्तिभावना को एक 'मनोवैज्ञानिक आवश्यकता' कहा है—'भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्तिरस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते।'[1] सच तो यह है कि भक्ति की क्रमागत भावना के विरोध का सवाल ही नहीं उठता। वह भावना तो उन्होंने स्वीकार ही कर ली थी। भक्ति के वे भाव जो सूर, तुलसी आदि ने व्यक्त किये हैं जगह-जगह रीति कवियों में भी पाये जाते हैं इतना ही नहीं कभी-कभी कबीर का स्वर भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ जाता है—

> जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
> मन काँचै नाचै वृथा साँचे राँचे राम॥ (बिहारी)

इसलिए भक्ति-रस में अनास्था या उसके सैद्धान्तिक विरोध का कहीं कोई प्रश्न ही नहीं। वह भावना और वह सिद्धान्त तो इन कवियों को यथावत मान्य रहा है सिर्फ उसकी स्वीकृति का स्वर उतना तीव्र नहीं था। इसका कारण विलासजर्जर युग, सामंती वातावरण, कवियों की पार्थिव दृष्टि आदि में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसीलिये इनकी भक्तिमयी रचनाएँ न उतनी आवेशपूर्ण हैं न उतनी निष्ठामग्न, न उनमें वह आत्मसमर्पण है न वह गहरी आसक्ति है। उस उन्मेष का न तो यह काल था और न इन कवियों में संसार-त्याग और ईश्वरानुराग की वैसी गहरी वृत्ति

1. रीतिकाव्य की भूमिका (सन् १९५९) पृ० १६५

थी। इसी कारण भक्तिकालीन आवेशोन्मेष से पूर्ण गहरी धवल और पवित्र भक्ति की एक हलकी किन्तु निश्चित छाया रीति कवि के काव्य और व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर होती है। रीति और भक्त कवियों के जीवन-विषयक मानदण्ड भिन्न थे। यही भिन्नता उनके काव्यों के बीच स्पष्ट भेदक रेखा खींच देती है। भक्तिकालीन काव्य में ईश्वर-भक्ति और आस्तिकता लोक की चेतना के लिए एक बहुत बड़ा सहारा थी पर रीतियुग तक आते-आते वह बात न रह गई। शृङ्गारिकता इतनी बढ़ी कि ये कवि भक्ति का सहारा केवल स्वाद बदलने के लिए ले लिया करते थे या विपदा के चक्कर में आ फँसने पर ईश्वर का नामोच्चार और माहात्म्य कथन कर चलते थे। ऐसी रचनाएँ इनकी असाधारण लीनता का द्योतन नहीं करतीं। भक्ति के कवियों में जिस प्रकार अंशतः रीति विद्यमान थी उसी प्रकार रीतिकवियों में भक्ति भी। भक्तों की अति शृंगारी रचना ने इनकी राधाकृष्णपरक अति शृंगारी काव्य सृष्टि का अनुमोदन कर उसका पथ प्रशस्त किया। सूर आदि में प्राप्त उत्तान शृंगार से रीति-शृंगारी कवियों को बहुत बड़ा नैतिक बल मिला। भक्ति भी इन रीतिकारों ने उसी दैवत के प्रति अधिकतर निवेदित की है जो उनके शृंगार का आलम्बन था—

मन मोहन सों नेहु करि तू घनस्याम निहारि।
कुंज बिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि॥
तजि तीरथ ही राधिका तन द्युति कर अनुराग।
जेहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥

इस प्रकार रीतिकवि की भक्ति उसकी शृंगारी वृत्ति से कुछ-बहुत भिन्न या अलग न थी, वह उनकी मूल वृत्ति शृंगारिकता के ही अनुकूल थी। एक ओर भक्ति-परक रचनाओं द्वारा वे पूज्य एवं परम सम्मानीय भक्ति की परम्परा का वहन करते हुए लोक का आदर प्राप्त करते थे दूसरी ओर उनका रुचि-परिवर्तन भी हो जाता था। भक्ति की मन्दाकिनी में नहाकर ये अपनी वासनापरक भावों की पंकिलता इस प्रकार की उक्तियों द्वारा थोड़ा-बहुत धो डालते थे—

होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बन माल गरैं रहियै अरु ह्वै मुरली अधरा रसु पीजै॥ (मतिराम)

विलासिता में डूबा हुआ व्यक्तित्व लेकर युग में प्रचण्ड रूप से बहने वाली भक्ति की हवाओं का निषेध ये न कर सकते थे। इसी रूप में भक्ति इनके काव्यों में अवतरित हुई है।

भाषा और रचना-शैली

भाषा का स्वरूप—रीतिकाल के काव्य की प्रधान भाषा ब्रज भाषा थी। अवधी का प्रयोग सूफी काव्यों में हो रहा था, संतों की सधुक्कड़ी भाषा भी ब्रजभाषा

हो चली थी। रीतिकाव्य में जिस ब्रजभाषा का एकच्छत्र साम्राज्य हो चला था उसका स्वरूप क्या था यही मूल द्रष्टव्य है। रीतिकाल में व्यवहृत ब्रजभाषा में ब्रज प्रदेश की बोली का ठेठ रूप नहीं मिलता। उसमें अनेक भाषाओं और बोलियों का सम्मिश्रण है जैसे अवधी, बुंदेली, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, फारसी, अरबी, खड़ी बोली, पूर्वी बोली आदि। इस तथ्य को कुछ उदाहरणों द्वारा भली भाँति हृदयंगम किया जा सकता है—

संस्कृत शब्द— हिन्दी का रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य दोनों संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य से प्रभावित रहे हैं साथ ही हिन्दी अथवा हिन्दी बोलियों का शब्दभंडार मूलतः संस्कृत शब्दों से ही व्युत्पन्न है तथा ब्रजभाषा के अनेक उत्कृष्ट कवि संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे अतएव उनके काव्यों में संस्कृत शब्दावली निःसंकोच रूप में व्यवहृत हुई है उदाहरण के लिए देखिये—कज्जल, अद्वैतता, द्विज-सुधा-दीधित, सचिक्कन, सुगंध, निदाघ, जालरंध्र, श्रम स्वेद कन कलित, पावस प्रथम पयोद, कायव्यूह ऐसे प्रयोग बिहारी में; कंत, सीमंत, अभिनव, परिकर, कंदर्प, अनंत, अनलज्वाल, ज्वलित-ज्वाल ऐसे शब्द मतिराम में; चामीकर, ऊर्ध, शंबरारि तथा सरीसृप, आसीविष ऐसे क्लिष्ट शब्द देव में; अंतर्वर्तिनि, आसमुद्र, कुचद्वय, क्षिप्र, क्षामोदरी, दोषाकर, परिधान, वक्रतुंड, विघ्नखंड, वेत्ता, व्रीड़ित, सुकृत ऐसे शब्द भिखारीदास में मिलते हैं। अन्यान्य कवियों की भी यही स्थिति है, केशव की कविता विशेष रूप से संस्कृत बहुला है; कितने संस्कृत शब्द ब्रजभाषा के अनुरूप ढाल लिये गये हैं।

प्राकृत अपभ्रंश शब्द—बिज्जु, मेह, दिच्छ, खग्ग, चक्क, गुज्जर, जूह, नाह, दिग्ध, रुट्टि ऐसे शब्द ब्रज के अंग हो गए हैं। ब्रजभाषा स्वयं शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुई है।

फारसी-अरबी शब्द—रीतिकालीन काव्य से पहले की भाषा कविताओं में भी फारसी अरबी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। रीतिकाल में एक तो फारसी राजभाषा थी, दूसरे रीतिकवि राजकवि थे फलस्वरूप ये लोग फारसी अरबी के विद्वानों और शायरों की भाषा और शायरी के निकट सम्पर्क में आए। शाह की रुचि का भी इन भाषा-कवियों को ध्यान रखना पड़ता था; तीसरे ये कवि प्रदर्शन या भाषा-चमत्कार या बहुभाषा-ज्ञान द्वारा अपनी धाक भी जमाने के अभिलाषी थे। परम्परागत काव्य में भी ये अरबी-फारसी का व्यवहार देख चुके थे अतएव इन विदेशी शब्दों के ग्रहण में इन्होंने किसी कट्टरता या संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। मुग़ल शासन और वातावरण का प्रभाव भी इस काल के कवियों की भाषा पर थोड़ा-बहुत पड़ा है परन्तु रीतिकवि ने अपनी भाषा को फारसी से बोझिल नहीं किया है··· उमरदराज, बख्त, बलंद, कुबत, चश्मा, जोर, बेकाम, नेजा, शिकार, कबूल, निसान, हद, हमाम, गुलाम, गिरद, कसीस, कहर, करामति, जरह, दस्ताने, तमक, जाहिर फवत, चिराग,

कसाला, कलाम ऐसे चलते और बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ इजाफा, ताफता, रोहाल, सेल, रकम, छांहगीरु, सबी, महल, मखमल, किर्च, कज्जाक, महूम, गलीम, सफजंग, गिलमें, गजक ऐसे साहित्यिक या अपेक्षाकृत कठिन शब्दों का प्रयोग बिहारी, देव, भिखारीदास, पद्माकर, भूषण, रसलीन, ग्वाल ऐसे अच्छे कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। अपवाद स्वरूप कहीं-कहीं किन्हीं-किन्हीं कवियों की तो पदावली ही फारसी की हो गई है जैसे --

(क) मुसकाय के मोतन हेरि दियो तिरछो अँखियाँ चितवन के मरूरत।
होशम रफ़्त न मुंद बदस्त शुदे दिल मस्त ज़िंदीदने सूरत॥
(ये पंक्तियाँ गंग की कही जाती हैं)।

(ख) मी गुजरत ई दिलरावे दिलदार।
इक इक साअत हम यूँ साल हजार॥ (रहीम)

कहीं कहीं 'खुशबू' से 'खुसबोयन' ऐसे भद्दे प्रयोग भी मिलते हैं जिससे परिष्कृत रुचि को आघात पहुँचता है पर ऐसे दोष स्वदेशी काव्य परम्परा से अपरिचित साधारण कवियों में ही देखे जाते हैं। उत्कृष्ट कवियों ने तो विदेशी शब्दावली का मिश्रण बड़े कौशल से किया है।

बोलियों के शब्द—रीतिकाल की काव्यभाषा में बुंदेली, अवधी, पूर्वी तथा कभी-कभी राजस्थानी शब्द आ मिले हैं। केशव और विहारी में बुंदेली प्रभाव स्पष्ट है।

बुंदेलखंडी शब्द—देखबी, गीधे, बीधे, घैरु, धरबी, आनबी, मानबी, जानबी, पहिचानबी आदि।

अवधी या पूर्वी शब्द—दीन, कीन, लीन, बिहान, कवन आदि।

साहित्यिकता—इस प्रकार के नाना शब्दसमूहों के सम्मिश्रण से मधुर व्रजभाषा का ठेठ, शुद्ध या अमिश्रित रूप रीतिकाव्य में देखने को नहीं मिलता; परिणामस्वरूप उसका वह माधुर्य जो सूर के काव्य में बहुत-कुछ अब भी सुरक्षित है रीतिकाव्य की भाषा में दुर्लभ है। मथुरा, आगरा आदि के समीपवर्ती प्रदेश की लोक-भाषा की सहज मिठास रीतिकाव्य की भाषा में नहीं। उसके स्थान पर उसमें उक्त प्रकार का सम्मिश्रण तथा अलंकरण (शाब्दी, आर्थी आदि) तथा शब्द-शक्तियों के प्रयोग द्वारा उत्पन्न वैदग्ध्य दूसरे शब्दों में साहित्यिकता पैदा की गई है और इस प्रकार से उसमें लोच, मार्दव, नाद-सौन्दर्य आदि के विधान द्वारा रुचिरता, रोचकता और सरसता लाई गई है। इस काल के सभी कवि ब्रज प्रदेश के नहीं थे। अधिकांश उस प्रदेश से बाहर के हैं इसीलिए उनकी भाषा में ब्रज का नैसर्गिक माधुर्य न होकर उसके उस साहित्यिक स्वरूप का सौष्ठव देखने को मिलता है जो बिना 'ब्रजवास' किये सिद्ध कवियों की वचनावली का अनुसरण करके भी सिद्ध किया जा सकता है।

आप्त कवियों की वाणी से जबाँदानी आ सकती है यह बात भिखारी दास बता गए हैं :—

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिश्रित भाषा का आदर्श—इस प्रकार पहली बात जो रीतिकाव्य की ब्रजभाषा में लक्ष्य करने की है वह यह कि रीति कवि को मिश्रित भाषा की बात सिद्धान्ततः स्वीकार है। वैसे भाषासम्बन्धी सिद्धान्त या विचार दास के अतिरिक्त किसी अन्य रीतिकवि ने व्यक्त नहीं किये हैं। उनके भाषा-प्रयोग से ही उक्त कथन समर्थित होता है। दास ने भाषा-प्रयोग या भाषा-स्वरूपसम्बन्धी अपना अभिमत लगभग १०० वर्षों की काव्य-परम्परा के निरीक्षण के अनन्तर व्यक्त किया है :—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोई।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रकट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

ब्रज भाषा में संस्कृत, फारसी, मागधी (पूर्वी भाषा अवधी), नाग (अपभ्रंश) यवन (खड़ी बोली) का मिश्रण उन्हें दिखाई पड़ा। यह सम्मिश्रण पूर्ववर्ती एवं समकालीन ब्रजभाषा काव्य में उपलब्ध था इसीलिए उन्होंने उदारतापूर्वक भाषा सम्मिश्रण के सिद्धान्त को स्वीकार किया। तुलसी और गंग ऐसे सुकवि सरदारों में भी विविध प्रकार की भाषाओं का सम्मिश्रण देख उनके मन में मिली-जुली भाषा की बात और भी जम गई थी। वैसे भाषा-प्रयोग के संबन्ध में सम्मिश्रण का सिद्धान्त सर्वत्र व्यवहृत होता है उससे भाषा सशक्त और व्यापक बनती है। जो भी भाषा समर्थ और समृद्ध होती है वह अन्यान्य प्रदेशों के शब्द आत्मसात करती जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्य-काल में यही हाल ब्रज भाषा का था। राजस्थान, बुन्देलखंड, अवध और जिधर-जिधर इसे काव्य भाषा के रूप में स्वीकार किया गया उधर-उधर के शब्द इसके भण्डार में आ गए। ब्रज भाषा के विकास और प्रसार का कारण जहाँ उसका नैसर्गिक माधुर्य और वक्तव्य कृष्णप्रेम में देखा जा सकता है वहीं उसका एक और भी कारण है। ब्रज भारतवर्ष के उस मध्य देश या हृदयदेश की भाषा रही है जहाँ परम्परागत

रूप से ही समर्थ भाषाएँ ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में आगे रही हैं। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, और शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का समृद्ध वाङ्मय भारत की सारी संस्कृति को अपने विशाल वाङ्मय में समेटे हुए है। इसी मध्यदेश को शौरसेनी प्राकृत से विकसित होने के कारण संस्कृतादि पूर्ववर्तिनी भाषाओं की भाँति ब्रजभाषा की व्यापकता दूर-दूर तक हुई।[1] भक्तिकाल में यही ब्रज भाषा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, और पंजाब तक पहुँची थी। उधर अन्वेषकों ने अनुमान किया है कि विक्रमी १४ वीं शताब्दी में भी ब्रजभाषा में साहित्य अवश्य प्रणीत हुआ था, भले ही प्रभूत प्रामाणिक सामग्री आज इस संबन्ध में हमें उपलब्ध न हो। इस प्रकार रीतिकाव्य की भाषा पर्याप्त पुरानी तथा सूर और तुलसी ऐसे कवि-पुंगवों की परम्परा की उत्तराधिकारिणी ऐसी मधुर और कोमलकांत ब्रजभाषा रही है जो अपने समय में दूर-दूर तक व्याप्त तो हुई ही किन्तु जिसकी महिमा शताब्दियों पूर्व राजशेखर ऐसे काव्य मीमांसक स्वीकार कर चुके थे।[2]

भाषा संबन्धी अव्यवस्था—रीति काव्य की भाषा-विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० रसाल ने अपने-अपने इतिहासों में भाषा की गड़बड़ी उसके स्वरूप की अव्यवस्था आदि की विगर्हणा की है। यह गड़बड़ी कई प्रकार की रही है उदाहरण के लिए उसका अनियंत्रित होना, च्युतसंस्कृत-दोष-युक्त होना,

---

[1]. मध्यकाल में ब्रजभाषा का इतना परिविस्तार एवं सांस्कृतिक-साहित्यिक प्रभुत्व क्यों संभव हुआ इसका कारण खोजते हुए ब्रज भाषा की तीन सहायक शक्तियों का उल्लेख किया गया है—१. कृष्ण भक्ति, २. राजागण, ३. संगीत। कृष्ण भक्ति के साथ एक ओर वह बंगाल के कृष्णदास, श्यामदास आदि 'ब्रजबुली' के कवियों की मैथिली मिश्रित भाषा को ब्रज के संस्कार प्रदान कर सकी दूसरी ओर गुजरात के केशवदास तथा भालया जैसे कवियों की संभवतः १५ वीं, १६ वीं शताब्दी से ही अपने प्रयोग की ओर प्रेरित करने में समर्थ हुई। दक्षिण भी ब्रजभाषा के प्रभाव से अछूता नहीं रहा यद्यपि बंगाल और गुजरात की तरह कदाचित् ब्रजमिश्रित किसी विशिष्ट भाषा रूप का विकास वहाँ नहीं हुआ। कृष्ण काव्य पदबद्ध शैली में रचा गया और पद रागबद्ध किये गये अतएव संगीत भी ब्रजभाषा को प्रचारित करने में सहायक हुआ। जहाँ तक रीति काव्य का संबन्ध है उसके ब्रजभाषा में विनिर्मित होने का कारण मेरे विचार से परम्परा में अधिक निहित है। कृष्णभक्ति और राजाश्रय उसके पोषक माने जा सकते हैं। संगीत से रीतिकाव्य, वैष्णव काव्य की तरह कभी संबद्ध नहीं रहा। डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य संग्रह (सन् १९६१) पृ० १२२

[2]. मथुरा के आस-पास की भाषा का नैसर्गिक माधुर्य 'काव्य मीमांसाकार' राजशेखर को भी मान्य था— मधुर मधुरावामि गग्गिरिः।

सदोष वाक्य-रचना, शब्द-रूपों की अस्थिरता, शब्द-विकृति, या उनकी तोड़-मरोड़, कवि की इच्छानुसार ब्रज और अवधी का सम्मिश्रण अन्यान्य बोलियों के शब्दों का ग्रहण ही नहीं उनके कारक चिन्हों और क्रिया रूपों का भी यथेच्छ व्यवहार इन कवियों ने किया। इसका कारण यही है कि यद्यपि शताधिक वर्षों से ब्रज भाषा व्यवहृत होती रही फिर भी किसी ने उसे व्याकरणबद्ध नहीं किया और न ही उसके संस्कार-परिष्कार द्वारा शब्द-रूपों में स्थिरता लाने की चेष्टा की। काव्यरीति का तो विवेचन खूब हुआ परन्तु काव्य-भाषा का नहीं। भाषा में सफाई, क्रिया-कारकादिकों की एक-रूपता, वाक्य-रचना में सुव्यवस्था, शब्द-रूपों की स्थिरता की ओर किसी का ध्यान न गया। भिखारी दास ने भाषा-स्वरूप की कुछ चर्चा अवश्य की किन्तु वे भी भाषा-मीमांसा की सूक्ष्मताओं से विरत रहे। फलस्वरूप भाषासंबन्धी गड़बड़ी बनी रही। समूचे रीतिकाल में भाषा की सफाई और उसके स्वरूप की स्थिरता आदि की दृष्टि से बिहारी, घनानन्द ऐसे कुछ कवि ही मिलेंगे। आचार्य शुक्ल और डा० रसाल ने कहा है कि इस प्रकार की अव्यवस्था इस काल में आकर दूर न की जा सकी यह बड़े खेद की बात है। इसीलिए ब्रज भाषा विदेशी काव्य-पाठकों के लिए दुर्बोध रहेगी ही, स्वदेशी इतर भाषाभाषियों के लिए भी दुर्गम ही रहेगी। साहित्यिक भाषा के लिए जो स्थिरता आवश्यक है वह रीतिकालीन ब्रज भाषा में न आ सकी—उसमें अपेक्षित संस्कार, व्यवस्था, नियम-नियंत्रण, स्थिरता, सर्वमान्य व्यापकता, व्याकरणबद्ध निश्चितता या एकरूपकता न लाई जा सकी। कवियों ने प्राप्त स्वतन्त्रता से काम लिया। वे काव्य-रचना करते हुए भाषा को अलंकृत तो कर ही रहे थे किन्तु उसके स्वरूप को सुनिश्चित, परिनिष्ठित और व्याकरणानुमोदित रूप नहीं दे रहे थे। बिहारी जैसे एकाध लोग अपने ढंग से भाषा के स्वरूप का विधान करने में लगे किन्तु अपनी उस निजी व्यवस्था को विश्लेषित करने वाला व्याकरण वे प्रस्तुत न कर सके। इसी कारण उनकी शैली का अनुकरण तो हुआ किन्तु भाषागत स्वरूप का परिपालन नहीं मिलता। ब्रज भाषा का व्याकरण लिखने की ओर तो कोई आचार्य प्रवृत्त ही नहीं हुआ। फलतः नये शब्द स्वतन्त्रतापूर्वक गढ़े गए, तोड़-मरोड़ भी लोगों ने निर्विघ्न रूप से किया तथा वाक्य-विन्यास की व्यवस्थादि पर किसी ने ध्यान न दिया। अन्यान्य भाषाओं या बोलियों के शब्दों का मिश्रण भी अनियंत्रित ढंग से हो चला। भाषा की इस गड़बड़ी या अव्यवस्था की ओर बड़े-बड़े सावधान कवियों का भी ध्यान न गया, यह बड़ी ही शोचनीय बात हुई। समसामयिक वातावरण, कवियों की अभिरुचि एवं उनकी परिस्थितियाँ इन बातों के लिए उत्तरदायिनी हैं। फारसी आदि के प्रभाव-स्वरूप भी भाषा में प्रयोग के प्रति एक प्रकार की स्वेच्छाचारिता देखने में आई। भाषा स्वरूप की स्थिरता न होने से इतर बोलियों के शब्द तो शब्द कारक-चिह्न और क्रिया-रूप भी धड़ल्ले से व्यवहृत होने लगे। ऐसे मनमाने प्रयोग किन्हीं सिद्धांतों पर आधारित

रहे हों सो बात भी नहीं। जैसा कि शुक्ल जी ने बताया है छंद की आवश्यकता के अनुसार 'करना' या देना क्रिया के कितने ही भूतकालिक रूप प्रचलित हुए—कियो, कीनो, करयो, करियो, कीन, किय आदि या दीन्हा, दीन्ह्यो, दीन, दियो आदि अनेक रूप चले। भाषा के सम्बन्ध में ऐसी अव्यवस्था बड़ी ही लज्जास्पद बात रही। हिन्दी से अपरचित व्यक्ति के लिए शब्द-रूपों की इतनी विविधता कितनी कठिनाई उत्पन्न कर सकती है यह सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। भाषा की यह अनिश्चित और दुर्बोधस्वरूप भाषा-विज्ञान के उन विद्यार्थियों के लिए बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है जो विकास का अध्यन करना चाहते हैं। किसी भाषा में अन्यान्य भाषाओं का सम्मिश्रण का भी एक सिद्धांत होता है, अपनी मूल भाषा का स्वरूप अव्याहित रहे। परमाण, स्थान या अवसर का भी ध्यान रखना पड़ता है। इन सब बातों या सिद्धांतों की ओर रीति कवियों का ध्यान न था। सौन्दर्य के लिए वे कुछ भी कर डालते थे। ऐसी बात साधारण कवियों में विशेष रूप से देखी जाती है। वैसे अव्यवस्था रही सभी कवियों में, शब्दों की तोड़-मरोड़ तथा व्याकरणिक अनियंत्रिण के परिणामस्वरूप भाषा का जो हाल हुआ उसे दिखलाने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अनुपयुक्त न होंगे। भूषण शब्दों की तोड़ मरोड़ में आगे थे। उन्होंने सुठार (सुष्ठु), औदिलु (आदिल शाह) तनाय (तनाव), बिधनोल (बिदनूर), नैरनि (नगरों में), ऐसे प्रयोग किये। देव कवि भी शब्दों के रूप बिगाड़ने में पीछे न रहे तथा कन्द (कंदुक), ईच्छी (इच्छा), अनिरव्या (अभिलाषिणी), विधोत (विदित), दंदरा (द्वन्द्व), पुमनेन्दु (पूर्णेन्दु), व्योह (व्यामोह), लपना (जल्पना), पंडल (पांडुर), हेमन्त (हैंउत) ऐसे प्रयोग कर डाले हैं।

बड़े-बड़े कवियों में इस प्रकार की उच्छृंखलता देखकर ग्लानि होती है। माना कि तुक, छन्द या अनुप्रास के आग्रह से शब्दों के रूप-कभी कभी बदलने पड़ते हैं किन्तु उन्हें ऐसा बदल या बिगाड़ देना कि वे आसानी से पहचाने ही न जा सकें या समझे जा सकें कवि के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। भाषा को निर्द्वन्द्व भाव से इन कवियों ने इच्छानुसार विकृत किया।

कारक-प्रयोग—ब्रजभाषा में एक-एक कारक के अनेक विकल्प रखे गए हैं। विभक्ति का लोप भी बहुत बार देखा जाता है। कर्ता कारक की विभक्ति ने का प्रयोग ब्रज भाषा में साधारणतया मिलता ही नहीं।

(क) जोर करि जैहैं अब अपर नरेस पर
लरिहैं लराई ताके सुभट समाज पै। (भूषण)

यहाँ करण की जगह अधिकरण कारक का प्रयोग हुआ है।

(ख) चूनो होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोछ्यौ जाइ। (बिहारी)

यहाँ 'पट पोछ्यौ' में करण विभक्ति का लोप है।

क्रियाओं के रूप—जैसा पहले बता आए हैं एक ही क्रिया के विविध रूप

प्रयोग में लाए जाने लगे जैसे देना क्रिया के सामान्य भूतकाल दीन्हा, दीन्ह्यो, दीन, दियो, आदि कितने ही रूप चले । जाना, होना के भूत कालिक रूप गयो और हुयो तो चले ही, गो और भो भी प्रयोग में लाए गए। कभी-कभी दुहरी विभक्तियाँ लगाकर कवियों ने क्रिया पद को बिगाड़ दिया है जैसे भविष्यत् काल सूचक प्रयोग 'बितैहौगी' । यहाँ 'हौ' के रहते हुए 'गी' अनावश्यक है । व्रज में कीजिए दीजिए ऐसे प्रयोग विध हैं । इनके लिए कीजै दीजै ऐसे प्रयोग अनेक बार 'इयत' प्रत्यय लगाकर क्रियायें प्रयुक्त की गई हैं । जैसे दीजियत कीजियत, आइयतु, भागियतु आदि ।

वाक्य-विन्यास—पद्य में गद्य जैसा वाक्य विन्यास नहीं हो सकता फिर भी वाक्य-व्यवस्था निर्दोष रहे इस ओर कवि का सतत् ध्यान रहना चाहिए अन्यथा दूरान्वय, न्यून पदत्व, अधिक पदत्व, अनावश्यक आवृत्ति आदि के दोष काव्य की पंक्तियों में आ जाया करते हैं जैसे—

(क) आज कछू औरै भए, छए नए ठिक ठैन ।
चित के हित के चुगल ए नित के होहिं न नैन । (दूरान्वय दोष)

(ख) कातिक की विमल पून्यौ राति की जुन्हाई जोति ।
जगमग होति रूप ओप उपजति है । (अधिक पदत्व)

(ग) बहबह्यो गंध बहबह्यो है सुगंध
(अनावश्यक पुष्टपोषण)

लिङ्ग-दोष—हिन्दी में एक ही शब्द देश के विभिन्न भागों में विभिन्न लिङ्गों में प्रयुक्त होता है । व्रज भाषा में रीति कवियों ने कभी-कभी एक ही शब्द को स्त्रीलिङ्ग और पुलिंग दोनों में प्रयुक्त किया है जैसे बिहारी ने 'वायु' शब्द और देव ने 'लंक' शब्द को । इस प्रकार के दोषों से रीतिकाल की व्रजभाषा मुक्त न हो सकी, भाषा का साफ, शुद्ध और परिनिष्ठित रूप रसखान, पद्माकर और बिहारी ऐसे कुछ ही कवियों में देखा जा सका ।

भाषा की सजावट—रीति काव्य की व्रजभाषा मिश्रण-दोष, अव्यवस्था एवं व्याकरण-दोषों तथा शब्द-प्रयोगों की स्वेच्छारिता आदि दोषों के होते हुए भी काव्य के लिये पर्याप्त उपादेय, रुचिर और रुचिकर बनी रही । उपर्युक्त दोषों के बावजूद रीतिकालीन भाषा का अपना सौन्दर्य एवं आकर्षण है, उसकी अपनी एक सजावट है, कोमलता और लावण्य है, पद-विन्यास की थिरकन है, नाद का सौन्दर्य है जिसके कारण वह मनोरम और रमणीय है। उसका यह गुण एक बड़ी सीमा तक उसके दोषों का परिहार कर देता है । रीतिकवियों ने अपने ढंग से काव्य-भाषा व्रज का पूरा सजाव शृंगार किया जिससे उसमें मार्दव, लोच, माधुर्य, अलंकृति आदि गुण आ गए। पदावली के सौन्दर्य पर सभी कवियों की दृष्टि निबद्ध रही । यमक, अनुप्रास

आदि की ओर कवियों का विशेष ध्यान रहा। उन्होंने बड़े अभिनिवेश के साथ शब्द-साधना की। शब्द-चयन, शब्द-शोधन, शब्द-परिमार्जन, अनुरंजनात्मक सौन्दर्य; शब्द मैत्री, वर्ण-मैत्री, शब्दगत अलंकरण, लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार, वृत्ति, गुण आदि पर इन कवियों ने इतना अधिक ध्यान दिया कि अलंकरण और कलात्मकता उनके काव्य की एक प्रधान प्रवृत्ति ठहराई गई। सौन्दर्य अथवा कला-विधान की दृष्टि से उनकी यह जागरूकता विशेष सराहनीय है। इन्हीं कारणों से इस युग का काव्य इतना समाकर्षक रहा कि ब्रज की तुलना में दूसरी भाषाएँ खड़ी न हो सकीं। ब्रज भाषा को संस्कृत और फारसी ऐसी समृद्ध भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा होना पड़ा इसलिए भी इस युग के कवियों ने उसका विशेष सजाव-शृंगार किया। ऐसा न करने से उनकी हेठी होती थी। इन कवियों ने ब्रज भाषा को ललित और मधुर बनाने के लिए ढूँढ़-ढूँढ़ कर कठोर वर्णों को अपने काव्य से बहिष्कृत किया और खोज-खोज कर ललित और कोमल वर्ण ले आए। ब्रज की पदावली मधुर और कोमलकान्त तो यों ही हुआ करती थी, ये कवि उसमें अतिरिक्त कोमलता और माधुर्य ले आए। इसके लिए वे विशेष रूप से आयासशील हुए। 'श' और 'ण' के स्थान पर 'स' और 'न' का स्वर संकोच द्वारा प्रविष्ट और दृष्टि के स्थान पर पैठि और दीठि श्रावण, भाद्र, चंद्र, शृंगार, कृष्ण ऐसे संयुक्त वर्णवाले शब्दों की जगह सावन, भादौं, चंद, सिंगार, कान्ह ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया। एक शब्द के लिए उसके अनेक रूप व्यवहृत हुए जैसे आँखों के लिए आँखिन, अँखियान, अँखियन आदि फलतः छंद और तुक की कठिन समस्या सरल हो गई। वैकल्पिक विभक्तियों और निर्विभक्तिक प्रयोगों से भाषा में व्याकरण की बलि चढ़ाकर भी ये कवि सौष्ठव, लोच, व्यंजकता और माधुर्य ले आए। एक ही विभक्ति 'हि' कितनी विभक्तियों का काम देने लगी। कवियों ने व्याकरण से बड़ी छूट ली परन्तु उसका उद्देश्य भाषा को सजाना और सँवारना ही रहा। भाषा को सक्षम, विकासशील तथा व्यापक बनाने के लिए ही इन कवियों ने राजस्थानी, बुन्देली, अवधी, अरबी, फारसी आदि शब्दों को ग्रहण किया। इससे भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति में वृद्धि हुई फिर ये कवि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ऐसी समृद्ध काव्य भाषाओं की परम्परा के वाहक थे। व्रजभाषा में आरंभ से ही आभिजात्य संस्कार अधिक मिलते हैं वह लोकमुखी न होकर नागर-मुखी विशेष रूप से हुई। लोक-भाषा की मिठास के बजाय साहित्यिक भाषा का सौन्दर्य उसमें विशेष रूप से लाया गया। भक्तिकाल की ब्रजभाषा की अपेक्षा रीतिकाल की ब्रजभाषा में सजा-वट और लालित्य अधिक है यही कारण है कि यह भाषा कई सौ वर्षों तक साहित्य के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम रख सकी। अपने समय में यह भाषा इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक सहृदय मुसलमानों ने इस भाषा में काव्य-रचना की।* बंगाल के कतिपय कृष्ण-भक्तों और गुजरात के कवियों तक ने इसके प्रभाव में आकर काव्य-सर्जना की,

यह हम पहले ही बता आए हैं। ब्रजभाषा के निरन्तर सजाव और परिमार्जन होते रहने के कारण उसमें जो वैदग्धता और प्रौढ़ता आई उसी का परिणाम था कि आधुनिक युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली स्वीकृत हो जाने पर भी बहुत से श्रेष्ठ कवि बहुत काल तक ब्रज भाषा में ही काव्य-रचना करते रहे। यहां तक कि आज भी ब्रज भाषा में काव्य-रचना करने वाले अनेकानेक काव्यप्रेमी उस परंपरा को चलाते चल रहे हैं। जहाँ भाषा के बाह्य रूप को सुसज्जित और अलंकृत किया गया वहीं उसकी भंगिमा और व्यंजकता को बढ़ाने का भी उद्योग बराबर होता रहा। मतिराम, घनानंद देव, बिहारी जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने भाषा की सूक्ष्म व्यंजना-शक्ति को खूब बढ़ाया। उक्ति का वैचित्र्य, कथन पद्धति में वैदग्ध्य ये कवि खूब ले आए। भावव्यंजना की नई-नई शैलियाँ आविष्कृत हुईं जिससे भाषा सम्पन्न और समर्थ हुई।

रचना-शैली और छन्द—रीति काव्य प्रधानतः मुक्तक शैली में प्रणीत हुआ है। मुक्तक रचना बँध या कथा निरपेक्ष होती है। वह स्वतन्त्र तथा अपने आप में पूर्ण रसोद्रेक में सक्षम अथवा चमत्कृत होने वाली रचना हुआ करती है। पूर्वापर निरपेक्षता, आत्मपरिपूर्णता, रससञ्चार-समर्थता या चमत्कृतकारिणी क्षमता और कथाबन्ध से मुक्ति मुक्तक रचना के प्रधान लक्षण हैं। रीति काव्य का अधिकांश ऐसा ही है इसीलिए रीति काव्य की प्रधान शैली मुक्तक रचना की ही है। मुक्तक स्वतः पर्यवसित रचना होती है जब कि प्रबन्ध में अर्थ का पर्यवसान कथाक्रम पर निर्भर करता है। प्रबन्ध में रसास्वाद किसी एक ही छन्द से पूर्ण नहीं हो पाता। उसके लिए प्रबन्ध के अन्य काव्यांशों पर भी दृष्टि रखनी होती है किन्तु मुक्तक रचना के एक ही छन्द में रसचर्वणा या चमत्कृति के समस्त उपादान सँजोए गए होते हैं। मुक्तक रचना का समूचा सम्वेद्य, उसकी पूरी रस व्यञ्जना, उसका पूरा सौन्दर्य उसी में पूर्णतः व्यक्त हुआ करता है।[1] संस्कृत में मुक्तक रचना को प्रबन्ध रचना या महा-

---

१. मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसङ्ग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के जैसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय की कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिए सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा सङ्घटित जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि एक रमणीय खण्ड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित कर के उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में चित्रित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा—

रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास

काव्य के समान महत्व नहीं दिया गया। कवि को यदि नैपुण्य लाभ करना है और प्रतिष्ठित होना है तो उसे प्रबन्ध-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए। मुक्तक रचना तो विकास का सोपान मात्र है। कालांतर में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।[१] प्रसिद्ध मुक्तककार अमरुक के एक-एक श्लोक पर सौ-सौ प्रबन्ध निछावर होने लगे—'अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते' भले ही इस कथन में अति हो किन्तु मुक्तक की महिमा प्रतिष्ठित हुई। एक तो पूर्ववर्ती प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में शृंगारी मुक्तकों की परम्परा पहले से चल ही रही थी दूसरे रीति ग्रन्थ लिखने के लिए मुक्तकों की ही अपेक्षा थी, प्रबन्धों की नहीं। और तीसरे राज्याश्रय जहाँ शेरों और श्लोकों की जोड़-तोड़ में स्वतन्त्र छन्दों की आवश्यकता थी। चौथे समसामयिक राजसिक वातावरण में प्रबन्ध सुनने-सुनाने की फुरसत और धीरज किसी को कहाँ थी। वहाँ तो एक भाव, कल्पना या बंधान बाँधा और चट से सभा के बीच सुनाया। प्रतिष्ठा, प्रशंसा-पुरस्कार आदि तुरत मिल जाया करते थे। इन्हीं कारणों से रीति काल में मुक्तक रचना-शैली का विशेष विकास हुआ। कवियों ने प्रणय की कविता लिखते हुए शृंगार-काव्य के मेरु-दण्ड राधाकृष्ण या गोपी-कृष्ण से सम्बन्धित असंख्य बंधान बाँधे, कितनी ही रमणीय उद्भावनाएँ कीं। उनके मधुर अनुरागपूर्ण जीवन के कितने ही खण्ड-चित्र कल्पित और प्रस्तुत किये जिनमें जीवन की जीवंतता और मर्मस्पर्शिता है। पाठक सहज ही रस ग्रहण करने लगता है फिर रीतिकाव्य का तो वर्ण्य ही प्रधानतः राधाकृष्णाश्रित शृंगार था, उसके भटकने का कहीं कोई सवाल न था।

रीतिकाल में मुक्तक रचनाओं की प्रधानता का एक बड़ा कारण कृष्ण-चरित्र या कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना भी रहा है। कृष्ण-काव्य के रचयिताओं ने कृष्ण के जीवन के उसी भाग का मुख्यतः वर्णन किया है जिसका सम्बन्ध उनके गोकुल, वृन्दावन और मथुरा के जीवन से सम्बद्ध रहा है फलतः कृष्ण की मोहक

---

१. संस्कृत में मुक्तक रचना का सूत्रपात तो वैदिक काल से ही मिलता है किन्तु मुक्तक काव्य में रस की स्थिति नाट्य एवं प्रबन्ध के बहुत पीछे स्वीकृत हुई। राजशेखर ने तो मुक्तक कवियों को महाकवियों में स्थान ही नहीं दिया। आचार्य वामन ने भी यही माना है कि मुक्तक रचना तो कवि की प्रथम सीढ़ी है, उसे निपुणता प्राप्त करने के लिए प्रबन्ध काव्य में प्रवृत्त होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तक काव्य को प्रारम्भ में उच्च स्थान प्राप्त नहीं हुआ किन्तु कालान्तर में मुक्तक की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई।

डा० विजयेन्द्र स्नातक : हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, षष्ठ भाग (सं० २०१५) पृष्ठ ५०४।

क्रीड़ाओं एवं लीलाओं का वर्णन प्रबन्ध रूप में न किया जाकर स्फुट या मुक्तक रूप में ही अधिक किया गया। मुक्तक रूप में कृष्ण-लीला के वर्णन का मार्ग सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवि, मीरा, रसखान, सेनापति आदि दिखा चुके थे। फलतः रीति के कवि प्रबन्ध-रचना की ओर गए ही नहीं केशव और ब्रजवासी दास आदि ने रामचन्द्रिका और ब्रजविलास की रचना का जो आदर्श रक्खा वह चल नहीं सका क्योंकि इस युग की रचनाओं को दरबार की माँग भी पूरी करनी थी। भक्त कवियों ने कृष्ण-लीला के मोहक और रमणीय एवं कोमल प्रसङ्गों को ही उठाया, रीति कवियों ने भी उसी से प्रेरणा प्राप्त की और कृष्ण के जीवन के मोहक एवं प्रेमोत्तेजक प्रसङ्गों को ही विशेष रूप से काव्यबद्ध किया। भक्तों ने गीतों या पदों का प्रयोग किया और रीति कवियों ने मुक्तक रचना के उपयुक्त कवित्त-सवैयों को उठाया। भगवान और भक्ति में अशेष भाव से निमग्न रहने वाले भक्तों के लिए पद शैली बिलकुल ठीक थी। उस तमन्यता के अभाव में रीति कवि पद या गीति-शैली स्वीकार न कर सके। उन्हें अपना कवित्व चमत्कार भी दिखलाना था। इसके लिए पदों की अपेक्षा कवित्त और सवैये ही अधिक अनुकूल प्रतीत हुए। फिर रीति कवियों को लक्षण ग्रन्थों की रचना करते हुए लक्षणों को घटित करने वाले उदाहरण भी प्रस्तुत करने थे। रस, अलङ्कार, नायिका आदि के उदाहरण भी मुक्तक रूप में ही रखे जा सकते थे। मुसलमानी दरबारों के फारसी राजकवियों की प्रतिद्वन्द्विता में ब्रजभाषा के कवियों को कविता के दङ्गल में जो रचनाएँ प्रस्तुत करनी पड़तीं थीं उनका स्वरूप भी मुक्तक ही रखना पड़ता था। शेरों और गजलों की बराबरी पर कवित्त सवैये ही पढ़े जा सकते थे। आशुकवित्व का भी कवियों को जब तब राजसभा में परिचय देना पड़ता था। यह परिचय भी मुक्तकों द्वारा ही संभव था। दरबारी मुक्तकों में शृङ्गारपरक भावनाएँ नायिका-भेद के प्रकरण से ही ला-ला कर उपस्थित की गईं। जो रचनाएँ दरबार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी जाती थीं उनका स्वरूप कथाबद्ध नहीं हो सकता था। अल्पकाल में ही जिस रचना के माध्यम से प्रभाव जमाया जा सकता है वह रचना मुक्तक ही हो सकती है, प्रबन्ध नहीं। इन्हीं कारणों से इस युग की कविता की प्रधान शैली मुक्तक ही रही जिनमें चमत्कृति, अलङ्करण और कला-कौशल का प्राधान्य रक्खा गया। सभा-समाजों में ऐसी ही रचनाओं की इज्जत होती है जिनमें चमत्कार का वैशिष्ट्य हुआ करता है। रीतिकाल में कवित्त, सवैया तथा दोहा ऐसे मुक्तकों के अतिशय प्रयोग का कारण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी दरबारदारी ही ठहराया है—"रीतिबद्ध रचना मुक्तक ही क्यों रही इसका भी कारण राजदरबार या राजसभा ही है। दरबार में जो रचनाएँ सुनाई जाती हैं उनके लिए कथाबद्ध प्रबन्धों से काम नहीं चलता। थोड़े समय के लिए जो रचना रस-मग्न करने वाली हो वही वहाँ काम की हो सकती है, उसका मुक्तक होना बहुत

आवश्यक होता है। आधुनिक युग में भी सभा-सम्मेलनों में प्रबन्ध काव्य नहीं पढ़े जाते, मुक्तक गीत, प्रगीत ही चलते हैं। दूसरी बात राजसभा की कविता के लिए यह अपेक्षित होती है कि उसमें कला-पक्ष प्रधान हो। जिस रचना में चमत्कारातिशय न होगा वह सभासदों को अधिक रञ्जित नहीं कर सकती।............दरबारी कविता में नाद का विधान कुछ अधिक अपेक्षित होता है। हिन्दी के पठ्त कविसम्मेलनों में कवित्त-सवैयों को राग से पढ़ने का तो विधान है ही, दो बार पढ़ने का भी विधान है।............जिन हिन्दी कवियों को दो पंक्तियों वाले छोटे आकार के 'शेर' की प्रतिद्वन्द्विता करनी होती थी वे 'दोहा' सामने लाते थे और अपनी पूरी कारीगरी दिखाया करते थे; किन्तु जो नाद सौन्दर्य द्वारा भी लोगों को अधिक प्रभावित करना चाहते थे वे 'सवैया' सामने करते थे। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'सवैये' के नाद-माधुर्य के समक्ष 'शेर' ठहर नहीं सकते थे और सङ्गीत के बल पर हिन्दी के कवि मैदान मार लिया करते थे।"[1]

हिन्दी में मुक्तक-रचना की व्यापक प्रवृत्ति का एक और भी कारण है और वह है संस्कृत की शृंगार-मुक्तक परम्परा जिससे हिन्दी का शृंगार काव्य पर्याप्त रूप से प्रभावित हुआ है। हिन्दी रीति ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन के प्रति विरक्ति और शृंगारी रचना की प्रवृत्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। शृङ्गारी मुक्तक परम्परा का आरम्भ हालरचित प्राकृत की गाथा सप्तशती से माना गया है जिसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास ठहरता है। इसके बाद प्रसिद्ध मुक्तककार अमरुककृत अमरुक शतक, गोवर्धन की आर्या सप्तशती आदि ग्रन्थों के माध्यम से मुक्तक शैली में लिखित शृंगार की यह परम्परा चलती रही। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि से होती हुई शृंगारी मुक्तकों की यह परम्परा भाषा-काव्य में भी आई। गाथा सप्तशती, अमरूक शतक और आर्या सप्तशती आदि की शृंगार मुक्तक परम्परा ही हिन्दी की शृंगार-मुक्तक-परम्परा की पूर्वपीठिका के रूप में समझी जानी चाहिए। संस्कृत में शृंगारप्रधान मुक्तक रचनाओं के प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ हैं शृंगार-तिलक, घटकर्परि, भर्तृहरिकृत शृंगार शतक, विल्हण कृत चौर पंचाशिका आदि। हिन्दी के बिहारी आदि मुक्तककारों के प्रधान उपजीव्य उपर्युक्त ग्रंथ ही हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर हिन्दी के मुक्तककार शृंगारी छंदों की रचना में प्रवृत्त हुए। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य में प्राप्य यह मुक्तक परम्परा अपभ्रंश की रचनाओं में भी खोजी जा सकती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा द्वयाश्रय काव्य, सोमप्रभाचार्य के कुमार प्रतिपालबोध, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोष, प्राकृत पैंगलम और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में से शृंगार, वीर तथा इतर रसों से सम्बन्धी मुक्तकों की एक अच्छी राशि

---

[1] —शृंगार काल : पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३८१-८४

क्रीड़ाओं एवं लीलाओं का वर्णन प्रबन्ध रूप में न किया जाकर स्फुट या मुक्तक रूप में ही अधिक किया गया। मुक्तक रूप में कृष्ण-लीला के वर्णन का मार्ग सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवि, मीरा, रसखान, सेनापति आदि दिखा चुके थे। फलतः रीति के कवि प्रबन्ध-रचना की ओर गए ही नहीं केशव और व्रजवासी दास आदि ने रामचन्द्रिका और व्रजविलास की रचना का जो आदर्श रक्खा वह चल नहीं सका; क्योंकि इस युग की रचनाओं को दरबार की माँग भी पूरी करनी थी। भक्त कवियों ने कृष्ण-लीला के मोहक और रमणीय एवं कोमल प्रसङ्गों को ही उठाया, रीति कवियों ने भी उसी से प्रेरणा प्राप्त की और कृष्ण के जीवन के मोहक एवं प्रेमोत्तेजक प्रसङ्गों को ही विशेष रूप से काव्यबद्ध किया। भक्तों ने गीतों या पदों का प्रयोग किया और रीति कवियों ने मुक्तक रचना के उपयुक्त कवित्त-सवैयों को उठाया। भगवान और भक्ति में अशेष भाव से निमग्न रहने वाले भक्तों के लिए पद शैली बिलकुल ठीक थी। उस तमन्यता के अभाव में रीति कवि पद या गीति-शैली स्वीकार न कर सके। उन्हें अपना कवित्व चमत्कार भी दिखलाना था। इसके लिए पदों की अपेक्षा कवित्त और सवैये ही अधिक अनुकूल प्रतीत हुए। फिर रीति कवियों को लक्षण ग्रन्थों की रचना करते हुए लक्षणों को घटित करने वाले उदाहरण भी प्रस्तुत करने थे। रस, अलङ्कार, नायिका आदि के उदाहरण भी मुक्तक रूप में ही रखे जा सकते थे। मुसलमानी दरबारों के फारसी राजकवियों की प्रतिद्वन्द्विता में व्रजभाषा के कवियों को कविता के दङ्गल में जो रचनाएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं उनका स्वरूप भी मुक्तक ही रखना पड़ता था। शेरों और गज़लों की बराबरी पर कवित्त सवैये ही पढ़े जा सकते थे। आशुकवित्व का भी कवियों को जब तब राजसभा में परिचय देना पड़ता था। यह परिचय भी मुक्तकों द्वारा ही संभव था। दरबारी मुक्तकों में शृङ्गारपरक भावनाएँ नायिका-भेद के प्रकरण से ही ला-ला कर उपस्थित की गईं। जो रचनाएँ दरबार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी जाती थीं उनका स्वरूप कथाबद्ध नहीं हो सकता था। अल्पकाल में ही जिस रचना के माध्यम से प्रभाव जमाया जा सकता है वह रचना मुक्तक ही हो सकती है, प्रबन्ध नहीं। इन्हीं कारणों से इस युग की कविता की प्रधान शैली मुक्तक ही रही जिनमें चमत्कृति, अलङ्करण और कला-कौशल का प्राधान्य रक्खा गया। सभा-समाजों में ऐसी ही रचनाओं की इज्जत होती है जिनमें चमत्कार का वैशिष्ट्य हुआ करता है। रीतिकाल में कवित्त, सवैया तथा दोहा ऐसे मुक्तकों के अतिशय प्रयोग का कारण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी दरबारदारी ही ठहराया है—"रीविबद्ध रचना मुक्तक ही क्यों रही इसका भी कारण राजदरबार या राजसभा ही है। दरबार में जो रचनाएँ सुनाई जाती हैं उनके लिए कथाबद्ध प्रबन्धों से काम नहीं चलता। थोड़े समय के लिए जो रचना रस-मग्न करने वाली हो वही वहाँ काम की हो सकती है, उसका मुक्तक होना बहुत

आवश्यक होता है। आधुनिक युग में भी सभा-सम्मेलनों में प्रबन्ध काव्य नहीं पढ़े जाते, मुक्तक गीत, प्रगीत ही चलते हैं। दूसरी बात राजसभा की कविता के लिए यह अपेक्षित होती है कि उसमें कला-पक्ष प्रधान हो। जिस रचना में चमत्कारातिशय न होगा वह सभासदों को अधिक रञ्जित नहीं कर सकती।............दरबारी कविता में नाद का विधान कुछ अधिक अपेक्षित होता है। हिन्दी के पढ़ंत कविसम्मेलनों में कवित्त-सवैयों को राग से पढ़ने का तो विधान है ही, दो बार पढ़ने का भी विधान है।............जिन हिन्दी कवियों को दो पंक्तियों वाले छोटे आकार के 'शेर' की प्रतिद्वन्द्विता करनी होती थी वे 'दोहा' सामने लाते थे और अपनी पूरी कारीगरी दिखाया करते थे; किन्तु जो नाद सौन्दर्य द्वारा भी लोगों को अधिक प्रभावित करना चाहते थे वे 'सवैया' सामने करते थे। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'सवैये' के नाद-माधुर्य के समक्ष 'शेर' ठहर नहीं सकते थे और सङ्गीत के बल पर हिन्दी के कवि मैदान मार लिया करते थे।"[1]

हिन्दी में मुक्तक-रचना की व्यापक प्रवृत्ति का एक और भी कारण है और वह है संस्कृत की शृंगार-मुक्तक परम्परा जिससे हिन्दी का शृंगार काव्य पर्याप्त रूप से प्रभावित हुआ है। हिन्दी रीति ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन के प्रति विरक्ति और शृंगारी रचना की प्रवृत्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। शृङ्गारी मुक्तक परम्परा का आरम्भ हालरचित प्राकृत की गाथा सप्तशती से माना गया है जिसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास ठहरता है। इसके बाद प्रसिद्ध मुक्तककार अमरुककृत अमरुक शतक, गोवर्धन की आर्या सप्तशती आदि ग्रन्थों के माध्यम से मुक्तक शैली में लिखित शृंगार की यह परम्परा चलती रही। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि से होती हुई शृंगारी मुक्तकों की यह परम्परा भाषा-काव्य में भी आई। गाथा सप्तशती, अमरूक शतक और आर्या सप्तशती आदि की शृंगार मुक्तक परम्परा ही हिन्दी की शृंगार-मुक्तक-परम्परा की पूर्वपीठिका के रूप में समझी जानी चाहिए। संस्कृत में शृंगारप्रधान मुक्तक रचनाओं के प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ हैं शृंगार-तिलक, घटकर्परि, भर्तृहरिकृत शृंगार शतक, विल्हण कृत चौर पंचाशिका आदि। हिन्दी के बिहारी आदि मुक्तककारों के प्रधान उपजीव्य उपर्युक्त ग्रंथ ही हैं, जिनसे प्रेरणा लेकर हिन्दी के मुक्तककार शृंगारी छंदों की रचना में प्रवृत्त हुए। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य में प्राप्य यह मुक्तक परम्परा अपभ्रंश की रचनाओं में भी खोजी जा सकती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा द्वयाश्रय काव्य, सोमप्रभाचार्य के कुमार प्रतिपालबोध, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोष, प्राकृत पैंगलम और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में से शृंगार, वीर तथा इतर रसों से सम्बन्धी मुक्तकों की एक अच्छी राशि

[1] —शृंगार काल : पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३८१-८४

संग्रहीत की जा सकती है। हिन्दी में मुक्तकों की रचना इतने अधिक परिमाण में हुई कि ब्रज भाषा काव्य का भंडार भर गया। रीतिकाव्य के सभी नदीष्ण समीक्षकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि शृंगार के एक-एक अंग को लेकर उत्तमोत्तम छंदों का जितना विशाल संग्रह ब्रजभाषा में है उतना संस्कृत साहित्य में भी नहीं मिलता।

जहाँ तक प्रबन्ध-रचना की बात है ऐसा नहीं है कि लोग उधर प्रवृत्त ही नहीं हुए। जो रीति और दरबारदारी के झमेले में नहीं पड़े वे प्रबन्ध-रचना में तत्पर हुए किन्तु कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन-वृत्त को लेकर कोई महत्वपूर्ण प्रबन्ध ग्रंथ नहीं लिखा जा सका। दान लीला, मान लीला, रास लीला आदि प्रसंगों पर मुक्तकों से बढ़े तो निबन्ध काव्य या पद्यात्मक निबन्ध तक पहुँचे। कृष्ण के जीवन के उत्तरार्द्ध से सम्बन्धित कुछ खण्डकाव्य अवश्य लिखे गए जैसे नरोत्तमदास का सुदामा चरित्र, आलम का सुदामा चरित और श्यामसनेही। माधवानल कामकंदला की प्रसिद्ध प्रेम-कथा को लेकर आलम ने एक प्रबन्ध ग्रंथ लिखा और बोधा ने 'विरहवारीश' नामक दूसरा। कृष्ण-चरित्र पर विस्तृत वर्णनात्मक शैली में ब्रजवासीदास ने ब्रज-विलास और राम-चरित्र पर केशव ने रामचन्द्रिका लिखी। केशव की इस प्रबन्ध-शैली का अनुकरण न हो सका क्योंकि वे संस्कृत के प्राचीन काव्यादर्शों को लेकर चले। हाँ, आश्रयदाताओं को लेकर अवश्य अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिसका विवरण वीर-काव्य और रासो-काव्यों की चर्चा करते हुए दिया गया है। इधर फ़ारसी और ब्रज की मुक्तक रचनाओं में अभिनव आकर्षण पैदा किया जा रहा था। कवि लोग उधर ही विशेष आकृष्ट हुए।

अपनी प्रतिभा द्वारा सृष्ट काव्य के रस-बोध या चमत्कार-बोध के लिए रीति कवियों ने प्रमुख रूप से तीन छंद चुने—कवित्त, सवैया और दोहा। चलने को तो और भी छंद चले जैसे रोला, सोरठा, छप्पय, बरवै, कुण्डलिया आदि, किन्तु ये रीति-काल के प्रधान छंद नहीं कहे जा सकते। रोला का प्रयोग अधिकतर प्रबन्ध काव्यों में किया जाता है। दोहे या अन्य छंदों का प्रयोग करते-करते कोमल रुचि-परिवर्तन के लिए जब-तब कवियों ने बीच-बीच में सोरठे रख दिये हैं। छप्पय वीर-काव्य का छंद है जिसका प्रयोग कभी-कभी शृंगार या नीति के लिए भी किया गया है। बरवै अवधी का प्रिय छंद है। रहीम का बरवै नायिका भेद और तुलसी की बरवै रामायण प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल में बेनी प्रवीन, जगतसिंह और यशोदानंदन ने इसका प्रयोग विशेष किया है। कुण्डलिया का प्रयोग नीति काव्य में मिलता है। दीनदयाल गिरिधर कविराय ने इसका विशेष उपयोग किया। पदों का उपयोग रीतियुगीन कृष्ण-काव्य में विशेष मिलता है। रीतिकाव्य के प्रधान छंद कवित्त, सवैया और दोहा ही रहे। इसका प्रधान कारण यही है कि एक तो ये ब्रज भाषा की प्रकृति के अधिक से अधिक अनुकूल थे और दूसरे ये छंद वर्णित भावों की उत्कृष्टतम अभि-

चरणांत में गुरु और रूप घनाक्षरी के चरणांत में लघु होना आवश्यक है। यति-विधान का नियम शिथिल भी कर दिया गया है और इसलिए मनहर में १६, १५ पर तथा रूप घनाक्षरी में १६, १६ पर यति रक्खी जाती है। कवित्त छंद रीति काल में खूब मंजा। देव, मतिराम और पद्माकर में वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। आधुनिक युग में भारतेन्दु और रत्नाकर ने उसके परिमार्जित सौन्दर्य को सुरक्षित रक्खा। इस छंद का इस युग में यथासम्भव परिष्कार और परिमार्जन हुआ तथा इसे वृत्यनुप्रास, वीप्सा, अंत्यनुप्रास, लयगत संगीतात्मकता आदि युक्तियों द्वारा सौन्दर्य और गरिमा की चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया। भक्तियुगीन कवियों तुलसी आदि के कवित्तों से कहीं और अधिक सौन्दर्य भावोत्तेजक और मूर्तिविधायक क्षमता देव और पद्माकर के कवित्तों में मिलती है। यह सब छन्द को सौष्ठव प्रदान करने के प्रति सजगता का ही परिणाम है। रीतियुग के श्रेष्ठ कवित्तकारों के छंद पढ़ते समय हृदय जिस प्रकार भावोद्वेलित और दोलायित होता है उसका कारण उसमें आयोजित नाद, लय और प्रवाह का शौन्दर्य ही है। ये छन्द जहाँ एक ओर चित्त में वर्ण्य के अनुकूल वातावरण निर्मित करते चलते हैं वहीं दूसरी ओर बिंब भी अंकित करते चलते हैं।

सवैया—सवैया की व्युत्पत्ति सपादिका से कही गई है क्योंकि पुराने भाट इसके चौथे चरण को पहले शुरू में पढ़ दिया करते थे बाद में पूरा छंद पढ़ा करते थे। इसका प्रयोग भी हिन्दी में कवित्त के साथ-साथ ही पहले पहल अकबर के समय के कवियों—गंग, टोडरमल, नरोत्तमदास, तुलसीदास आदि द्वारा किया गया मिलता है। प्राकृत पैंगलम (रचनाकाल सं० १३०० के आस-पास) में सवैया से मिलते-जुलते ८ भगण वाले किरीट और ८ सगण वाले दुर्मिल का विवरण मिलता है। असम्भव नहीं कि विक्रम की १६ वीं शताब्दी से पूर्व भी कवित्त सवैये किसी न किसी रूप में प्रयुक्त होते रहे हों। सवैया की कोमलता और मंजुलता अद्वितीय होती है। सुकुमार वृत्तियों के प्रकाशन में इससे अधिक सक्षम छंद दूसरा नहीं। वैसे आवेशपूर्ण भावों के लिए भी इसका व्यवहार किया गया है। संगीतात्मकता, सौकुमार्य, प्रवाह, चारुता आदि के लिये यह आदर्श छंद है। ब्रज-भाषा का तो यह अपना छंद है। देव, मतिराम, रसखान, पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि के सवैये तो भाषा के शृंगार हैं। इस छंद का भी रीतिकवियों ने सम्यक परिमार्जन किया। २२ से २६ वर्णों तक के सवैये होते हैं। भानु जी ने सवैयों के १४ भेद किये हैं। गण तथा लघु-गुरु के भेद से इसके और भी कई भेद सम्भव हैं किन्तु मत्तगयंद, दुर्मिल, किरीट और सुमुखी सवैये रीतिकाव्य में विशेष प्रचलित रहे। इन चारों में भी मत्तगयंद सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित रूप है। सवैयों में गुरु वर्ण को लघु करके पढ़ने की छूट है। मत्तगयंद में ७ भगण और दो गुरु होते हैं। सवैये को कोमलता या सौकुमार्य प्रदान

करने के लिए, उसमें नाद-सौन्दर्य विन्यस्त करने के लिए कविजन सानुप्रासिक पदावली का उपयोग करते देखे जाते हैं। सवैये के परिष्करण और परिमार्जन के प्रति सतत सजग रहने के कारण रीतिकालीन कवियों के सवैये भक्तिकालीन तुलसी आदि के सवैयों की अपेक्षा अधिक रमणीय और आकर्षक बन पड़े हैं।

दोहा—दोहा एक अत्यन्त लोक प्रिय छंद है तथा उसकी उत्पत्ति कवित्त-सवैयों से पहले की है। विद्वानों ने विक्रम की ८ वीं शताब्दी में इसके प्रयोगारंभ का अनुमान किया है। १० वीं और ११ वीं शती के अपभ्रंश साहित्य में दोहा उसी प्रकार प्रधानता से प्रयुक्त होता था जिस प्रकार पौराणिक युग में अनुष्टुप। १२ वीं शती में हेमचन्द्र के 'छंदोनुशासनम्' में इसके लक्षण उदाहरण तथा १३ वीं शती में 'प्राकृत पैंगलम' में दोहे के २३ भेद वर्णित हैं। अपभ्रंश का यह सर्वाधिक प्रयुक्त छंद है। श्लोक कहने से जिस प्रकार संस्कृत का तथा गाथा या गाहा कहने से प्राकृत का बोध होता है उसी प्रकार 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य का तो यह एक अति प्रसिद्ध छंद है। तुलसीदास तथा संत कवियों ने इसे खूब प्रयुक्त किया। रीति-काल के काव्य का पर्याप्त महत्वपूर्ण अंश दोहों में ही लिखा गया है। रीति ग्रंथों का अधिकांश रीति-निरूपण, समस्त सतसई-साहित्य, संत काव्य और नीति काव्य के अतिरिक्त प्रभूत परिमाण में लिखित स्फुट रचनाएँ दोहों में ही हैं। दोहा अर्ध-सममात्रिक छंद है। इसके विषम चरणों में १३ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं। बिहारी के दोहों के आधार पर रत्नाकर जी ने दोहों का नियमन किया है तथा इस छंद पर पर्याप्त विमर्श किया है। दोहे में भाषा की सामासिक शक्ति अपेक्षित होती है। गागर में सागर भरने वाला ही उत्तम दोहे रच सकता है। इन्हीं गुणों के कारण बिहारी के दोहे हिन्दी में बेजोड़ हैं। दोहे में शब्द-संगठन, चित्रात्मकता, व्यंजना, उक्तिवैलक्षण्य तथा चोट करने की शक्ति अपेक्षित होती है। संक्षेप में अधिक की व्यंजना दोहे की प्राथमिक आवश्यकता है। इसी वैशिष्ट्य के कारण रहीम ने दोहे की प्रशस्ति में लिखा है—

> दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहि।
> ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि चलि जाहि॥ (रहीम)

रीतिसिद्ध काव्य (लक्ष्यमात्र काव्य)

रीतियुग में शृङ्गार की रचना करने वाले रीतिबद्ध या रीति ग्रन्थकार कवियों के साथ-साथ कवियों का एक अन्य वर्ग भी था जो शृंगार रस की रचनायें तो किया करता था और काव्यशास्त्र का सहारा भी लिया करता था; किन्तु काव्यशास्त्रीय या रीति-ग्रन्थों की रचना नहीं करता था। इन कवियों को रीतिसिद्ध कवि या काव्य कवि और इनकी रचना को रीतिसिद्ध काव्य या लक्ष्यमात्र काव्य कहा गया

है। इन कवियों का वर्ग संख्या की दृष्टि से रीति ग्रन्थकार कवियों की अपेक्षा छोटा है किन्तु इनकी प्रवृत्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं। रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी, सेनापति, बेनी, कृष्ण, कवि, रसनिधि, नेवाज, पजनेस, नृपसंभु, प्रीतम, रामसहायदास, हठी आदि का नाम लिया जाता है।[1] बिहारी-सतसई, मतिराम सतसई, रसनिधि कृत रतन-हजारा, रामसहाय दास कृत रामसतसई आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जो लक्ष्यमात्र काव्य या रीतिसिद्ध काव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार रीतियुग में लिखी गई बारहमासा, नखशिख, षड्ऋतुसम्बन्धिनी रचनायें भी इसी कोटि में आती हैं। इन कवियों की रचना रीति से नथी हुई है। उसमें रीति की ऐसी छाप मिलती है कि जो रीति की परम्परा से अपरिचित है वह इनकी कविता का पूरा-पूरा आनन्द नहीं ले सकता। इनकी रचनायें ऐसी होती हैं जिन्हें रसों तथा उसके अवयवों, अलंकारों एवं नायिका-भेद में सरलता से विभक्त किया जा सकता है। लक्षण ग्रन्थों की रचना से विरत रहकर भी रीति की पूरी-पूरी छाप रखने के कारण ये कवि रीतिसिद्ध कवि या काव्य कवि कहलाये और इनका काव्य रीति-सिद्ध काव्य अभिहित हुआ। रीतिबद्ध लक्षणकार कवियों [शास्त्र कवि या आचार्य कवियों] से ये भिन्न थे।

रीति-सिद्ध कवियों की रचनाओं में शास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण और लक्षण निर्माण तो नहीं हुआ फिर भी इनकी रचनायें ऐसी बन पड़ी हैं जो किसी न किसी काव्यांग के उदाहरण रूप में अवश्य रखी जा सकती हैं। इन्हें रीति-सिद्ध या रीत्यनुसारी या लक्षणानुसारी कवि कहने का यही कारण है। लक्षणों का नियमतः पूरा-पूरा पालन न करने पर भी ये उनसे सम्पूर्णतः मुक्त न थे जैसा कि स्वच्छन्द कवि थे परन्तु नियमानुसरण करते हुए भी ये स्वतन्त्रता लेते थे। लक्षण ग्रन्थों की रचना से ये विरत रहते थे पर रीति की पूरी छाप भी रखते थे। रीति ग्रन्थों के कर्त्ता कवियों से ये अवश्य कुछ विशिष्टता रखते थे इसी से इन्हें पृथक् करने की आवश्यकता समझी गई। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में 'इस प्रकार के कवियों को जो रीति विरुद्ध नहीं और लक्षण-ग्रन्थों से बँधे भी नहीं तिल भर भी उससे हट न सकें, भले ही वे रीति की परम्परा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हों, रीति-सिद्ध कवि कहना चाहिये'।[2] रीति की बँधी परिपाटी में इनकी आस्था पूरी थी किन्तु ये उसके पूरे गुलाम होकर नहीं चलना चाहते थे। उससे अलग हटना भी इन्हें अभीष्ट न था, उसकी पूरी दासता भी इन्हें स्वीकार्य न थी। इस प्रकार से ये मध्यमपंथी थे। रीति की सारी परम्परा का इन्हें अच्छा ज्ञान था, कह सकते हैं कि रीति का समूचा शास्त्र इन्हें सिद्ध था और इन्होंने रचनायें भी तदनुरूप ही की हैं किन्तु उसकी

---

[1] हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : षष्ठ भाग पृ० ५०८-४६

[2] शृङ्गार काल : पृ० ५५०

बाध्यता इन्हें न थी। ये इच्छानुसार स्वतन्त्र भावों को भी सामने लाते थे और अभिनव सूक्तियों का भी विधान करते थे। लक्षण ग्रन्थों से बाहर जाने की इन्होंने पूरी छूट ले रखी थी इसी कारण बिहारी, रसनिधि, सेनापति आदि के छन्द रीत्यनुसारी होकर भी रीतिग्रस्त नहीं थे। रीति कवियों की श्रेणी में अगर इन्हें बिठा दिया जाये तो ये अपनी स्वतंत्र चेतना के कारण पृथक् दिखाई पड़ेंगे। काव्य-रीति से ये पूर्णतः अभिज्ञ थे किन्तु इनकी स्वतंत्र चेतना रीति की वेदी पर पूरी तरह चढ़ा नहीं दी गई थी। ये रीति से हटकर भी जब-तब अपनी कल्पना या उद्भावना की करामात दिखा दिया करते थे। तात्पर्य यह कि रीति के बन्धन में ये रीति ग्रंथकार कवियों की तरह एकदम कसकर जकड़े नहीं जा सके थे, ये रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे फलतः स्वतन्त्र काव्य-शक्ति एवं अभिनव उद्भावना के निदर्शन का इन्हें अधिक अवसर था और इन्होंने निदर्शित भी किया। रीति के नियमों से ये चालित तो होते थे किन्तु जब-तब ये उसका स्वतंत्र प्रयोग भी करते थे। इसी से इनकी रचना में रीति-ग्रन्थानुसारी कवियों की अपेक्षा कुछ उत्कर्ष दिखाई देता है। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि ये रीति स्वच्छन्द धारा के कवियों की भाँति रीति से सर्वथा मुक्त न थे। रीति की सारी परम्परा इन्होंने अवश्य सिद्ध कर रखी थी, उसकी छाप इन पर पूरी-पूरी तरह थी किन्तु ये आवश्यकता पड़ने पर भाव अथवा कल्पना के आग्रह पर रीति से दायें-बायें होकर भी अपना करतब दिखाते थे। रीति रानी के ये सदैव दास ही नहीं बने रहते थे इच्छा होने पर अपना स्वामित्व भी दिखा जाया करते थे।

लक्षणानुधावन से विरत रहने के कारण इनकी रचनायें कुछ स्वतंत्रता लिये हुए हैं तथा उसमें व्यक्ति-वैशिष्ट्य का भी थोड़ा विकास हुआ है, उनका निजी अस्तित्व बना रह सका है। जो लोग रीतिग्रंथ लिखते थे उन्हें लक्षणगत नियमों के पालन का पूरा ध्यान रखना पड़ता था और सारी कल्पनायें तदनुकूल करनी पड़ती थीं। उपमायें, उत्प्रेक्षायें, प्रसंग, वर्ण्य सभी कुछ शास्त्रानुकूल और परम्परागत ढंग से बिठाते चलते थे। लक्षणों से बाहर जाने की उन्हें गुञ्जाइश न थी। पर ये रीतिसिद्ध कवि रीति से केवल संकेत ग्रहण करते थे और भाव तथा कल्पना का बन्धान स्वतंत्र ढंग से भी करते थे। यही कारण है कि जहाँ ये लोग नवीन उद्भावनायें कर सके हैं रीति-ग्रन्थकार कवि अपनी रचनाओं में प्रायः नवीनता का वैशिष्ट्य नहीं ला सके हैं। बिहारी की रचनाओं के वैशिष्ट्य का यही कारण है। यदि वे रीतिग्रन्थों में दिये लक्षणों से बँधकर रचना करने में दत्तचित्त हुए होते तो उनकी रचनाओं में व्यक्त उनकी जो स्वतंत्र सत्ता है वह लुप्त हो गई होती। कवित्त-सवैया ऐसे अधिक प्रचलित छन्दों की अपेक्षा बिहारी ने दोहे को जो ग्रहण किया वह भी इसी व्यक्ति-वैशिष्ट्य का सूचक है, उनके दोहों में जो सूक्ष्म कारीगरी है, वर्ण एवं नाद-सौंदर्य का विधान है, गहरी अर्थवत्ता और ध्वन्यात्मकता है वह कोरी रीति-प्रथा का अनुरण नहीं। वह

स्वतंत्र कवि-अस्तित्व के विकास का विशाल प्रयास द्योतित करती है। मात्र रीति-बद्धता से पूरा पड़ता न देख बिहारी, रसनिधि आदि कवियों ने अपने स्वतंत्र कवि-व्यक्तित्व की सूचना अपनी रीति से पृथक और विशिष्ट कलात्मक योजनाओं एवं साज-संभार द्वारा दी। बिहारी के दोहों को लक्षण-लक्ष्य लिखने वाले रीतिकारों के उन दोहों के साथ यदि रख दिया जाय जिनमें लक्षणों के उदाहरण दिये गए हैं तो रीति-सिद्ध कवियों के वैशिष्ट्य का पता चल जायेगा। रीति ग्रन्थों के ऐसे कर्त्ता कवि जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण पहचाने जा सके देव, मतिराम, सरीखे कम ही हैं; जो पहचाने जा सकते हैं। उनके पहचाने जाने का कारण यही है कि उन्होंने जब-तब या बार-बार अपनी स्वतंत्र कवित्व-शक्ति या अपने वैशिष्ट्य का परिचय दिया है जो रीति से बँधी रहकर भी नवीनता का विधान करती रही है।

रीति की सुनिश्चित परिपाटी के अनुकूल रचना करते हुए भी रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं की। ये कवि रीति या लक्षण ग्रंथों की रचना में इसलिए प्रवृत्त न हुए क्योंकि इन्हें कविगुरु, कविशिक्षक या आचार्य बनने का प्रचलित रोग न था। ये रीतिसिद्ध कवि ऐसे हैं जिनकी उक्तियों या अभिव्यक्तियों में रीति की पूरी परम्परा सिमटी हुई है साथ ही साथ ये उससे ऐसे चिपक भी नहीं गए हैं कि तिल भर न हट सकें। इसका कारण यही था कि ये कवि-गौरव के अभिलाषी थे; कविगुरु, काव्यशिक्षक या काव्याचार्य बनने के नहीं। इनकी दृष्टि में कवित्व-शक्ति के निदर्शन द्वारा काव्य-रचना के पुनीत क्षेत्र में वैशिष्ट्य लाभ करना अधिक श्रेयस्कर था उसके बजाय कि कविशिक्षा की साधारण पाठ्य-पुस्तक लिखकर रीति का आचार्य कहलाना। इनमें कवित्व की स्पृहा थी। ये कवि होना अधिक सम्मान की बात समझते थे अपेक्षाकृत इसके कि छोटी-मोटी कवि-शिक्षा की पुस्तक लिखकर काव्याचार्य का बहुकांक्षित पद प्राप्त कर लें। गुरुत्व या कवि-शिक्षक होने की कामना इन्हें न थी। ये कवि अवश्य इस बात से भली भाँति परिचित रहे होंगे कि संस्कृत काव्य शास्त्र की विकसित, सूक्ष्म विवेचनापूर्ण परम्परा के सामने भाषा में लिखे गये अलङ्कार-ग्रन्थ कितने साधारण कोटि के हैं; ऐसे रीति ग्रंन्थों के संग्रह अथवा अनुवाद से कोई विशेष लाभ या गौरव नहीं। इसी कारण इनका काव्य अधिक सरस और मार्मिक बन पड़ा है। उक्तियाँ चमत्कार से पूर्ण हैं, रीति की पद्धति से संयुक्त भी; फिर भी रीति के लक्षणों से जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र लक्षण पीछे छूट गए हैं। रीति की सारी बातों को ग्रहण करते हुए चलने में इनका विश्वास न था। "शास्त्र स्थिति सम्पादन" मात्र से ये संतुष्ट न होते थे। कभी वे अपने काव्य में शाब्दिक एवं आर्थिक अलङ्कारों की नई चमत्कृति दिखलाते थे तो कभी अभिनव कल्पना-विधान एवं स्वतन्त्र भाव-सृष्टि द्वारा नूतन ढङ्ग का रस-सञ्चार भी करते थे। आँख मूँदकर काव्य-प्रौढ़ियों का अवतरण ये सदा नहीं किया करते थे; कभी कविता में ये अपनी जिन्दगी के

अनुभव भी उड़ेल दिया करते थे। इसी में इनकी रचना की विशिष्टता है। कोरे रीति ग्रंथकारों में यह बात नहीं, वे तो लक्षण के इधर-उधर हटे नहीं कि सारा खेल बिगड़ा। शुद्ध रीतिकार लक्षणों से इधर-उधर नहीं जा सकते थे, रीतिसिद्ध कवि लक्षणों को दिशानिर्देशक मात्र समझते थे। इनमें रीति है, चमत्कार भी किन्तु स्वानुभूति और रस की व्यञ्जना भी। रस-सञ्चार के लिए ये काव्य-कवि स्वानुभूतियों के सहारे अभिनव कल्पनाओं एवं उद्‌भावनाओं की सृष्टि कर काव्य में नवीनता और रमणीयता का सञ्चार करते थे, केवल शास्त्रों की ही गिनी-गिनाई बातें सामने नहीं रखते थे वरन् संसारविषयक अपने अनुभव के भी सहारे भाव एवं सौन्दर्य-विधान की नई सामग्री पेश करते थे। यदि ये भी लक्षण-ग्रंथ-रचना में प्रवृत्त होते तो ऐसे सरस और अभिनव उक्तियों से पूर्ण काव्य की रचना ये न कर पाते जिनके कारण इनका वैशिष्ट्य स्वीकार करना पड़ता है।

शृंगार की सुन्दर सरस रचना प्रस्तुत करने में ये रीतिसिद्ध कवि संस्कृत की शृंगार की मुक्तक परम्परा से अवश्य प्रभावित हैं। प्राकृत में लिखी हाल की "गाथा सप्तशती" संस्कृत के अमरुक कवि के "अमरुकशतक" तथा गोर्वधन की "आर्या सप्तशती" भर्तृहरि के "शृंगार शतक" आदि काव्यों का प्रभाव रीतिसिद्ध कवियों पर पूरा-पूरा है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने "सतसई संहार" में बिहारी के अनेक दोहों पर आर्याशप्तसती के श्लोकों का प्रभाव दिखलाया है। संस्कृत और प्राकृत से होती हुई यह शृंगार-मुक्तक परम्परा अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा द्वयाश्रय काव्य, सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध-कोष, प्राकृत पैंगलम् और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह। संस्कृत के शृंगार-तिलक, घटकर्पर‍ि, भर्तृहरिरचित शृंगारशतक, विल्हण की चौर पंचाशिका आदि भी शृंगारप्रधान मुक्तक ही हैं। बिहारी आदि काव्य कवियों के शृगारी मुक्तकों को इस परम्परा से थोड़ी-बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई क्योंकि इन रचनाओं में एक तो लक्षणानुधावन का बन्धन नहीं और ये कवि बन्धन ढीला करके चलना चाहते भी थे। दूसरे इन मुक्तकों में जीवन के ऐहिक एवं भोगपरक पक्ष के चित्रण का आग्रह था जो इनकी और समसामयिक रुचि के अनुकूल भी था। इस परम्परा का उद्देश्य ही शृंगार के रसात्मक मुक्तकों द्वारा चित्त को उत्फुल्लता प्रदान करना था। वही कार्य हमारे रीतिसिद्ध कवियों ने भी अपने जमाने में किया।

रीतिबद्ध कवियों ने काव्यांग-विवेचन तो किया किन्तु वह बहुत हल्के ढंग का रहा। संस्कृत में काव्यशास्त्र की जैसी मीमांसा हो चुकी थी वैसी व्याख्या-विवेचना, खण्डन-मण्डन की न तो रीतिबद्ध कवियों में वृत्ति ही थी और न क्षमता। कुछ कवि अवश्य आचार्य कोटि के हो गये हैं जैसे केशव, भिखारीदास, कुलपति, प्रतापशाही आदि किन्तु विशद मीमांसा आदि की ओर ये लोग भी न गये। अधिकांश आचार्य तो

संस्कृत के उत्तरवर्ती अलंकार ग्रन्थों का ही पल्ला पकड़कर रह गये जिनमें काव्यांगों का सरल और स्पष्ट विवेचन मात्र हुआ था। उदाहरण के लिए चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसतरंगिणी, रसमंजरी आदि। बहुत आगे गये तो साहित्य-दर्पण और काव्य-प्रकाश तक किन्तु स्वतंत्र सिद्धान्तों की स्थापना करने वाले मौलिक ग्रन्थों जैसे-ध्वन्यालोक, लोचन वक्रोक्ति जीवितम्, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, काव्यादर्श, काव्यालंकार तक ये कवि प्रायः नहीं गये। रस-स्वरूप, काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रसनिष्पत्ति आदि सूक्ष्म शास्त्रीय प्रसंगों की ओर तो किसी ने जाने का साहस भी नहीं किया। शास्त्रज्ञता और आचार्यत्व के लोभ में ये हिन्दी रीतिकार या रीतिबद्ध कवि संस्कृत काव्यशास्त्र के विशाल प्रासाद की बाहरी परिक्रमा या अधिक से अधिक आँगन झाँककर लौट आये और मोटे-मोटे काव्यांग-लक्षण-निरूपण के व्याज से शृंगार-रस के उदाहरण प्रस्तुत कर सके और इसी में अपने कवि-कर्म की उन्होंने इतिश्री समझ ली किन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने इस सम्बन्ध में अधिक विवेक से काम लिया। वे जानते थे कि काव्यशास्त्र के इस सिन्धु का साधारण श्रम और मेधा से संतरण संभव नहीं अतः ये लोग उस ओर गये भी नहीं। उसका ज्ञान इन्हें अवश्य था और काव्य-रचना के समय भी वह सब इनके दिमाग में रहता था। इनकी रचना में रीति की जो पूरी छाप है उसका कारण भी यही है कि रीतिशास्त्र की विचारावली और उसमें निरूपित विषयों और बातों की इन्हें पूरी जानकारी थी किन्तु उसे ये सामने रखकर काव्य-रचना में प्रवृत्त न होते थे। वह पृष्ठभूमि में ही रहती थी और उससे ये संकेत या प्रेरणा ग्रहण करते थे किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र के अतिरिक्त ये कवि संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों की परम्परा से विशेष प्रभावित हुए जिसका विकास पंचाशिका, शतक एवं सप्तशती पद्धति के ग्रन्थों के माध्यम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में हो चुका था जिसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं।

रीतिसिद्ध कवियों की मानसिक पृष्ठभूमि की निर्मिति में संस्कृत रीति ग्रन्थों का भी हाथ रहा। जैसा हम पहले कह आये हैं ये रीतिसिद्ध कवि रीति की पूरी परंपरा से वाकिफ रहे। रस, ध्वनि, अलंकार आदि सम्प्रदायों की इन पर भी पूरी-पूरी छाप थी। नेवाज, वेनी, नृपशंभु, रसनिधि, हठी, पजनेस आदि रसवादी कवि ही थे। बिहारी को लोग रसवादी कहते हैं किन्तु डा० रामसागर त्रिपाठी ने अपने प्रबन्ध में उन्हें रीतिकाल का प्रधान ध्वनिवादी कवि सिद्ध किया है[1]। सेनापति अवश्य अलंकारवादी थे। इतना तो स्पष्ट ही है कि कवित्व के प्रेमी ये रीतिसिद्ध कवि अलंकार और वक्रोक्ति सम्प्रदायों से कम, रस और ध्वनि सम्प्रदायों से विशेष प्रभावित थे। इनकी काव्य-वृत्ति देखते हुए यह बात ठीक ही जँचती है।

---

[1]. मुक्तक काव्यधारा और बिहारी : डा० रामसागर त्रिपाठी

रीतिशास्त्रीय विषयों की ही मानसिक पृष्ठभूमि होने के कारण इन कवियों ने भी नायिका-भेद, ऋतुवर्णन, बारहमासा, नखशिख आदि परम्परागत और शास्त्र-कथित विषयों को काव्य के वर्ण्य के रूप में प्रचुरता से ग्रहण किया परन्तु उसमें अपनी नूतन गति का परिचय दिया। ये विषय ऐसे थे जिन पर स्वतन्त्र ढङ्ग से निजी अनुभव के बल पर काफी कुछ कहने का अवकाश था। ये विषय रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध दोनों ही प्रकार के कवियों द्वारा उठाये गये किन्तु भावनाओं एवं उद्भावनाओं की नूतनता रीतिसिद्ध कवियों में ही अधिक मिलेगी।

इन काव्य-कवियों ने काव्य के कला-पक्ष के साथ-साथ भाव-पक्ष पर भी पूरा बल दिया है फलतः दोनों का अच्छा समन्वय इनके काव्य की एक सर्वमान्य विशेषता है। ये कवि-कर्म के प्रति अधिक स्वस्थ और संतुलित दृष्टि रखते थे फलस्वरूप काव्य के भाव और कला दोनों पक्षों को समान महत्व देते थे। एक ओर जहाँ इन काव्य-कवियों ने अपनी कविता के भावपक्ष या वर्ण्य को नवीनता और ताजगी देने की चेष्टा की, उसे चर्वित-चर्वण मात्र होने से बचाया, अपनी और अपनी युग की सीमाओं से सीमित या बँधे रहने पर भी ऐहिकतापरक शृंगारी रचनाओं द्वारा रस-संचार और आनन्द-सृष्टि का आयोजन किया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने काव्य के कला-पक्ष के वास्तविक संभार की ओर भी ध्यान दिया। रीतिकालीन आचार्य कवियों की अपेक्षा रीतिबद्ध काव्य-कवियों ने भाषा की लक्षणा और व्यंजना-शक्ति पर अधिक ध्यान दिया और उसे अधिक विकसित किया। लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता बिहारी, रसनिधि आदि में रीतिबद्ध आचार्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। इनमें भाषा का अधिक सामाजिक रूप मिलता है। बिहारी, रसनिधि, रामसहाय आदि काव्य-कवियों ने अपने दोहों को भावपूर्ण, सुगठित तथा सौन्दर्यसंपन्न करने के लिये काव्य की समास-पद्धति का पर्याप्त उत्कर्ष दिखलाया है। अलंकारों के प्रयोग में भी इनकी दृष्टि अधिक विकसित और पूर्ण थी, वक्रोक्तियों के माध्यम से भी पूर्ण रस-संचार और काव्य को आनंद-प्रदान-क्षम बनाने में सहायता पहुँचायी। भाषा को मृदुल, कोमल, नाद-सौंदर्य से परिपूर्ण बनाने की उन्होंने चेष्टा की तथा प्रचलित कवित्त, सवैया के अतिरिक्त दोहों पर इन्होंने विशेष ध्यान दिया।

रीतिबद्ध काव्य-कवियों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं के उपर्युक्त निर्वचन के अनन्तर रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यकर्ताओं के बीच की भेदक रेखा खींच देना भी अनिवार्य जान पड़ता है क्योंकि दोनों की काव्य-रचना-पद्धति और ध्येय में एक निश्चित भिन्नता थी। रीतिबद्ध कवि लक्षण ग्रन्थों की रचना करते थे और लक्षणों को घटित करने वाले उदाहरण के रूप में अपनी कविता लिखते थे। रीतिसिद्ध कवि लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखते थे फिर भी रीति की पूरी-पूरी छाप लिए हुए थे। रीति का पीछा नहीं छूटा था किन्तु रीति की जकड़न से ये अवश्य मुक्त थे। पहली श्रेणी के

कवि हैं केशव, देव, भूषण, मतिराम, दूलह, दास, पद्माकर आदि; दूसरी श्रेणी के कर्त्ता हैं बिहारी, सेनापति, रसनिधि, पजनेस आदि। पहली श्रेणी के कवि रीतिबद्ध कवि रीति ग्रन्थकार, लक्षणकार आदि कहलाते हैं और दूसरी श्रेणी के रीति-सिद्ध, लक्ष्यकार, काव्य कवि आदि। रीति-ग्रन्थकार कवि रीति के बन्धनों से बेतरह जकड़े हुए थे। उन्हें लक्षण-लक्ष्य का समन्वय करते हुए चलना था, वे लक्षणों से बाहर नहीं जा सकते थे पर सतसई और हजारा लिखने वाले रीतिसिद्ध कवि रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे तथा शास्त्रोक्त सामग्री अथवा नियम का उपयोग अपने ढंग से करते थे इसीलिए नायिकाओं, अलंकारों आदि का न तो इन्होंने क्रमिक रूप से वर्णन किया और न उनके समस्त भेदोपभेदों का सांगोपांग वर्णन ही। फलस्वरूप, रीतिसिद्ध कवि रीतिबद्ध कवि की अपेक्षा स्वतंत्र थे। इस स्वतंत्रता का उपयोग इन्होंने अपनी कवित्वशक्ति के प्रदर्शन और नई-नई उद्‌भावनाओं के निदर्शन में किया। फलतः काव्यत्व का उत्कर्ष और रमणीयता इनमें रीति ग्रन्थकारों से अधिक ही मिलेगी। इनका मत यह था कि शास्त्र में कथित बातें मार्ग-निर्देशन के लिए हैं, उनके सहारे नई कल्पनायें और बातें पैदा की जा सकती हैं पर रीति ग्रन्थकार कवि लक्षणों को ही सब कुछ समझते थे, उससे बाहर नहीं जा पाते थे। रीति ग्रन्थकार कवियों ने आचार्य पद पाने और कवि-शिक्षक का गौरव प्राप्त करने के उद्देश्य से लक्षणों का बोझ ढोना पसन्द किया किन्तु कवि-गौरव के अभिलाषी लक्ष्यकार कवि रीति का सँभार लेकर ही रीति के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। रीति के एक-एक नियम का अनुसरण काव्य-सौंदर्य के लिए इनकी दृष्टि में घातक था इसी से ये रीति में बँधे भी थे और उससे कुछ पृथक भी। हाँ, रीतिमुक्तों की भाँति ये रीति से सर्वथा स्वतंत्र भी न थे। रीति इन पर हावी न थी परन्तु ये रीति के विरुद्ध भी न थे। रीति इनके लिए सहारे का काम देती थी। रीति के सहारे ये काव्य-कवि के गौरवपूर्ण पद तक पहुँच सके थे। गुरुत्व का भी रीतिकारों की प्रतिभा अपना वह उन्मेष न दिखा सकी जो कवित्व-कामी कवियों की प्रतिभा द्वारा संभव हो सका। शास्त्र-स्थिति-संपादन और कवियों का प्रशिक्षण इनका लक्ष्य न था, कवित्व-शक्ति का उत्कर्ष दिखलाना इनका चरम काम्य था। रीतिसिद्ध कवियों को स्वतंत्र काव्योद्‌भावना का अवकाश लक्षणकार कवियों की अपेक्षा अधिक था फलतः इनमें भावुकता, मौलिकता, अभिनव कल्पना आदि लक्षणानुधावन करने वाले रीति कर्ताओं से अधिक थी और व्यक्ति वैशिष्ट्य के आधार पर भी इन्हें पहचाना जा सकता है। बिहारी अपनी नई सूझ-बूझ वाली उक्तियों के बल पर ही रीतिबद्ध कवियों से पृथक् किये जा सकते हैं जबकि रीति की उँगली पकड़ने वालों की बहुत-सी रचना एक-सी ही हो गई है। उन्हें व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर अलग कर सकना संभव नहीं है। वैयक्तिकता का यह विकास रीतिमुक्त कवियों में और भी अधिक मिलेगा। रीतिबद्ध कवियों में पिष्टपेषण और

और चर्वित-चर्वण सबसे अधिक है। रीतिबद्ध कवियों में कलापक्ष प्रधान है और पक्षभाव गौण। रीतिसिद्ध कवियों में कलापक्ष और भावपक्ष का समभाव है और रीतिविरुद्ध या रीतिमुक्त कवियों में भाव पक्ष-प्रधान और कला-पक्ष गौण है। कला और भाव-पक्ष का यह तारतम्य तीनों धाराओं की पृथकता का सबसे अच्छा आधार है।

रीतिमुक्त काव्य (रीति स्वच्छन्द काव्य-धारा) : १५

प्रेम के जिन उन्मुक्त गायकों की चर्चा यहाँ अभीष्ट है वे हैं रसखान, आलम, घनआनन्द, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-काव्य में स्वच्छन्द प्रेम-भावना को जैसा पोषण इन कवियों से प्राप्त हुआ दूसरों से नहीं। प्रणय-भावना तो सभी देशों के काव्यों में सभी समय मिलेगी। हिन्दी काव्य-साहित्य में इन रीति-निरपेक्ष कवियों की प्रेम-भावना विशिष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कवि प्रेम के ही बने थे, इनमें अपर तत्व कुछ था ही नहीं। इन कवियों का प्रेम निर्बन्ध है—वह लाज नहीं मानता, लोक-रीति का अनुसरण नहीं करता, मान-अपमान की परवाह नहीं करता, कुलधर्म की अवहेलना करता है और स्वच्छन्द वायुमण्डल में जीता है। इनका प्रेम-काव्य शास्त्रीय आचारों और मर्यादाओं में बद्ध नहीं है। इनके प्रेम का निवेदन सखी, सखा या दूतियाँ नहीं करतीं और न ही वे इन कवियों तक रूप-सौंदर्य, विरह वेदना आदि के सँदेशे ला कर इनमें किसी के प्रति रुचि या करुणा ही जागृत करती हैं। इनमें रुचि आप जगती है, ये प्रेम का निवेदन आप करते हैं। इसीसे इनके प्रणय-भाव का रीतिकार या रीतिबद्ध कवियों के प्रणय-भाव से विभेद देखा जा सकता है। ये किसी आरोपित प्रेम-भावना को लेकर नहीं चल सकते। ये गोपियों के प्रेम का काव्य, परम्परा, रूढ़ि अथवा कल्पना पर आश्रित अनुभव करते हुए काव्य-रचना नहीं करते। प्रेम इनके जीवन में आया हुआ होता है। वह इनके हृदय से हो कर गुजरी हुई चीज होती है। लगभग सभी रीतिस्वच्छन्द कवियों की प्रेम-कहानी संसार में प्रसिद्ध है। आलम और शेख का प्रेम, घनानन्द और सुजान का, बोधा और सुभान का इसी प्रकार ठाकुर का भी वैयक्तिक प्रेमाख्यान अविदित नहीं। रसखान भी किसी से दिल लगाने के बाद ही भगवदोन्मुख हुए थे। ज़ाहिर है कि इनके प्रेम में तीव्रता होगी, सच्चाई होगी जो इनके काव्य में भी यथावत प्रतिफलित है। इनके काव्य में जो तीव्र स्वानुभूति और व्यक्तिनिष्ठता है वह भी इसी कारण। सारांश यह कि इनका जीवन और व्यक्तित्व ही प्रणयविनिर्मित था जो अत्यन्त जीवंत रूप में इनके काव्यों में प्रतिच्छायित मिलेगा।

ये कवि काव्य की समसामयिक प्रवृत्तियों और पूर्ववर्तिनी परम्पराओं से अनभिज्ञ रहे हों सो बात भी नहीं। सभी किसी न किसी सीमा तक तत्सम्बन्धी संस्कारों

में संपृक्त हैं किन्तु ये प्रभाव इतने जबरदस्त नहीं रहे हैं कि वे इन कवियों को अपने नियम और रूढ़ियों के शिकञ्जों में बाँध सकते जैसा कि रीतिबद्ध कवियों के साथ हुआ। इन कवियों का निजी व्यक्तित्व अत्यन्त प्रबल था। वे काव्य-रूढ़ियों को छोड़ कर स्वनिर्मित मार्ग पर चलने के अभिलाषी थे। उन्होंने काव्य-क्षेत्र में नव पथ का निर्माण किया। भाषा और शैली-शिल्प में उन्होंने अनेक नवीनताओं का विधान किया। ये कवि यह अच्छी तरह समझते थे कि काव्य में भाव या रस-तत्व ही मुख्य होता है शैली-शिल्प तो आश्रित वस्तु है। वह साधन हो हो सकता हैं, साध्य नहीं। साधन को ही साध्य मान लेने की भूल उन्होंने नहीं की जैसा कि आचार्य केशव सरीखे कई रीतिकार कर चुके थे। इसीलिए आप देखेंगे कि भाषा-अलङ्करण आदि का आग्रह रीति-स्वच्छन्दप्रेमी कवियों में नहीं मिलेगा। रसखान और ठाकुर की भाषा की सादगी अपनी उपमा आप है। घनानन्द में व्यञ्जना की जो वक्रता है वह उनके द्वारा अनुसरित काव्य-वस्तु था प्रेम-वैषम्य के कारण। इन कवियों में शैलीगत जो सौन्दर्य और भंगिमा है वह इनके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के कारण।

काव्यगत दृष्टिकोण की भिन्नता—काव्य के सम्बन्ध में रीतिस्वच्छन्द कवियों का दृष्टिकोण रीतिबद्धों से भिन्न था। वे रीति के सँकरे पथों पर नहीं चलना चाहते थे, वे काव्य-मन्दाकिनी का मार्ग प्रशस्त करने के अभिलाषी थे। वे काव्य को स्वानुभूतिप्रेरित मानते थे आयासप्रसूत नहीं; इसी से वे रीतिबद्ध काव्य को उपेक्षा ही नहीं निश्चित विगर्हणा की दृष्टि से देखते थे। पिटे-पिटाए ढङ्ग पर छन्द-रचना कर चलना उनकी दृष्टि में निंद्य था। परम्परागत उपमानों के विधान मात्र में (जो उस काल की कविता की प्रधान प्रवृत्ति थी) कवि और काव्य की अपार्थकता थी इसी से ठाकुर ने काफी खीझ के साथ उस युग के रीतिबद्ध कवि को फटकारा है—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि,
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूल कहूँ बाँधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है॥ (ठाकुर)

काव्य के महत्तर लक्ष्य से अनवगत उसके साथ खिलवाड़ करने वाले कवियों और उनकी आने वाली पीढ़ियों पर इस फटकार का अच्छा प्रभाव पड़ा। रतिकाल में तो यह अभिनव पंथानुधावन हुआ ही आधुनिक काल में आकर रीति से ऊबे हुए कवियों ने काव्य-क्षेत्र में सर्वथा नवीन पथ का अनुसरण किया। भारतेन्दु काल में और

उसके बाद स्वच्छन्दता का झण्डा फहराने वाले कवियों में श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण 'कविरत्न', रामचन्द्र शुक्ल, मन्नन द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय अग्रगण्य हैं।[1] दूसरे खेवे के छायावादी कवियों में भी रीतिकालीन रूढ़ियों के प्रति जो उग्र विद्रोह-भाव है वह पंत के पल्लव की भूमिका में तीव्रतम रूप में निदर्शित है। कविवर घनानन्द ने अपनी काव्य-प्रवृत्ति का क्रमागत एवं समसामयिक काव्य-प्रवृत्ति से पार्थक्य इन शब्दों में घोषित किया है—

नीछन ईछन बान बखान सों पैनी दसाहि लै सान चढ़ावत।
प्राननि प्यास भरे अति पानिप मायल थायल चोप चढ़ावत ॥
हैं घन आनन्द छावत भावत जान सजीवन ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत ॥ (घनानन्द)

उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि कवित्त-रचना मेरा साध्य नहीं, वह साधन मात्र है। साध्य तो महत्तर है। इसी प्रकार मेरे काव्य की प्रेरणा भी सघन और तीव्र है। सुजान के प्रति मेरा उत्कट प्रेम और तीव्र व्यामोह, उसके लिए मेरे प्राणों की जो तृषा है वही मेरे काव्य में कांति का सृजन करती है। जाहिर है कि कवि-काव्य किसे कहते हैं, उनकी काव्यविषयक धारणा कितनी उन्नत है। इसके विपरीत इसी युग के रीतिबद्ध शीर्षस्थ कवियों ने कितनी तुच्छतर सिद्धियों में ही काव्य की सिद्धि मान ली थी—

क—जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित ॥ (केशवदास)

ख सेवक सियापति कौं सेनापति कबि सोइ।
जाकी द्वै अरथ कविताई निरबाह की। (सेनापति)

ग—दूषन कौं करि कै कबित्त बिन भूषन कौं
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है। (सेनापति)

घ—राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के उपकंठ ही बसति है।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है
तजै को कनरसै जो छन्द सरसति है ॥ (सेनापति)

ङ—बानी सौं सहित सुबरन मुँह रहैं जहाँ
धरनि बहुत भाँति अरथ समाज कौं।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज कौं ॥ (सेनापति)

1. श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य—डा० रामचन्द्र मिश्र

स्वच्छन्द कवियों ने साधन को साध्य समझ बैठने की भूल न की। अलंकृति में ही काव्य की सफलता है ऐसा न उन्होंने न कभी कहा न कभी माना जैसा कि सेनापति, केशव आदि ने स्वीकार किया है। काव्य की चित्तहारिणी शक्ति में ही उन्होंने कवित्व का अधिवास माना। और काव्यगत यह चित्तहरण शक्ति यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा के विधान द्वारा प्राप्य नहीं, इसका उद्‌गम तो तीव्र अनुभूतियों का कोष उनका अन्तस्तल ही था। स्वछन्द काव्य की इसी विशिष्टता को लक्ष्य करके आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है—'स्वच्छन्द काव्य भाव-भावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन संपत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्त्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है।.........रीति काव्य के कर्त्ताओं का मूल आधारभूत तत्व है भंगिमा। स्वच्छन्द कर्त्ता में भंगिमा कहीं कदाचित न भी हो, पर अनुभूतिशून्य उसकी रचना नहीं हो सकती। रीतिकर्त्ता में अनुभूति चाहे न भी हो, पर भंगिमा अवश्य रहेगी।.........अनुभूति में बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खींच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है।'[1] इस हृदय, भाव या अनुभूति-तत्व को ही रीतिमुक्त काव्य में प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है, अलंकरण या भंगिमा को जो बुद्धि एवं कल्पना की उपज हैं गौण स्थान दिया गया है। ऐसा नहीं होने पाया है कि भंगिमा या अलंकृति (बुद्धि तत्व) को स्वच्छन्द काव्य-क्षेत्र से खदेड़ दिया गया हो, उसे रहने दिया गया है किन्तु भाव या अनुभूति (हृदय तत्व) के आधीन बना कर। रीति-काव्य में तो बुद्धि (भंगिमा या अलंकृति) को पट्ट महिषी का पद प्राप्त हुआ था हृदय (भावानुभूति) को अधीनस्थ दासी का पद किन्तु रीतिस्वच्छंद काव्य में क्रम उलट गया है, चेरी (हृदय) रानी हो गई है और रानी (बुद्धि) चेरी—

रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।

ये कवि भावावेग में रचना किया करते थे, भाव के ऐसे आवेग में जिसके सामने काव्य-रीति, कुल-मर्यादा, लोक-लाज सभी के बन्धन टूट जाया करते थे। उनका तो कहना था कि बंधन और मर्यादा के चक्कर में पड़ना हो तो इस पंथ पर पाँव मत रक्खो—

लोक की भीत धरा भरो मीत तो प्रीति के पैंड़े परो जनि कोऊ। —बोधा

सच बात है, काव्य और प्रेम जगत के इस अभिनय-पंथ पर बहुतों ने पाँव नहीं दिया, इस पथ पर आने वाले थोड़े ही थे चुने हुए किन्तु सच्चे जवाँमर्द। प्रेम की पीर मर कर नहीं जीवित रह कर झेलने वाले—

---

1. घनानन्द और 'स्वच्छन्द काव्य धारा परिचय पृष्ठ ५, डा० मनोहर लाल गौड़' (सं० २०१२)

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै ॥
घन आनन्द कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरे-मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कौं परसै ॥

जीते जी मृत्यु को वरण कर लेने वाले जैसे घनानन्द, कुल और धर्म को तिलांजलि दे देने वाले रसखान और बोधा। ये कवि काव्य-रीति को पकड़ कर भला क्या चलते ! इन स्वच्छन्द कवियों के काव्य का क्या आदर्श था उसके परखने की कसौटी क्या है इसे घनानन्द के कवित्तों के संग्रहकर्त्ता ने बहुत मर्मज्ञता से व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि घनानन्द सरीखे निर्बन्ध प्रेमी के गूढ़ प्रेमभावभरित काव्य को समझने में साधारण व्यक्ति समर्थ नहीं। उसे तो प्रेम की तरंगिणी में भली भाँति डूबा हुआ व्यक्ति ही समझ सकता है। फिर उस व्यक्ति को ब्रजभाषा का भी अच्छा जानकार होना चाहिए और नाना प्रकार के सौन्दर्य-भेदों से भिज्ञ भी। उसे संयोग और वियोग की स्थितियों एवं असंख्य अंतर्वृत्तियों को समझने की शक्ति-संपन्नता भी अपेक्षित है। किन्तु इन सारी विशेषताओं से भी विशेष जो विशेषता उसमें होनी चाहिए वह यह कि उस काव्यरसास्वादक का हृदय अहिर्निशि प्रेम के तरल रंग में सराबोर होना चाहिए तथा वियोग और संयोग दोनों स्थितियों में अतृप्त और अशांत रहने वाला होना चाहिए और चित्त का स्वच्छन्द, निर्बन्ध होना चाहिए तभी वह घनानन्द के काव्य के मर्म तक पहुँच सकता है—

नेही महा ब्रज भाषा प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति मैं कोविद, भावना भेद स्वरूप कौं ठानै ॥
चाह के रंग मैं भींज्यौ हियौ, बिछुरैं-मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जो के कबित्त बखानै ॥ (ब्रजनाथ)

जिसने चर्म-चक्षुओं से नहीं अंतश्चक्षुओं से, हृदय की आँखों से प्रेम की पीड़ा देखी हो, सही हो, वही घनानन्द की कृतियों में अंतर्व्याप्त वेदना का मर्म समझ सकता है, मात्र शास्त्रज्ञान-प्रवीणता से काम चलने वाला नहीं। जिसके हृदय की प्रणाली खुली है वह घनानन्द की रचना को अन्य साधारण अथवा रीतिबद्ध कवियों की रचना मात्र समझ कर रह जाएगा —

जग की कविताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनंद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी ॥ (ब्रजनाथ)

भावावेग या भाव-प्रवणता—इस प्रकार स्वच्छन्द धारा के कवियों की पहली विशेषता जहाँ काव्यगत दृष्टिकोण में देखी जा सकती है वहीं उनकी दूसरी प्रमुख विशेषता उनके काव्य में प्राप्य भावावेग अथवा भाव-प्रवणता में देखी जा सकती है। कवित्व उनका साध्य न था अंतःकरण की भाव-राशि को मुक्त भाव से उड़ेल देने

में ही उनकी तृप्ति थी। ये ही कवि ऐसे थे जो हृदय की मुक्तावस्था प्राप्त कर रसदशा को पहुँचा करते थे। काव्य-रचना करते हुए ये आत्मविभोर हो जाया करते थे। इस रस-दशा को प्राप्त कर उनकी वाणी स्वतः भंगिमामयी हो जाती थी। अंतश्चेतना की ऐसी द्रवीभूत स्थिति की व्यंजना सीधी भाषा में सम्भव भी न थी इसलिए इन स्वच्छन्द कवियों की भाषा-शैली में जो बाँकपन है वह सहज और अनायास है उसके लिए इन्हें माथापच्ची नहीं करनी पड़ी है। इसीलिए उसमें नव्यता है पिष्टपेषण अथवा चर्वित-चर्वण नहीं। उनकी काव्य-विभूति की सुषमा नैसर्गिक है आभ्यंतरिकता से संपृक्त। इन कवियों की इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—'ये वासना से पंकिल राजाओं के मानस का रंजन करने वाले चाटुकार नहीं थे। ये अपनी उमंग के आदेश पर थिरकने वाले थे।.........जग के कवि काव्य के बहिरंग में ही लिपटे रह गए, उसके अंतरंग में प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से 'स्वच्छन्द कवि' हृदय की दौड़ के लिए राजमार्ग चाहते थे, रीति की सँकरी गली में धक्कम-धक्का करना नहीं। ये कविता की नपी-तुली नाली खोदने वाले न थे। ये काव्य का उत्स प्रवाहित करने वाले या मानस-रस का उन्मुक्त दान देने वाले थे। पश्चिमी समीक्षकों के ढंग से कहें तो रीतिबद्ध कर्ता की कृति चेतनावस्था (Conscious state) में गढ़ी जाती थी और रीतिमुक्त कर्ता की कविता अंतःसंज्ञा (Subconscious state या unconscious state) में लीन हो जाने पर आप से आप उद्भूत होती थी।.... रीतिमुक्त कवि का काव्यस्रोत स्वतः उद्भावित होता था। रीतिबद्ध कवि की काव्य-प्रणाली उसकी बुद्धि के संकेत पर टेढ़े-सीधे मार्ग पर बहती थी, पर रीतिमुक्त या स्वच्छन्द कवि अपनी भाव-धारा में स्वतः बह जाता था। इस प्रकार दोनों का अन्तर स्पष्ट है।'[1]

अननुभूत वस्तु या विषय में कवि सामने नहीं आया करते थे। जो सांसारिक सत्य, जीवनगत तथ्य, भावगत अनुभूतियाँ इनकी अपनी हुआ करती थीं, इनका काव्य उसी से निर्मित होता था। पराई अनुभूतियाँ, पराए भाव, पराई उक्तियाँ इनमें नहीं। रीति से लगे-लिपटे कवियों में जहाँ-तहाँ चोरी की बात बहुत थी। भाव का अपहरण, भाषा की चोरी ये सब चलती थीं। संस्कृत कवियों की कितनी ही उक्तियाँ, कल्पनाएँ, भाव, हिन्दी कवियों ने चुराये, विशेषकर रीतिबद्धों ने। बिहारी, देव, केशव सरीखे प्रतिभावान कवियों तक ने ऐसा किया फिर औरों की तो बात ही क्या। ये चोरी छोटे कवि आपस में भी कर लिया करते थे। सेनापति सदृश मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न कवि को तो इस साहित्यिक चोरी का ऐसा भय था कि उन्हें हर छंद में अपना नाम रखना पड़ा और बार-बार कहना पड़ा—

---

[1]घनानन्द ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ० १३-१४

सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन को
 तातैं 'सेनापति' कहै तजि करि ब्याज कौं।
लीजियौ बचाई ज्यौं चुरावै नाहिं कोई सौंपो
 बित्त की सो थाती मैं कवित्तन की राज कौं ॥[२] (सेनापति)

किन्तु रीति स्वच्छन्द धारा के किसी भी कवि को इस प्रकार डरने की आवश्यकता न थी। उन्हें कविता लिखकर कुछ धन या कीर्ति कमाना न था, कोई उनका ऐहिक लक्ष्य न था। उनकी कविता उनके हृदय का भार हल्का करने वाली थी, उनका दुख-दर्द मिटाने वाली थी, उनकी तड़प और टीस को राहत देने वाली थी। वह स्वानुभूति-निरूपिणी थी। औरों से उन्हें क्या लेना-देना इसलिए उनकी कविता भी औरों के लिए न थी। औरों को उनकी अनुभूति से राहत मिलती हो, रसोपलब्धि हो जाती हो वह बात अलग पर वह उनका लक्ष्य न था। अपनी कविता से वे अपना संस्कार कर लिया करते थे, अपनी प्यास बुझा लिया करते थे—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत। (घ॰ आनन्द)

व्यक्तिवैशिष्ट्य—भाव-वेगमयी कविता लिखने के कारण रीतिमुक्त कवियों के काव्य में जो व्यक्तिवैशिष्ट्य आ गया है वह भी इन कवियों की एक प्रमुख विशेषता है। ठाकुर, बोधा, रसखान, घनानन्द आदि की कविता सहज ही पहचानी जा सकती है। इनकी रचनाओं से यदि इनके नाम निकाल भी दिये जायँ तो भी काव्य-पाठक इनकी वृत्ति, भावानुभूति और अभिव्यक्ति पद्धति के वैशिष्ट्य के कारण इनको पहचानने में भूल नहीं करेगा। इसके विपरीत रीतिबद्ध या 'रीतिसिद्ध काव्य-कारों की सैकड़ों की संख्या के बीच बिहारी, भूषण, मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही कवि ऐसे मिलेंगे जिन्हें उनकी व्यक्तिगत विशेषता के कारण पहचाना जा सकता है। शेष सैकड़ों कवि ऐसे मिलेंगे जिनकी रचना को (नाम निकाल देने पर) पृथक करना असम्भव ही है; क्योंकि उनमें वृत्ति और शैलीभेदजन्य विशेषता है ही नहीं। उनका व्यक्तित्व और उनकी रचना-शैली इतनी आवेगमयी न थी जिससे काव्य-पटल पर उनकी निजी लीक खिच सकती। एक दूसरा भी कारण था। ये कवि सुनिश्चित लीकों पर चले फलतः नवीनता-विधान की गुञ्जाइश ही कहाँ। कवि शिक्षा के ग्रंथ पढ़-पढ़कर उन्हें नये मार्गों पर चलना तो दूर सोचने की शक्ति भी शेष न रही थी। अधिकांश तो अलंकार और नायिकाभेद विषयों पर लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर देने में ही कवि-कर्म की इयत्ता समझने लगे थे। फलतः एक-सी उक्तियाँ, एक-से वर्णन, एक सी विशेषताएँ अधिकांश कृतियों में उत्पन्न हुईं। किसी ऋतु अथवा नायिकाविशेष के वर्णन से सम्बन्धित पचीस भिन्न कवियों के छन्द एकत्र कर लीजिये और उपर्युक्त कथन बिना विशेष श्रम के सिद्ध हो जायगा। ऋतुगत वे ही वर्ण्य अथवा उपकरण, नायिका विशेषगत वे ही बातें थोड़े हेर-फेर से लगभग सभी छंदों में मिलेंगी। कहीं-

[२]कवित्त रत्नाकार : पहली तरंग छन्द सं॰ १०

कहीं तो उक्ति, शब्दावली और अलंकृति तक का साम्य मिल जायगा। इसका कारण यह नहीं कि सभी कवियों ने अनिवार्य रूप से भाव अथवा उक्ति का अपहरण किया वरन् यह कि उनके सोचने की दिशाएँ इतनी निर्दिष्ट हो चली थीं, विचार या कल्पना-जगत इतना संकुचित हो चला था कि वे उस काव्य-परम्परा से इतर दिशाओं में अपनी दृष्टि और कल्पना को दौड़ा सकने में असमर्थ थे जिसका पठन-पाठन वे नियमित रूप से करते आते थे। विशद साहित्यिक अध्ययन अनुशीलन की न तो वर्तमान युग-सी उस युग में क्षुधा थी और न सुविधा। प्रतिभायें थीं किन्तु 'गाडर की जाति' की भाँति एक ही पथ पर अंधानुसरण करने वाली। रीतिमुक्त कवियों में ये अन्धानुकरण न था। उनका अपना जीवन था, अपना जगत था। प्रेम की अपनी अनुभूति थी और वृत्ति का अपनापन था। इसीलिए उनके काव्य का वस्तु-जगत, कल्पना-जगत और शिल्प-जगत विशद और विस्तृत है, रीति से मुक्त और निरपेक्ष है। और इसी कारण उनमें व्यक्ति-वैशिष्ट्य का विशेष विकास भी लक्षित होता है। दोटूक बात कहने में बोधा अपना सानी नहीं रखते, लोकोक्तिगर्भित प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने में ठाकुर अपनी मिसाल नहीं रखते, प्रीतिविषमता का अनुभूति-प्रवण-चित्रण और विरोधाश्रित भाषा-शैली का चमत्कार दिखाने में घनानन्द की समता कहाँ और उन्मादिनी परानुरक्ति का रसखान-सा सरस सरल चितेरा दूसरा कहाँ! अपनी इसी निजता के कारण ये कवि हिन्दी की काव्य-संपदा के संवर्धक और रीतिबद्ध काव्यकाल में एक अभिनव प्रेम-धारा के प्रवाहक हो गए हैं।

काव्य सम्प्रदायानुसरण से विरत—रीतिमुक्त कवियों ने किसी काव्य सम्प्रदाय का अनुसरण नहीं किया। ठाकुर, बोधा, घनानन्द आदि काव्यरीतियों से अनभिज्ञ नहीं थे इसके पर्याप्त संकेत उनके काव्यों में मिलते हैं[1] पर इन्होंने काव्य को

---

1. सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेलकरि जानो है॥ (ठाकुर)

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पण्डित लोक प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥ (ठाकुर)

लोग हैं कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत। (घनानन्द)

उर भौन मैं मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सुलसै हुलसै रस रूप-मनी॥
रसना-अली कान-गली मधि है पधरावति लै चित्त-सेज ठनी।
घन आनँद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥ (घनानन्द)

किसी परिपाटी विशेष पर नहीं चलाया। संस्कृत साहित्य में प्राप्य विविध काव्य-दर्शनों—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि—का विवेचन, निरूपण या अनुसरण इन्हें इष्ट न था। रस, अलंकार, छंद, दोष, वृत्ति आदि काव्यांगों और नायिकाभेद आदि विषयों पर ग्रन्थ-रचना करना रीतिबद्धों के लिए जरूरी था परन्तु इनके लिए सर्वथा अनभीष्ट था। ऐसी वृत्ति वालों की तो इन लोगों ने भर्त्सना की है। ये कवि लीक छोड़ कर चलने वाले सपूतों में थे। रीतिशास्त्र के ग्रन्थ लिखकर राजाओं को कविशिक्षा देना या आचार्य की पदवी प्राप्त करना या कविता के दंगल में अपनी प्रतिष्ठा जमाना इनका लक्ष्य न था। ऐसे उद्देश्यों से ये कोसों दूर थे। चित्तहारिणी काव्य-सृष्टि द्वारा अपने मन के भार को हल्का करना, आत्माभिव्यक्ति करना, आत्म-प्रसार और आत्म-विकास में प्रवृत्त होना यही इनका लक्ष्य था।

दरबारदारी से दूर—यश, पद और धन की लिप्सा इन्हें न थी। इन्होंने इसीलिए दरबारों की सेवा न की। जिन्होंने की भी वे अधिक दिन वहाँ टिक न सके, बस अपनी इसी वृत्ति के कारण। रीतिमुक्त कवियों को दरबारी कवि नहीं कहा जा सकता। दरबारदारी और स्वच्छन्दता का सहज विरोध है। ये अपने आश्रयदाता के यहाँ टुकड़े तोड़ने वाले और उनकी प्रशस्ति में अपनी प्रतिभा का अपव्यय करने वाले कवि न थे। ठाकुर, घनानंद और बोधा ने तो राज्याश्रय को ठोकर मारकर अपने चित्त की स्वच्छन्दता का परिचय दिया था। बोधा तो यह कह कर कि **जो धन है तो गुनी बहुतै अरु जो गुन है तौ अनेक हैं गाहक** अपने आश्रयदाता महाराज क्षेत्रसिंह की राजसभा छोड़कर चले गए थे। इन स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों का स्वाभिमान अछोर था। बोधाकवि तो अपनी ऐंठ में यहाँ तक कह गए—

होय मगरूर तासों दूनी मगरूरी कीजै,
लघुता ह्वै चलै तासों लघुता निबाहिये।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर प्रबीन कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये॥ (बोधा)

यही हाल घनानंद का था, वे मुहम्मदशाह रँगीले के मीरमुंशी तो थे परन्तु उनका काव्य और संगीत शाह की इच्छा का गुलाम न था। वह उनकी अपनी मर्जी की चीज थी। अपनी इसी वृत्ति के कारण वे उनके राज्य में अधिक दिन न ठहर सके। मन की यह मर्जी और ठसक रीतिबद्ध काव्यकारों में विरल थी। वे अपने आश्रयदाता से विरोध ठानते या उनकी मरजी के खिलाफ चलते बहुत कम देखे गए। रसखान तो बादशाह वंश के थे पर अपनी वृत्ति की स्वच्छन्दता के ही कारण वे सारी वंशानुगत ठसक छोड़कर वृन्दावन चले आए थे अथवा वहाँ के गोपाल बन गए थे। द्विज देव भी अयोध्याधिपति (महाराज मानसिंह) थे, उनका भी यही हाल था। स्वच्छन्द प्रेमी बनने में जो आनंद था वह राजभोग में कहाँ। उन्हें राधा और कृष्ण तथा उनके प्रेम

ने असाधारण रूप से मुग्ध किया था। नागरीदास ऐसे भक्त और स्वच्छन्द प्रेमी इसी कोटि के कवि हो गए हैं। जैसा कह आए हैं ये कवि अपने हृदय की उमंग पर थिरकने वालों में थे, किसी आश्रयदाता के आदेश पर नृत्य करने वाले नहीं। ये प्रेम पर मर मिटने वाले थे, स्वाभिमान को रौंद कर जीने वाले नहीं। यही कारण है कि किसी रीतिमुक्त कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति में कोई काव्य नहीं लिखा है। परिस्थिति के संघात से उन्हें दरबार में भले ही शरण लेनी पड़ी हो परन्तु अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के कारण वे वहाँ ठहर नहीं सके हैं।

प्रबंध-रचना की प्रवृत्ति—रीतिमुक्त काव्यकारों में एक अन्य विशेषता यह भी लक्षित होती है कि उनकी प्रवृत्ति प्रबंध-रचना की ओर भी थी। ऐसा तो नहीं था कि सूफी आख्यानक काव्यकारों की भाँति इन कवियों ने अनिवार्य रूप से या सिद्धान्त रूप से प्रबन्ध-रचना की हो परन्तु इतना अवश्य है कि अपने भाव में निमग्न हो ये विशद प्रबन्ध भी लिखने में समर्थ होते थे। आलम के नाम से तीन प्रबन्ध काव्य कहे जाते हैं। १—सुदामा-चरित्र, २—श्याम सनेही, ३—माधवानल कामकंदला। सुदामा चरित्र में तो नरोत्तमदास वाली कथा है, श्याम सनेही में रुक्मिणी के विवाह की सुप्रसिद्ध कथा है तथा 'माधवानल कामकंदला' प्राकृतकालीन प्रसिद्ध कथा को लेकर लिखी गई है। इसी कथा को और भी अधिक विस्तार के साथ आगे चल कर बोधा ने 'विरहवारीश' नाम से लिखा। घनानन्द ने कोई विस्तृत प्रबन्ध नहीं लिखा किन्तु उनकी कुछ कृतियाँ प्रबन्ध नहीं तो निबन्ध काव्य की कोटि में आ जायँगी जैसे गिरि-पूजन, यमुना यश, वृषभानुपुरसुषमावर्णन, गोकुल गीत आदि। ब्रज व्यवहार में प्रबंधात्मकता का भी थोड़ा विकास देखा जा सकता है।' यद्यपि इन कवियों की भी मूल वृत्ति मुक्तक अथवा स्फुट रचना की ओर ही विशेष थी फिर भी प्रबन्ध की दिशा में इनके उपर्युक्त प्रयत्न नजरन्दाज़ नहीं किये जा सकते। रीतिबद्ध कवियों की रचनाएँ तो अधिकांशतः लक्षणों को चरितार्थ करने वाले उदाहरण के रूप में लिखित हैं फलतः उन्होंने मुक्तकों के ही ढेर लगाए। प्रबन्ध-रचना की ओर वे न बढ़े। प्रबंध की रचना उन्होंने यदि की भी तो अधिकांशतः वीरगाथाओं की शैली पर आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते हुए जैसे वीर सिंह देवचरित, हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि। यदि रीतिबद्ध कवि लक्षणानुधावन और रूढ़ि का पंथ छोड़कर काव्य रचना में लगे होते तो संभव है कुछ शक्तिशाली प्रबंध ग्रंथ भी लिखे जाते। केशवदास ने कुछ प्रयत्न किया भी पर रीति से उनका मस्तिष्क इतना बोझिल था कि रामचन्द्रिका स्वतः काव्य रीति के नाना अंगों—छन्द, अलंकार, ऋतु वर्ण्य आदि के उदाहरणों का विशाल संग्रह-सा बन गई है। प्रबंध तत्व तो उसमें शिथिल है ही। रीतिमुक्तों के जो दो-चार प्रयत्न इस दिशा में हैं वे रीति का मार्ग छोड़कर चलने के ही कारण। एक दूसरा भी कारण था जिससे प्रबंध काव्य की ओर रीतिमुक्त कवियों की दृष्टि किसी सीमा तक गई वह

था कृष्ण-चरित्र के उत्तरवर्ती अंश का ग्रहण जैसे सुदामा-चरित्र और श्यामसनेही में। कृष्ण का प्रारंभिक जीवन, उनकी बाल-लीला, शैशव क्रीड़ा, किशोर जीवन, गोकुल, ब्रज और वृन्दावन का माधुर्यपूर्ण आख्यान प्रबंध की धारा के लिए उपयुक्त नहीं पड़ता इसी से हिन्दी साहित्य के समूचे मध्ययुग में लगभग ४५० वर्षों के साहित्य में कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन से संबंधित प्रबंध ग्रन्थों का नितांत अभाव है। नंददास कृत रूपमंजरी, भँवर-गीत और रास पंचाध्यायी अपवाद स्वरूप ही हैं। इस अंश के सविस्तार किन्तु स्फुट वर्णनों से तो समूचा रीतिकालीन काव्य भरा पड़ा है। स्वच्छन्द कवियों के प्रबंध ग्रंथ सूफी आख्यानक काव्यों से स्वतंत्र और भिन्न शैली में लिखे गए हैं—जैसा कि पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी स्वीकार किया है—'माधवानल कामकदला शुद्ध भारतीय प्रेमकाव्यों की परंपरा में दिखाई पड़ती है। सूफी प्रेम-काव्यों में कल्पित कथाओं पर या कहीं-कहीं कुछ ऐतिहासिक आधार से भी युक्त होकर जैसी रहस्यमयी कृतियाँ लिखी गईं उनसे यह सर्वथा भिन्न है। बोधा ने भी माधवानल कामकंदला-चरित्र या विरह वारीश प्रस्तुत किया पर उसमें भी सूफी प्रेमाख्यानों की भाँति रहस्यदर्शी पक्ष का समावेश नहीं है। अर्थात कोई समासोक्ति, अन्योक्ति वा अन्यापदेश (Allegory) नहीं है—भले ही उसमें सूफी इश्कमजाजी और इश्कहकीकी की चर्चा हो पर काव्यवस्तु में अध्यवसान का विधान नहीं हुआ है। इस प्रकार स्वच्छन्द प्रेम के वृत्तों के ग्रहण द्वारा इस काव्य-धारा में प्रबंध की प्रवृत्ति के स्फुरण का भी संकेत मिलता है, जो रीतिवद्ध कवियों के बाँटे किसी प्रकार भी नहीं आ सकता था। आलम के अन्य ग्रंथ पौराणिक या ख्यात वृत्त लेकर चले हैं। उनमें भी प्रेम के स्वच्छन्द और व्यापक रूप के ग्रहण का आभास स्पष्ट है।'[१]

देश के पर्वों एवं त्यौहारों का उल्लासपूर्ण वर्णन—रीतिमुक्त शृंगार-काव्य की एक अन्य विशेषता है देश के पर्व एवं त्यौहारों का उल्लासपूर्ण वर्णन। रीति से बँधे कवियों की दृष्टि उधर न जा सकी। शास्त्रबद्ध विषयों से बाहर उन्होंने कदम नहीं बढ़ाया फलतः लोक जीवन में हर्ष और आनंद का जो स्रोत विभिन्न पर्वों एवं त्यौहारों पर ग्रामनिवासियों की मनोभूमि में उच्छलित एवं प्रवाहित होता था उसका स्वरूप वे कवि सामने न ला पाए। यह कार्य ठाकुर और बोधा सरीखे सहृदयों के लिए ही शेष रह गया था। ठाकुर के काव्य में तो बुन्देलखण्ड में प्रचलित त्योहारों का वर्णन विशेष मनोयोग से हुआ है जैसे गनगौर, अखती, हरयाली तीज, बरगदाई (बटसावित्री), होली, झूला आदि। रीतिस्वच्छन्द काव्यकारों की इस विशेषता का उद्घाटन करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—"स्वच्छन्द दृष्टि ने देश के आनन्दोल्लास में भी इन कवियों को संलग्न किया। वसंत वर्णन के अंतर्गत

---

१. घनानंद ग्रंथावली सं० २००६. वाङमुख पृ० ४५ सं० २००६

होली के त्यौहार का उल्लेख करने के आगे रीतिबद्धकर्ता नहीं बढ़े। गुलाल की गरद और केसर की कीच तक ही वे रह गए। इन त्यौहारों का चित्र उपस्थित करने की ओर इनकी दृष्टि स्वाधीनता के साथ प्रसरित न हुई। ठाकुर ने अपनी रचना में बुन्देलखण्ड के आनंदोल्लासमय जीवन के कुछ चित्र रखकर देश के इस सांस्कृतिक वैभव की ओर भी लोगों की दृष्टि खींची। हम तो अपने नागरिक जीवन के अभिमान में अपना प्राचीन संस्कार भी खोते जा रहे हैं। नगरों में त्यौहारों का वह उल्लासमय रूप सामने नहीं आता जो भारत के जीवन का प्राण रहा है। गाँवों में इस दृष्टि से अपने जीवन का रूप अच्छा और रमणीक दिखाई देता है। जो प्रांत या प्रदेश नागरिक जीवन की पंकिलता से दूर या विच्छिन्न हैं उनमें अब भी देश की इस विभूति के बड़े भव्य दर्शन होते हैं। बुन्देलखंड में हमारा जीवन-खंड अपने प्राचीन रूप में अब भी बहुत-कुछ सुरक्षित है। ठाकुर कवि ने उस उल्लासमय जीवन में से अखती, गनगौर, वटसावित्री (बरगदाई) होली आदि के बड़े ही प्रभावुक चित्र सामने किये हैं। रीति-बद्ध 'कवियों' में से किसी-किसी ने बुन्देलखंड से संबंध होने के कारण 'गनगौर' का उल्लेख भर कर दिया है, जैसे पद्माकर ने; पर उसका चित्र उपस्थित करने की अभि-रुचि नहीं दिखाई है। काव्यशास्त्र में इन त्योहारों का उल्लेख तो है नहीं, फिर रीतिबद्ध कवि इनका अभिनन्दन करने क्यों दौड़ते।"[१] ठाकुर द्वारा अखती (अक्षय तृतीया, बैशाख शुक्ल तीज) का वर्णन देखिए। यह हिन्दू स्त्रियों के लिए व्रत एवं पूजन का एक महत्वपूर्ण पर्व है। इस दिन बुन्देलखंड में किसी वटवृक्ष के नीचे स्त्रियाँ पुत्तलिका पूजन करती हैं। पुरुष भी सजधज कर पूजन देखने जाते हैं। पूज-नोपरांत पुरुष स्त्रियों से उनके प्रेमियों और स्त्रियाँ पुरुषों से उनकी प्रेमिकाओं का नाम पूछती हैं। लज्जा और स्नेह के कारण जब नाम लेने में संकोच और विलंब होने लगता है तो वे एक दूसरे को गुलाब या चमेली की सुकोमल छड़ियों से मारते हैं—

> **गाँठ गठीली चमेली की बोदर[२] वालो न कोऊ अनूतरी कैहै।**
> **ऊसई नाम लेवाओ तो लेहैं पै घाले ते लाल कहा रस रैहै॥**
> **ठाकुर कंज कली सी लली बलि या जड़ चोट सरीर न सैहै।**
> **बाल कहै कर जोर हहा यह बोदर लाल हमें लगि जैहैं।** (ठाकुर)

इसी प्रकार बोधा ने वैवाहिक संस्कार का कैसा हृदयग्राही चित्र माधवानल कामकंदला में अंकित किया है—

> **अँगन लिपाय दिवाल पुताई। जरकसमय बखरी सब छाई।**
> **जातरूप मय कलश सँवारी। चित्र सहित बहुधा छबिवारी॥**
> **हरित बाँस मन्डप शुभ साजा। जामुन पल्लव छाय बिराजा।**

× × × × ×

१. वही पृ० ४६।

२. फूल की छड़ी।

गौरि थापि माथें सब साजी । करैं श्रृङ्गार नारि रत राजी ।
मोद भरी मंगल सब गावैं । एकै तीया तेल चढ़ावैं ॥
एकै बनिता तपैं रसोंई । हरबर हरबर सब ठाँ होई ।
कुटुम्ब बुलाय जमा सब कीन्हों । मंडम भोग सबहिं कहँ दीन्हों ॥
भोर मायनो फेर रसोई । दरोबस्त बस्ती कहँ होई ॥
तीयन हरदी तेल चढ़ायो । नगर मध्य नाऊ फिरवायो ।
बरन अठारह सब पुरवासी । पंगत बैठी देव सभा सी ॥
बरन बरन पंगत सब न्यारी । जेंवत खोवा पुरी सुहारी ॥
दूजे पुन सब कुटुँब बुलायो । बरा भात मँड़वा को खायो ॥ (बोधा)

हिन्दू जीवन का यह परम व्यामोहक संस्कार बड़ी मनोहरता से बोधा के काव्य में सचित्र हुआ है । जन जीवन के ऐसे मर्मस्पर्शी-प्रसंगों पर इन रीतिनिरपेक्ष कवियों की ही दृष्टि जा सकती थी । भला स्वकीया-परकीया और गणिका, मुग्धा-मध्या और प्रौढ़ा तथा खंडिता और अभिसारिका के भेद-प्रभेदों में फँसी रीतिबद्ध दृष्टि इन रीति बाह्य विषयों पर कैसे जा सकती थी ? प्रकृति चित्रण के क्षेत्र में थोड़ी स्वच्छन्दता के दर्शन द्विजदेव और बोधा में होते हैं । आलम के प्रबंध में विशद प्राकृतिक रमणीयता का जहाँ-तहाँ चित्रण हुआ है पर अंततः वह भी विरही माधवानल के विरह की या तो पृष्ठभूमि बना है या उद्दीपक । द्विजदेव का प्रकृति-प्रेम प्रसिद्ध है । वे किसी सीमा तक उसे आलंबन रूप में ग्रहण कर सके हैं । अन्य कवियों ने उसे परंपरागत रूप में ही ग्रहण किया है ।

मूल वक्तव्य : प्रेम—स्वच्छन्द कवियों का मूल वक्तव्य-प्रेम है । इसी मूल-वर्ती सम्वेदना से उनका सम्पूर्ण काव्य स्पन्दित है चाहे वह मुक्तकों के रूप में लिखा गया हो चाहे आख्यान के रूप में । आख्यान-रूप में सम्वेदित किये जाने पर भी प्रेम ही समूची कथा का मूल-तत्व, सूत्र और वर्ण्य मिलेगा । मुक्तकों में तो वक्तव्य विषय से इधर-उधर जाने की गुञ्जाइश नहीं परन्तु प्रेम की सुरा पी कर छके हुए ये कवि प्रबन्धों में भी लक्ष्य से इधर-उधर नहीं हुए हैं । जो कुछ प्रेम का पोषक और विका-सक नहीं वह इनके काव्यों से बहिर्गत कर दिया गया है । इस प्रेम-वर्णन का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह स्वानुभूति प्रेरित है । इनके द्वारा वर्णित प्रेम इनके जीवन से छन कर आया है उसमें ताजगी है, तीव्रता है । इन्होंने औरों के प्रेम का वर्णन नहीं किया है यदि किया भी है तो वह स्वानुभूति के प्रसार-रूप में ही । इसके विपरीत रीतिबद्ध कवियों का प्रेम गोपी-गोपिकाओं का प्रेम है जिसकी उन्होंने या तो कल्पना की है या साहित्य परम्परा से उपलब्धि । ऐसा नहीं है कि रीतिबद्ध कर्ताओं में प्रेम की अनुभूति ही न थी । कहने का तात्पर्य यह है कि औरों का प्रेम देख-सुन और कल्पित कर इनमें काव्य-सृजन की स्फूर्ति हुआ करती थी जब कि रीतिमुक्त कर्ताओं की

निजी प्रेमानुभूति ही काव्य-सृजन का कारण हुआ करती थी। लगभग सभी रीति-मुक्तों की अपनी अपनी प्रेम-कथा है। घनानन्द और सुजान, बोधा और सुभान; आलम और शेख या किसी नवनीत-कोमलाङ्गी यवनी की प्रेम-कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। रसखान भी किसी के रूप पर आसक थे, प्रेम-वाटिका के साक्ष्य से स्पष्ट पता चलता है—

> तोरि मानिनि ते हियो, फोरि मोहिनी मान।
> प्रेम देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखान ।। (रसखान)

और इस दिशा में ठाकुर की प्रसिद्धि भी कुछ कम नहीं। उनका किसी सुनारिन से प्रेम हो गया था। बुन्देलखण्ड के बिजावर राज्य की बात है। वह सुनारिन विवाहिता थी पर ठाकुर उसके रूप पर रीझे हुए थे। उसकी रूप-विभा का वर्णन करते और उसे सुनाते। एक बार वह सुनारिन बीमार पड़ी और चार-पाँच दिन तक घर के बाहर दिखाई न पड़ी। बेचैन ठाकुर एक दिन रात्रि के समय उसकी गली से यह छंद जोर-जोर से पढ़ते हुए निकले—

> **गति मेरी यही निसि बासर है चित तेरी गलीन के गाहने हैं।**
> **चित कौनो कठोर कहा इतनी अब तोहि नहीं यह चाहने हैं।**
> **कवि ठाकुर नेक नहीं दरसी कपटीन को काह सराहने हैं।**
> **मन भावै सुजान सोई करियो हमैं नेह को नातो निबाहने हैं।**

कहते हैं इस छन्द ने औषधि का काम किया और उस सुनारिन की अस्वस्थता जाती रही। ठाकुर के छन्दों से पता चलता है कि दूसरी ओर से उन्हें कोई प्रेम न प्राप्त हो सका था परन्तु ठाकुर को इस बात का कोई खेद न था। वे इतने ही से संतुष्ट थे कि उन्होंने किसी को चाहा[१]—

> **वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।**
> **बारहु बार बिलोक घरी घरी सूरति तो पहचानति ह्वैहै ।।**
> **ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।**
> **आवत हैं नित मेरे लिये इतनो तो विशेष कै जानति ह्वैहै ।।**

इस प्रकार प्रेम के रङ्ग में रङ्गे इन प्रेमोमङ्ग के कवियों की प्रेम-व्यञ्जना ही विलक्षण है। उनकी प्रेमानुभूति ही विशिष्ट है। वह किन्हीं पूर्ववर्ती या परवर्ती कवियों को प्राप्त नहीं हो सकी है, समसामयिक रीतिकारों को तो बिलकुल ही नहीं। ये कवि ही सच्चे प्रेमी थे; प्रेम ही इनका इष्ट था जिसे पाकर इन्हें फिर और किसी वस्तु की

---

[१] Love is not love which admits impediments
Or bends with the remover to remove.
—Shakespeare

चाह न रहा करती थी।[२] प्रेम जिस पथ पर इन्हें दौड़ाता वही इनका निर्दिष्ट मार्ग था, वह मार्ग लोक और शास्त्र की मर्यादाओं को मान कर नहीं उनका तिरस्कार कर आगे बढ़ता था। उस मार्ग में प्रेम ही रास्ता था, प्रेम ही मञ्जिल थी। प्रेम से महत्तर कुछ नहीं था इसलिए प्रेम ही साध्य था। इस मार्ग में प्रेम साधन रूप में कभी भी स्वीकृत नहीं हुआ जैसा कि सूफी सम्प्रदाय के सन्तों में दृष्टिगत होता है। जहाँ तक इनके प्रेम-काव्य पर पड़ने वाले प्रभावों का प्रश्न है दो प्रभाव विलकुल स्पष्ट हैं—सूर आदि कृष्ण-भक्तों तथा बिहारी, मतिराम, देव, दास, पद्माकर आदि समसामयिक रीति कवियों का प्रभाव तथा सूफी प्रेमाख्यानक कवियों का प्रभाव। सूर तथा अष्टछाप के अन्य कृष्ण-भक्तों का प्रभाव रसखान पर स्पष्ट है तथा रीतिकारों का प्रभाव औरों की अपेक्षा आलम पर अधिक है। बोधा और घनानन्द पर सूफी प्रभाव विशेष है। स्वच्छन्द कवियों के काव्य का अध्ययन करते हुए उनकी प्रेम भावना की जिन प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि जाती है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सूफी प्रेम-भावना का प्रभाव—स्वच्छन्द कवियों का प्रेम-वर्णन एक सीमा तक सूफी कवियों की प्रेम-भावना से प्रभावित है। सूफी कवियों द्वारा वर्णित प्रेम की पीर का प्रभाव बड़ा व्यापक था। वह कबीर आदि निर्गुण ज्ञानमार्गियों और कृष्णभक्त कवियों तक पर पड़ा।[१] सूफियों की प्रेम-भावना की मूल विशेषता है लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचना, इश्कमजाजी द्वारा इश्क-हकीकी की उपलब्धि। प्रेमगत यह सूफी सिद्धान्त घनआनंद, रसखान और बोधा में विशेष मिलेगा। घनानन्द और रसखान का जीवनगत लौकिक-प्रेम उत्कर्ष प्राप्त कर अलौकिक प्रेम में पर्यवसित हो गया था। सूफियों का यह प्रेम-सिद्धान्त बोधा के जीवन में तो घटित नहीं हुआ किन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित अवश्य हुआ—

> इस्क मजाजा मैं जहाँ इस्क हकीकी खूब ।

बोधाकी भाषा-शैली और भावना पर अवश्य यह प्रभाव एक सीमा तक स्पष्ट है। प्रेम के उक्त सिद्धान्त को रसखान और घनआनन्द में बहुत ही निजी ढंग से कहा है। रसखान ने कहा है—यह बात गाँठ बाँध लेने की है कि संसार में प्रेम के बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता, प्रेम चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक—

> आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान ।
> कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानंद बखान ॥

---

१. "आगे चलकर सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा तक इससे विशेष प्रभावित हुई। नागरीदास (सावंतसिंह), कुन्दनशाह आदि में तो यह प्रेम की पीर इतनी व्याप्त हुई कि उसका विदेशी रूप तक छिप न सका।"

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (घनानन्द ग्रंथावली, वाङ्मुख पृ० १४ सं० २००६)

इसी आशय को घनानन्द यों व्यक्त करते हैं ।

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै,
बिचार बापुरो हहरि बार ही तें फिरि आयौ है ।
ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है ।।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है ।
सोई घन आनन्द सुजान लागि हेत होत,
ऐसें मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ।।

प्रेम के अपार महासागर में राधा और कृष्ण अहर्निश एकरस क्रीड़ा करते रहते हैं । उनके प्रेमानन्द की एक चंचल लहर से समग्र विश्व प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है और उसी प्रेम-तरंग के एक कण से घनानंद के हृदय में सुजान के प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग आ गया है । इस प्रकार घनानन्द और सुजान का (लौकिक या मजाजी) प्रेम राधा और कृष्ण के (अलौकिक या हकीकी) प्रेम का एक कण मात्र है । वही सूफी प्रेम-तत्व है पर कितने निजीपन के साथ कहा गया है कितने आत्मसात रूप में अभिव्यक्त हुआ है ।[1]

प्रेम का स्वच्छन्द और अपरंपरागत रूप—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्वच्छंद कवियों की मूल संवेदना प्रेम है । रीतिमुक्त कवियों के काव्य में प्रेम का परंपरागत रूप न प्राप्त होकर उसका निर्बन्ध और स्वच्छन्द रूप देखने को मिलता है । क्रमागत अथवा समसामयिक साहित्य-परंपरा में जिस प्रेम का वर्णन मिलता है वह कुटुम्ब और समाज की मर्यादाओं से बँधे हुए प्रेम का वर्णन है । उस प्रेम के मार्ग में कितनी बाधाएँ हैं कितने बन्धन हैं । गुरुजनों का संकोच है; लोक की लज्जा है । इतने दिनों के बाद नायक परदेस से वापस आया है, उसकी विवाहिता लोक और

---

[1] आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि—रसखान और घनानन्द ने बड़े ढंग से इसे (सूफी प्रेम सिद्धान्त) ग्रहण किया है पर बोधा इसे अपने रंग में रँग न सके । उन्होंने तो बार-बार उसकी डुग्गी पीटी है—इस्कमजाजी मैं जहाँ इस्क हकीकी खूब । (बिरह वारीश)····रसखानि और घनानन्द दोनों ने कृष्ण-प्रेम में इसे छिपा रक्खा । बोधा ने उधर उतना ध्यान नहीं दिया । वे कृष्णभक्ति में लीन नहीं हुए । यदि कृष्ण-भक्ति का अवलंब वे लेते भी तो उनकी प्रवृत्ति और रंग-ढंग से यह जान पड़ता है कि बहुत-कुछ नहीं तो कुछ-कुछ कुन्दनशाह की-सी वृत्ति होती । बोधा प्रेम की प्रकृत गंभीरता को प्रायः सँभाल नहीं पाते ।

—वही पृ० १४, १५

परिजनों के भय से उसे भर आँख देख भी नहीं सकती। दर्शनोत्कंठा अलग मारे डालती है। उससे रहते नहीं बनता। वह झम्म से आती है झम्म से चली जाती है—

नावक सर से लाइ कै तिलक तरुनि इत ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥ (बिहारी)

एक दूसरा नायक है जो परदेस जाने को उद्यत है। सारे कुटुम्बियों के बीच से अंतिम बिदा लेने के लिए लौट कर नायिका के पास नहीं जा सकता। बेचारे को ऊपर से झाँकती हुई प्रियतमा से इशारों-इशारों में विदा लेना पड़ता है। तीसरा प्रेमी युगल है। वे मिलते हैं पर बहुतों की भीड़ के बीच। भीड़ किसी पारिवारिक आयोजन के कारण इकट्ठी है। ये उस भीड़ में भी अपनी बातें आँखों-आँखों में कर ही लेते हैं—

कहत, नटत, रीझत, खिझत मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननि ही सौं बात॥

उधर निंदा हो रही है, चवाइयाँ चल रही हैं, चुगलियाँ हो रही हैं इधर प्रेम चल रहा है। डर भी है, उद्वेग भी—

चलत घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराय।
समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय॥

इस प्रकार के बंधनमय प्रेम से ये कवि अपरिचित हैं। इतने बन्धनों के बीच होकर चलने वाला प्रेम-व्यापार न तो इन कवियों को प्रिय हो सकता था और न इष्ट। लोक की लज्जा और परलोक की चिंता जो छोड़ सकता हो वही स्वच्छन्द प्रेम-मार्ग का पथिक हो सकता है यह बात स्वच्छन्द कवियों ने पुकार-पुकार कर कही है—

लोक की लाज को शोच प्रलोक को वारिए प्रीति के ऊपर दोई
गाँव को गेह को देह को नातो सो नेह पै हातो करै पुनि सोई॥
'बोधा' सो प्रीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होई।
लोक की भीत धरा धरौ मीत तौ प्रीति के पैंड़े परौ जिन कोई॥ (बोधा)

लोक वेद मरजाद सब लाज काज संदेह।
देत बताए प्रेम करि विधि निषेध को नेह॥ (रसखान)

उनके प्रेम में वही स्वच्छन्दता है जो राधा और कृष्ण या गोपियों और कृष्ण के बीच थी। इन कवियों को घर-बार, लोक-परलोक किसी की चिन्ता न थी, जीवन और जगत के ये झूठे बंधन इन्हें सर्वथा अस्वीकार थे। इसीलिये ये कवि शृंगार-रस तथा नायिका-भेद के ग्रंथों में निर्दिष्ट प्रेम की सुनिश्चित लीकों पर नहीं चल सके हैं—स्वकीया-परकीया और गणिका के अलग-अलग प्रकार के प्रेम, फिर मुग्धा-मध्या और प्रौढ़ा की 'काम' वृत्ति पर आधारित भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ फिर अवस्थादि पर निर्भर

आगतपतिका, प्रोषितपतिका, उत्कंठिता, अभिसारिका, खंडिता आदि के प्रेम, प्रेम की लुका-छिपी, चोरी-चोरी संदेश भेजना, मान और मनावन, बीच में सखियों और दूतियों का इधर से उधर संदेश निवेदन, कुलीन, शठ, धृष्ट आदि नायकों के विभिन्न प्रकार के आचरण सखियों या दूतियों का नायक से रमण-संभोग, सपत्नीक ईर्ष्या आदि जो अधिकांश रीतिबद्ध नायिका-भेद के ग्रन्थकारों द्वारा निर्दिष्ट प्रेम-वर्णन के विषय हैं उन पर ये रीतिमुक्त कवि काव्य-रचना करने में एकांत असमर्थ रहे हैं। ये रीतिग्रस्त प्रेम-वर्णन की सँकरी गलियाँ हैं, इनमें इन स्वच्छन्द कवियों की साँस घुटती थी। ये प्रेम की इन गलियों से निकल कर प्रेम के खुले मैदान में आए जो उसका सच्चा क्षेत्र था जहाँ कोई किसी को बुरा-भला कहने वाला नहीं था। इनके प्रेम-वर्णन को नायिका-भेद के चौखटे में फिर नहीं किया जा सकता। ये अपने प्रेम का निवेदन आप करते थे, सखियों-दूतियों या संदेशवाहकों के माध्यम से नहीं। इसी कारण इन रीतिमुक्त कवियों के काव्य में हृदय की, अंतःकरण की जैसी मनोहर झलक मिलेगी रीतिबद्ध कवियों में वैसी दुष्प्राप्य है। देव, बिहारी, पद्माकर, दास, मतिराम आदि कवियों ने जहाँ अनुभूति से साथ प्रेम की व्यंजना की है वे भी प्रेम के सुन्दर उद्गार और अंतःकरण की मनोरम अभिव्यक्तियाँ दे गए हैं पर ऐसा रीति के बंधन से हृदय को मुक्त करने पर ही हो सका है।

प्रेम-भावना की उदात्तता—प्रेम के स्वच्छन्द रूप का ग्रहण करने से रीतिमुक्त कवियों की प्रेम भावना में एक प्रकार की उदात्तता (sublimation) आ गया है। उसमें गहराई है, व्यापकता है, संकीर्णता और ओछापन नहीं। उनका प्रेम शुद्ध वासनात्मक स्तर से ऊपर भी उठ सका है। रीतिबद्धों की दृष्टि अतिशय शरीरी और स्थूल न थी। रसखान, घनानन्द, ठाकुर आदि में उसका पर्याप्त उन्नत और उदात्त स्वरूप गोचर होता है। इन कवियों का प्रेमसम्बन्धी दृष्टिकोण मुख्यतः मांसल और शरीरी न होकर सूक्ष्म और भावनात्मक था। बोधा को उपर्युक्त कथन का अपवाद कहा जा सकता है। वे कायिक प्रेम के पुजारी थे। परन्तु प्रेम के कुछ महत्वपूर्ण आदर्श उनके मन में भी प्रतिष्ठित थे। उदाहरण के लिए यह कि अपने प्रेम का वृत्तान्त अपने तक ही सीमित रखना चाहिए अपना दर्द आप ही झेलना चाहिए, दूसरा कोई उसे क्या समझेगा? अपने दुख पर तरस खाने वाला कोई न मिलेगा मजाक उड़ाने वाले पचासों मिलेंगे—

(क) **हम कौन सो पीर कहैं अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नहीं।**
(ख) **कठिन पीर कहिवे की नाहीं सहिवे ही बनि आइ।**
(ग) **दिल जानै कै दिलवर जानै दिल की दरद लगो री।**
(घ) **मालती एक बिना भ्रमरी इतै कोऊ न जानत पीर हमारी।**

(ङ) काहू सो का कहिबो सुनिबो कवि बोधा कहे में कहा गुन पावत ।

(च) बोधा किसू सों कहा कहिये सो बिथा सुनि पूरि रहै अरगाइ कैं ।
यातें भले सुख मौन धरैं उपचार करैं कहूँ अवसर पाइ कैं ॥
ऐसो न कोऊ मिल्यौ कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाइ कै ।
आवतु है मुख लौं बढ़ि कै फिरि पीर रहै या सरीर समाइ कैं ॥

प्रेम के पथ पर चल कर डिगना नहीं होता—

कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है ।

प्रेम एक से होता है, अनेक से नहीं—

लगनि वहै थल एक लगि, दूजे ठौर बढ़ै न ।

अथवा

जो न मिलो दिलमाहिर एक अनेक मिलैं तौ कहा करियैं लै ।

प्रेम में अनन्यता आवश्यक है। लोक-लाज छोड़ना पड़ता है। तकलीफ सहनी पड़ती है। अहङ्कार, अभिमान और मगरूरी के लिए प्रेम के साम्राज्य में कोई स्थान नहीं। प्रेम त्याग का ही दूसरा नाम है। प्रेम करना सरल है पर उसका निर्वाह मुश्किल है इसलिए बोधा प्रेम के निर्वाह पर बार-बार बल देते पाये जाते हैं। प्रेम के इन ऊँचे आदर्शों पर बोधा का भी विश्वास था—

प्रीति करै पुनि और निबाहै / सो आशिक सब जगत सरा है ॥
एकहि ठौर अनेक मुश्किल यारी कै प्यारो सों प्रीति निबाहिबो /
नेहा सब कोऊ करै कहा करैं मैं जातँ ।
करिबो और निबाहिबो बड़ी कठिन यह बात ॥

ठाकुर ने भी प्रेम के निर्वाह पक्ष पर बल दिया है—

प्रीति करैं मैं लगै है कहा ,
करि कै इक ओर निबाहिबो बाँको । (ठाकुर)

जब बोधा ने प्रेम के सम्बन्ध में इतने ऊँचे मानदण्ड स्थिर किये हैं तब रसखान, घनानन्द आदि प्रेम के पपीहों का तो कहना ही क्या ! उनकी प्रेम-वृत्ति की ऊँचाई तो सहज ही अनुमानित की जा सकती है। रसखान के लिए यह प्रेम कुछ साधारण वस्तु या लौकिक व्यापार मात्र न था। उन्होंने तो प्रेम को हरि का दूसरा रूप ही मान लिया था—

प्रेम हरी को रूप है त्यौं हरि प्रेम सरूप ।
एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज अरु धूप ॥

इसकी दिव्यता का तो कहना ही क्या ! प्रेम को पा लेने के बाद सारी स्पृहाएँ शेष हो जाती हैं—

जेहि पाए बैकुंठ अरु हरिहू की नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥

इसीलिए बार-बार रसखान पुकार कर कहते हैं, 'प्रेम करो, प्रेम करो ! जिसने प्रेम नहीं किया उसने इस संसार में आकर कुछ नहीं किया' —

(१) कहा रसखानि सुख संपति सुमार कहा,
कहा महा जोगी ह्वै लगाए अंग छार को ।
कहा साधे पंचानल कहा सोये बीच जल,
कहा जीत लीने राज सिंधु आर पार को ॥
जप बार बार तप संजम अपार ब्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को ।
कीन्हों नहीं प्यार नहीं सेयो दरबार, चित्त
चाह्यो न निहार्‌यौ जो पै नन्द के कुमार को ॥

(२) शास्त्रन पढ़ि पंडित भए कै मौलवी कुरान ।
जु पै प्रेम जान्यौ नहीं, कहा कियो रसखान ॥

रसखान के मत में प्रेम से महत्तर कोई धर्म नहीं, कोई तत्व नहीं—

ज्ञान कर्मऽरु उपासना सब अहमिति को मूल ।
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन किये प्रेम अनुकूल ॥
श्रुति पुरान आगम स्मृतिहि प्रेम सबहि को सार ।

जैसी पवित्रता, दिव्यता और महत्ता इन रीतिमुक्त कवियों की प्रेम-भावना में लक्षित होती है वैसी रीति से बँधे कवियों में नहीं । घनानन्द की प्रेम-वृत्ति भी ऐसी ही उदात्त और मनोहारिणी है आमुष्मिकता वासना और ऐहिकता का जहाँ लेश भी नहीं प्रेम क्या है मानों शुद्ध अन्तःकरण फूटा पड़ रहा है । इस प्रेम में सच्चाई है एक-निष्ठता है, समर्पण है, त्याग है । इन रीतिमुक्त रचयिताओं में प्रेमगत भोग पर नहीं त्याग पर विशेष बल दिया गया है । प्राप्ति से अधिक पीड़ा और व्यथा को महत् बताया गया है । प्रेम के इस उदात्त स्वरूप की ठीक-ठीक परख करने के लिए समसामयिक रीतिकारों की प्रेम-भावना पर दृष्टि डालना समीचीन होगा । डा० नगेन्द्र ने उनकी प्रेम-भावना की चार प्रमुख विशेषताओं की ओर इङ्गित किया है[1]—

(१) उसका मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं । वह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिक अत-एव उपभोगप्रधान है । उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिक सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है । किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य का संकेत नहीं ।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : (सन् १९५६) पृ० १६३

(२) इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगार उपभोगप्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है दूसरी ओर रूमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्राय: उसमें नहीं मिलती।

(४) इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार और तीव्रता कम।

रीतिबद्ध कर्ताओं की इस प्रकार की प्रेम-भावना के आलोक में हम सहज ही रीतिमुक्त कर्ताओं की उदात्त प्रेम-वृत्ति हृदयङ्गम कर सकते हैं।

प्रेम-विषमता—रीतिमुक्त कवियों के काव्य में प्रेम-विषमता का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। प्रेमी प्रिय को जितना चाहता है, उसके लिए जितना तड़पता है प्रिय प्रेमी के लिए उतना नहीं। स्वच्छन्द प्रेम-धारा के कवियों ने प्रेमगत इस वैशिष्ट्य को सविशेष रूप से अपने काव्य में चित्रित किया है। प्रेमी के प्रेम की तीव्रता, अनन्यता, निरंतरता आदि दिखाना ही इसका लक्ष्य है। प्रिय को क्रूर और दुष्कर्मी दिखाना नहीं। प्रिय को निठुर, उपेक्षापूर्ण, दुख और पीड़ा से अनभिज्ञ, सहानुभूतिशून्य कहा और दिखाया गया है पर वह सब प्रेमी की प्रेम-प्यास को तीव्रतर करने के ही उद्देश्य से। इन प्रेमियों ने प्रिय को दुष्ट और दुराचारी कहकर अपने प्रेम को उपहासास्पद नहीं बनने दिया है। प्रिय भूलता है, परवा नहीं करता, उनके दुख को नहीं समझता तो स्वच्छन्द कवियों ने उसके प्रति उपालम्भ दिया है, प्रिय के इस प्रकार के आचरण में अपना दोष देखा है, भाग्य को कारण ठहराया है पर प्रिय को छोड़ने या भूलने की धमकी नहीं दी है। इस प्रकार स्वच्छन्द कवियों ने प्रेमी की उदात्त मनोवृत्तियों का परिचय दिया है, हृदय की किसी तुच्छता या ओछेपन का नहीं। यह प्रेम-विषमता लगभग सभी कवियों के काव्य में आई है तथा नाना प्रकार की अन्तर्वृत्तियों की अभिव्यञ्जक हुई है। आलम की गोपिका की शिकायत है कि कृष्ण नाता तो असानी से जोड़ लेते हैं पर निभाने की चिन्ता नहीं करते। दूसरे कवियों की शिकायतें भी यही या ऐसी ही रही हैं कि एक ही गाँव में बसकर दर्शन के लिए तरसाया करते हैं, आदि, आदि—

> **भली कीनी भावते जू पाँव धारे याहि खोरि,**
> **अनत सिधारे की बसत याही पुर हौ।**
> **निकट रहत तुम एती निठुराई गही,**
> **अब हम जाने तुम निपट निठुर हौ॥ (आलम)**

प्रिय की यह निठुरता प्रेमी को कैसी दीनता की स्थिति में ला पटकती है, स्थिति वास्तव में कितनी करुण हो उठती है—

(क) नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होहु पीय,
पायन की धूरि हमैं दूरि कै न जानिये। (आलम)
× × × ×

(ख) जा दिन तें तुम चाहे लोग कहैं पीरी काहे,
पीरो न जनैयै पल पल जिय जारियै।
× × × ×
घूँघट की ओट आँसू घूँटिबो करत नैना
उमगि उसाँस कौ लौं धीरज यों धरिये॥ (आलम)
× × × ×

(ग) देखै टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आन की न चिन्ता हम
देखेहु दुखित अनदेखेहु दुखित ॥ (आलम)

गोपिका की प्रियविषयक चिन्ता का वार-पार नहीं उधर प्रिय के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। ठाकुर की गोपियों का भी अनुभव कुछ-कुछ ऐसा ही है। कृष्ण जैसा कुछ कहा करते थे आचरण में वैसे नहीं निकले—

हरि लाँबी औ चौरी बखानत ते अब गाढ़े परे गुण और कढ़े जू। (ठाकुर)

गोपियाँ उन्हें क्या समझा करती थीं पर वे निकले कुछ और ही। उन्होंने प्रेम का नाता जोड़कर गोपियों को अपने कुटुम्ब से नाता तोड़ने को पहले तो बाध्य कर दिया अब उनकी परवा भी नहीं करते, गुलाम की गाजरों का सा हाल कर रक्खा है—

खाई कछू बगराई कछू हरि गोपी गुलाम की गाजरैं कीन्हीं। (ठाकुर)

कृष्ण ऐसे निर्मोही और कठोर-हृदय व्यक्ति से प्रेम कर जीवन में जो असफलता गोपियों को प्राप्त हुई है उसकी पश्चाताप से परिपूर्ण कितनी तीव्र व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है—

(क) ऊधौ जू दोष तुम्हैं न उन्हैं हम आपु ही पाँव पै पाथर मारे। (ठाकुर)
× × × ×

(ख) ऊधौ जू दोष तुम्हैं न उन्हैं हम लीनी है आपने हाथ ही बीछी। (ठाकुर)

कृष्ण से प्रेम क्या किया अपने हाथ से बीछी पकड़ ली है परिणाम कितना तीक्ष्ण है जाहिर ही है। यहाँ प्रेम-वैषम्य की कितनी तीव्र व्यंजना है! रसखान के काव्य में

आसक्ति और रीझ का प्राधान्य होने के कारण प्रेम की विषमता के लिए अवकाश नहीं रहा है फिर भी दो-चार छन्द ऐसे मिल सकते हैं जिनमें कृष्ण से प्रेम करने का दुष्परिणाम दिखाया गया है—

(क) कान्ह भए बस बाँसुरी के, अब कौन सखी हमको चहिहै।
निसि द्यौस रहै यह साथ लगी यह सौतिन साँसत को सहिहै।।
जिन मोहि लियो मनमोहन कों, रसखानि, जु क्यों न हमैं दहिहै।
मिलि आवो सबै कहुँ भाग चलें, अब तो ब्रज में बँसुरी रहिहै।।
(रसखानि)

(ख) काह कहूँ सजनी सँग की, रजनी नित बीतै मुकुंद को हेरी।
आवन रोज कहैं मन भावन, आवन की न कबौं करी फेरी।।
सौतिन भाग बढ्यो ब्रज में जिन लूटत हैं निसि रंग घनेरी।
मो रसखान लिखी विधना मन मारि कै आपु बनी हौं अहेरी।।
(रसखानि)

(ग) पूरब पुन्यन तें चितई जिन, ये अँखियाँ मुसकान भरी री।
कोऊ रही पुतरी सी खरी, कोऊ घाट गिरी, कोऊ बाट परी री।।
जे अपने घर ही रसखानि कहैं अरु हौं सनि जाति मरी री।
लाल जे बाल बिहाल करी, ते बिहाल करी न निहाल करी री।
(रसखानि)

और यह प्रेम-विषमता घनानन्द के काव्य में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। वैषम्य ही घनआनन्द के प्रेम में निखार और रंग लाता है, विविध भावना-भेदों का उद्घाटन करता है तथा चाह में भीगे हुए हृदय का निदर्शन करता है। घनानन्द के सम्बन्ध में यह तो निर्द्वंद्व भाव से कहा जा सकता है कि विषमता उनके प्रेम-भावना की अनन्य विशेषता है। प्रेमी जितना ही आसक्त है और प्रिय के लिए तड़पता है प्रिय उतना ही उपेक्षापूर्ण है। एक तरफ सम्पूर्ण समर्पण है दूसरी तरफ छल और धोखा। एक का स्वभाव स्मरण करने का है दूसरे का विस्मरण करने का—'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि।' एक तड़प रहा है दूसरा इठला रहा है। इस प्रकार प्रेमी और प्रिय की प्रकृति में बड़ा अंतर हैं। एक 'निहकाम' है दूसरा 'सकाम', एक 'निहचिंत' है दूसरा 'सचिंत'। एक सहर्ष सोता है दूसरा सविषाद जागता है। एक की नींद हराम है दूसरा पैर पसार कर सोता है। एक चैन की चन्द्रिका का अमृत पीता है दूसरा विषाद के आतप से प्रतप्त रहता है। इस प्रकार प्रिय और प्रेमी का जीवन, उनकी प्रकृति, उनके मनोभाव आपाततः भिन्न और विषम हैं। यह वैषम्य उनके समग्र जीवन को अनुप्राणित किये हुए है फलतः घनआनन्द ने अपने काव्य में

सर्वत्र शत-शत रूपों में इस वैषम्य का चित्रण किया है। यह वैषम्य-भाव घनआनन्द में इतना प्रबल है कि वह उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो गया है और उनकी शैली में भी अनायास उतर आया है। घनआनन्द में संगठित यह वैषम्य 'इस्टाइल इज़ दी मैन' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। कुछ लोगों ने इसे फारसी शायरी के प्रभाव के रूप में भी देखा है। घनआनन्द स्वच्छंद धारा में प्रेम की विषमता के प्रबलतम पोषक हैं।

घनआनन्द के काव्य में प्रेम की विषमता का उद्घाटन करने वाले कुछ अंश देखिये—

(१) दुख दै सुख पावत हो तुम तौ चित के अरपें हम चित लही।

(२) महा निरदई, दई कैसे कै जिवाऊँ जीव,
बेदन की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइयै।

× × ×

रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैयै, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि धौं लगाइयै ।।

(३) तुम तौ निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमैं सूल-सेलनि सों क्यौंहूँ न भुलाय है।
मीठे-मीठे बोल बोलि ठगीं पहिलें तौ तब,
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है ।।

× × ×

(४) पहिले घन आनन्द सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय बियोग की लाय, बयाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी ।।

(५) क्यों हँसि हेरि हर्यौ हियरा अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।

(६) तब तौ छबि पीवत जीवत हैं अब सोचनि लोचन जात जरे।

(७) पहिलै अपनाय सुजान सनेह सों क्यौं फिरि नेह कै तोरियै जू।।
निरधार अधार दै धार मझार, दई गहि बाँह न बोरियै जू।

(८) लौ ही रहे हौ सदा मन और को देबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख, त्यागे सकोच औ सोच सुखारे ।।

(९) तब ह्वै सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी
सब सुख संग लै बिछोह दुख दै चलै।
सींचे रस रंग अंग अंगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं विषम विषाद बेलि बै चलै ।।

× × ×

(१०) चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै अनंद घन
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है ॥
मोहिं तुम एक, तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है ॥

घनानन्द में तो यह प्रीति की विषमता पद-पद पर मिलेगी। उनके कवित्त-सवैयों का तो सारा बंधान प्रेम-वैषम्य पर ही आधारित है। प्रिय का आचरण, उसका स्वभाव, उसकी बोली, उसके कर्म, उसकी हँसी, उसका प्रेम, उसका आश्रय, उसका आदान-प्रदान सभी कुछ कुटिलता और विपरीतता से भरा हुआ है। भला ऐसे प्रिय का प्रेमी सुख कैसे पा सकता है यही कारण है कि घनानन्द और उनके सहयोगी रीतिमुक्त कवियों में विरह, पीड़ा और वेदना का प्राधान्य है। इस व्यापक रूप से प्राप्य गुण प्रेम-वैषम्य के रीतिमुक्त काव्य में आविर्भाव के कारण की भी संक्षेप में टोह हो जानी अप्रासंगिक न होगी।

प्रेम उभयपक्षीय होने पर सम तथा एकपक्षीय होने पर विषम कहलाता है। प्राचीन संस्कृत काव्यों में समप्रेम का विधान है। दृश्य और श्रव्य उभय प्रकार की काव्य परम्परा में यही बात मिलेगी। वाल्मीकीय रामायण के राम और सीता, कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल के दुष्यंत और शकुंतला तथा बाण विरचित कादंबरी के कपिंजल और कादंबरी में सम प्रेम का ही विधान है। वहाँ ऐसा नहीं है कि एक प्रेम करता है दूसरा उपेक्षा। यह उभयपक्षीय प्रेम विद्यापति के राधा और कृष्ण में बहुत कुछ अक्षुण्ण है किन्तु सूरदास तक आते-आते उसमें वैषम्य का विधान हो गया, कृष्ण भ्रमर के समान स्वार्थी और कृतघ्नी हो गए, वियोग का इतना बड़ा पारावार लहराने लगा और भ्रमर गीत जैसे विशद प्रेमवैषम्य व्यंजक काव्य की सृष्टि हुई। फिर भी सूर तथा सहयोगी कृष्णभक्त कवियों के कृष्ण के हृदय में राधा और गोपियों के प्रति प्रेमभाव का एकदम तिरोभाव न होने पाया था। रीति-काल में आकर रीतिबद्ध काव्य में यह प्रेम-वैषम्य नायिका के विरह-निवेदन में और भी बढ़-चढ़ गया तथा रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जैसा ठाकुर, घनानन्द आदि की रचनाओं के ऊपर दिये गए उद्धरणों से प्रमाणित होता है। इस प्रकार से रीतिमुक्त कवियो में पाई जाने वाली इस प्रेम-विषमता के दो स्रोत हो सकते हैं—(१) भागवत, (२) सूफी तथा फारसी साहित्य। महाभारत में कृष्ण-प्रेम में वैषम्य नहीं आने पाया है पर श्रीमद्भागवत में वर्णित गोपियों और कृष्ण के प्रेम में विषमता का विधान है। भागवत में यह वैषम्य प्रेम-लक्षणा भक्ति के निदर्शन के कारण आया है। भक्ति में इस प्रकार की विषमता के लिए अवकाश नहीं किन्तु भक्ति में माधुर्य-भाव के संचार के कारण प्रीति-विषमता का विधान अनिवार्य हो जाता है।

भागवतकार ने श्री कृष्ण के मुँह से कहलाया है कि मैं प्रेम करने वालों को भी प्रेम नहीं करता—'नाहंतु सख्यो भजतोपि जन्तून भजाम्यमीषामनुवृत्ति सिद्धये।' यह गोपियों के प्रेम में दृढ़ता लाने के लिए है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रासलीला का आनन्द लेती रहती हैं, बीच-बीच में कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। प्रेमिकाओं की आँखों से प्रेम की सरिता उमड़ चलती है। भागवत में श्रीकृष्ण को आप्तकाम बताया है। उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं। सूरदास के भ्रमर गीत में कृष्ण जो निष्ठुर छली आदि कहे गए हैं वे इन्हीं दोनों कारणों से—एक तो वे भगवान हैं, आप्तकाम और दूसरे उनके प्रति की जाने वाली भक्ति माधुर्य अथवा कान्ताभाव की है यही करण है कि भागवत से सम्बन्धित साहित्य में कृष्ण-प्रेम के प्रसंग में प्रेम-वैषम्य का विधान हुआ। सूर तथा उनके समसामयिक कवियों से यह प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ता चला गया। विवेचकों ने घनआनन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमियों की ऐसी उक्तियों 'तुम तौ निहकाम, सकाम हमैं, घनआनन्द काम सों काम पार्यो' में भागवत के कृष्ण की आप्तकामता और उनके प्रति की गई माधुर्य भक्ति का प्रभाव देखा है। जो हो यह तो निर्विवाद ही है कि सूर आदि द्वारा चित्रित गोपी-कृष्ण-प्रेम-प्रसंग ही रीतिकाल के अंत तो क्या आधुनिक काल के आरम्भ तक इस अपरिहार्य प्रभाव का मूल कारण रहा है। प्रेम-वैषम्य की जो स्वीकृति वहाँ भागवत के प्रभाव-वश थी वही परम्परित रूप में घनआनन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमियों द्वारा गृहीत हुई। श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में प्रेम लक्षणा भक्ति का स्वरूप देखा जा सकता है जहाँ कृष्ण के प्रति मधुराभाव की भक्ति का निदर्शन करते हुए पुराणकारों ने गोपिकाओं में अहम् का सर्वथा लोप तथा आत्म-चेतना की पूरी विस्मृति दिखाई गई है। अहम् के लोप के बिना भक्ति की सच्ची भूमिका में पहुँचा ही नहीं जा सकता। उद्धव ऐसे ज्ञान के अहंकारी को भक्त के रूप में पर्यवसित करने के उद्देश्य से ही भागवत में तथा सूरसागर आदि में गोपियों की इतनी प्रेम-व्यथा और प्रेम-विषमता का विधान किया गया है। उद्धव के अहंकार का दलन जरूरी था क्योंकि इसके बिना भक्ति अथवा प्रेम में लीनता संभव ही नहीं। घनआनंदादिकों के प्रणय काव्य में प्रेम-वैषम्य की प्रवृत्ति अंशतः इसी स्रोत से आई है परन्तु प्रेम की विषमता और भक्ति की विषमता में थोड़ा अंतर है। प्रेमपात्र को कठोर, निष्ठुर, क्रूर, उपेक्षापूर्ण आदि कहा गया है परंतु भक्ति के आलंबन को ऐसा नहीं कहा गया है बल्कि उसे करुणा का सागर, दया का आगार आदि कहा गया है। कृष्ण को जो छली, कपटी आदि कहा गया है वह भक्ति में प्रेम के तत्व के आ मिलने के कारण। भागवत के भ्रमर गीत प्रसंग में कृष्ण की कठोरता आदि का कथन हुआ है। इस प्रेम लक्षणा भक्ति के साथ साथ एक दूसरा और संभवतः तीव्रतर प्रभाव इन स्वच्छन्द प्रेम की तरंग वाले कवियों पर

पड़ रहा था, वह था सूफी कवियों का तथा समसामयिक फारसी शायरी का प्रभाव जहाँ इश्क की व्यंजना वैषम्य के बिना संभव ही न थी। बोधा, आलम, रसखान, घन आनंद सभी कवि फारसी की शायरी तथा उसकी परंपरा से वाकिफ थे। इनकी भाषा और जगह-जगह इनकी शैली सबूत के रूप में पेश की जा सकती है। भाषा शैली तो अलग छोड़िये इनके अनेकानेक ग्रंथों के नाम ही इनकी फारसी की खासी जानकारी के प्रमाण हैं, उदाहरण के लिए बोधाकृत 'इश्कनामा', घनआनंदकृत 'इश्कलता' आदि। ब्रज भाषा के साथ ही साथ मध्यकाल में फारसी की शायरी की परंपरा मुगल-दरबारों में, राव-उमरावों में तथा देहली और अवध ऐसे केन्द्रों में चल ही रही थी। उनकी नाजुक खयाली और अतिशयोक्ति-परायणता रीतिकालीन काव्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ गई है। बिहारी, रसलीन, रसनिधि, 'इश्कचमन' के रचयिता नागरीदास आदि पर यह प्रभाव अचूक रूप से देखा जा सकता है। यही बात आलम, बोधा, घनआनंद, रसखान आदि के विषय में भी समझनी चाहिए। इन कवियों पर सूफी प्रभाव पड़ा यह निर्विवाद है। इश्कमजाजी से इश्कहकीकी की प्राप्ति के आदर्श, माधवानल कामकंदलादि आख्यान तथा स्वच्छंद प्रेमियों की प्रेम पीर सूफी प्रभाव के प्रमाण हैं। उधर फारसी शायरी में जो प्रेम-विषमता दिखाई जाती है उसकी बड़ी ही लंबी परंपरा है जो आज भी चली चल रही है, उर्दू शायरी तो इसके असर से लबालब है। वहाँ प्रेम-विषमता प्रेमी के प्रेम को परखने का निकष है। प्रिय की ओर से जितनी लापरवाही और बेफिक्री दिखाई जायगी प्रेमी की ओर से उतनी ही तड़पन और लगाव। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि स्वच्छंद काव्य में प्राप्य प्रेम-विषमता श्रीमद्भागवत तथा कृष्ण-भक्तों के काव्य के प्रभाव स्वरूप उतनी नहीं है जितनी समसामयिक फारसी और उर्दू की शायरी के प्रभाव के कारण—

'स्वच्छन्द कवियों की कृति में यह वैषम्य कृष्ण भक्तों की रचना से ही सीधे उतर आया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। भक्ति की साधना में प्रेमगत वैषम्य भक्ति की ऊँची और गहरी अनुभूति उद्भावित करने के लिए नियोजित है, प्रिय की वास्तविक कठोरता उसका प्रतिपाद्य नहीं। पर स्वच्छन्द कविता में प्रिय की वास्तविक कठोरता का वर्णन विस्तार के साथ और प्रतिपाद्य रूप में स्वीकृत है। यह निश्चय ही फारसी की कविता का प्रभाव है, जहाँ प्रिय की योजना इसी रूप में की जाती है। एक पक्ष तटस्थ रहता है और दूसरा अनुराग रस से संपृक्त। संस्कृत-कवियों के विरह में इस प्रकार का क्रूर प्रिय पक्ष नहीं है। इसलिए इस कठोरता या उदासीनता का मूल स्रोत फारसी की काव्य धारा ही है जहाँ प्रधान काव्य वस्तु (थीम) यही है और जो उर्दू की रचना पर अपना दीर्घ-

कालीन प्रभाव डाल चुकी है। हिन्दी के बहुत से मध्यकालीन कवि इस विषमता के वर्णन में लगे।'[1]

वियोग की प्रधानता—वियोग का प्राधान्य इन स्वच्छन्द कवियों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रेम का निखार विरह में ही होता है। विरह में ही प्रेम रंग लाता है। विरही ही अनन्य प्रेम का पुजारी होता है। प्रेम विरह में ही अपनी परकाष्ठा को पहुँचता है। इस सिद्धान्त को स्वच्छन्द धारा के कवियों ने एकमत हो कर स्वीकार किया है। इन कवियों के लिए प्रेम ही जीवन था फलतः विरह उसका अविच्छेद्य अंग है और इसलिए विरह का चित्रण उन्होंने विशेष अभिनिवेश से किया है। रीतिमुक्त काव्य धारा के कवियों में यह असाधारण विस्तार से वर्णित है। रसखान और द्विजदेव में यह अपेक्षाकृत कम है, आलम और ठाकुर में विशेष तथा बोधा और घनआनंद में तो असाधारण रूप से अधिक। अंतिम दो कवियों के काव्य से यदि विरह बहिर्गत कर दिया जाय तो फिर उनके काव्य में देखने लायक कुछ रह जायगा इसमें संदेह है। हमारे कहने का आशय यह है कि स्वच्छन्द कवियों में वियोग-भावना की प्रधानता या आतिशय्या है। यह अतिशय्य दो कारणों से है। एक तो यह कि इनका प्रेम इनके अंतःकरण से निकला हुआ आवेग है, रीतिबद्धों की तरह आरोपित नहीं। दूसरे इनमें से प्रत्येक ने स्वानुभव द्वारा यह निष्कर्ष कर लिया था कि विरह ही सच्चा प्रेम है। जिसने विरह-व्यथा का अनुभव नहीं किया वह प्रेम-पंथ का सच्चा पथिक नहीं। हृदय और बुद्धि दोनों से वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इनमें से प्रत्येक के निजी जीवन में जिस प्रेम का दीपक जला वह कालान्तर में गुल हो गया। आगत अंधकार में पुराना प्रकाश ही पाथेय रहा और उसी की पुनर्प्राप्ति में इन कवियों ने अपना जीवन होम कर दिया। प्रकाश रूप प्रिय फिर मिला या नहीं और यदि मिला तो किस रूप में यह तो हर एक के जीवन की व्यक्तिगत बात है और इसी कारण उपलब्धि के भिन्न-भिन्न रूप मिलेंगे पर इतना सच है कि विरह सबने झेला, उसकी आँच में सब तपे और इसीलिए शृंगार-काल में इन वियोग-भोक्ताओं और अनुभावकों का काव्य प्रेम की सच्ची कांति से दीप्त है। विरह का ताप जिसने जितना सहा है उसका काव्य उतना ही उन्नत हुआ है। इस काल के कवियों को परखने के लिए मैं साहसपूर्वक यह कसौटी आपके सामने रखना चाहता हूँ और मुझे इस दृष्टि से घनआनंद और बोधा श्रेष्ठतर लगते हैं। विरह की तड़प उनमें जितनी है औरों में

---

[1]देखिये वही पृ० ३८

फारसी उर्दू का यह प्रभाव प्रेम-विषमता के अतिरिक्त शृंगार के अंतर्गत वीभत्स व्यापारों के विधान में भी दिखाई पड़ता है जैसे बिहारी और रसनिधि की कविता में।

नहीं इसीलिए उनके काव्यों में जो भंगिमा और प्रभाव की तीव्रता है वह औरों में उतनी नहीं। मैं रसखान, आलम, ठाकुर और द्विजदेव के महत्व को कम नहीं कर रहा। लक्ष्य मात्र इतना ही है कि इस दृष्टि विशेष से देखने पर इनकी अपेक्षा बोधा और घनआनंद में अधिक रमणीयता है।

यह कोई संयोग की बात नहीं कि इन कवियों में लगभग समान रूप से विरह का आधिक्य मिलता है। यह उनकी जीवनार्जित धारणा है, सच्चे प्रेम से उत्पन्न निष्ठा है जो विश्व के महाकवियों द्वारा स्वीकृत निष्ठा के मेल में है। कविवर शेली ने कहा था कि हमारे मधुरतम गीत वे हैं जिनमें करुणतम भावनाएँ प्रतिबिंबित होती हैं (Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts) और महाकवि भवभूति ने भी दुखोद्रेक-मूलक वृत्ति को काव्य की मूल वृत्ति माना था। 'एको रसः करुण एव निमित्त भेदात् भिन्न पृथक् पृथगिवश्रयते विवर्तान्। आवर्त बुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्भो यथा सलिलमेव तुतत्स-मस्तम्॥' ये कवि भी मानते थे कि सच्चे प्रेमी की मूल स्थिति संयोग नहीं अपितु वियोग ही है। संयोग समस्त कामनाओं की परिसमाप्ति है। वियोग ही चिरंतन कामना है। जीवन का आनंद तृप्ति में नहीं, तृषा में है। जितनी तृषातुरता होगी प्रेम उतना ही दिव्य, भव्य और परिपक्व होगा। प्रेम के इसी आदर्श को गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्वीकार किया था। उनका मत तो यह था कि चातक जो वर्ष भर में सिर्फ एक बार स्वाति नक्षत्र का एक बूँद जल पीकर तृप्त हो जाता है उसे वह भी न पीना चाहिये क्योंकि प्रेम की तृषा का बढ़ना ही भला; तृप्ति पाकर तृषा के कम होने में प्रेमी की मान-मर्यादा कम होती है—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली बाटे घटैगी कानि॥

सिद्धान्त रूप में रीतिमुक्त बहुत कुछ इसी ढंग से सोचा करते थे। अपने जीवन के विचारशील क्षणों में जब उद्वेग का ज्वार शांत हो जाया करता था वे अपनी विरह की उद्विग्न कर देने वाली स्थिति से समझौता कर सके थे—

'जाहि जो जाके हितू ने दई वह छोड़े बनै नहीं ओढ़ने आवत।' (बोधा)

प्रिय का दिया हुआ विरह उन्हें शिरोधार्य था। महत सुख प्राप्त करने के लिए महत दुख झेलना ही पड़ता है। यह संसार का नियम है—

'चाहिये सुख तो लहिये दुख को इगवार पयोनिधि में बहिये। (बोधा)

घनआनंद की विरहिणी भी अपनी विरह-व्यथा-व्यग्र स्थिति में पूर्णतः संतुष्ट है जिस विरह में पड़ कर सोना ऐसा सोना नहीं और न जागने ऐसा जागना। संसार का कौन-सा संताप है जो विरहिणी को नहीं झेलना पड़ता फिर भी वह अपने मन को समझाती है—

'तेरे बाँटे आयो है अँगारनि पै लोटिबो।'

अपनी दुरवस्था का दोष वह अपने प्रिय के मत्थे नहीं मढ़ती, यह तो भाग्य की बात है —

'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कैसे उराहनो दीजिये जू।' (घनआनँद)

प्रेम के लिये ये लोग बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार हैं—

जो विशेष जग माहिं एक बेर मरने परै।
तो हित तजिये नाहिं इश्क सहित मरिबो भलो ।। (बोधा)

व्यथा और पीड़ा अपनी निरंतरता के कारण इन प्रेमियों के जीवन का एक स्थायी तत्व हो गई है। सुख की कामना में जिधर चलते हैं उधर सुख चाहे न मिले दुःख को इनसे इतना लगाव हो गया है कि वह अवश्य मिलेगा—

दिशि जेहि चल्यौ सुख चित चाय। तित दरद सनेही मिलत आय ।। (बोधा)

पीड़ा को इनसे स्नेह हो गया है, इन्हें पीड़ा से। ऐसी प्यारी पीड़ा को भला ये क्योंकर छोड़ने लगे। यह वियोग, यह व्यथा इनके जीवन में इस कदर घुल-मिल गई थी कि वह इन्हें छोड़ती न थी। ये भी उसे छोड़ कर सुखी न रह सकते थे इसीलिए इन्हें अपनी व्यथा और तड़पन पर बहुत गर्व भी है। संसार के प्रसिद्ध प्रेमियों मीन और शलभ के प्रेम का ये तिरस्कार करते हैं क्योंकि इन प्रेमियों में वह साहस और सहिष्णुता कहाँ जो सच्चे प्रेमी में होनी चाहिये। प्रेम की रीति नहीं समझते; प्रेम में जलना होता है और तड़पना होता है और जलते-तड़पते जीना होता है। ये प्रेमी तो कायर हैं और असहनशील हैं जो ज्वाला और तड़पन से भयभीत हो अपने प्राण ही विसर्जित कर देते हैं।[1] मृत्यु का अर्थ है दुखों की समाप्ति, तात्पर्य यह हुआ कि मीन और पतंग बिछुड़न की व्यथा न सह सकने के कारण मृत्यु का वरण कर लेते हैं पर घनआनंद और बोधा सरीखे प्रेमी साहसपूर्वक जीवित रहते हैं और प्रणय की पीड़ा सहते हैं जिसे

---

[1] हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समाने।
नीर सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीन के पानि परे को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै ।। (घनआनन्द)

मरिबो विसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज त चितवै बरसै ।।
घन आनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरे मिलें मीन पतंग दसा कहा मो जिय की गति कों परसै ।। (घनानंद)

देखकर प्रिय का कठोर हृदय भी पिघल उठता है। अपनी वेदना सहने की इस शक्ति पर इन्हें नाज भी कम नहीं—

आसा गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती
पूरे पन-सिंधु मैं न बूड़त सकायहौं।
दुख दव हिय जारि अंतर उदेग आँच
रोम रोम त्रासनि निरंतर नचायहौं॥
लाख लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि
साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं।
ऐसे घन आनन्द गही है टेक मन माहिं
एरे निरदई तोहि दया उपजायहौं॥ (घनानन्द)

यह ललकार रत्नाकर की गोपिका की इस ललकार से मिलती-जुलती है—

नेम व्रत संजम के आसन अखंड लाइ
साँसनि कौ घूँटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ।
कहै रतनाकर धरैंगी मृगछाला अरु
धूरि हू दरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ।
पाँच आँचि हू की झार झेलिहैं निहारि जाहि
रावरौ हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कह देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ॥ (रत्नाकर)

प्रेम और प्रेमी की महत्ता प्रेम-व्यथा के सहन करने में है उससे डर कर मृत्यु का वरण करने में नहीं।

सूफी शायरों के प्रेम की पीर तथा फारसी कवियों की वेदना विवृत्ति का प्रभाव—स्वच्छंद कवियों का प्रेमविषयक दृष्टिकोण ऐसा पीड़ा-परक था कि 'प्रेम की पीर' इनके काव्य में उमड़ पड़ी है। पहले भी कहा जा चुका है कि स्वच्छंद कवियों को प्रेमकथा सूफियों के 'प्रेम की पीर' का प्रभाव है तथा फारसी शायरी की परंपरा का भी जो उस युग में मुगल राजदरबारों में चल रही थी। बोधा पर तो यह प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है, घन आनंद पर भी। इन प्रभावों की चर्चा भी पहले की जा चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि घनआनन्द और रसखान ने सूफी प्रभाव को बड़े निजी ढंग से अपनाया है, हाँ बोधा ने उसे जरूर बिना आत्मसात किये हुए स्वीकार किया है। उन्होंने लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम की प्राप्ति की बात का ढिंढोरा तो बार-बार पीटा है—

(क) इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।

(ख) इश्क हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न पाया।

(ग) सुन सुभान यह इश्क मजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिल राजी।।

परंतु प्रेम-पंथ की जो गंभीरता है उसे बोधा सँभाल नहीं पाए हैं। उनकी प्रेम-वर्णना शुद्ध लौकिक है। वासना-प्रवणता भी उनके समान औरों में नहीं। वे तो मजाजी इश्क (लौकिक प्रेम) में ही अटक कर रह गए, हकीकी इश्क तक वे पहुँच नहीं सके। रसखान और घन आनन्द जरूर उस उच्चतर सोपान पर पहुँच गए थे जिसे अलौकिक प्रेम या इश्क हकीकी कहा गया है पर उन्होंने इसकी डुग्गी न पीटी थी। बोधा के सदृश स्पष्ट रूप से इस सूफी आदर्श का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। उनका यह भाव कृष्ण-प्रेम या कृष्ण-भक्ति के आवरण में छिप गया है। बाहरी या विदेशी प्रभाव आत्मसात होकर काव्य में आया है। बोधा सूफी प्रेमादर्शों को अपना निजी रंग न दे सके। स्वच्छंद धारा के प्रतिष्ठित समीक्षकों पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डा० मनोहरलाल गौड़ ने भी स्वच्छंद कवियों में वियोग की प्रधानता का कारण सूफी काव्य धारा और समसामयिक फारसी काव्यधारा का प्रभाव माना है। मिश्र जी कहते हैं कि स्वच्छंद कवियों में सामान्यतः तो लौकिक प्रेम का वर्णन हुआ है जो फारसी काव्य की वेदना-विवृति से प्रभावित है तथा जहाँ अलौकिक प्रणय-भावना का वर्णन हुआ है वहाँ वह सूफियों के प्रेम की पीर से। 'प्रेम की पीर' सूफी कवियों का प्रतिपाद्य विषय है। स्वच्छन्द कवियों ने भी 'प्रेम की पीर' को सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया है फलतः यह 'प्रेम की पीर' सूफियों से ही आई है। सूफियों का विरह-वर्णन प्रसिद्ध है। जायसी के पद्मावत में यह प्रेम की पीर प्रतिपादित हुई है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार संत या साधक या प्रेमी सारी सृष्टि में विरह के दर्शन करता है, समग्र सृष्टि को विरह के बाणों से विद्ध मानता है; समूची सृष्टि परमात्मा के विरह में उसे पीड़ित प्रतीत होती है। सूफियों की यही विरह-भावना और प्रेम को पीर, स्वच्छन्द कवियों ने फारसी काव्य की वेदना की विवृति के साथ ग्रहण किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में भी वियोग का आधिक्य आ गया है।[1] डा० गौड़ ने भी स्वच्छंद कवियों पर सूफी प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'सूफियों का विरह मानव मात्र के चित्त में ही सीमित न रह कर समस्त प्रकृति में व्याप्त हो जाता है। दूसरे उस विरह में रहस्य भावना का अंश भी रहता है। घन आनन्द के विरह में वह व्याप्ति तो नहीं पर रहस्य भावना की झलक कहीं-कहीं अवश्य आ गई है जो सूफियों से मिलती है।'[2] सूफी और फारसी कवि दोनों ही वियोग को प्रमुखता देते हैं। सूफियों

१. घनआनन्द ग्रन्थावली, वाङ्मुख पृ०४०-४१)

२. घनआनन्द और स्वच्छन्द काव्य धारा : पृ० २६१

का वियोग तो उनकी निष्ठा है। यह विरह शाश्वत है। कभी-कभी चेतनावस्था में क्षण भर के लिये संयोग सुख मिलता है। फारसी के कवि भी प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता दिखाने के लिये प्रिय को कठोर तथा निर्मोह दिखाते हैं। इसलिए विरह की प्रधानता आ जाती है। स्वच्छन्द धारा के कवियों ने विशेषतः घनआनन्द ने फारसी काव्य पद्धति से प्रिय की कठोरता और सूफी कवियों से प्रेम की पीर की प्रेरणा ली है। फलतः उनकी रचनाओं में वियोग का प्राधान्य स्वाभाविक है। इस प्रकार स्वच्छन्द कवियों का प्रेम-वर्णन निश्चय ही एक सीमा तक सूफी कवियों की प्रेम-भावना से प्रभावित है। सूफी कवियों द्वारा वर्णित प्रेम की पीर का प्रभाव बड़ा व्यापक था। वह कबीर आदि निर्गुण ज्ञानमार्गियों और कृष्ण-भक्त कवियों तक पर पड़ा। नागरीदास (सावन्तसिंह) कुन्दनशाह आदि में यो यह प्रेम की पीर इस रूप में आई है कि उसका विदेशीपन साफ झलकता है।[१] सूफियों की प्रेमभावना की मूल विशेषता है लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचना, इश्क मजाजी द्वारा इश्क हकीकी की उपलब्धि। प्रेमगति यह सूफी सिद्धान्त घनआनन्द, रसखान और बोधा में विशेष मिलेगा। घनआनन्द और रसखान का जीवनगत लौकिक प्रेम उत्कर्ष प्राप्त कर अलौकिक प्रेम में पर्यवसित हो गया था। सूफियों का यह प्रेम सिद्धान्त बोधा के जीवन में तो घटित नहीं हुआ किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित अवश्य हुआ है—'इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।' बोधा की भाषा-शैली और भावना पर अवश्य यह प्रभाव एक सीमा तक स्पष्ट है। प्रेम के उक्त सिद्धान्त को रसखान और घन आनन्द ने बहुत ही निजी ढंग से कह है रसखान ने कहा है—यह बात गाँठ बाँध लेने की है कि संसार में प्रेम के बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता, प्रेम चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक—

आनन्द अनुभव होता नहिं बिना प्रेम जगजान।
कै वह विषयानंद कै ब्रह्मानन्द बखान ॥

इसी आशय को घनआनंद यों व्यक्त करते हैं—

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै, विचार
बापुरो हहरि बार ही तें फिर आयौ है।
ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यौ कन,
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।

---

१. घनआनन्द ग्रन्थावली : वाङ्मुख पृ० १४

सोई घन आनंद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है ।।

प्रेम के अपार महासागर में राधा और कृष्ण अहर्निश एकरस क्रीड़ा करते रहते हैं। उनके प्रेमानन्द की एक चञ्चल लहर से समग्र विश्व प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है और उसी प्रेम-तरंग के एक कण से घनआनन्द के हृदय में सुजान के प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग आ गया है। इस प्रकार घनआनन्द और सुजान का लौकिक या मजाजी प्रेम राधा और कृष्ण के अलौकिक या हकीकी प्रेम का एक कण मात्र है। वही सूफी प्रेम तत्व है पर कितने निजीपन के साथ कहा गया है, कितने आत्मसात रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

दूसरा प्रभाव फारसी काव्य की वेदना विवृति का है। घनआनन्द ने 'इश्क-लता', 'वियोग बेलि' आदि फारसी की शैली पर ही लिखी है। उपर्युक्त विवेचन से अब यह बात निश्चित हो जाती है कि स्वच्छन्द कवि सूफी प्रेम-पीर और फारसी कवियों की विरह व्यंजना प्रणाली से प्रभावित थे। इन कवियों पर फारसी भाषा-शैली का प्रभाव दिखाने के लिए संप्रति दो उदाहरण काफी हैं—

नशा कधी न खाते हैं। आचे हम इश्क मद माते हैं।।
गये थे बाग के ताईं। उतै वे छोकरी आईं।।
उन्हीं जादू कछू कीन्हा। हमारा दिल कैद कर लीन्हा।।
अचानक भया भटभेरा। उन्होंने चरम टुकफेरा।।
कलेजा छेद कर ज्यादा। भया मन मारु में सादा।।
इश्क दिलदार सों लागा। हमने दिलदर्द अनुरागा।।
(बोधा : बिरह बारीश)

याराँ गोकुलचन्द सलोने दिया चस्म दा धक्का है।
ढोरि दिया घनआनंद जानी हुसन सराबी पक्का है।
सैन-कटारी आसिक-उर पर तैं यारां झुक झारी है।
महर-लहर ब्रजचंद यार दी जिंद असाडा न्यारी है।।
(घन आनंद : इश्कलता)

विरह वर्णन : रीतिबद्ध कवियों से भिन्न—प्रेम के क्षेत्र में वियोग संबंधी अपनी विशिष्ट धारणा के कारण स्वच्छन्द कवियों का विरह-वर्णन रीतिबद्ध कवियों से भिन्न है। इस भिन्नता का पहला कारण तो आभ्यांतरिकता या अनुभूति-प्रवणता ही है। रीतिमुक्त कवि जहाँ अपनी व्यथा का निवेदन करते हैं वहाँ रीतिबद्ध कवि पराई व्यथा का। किसी की कल्पित या आरोपित व्यथा का राधा आदि की, व्यथा का निवेदन करते हैं। वह पीड़ा जिसे कवि अपने ही हृदय में अनुभव करता है

उस पीड़ा से कहीं तीव्र हुआ करती है जिसका उदय दूसरे के हृदय में होता है किन्तु कल्पना और सहानुभूति द्वारा कवि जिसे अपने मन में उतारता है। यही अन्तर इन दोनों प्रकार की व्यथाओं की अभिव्यक्ति में भी मिलेगा। रीतिबद्ध कवियों की व्यथा आरोपित हुआ करती थी, रीतिमुक्तों की स्वानुभूत।

दूसरी बात यह है कि रीतिमुक्त कवि अपनी व्यथा का निवेदन स्वयं किया करते थे जबकि रीतिबद्ध कवि की कल्पित व्यथा का निवेदन अधिकतर सखी, सखा या दूती आदि किया करते थे। इसके कारण भी अभिव्यक्ति अथवा भावना की तीव्रता में बड़ा अंतर आ जाया करता है। विरह-व्यथा के पारंपरिक अथवा परंपरामुक्त निवेदनों को आमने-सामने रखकर यह अंतर सहज ही देखा जा सकता है। बोधा और घनआनंद के विरह के उद्‌गारों की आंतरिक टीस और व्यथा को समकक्षता विहारी, देव, मतिराम और पद्‌माकर के दूतियों के कथनों में नहीं ढूँढ़ी जा सकती। मन, प्राण और आत्मा की वह बेचैनी जो घनआनंद के इस सवैये में व्यक्त हुई है रीतिबद्ध कलाकारों के बस की बात नहीं—

> अंतर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं की अभागनि भीरौं।
> आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं॥
> जौ घन आनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानन्नि पीरौं।
> पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी में धसौं कि अकासहिं चीरौं॥

रीतिबद्ध कवियों के नायक-नायिका कुटुंब और गाँव की मर्यादाओं में बँधे थे इसलिए उनके हर्ष और विषाद लुका-छिपी करते रहते थे। स्वच्छन्द कवियों ने खुद प्रेम किया था और विरह की वेदना सही थी। उन्हें किन्हीं मर्यादाओं की परवाह न थी। उनका जीवन ही प्रेम के लिए उत्सर्ग हो चुका था फलतः मनोवेगों का अकुंठ प्रवाह उनकी लेखनी से संभव हुआ है। इसी कारण उनके विरह की तीव्रता और कवि नहीं पा सके हैं। बोधा और घनआनंद की विरह-व्यंजना में जितनी और जैसी व्यथा है उसके लिए उनका काव्य ही प्रमाण है—

> (क) ऊतर सँदेसो मिलें मेल मानि लीजत हो
> ताहू को अँदेसो अब रह्यो उर पूरि कै।
> उठी वै उदेग आगि जीजै कौन आस लागि,
> रोम रोम परि पागि डारी चिंता चूरि कै॥
> निपट कठोर कियौ हियो मोह मेटि दियौ,
> जान प्यारे नेरे जाय मारौ किंत दूरि कै।
> तरफौं बिसूरि कै बिथा न टरै सूरि कै,
> उड़ायहौं सरीरै घनआनँद यौं धूरि कै॥

(ख) लपति बुझावन आनँदघन जान बिन
होरी सी हमारे हिये लगियै रहति है।

(ग) अंतर आँच उसाँस तचै अति अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौ कहलाय मसोसनि ऊमस क्यौहूं कहूँ सुधरै नहि थ्यावस ॥

(घनानंद)

(घ) रोवत बाल बिरह मदमाती। ताके रोवत विरह न छाती ॥
अब कहु सखी करौं मैं कैसी। भई दशा माधो की ऐसी ॥
गिरी ते गिरौं मरौं विष खाई। तनु तजि मिलौं माधवै जाई ॥
मरौं मिटै दुख मेरो प्यारी। कैसेहू प्राण कढ़ै इहिं बारी ॥

(बोधा)

(थ) बोधा कवि भवन में कैसेहू रह्यो न जाय
बिरह दवागि ते न जायो जाय बन को।
शरद निसा में चन्द निश्चर ऐसो ताकी
चाँदनी चुरैल सो चबाए लेत तन को ॥ (बोधा)

(ङ) बरुनीन में नैन झुकैं उझकैं मनौ खंजन प्रेम के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिए निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे ॥

(ठाकुर)

विरह-वर्णनसंबंधी तीसरी विशेषता जो इन कवियों में जगह-जगह पाई जाती है वह यह कि अनेक बार इन्होंने अपनी व्यथा को मौन में छिपा रक्खा है। लोक में यह उक्ति प्रसिद्ध भी है कि अक्सर खामोशी भी बड़ी व्यंजक हुआ करती है (Silence is the best eloquence)। इन कवियों ने भी अनेक बार कुछ न कहकर बहुत कह दिया है, उस मौन में भी इनकी पीड़ा फूट कर ही रही है। इनके हृदय में बार-बार यह बात आई है कि अपने मन की व्यथा मन में ही रक्खी जाय। बार-बार व्यथा इनके मन ही मन घुटती रही है और ये व्यथा में घुटते रहे हैं—

(क) कहिए सुख मौन भई सो भई अपनी करी काहू सों का कहिए। (बोधा)
(ख) आवत है मुख लौं बढ़ि कै पुनि पीर रहै हिय ही में समाई कै। (बोधा)
(ग) मुँदते ही बनै कहते न बनै तन में यह पीर पिरैबो करैं। (बोधा)
(घ) पहिचानै हरि कौन मो से अनपहचान कों।
त्यौं पुकार मधि मौन। कृपा-कान मधि नैन ज्यौं ॥ (घनआनन्द)

चौथी विशेषता इनके वियोग-वर्णन में ऊहात्मकता या दूरारूढ़ कल्पना का अभाव है, इसके मूल कारण का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनकी अभिव्यक्ति अंतःप्रेरित रही है इसी कारण भावुकता से असंपृक्त उक्तियों का विधान इनमें बहुत कम मिलता है। रीतिकारों की-सी विरह संबंधिनी उपहासास्पद उक्तियाँ इन कवियों में अपवाद स्वरूप ही मिलेंगी। स्वच्छंद काव्य के विरहियों के गाँव में माघ महीने की रात्रि में विरह-ताप-जन्य ऐसी लूयें नहीं चलतीं जिसमें सखियों को गीले कपड़े ओढ़कर नायिका के पास जाना पड़ता हो। ये विरही ऐसी आहें नहीं भरते जिससे इनका विरह-दुर्बल गात्र साँस लेने और छोड़ने में छ-सात हाथ पीछे या आगे हट-बढ़ जाता हो। इनका देह विरह में ऐसी भट्टी नहीं बनने पाया है जिसके ऊपर गुलाब जल की भरी शीशी उलट दी जाने पर भी गुलाब जल मात्र भाप के ही रूप में दिखाई देता हो तथा जुगनुओं को देखकर इन विरहियों को अग्नि-वर्षा का भ्रम नहीं होता। विरह-ताप की ऐसी अनूठी नाप-जोख ये कवि नहीं कर सके क्योंकि इनका विरह सच्चा था, निजी था, भुक्तभोगी का कथन था। आलम की निम्नलिखित युक्ति अथवा ऐसी कुछ उक्तियाँ स्वच्छंद धारा की वियोगमूलक काव्य राशि में अपवाद स्वरूप ही मिलेंगी—

अब कत पर घर माँगन है जाति आगि,
आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झारि लै।
साँझ भई भौन सँझबाती क्यौं न देती है री,
छाती सों छुवाय दिया बाती आनि बारि लै ॥

आलम की यह युक्ति कि साँझ हो गई है और दिया जलाने के लिए आग नहीं मिलती तब विरहिणी कहती है अपनी सखी से कि देख मेरा यह हृदय विरह के कारण जल रहा है, दिया बत्ती ले आ और मेरी छाती से उसे छुआ कर जला ले। उक्ति-चमत्कार की यह कल्पना समसामयिक रीतिवद्ध काव्य और फारसी उर्दू की अतिशयोक्ति प्रधान शैली के प्रभाव स्वरूप अथवा प्रतिस्पर्धा में की गई जान पड़ती है। स्वच्छन्द कवियों में ऐसी भाव-विच्छिन्न कल्पना बहुत कम मिलेगी। उसका कारण यही है कि इन कवियों ने हृदय की सच्ची व्यथा को मुखर किया है।

आभ्यांतरिक और हृदय-प्रसूत होने के कारण इनका विरह-वर्णन रीति ग्रंथों में कथित शास्त्रीय पद्धति पर नहीं हुआ है, उसमें विरह के नाना भेदोपभेदों (अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या हेतुक, विरह हेतुक, प्रवास हेतुक, शाप हेतुक और मान हेतुक) तथा विभिन्न स्थितियों और कामदशाओं (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मृति) का बँधा बँधाया स्वरूप देखने को नहीं मिलता। ये भेद और कामदशाएँ इनके काव्य में ढूँढ़ी तो जा सकती हैं किन्तु शास्त्रोक्त योजना-

नुसार ये स्वच्छंद कवि चले नहीं हैं, चल सकते नहीं थे। ऐसा हो भी कैसे सकता था जब ये अंतर्व्यथा के आवेग में रचना किया करते थे।

इनकी वियोगव्यथा की व्याप्ति और निरंतरता का तो पूछना ही क्या! जीवन का कोई क्षण ऐसा न होता था जब बेचैनी न रहती हो। स्वच्छन्द धारा के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि घनआनंद की तो कम से कम यही स्थिति थी, बोधा का विरह भी बहुत कुछ इसी कोटि का था। विरही घनआनंद को तो रात-दिन चैन न थी—

रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैये, भाग
आपने ही ऐसे दोस काहि धौं लगाइयै।

प्रिय की मनमोहिनी मूर्ति अपनी नाना छबियों के साथ रात-दिन सामने खड़ी रहती थी—

'निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छबि रंग भरी मुरि चाहनि की,

यह छबि मन की आँखों के सामने तो सतत विद्यमान रहती थी पर तन की आँखें उसके लिए सदा तरसती रहती थीं, उसकी एक झलक भी नसीब न होती थी—

घन आनन्द जीवन मूल सुजान की कौंधनि हू न कहूँ दरसै'

इस प्रकार इनकी वियोग व्यथा विरह में तो सताती ही रहती थी संयोग में भी पीछा न छोड़ती थी—

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारन ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घन आनन्द आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति॥

वियोग तो वियोग ही था उसका खटका संयोग से भी लगा रहता था कि कहीं वियोग न हो जाय—

अनोखी हिलग दैया बिछुर्‌यो पै मिल्यौ चाहै,
मिले हू पै मारै जारै खरक बिछोह की।

औरों के लिए भले अचरज की बात हो पर सच तो यह था कि इनका हृदय वियोग सहते-सहते विरह का इतना अभ्यस्त हो चला था कि संयोग की सुखद स्थिति में भी चैन नहीं मिलने पाता था—

कहा कहिये सजनी रजनीगति, चन्द कढ़ै कि जियै गहि काढ़ै।
अमीनिधि पै विष-सार स्रवै, हिम जोति जगाय कै अंगनि डाढै॥
सु या पति संग न जानति है घन आनंद जान बियोग की गाढ़ै।
बियोग में बैरनि बाढ़ति जैसो, कछू न घटै, जु सँजोग हूँ बाढ़ै॥

यह कैसो सँजोग न जानि परै जु बियोग न क्यौं हूँ बिछोहत है।

ऐसी दारुण स्थिति थी कि संयोग में भी वियोग से वियोग नहीं होने पाता था—

दिशि जेहि चल्यो सुख चित्त चाय। तित दरद सनेही मिलत आय ॥
(बोधा)

विरह की आँच में तप कर इन प्रेमियों का प्रेम पवित्र हो गया था। इनकी वृत्तियाँ उदात्त हो गई थीं, अनेक कवि तो भगवदोन्मुख भी हो चले थे। मन की वासनाओं का संस्कार हो चला था। वियोग इन्हें प्रेम के उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठापना में सहायक हो सका था। वासना और कामुकता के निर्बन्ध उद्‌गार केवल बोधा में मिलेंगे, कहीं-कहीं आलम में, शेष कवियों की कृतियाँ तो पवित्र प्रेम की व्यजनाएँ हैं। उन्होंने शरीर सुख की कामना नहीं की। मात्र मिलन और सान्निध्य की अभिलाषा व्यक्त की है विगत घटनाओं की स्मृति की है प्रिय के लाख-लाख गुणों का स्मरण उसकी सांप्रतिक अवहेलना पर उपालंभ तथा लक्ष विधि आत्म निवेदन। प्रणय की ऐसी दिव्य और तीव्र अनुभूतियों को उन्होंने वासना से पंकिल नहीं होने दिया है। प्रेम की व्यथा जरूर व्यक्त की है पर वासना से मुक्त और दिव्य प्रेम की आभा से मंडित—

(१) जब ते सुजान प्रान प्यारे पुतरीनि तारे,
आँखिन बसे हौ सब सूनो जग जोहियै।

(२) जब तें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
तब तें गही है उर आन देखिबे की आन।
रस भीजे बैननि लुभाय कै रचे हैं तहीं'
मधु-मकरन्द-सुधा नाबौ न सुनत कान ॥
प्रान प्यारो न्यारो घनआनन्द गुननि कथा
रसना रसीली निसिबासर करत गान।
अंग अंग मेरे उनही के संग रंग रँगे,
मन सिंघासन पै बिराजै तिन ही को ध्यान ॥ (घनआनंद)

इनके विरह वर्णनों में आसक्ति की तीव्रता है इसी से इनका प्रणय इतना प्रगाढ़ है। एक ओर तो वासना का तिरस्कार दूसरी ओर रीझ या आसक्ति का आतिशय्य। इसी रीझ के हाथ में बिके हुए हैं—

दौरी फिरै न रहै घन आनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै।

आसक्ति जितनी तीव्र होगी अप्राप्ति में प्रिय प्राप्ति की लालसा उतनी ही बलवती। यही कारण है कि ये कवि विरह का आत्यंतिक चित्रण कर सके हैं। इनकी आसक्ति और तज्जन्य विरह कोरी बुद्धि की उपज न थी, वह सब इनके हृदय द्वारा अनुभूत थी इसी से इनकी अभिव्यक्तियाँ भी इतनी मार्मिक हो सकी हैं। उनमें जो नवलता है वह

इसी हार्दिकता की लपेट के कारण। इन कवियों की व्यंजना-शैली में भी जो वैशिष्ट्य है वह इसी व्यक्तिनिष्ठता के कारण, प्रणय भावना की आंतरिकता के कारण।

इसी विरह प्रसंग में दो-एक और बातें भी प्रासंगिक रूप से निवेदनीय हैं। एक तो यह कि इन कवियों ने मात्र नारी के विरह का ही चित्रण नहीं किया है पुरुष के विरह का भी वर्णन किया है जैसा रीतिबद्ध काव्य में कम मिलता है। संभव है यह सूफी प्रभाव हो। बोधा ने माधवानल कामकंदला में 'माधव' का विरह स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक दिखलाया है। यही बात आलम के भी आख्यान में है और गोपी घनश्याम के व्याज से वर्णित सारा गोपी विरह मूलतः तो घनआनंद की स्वीय प्रीति-व्यथा की अभिव्यक्ति है। इसका कारण एक बड़ी हद तक स्वानुभूति का प्रकाशन भी है। दूसरी बात यह है कि प्रबंध की धारा में कथा की आवश्यकता के अनुसार जगह-जगह भिन्न-भिन्न स्थितियों में विरह का जो वर्णन किया गया है, विशेषतः अपने आख्यानों में बोधा और आलम के द्वारा, उसका स्वरूप भी पर्याप्त गंभीर है। मैं समझता हूँ कथाकाव्यों में परिस्थिति के संघात से विरह की वर्णना विशेष चमत्कार-पूर्ण और प्रभावोत्पादक हो जाती है। विरह-चित्रण की यह गंभीरता और सुन्दरता बोधा के काव्य में सर्वोत्कृष्ट रूप में सुलभ है। मुक्तकों में भाव की वह गंभीरता इतनी सरलता से नहीं लाई जा सकती जो पूर्वा-पर संबंधों से युक्त प्रबन्ध काव्यों में सहज विन्यस्त हो सकती है। तीसरी उल्लेख्य बात यह है कि जगह-जगह विरह का चित्रण करते हुए इन कवियों ने उस विरहोन्माद का भी चित्रण किया है जो हमें परंपरा से प्राप्त रहा है जिसमें पड़ कर ये विरही जड़-चेतन का भेद भूल जाते हैं तथा कभी वृक्षों से, कभी लताओं से, कभी पक्षियों से अपने प्रिय का समाचार पूछते हैं और कभी वायु से अथवा मेघ से अपनी व्यथा का निवेदन करते हैं और उसे प्रिय तक पहुँचाने का आग्रह भी। चौथी बात यह है कि ये कवि भी आवश्यकतानुसार ऋतुओं और प्रकृति की परिवर्तनशीलता में विरह के उत्तेजित स्वरूप का चित्रण परंपरानुमोदित रूप में कर गए हैं। नियमित रूप से रीतिकारों की भाँति तो षड्ऋतु वर्णन किसी ने नहीं किया है पर वर्षा और वसंत ऐसी ऋतुओं में विरह की स्थिति का चित्रण अवश्य हुआ है। बारहमासा तो बोधा ने ही लिखा है।

रहस्यदर्शिता का अनुभव—स्वच्छन्द कवियों का काव्य रहस्यात्मक नहीं क्योंकि उसमें वर्णित प्रेम मूलतः लौकिक प्रेम है। कभी-कभी ऐसा अवश्य हुआ है कि लोक में प्रेम की असफलता प्राप्त होने पर वही वृत्ति भगवदोन्मुख हो गई है। वह प्रेम-वृत्ति ईश्वर के सगुण रूप श्री कृष्ण में समा गई है। यदि निर्गुण निराकार के प्रति वह आसक्ति निवेदित की गई होती तो रहस्यमयता के लिए गुंजाइश भी होती। सूफियों का रहस्यवाद प्रसिद्ध है। इन पर सूफियों का प्रभाव था फिर भी ये रहस्य-

वादी न बन सके। घनआनंद आदि में कहीं रहस्यात्मकता की झलक मिलती है उदाहरण के लिए इस प्रकार के दो-चार कथनों में—

> मन जैसें कछू तुम्हें चाहत है सु बखानियै कैसें सुजान ही हौ।
> इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगियै नित लौ॥
> बुधि औ सुधि नैननि बैननि मैं करि बास निरंतर अंतर गौ।
> उघरौ जग छाय रहे घन आनँद चातिक त्यौं तकियै अब तौ॥

अंतर हौं किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं....आदि।
परन्तु वह इन कवियों की स्थायी वृत्ति कभी नहीं रही। काव्य के क्षेत्र में रहस्य-भावना का प्रसार और विस्तार निर्गुण को स्वीकार करके चलने में संभव होता है किन्तु स्वच्छन्द कवियों ने विरह-वर्णन के लिए गोपी-कृष्ण के प्रेमवृत्त का सहारा लिया, कृष्ण को यदि ईश्वर के रूप में स्वीकार किया तो भी उनकी व्यक्त सत्ता के चिंतन और ध्यान में रहस्य-भावना, गुह्य या गोप्य का ध्यान और चिंतन के लिए अवकाश न था। फलस्वरूप उनका प्रेम या विरह-वर्णन रहस्यात्मक नहीं होने पाया है। गोपियों का विरह-निवेदन उन्होंने अत्यंत विशद रूप में किया है परन्तु सगुण स्वरूप वाले श्रीकृष्ण के संदर्भ में रहस्य दर्शन और गुह्य चिंतन के लिए गुंजाइश न थी। बात यह है कि रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मेल जितना अधिक निर्गुण साधना से बैठता है उतना अधिक सगुण साधना से नहीं। कहीं-कहीं जैसा कि उपर्युक्त अवतरणों से तथा अन्यत्र की गई विवेचनाओं एवं उदाहरणों से पता चलेगा रहस्य की झलक भर आ गई है। भारतीय भक्ति में यों भी रहस्यात्मकता का समावेश कभी नहीं रहा।[1] रहस्य की जो झलक यत्र-तत्र प्राप्त है उसे पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने फारसी साहित्य और सूफी साधना के प्रवाह से संबद्ध रूप में देखा है।[2] यह झलक घनआनंद, रसखान और बोधा तथा आलम में तो मिल सकती है क्योंकि इन पर थोड़ा बहुत सूफी प्रभाव था फिर भी यह झलक है बहुत ही कम। ठाकुर और द्विजदेव में तो रहस्य की झलक बिल्कुल ही न मिलेगी क्योंकि ये कवि शुद्ध भारतीय प्रेम पद्धति को लेकर चले हैं। इनकी प्रेम-भावना बिल्कुल भारतीय ढंग की है।

स्वच्छन्द कवि मूलतः भक्त नहीं प्रेमी थे—स्वच्छन्द धारा के कवियों की गणना भक्त कवियों में न की जाकर प्रेमी कवियों में की जायगी क्योंकि ये प्रेम की उमंग के कवि थे। घनआनंद ने निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षा ली थी। संप्रदाय

---

1. घनआनंद ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ० ४१
2. घनआनंद और स्वच्छंद काव्य धारा : परिचय, पृ० ६

विशेष की भक्ति अंगीकार करने तथा भक्तिपरक साहित्य की सर्जना करने के अनंतर भी वे प्रेमियों की मंडली के ही शोभा बने, साहित्य में वे 'प्रेम की पीर' के ही कवि रूप में बहुश्रुत हुए। आलम, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव शृंगार के ही कवि माने गए। कुछ छन्दों में किन्हीं देवी-देवताओं की स्तुति लिखने के कारण इन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता। सूर-तुलसी और मीरा की श्रेणी में इन्हें नहीं बिठाया जा सकता। रसखान उत्कट कृष्णानुराग के कारण अवश्य भक्तों में गिने जाते हैं परन्तु उनका भी चरम काम्य प्रेम ही रहा है। वे प्रेम की निर्बाध महिमा के गायक रहे हैं—

(क) प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नदनंद।
प्रेम बाटिका के दोऊ माली मालिन द्वंद ॥

(ख) प्रेम अगम अनुपम अमित सागर सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान ॥

(ग) शास्त्रनि पढ़ि पण्डित भए कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यौ नहीं कहा कियो रसखान ॥

(घ) जेहि पाये बैकुंठ अरु हरि हू की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ॥ (प्रेमवाटिका)

इस प्रकार रसखान भी प्रेम की महिमा का अखंड संकीर्तन करते हुए प्रेमियों के शिरमौर हो गए हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'जिस प्रकार ये रीति से अपने को स्वच्छन्द रखते थे उसी प्रकार भक्ति की सांप्रदायिक नीति से भी अतः ये भक्तिमार्गी कृष्ण भक्तों, प्रेममार्गी सूफियों, रीतिमार्गी कवियों—सबसे पृथक् स्वच्छन्दमार्गी प्रेमोन्मत्त गायक थे। कोई इन्हें इनकी भक्तिविषयक रचना के कारण भक्त कहता हो तो कहे, पर इतने व्यतिरेक के साथ कहे कि ये स्वच्छन्द प्रेममार्गी भक्त थे तो कोई बाधा नहीं है। स्वच्छन्दता इनका नित्य लक्षण है। यही कारण है कि इन्होंने काव्य-शैली की दृष्टि से भी भक्तों से प्रस्थानभेद सूचित किया।[३] रसखान के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है कि वे "आरंभ से ही बड़े प्रेमी जीव थे। प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जनसाधारण प्रेम या शृंगार संबंधी कवित्त-सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे। इनकी कृति परिमाण में तो बहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करने वाली है। दूसरे रसखान ने कृष्णभक्तों के समान गीति काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त सवैयों में अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है।"[४] ये कवि कृष्ण के साथ अन्यान्य देवी-देवताओं का नामो-

---

३. घनआनंद ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ॰ ४३

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ॰ १७७

ल्लेख, भजन या कीर्तन करते थे। कृष्ण का ही प्रधान रूप से उल्लेख इनके काव्यों में कृष्णभक्ति के कारण नहीं वरन् इसलिये कि उनसे अधिक प्रेमोपयुक्त पात्र अथवा प्रेम का देवता कोई दूसरा न था। रीतिमुक्त या रीतिबद्ध कवियों देव, दास, पद्माकर, बिहारी, सेनापति आदि ने भी विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति में छन्द रचना की है पर यह इनकी भक्ति का लक्षण नहीं। भगवद्भक्ति में सूर, तुलसी और मीरा की सी निमग्नता इनके काव्यों में नहीं। ये स्वच्छन्द कवि लौकिक प्रेम के पुजारी थे पर यह लौकिक प्रेम स्थूल भोगवासना प्रधान न होकर मानसिक और आंतरिक अधिक था। जहाँ-तहाँ स्थूल ऐन्द्रिकता भी थी, इसका निषेध नहीं किया जा सकता। कृष्ण लीला इनकी उस प्रेम व्यंजना के साधन रूप में स्वीकृत है, इनकी भक्ति का आधार नहीं। यह पहले ही बता चुके हैं कि इन कवियों का निजी जीवन ऐहिक प्रीति-रस से सिक्त था। सरल सादा प्रेम मार्ग जिसमें बुद्धि की चतुराई और वक्रता के लिए कोई गुंजाइश न थी इनका प्रिय मार्ग था —

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥ (घनआनंद)

ये उसी 'सयानप रहित' और 'अवक्र' मार्ग पर चलने वाले पथिक थे; हृदय का अर्पण ये जानते थे बुद्धि की चतुरता से भरी कतर-ब्यौंत से इनका वास्ता न था। ये हृदय को आगे करने वाले थे रीझ पर मरने वाले थे। बुद्धि की चातुरी इनकी सादगी पर पानी भरा करती थी—

रीझ सुजान सची पटरानी बची बुद्धि बापुरी ह्वै करि दासी। (घनआनंद)

स्वच्छन्द कवियों की रचनाओं के तीन स्थूल विभाग—स्वच्छन्द कवियों की समस्त रचनाओं के मोटे तौर से तीन खंड किये जा सकते हैं। ये खंड या विभाग रचनागत प्रवृत्ति की दृष्टि से हैं। पहले प्रकार की रचनाएँ वे हैं जो रीति से प्रभावित हैं जिसमें रीतिबद्ध रचना पद्धति की छाप है। यह छाप आलम और द्विजदेव की काव्य शैली पर विशेष है। इनकी वर्णन शैली, उपमान योजनाएँ आदि किसी सीमा तक रीतिबद्ध अथवा रीति सिद्धकर्ताओं के मेल में हैं। नेत्रों को लेकर बाँधी गई उक्तियाँ, खंडिता के कथन आदि जो इन तथा अन्य स्वच्छन्द कवियों में समान रूप से मिलते हैं रीति के प्रभाव के ही सूचक हैं हाँ विपरीत रति और सुरतांत के चित्र बोधा को छोड़ किसी ने नहीं प्रस्तुत किये। बोधा पर यह बाजारी प्रभाव विशेष था। नायिका-भेद किसी ने नहीं लिखा। खंडितादि के जो वर्णन हैं उनमें प्रिय के ऊपर प्रिया के संसर्ग अथवा रमण-चिह्नों का सविस्तार वर्णन कम, हृदय की भावनाओं का चित्रण विशेष है। नीचे एकाध उदाहरण देकर यह दिखाने का यत्न किया जा रहा है कि ये रचनाएँ किस प्रकार रीतिबद्धकर्ताओं की कृतियों के मेल में हैं—

(१) कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई ।
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे
कैधौं बकपाँति उत अन्तगति ह्वै गई ।।
आलम कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे
कैधौं उत रीति बिपरीति बिधि ने ठई ।
मदन महीप की दोहाई फिरिबे ते रही
जूझि गए मेघ कैधौं दामिनी सती भई ।। (आलम)

(२) तेरोई मुखारबिन्द निंदै अरबिन्दै प्यारी
उपमा को कहै ऐसी कौन जिय मैं खगै ।
चपि गई चन्द्रिकाऊ छपि गई छबि देखि
भोर को सो चाँद भयो फीको चाँदनी लगै ।। (आलम)

(३) आलम कहै हो रूप आगरो समातु नाहीं
छबि छलकति इहाँ कौन की समाई है ।
भूषन को भारु है किसोरी बैस गोरी बाल
तेरे तन प्यारी कोटि भूषन गोराई है ।। (आलम)

(४) जावक के भार पग परत धरा पै मंद
गंधभार कुचन परी हैं छुटि अलकैं ।
द्विजदेव तैसियै विचित्र बरुनी के भार
आधे आधे दृगनि परी हैं अध पलकैं ।।
ऐसी छबि देखि अंग अंग की अपार
बार बार लोचन सु कौन के न ललकैं ।
पानिप के भारत सँभारत न गात लंक
लचि लचि जात कच भारत के हलकैं ।। (द्विजदेव)

हो सकता है किसी-किसी कवि में इस प्रकार की रचनाएँ काव्यारंभ काल की हों । स्वच्छंद कवियों पर समसामयिक काव्य पद्धति का बिल्कुल ही प्रभाव न होता यह बहुत ही कठिन बात थी । वस्तु और भावतत्व पर कम शैली पर यह प्रभाव अवश्य है । दूसरे प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें भक्ति भावना के दर्शन होते हैं । ये प्रभाव रसखान और घनआनंद पर विशेष है इस प्रकार की पंक्तियाँ—

(क) या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
(ख) काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ।
(ग) सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं....आदि

लिखकर जहाँ रसखान ने अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है वहाँ घनआनंद ने भी नाम माधुरी ब्रज स्वरूप, गोकुल विनोद, ब्रज प्रसाद, पदावली आदि कृतियों के द्वारा अपनी भक्तिपरायणता का परिचय दिया। यह भी पूर्ववर्त्तिनी और सम-सामयिक भक्ति प्रवाह का ही परिणाम था जो इस प्रकार की रचनाओं से स्पष्ट है—

(१) गोपाल तुम्हारेई गुन गाऊँ।
करहु निरंतर कृपा कृपानिधि बिनती करि सिर नाऊँ।
टरत न मोहनि मूरति हिय ते देखि देखि सुख पाऊँ।
आनंदघन ह्वौ बरसौ सरसौ प्रान पपीहा ज्याऊँ॥ (घनानंद)

(२) कौन पै गावत गनत बनै हो।
गुन अनंत महिमा अनंत नित निगमौ अगम भनै हो।
जो जाको अनुमान जानमनि मानत मोद मनै हो।
चातक चोंप चटक त्यों चितैबो उचित आनंदघनै हो॥ (घनानंद)

तीसरे प्रकार की और सब से महत्वपूर्ण रचनाएँ वे हैं जिन्हें हम स्वच्छन्द या रीतिमुक्त कहते हैं, जिनकी विशेषताओं का ऊपर सविस्तार विश्लेषण किया गया है, तथा जिसकी परंपरा निरपेक्षता ने उसे मध्ययुग की इतनी प्रधान काव्यधारा का रूप दिया है।

शैली-शिल्प या कला-पक्ष—अंतिम महत्वपूर्ण विशेषता है रीति स्वच्छन्द कवियों की शैली। ये कवि शैली के क्षेत्र में भी रीति परंपरा से मुक्त रहे हैं। ये मुक्ति एक तो इस बात में हैं कि सभी स्वच्छन्द कवि अपनी भाषा-शैली के बल पर पहचाने जा सकते हैं चाहे उनकी कृतियों से उनके नाम निकाल दिये जायँ। रसखान, घनआनन्द, बोधा और ठाकुर तो अपनी शैली-वैशिष्ट्य के कारण छिपाए नहीं छिप सकते। यह शैलीगत वैशिष्ट्य इस बात का द्योतक है कि ये कवि रचना पद्धति के क्षेत्र में भी किसी निर्दिष्ट पथ पर नहीं चले बल्कि सभी ने अपनी लीक अलग बनाई। इन कवियों की शैली, अलंकृति, छन्द और भाषा संबंधिनी जो स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं उनका सविस्तार व्याख्यान यहाँ संभव नहीं। रसखान की सादगी और भावुकता, घनआनंद का विरोधाश्रित भाषा-शिल्प, ठाकुर की लोकोक्तिप्रधान तथ्यगर्भित शब्दावली, बोधा की विरहोन्मत्त वाणी सभी अलग हैं। आलम का भाव और शैली विषयक संतुलन और द्विजदेव की धाराशैली भी विशिष्ट है। दूसरी जो महत्वपूर्ण बात लगभग सभी कवियों में समान रूप से पाई जाती है वह है रीतिकारों की अतिशय अलंकारप्रियता के प्रति उदासीनता। आलंकारिक चमत्कार के निदर्शन का लक्ष्य लेकर कोई भी काव्य रचना में प्रवृत्त न हुआ। बोधा, ठाकुर और द्विजदेव के लिए अलंकार बहुत कुछ अनपेक्षित ही था। इनकी कृतियों में सहजता और आयासहीनता का वैशिष्ट्य है। किन्हीं-किन्हीं की कृतियों में तो अलंकार खोजने पड़ते हैं। तीसरी बात जो लगभग समान रूप से सब में प्राप्य है वह है अंतःप्रेरित भाषा और अभिव्यंजना। इनकी

भाषा और शैली स्वतः प्रसूत है, भावप्रेरित है अतः आयास रहित और निजत्व संपन्न। चौथी विशेषता यह है कि भाषा की शक्ति को इन सभी कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें भाषा के प्रति दृष्टि की संकीर्णता न थी। संस्कृत, अरबी, फारसी के साथ बुन्देली, पंजाबी, राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी आदि के देशज शब्द स्वतंत्रतापूर्वक इन्होंने ग्रहण किये हैं। किसी भी भाषा के शैलीकारों की यह विशेषता सदा से रही है। भाषागत किसी कट्टरता या अनुदारता की नीति इन्होंने कभी नहीं अपनाई। प्रयोगों द्वारा प्रचलित शब्दों में नया अर्थ भरने का काम भी इन्होंने सफलतापूर्वक किया है। लक्षणा और व्यंजना की शक्तियों को इन्होंने असाधारण रूप से सम्पन्न किया है। भाषा को लचीली बना कर उसमें प्रयोग सौन्दर्य के साथ-साथ अर्थ की संपदा भरने का भी इनका प्रयत्न श्लाघनीय है। मुहावरे और लोकोक्तियों से इनकी शैली सजीव बनी है। छन्द के क्षेत्र में इन्होंने कोई नया माध्यम नहीं स्वीकार किया। युग के सर्वप्रिय छन्द कवित्त-सवैया में ही इन्होंने अपनी वाणी का विलास निदर्शित किया है। घनआनन्द ने अनेक अतिरिक्त छन्दों का भी प्रयोग किया है तथा भारी संख्या में पदों की रचना भी की है। बोधा में छन्दों की प्रचुरता है क्योंकि वे प्रमुख रूप से प्रबन्ध रचना में लीन हुए। उर्दू के छन्द और रेखते आदि भी इन कवियों ने प्रयुक्त किये हैं। अभि-व्यंजना या वर्णन शैली के क्षेत्र में कोरी अतिशयोक्तियों से ये दूर रहे हैं। अतिशियो-क्तियाँ इन्होंने की हैं पर भाव से संपृक्त।

इस प्रकार ये कवि प्रकृत्या स्वच्छन्द थे। न तो कृष्णभक्तों-सी इनमें साम्प्र-दायिक भक्ति थी न सूफियों सी रहस्यमयी ब्रह्म साधना और न रीतिबद्ध काव्याचार्यों-सा रीति और शास्त्र का आग्रह। प्रेम की दिव्य मंदाकिनी में निमग्नामग्न रहने वाले ये स्वच्छन्द कवि अपनी शैली में भी स्वच्छन्द थे। इनका हृदय जहाँ लौकिक प्रेम में आपूर था वहीं इनकी अभिव्यंजना भी आंतरिकता की ज्योति से कांत थी। इन स्वच्छन्दमार्गी प्रेमोन्मत्त गायकों के लिए भक्ति कुछ नहीं थी, सांप्रदायिकता त्याज्य थी और रीतिमार्ग व्यर्थ। लीकों से अलग हट कर चलना—स्वच्छन्दता—इनकी मूल वृत्ति थी जो और तो और वर्णन शैली में भी प्रत्यक्ष है। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण समूचे मध्ययुग में इन प्रेमी गायकों की स्वच्छन्द काव्यधारा का स्थान अत्यंत विशिष्ट है। रीतिकाल में रचना बाहुल्य और आग्रहपूर्वक रीति को पकड़ कर चलने के कारण जो महत्व रीतिबद्ध काव्य का है उससे अधिक महत्व रीति के आग्रह से मुक्त हो अपनी प्रेम की उमंग पर थिरकने के कारण इन प्रेमोन्मत्त गायकों के काव्य का है। परिमाण की दृष्टि से, कोरी कला और चमत्कार की दृष्टि से, आग्रहों में बद्ध रहने की दृष्टि से नहीं गुण की दृष्टि से, भावुकता की दृष्टि से और निर्बन्ध शैली में काव्य रचना करने की दृष्टि से इनका स्थान रीतिकारों से निश्चय ही श्रेष्ठतर है।

शृङ्गारेतर काव्य : अन्य काव्य धाराएँ

वीर काव्य धारा—हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास ग्रंथों में रीतियुग के वीर काव्यों का पृथक और विस्तृत विवेचन नहीं मिलता ।[1] इधर के इतिहास ग्रंथों में वीर रस के काव्य की रीतिकालीन प्रवृत्ति को पकड़ने और पृथक् करने की चेष्टा अवश्य दिखाई पड़ती है। सन् १९३१ में डा० रसाल ने अपने इतिहास में रीतिकालीन वीर काव्य का आकलन 'जयकाव्य' शीर्षक के अंतर्गत सबसे पहले किया था। इधर आकर डा० भटनागर[2] तथा डा० भगीरथ मिश्र[3] के इतिहास ग्रंथों में क्रमशः 'चारण काव्य' तथा 'वीर-काव्य धारा' के अंतर्गत रीतिकालीन वीरकाव्य का परिचय दिया गया है। अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और प्रामाणिकता के साथ रीतिकालीन वीर काव्यधारा का विवेचन डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित, 'हिन्दी साहित्य'[4] में उपलब्ध होता है किन्तु इस ग्रन्थ में वह 'रासो काव्य धारा' और 'वीर काव्य' नामक दो पृथक् अध्यायों में विवेचित हुआ है। वस्तुतः 'रासो' ग्रंथ एक शैली विशेष में लिखित 'वीर काव्य' ही है अतएव इनका अध्ययन 'वीर काव्य' शीर्षक के अंतर्गत होना चाहिए। रीतिकाल की इस काव्य धारा के सांगोपांग अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ने उपस्थित की। बहुत सारी आलोचनाएँ और बहुत सारे इतिहास ग्रन्थ हिन्दी में आचार्य शुक्ल की नकल पर लिखे गये। रीति काल के वीर रसात्मक काव्यों का शुक्लजी ने 'प्रबन्ध या कथाकाव्य' नाम से संकेतित किया, बस फिर क्या था परवर्ती इतिहास लेखकों ने आँख मूँद कर 'प्रबन्ध काव्य' या 'प्रबन्ध धारा' या 'कथात्मक प्रबन्ध' नाम पकड़ लिया। स्वतन्त्र चिन्तन ऐसा कुंठित हुआ कि लगभग दो दशाब्दियों तक वीर काव्य धारा का स्वरूप ही स्वतन्त्र रूप से स्पष्टतः किसी के द्वारा प्रतीत न कराया जा सका। 'रासो', 'कथा' या 'प्रबन्ध' रचना की शैलियाँ हैं; 'वीर' शब्द रचना के भाव या रस तत्व का बोधक है। काव्य के अध्ययन का मूलाधार काव्य का आभ्यांतरिक पक्ष है अतएव मुझे वीर काव्य अथवा वीर काव्य धारा नाम ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

[1] 'शिवसिंह सरोज' और 'मिश्र बन्धु विनोद' को तो छोड़िये पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुंदर दास के इतिहासों में भी काव्य की अन्यान्य प्रवृत्तियों के विशद विश्लेषण की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती है। डा० रसाल का इतिहास अपवाद स्वरूप समझिये।

[2]. डा० रामरतन भटनागर—हिन्दी साहित्य (सन् १९४८)

[3]. डा० भगीरथ मिश्र—हि० सा० का उद्भव और विकास (सन् १९५६)

[4]. हिन्दी साहित्य (द्वितीयखंड) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० ब्रजेश्वर वर्मा (सन् १९५९)

हिन्दी का वीर काव्य अपने समय की परिस्थितियों से उत्पन्न है। विक्रम की ११वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १५वीं शताब्दी के मध्यकाल तक देश की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्थित-सी थी। किसी सुदृढ़ विकसित एकच्छत्र राज्य के अभाव में देश के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे तथा पारस्परिक ऐक्य का नाम-निशान तक नहीं रहा। छोटे-छोटे राजे थे और अपने क्षुद्र अहंकार के वशीभूत हो आपस में ही लड़ते रहते थे। उनका दंभ उन्हें मिलकर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने की सद्बुद्धि भी नहीं प्रदान करता था फलतः आपस में लड़कर वे अपनी शक्ति तो क्षीण किया ही करते थे नवागत विदेशियों की शरण में भी जाना उन्हें प्रिय लगने लगा था। दुर्बुद्धि का ऐसा उदय इस देश में पहले कभी नहीं देखा गया था। ये राजे अपने राज्य का विस्तार करने के लिए, किसी सुन्दरी का अपहरण करने के लिये, अपने को स्वतंत्र करने, दूसरों की नीचा दिखाने के लिये युद्ध किया करते थे। इसी कारण हिन्दी साहित्य का आदि या वीर काल इन्हीं राजाओं के दंभ, ऐश्वर्य, विलास एवं शौर्यप्रदर्शन के वर्णनों से ओत-प्रोत है। वीरता या उत्साह, रोष या क्षोभ के भावों तथा रुद्र पराक्रम और युद्ध आदि के विस्तृत वर्णन इस युग के काव्य में मुख्यतः उपलब्ध हैं। वीर काव्य की यह धारा कालान्तर में धर्म एवं भक्ति के प्रवेगपूर्ण प्रवाह में विलीन हो गई। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, स्वामी रामानन्द एवं महाप्रभु वल्लभाचार्य ऐसे दार्शनिकों एवं भक्तों की प्रेरणा से तथा नामदेव, कबीर, दादू, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा तथा दक्षिण के संत तुकाराम और समर्थ रामदास आदि के माध्यम से उत्तर भारत में भक्ति की जो लहर एक छोर से दूसरे छोर तक लहराई वीर काव्य उसके आवेग में तिरोहित-सा हो गया किन्तु फिर धार्मिक आवेश के शिथिल पड़ जाने पर एवं मुगल साम्राज्य की सुदृढ़ स्थापना के अनंतर पराधीनता की भावना से प्रेरित होने पर एवं हिन्दुत्व के पतन की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी काव्य क्षेत्र में वीरता की लहर फिर से आ गई और हिन्दी के कवि अपने आश्रयदाताओं को लक्ष्य कर वीर-रसात्मक काव्यों की रचना में प्रवृत्त हुए। इसमें सन्देह नहीं कि सभी आश्रयदाताओं की वीरता के वर्णन लोकप्रिय नहीं हुए किन्तु लोकनायक आदर्श वीर पुरुषों को लेकर जो प्रशस्तियाँ अथवा वीर काव्य लिखे गए वे सचमुच स्मरणीय रहे चाहे प्रबंध के रूप में लिखे गये चाहे स्फुट रूप में। ऐसे काव्यों में नायक ईश्वरीय गुणों से युक्त हिन्दुओं का रक्षक, गो-ब्राह्मण-पालक, धर्म-दया-दान और युद्ध आदि में परम वीर दिखलाया गया है। इन काव्यों में शिवाजी तथा छत्रसाल ऐसे देशप्रसिद्ध नायकों तथा समाज के पूज्य हितकारी वीरों के ही वीरतापूर्ण कार्यों का विवरण मिलेगा।

उत्तर मध्यकाल में मुगलशासन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर ह्रासोन्मुख

होने लगा था। उत्तरी भारत में मुसलमानों का राज्य था और लगभग सम्पूर्ण भारत में उनका दबदबा था फिर भी राजस्थान और बुंदेल खंड दो ऐसे भूभाग थे जहाँ स्वतंत्रता की वह्नि उस काल में भी अमन्द थी। औरंगजेब के समय में लोक-नायक शिवाजी ने हिन्दू-स्वातंत्र्य की रक्षा की। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर भारत में राजस्थान के अंतर्गत मेवाड़, मारवाड़, चित्तौड़, बूँदी, जयपुर, भरतपुर, नीमराणा तथा बुन्देलखंड के अंतर्गत महोबा, पन्ना, छत्रपुर आदि हिन्दू राज्य केन्द्रों में वीर-साहित्य निर्मित होता रहा।

मात्र आश्रयदाता की प्रशंसा में लिखे गये काव्य 'वीरस्तवन-काव्य' न होकर मात्र 'स्तवन काव्य' ही रह गये। मात्र स्तुति या प्रशस्ति रूप में लिखी गई विविध आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ लुप्त या अप्रसिद्ध ही रहीं। सच्चे वीरों को लेकर लिखे गये आख्यानों में ही सच्चा कवित्व अपनी प्रौढ़ता और सुन्दरता के साथ देखा जा सकता है। इस युग में लिखा गया वीर काव्य दो प्रकार का है :—

(१) वीर देवस्तवन काव्य—रस की रचना के नायक रूप में कवियों ने देवी देवताओं को भी ग्रहण किया। हनुमान, दुर्गा ऐसे वीर देवी-देवताओं की प्रशंसा तथा उनके कार्यों का वर्णन इस प्रकार के काव्यों में उपलब्ध होता है। ऐसी रचनाओं में वीरता के साथ भक्ति का भाव भी मिला हुआ है।

(२) वीर पुरुष स्तवन काव्य—वीर रस के काव्य वीर पुरुषों को लेकर लिखे गये तथा उसमें उनके कार्यों का प्रशंसात्मक वर्णन किया गया। वीर पुरुषों को लेकर जो रचनाएँ लिखी गईं उनमें दो प्रकार के नायकों का वर्णन आया है। एक तो साधारण आश्रयदाताओं का जिन्होंने अपने दरबार में कवि रख छोड़े थे। ऐसे आश्रयदाताओं की विरुदावली मात्र गाई गई है। भाट-वृत्ति से विरुदावली गायन करने वालों में सूदन और पद्माकर भी थे जिन्होंने 'सुजान-सागर' और 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' नामक ग्रन्थ लिखे। दूसरे प्रकार के नायक वे हैं जो लोक-मंगल के कार्यों में सचमुच प्रवृत्त हुए। ऐसे वीरों की प्रशस्ति करने वाले कवि हैं भूषण, लाल, जोधराज, चन्द्रशेखर आदि जिन्होंने क्रमशः शिवाजी, छत्रशाल और हम्मीर देव ऐसा वीरों का यश गायन किया है। इन कवियों द्वारा प्रणीत शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, छत्र प्रकाश, हम्मीर रासो, हम्मीर हठ आदि इस युग की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

वीर गाथा काल की वीर रसात्मक रचनाएँ जहाँ प्रेम का साहचर्य लिये हुए थीं वहाँ रीतिकालीन वीर काव्य प्रेम से असंपृक्त अपने शुद्ध रूप में ही लिखा गया। ये वीर काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में लिखे गये। प्रबन्ध रूप में लिखित काव्य भी स्वरूप भेद से महाकाव्य एवं खण्डकाव्य दोनों रूपों में लिखे मिलते हैं।

महाकाव्यों में केशवदास कृत वीरसिंह देव चरित, मान कवि कृत राजविलास, गोरेलाल कृत छत्र प्रकाश, सूदन कृत सुजान चरित्र तथा जोधराज कृत हम्मीर रासो प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों में अपभ्रंशकालीन रचना पद्धति का अनुसरण करते हुए काव्य के नायक के जीवन की अधिकाधिक घटनाओं का विवरण, नायक तथा उससे सम्बन्धित अन्य पात्रों की अतिशियोक्तिपूर्ण प्रशंसा, उनकी दानशीलता, शूरता आदि का अत्यधिक विस्तारपूर्ण वर्णन किया गया है जिससे कथानक तथा महाकाव्य के अन्य तत्वों को आघात भी पहुँचा है। विविध व्यक्तियों और वस्तुओं के वर्णन में जब वर्ण्य की लम्बी सूची पेश की जाती है तब पाठक के धैर्य की परीक्षा हो जाती है। अतिशियोक्तियों के कारण अनेक वर्णन ऊहा-प्रधान हो गए हैं। 'राजविलास' और 'हम्मीर रासो' में इस प्रकार के दोष विशेषतया द्रष्टव्य हैं। अनेक ग्रन्थों में ऋतुवर्णन, प्रकृतिचित्रण, धार्मिक उपदेश, नदी-वर्णन, अलौकिक घटनाओं तथा ऊब पैदा करने वाले विस्तृत राजनीतिक संवादों की इतनी प्रचुरता है कि कथा का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। कथानक को निर्दोष एवं उसकी वास्तविकता अथवा ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'वीरसिंह देव चरित' एवं 'छत्र प्रकाश' उल्लेखनीय हैं।

महाकाव्यों में मिलने वाली अनेक बातें खण्डकाव्यों में भी देखी जा सकती हैं उदाहरण के लिए कथा घातक विस्तृत वर्णन, अस्वाभाविक आकस्मिक एवं विस्मय, पूर्ण घटनावली का विधान, कोरी प्रशंशा या नामावली-परिगणन आदि के कारण कथानक नीरस हो गए हैं। 'गोरा बादल की कथा' श्रीधर कृत 'जंगनामा', पद्माकर कृत 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' ऐसे ही दोषों से परिपूर्ण रचनाएँ हैं। 'जंगनामा' में तो संयुक्ताक्षरों एवं नादात्मक वर्णों का विधान ऐसी अधिकता से किया गया है कि वह खलने लगता है।

सफल कथानक-रचना की दृष्टि से कुछ रासो शैली के खण्डकाव्य महत्वपूर्ण हैं—'रासो भगवंत सिंह' में युद्ध का और 'करहिया को रास' में वीरों की गर्वोक्तियों एवं युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है।

रासो शैली के काव्य भी रीति युग में लिखे गए जिनका आविर्भाव हिन्दी साहित्य के आदि काल में हो चुका था। रासो ग्रन्थों की दो अलग परंपराएँ अपने साहित्य में अपभ्रंश काल से मिलती हैं —

(१) नृत्यगीतपरक रासो।

(२) छन्द वैविध्यपरक रासो।

पहली परम्परा नृत्यगीतपरक रासो ग्रन्थों की है जिनका सम्बन्ध जैन धर्म से ही विशेष रहा है। इनमें अधिकतर जैन महात्माओं, संघाधीशों, तीर्थोद्धारकों के

चरित्रों का वर्णन तथा जैनों का धर्मोपदेश ही मिलता है। 'वीसलदेव रासो' इसी परम्परा की चीज है। उसका वर्ण्य इस परम्परा के वर्ण्य से अपवाद रूप में ही भिन्न है। दूसरी परम्परा में विभिन्न विषयों का विविध छन्दों में काव्य कौशलपूर्ण ढंग से वर्णन मिलता है जैन धर्म सम्बन्धी अपवाद रूप में भी नहीं मिलतीं। रीतिकाल में लिखे गए रासो ग्रन्थ दूसरी परम्परा के ही हैं। 'रास' या 'रासो' ग्रंथ तत्वतः एक ही हैं—यह धारणा कि प्रथम में कोमल एवं द्वितीय में उग्र भावों का चित्रण होता है भ्रामक है। इतर विषयों का भी इसमें वर्णन होता है उदाहरण के लिये कान्ह कीर्ति सुन्दर कृत 'मांकरण रासो' (र० का० संवत् १७५७) को लिया जा सकता है। यह रचना कुल ३६ छन्दों की है जिसमें ५ भिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है तथा इसमें मत्कुण अर्थात् खटमल के चरित्र का वर्णन किया गया है। जो हो छन्द-वैविध्य परक रासो ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन ग्रंथों में नृत्यगीतपरक रासो ग्रन्थों की भाँति भाषा अपभ्रंश बहुला न होकर ब्रज अथवा पुरानी हिन्दी रही है जो उस काल में बोल-चाल की भाषा थी। चारित काव्यों अथवा प्रबन्ध काव्यों के ही समान हिन्दी साहित्य में रासो शैली की काव्य-धारा भी पर्याप्त समृद्ध रही है।[1] इसका गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

मुक्तक रूप में भी प्रचुर मात्रा में वीर काव्य लिखा गया। मुक्तक रचना रीतिकाल की प्रधान प्रवृत्ति थी। सभी प्रकार के काव्य अधिकतर (निर्बन्ध और अपने आप में ही पूर्ण) स्फुट एवं मुक्तक रूप में ही लिखे गए। इस प्रकार की रचना करने वालों में भूषण का नाम प्रथम लिया जायगा जिन्होंने शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक आदि मुक्तक संग्रह ही बनाये। इस काल के मुक्तक वीर काव्यों में बुन्देला छत्रसाल, लोकनायक शिवाजी सरीखे वीरों की प्रशस्तियाँ की गई हैं, उनके वीरतापूर्ण कार्यों, जीवन के विविध उत्साहवर्धक प्रसंगों का विशद वर्णन किया गया है। वीर रस का सुन्दर परिपाक उपस्थित करने वाले शौर्य, वीरत्व, साहस, प्रताप,

---

[1] न्यामत खाँ 'जान' कृत 'कायम रासो' (सं० १६९१); राव डूंगरसी कृत 'छत्रसाल रासो' (सं० १७१०), कान्ह कीर्ति सुन्दर कृत 'मांकरण रासो' (सं० १७५७), गिरिधर चारण कृत 'सगतसिंह रासो' (सं० १७५५), जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' (सं० १७८५), दलपति विजय कृत 'खुमाण रासो' (१८ वीं शती के अन्तिम काल में रचित), सदानन्द कृत 'रासा भगवन्त सिंह का रासो' (सं० १७९३), गुलाब कवि कृत "करहिया कौ रास' (सं० १८३४), शिवनाथ कृत 'रासा भइया बहादुर सिंह का, (सं० १८५३) तथा 'रायसा' (सं० १८५३), महेश कवि कृत 'हम्मीर रासो' (सं० १८६१), अलिरसिक गोविन्द कृत 'कलिजुग रासो' (सं० १८६५)। हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड पृ० १३०-१३५।

युद्ध, आतंक, कृपाण आदि के ओजस्वी वर्णनों से यह काव्यधारा परिपूर्ण है। केशव की प्रसिद्ध 'रतन बावनी' भी इसी परम्परा की चीज है। इन वीर कवियों के सामने चारण काव्य की परम्परा तो थी ही, रीति की परम्परा से भी ये प्रभावित हुए। भूषण ऐसे हिन्दुत्वप्रेमी एवं वीरोपासक कवि को भी 'शिवराज भूषण' ऐसा अलंकार ग्रन्थ लिखना पड़ा। अनेक वीर काव्यों की रचना धन-वैभव के लोभ से भी हुई किन्तु ऐसी रचनाओं को विशेष स्थायित्व न प्राप्त हो सका। केवल रूढ़ि के अनुसार आश्रयदाता से धन प्राप्ति का उद्देश्य ले कर लिखी जाने वाली रचनाएँ लुप्त हो गईं। पौराणिक वीरों पर लिखे गए काव्य भी यथेष्ट लोकप्रिय हुए। आश्रयदाताओं की प्रशंसा में फुटकर रूप से लिखी जाने वाली रचनाओं में वीरता के अधिकतर दो रूप ही अधिक वर्णित हुए—युद्धवीरता और दानवीरता। ये रचनाएँ तीन रूपों में प्राप्य हैं—

(१) रस ग्रन्थों में वीर रस के उदाहरण स्वरूप (रसिकप्रिया)

(२) अलंकार ग्रन्थों में अलंकारों के उदाहरण स्वरूप (शिवराज भूषण, कवि-प्रिया)

(३) स्वतन्त्र रचनाओं के रूप में (शिवा बावनी, रतन बावनी, छत्रसाल दशक)

वीर-रसात्मक काव्य का जो उत्थान वीर गाथा काल में हुआ उसकी धारा धार्मिक अथवा भक्तिमूलक काव्यधारा के प्रवेगपूर्ण प्रवाह के सामने क्षीण पड़ गई परन्तु भक्ति-प्रवाह के क्षीणबल होते ही पुनः वेगवान हो उठी; इसी कारण रीतियुग में वीर रसात्मक काव्य का द्वितीय उत्थान प्रारम्भ होता है।[1] रीतियुग में वीररस का कितना साहित्य सृष्ट हुआ इसका अन्दाजा निम्नलिखित सूची से लगाया जा सकता है[2]—

ग्रन्थ संख्या कवि	ग्रन्थ	रचना काल	विवरण
१. दलपति मिश्र	जसवन्त उद्योत	१६४८ ई० (?)	जोधपुराधीश जसवन्तसिंह के आश्रित
२. गंभीरराय	एक ग्रन्थ	१६५० ई०	मऊ के जगतसिंह और शाहजहाँ के युद्ध का वर्णन
३. डूँगसरी	शत्रुसाल रासो	१६५३ ई०	राव शत्रुसाल हाड़ा की वीरता का वर्णन

[1] वीर रस की रचनाओं का तृतीय उत्थान आधुनिक काल में दिखलाई पड़ता है जिसमें देश तथा प्राचीन वीर नायकों को लेकर वीर रस का काव्य लिखा गया।

[2] हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड—संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १८०-१८४।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रन्थ	रचनाकाल	विवरण
४.	रामकवि	जयसिंह चरित्र	१६५३ ई०	मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित
५.	रत्नाकर	स्फुट कविता	१६५५ ई०	शाहशुजा की प्रशंसा
६.	मतिराम	ललित ललाम	१६६१-६२ ई०	बूँदीपात भावसिंह के परिवार की प्रशंसा के कुछ पद।
७.	कुलपति मिश्र	रस रहस्य	१६७० ई०	ग्रंथारंभ में रामसिंह प्रथम (जयपुर) की प्रशंसा।
	,,	संग्रामसार	१६७६ ई०	महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद।
६.	सुखदेव मिश्र	फाजिल अली प्रकाश	१६७१ ई०	नृप यश वर्णन आदि
१०.	भूषण	शिवराज भूषण	१६७३ ई०	शिवाजी यश वर्णन।
		शिवा बावनी	——	५२ छंदों में शिवाजी का गुणगान।
		छत्रसाल दशक	——	१० छंदो में छत्रसाल बुन्देला का यश वर्णन।
		फुटकर छन्द	——	विभिन्न आश्रयदाता विषयक छन्द।
१४.	श्रीपति भट्ट	हिम्मत प्रकाश	१६७४ ई०	सैयद हिम्मतखाँ (बाँदा) के आश्रित।
१५.	कुम्भकर्ण	रतन रासौ	१६७५ ई०	औरंगजेब के उत्तराधिकार युद्धमें रतन सिंह की वीरता का वर्णन।
१६.	घनश्याम शुक्ल	स्फुट कविता	१६८०ई० १७७८ ई०	रीवाँ नरेश की प्रशंसा।
१७.	रणछोड़	राजपट्टन	१६८० ई०	मेवाड़ के राजघराने का इतिहास।
१८.	निवाज तिवारी	छत्रसाल-विरुदावली	१६८० ई०	नवाब आजमखाँ के आश्रित।
१६.	महाराणा जयसिंह	जयदेव विलास	१६८१-१७०० ई०	उदयपुर के महाराणा।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
२०.	सती प्रसाद	जयचंद बंशावली	——	जयचंद के वंश का परिचय।
२१.	मान	राजविलास	१६७७-८० ई०	महाराणा राजसिंह की वीरता का वर्णन।
२२.	दयाल दास	राणारासौ	१६८०-६८ ई०	मेवाड़ का इतिहास वर्णन।
२३.	हरिनाम	केसरीसिंह समर	१६८३-६७ ई०	राजा केशरी सिंह (खडेला) का यशवर्णन।
२४.	उत्तमचंद	दिलीप-रंजिनी	१७०३ ई०	दिलीप सिंह के वंश का वर्णन।
२५.	वृन्दकवि	वचनिका	१७०५ ई०	आश्रयदाता का वर्णन।
२६.	"	सत्यस्वरूप	१७०७ ई०	बहादुरशाह के उत्तराधिकार युद्ध में राजसिंह (किशनगढ़ी) की वीरता का वर्णन।
२७.	लाल कवि (गोरेलाल)	छत्रप्रकाश	१७१० ई०	छत्रसाल बुन्देला का गुण गान।
२८.	श्रीधर (मुरलीधर)	जंगनामा	१७१३ ई०	फर्रुखसियर और जहाँदारशाह का युद्ध वर्णन।
२९.	मूक जी	खीची जाति की वंशावली	१७१८ ई०	खीची राजाओं का वर्णन।
३०.	केवल राम	वाणी-विलास	१७२६ ई०	जूनागढ़ के नवाबों की प्रशंसा।
३१.	गञ्जन	कमरुद्दीनखाँ-हुलास	१७२८ ई०	कमरुद्दीनखाँ की प्रशंसा तथा रस-वर्णन।
३२.	हरिकेश	स्फुट पद	——	वीर रस की उत्तम रचना
३३	"	जगत दिग्विजय	१७२५ ई०	जगत सिंह चरित्र (जयपुर) तथा अन्य राजवंशों का वर्णन।
३४.	"	ब्रजलीला	१७३१ ई०	छत्रसाल तथा हृदयशाह की प्रशंसा के उपरान्त कृष्ण-राधा मिलन-वर्णन।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
३५.	रसपुञ्ज	कवित्त श्री माता जी रा	१७३३ ई०	अभय सिंह (जोधपुर) के आश्रित।
३६.	सुजानसिंह	सुजान-विलास	१७३३ ई०	करौली राजपरिवार से संबधित।
३७.	श्रीकृष्ण भट्ट (काव्य कला) (निधि)	साँभर युद्ध	१७३४ ई०	सवाई जयसिंह और सैयद भाइयों का युद्ध वर्णन।
३८.	,,	जाजव युद्ध	——	——
३९.	,,	बहादुर विजय	——	——
४०.	,,	जयसिंह गुण-सरिता	——	महाराजा जयसिंह का यशोगान।
४१.	सदानन्द	रासा भगवंत सिंह।	१७३५ ई०	भगवंतराय खीची (असोथर) युद्ध का वर्णन।
४२.	शाहजू पंडित	बुँदेल बंशावली	१७३७ ई०	लक्ष्मणसिंह (टहरौली) के आश्रित।
४३.	,,	लक्ष्मणसिंह प्रकाश	१७३७ ई०	
४४.	कुँवर कुशल	लखपति-यश-सिंधु।	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) की प्रशंसा।
४५.	हम्मीर	लखपत पिंगल	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) गुणगान।
४६.	अनन्त फंदी	स्फुट रचना	१७४३ ई०	महाराष्ट्र के कवि; नाना फड़नवीस की प्रशंसा में हिंदी कविता।
४७.	महताब	नखशिख	१७४३ ई०	हिन्दूपति की प्रशंसा।
४८.	नन्दराम	शिकारभाव	१७४३ ई०	महाराणा जगतसिंह (मेवाड़) के शिकार का वर्णन।
४९.	,,	जगबिलास	१७४५ ई०	आश्रयदाता की प्रशंसा।
५०.	देवकर्ण	वाराणसी बिलास	१७४६ ई०	ग्रन्थारंभ में मेवाड़ का इतिहास वर्णन।
५१.	शंभुनाथ मिश्र	अलंकार दीपक	१७४९ ई०	भगवन्तराय खीची का यश वर्णन।

ग्रन्थ संख्या	कवि	ग्रन्थ	रचनाकाल	विवरण
५२.	शम्भुनाथमिश्र	रस कल्लोल	१७५० ई०	आश्रयदाता का यशोगान एवं नायिका भेद निरूपण
५३.	,,	रस तरंगिनी	——	यश वर्णन और नायिका भेद निरूपण।
५४.	तीर्थराज	समरसार	१७४६ ई०	अचलसिंह (डोंडियाखेरे) के आश्रित।
५५.	सोमनाथ	सुजान विलास	१७३३-५३ ई०	बदनसिंह आदि (भरतपुर) की ग्रथारंभ में प्रशंसा।
५६.	सूदन	सुजान-चरित्र	१७५३ ई०	सूरजमल (भरतपुर) का यशोगान।
५७.	प्रतापसाहि	जयसिंह-प्रकाश	१७५५ ई०	महराजा जयसिंह की प्रशंसा।
५८.	बिहारीलाल	हरदौलचरित्र	१७५८ ई०	——
५६.	दत्तू(देवद्रत्त)	ब्रजराज पंचाशा	१७६१ ई०	राजा ब्रजराजदेव की चढ़ाई का वर्णन।
६०.	गुलाब कवि	करहिया को रायसौ	१७६७ ई०	प्रमारों (आंतरी) और जवाहरसिंह (भरतपुर) का युद्ध वर्णन।
६१.	मण्डन भट्ट	राठौड़ चरित्र	(१७७३ ई० जन्म)	जयसिंह तृतीय (जयपुर) के आश्रित।
६२.	"	रावल चरित्र	——	——
६३.	,,	जयसाह-सुजस प्रकाश	——	आश्रयदाता-यश-वर्णन।
६४.	लालकवि (बनारसी)	कवित्त,	१७७५ ई०	चेतसिंह के आश्रित; काशी नरेशों का यशोगान।
६५.	लालझा मैथिल	कनरपी घाट की लड़ाई	१७८० ई०	नरेन्द्रसिंह (दरभंगा) के आश्रित।
६६.	गणपति भारती	वीरहजारा	१७७८-१८०३ ई०	सवाई प्रताप सिंह (जयपुर) के आश्रित।

ग्रंथ संख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
६७.	उत्तमचन्द भण्डारी	रतना हमीर की बात	१७८०-१८०७ ई०	मानसिंह (जोधपुर) के आश्रित।
६८.	श्रीकृष्णभट्ट	आलीजा प्रकाश (?)	१७८३ ई०	—
६९.	मानकवि	नरेन्द्र भूषण	१७८८ ई०	रणजौर सिंह का यश वर्णन।
७०.	शिवराम भट्ट	प्रताप पचीसी	१७९० ई०	विक्रमादित्य (ओड़छा) के आश्रित।
७१.	,,	विक्रम-विलास		
७२.	पद्माकर	हिम्मत बहादुर	१७९२ ई०	हिम्मत बहादुर और अर्जुनसिंह नोने का युद्ध वर्णन।
७३.	पद्माकर	जगद्-विनोद	—	जगतसिंह (जयपुर) की ग्रंथारंभ में प्रशंसा '।
७४.	पद्माकर	आलीजाह प्रकाश (आलीजा-सागर)	१८२१ ई०	दौलतराव सिंधिया की ग्रंथारंभ में प्रशंसा।
७५.	पद्माकर	प्रतापसिंह विरुदावली	—	सवाई प्रताप सिंह (जयपुर) का यशोगान
७६.	चण्डीदान	वंशाभरण	१७६१-१८३५ ई०	बूँदी दरबार के आश्रित
७७.	,,	विरुद-प्रकाश		,,
७८.	मान (खुमान)	समरसार	१७९५ ई०	विक्रमशाह (चरखारी) के

ग्रंथसंख्या	कवि	ग्रंथ	रचनाकाल	विवरण
				आश्रित; राजकुमार धर्मपाल सिंह की वीरता का वर्णन ।
७९.	शिवनाथ	रासा भैया बहादुरसिंह	१७९६ ई०	बहादुर सिंह (बलरामपुर) की वीरता का वर्णन ।
८०,	दुर्गा प्रसाद	अजीतसिंह फत्ते (नायकरासो)	१७९६ ई०	रीवाँ के सैनिकों और मराठों के युद्ध का वर्णन ।
८१.	जोधराज	हम्मीर रासौ	१८२८ ई०	चन्द्रभान (नीमराणा) के आश्रित। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध वर्णन ।

इतने अधिक परिमाण में वीर काव्यों के लिखे जाने का कारण सृजनकालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में देखा जा सकता है । देश का छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होना, आपसी एकता का अभाव, उत्तेजित स्वाभिमान, पारस्परिक विग्रह, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के समक्ष समूचे राज्य को तुच्छ समझने की मनोवृत्ति आदि कारणों से ये राजे शांत नहीं रह पाते थे । उन्हें लड़ने के लिए एक न एक उखंग चाहिये ही था। राजपूतों और ठाकुरों में चली आती हुई वीरत्व की परंपरा युद्ध माँगती थी । शक्ति के साथ उद्धत दर्प का जब संगम होता था तो खंग खनखना उठती थी ।

नीति काव्य धारा

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि रीतिकाल में नीति संबंधी काव्य की एक स्पष्ट धारा प्रवहमान थी तथा इस प्रकार

का काव्य प्रचुर परिमाण में लिखा गया।[१] इसकी परंपरा की प्राचीनता और परिपुष्टता के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'नीति संबंधी रचनाओं की परंपरा भी काफी पुरानी है। भर्तृहरि ने एक ही साथ शृंगार, नीति और वैराग्य के तीन शतक लिखे थे। संस्कृत के सुभाषितों में अन्योक्तिच्छल से बहुत अधिक नीति साहित्य का पता चलता है। नीति भारतीय कवियों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। हिन्दी में भी आरंभ से ही नीति संबंधी कविताएँ प्राप्त होती हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में संग्रहीत अपभ्रंश के दोहों में से कितने ही नीतिविषयक हैं। तुलसीदास और रहीम के नीतिविषयक दोहों का परिचय हमें मिल चुका है। अकबर दरबार के राजा बीरबल और नरहरि महापात्र के नीतिविषयक पद प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार नीति का साहित्य हिन्दी में कभी अपरिचित नहीं रहा।'[२] प्रश्न यह उठ सकता है 'नीति' क्या है और 'नीति काव्य' किस प्रकार का काव्य है। हिन्दी नीति काव्य के विशेषज्ञ डा० भोलानाथ तिवारी ने इन दोनों शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी है—

नीति—'समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के संदर्भ में किया जाता है उन्हें नीति शब्द से अभिहित करते हैं।'[३]

नीति काव्य—जिस काव्य का विषय नीति हो या दूसरे शब्दों में जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो, उसकी संज्ञा नीति काव्य है—That kind of poetry which aims or seems to aim at instruction as its object, making pleasure entirely subservient to this... In the poems generally called didactic, the information or instruction given in the verse is accompanied with poetic reflection, illustrations and episodes etc.[४]

रीतिकाल के नीतिकार और उनकी कृतियाँ—हिन्दी में नीति काव्य

---

१. प्रमाण स्वरूप देखिये :—इतिहास: शुक्ल पृ० २३, इतिहास: डा० रसाल पृ० ५१६, हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ३५१, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (द्वितीय खण्ड) डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७४, हिन्दी साहित्य की परंपरा: हंसराज अग्रवाल पृ० ३१५, हिन्दी नीति काव्य : डा० भोलानाथ तिवारी पृ० २३।

२. हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५१।

३. हिन्दी नीति काव्य : डा० भोला नाथ तिवारी पृ० ४।

४. वही पृ० ६।

थोड़े बहुत परिमाण में आदि काल से ही मिलने लगता है तथा आधुनिक युग में भी इसकी परंपरा विलुप्त नहीं होने पाई है। फिर भी इस प्रवृत्ति की विशेष समृद्धि रीति काल में ही देखी जा सकती है। इस धारा के प्रमुख उन्नायक वृन्द, गिरिधर, दीन-दयाल गिरि, घाघ, भड्डरी, वैताल, सम्मन इसी युग के नीतिकार कवि हैं। जो नीति कवि इस काल में हुए उनकी नामावली और रचनाएँ नीचे दी जा रही हैं:—

सं० कवि	रचनाएँ
१. सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
२, बिहारी (१६०३-१६६३ ई०)	'बिहारी सतसई' के नीति के दोहे
३. मतिराम (जन्म लगभग १६१७ ई०)	'मतिराम सतसई' के नीति के दोहे
४. गुरु तेगबहादुर (जन्म लगभग १६२२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
५. जिनहर्ष (र० का० १६५० ई० के लगभग)	'उपदेश छत्तीसी'
६. गोपालचन्द्र मिश्र (जन्म १६३३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
७. अहमद (र० का० १७ वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर दोहे
८. खेमदास (र० का० १७ वीं सदी मध्य)	'नसीहतनामा'
९. रसनिधि (र० का० १६६० ई० के लगभग)	'रतनहजारा' के नीति के दोहे
१०. वृन्द (१६४३-१७२३ ई०)	'वृन्द सतसई'
११. छत्रसाल (ज० १६४९ ई०)	'नीतिमंजरी'
१२. कुलपति (र० का० १७ वीं सदी उत्तरार्ध)	'कुलपति सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति के फुटकर छन्द
१३. भगवतीदास (र० का० १७ वीं सदी उत्तरार्ध)	'योगी रासा' तथा 'खींचड़ी रासा' के उपदेश तथा नीति के छन्द
१४. बीर भान (१७ वीं सदी)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
१५. जयदेव (१७ वीं सदी)	नीति के फुटकर छन्द
१६. प्राणनाथ (१७ वीं सदी)	नीति के फुटकर छन्द
१७. जान (१७ वीं सदी)	'सिषसागर पद नामा' 'चेतन नामा', 'सिष ग्रंथ', 'सुधा सिष', 'बुधि दायक', 'बुधि दीप', 'सत्तनामा', 'बर्ननामा', तथा

सं०	कवि	रचनाएँ
		'ग्रंथ पदनामा लुकमान का' के उपदेश तथा नीति के छन्द
१८.	जिनरंग सूरि (र० का० १७ वीं सदी अंतिम चरण)	'प्रबोध बावनी'
१९.	वीरदास (र० का० १७ वीं सदी अंतिम चरण)	'सीख पचीसी'
२०.	जगजीवनदास (१६७०-१७६१ ई०)	उपदेश तथा नीति की कुछ साखियाँ तथा पद
२१.	द्यानतराय (ज० १६७४ ई०)	'उपदेशतक', 'सज्जन गुण दशक', 'दान बावनी' तथा 'पूरण पंचासिका',
२२.	बैताल (ज० १६७७ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
२३.	रघुनाथ (र० का० १८ वीं सदी आरंभ)	नीति के फुटकर छन्द
२४.	दयाराम (र० का० १८ वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
२५.	श्रीपति (र० का० १७२० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
२६.	घाघ (ज० १६९६ ई०)	व्यवहार, खेती तथा स्वास्थ्य विषयक छन्द या छन्दांश
२७.	चरनदास (१७०३-१७८२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद एवं 'ज्ञान स्वरोदय' के शकुन के छन्द
२८.	सहजोबाई (र० का० १८ वीं सदीं मध्य)	उपदेश और नीति की कुछ साखियाँ
२९.	भूपति (र० का० १८ वीं सदी मध्य)	'भूपति सतसई' के नीति के दोहे
३०.	जसुराम कवि (र० का० १८ वीं सदी मध्य)	'राजनीति'
३१.	गिरिधर (ज० १७१३ ई०)	'गिरिधर की कुण्डलियाँ'
३२.	ब्रजपाल (र० का० १८ वीं सदी उत्तरार्ध)	'नीति संग्रह'
३३.	अमृतकवि (र० का० १८ वीं सदी उत्तरार्ध)	'राजनीति'
३४.	श्री नाथ शर्मा (र० का० १८ वीं सदी उत्तरार्ध)	अन्योक्तिमंजूषा
३५.	ठाकुर, असनीवाले (ज० १७३५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
३६.	उम्मेदराम (ज० १७४३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
३७.	तुलसी साहब (ज० लगभग १७५३ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
३८.	देवीदास (र० का० १७६० ई० के लगभग)	'राजनीति'
३९.	रामचरण (र० का० १७९० ई० के लगभग)	'समतानिवास ग्रंथ'

सं०	कवि	रचनाएँ
४०.	खींवड़ा (र० का० १८०० ई० से पूर्व)	'खींवड़ा का दूहा'
४१.	चन्दन (र० का० १८ वीं सदी अंतिम चरण)	'चन्दन सतसई' के नीति के दोहे
४२.	दयाबाई (र० का० १८ वीं सदी अंतिम चरण)	'दया बोध' के नीति और उपदेश के छन्द
४३.	व्यास. (र० का० १८ वीं सदी अंतिम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
४४.	चतुर्भुजदास (र० का० १८ वीं सदी अंतिमचरण)	'मधुमालती के नीति-छंद
४५.	बोधा (ज० १८ वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द
४६.	गरीबगिर (र० का० १८०० ई० के पूर्व)	'जोग पावड़ी' नीति के छन्द
४७.	भैया भगवतीदास (१८ वीं सदी)	नीति तथा उपदेश के फुटकर छन्द तथा 'अनित्य पच्चीसिका'
४८.	चेतन (र० का० १८०० ई० के आस पास)	अध्यात्म बारहखड़ी
४९.	परमानन्द (र० का० १८०० ई० के आस पास)	'नीति सारावली' 'नीति सुधा मंदाकिनी' 'नीति मुक्तावली' तथा 'राजनीति मंजरी'
५०.	बेनीराय रायबरेली वाले (र० का० १८०० ई० के आस पास)	'भँड़ौवा संग्रह' के नीति के छन्द
५१.	कृपाराम (र० का० १८०० ई० के आस पास)	नीति के फुटकर सोरठे
५२.	हितवृन्दावनदास (र० का० १९ वीं सदी प्रथम चरण)	नीति कुंडलियाँ
५३.	दया राम (र० का० १९ वीं सदी प्रथम चरण)	'दयाराम सतसई' के नीति के छन्द
५४.	जगदीश लाल गोस्वामी (र० का० १९ वीं सदी प्रथम चरण)	'षट उपदेश' तथा 'नीति अष्टक'
५५.	रामसहायदास (र० का० १९ वीं सदी प्रथम चरण)	'राम सतसई' तथा 'ककहरा' के नीति तथा उपदेश के छन्द .
५६.	सम्मन (र० का० १९ वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
५७,	बाँकी दास (१७८१-१८३३ ई०)	'नीति मंजरी' 'कृपण दर्पण' 'संतोष बावनी' तथा 'चुगल मुख चपेटिका' आदि
५८.	जैकेहार (र० का० १९ वीं सदी दूसरा चरण)	'भूप भूषण'
५९.	विश्वनाथ सिंह (आ० १७८९ ई०)	'ध्रुवाष्टक', 'अबाध नीति' तथा 'उत्तम-नीति-चंद्रिका'

६०. दयाल (र० का० १६ वीं सदी दूसरा चरण)	नीति के फुटकर छन्द
६१. रसिक गोविन्द (र० का० १६ वीं सदी पूर्वार्ध)	'कलियुगरासो' के नीति छन्द
६२. निहाल (र० का० १६ वीं सदी पूर्वार्ध)	'सुनीति रत्नाकर' तथा 'सुनीति पंथ प्रकाश'
६३. दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८ ई०)	'अन्योक्ति कल्पद्रुम' तथा 'दृष्टान्त तरंगिणी'
६४. लक्ष्मणसिंह (ज० १८०७ ई०)	'नृप नीतिशतक' तथा 'समय-नीतिशतक'
६५. शिवबक्स सिंह (र० का० १८५० ई० के पूर्व)	नीति की कुछ कुंडलियाँ
६६. विष्णुदत्त (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'राजनीतिचंद्रिका'
६७. अम्बुज (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
६८. बिहारी प्रसाद (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'नीति प्रकाश'
६९. गोविन्द रघुनाथ थत्ती (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'शरण्यनीति'
७०. दीन जी (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'अन्योक्ति मंजूषा'
७१. पलटू (र० का १८५० ई० के लगभग)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ और कुण्डलियाँ
७२. ठाकुर (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
७३. अनीस (र० का० १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
७४. रामदया (र० का० १८५० ई० के लगभग)	'सभाजीत सर्वनीति'
७५. बुधजन (१६ वीं सदी)	'बुधजन सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति और उपदेश के फुटकर पद
७६. भूधरदास (१६ वीं सदी)	'भूधर शतक' तथा 'पार्श्व पुराण' के नीति के छन्द
७७. रामहित सिंह (र० का० १८६० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
७८. बख्तावर जी (ज० १८१३ ई०)	'अन्योक्ति प्रकाश'
७९. प्रधान (ज० १८१३ ई०)	'कवित्त राजनीति' तथा फुटकर छन्द
८०. रामावतारदास (र० का० १८७० ई० के लगभग)	'सन्त विलास' के नीति के छन्द
८१. मथुरादास (र० का० १८७० ई० के आस पास)	'नीति विलास'
८२. शिवचन्द्र (र० का० १६ वीं सदी उत्तरार्ध)	'नीति वाक्यामृत'

८३. मजबूत सिंह (र० का० १६ वीं सदी उत्तरार्ध)	'नीति चन्द्रिका'
८४. गुलाबराम राव (र० का० १६ वीं सदी उत्तरार्ध)	'नीति मंजरी'
८५. ब्रज (ज० १८२२ ई०)	'नीति मार्तण्ड' 'सुतोपदेश' 'नीति रत्नाकर' तथा 'नीति प्रकाश'
८६. गुलाब जी (ज० १८३० ई०)	'नीति सिंधु' 'नीति मंजरी', 'नीतिचन्द्र' तथा 'मूर्खशतक'
८७. गिरिधरदास (१८३३-१८६० ई०)	नीति के कुछ दोहे

रीतिकाल के नीति काव्यकारों के दर्जन, डेढ़ दर्जन और नाम मिल सकते हैं, जिनके समय का निश्चित ज्ञान नहीं है। उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि रीतिकाल में नीति काव्य की धारा कितनी प्रबल और पृथुल रही है। उपर्युक्त सूची में रीति काल के प्रमुख एवं गौण नीतिकार सम्मिलित हैं।

नीति काव्य संबंधी सामग्री का वर्गीकरण—इस प्रकार की हिन्दी नीति काव्य संबंधी समस्त सामग्री का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया गया है [1]—

१. मुक्तक रूप में प्राप्त हिन्दी नीति काव्य (जैसे रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीन दयाल या भगवानदीन आदि के नीति छन्द) 'क—नीति की फुटकर कविताएँ (जैसे गंग बीरबल, टोडरमल आदि के नीति के छंद) ख—नीति की मुक्तक कविताओं के सग्रह (जैसे 'वृन्द सत सई' महात्मा भगवानदीन के नीति के दोहे, 'रहीम दोहावली,' छत्रसाल की नीति मंजरी,' मीर का 'अन्योक्ति शतक' विनययत्ति की 'अन्योक्ति बावनी' केवल कृष्ण शर्मा की 'नीति पचीसी' आदि ग—अन्य विषयक मुक्तक कविताओं के साथ संग्रहीत नीति कवितायें (अ) अन्य विषयक में सतसइयों में संग्रहीत नीति-कविताएँ जैसे तुलसी, बिहारी, मतिराम, भूपति, वीर, किसान (निर्भयकृत), स्वदेश (महेश चन्द्रप्रसाद कृत) सतसइयाँ। (आ) अन्य विषयक सतसइयों से बड़े संग्रहों में संग्रहीत नीति कविताएँ जैसे श्रृंगार विषयक रसनिधि कृत 'रतन हज़ारा', भक्ति विषयक कुलदीप कृत 'सहस्त्र दोहावली' और मिश्रित विषयों को पाटन कृत 'ज्ञानसरोवर'। (इ) अन्य विषयक सतसइयों से छोटे संग्रहों में संग्रहीत नीति कविताएं जैसे भक्ति और ज्ञान विषयक बनारसीदास की 'ज्ञानबावनी' तथा मिश्रित विषयों के संग्रह 'दुलारे दोहावली, (दुलारे लाल भार्गव कृत) तथा कवि किंकर कृत 'सुधा सरोवर' २. प्रबन्ध काव्यों के अंश रूप में प्राप्त नीति काव्य (जैसे पृथ्वीराज रासो, रामचरितमानस, पद्मावत या

[1] हिन्दी नीति काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी (१९५८, पृ० २४-२५)

रामचंद्रिका आदि के नीति अंश) ३. संस्कृत पंचतंत्र तथा पालि के जातकों की औप-देशिक कथाओं की शैली पर हिन्दी में भी कुछ पद्यबद्ध औपदेशिक कथाएँ लिखी गईं (उदाहरणार्थ रामनरेश त्रिपाठी कृत 'क्षमा का अद्भुत परिणाम' तथा 'निर्बल' पर लिखी गई पद्यबद्ध कहानियाँ) परन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है। जो हैं वे अधिकांश में बालोपयोगी हैं।

हिन्दी नीति काव्य का प्रतिपाद्य—हिन्दी के नीति काव्य में जिन विषयों का वर्णन या प्रतिपादन हुआ है उनकी सूची विषयक्रम से इस प्रकार है[२]—[क]—धर्म और आचार–धर्म, ईश्वर, साधु, गुरु, संसार, शरीर, मन, माया, नामस्मरण, ज्ञान, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा; क्रोध, अभिमान, लोभ, आशा, मोह, राज, द्वेष, काम, मास भक्षण, मादक द्रव्यों का प्रयोग। [ख]—व्यवहार और समाज-समाज, जाति, परिवार, मातापिता, पुत्र, भाई, पड़ोसी, शत्रु, मित्र , दुष्ट, सज्जन, मनुष्य, बचपन, तरुणाई, बुढ़ापा, मृत्यु, पेट, उद्योग, श्रम, कर्म, नौकर और नौकरी, आय-व्यय, धन, धनी, निर्धन, सूम, दान घूस, ऋण, माँगना, देना, बुद्धि, बुद्धिमान और बुद्धिहीन विद्या, गुण, दोष, बल, सौन्दर्य, स्वभाव, अभ्यास, बान, धैर्य, शील, सन्तोष, क्षमा, सरलता, विनय और नम्रता, लाज, विश्वास, चिन्ता, प्रेम, कपट, ईर्ष्या, हठ निन्दा, चुगली, बदला, धोखा, स्वार्थ, प्रभुता, आत्मश्लाघा, चापलूसी बोलना, हँसी, उपदेश, सुखदुख, फूट और मेल, संग, भाग्य, समय, बीती बात, स्थान, उत्थान और पतन, वीर, कायर, अति, अतिथि।

ग—राजनीति—राजा, साम-दाम-दण्ड-भेद, न्याय, नीति, ज्ञान और गुण, बल और वीरता, धर्म, दान गर्वशून्यता, दया, शत्रु, कर, व्यय, मंत्री, दूत, राजा के संबंध में कुछ अन्य बातें।

घ—नारी—सुलक्षनी और कुलक्षनी, नारी और उसके विविध रूप, कन्या, गृहिणी, विधवा, रक्षा, सन्तान, गृहस्थी, परकीया, वेश्या।

ङ—स्वास्थ्य च—खेती छ—व्यापार ज—शकुन

नीति काव्य के रूप—कुछ विद्वान् नीतिकार कवियों को कवि ही नहीं मानते, सूक्तिकार मात्र कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार का मत रखने वालों में अग्रणी हैं—'इनको (नीति के फुटकल पद्य कहने वालों को) हम कवि कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्यकथन के ढंग में कभी-कभी वाग्-वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी संबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः

---

[२]. वही पृ० १२७-३६३

ऐसी रचना करने वालों को हम कवि न कहकर सूक्तिकार कहेंगे।'[1] इस कथन से स्पष्ट ही नीति काव्य के दो रूप हो जाते हैं —१. पद्य, २. सूक्ति। सूक्ती भी दो प्रकार की हो सकती है अनुभूति प्रवण और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण। यह रूप निर्धारण नीतिकाव्य में काव्यत्व अथवा काव्य गुण की अन्वेषण की दृष्टि से है। नीति काव्य का निवेचन करते हुए डा० रसाल भी बहुत कुछ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[2] उनके मतानुसार नीति काव्य निम्नलिखित रूपों में पाया जाता है—

१. तथ्य कथन के साथ मार्मिक अनुभूतियों की व्यंजना करने वाला काव्य (रसपूर्ण)

२. उक्तिवैलक्षण्य, वाग्वैचित्र्य, चमत्कार-चातुर्य सूचक, कला कौशल संयुक्त (रसरहित)

पहले प्रकार का काव्य सहृदय कवियों द्वारा सृष्ट होता है, दूसरे प्रकार का चमत्कार-वादी सूक्तिकारों द्वारा। पहले प्रकार के रचयिता मनोवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, दूसरे प्रकार के उपदेश देते हैं, तथ्यकथन करते हैं और बोधवृत्ति को जगाते हैं। ये द्विविध काव्य सूक्तिकाव्य के ही उन दो रूपों से मिलते-जुलते हैं जो आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट हैं। डा० रसाल ने मात्र पद्य के रूप में लिखे गए नीति काव्य की ओर पृथक से संकेत नहीं किया है। संभवतः तथ्यकथन और उपदेश मात्र में लिखित मात्र

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० २९८

२. रीतिकाल में 'कई कवियों ने दोहावली शैली से नीति संबंधी बातें उक्ति वैलक्षण्य और वाग्वैचित्र्य के साथ चमत्कार चातुर्य सूचक कला-कौशल की पुट देते हुए कही हैं। इनमें कविता का प्राण (रस 'रसात्मकं वाक्यं' के अनुसार) नहीं, काव्य कला के कौशल से इनका कलेवर अवश्य ही सुन्दरता से रचा गया है। हाँ, कहीं-कहीं तथ्य कथन के साथ मार्मिक अनुभूति की भी व्यंजना अच्छी पाई जाती है। इस प्रकार के कवियों को हम चकत्कारवादी सूक्तिकार कह सकते हैं।....केवल कुछ सहृदय कवियों को ही छोड़कर जो अपनी कल्पना एवं प्रतिभा से अन्योक्ति आदि के द्वारा लौकिक पक्ष से अलौकिक की ओर जाते हुए भगवद् भक्ति, प्रेम, संसार से विरक्ति आदि का चित्रण करते हैं शेष लोग बोध वृत्ति को ही जागृत करने का प्रयत्न करते हुए कल्पना-भावनादि-रहित केवल तथ्य कथन ही को उद्देश्य रूप में रखकर कुछ स्वल्प चमत्कार चातुर्य या वाग्वैचित्र्य के साथ (जो उनकी बात को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करने में सहायक हो) रचनाएँ करते हैं। इनका लक्ष्य उपदेश देते हुए तथ्यकथन के द्वारा बोध वृत्ति को ही जगाना रहता है, मनोवृत्ति को ये उत्तेजित तथा इसके उद्रेक कराने का प्रयत्न नहीं करते।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० रसाल, पृ० ५१६-१७,

पद्यात्मक नीति छन्दों को उन्होंने दूसरी श्रेणी (रसरहित) में अंतर्मुक्त कर लिया है। नीति काव्य पर शास्त्रीय दृष्टि से अनुसंधानात्मक प्रबन्ध लिखने वाले डा० भोलानाथ तिवारी ने आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित नीति काव्य रूपों को यथावत् स्वीकार करते हुए उसे अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है[1]—
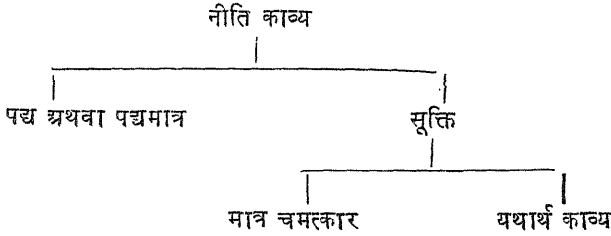
पद्य अथवा पद्य मात्र नीतिकाव्य वह है जिसमें नीति की बातें सीधे सादे शब्दों में छन्दबद्ध कर दी जाती हैं। इसमें सिर्फ पद्यात्मकता होती है। इस श्रेणी के अन्तर्गत गिरिधर की अधिकांश कुंडलियाँ, संतों की अधिकांश नीति साखियाँ, अन्य भक्तों के अधिकांश नीतिछन्द तथा टोडरमल, बीरबल, गंग, घाघ, बैताल तथा भड्डरी आदि का नीति साहित्य आता है। सूक्ति साहित्य में नीति कथनों के साथ-साथ उक्ति-सौन्दर्य का वैशिष्ट्य होता है। उक्तिगत चमत्कार के कारण सूक्ति अधिक प्रभावशालिनी हो जाती है तथा मात्र पद्यात्मक नीति कथनों से उत्कृष्ट श्रेणी में आती है। यह सूक्ति दो प्रकार की कही गई है :—

१. काव्य के विधायक तत्वों से शून्य (मात्र चमत्कार)

२. काव्य के विधायक तत्वों से युक्त (यथार्थ काव्य)

पहले प्रकार की सूक्ति में चमत्कार या रचनावैचित्र्य ही प्रधान होता है,[2] इसमें काव्य के विधायक तत्वों का अभाव होता है फलतः चमत्कृत करता हुआ भी सूक्ति का यह रूप यथार्थ रसानुभूति नहीं करा पाता। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, दीन दयाल, रामचरित उपाध्याय तथा महात्मा भगवान दीन के बहुत से नीति छंद इसी श्रेणी के हैं।

इसके विपरीत कुछ सूक्तियाँ ऐसी होती हैं जिनमें हृदय को भाव-विभोर करने की क्षमता होती है। ऐसी ही सूक्तियों में नीतिकार कवि का सच्चा काव्यत्व झलकता है। तुलसी, रहीम, वृन्द के कुछ नीति दोहे तथा दीनदयाल गिरि की कितनी ही अन्योक्तियाँ इसी श्रेणी की हैं। हिन्दी नीति साहित्य में यथार्थ काव्य की श्रेणी में

---

१. हिन्दी नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० ६-१२।

२. जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम-चरन छै तीन।
तुलसी देखु विचार हिय है यह मतो प्रवीन॥

आनेवाले नीति छन्द कम हैं। चमत्कारपूर्ण सूक्तियों तथा मात्र पद्य रूप में लिखित नीति साहित्य उत्तरोत्तर अधिक है।

हिन्दी नीति साहित्य प्रधानतः इन छन्दों में लिखा गया है—दोहा, सोरठा, बरवै, छप्पय, सवैया, कवित्त और कुँडलिया। नीतिकाव्य के लिए दोहा, सोरठा और बरवै अधिक उपयुक्त छंद पड़ते हैं क्योंकि वे सहज ही स्मरण किये जा सकते हैं। अन्य बड़े छन्दों में अंतिम चरण में नीति की आत्मा झलकती है फलतः बड़े छन्दों के अंतिम चरण ही याद रह जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट ही है कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप ही अपना हिन्दी साहित्य नीति की रचनाओं से भरा पूरा है। यों तो सभी कवियों की रचनाओं से कुछ न कुछ नीत्योक्तियाँ छाँटी जा सकती हैं परन्तु इतने के ही कारण कोई कवि नीति कवि नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की रचना अधिक परिमाण में करने वाले और नीति तथा उपदेश कथन की वृत्ति रखने वाले कवि ही सच्चे नीति कवि कहे जा सकते हैं। ऐसे कवियों में भी वे कवि जो प्रमुख रूप से नीति काव्य लिखनेवाले हैं प्रधान नीतिकार कहे जायँगे जैसे रहीम, वृन्द, घाघ, भड्डरी, बैताल, गिरिधर और दीनदयाल। ये कवि नीतिकवि के रूप में ही हिन्दी साहित्य में प्रख्यात हैं। कबीर, तुलसी आदि की नीतिविषयक रचनाएँ काफी हैं फिर भी वे प्रमुख नीतिकार नहीं कहे जा सकते, भक्ति उनका मूल स्वर था, नीति उनके काव्य का सहचर विषय था।

एक बात जो नहीं भुलाई जा सकती वह यह है कि हिंदी नीति काव्य एक बड़ी सीमा तक संस्कृत सुभाषित साहित्य से प्रभावित है[1]। इस संबंध में भी डा० भोलानाथ तिवारी का मत यह है कि 'हिन्दी का नीति साहित्य प्रमुखतः हमारे पूर्ववर्ती साहित्यों विशेषतः संस्कृत के नीति के कवियों के अनुभवों पर ही आश्रित है पर इसके लिए हम हिन्दी के नीति के कवियों को अमौलिक या परानुगामी होने का दोषी नहीं ठहरा सकते। सच पूछा जाय तो भारतीय समाज में नीति के प्रधान विषयों के संबंध में प्राचीन काल से ही कुछ बँधे बँधाए दृष्टिकोण चले आ रहे हैं और वे आज भी लगभग उसी रूप एवं अंश में मान्य हैं। इनमें से बहुत से तो समान रूप से विश्व के सभी सभ्य राष्ट्रों में मान्य हैं।'[2]

कला की दृष्टि से भी हिन्दी का नीति काव्य अनुन्नत नहीं। जन-जीवन पर

---

१. 'नीति ग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे, उनके ही आधार पर कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन परिशोधन के साथ नीति काव्य की रचना हो चली'—हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० रसाल, पृ०-५१७।

२. हिंदी नीति काव्य —डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० ४१५

उसका व्यापक प्रभाव ही इस बात का प्रमाण है कि इसकी भाषा, शैली, अलंकृति और छन्द-चयन आदि पर्याप्त उपयुक्त हैं तथा लक्ष्य की सिद्धि में पूर्णतः सहायक भी।

इस नीतिधारा का महत्व अनेक दृष्टियों से है। एक तो इसमें जीवन के अनुभवों का सार या निचोड़ संचित मिलता है और इस कारण जीवन के लिए इनकी उपयोगिता असाधारण है। ये नीति कथन सामाजिक प्राणियों के लिये पिता, गुरु, हितैषी और बड़े भाई के समान हैं जो उसे सही पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं और पथ के काँटों से आगाह करते रहते हैं। जीवन और जगत या प्रकृति में जो कुछ होता रहता है नीति कवि उसके आधार पर अपने अनुभवों के सहारे कुछ महत्व-पूर्ण निष्कर्ष निकालता रहता है। उन्हें ही जब वह मार्मिक रूप से काव्यबद्ध करता है तब वह नीति काव्य कहलाता है। समान अनुभव वाले व्यक्ति ऐसी रचनाओं से मुग्ध होते हैं और अनुभवहीन लाभ उठाते हैं। नीति काव्य के अन्तर्गत उसका एक निहित लक्ष्य भी हुआ करता है—वह है ज्ञान वर्द्धन, पथ प्रदर्शन, मनुष्य की बोधवृत्ति को जगाना अथवा उसे उपदेश देना। यह कार्य नीति मुक्तकों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य होता रहता है। जहाँ उपदेश तत्व प्रधान हो जाता है वहाँ ये कृतियाँ विधि-निषेधमय हो जाती हैं। जहाँ मात्र अनुभव कथन होता है वहाँ उनमें सांकेतिकता अथवा व्यञ्जना की प्रधानता होती है। लक्ष्य को बेधने में नीति काव्य अर्जुन के शर के समान अचूक होता है। अपने भेदन-कौशल के कारण नीतिकाव्य की प्रभावशालिता अद्वितीय होती है। नीति विषयक अन्योक्तियों के बड़े-बड़े कमाल सुने गये हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण व्यक्ति और समाज के दैनन्दिन जीवन में नीत्यो-क्तियों का महत्व अक्षय है। रोज इनका प्रयोग होता है, जन साधारण रोज इनसे आगाह होता रहता है, प्रेरणाएँ पाता रहता है और जीवन में सतर्कता बर्तता चलता है। उपयोगिता, जनहित अथवा लोक-कल्याण की दृष्टि से नीतिकाव्य का महत्व सदा रहा है और सदा रहेगा। 'कला जीवन के लिए है' जो आलोचक काव्य अथवा कला का सिद्धान्त वाक्य ठहराते हैं उनके समीप नीति काव्य की महत्ता सर्वोपरि है। हरिऔध जी ने कहा है कि नीतिकार कवियों की 'रचनाओं ने हिन्दी संसार में नवीनता उत्पन्न की है, अच्छे-अच्छे उपदेशों और हितकर वाक्यों से उसे अलंकृत किया है।'[1] इस सम्बन्ध में डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है—'इस धारा के महत्व के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इसकी एक-एक बात जीवन के खरे अनुभवों से सिक्त है और एक ओर यदि वह भूत के अनुभवों का सार है तो दूसरी ओर वर्तमान और भावी समाज की प्रदर्शिका भी है। हमारे समाज के लिए इस नीति काव्य

---

१. हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ० ४४६।

के अनेकानेक छन्द छन्दांश लोकोक्ति बन गये हैं और जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में वे जनता की समस्याओं को सुलझाते हैं एवं उसके कन्धे पर हाथ रखकर दुख-सुख में उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार जीवन से उद्भूत और जीवन के लिए होने के कारण हमारे साहित्य की यह धारा अपना अत्यधिक महत्व रखती है। इस क्षेत्र में भारतीयों का लोहा पाश्चात्य विद्वानों ने भी माना है और भारतीय नीति काव्य को नीति साहित्य के क्षेत्र में विश्व का सर्वश्रेष्ठ साहित्य घोषित किया है—

In one department of Literature, that of aphorism (gnomic poetry) the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation. (Winternity : A History of Indian Literature, Vol. I 1957, p 2)'[1]

संत काव्यधारा—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के आरंभ में कबीरदास द्वारा प्रचारित संतमत इस प्रकार बढ़ा, फला और फूला कि शताब्दियों तक उसकी परंपरा चलती रही। यह दूसरी बात है कि यह संतमत नाना मतों और संप्रदायों का रूप लेकर उत्तर भारत में प्रचलित हुआ किन्तु इतना निश्चित है कि संतों के सामान्य आदर्श लगभग एक-से ही रहे। धर्म, दर्शन और समाज के क्षेत्र में संतों ने जिस सहज और उदार दृष्टि तथा चेतना का परिचय दिया वह निश्चय ही वरेण्य और महान है। संतसाहित्य का कलापक्ष भले ही हीन और तिरस्करणीय हो किन्तु उसका भाव पक्ष धवल और पुनीत है। संत काव्य निम्नवर्गीय पंक से खिला हुआ कमल है।

संतो का धर्म विश्व-धर्म है। उसमें आडंबर और कर्मकाण्ड के लिये रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं। मनुष्य का सदाचरण उसकी सात्विकता ही धर्म है जिसकी पहली शर्त है हृदय की शुद्धता और पवित्रता क्योंकि जब तक मन का मैल नहीं कटता परमात्मा की अनुभूति किस प्रकार हो सकती है ? हृदय की इसी पवित्रता और शुद्धि के लिए संतों ने करणीय और अकरणीय का विधान किया है। विधि-निषेधों से, चेतावनी और उपदेश से संत काव्य ओत-प्रोत है। संतों के अनुसार क्षमा, दया, शील, संतोष, औदार्य, निरभिमान, दैन्य, धैर्य, विवेक आदि ग्राह्य हैं और आसक्ति, आग्रह, लोभ, मोह, छल, काम, क्रोध, कर्मकाण्ड, बाह्याडंबर, लोकाचार, सामिष आहार, कनक, कामिनी आदि त्याज्य। सन्मार्ग पर लगाने के लिए संतों ने गुरु महिमा का अथक भाव से गायन किया है, गुरु का महत्व परमात्मा से भी अधिक है क्योंकि गुरु ही मनुष्य को परमात्मपंथी बनाता है। संतों के इस सहज धर्म में जप-तप, तीर्थ-व्रत, पाहन-पूजा, छापा-तिलक आदि कर्मकांडों के लिए कोई स्थान नहीं है। ईश्वरोपलब्धि का साधन

[1]. हिन्दी नीतिकाव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० १

है सत्संग, नाम-स्मरण तथा गुण-श्रवण और कीर्तन। धर्म के ही समान संतों का दर्शन भी अनुभूति से ही उत्पन्न है। वह वेद-शास्त्रों की अपेक्षा नहीं रखता, किन्हीं पुरातन धर्म ग्रंथों अथवा पोथियों के रूढ़ विचारों से वह संबद्ध नहीं। वह जीवन से पैदा है और उसी के समान जीवंत भी। संतों के अनुसार ब्रह्म रूपाकार से परे है सगुण-निर्गुण के टंटे से ऊपर है। वह प्रत्येक कण में है, प्रत्येक श्वास में है। तीर्थों, मूर्तियों और अवतारों में उसे खोजना व्यर्थ है। वह शब्दों से परे है 'गूँगे केरी शर्करा' के समान उसका आस्वाद अनिवर्चनीय है। 'सोइ जानै जो पावै' वाली बात है। उसकी प्राप्ति के लिये लौ लगाना होगा, प्रेमपूर्ण समर्पण करना होगा, यम-नियमादि द्वारा योगसाधना करनी होगी। जीव तत्वतः ब्रह्म ही है। पार्थक्य मायाजन्य है। माया अविद्याजनित है। इसी माया के निवारण पर 'ब्रह्मजीवैक्य' सम्भव होता है। आत्मा के समर्पण में प्रेम और आनन्द की जो अलौकिक अनुभूतियाँ हैं वे ही रहस्यवाद कहलाती है। सन्तों का ब्रह्मचिंतन अद्वैतवाद के निकट है। सन्त-मत में माया मनुष्य को भटकानेवाली है। मिथ्या और भ्रमात्मक होते हुए वह मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाने वाली है। उसे 'ठगनी' और 'डाकिनी' कहा गया है। संसार में 'कंचन', 'कामिनी' आदि ही उसके रूप रूपान्तर हैं। वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके परमात्मा की ओर अभिमुख कर देना ही माया से निवृत्ति का उपाय है। परमात्मासक्ति (अलौकिक के प्रति प्रेम) और सन्तसङ्गति मायानिवृत्ति के उपाय हैं। जगत माया-जन्य है अतः भ्रमात्मक है, नश्वर है। भोग के प्रतीयमान उपकरण अपनी नश्वरता और निस्सारता के कारण व्यर्थ हैं। प्रेम और योग ब्रह्मोपलब्धि के अनन्य साधन है। सन्तों का धर्म और दर्शन समाजोपयोगी है। पवित्रता, नैतिकता, सदाचार आदि ही सामाजिक जीवन की आधार-शिला हैं। जाति और वर्ग तथा अर्थगत भेद सन्तों की दृष्टि में अमान्य हैं। समाज के निर्माण और विकास तथा निःश्रेयस की सिद्धि बिना उपरिलिखित साधनों की साधना किये सम्भव नहीं।

सन्त काव्य की इस धारा से समस्त मध्य युग आप्लावित रहा है। यद्यपि कालान्तर में सन्तमत कुछ क्षीण पड़ गया तथा जिन बातों का इस मत में निषेध था बाद में किसी सीमा तक वे ही बातें ग्राह्य एवं मान्य हो गईं फिर भी शताब्दियों तक उत्तर भारत के एक वृहद जन-समाज पर प्रबल रूप से इस धारा का प्रभाव पड़ता ही रहा। श्रृंगार-काल तक आते-आते सन्त कबीर द्वारा प्रवर्तित सन्तधारा का प्रभाव शिथिल पड़ चला, उसमें पहले-सा वेग, शक्ति और प्रवाह न रह गया। मूलवर्ती सन्तधारा अनेक पन्थों और सम्प्रदायों में विभक्त हो गई तथा अनेक पन्थों एवं सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा राम कृष्णादि की भक्ति प्रतिष्ठित हो गई। हिन्दी के आदि सन्तों ने जिन बातों का कठोरता से प्रतिवाद किया था वे ही बातें समसामयिक साहित्य, जीवन और समाज के प्रभाव से परवर्ती सन्त साहित्य का

अंग बन कर आई। कृष्ण भक्ति या सगुण भक्ति के समसामयिक प्रबल प्रभाव के कारण अनेक सन्तों में सगुण भावना, और पूजोपचार तथा समकालीन सूफी कवियों का प्रभाव दिखाई देने लगता है। इस शिथिलता का कारण सन्त साहित्य में व्यक्तित्व का ह्रास कहा जा सकता है। छोटे-छोटे साधारण सन्तों ने भी अपना-अपना पन्थ चलाया। व्यक्ति में महत्व-प्राप्ति की स्पृहा जगी। "कबीर ने जिस प्रकार अपना एक नया मार्ग चलाकर अपनी शिष्य परम्परा के द्वारा कबीर पन्थ की जड़ जमा दी थी, उसी प्रकार उनके शिष्यों ने भी अपने-अपने व्यक्तित्व को प्रधानता देकर अपने-अपने नामों से अपनी-अपनी शिष्य परम्पराओं को प्रचलित करते हुए अपने-अपने स्वतन्त्र पंथ चला दिये और इस प्रकार बहुत से पन्थ निम्न श्रेणी के लोगों में प्रचलित हो गये।"[१] सन्तधारा के सभी सन्त अच्छे ज्ञानी, अनुभवी और विवेकवान न थे। अनेक तो बहुत साधारण श्रेणी के थे किन्तु महत्वाकांक्षावश महात्मा बन गये। सन्त साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश थोथा निष्प्रभ और पिष्टपेषण मात्र है, एक बड़ी सीमा तक चर्वित-चर्वण मात्र मिलता है। इसी कारण इनका प्रभाव कुलीन अथवा सम्भ्रान्त वर्ग पर, सम्पन्न एवं विद्वत्समाज पर बिलकुल नहीं पड़ा। हाँ, निम्न श्रेणी के लोग इनसे बरावर प्रभावित होते रहे तथा किसी सीमा तक वे विदेशी धर्मावलम्बन से पराङ्मुख रह सके। उन्हें इनकी बानियों से थोड़ी बहुत दिलासा और सान्त्वना मिलती रही। कबीरादि प्रधान सन्तों के अनुकरण पर शब्द, रमैनी, साखियाँ, उल्टवासियाँ आदि लिखी जाती रहीं। जन साधारण के धर्म का साहित्य होने के कारण सन्त साहित्य की भाषा सरल और सुगम रही, जन भाषा ही में यह साहित्य प्रणीत हुआ। सन्तों की पर्यटनशीलता ने सन्त साहित्य की भाषा पर अवधी, भोजपुरी, पञ्जाबी, राजस्थानी आदि का काफी रंग चढ़ाया। साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से सन्त साहित्य में हमें निराशा ही हाथ लगेगी किन्तु जन भाषा की प्रभविष्णुता की दृष्टि से सन्त साहित्य का महत्व सदा स्वीकार किया जायगा। वैसे भद्दापन, फूहड़पन, भदेसपन या शास्त्रीय शैली में 'ग्राम्यत्व' इस साहित्य का नित्य दोष है। इतना अवश्य है कि पूर्ववर्ती सन्त साहित्य की भाषा कुछ परिष्कृत है, वह कबीर की-सी 'सधुक्कड़ी' नहीं है। सुन्दरदास ऐसे अनेक सन्तों ने उसे परिमार्जित और व्यवस्थित किया तथा कुछ साहित्यिकता भी प्रदान की। अधिकांश कवियों की भाषा सधुक्कड़ी न होकर ब्रज हो गई।

कबीर, नानक, दादू जैसा व्यक्तित्व रखने वाले सर्वमान्य संत बाद में न हुए। नाना पन्थों का उदय हुआ। कुछ पन्थों का उदय तो भक्तिकाल में ही हो चुका था, अनेक नये संप्रदायों का आविर्भाव उत्तर-मध्यकाल में हुआ। भक्ति युग में ही जिन

---

१. डा० रसाल—हिन्दी साहित्य का इतिहास (सन् १९३१) पृ० ५४८

संप्रदायों का प्रवर्तन एवं प्रचलन हुआ उनकी नामावली इस प्रकार है—कबीर पंथ, नानक पंथ, दादू पन्थ, निरञ्जनी संप्रदाय, बावरी पन्थ, मलूक पन्थ आदि । अन्तिम तीन पन्थ रीति युग के आविर्भाव काल के आस-पास स्थापित हुए । जो पन्थ या संप्रदाय विशेष रूप से रीतिकाल में आते हैं वे हैं – बाबा लाली, प्राणनाथी, सतनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, शिवनारायणी, चरणदासी, राधा स्वामी और साहेब पन्थ । अनेक पन्थों एवं सम्प्रदायों की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी स्थापित हुईं । सामान्यतः इन सभी सन्तों का कथ्य एक-सा ही है जैसा कि आरम्भ में ही हम कह आये हैं—गुरु महिमा, सत्यनाम, मायाछल, वैराग्य, परमात्मासक्ति, मनःशुद्ध, साधना, उपदेश आदि से संबन्धित बातें न्यूनाधिक रूप में सभी सन्तों द्वारा कही गई हैं । जहाँ अनुभूतिप्रेरित कथन हैं वहीं उसमें वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है अन्यथा अधिकतर चर्वित-चर्वण ही हुआ है । रीतियुगीन सन्तों पर योग साधना, कबीर की साखियों, नाथपन्थ, सूफीमत और सगुण भक्ति धारा का विशेष प्रभाव लक्षित होता है । सन्त-मत की प्रारम्भिक मान्यताएँ कालान्तर में परिवर्तित हो चलीं । उदाहरण रूप में मूर्ति पूजन को ही लिया जा सकता है । जहाँ कबीर आदि इसके घोर विरोधी थे वहीं हम देखते हैं कि समाधि, पोथी या ग्रन्थ, चित्र और मूर्ति की पूजा शुरू हो गई । पोथी पूजा तो सिक्खों का प्रभाव है तथा चित्र और मूर्ति-पूजा वैष्णव भक्तों के प्रभाव स्वरूप है । सतनामी सम्प्रदाय में हनुमान की मूर्ति-पूजा तक का विधान है । इसे आप सन्तमत की शिथिलता अथवा ह्रासोन्मुखता कहें चाहे लोक प्रचलित इतर धर्मों के साथ समन्वय या सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ।

रीतियुग की सन्तधारा के प्रमुख सन्तों तथा उनकी बानियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

१. रज्जबदास (जन्म संवत् १६२४ मृत्यु संवत् १७४६)—दादू की शिष्य परंपरा के अत्यन्त महत्वपूर्ण सन्त । गम्भीर विद्वान, रचनाओं में सूफियों-सी मस्ती । दादू-पन्थी सिद्धान्त इन्होंने छप्पय छन्दों में लिखे । रचनाएँ–१. बानी २. सर्वाङ्गी ग्रन्थ ३. अङ्गबधू । बानी में ५३५३ छन्द हैं ।

२. मूलकदास (सं० १६३१-१७३९) जन्म-स्थान कड़ा जिला इलाहाबाद । बचपन से साधुसेवी और देशाटनप्रेमी । निर्गुण के साथ सगुण के भी भक्त थे । इनका मलूक पन्थ पर्याप्त प्रचलित हुआ, इसकी गद्दियाँ वृन्दावन, पटना, नेपाल, जयपुर, काबुल, गुजरात और पुरी में स्थापित हुईं । इनकी अनेक साखियाँ कबीर के टक्कर की हैं । रचनाएँ—१. ज्ञान बोध, २. रतनखान, ३. भक्त बच्छावली; ४. भक्त विरुदावली, ५. पुरुष विलास, ६. गुरु प्रताप, ७. अलख बानी, ८. रामावतार लीला, ९. दसरत्न ग्रन्थ ।

३. सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६)—जन्म-स्थान जयपुर । दादू पन्थ के

सबसे विद्वान कवि और सन्त। काशी में दर्शनादि बिषयों का गम्भीर अध्ययन किया। सन्त कवियों में इनकी कविता सबसे सुन्दर है। १२ वर्ष तक इन्होने योगाभ्यास किया तथा बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, मालवा, बदरीनाथ आदि का पर्यटन भी। हिन्दी, संस्कृत, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी, फारसी आदि भाषाएँ जानते थे। रचनाओं में अनुभव तत्व और काव्यकौशल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है तथा सांख्य और अद्वैत दर्शन का भी निरूपण मिलता है। इनके लिखे छोटे बड़े ४२ ग्रन्थ कहे जाते हैं। प्रधान हैं—१. ज्ञान समुद्र और २. सुन्दर विलास।

४. प्राणनाथ (सं० १६७५-१७५१) 'प्रणामी' या 'धामी' संप्रदाय के प्रवर्तक तथा उच्च कोटि के सन्त एवं साधक थे। बड़े पर्यटनशील भी थे। सम्वत् १६३१ में बुन्देलखण्ड में महाराज छत्रसाल के दीक्षागुरु बने। सत्सङ्गवश अरबी, फारसी, हिन्दी, संस्कृत भाषाओं के जानकार हुए। रचनाएँ—१. रामग्रन्थ, २. प्रकाश ग्रन्थ, ३. षटऋतु, ४. कलस, ५. किरतन, ६. खुलास, ७. सम्बन्ध, ८. खेलु बात, ९. प्रकरण इलाही दुलहन, १०. सागर सिंगार, ११. बड़े सिंगार, १२. सिंधिभाषा, १३. मारफत सागर, १४. कयामतनामा आदि।

५. दरियासाहेब (सं० १६६१-१८३७) बिहारवाले मारवाड़ वाले दरिया सन्त की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं। इनका निवास-स्थान धरकंधा (आरा) था। इनके मत पर कबीर, सतनामी सम्प्रदाय और सूफीमत का विशेष प्रभाव था। निराकार पूर्ण ब्रह्म की उपासना करते हुए उसकी प्राप्ति के लिए 'नाम स्मरण' इनकी दृष्टि में प्रधान साधना थी। इन्होंने भ्रमण अधिक नहीं किया। इनके लिखे लगभग २० ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें १. दरिया सागर और २. ज्ञानदीपक प्रधान हैं।

६. अक्षर अनन्य (सं० १७१० में वर्तमान) सन्तों में सर्वाधिक ज्ञानी व्यक्ति थे तथा वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे। ये दतिया रियासत के सेनुहरा (स्यौंढ़ा) ग्राम के कायस्थ थे। कुछ काल तक ये दतिया नरेश पृथ्वीचन्द के दीवान भी थे। बाद में विरक्ति इन्हें पन्ना ले गई जहाँ ये महाराज छत्रसाल के गुरु हुए। भक्ति और ज्ञान की अपेक्षा राजयोग को इन्होंने विशेष महत्व दिया है। योग और वेदान्त पर कई ग्रंथ लिखे—१. राजयोग, २. विज्ञान योग, ३. ध्यानयोग, ४. सिद्धान्त बोध, ५. विवेक दीपिका, ६. ब्रह्मज्ञान, ७. अनन्य प्रकाश आदि, ८. दुर्गासप्तशती का हिन्दी पद्यानुवाद भी इन्होंने किया।

७. यारी साहेब (सं० १७२५-१७८०) का पूरा नाम यार मुहम्मद था। ये बावरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत थे। इन पर सूफी सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था। इनके शिष्य हिन्दू मुसलमान दोनों थे।

८. जगजीवन दास (सं० १७२७-१८१८) जन्म-स्थान खरदहा (बाराबंकी)

बावरी सम्प्रदाय के सन्त बुल्ला साहब और गोविन्द साहब की कृपा से इनकी वृत्तियाँ आध्यात्मिक हुईं। इन्होंने सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा का पुनर्संगठन किया। कोटवा में सम्प्रदाय की गद्दी तो है ही इनकी समाधि भी है। जाति-बन्धन का विरोध, निर्गुण ब्रह्म माहात्म्य, अहिंसा, गुरु माहात्म्य, सत्य, वैराग्य आदि इनके काव्य-विषय हैं। रचनाएँ—१ प्रथम ग्रंथ, २. ज्ञान प्रकाश, ३. महाप्रलय, ४. शब्द सागर ५. आगम पद्धति, ६. प्रेम पन्थ और ७. अथ विनाश।

९. धरनीदास (जन्म सं० १७३३) माँझी या माफी गाँव जिला छपरा के रहने वाले थे इसी से इनकी भाषा भोजपुरी प्रभावित है। इनके काव्य में ईश्वर का विरह प्रधान रूप से चित्रित है दोहों में, इन्होंने बारहमासा भी लिखा है। कहा जाता है कि इन्होंने कोई पन्थ भी चलाया। रचनाएँ—१. प्रेम प्रकाश, २. सत्य प्रकाश, ३. अलिफनामा (फारसी में)

१०. शिवनारायण (सं० १७५०—१८४८) जन्म स्थान गाजीपुर, जाति के राजपूत। गाजीपुर में शिवनारायणी संप्रदाय के मठ आज भी हैं। इनकी रचनाओं की संख्या १७ बताई जाती है जिनमें अनुभव, ज्ञान और उपदेश भरे हुए हैं। प्रधान ग्रंथ है। गुरू अन्यास'।

११. गुलाल (सं० १७५०) जन्म-स्थान भुरकुडा ग्राम, गाजीपुर। इनका संबन्ध किसी सूफी परम्परा से है; किन्तु ये कबीर से भी विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। भाषा भोजपुरी प्रभाव से पूर्ण है। इनकी रचनाओं के प्रधान विषय हैं प्रेम, भक्ति जगत की दशा। साथ ही साथ बारहमासा, हिंडोला, रेखता मंगल, आरती, होली, बसंत आदि पर भी आप की रचनाएँ हैं।

१२. चरनदास (सं० १७६०-१८३९) जन्म-स्थान देहरा (अलवर)। १४ वर्ष तक इन्होंने योगाभ्यास किया। इनका संप्रदाय चरनदासी नाम से चला। इनके मत में योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार पर विशेष बल दिया गया है। इनका मत कबीर से प्रभावित था तथा मूर्तिपूजा का उसमें घोर विरोध किया गया है। सेवा पर इनका संप्रदाय विशेष बल देता है। इनके लिखे २१ ग्रंथ कहे जाते हैं जिनमें १२ विशेष महत्व के हैं --१. ब्रज चरित्र, २. अमर लोक, ३. अखंड धाम वर्णन, ४. अष्टांग योग, ५. धर्म जहाज, ६. योग संदेह सागर, ७. भक्ति पदार्थ, ८. ज्ञान स्वरोदय, ९. पंचोपनिषत्, १०. ब्रह्मज्ञान सागर शब्द, ११. भक्ति सागर, १२. मन विकृतिकरण गुटकासार। कहा जाता है कि इन्होंने भागवत् और श्रीमद्भागवत् गीता का अनुवाद किया था।

१३. बुल्ला साहेब (आविर्भाव काल सं० १७६० मृ० १८१०) ये एक सूफी थे किंतु इनके विचार निर्गुण संतमत के थे। संतमत के सभी विषय इनकी रचनाओं में आए हैं। इनका जन्म-स्थान रूम बताया जाता है किंतु इनके उपदेशों का प्रचार

लाहौर के पास हुआ । भाषा पंजाबी से प्रभावित है । इनकी रचनाएँ प्रेम और उपदेश से भरी हुई हैं । ये ध्यान के लिये हठयोग को महत्वपूर्ण साधन मानते थे ।

१४. भीखा साहेब (जन्म सं० १७७०) गुलाल के शिष्य थे । इनकी रचनाओं में प्रेम परिचय और उपदेश की प्रधानता है ।

१५. गरीब दास (जन्म सं० १७७४) छुडानी जिला रोहतक में हुआ, जाति के जाट थे । कबीर पंथ का इन पर बहुत प्रभाव था इसी से तत्व दर्शन संबन्धी बातें इनकी कृतियों में विशेष हैं । कबीर पंथ के आधार पर इन्होंने अपने नाम से एक पंथ चलाया । सिद्धांत और रचनाएँ कबीर से अत्यधिक प्रभावित हैं । गुरु नामस्मरण आदि पर इन्होंने भी विशेष बल दिया है । भाषा में अरबी फारसी शब्दावली प्रचुर है । इनके लगभग ४००० पद और साखियाँ उपलब्ध हैं ।

१६. रामचरण (जन्म सं०१७७५) इन्होंने प्रचुर परिमाण में संत साहित्य की सृष्टि की ।

१७. दूलनदास (आविर्भावकाल सं० १७८०) का जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था । इनका झुकाव थोड़ा कृष्ण भक्ति की ओर भी था । प्रेम के पद इन्होंने बड़े सुन्दर लिखे । इनकी रचना में प्रेम, विनय, चेतावनी और उपदेश विशेष रूप से पाया जाता है ।

१८. सहजोबाई (आविर्भाव काल सं० १८०० के आस-पास)—जन्म देहरा राज्य (राजस्थान) में । ये प्रसिद्ध संत चरणदास की शिष्या थीं तथा बाल ब्रह्मचारिणी थीं । ये उच्चकोटि की साधिका थीं । गुरु महिमा पर इन्होंने बहुत लिखा है । इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'सहज प्रकाश' है ।

१९. दया बाई (आविर्भावकाल सं० १८०० के आस-पास) ये भी चरणदास की शिष्या और बाल ब्रह्मचारिणी थीं । सहजोबाई और दयाबाई चचेरी बहनें थीं तथा इनकी रचनाएँ बहुत-कुछ एक-सी हैं । इनकी भाषा ब्रज है । स्त्री हृदय होने के कारण इनकी रचनाओं में प्रेम, भक्ति आदि का प्रकाशन अधिक मार्मिक बन पड़ा है । इनमें तन्मयता अधिक थी तथा गुरुमाहात्म्य के साथ-साथ निर्गुण, निरंजन और अजपाजाप पर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है । इनका ग्रंथ 'दयाबोध' नाम से प्रसिद्ध है ।

२० तुलसीसाहब हाथरसवाले (सं० १८१७-१८९९) अपने को रामचरित मानसकार गो० तुलसीदास का अवतार मानते थे । 'घट रामायण' में इन्होंने अपने पूर्व जन्म की कथा दी है । इन्होंने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया । इनकी रचनाओं में पाण्डित्य के दर्शन होते हैं, 'घटरामायण' में रामकथा नहीं है । इनके ग्रंथों में निर्गुण ब्रह्म, जन्म मरण, कर्मफल, सृष्टि उत्पत्ति आदि दार्शनिक विषयों की विस्तृत व्याख्या की गई है । विचारों को कहीं-कहीं संवादों के माध्यम से व्यक्त किया गया

है। जगह-जगह पौराणिक एवं काल्पनिक कथाएँ भी विषय निरूपणार्थ सन्निविष्ट की गई हैं। इनका विषय विवेचन शास्त्रीय है। शब्द योग की साधना का इनकी दृष्टि में विशेष महत्व है। रचनाएँ---१. घट रामायण, २. शब्दावली, ३. रत्नसागर।

२१. बालकृष्ण नायक (आविर्भावकाल सं० १८६५) ने अनेक ग्रंथ लिखे। १. ध्यान मंजरी और २. नेहप्रकाशिका प्रधान हैं।

२२. पलटू साहेब (आविर्भाव काल सं० १८५०) अयोध्या के रहने वाले थे। वहाँ से ४ मील की दूरी पर इनकी समाधि है जिसे 'पलटू साहब का अखाड़ा' कहते हैं। आज भी इनके अनुयायी यहाँ रहते हैं। इन्होंने बहुत सी कुंडलियाँ लिखी हैं जिनमें कबीर की साखियों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है वैसे इनकी बानियों में सूफ़ी मत की अनेक बातों—नासूत, मलकत, जबरूत, लाहूत, हाहूत आदि जगत के नाना प्रकारों—का वर्णन मिलता है। इनका अधिकांश काव्य कबीर के निर्गुणवाद के अंतर्गत आ जाता है।

२३. शिवदयाल (सं० १८७५) आगरे में इनका जन्म हुआ। लाला शिवदयालसिंह "स्वामी जी महाराज" राधा स्वामी सत्संग के प्रवर्तक थे। इनके सत्संग का प्रवर्तन आगरे में उस स्थान पर हुआ जिसे आज 'स्वामीबाग' या 'दयाल बाग' कहते हैं जहाँ इनकी समाधि है और एक अत्यंत विशाल तथा सुन्दर मन्दिर सन् १९०४ से अब तक बन रहा है। राधास्वामी सत्संग आज भी विकास पर है तथा उत्तर प्रदेश में इसके काफी अनुयायी भी हैं। योग साधना और संत मत के उपदेशों से पूर्व दो ग्रंथ 'सार बचन' गद्य और पद्य में उपलब्ध हैं।

इन संतों के अतिरिक्त भी अनेक संत इस युग में हो गए हैं जिनकी रचनाओं का देश के विभिन्न भागों में आदर होता है जैसे धनी धरमदास, सुथरादास, वीरभान, लालदास, निश्चलदास, बाबादास, हरिदास, बषान जी, वाजिद जी, सहजानंद, गाजीदास, राम सनेही आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अनुभूतियों के आधार पर रीतिकाल के निर्गुण शाखा के ज्ञानमार्गी संतों को डा० रामकुमार वर्मा ने चार कोटियों में विभक्त किया है :—[1]

(१) तत्वदर्शी—सुन्दरदास, चरनदास, गरीब दास, तुलसी साहेब।

(२) भावना संपन्न—जगजीवन दास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले) यारी साहब।

(३) स्वच्छन्द—मलूकदास, सहजोबाई और दयाबाई, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड़) गुलाल साहब, भीखा साहब।

---

१. हिन्दी साहित्य : द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग १९५९ ई०) छठा अध्याय : संत काव्य—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २१८.

(४) सूफी—बुल्लेशाह, पलटू साहब ।

पंथ अथवा संप्रदायानुसरण की दृष्टि से इस काल के संतों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है ।[१]

(१) निरंजनी संप्रदाय का उद्भव नाथ संप्रदाय में ढूँढ़ा जा सकता है । इस प्राचीन संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन नाम के एक व्यक्ति कहे जाते हैं जिन्होंने निर्गुण की उपासना का उपदेश दिया । दादू पंथ के संत राघौदास कृत 'भक्तमाल' में १२ निरंजनी महन्तों का उल्लेख हुआ है—जगन्नाथदास, श्यामदास, कान्हड़दास, ध्यानदास, खेमदास, नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनंददास, पूरणदास, मोहनदास, हरिदास, सेवादास, भगवानदास भी निरंजनी संत के रूप में जाने जाते हैं । हरिदास, तुरसीदास और सेवादास का साहित्य परिमाण में विपुल है । निरंजनी संतों की बानियों में निर्गुण संतों के ही समान ईश्वर, माया, विरह, गुरु महिमा आदि विषयों का ही आकलन मिलता है । निरंजनी संत उदार हो गए हैं, सगुणोपासना इन्हें असह्य नहीं थी । राजस्थानान्तर्गत जयपुर उदयपुर आदि में निरंजनी संप्रदाय का विशेष प्रचार एवं प्रसार रहा । इसे नाथ और निर्गुण संत मत के बीच का संप्रदाय कहा जा सकता है । इस मत के भगवानदास, तुरसीदास, सेवादास आदि संतों का समय सं० १८०० के आस-पास ठहरता है ।

२. दादू पंथ के संतों में उल्लेखनीय हैं सुन्दरदास, गरीबदास, रज्जब, बषना, जगजीवन, बिसनदास, राघौदास । दादू और सुन्दरदास की बानियाँ काव्य की दृष्टि से भी सुन्दर हैं ।

३. बावरी पंथ का प्रवर्तन करने वाली बावरी साहिबा थीं । बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, बुल्ला, गुलाल, भीखा, पलटू आदि इस पंथ के महत्वपूर्ण संत हैं । भुरकुड़ा, बड़ा गाँव, जलालपुर आदि में इस पंथ की गद्दियाँ और अखाड़े हैं जहाँ इस पंथ के संतों की बानियाँ सुरक्षित हैं । केशव, भीखा और पलटू की बानियों में काव्य की दृष्टि से भी विशेष आकर्षण विद्यमान है ।

४. मलूक पंथ का विशेष प्रचार न हो सका । सुथरादास, रामसनेही, कृष्ण सनेही, गोपाल दास आदि इस पंथ के मुख्य संत हैं ।

५. सतनामी संप्रदाय की तीन शाखाएं हैं—नारनौल कोटवा और छत्तीसगढ़ी । नारनौल शाखा के संत औरंगजेब का विरोध करने के लिये प्रसिद्ध हैं क्योंकि उन्होंने दारा का समर्थन किया था । कोटवा शाखा के संत जग जीवन दास तथा

---

१. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (द्वितीय खण्ड सन् १९५६) पृ० ७-८.

इनके शिष्य दूलनदास, गोसाईंदास और खेमदास प्रसिद्ध हैं । छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रधान संत हैं घासी दास, बालक दास, अगरदास, अजबदास, आदि ।

६. साहेब पंथ के प्रवर्तक हाथरस वाले तुलसी साहेब हैं ।

७. राधा स्वामी सत्संग आगरे के लाला शिवदयाल ने प्रारंभ किया ।

सूफी काव्य धारा

भक्ति काल की अन्यान्य काव्य धाराओं की भाँति सूफियों की प्रेमाख्यान-रचना-परंपरा भी रीतिकाल तथा आधुनिक काल के प्रथम चरण तक चलती रही है। संतों, राम भक्तों और कृष्ण भक्तों की काव्य धाराओं में जिस प्रकार की शिथिलता अथवा प्रवृत्तिगत ह्रास दिखाई देता है वैसा सूफी प्रेमाख्यान धारा में नहीं। सूफियों की मौलिक विशेषताएं लगभग ज्यों की त्यों परवर्ती काव्य परंपरा में देखी जा सकती हैं ।

सूफियों ने जिस इश्क या प्रेम के प्रचार को अपना लक्ष्य निर्धारित किया, ये प्रेमाख्यान उसी की सिद्धि के साधन थे । सूफी प्रेमाख्यान एक प्रकार के 'कथारूपक' हैं वर्णित कथा किसी इतर गूढ़ रहस्य का संकेत देती है और वह संकेत है 'इश्क मजाजी' द्वारा 'इश्क हकीकी' की प्राप्ति । सूफी हिन्दी प्रेमाख्यान अधिकतर हिन्दू राजा-रानियों के प्रेमवृत्तान्त को लेकर चले हैं क्योंकि उनका उद्देश्य भारतीय जन-समाज को प्रभावित कर अपने मत को उन तक पहुँचाना रहा है उदाहरणार्थ 'नल-दमयन्ती' का प्रेमाख्यान किन्तु इस्लामी परंपरा का 'यूसुफ जुलेखा' जैसी प्रेम कहानियाँ भी उन्होंने उठाईं । प्रेम का उद्रेक चित्र दर्शन, गुण श्रवण, स्वप्न दर्शन, साक्षात दर्शन आदि में से किसी एक माध्यम से दिखाया गया है । कुछ प्रेमकथाओं में आंशिक ऐतिहासिकता भी मिलेगी जैसे रत्नसेन और पद्मावती, देवलदवी और खिज्र खाँ, छीता, नूरजहाँ आदि किन्तु ऐसी रचनाओं में भी कल्पना का पुट बहुत अधिक है । अधिकांश सूफी प्रेमाख्यान उत्पाद्य या काल्पनिक ही हैं जैसे मधुमालत, चित्रावली, इन्द्रावती, अनुराग बाँसुरी, नूरजहाँ, हंस जवाहर, भाषा-प्रेमरस, पुहुपावती, कुँवरावत, ज्ञानदीप आदि । समस्त प्रेमाख्यानों का ढाँचा पात्र और परिस्थिति-भेद से लगभग एक-सा ही रहता है । प्रिय और प्रेमी में स्वप्न अथवा चित्रदर्शन या गुण-श्रवण वश प्रणय-भाव का उद्रेक होता है । अप्राप्ति और अमिलन प्रणय को प्रगाढ़ बनाता है । प्रिय प्राप्ति का मार्ग अत्यंत दुर्गम और कंटकाकीर्ण है । प्रेमी की सहायतार्थ किसी पक्षी या परी या अन्य शक्ति का विधान किया गया है तथा प्रिय मिलन में ही कथा की समाप्ति होती है । कथांत में कवि कथा रूपक का उद्घाटन करता है और कहानी के माध्यम से उस आध्यात्मिक संकेत को व्यक्त करता है जो कवि का मूल प्रतिपाद्य है । ऐसी प्रेम कहानियों द्वारा सूफी कवियों ने बड़े कौशल के साथ

जनता की वृत्तियों को परमसत्ता की ओर मोड़ने का प्रयास किया है। इस दिशा में सूफी संतों की देन अविस्मरणीय है। जनमानस की वृत्तियों के परिशोधन में ये प्रेमाख्यान असाधारण रूप से सहायक हुए हैं। नायिका या परमात्मसत्ता के रूप को अत्यंत सौन्दर्यशाली बनाने की चेष्टा की गई है। रचना शैली की दृष्टि से सूफियों के काव्य मसनवी पद्धति पर लिखे गए हैं फलत: ग्रंथारंभ में ईश्वर वंदना, सृष्टि-रचना-प्रक्रिया तथा ईश्वर-महिमा-गायन, मुहम्मद साहब तथा तत्कालीन शासक 'शाहेवक्त' की प्रशंसा तथा आत्म परिचय आदि दिया जाता है। प्रेम, विरह आदि के विस्तृत विवरण के साथ-साथ हाट, समुद्र, जलक्रीड़ा आदि प्रसंगों का वर्णन किया जाता है। नखशिख, बारहमासा, प्रकृति आदि का भी चित्रण होता है। सूफी काव्य दोहा-चौपाई छंदों तथा अवधी भाषा में ही लिखे गए हैं। अन्य छंदों का प्रयोग अपवाद रूप में ही मिलेगा। कवियों ने अपनी बहुज्ञता का परिचय भी किसी-न-किसी रूप में दिया है तथा ऐसा करते हुए उन्होंने संगीत शास्त्र, नायिका भेद, काम शास्त्र, मानसशास्त्र, राजधर्म, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन आदि विषयों पर अपने सुविचारित मंतव्य प्रस्तुत किये हैं। इन काव्यों के माध्यम से हमें भारतीय वातावरण, रीति नीतियों, पर्व त्योहार एवं उत्सवों और संस्कारों का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है जिससे काव्य मार्मिक और सजीव हो उठे हैं।

प्रेम ही वह मूल तत्व है जिसका सूफी काव्यों में इतनी विशदता के साथ व्याख्यान हुआ है। यह प्रेम कोई ऐसा वैसा प्रेम नहीं है जिसमें मात्र वासना या कामुकता हो। इस प्रेम का राग आंतरिक हुआ करता है ऐसा जो मानव हृदय को परिष्कृत करता है, उदार और विशाल बनाता है।

सूफियों का मत है कि प्रियतम परमात्मा से वियुक्त हमारे जीवन का चरम उद्देश्य उसके साथ पुनर्मिलन ही है। उस ईश्वर से मिलन या प्रेम की वासना सांसारिक प्रेम से बहुत भिन्न नहीं वरन् यह सांसारिक प्रेम तो उसी ईश्वरीय प्रेम की सीढ़ी है। सूफियों का प्रियतम अखिल सौन्दर्य की निधि है। विश्व में जहाँ भी रूप और सौन्दर्य की छटा है उसी प्रियतम की आभा है इसीलिये हमारा मन उधर आप से आप आकृष्ट होता है। उस परमात्मा को पाने के लिये कोरी बौद्धिकता काम न देगी, हृदय का संपूर्ण राग जब हम उसे अर्पित करेंगे, स्वार्थ, वासना, अहंकारादि विकारों से हृदय हमारा जब मुक्त रहेगा तब वह दिव्य ज्योति हमें मिले बिना न रहेगी। जब हमारा प्रेम एकनिष्ठ और दृढ़ होगा, प्रिय के लिये सर्वस्व होम कर देने को जब हम प्रस्तुत होंगे, बाधाएँ हमारे साहस और संकल्प को क्षीण न कर सकेंगी परम रूप-निधान परमात्म रूप प्रिय हमें प्राप्त होकर ही रहेगा किन्तु इसके लिये प्रेम की अनन्यता आवश्यक है। प्रेमी को जायसी के रतनसेन की भाँति यह कहने में समर्थ होना चाहिये—

बहुत रंग अछरी तोर राता। मोहि दूसर सौं भाव न बाता॥

सूफियों के अनुसार साधक बार-बार अग्नि में तपाए जाने वाले स्वर्ण की भाँति होता है। संकट पर संकट पड़ते जाते हैं परन्तु साधक उन्हें अविचल भाव से झेलता चलता है। प्रत्येक अग्नि परीक्षा उसमें निखार ले आती है। इसीलिये सूफी प्रेमाख्यानों में विरह का विस्तार देखा जा सकता है। सूफी प्रेम का मार्ग सरल नहीं। उसमें विपथ करने वाले कितने अंतराय आ उपस्थित होते हैं, उन सबसे सच्चा प्रेमी बचता हुआ अपने लक्ष्य की ओर चला चलता है। अंत में 'वस्ल' या संयोग की अंतिम स्थिति उसे प्राप्त होती है।

हिन्दी में जो सूफी साहित्य उपलब्ध है वह प्रधानतः प्रबन्ध अथवा प्रेमाख्यान काव्य के रूप में उपलब्ध है किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ सूफी रचनाएँ मुक्तक रूप में भी लिखी गई हैं।

सूफियों का धार्मिक साहित्य मूलतः उनकी मजहबी ज़बान अरबी में लिखा गया है। यह साहित्य मुख्यतः तीन रूपों में प्राप्त है :—

१ **निबंध साहित्य** जिसमें सूफीमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। 'तसव्वुफ' के स्वरूप और सिद्धान्त पक्ष पर तर्क-वितर्क एवं विवेचनात्मक रूप में गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों में लिखा गया यह साहित्य विशेष महत्वपूर्ण है।

(२) **जीवनी साहित्य** जिसमें सूफी संतों एवं साधकों की जीवन कथाएँ तथा उनके 'करामातों' का वर्णन मिलता है। यह साहित्य अरबी और फारसी दोनों भाषाओं में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है।

(३) **काव्य साहित्य** सूफियों का अत्यंत व्यापक एवं समृद्ध है। इसमें प्रेम अथवा हृदय के रागात्मक पक्ष का अशेष भाव से प्रकाशन हुआ है, तर्क अथवा बुद्धि पक्ष की एकांत अवहेलना की गई है। यह काव्य साहित्य दो रूपों में उपलब्ध है। एक तो मसनवी शैली में लिखित प्रबन्धों के रूप में और दूसरा गजलों, रुबाइयों, पदों, दोहों आदि के मुक्तक रूप में।

भारतवर्ष में सूफी साहित्य दक्खिनी हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी भाषाओं में भी मिलता है। हिन्दी में रीति काल के पूर्व मुल्ला दाऊद का चंदायन (सं० १४३४) शेख कुतबन की मृगावती (सं० १५६०) जायसी का पद्मावत (सं० १५७७) मंझन कृत मधुमालती (सं० १६०२) उसमान की चित्रावली (सं० १६७०) जान कवि की कनकावती (सं० १६७५) शेख नवी कृत ज्ञानदीप (सं० १६७६) तथा जान कवि के चार अन्य ग्रंथ कामलता (सं० १७७८) मधुकर मालती (सं० १६६१) रतनावती (सं० १६६१) छीता (सं० १६६३) आदि तथा पर्याप्त मात्रा में लिखित मुक्तक साहित्य उपलब्ध होता है। जायसी ने अपने से पहले की जिन प्रचलित प्रेम कथाओं का उल्लेख 'पद्मावत' में किया है वे हैं अनिरुद्ध और उषा, विक्रम तथा सपनावति (या चंपावति), सिरी भोज तथा मुगधावति (या खंडरावति) राजकुँवर एवं मिरगावति, मनोहर एवं मधुमालती तथा

सुरसरि एवं प्रेमावति । इनमें से 'मृगावती' की ही एक खंडित प्रति अब तक प्राप्त हो सकी है ।

रीतिकाल में उपलब्ध सूफी काव्य धारा का विवरण इस प्रकार है :—

१, सूरदास कृत 'नलदमन' मसनवी शैली में लिखा गया है । इसमें शाहेवक्त के रूप में शाहजहाँ की प्रशंसा है । रचना काल अज्ञात है ।[1]

२. हुसैनअली कृत 'पुहुपावती' (सं० १७२५) कवि ने रचना में अपना नाम सदानन्द रक्खा है । वह 'हरिगाँव' निवासी था और कन्नौज के केशवलाल उसके काव्य गुरु थे । प्रकृति से कवि अत्यंत विनम्र जान पड़ता है ।

३. दुखहरन दास कृत पुहुपावती (रचनाकाल सं० १७२६) ये गाजीपुर निवासी कायस्थ थे । इनका असली नाम मनमनोहर था । ये मलूकदास के शिष्य थे और इन्होंने जायसी के पद्मावत के अनुकरण पर मसनवी शैली में पुहुपावती लिखी । इन्होंने प्रारंभ में निर्गुण राम का स्मरण किया है तथा शाहेवक्त के रूप में औरंगजेब का उल्लेख किया है ।[2]

४. कासिमशाह कृत 'हंस जवाहर' (सं० १७९३) कवि नीच जाति का था, इनामुल्ला इनके पिता थे । ये नगर दरियाबाद जिला लखनऊ के निवासी थे । नीच जाति का होने के कारण कवि की यह आकांक्षा थी कि प्रेम पंथ का सहारा लेकर वह उच्च वर्ग के बीच सम्मान प्राप्त करे । शाहेवक्त के रूप में उसने दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह की प्रशंसा की है । सलोन नगर के पीर मुहम्मद अशरफ इनके दीक्षा-गुरु थे ।

५, नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' (सं० १८०१) और अनुराग बाँसुरी (सं० १८२१) नूरमुहम्मद का स्थान 'सबरहद' नामक स्थान या गाँव था । इस स्थान को जौनपुर जिले के शाहगंज तहसील में बताया जाता है । पं० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार कवि अपने अंतिम समय में फूलपुर जिला आजमगढ़ में आकर रहने लगा था जहाँ उसकी ससुराल थी । नूरमुहम्मद ने 'कामथाब' उपनाम का प्रयोग अपनी रचना में किया है । 'इन्द्रावती में' शाहेवक्त के नाम पर 'मुहम्मदशाह' की प्रशंसा की गई है (जिसका शासनकाल सं० १७७६-१८०५ था) । वे फारसी में 'कामयाब' उपनाम से कविता करते थे किन्तु 'भाषा' में 'इन्द्रावती' की सफल रचना कर लेने के बाद वे इसी दिशा में अग्रसर हुए । अनुराग बाँसुरी के अतिरिक्त इनकी 'नलदमन' नाम की एक रचना और कही जाती है । ये शिया संप्रदाय के कट्टर मुसलमान थे ।

---

[1]. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—द्वितीयखंड (१९५६ ई०) पृ० २४ ।

[2]. वही पृ० २५.

नोट—कोष्ठकों में दिये हुए संवत् रचनाकाल के सूचक हैं ।

६. शेख निसार कृत 'यूसुफ जुलेखा' (सं १८४७)। अकबर बादशाह के समकालीन किसी शेख हबीउल्ला ने अवध में शेखपुर नाम का नगर बसाया था। उनके पुत्र हुए शेख मुहम्मद, शेख मुहम्मद के पुत्र हुए गुलाम मुहम्मद। ये गुलाम-मुहम्मद ही शेख निसार के पिता थे। इस शेखपुर को श्री सत्यजीवन वर्मा रायबरेली जिले के अंतर्गत मानते हैं किन्तु परवर्ती शोध से इनकी स्थिति फैजाबाद जिले में निश्चित होती है। शेख निसार का असली नाम गुलाम अशरफ था, शेख निसार तो उपनाम या कवि नाम मात्र था। कवि जिस समय 'यूसुफ जुलेखा' की रचना करने लगा शाह आलम उस सयय दिल्ली के सुल्तान थे। उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने ७ अन्य ग्रंथ लिखे जो फारसी तुर्की अरबी आदि भाषाओं में हैं। इन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। इनके अन्य ग्रंथ हैं—मेहर निगार (आख्यानक काव्य), रसमनोज (शृंगार-रसात्मक रीति ग्रंथ), दीवान, अहसन जौहर (फारसी मसनवी), स्रोदी (संगीत ग्रन्थ) नस्र (फारसी गद्य ग्रन्थ), नसाब (संग्रह ग्रन्थ)। शेख निसार अत्यंत विद्वान और आशुकवि थे।

७. शाह नजफ अली सलोनी कृत 'प्रेम चिनगारी' (सं० १९०० के आस पास) शाह नजफअली के आश्रयदाता रीवा के महाराजा विश्वनाथ सिंह थे। ये दोंनों आँखों से अंधे थे किन्तु इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी जिसकी कई कहानियाँ हैं। ये 'सलोंन' जिला रायबरेली के रहने वाले थे। शाह करीम अता इनके पीर थे। शाह नजफअली की प्रेम चिनगारी का पता हिन्दी जगत को रींवा के दरबार कालेज (बाद में न० रणमत सिंह-महाविद्यालय) के इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० अख्तर हुसैन निजामी ने दिया। इनकी लिखी एक 'अखरावटी' भी है जिसका रचना काल सं० १८६६ है। इनकी मज़ार रीवा में ही इमामशाह की दरगाह के बाहर बनी हुई है। ये हाफ़िज़ थे तथा संपूर्ण कुरान इन्हें कंठस्थ था। सादगी और दानशीलता में ये बहुत आगे थे।

संवत् १९०० विक्रमी के बाद अर्थात् रीतिकाल की सीमा के बाहर आधुनिक काल में आकर भी कई प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए। उदाहरण के लिए ख्वाजा अहमद कृत 'नूरजहाँ' (सं० १९६२), शेख रहीम कृत 'भाषा प्रेम रस' (सं० २९७२), कवि नसीर कृत 'प्रेम दर्पण' (सं० १९७४), किसी अज्ञात कवि की 'कामरूप की कथा' या 'कथा कामरानी' तथा अलीमुराद कृत कुँवरावत। इन प्रेमाख्यान काव्यों का बहुत सुन्दर और विस्तृत अध्ययन हिन्दी में किया जा चुका है (देखिये डा० सरला शुक्ल का प्रबंध 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य)'।

कृष्णभक्ति धारा

भक्ति काल की कृष्णभक्ति-काव्य-धारा रीति युग में भी चलती रही। रीति-युग में लिखित काव्य का एक बहुत बड़ा अंश कृष्ण सम्बन्धी ही है। रीतिबद्ध

कवियों का काव्य तो कृष्ण को नायक ही मानकर चला है, रीतिमुक्तों के भी कृष्ण सर्वस्व ही रहे हैं किन्तु उभय काव्य धाराओं में कृष्णभक्ति का स्वरूप उतने प्रबल रूप में उभर नहीं सका है। रीतिबद्ध काव्य में कृष्ण की भगवद्वत्ता की ओर जहाँ-तहाँ जो इंगन हुआ है वह अपवाद रूप में ही समझना चाहिए, अन्यथा मूलतः वे इन कवियों की दृष्टि में रसिक शिरोमणि, राधारमण, गोपीरमण, भोग विलास वृत्ति के प्रधान दैवत, कामुक नायक, छैला और लंगर आदि ही रहे हैं। रीतिमुक्त काव्य में घनआनन्द ने कृष्ण के प्रति 'रीझ' या आसक्ति ही, अधिक प्रदर्शित की है, भक्ति कम। हाँ अपने जीवन के अन्तिम काल में वे कृष्ण भक्ति सम्बन्धी निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव अवश्य हो गए थे। रसखान में जरूर भक्ति का भाव प्रगाढ़ रूप में प्राप्य है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभिप्राय उस काव्य से है जो कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखता है। भक्ति काल के 'कृष्ण' और 'राधा' रीति काल में मात्र भक्ति के आलम्बन न रह गये। परिवर्तित राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में भक्ति के आवेग के शिथिल पड़ते ही वे शृंगार के प्रधान आलम्बन हुए तथा उनकी आड़ में कवि अपनी शृंगारी वृत्ति निदर्शित करते रहे। 'रीति' अथवा 'शृंगार काल' जिनके नाम से चरितार्थ है उन कवियों ने तो प्रधानतः काव्य की रचना की थी, अपने अन्तःकरण की तथा राजा और सामन्तवर्ग तथा अधीनस्थ कर्मचारियों की शृंगारी वासना की तृप्ति के लिए काव्य को माध्यम बनाया था। राधा और कृष्ण का नाम स्मरण तो उपलक्ष्य मात्र था। भिखारीदास में इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति है—

आगे के सुकवि जो पै रीझि हैं तो कविताई नतु
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

(काव्य निर्णय)

फिर भी इस काल में कृष्ण भक्ति की धारा चलती ही रही, भले ही उसका रूप सांप्रदायिक होकर रूढ़िगत ही रह गया हो। यह भी सच है कि इस काल के कृष्ण भक्तों में भक्तिकालीन कृष्ण भक्तों-सा आवेश और उन्मेष नहीं मिलता फिर भी कृष्ण भक्ति की शिखा बराबर जलती रही, वह उतनी मन्द भी नहीं होने पाई तथा इस काल में नागरीदास आदि अनेक उच्च कोटि के कृष्णभक्त और काव्यरचयिता हो गए हैं।

कृष्णभक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु, वायु, वामन, पद्म, स्कन्द, मार्कण्डेय आदि पुराणों में श्रीकृष्ण का आख्यान मिलता है और वे ब्रह्म के रूप में चित्रित किये गये हैं। जयदेव के गीत गोविन्द और मैथिल कोकिल विद्यापति के प्रताप से यह कृष्ण काव्य धारा विशेष लोकप्रिय हुई तथा दक्षिण के बल्लभाचार्य आदि आचार्यों के

प्रभाव से उत्तर भारत के हिन्दी प्रदेश में जब कृष्ण भक्ति का प्रचार और प्रसार हुआ तो सूरदास, नन्ददास, परमानन्द दास, हितहरिवंश, मीरा बाई, स्वामी हरिदास, हरिराम व्यास ऐसे भक्तों और कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। रसखान, पृथ्वीराज, नरोत्तमदास आदि इसी परम्परा के वाहक हैं। रीतिकाल के कृष्णभक्त कवियों की प्रेरणा-शक्ति उक्त परम्परा ही है।

यह अवश्य है कि इस काल में आकर कृष्ण भक्ति के विविध सम्प्रदाय बन गये; उदाहरण के लिए विष्णु स्वामी, टट्टी, राधावल्लभीय, वल्लभ आदि सम्प्रदायों को लिया जा सकता है। कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायगत हो जाने से रीति काल के कृष्ण भक्त कवियों में दृष्टिकोण की सङ्कीर्णता और संकुचितता तथा रूढ़िबद्धता आ गई। नियमानुसरण तथा सम्प्रदाय विशेष के विधि-विधानों से इन कवियों में एक प्रकार की जकड़न आ गई। फलतः काव्य दृष्टि से भी इन कवियों में वह मौलिकता, प्रतिभा-स्वच्छन्द आवेशशीलता या अनुभूति और अभिव्यक्ति की मार्मिकता दुर्लभ हो गई जो भक्तियुगीन कृष्ण भक्तों का सर्वस्व थी। इस सब के स्थान पर इन कवियों में साम्प्रदायिक भक्ति, काव्यशास्त्र ज्ञान, शृंगारिकता आदि तत्व विशेष रूप से सन्निविष्ट मिलते हैं।

इस काल में कृष्ण भक्ति के अनेक ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद रूप में लिखे गए हैं अथवा उनमें पूर्ववर्ती कृष्ण भक्तों की छाया है। भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, पद्म पुराण, महाभारत और हरिवंश पुराण इस काल के कृष्ण भक्तों के प्रमुख उपजीव्य थे। उपर्युक्त कथन का यह आशय नहीं है कि रीतिकाल के कृष्ण भक्त कवियों का काव्य स्वतन्त्र उद्भावना या अनुभूति या अभिव्यञ्जन क्षमता से एकदम शून्य है तथा इन कवियों में भक्ति या कवित्व के नाम पर जो कुछ है उच्छिष्ट ही उच्छिष्ट है, उनमें भक्ति और काव्यत्व के स्थायी उपकरण विद्यमान हैं तथा काव्य की दृष्टि से उत्कृष्टता भी उपलब्ध है। रीति काल की यह कृष्ण भक्ति धारा अभी भी अनन्वेषित और अनधीत पड़ी हुई है।

रीतियुगीन कृष्ण भक्ति धारा की सर्वोपरि विशेषता वह शृङ्गारिकता और रसिकता है जो समूचे रीतियुगीन काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। इसका मूल कारण युग का प्रभाव अथवा उसकी माँग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शृङ्गार भावना के विशेष समावेश से शुद्ध भक्ति का निर्मल रूप इनकी कविता में झलमलाता नहीं मिलता। इसी कारण साहित्य के इतिहासकारों ने इन कवियों को दो वर्गों (भक्तकवि और प्रेमी कवि) में विभक्त करके देखा है।[१] डा० भगीरथ मिश्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है—'इस युग के भक्ति काव्य में भी शृंगारी भावना प्रधानतया मिलती

---

१. डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०२

है। श्रृंगारी काव्य में भक्ति भावना का स्वरूप चलताऊ है, वह श्रृङ्गार का ही उद्दीपक है भक्ति का नहीं।''''''इस युग के कृष्ण काव्य में श्रृङ्गार भावना का अधिक समावेश हो गया और शुद्ध भक्ति भावना अपने प्रखर रूप में कम हो गई। कृष्ण भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी कृष्ण की लीला विलास और श्रृंगार सज्जा के क्रिया-कलाप अधिक प्रचलित हुए। सखी और दाम्पत्य भाव के उपासक कुछ सम्प्रदायों में तो पुरुष अपने को राधा या सखियाँ समझते हुए नारी के समान ही आचरण करने लगे यहाँ तक की इस प्रकार के उपासकों ने अपने नाम भी इसी प्रकार के रक्खे जैसे अलबेली अलि; ललित किशोरी। ये स्त्रियों के नहीं पुरुषों के नाम हैं। रामोपासक सम्प्रदाय पर भी इसका प्रभाव पड़ा और मधुर भाव की उपासना प्रारम्भ हुई। स्वामी अग्रदास ने भी अपना नाम अग्रअली रक्खा था। इस प्रकार इस युग की विलासिता और श्रृंगार ने समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया।''[1]

कृष्ण भक्तों में ऐसे भी अनेक कवि मिल जायंगे जिन्होंने राम अथवा अन्य देवी-देवताओं का श्रद्धापूर्वक स्तवन किया है। इन कवियों का काव्य प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में प्राप्त है और किसी सीमा तक वर्णनात्मक विशेषताओं से युक्त भी है–कहीं उसमें कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, कहीं प्रेम का तथा कहीं वृन्दावन और ब्रज प्रदेश की प्राकृतिक छटा का। कृष्ण भक्ति धारा में कथात्मक प्रसुन्ध अथवा प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से गोकुलनाथ, गोपीनाथ, और मणि देव का विविधछन्दात्मक शैली में लिखा गया ब्रजवासी दास का दोहा-चौपाई शैली में लिखित 'ब्रजविलास' विशेष उल्लेख्य हैं। एक अन्य प्रकार की प्रबन्ध रचना भी इस काल में देखने को मिलती है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वर्णनात्मक प्रबन्ध'[2] तथा डा० रसाल ने 'वर्णनात्मक लीला काव्य'[3] कहा है। उदाहरण के लिए दान लीला, मान लीला, जल बिहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन, मंगल वर्णन रामकलेवा आदि वर्णनात्मक प्रसंग। सामान्यतया ऐसे प्रसंग बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्यों में आते हैं। जिस प्रकार से रस-निरूपक ग्रंथों से नखशिख, षट्ऋतु, नायिका भेद आदि छोटे-छोटे रसांगों को लेकर रीतिकाल में छोटी-छोटी किन्तु स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी गईं तथा उक्त विषयों को स्वतन्त्र विषय का-सा महत्व प्रदान किया गया इसी प्रकार प्रबन्धात्मक रचना के क्षेत्र में कवियों ने कृष्ण लीला के नाना रसीले प्रसंग उठाए और उनका स्वतन्त्र रूप में वर्णन कर चले। इस प्रकार के वर्णनात्यक प्रबन्धों में

[1]. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास : द्वितीय खंड, पृष्ठ ३३-३४।

[2]. रामचन्द्र शुक्ल : इतिहास, पृ० २६८

[3]. डा० रसाल : इतिहास पृ० ५०१।

कृष्ण लीला के वर्णन तो सरस और रोचक बन पड़े हैं उदाहरण के लिए चाचा हितवृन्दावनदास, मञ्छित कवि कृष्णदास आदि के वर्णनात्मक-लीला-काव्यों को प्रस्तुत किया जा सकता : कन्तु जहाँ कहीं मात्र वस्तु-वर्णन की योजना की गई है वहाँ सारा काम बिगड़ गया है, काव्य पाठक की परिमार्जित साहित्यिक रुचि को गहरा धक्का लगे बिना नहीं रहता —'जहाँ कवि जी अपने वस्तु परिचय का भण्डार खोलते हैं—जैसे बरात का वर्णन है तो घोड़ों की सैकड़ों जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसों प्रकार के कपड़े के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों के नाम—वहाँ तो अच्छे-अच्छे धीरों का धैर्य छूट जाता है।'[1] प्रबन्धात्मक काव्य के अतिरिक्त मुक्तक रुप में लिखित कृष्ण काव्य तो प्रभूत परिमाण में है ही। रीतिकालीन कृष्ण भक्ति साहित्य की नीचे दी हुई सूची से उसके परिमाण का बोध हो सकेगा—

१. ध्रुवदास—(र० का०, संवत् १६८०—१७३५) बयालीस लीला, वृन्दावन सत, भजनसत, भजनसिंगार सत, हितसिंगार, मनसिंगार, नेहमंजरी, रहस्य मंजरी, सुखमंजरी, रतिमंजरी, रस रत्नावली, रस हीरावली, प्रेमावली, रस मुक्तावली, प्रियाजीनामावली, भक्तनामावली, रसविहार, रंग विहार, वनविहार, नृत्य विलास, रंगहुलास, ख्याल हुलास, आनंददसा, विनोद, रंग विनोद, आनंदलता, अनुराग लता, रहस्य लता, प्रेमदसा, रसानंद, ब्रजलीला, दानलीला, मान रस लीला, सभा-मडल, युगल ध्यान, भजन कुँडलियाँ, भजनाष्टक, आनंदाष्टक, प्रीतिचौअनी, सिद्धान्तविचार (गद्यवार्ता), जीवदशा, वैद्यक ज्ञान, मनशिक्षा, बृहदवामन-पुराण भाषा (४३ ग्रंथ)।

२. छत्रसाल—(ज० संवत् १७०६) श्रीकृष्ण कीर्तन।

३. नागरीदास[2]—(जी० का० संवत् १७५६—१८२१, र० का० संवत् १७८०—१८१९) सिंगार सार, गोपीप्रेमप्रकाश, पदप्रसंग माला, ब्रजवैकुंठ तुला, ब्रजसार, भोर लीला, प्रातरसमंजरी, विहारचंद्रिका, भोजनानंदाष्टक, जुगल-रस-माधुरी, फूल विलास, गोधन आगमन दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्म-विहार, पावस पचीसी, गोपी बैन विलास, रासरसलता, नैन रूपरस, शीतसार, इश्क चमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की मांझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, सांझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धनधारन के कवित्त, होरी के

---

१. रामचन्द्र शुक्ल: इतिहास, पृ० २९८

२. 'भक्तवर नागरीदास: उनकी कविता के विकास से संबंधित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन' शीर्षक प्रबंध पर फैयाजअली खाँ को सन् १९५२ में राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की है।

कवित्त, फाग गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्ति मगदीपिका, तीर्थानंद, फाग बिहार, बाल विनोद, बन विनोद, सुजानानंद, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्य वल्ली, रसिक रत्नावली, कलि वैराग्यवल्लरी, अरिल्ल-पचीसी, छूटकविधि, पारायण विधि प्रकाश, शिखनख, नखशिख, छूटक-भक्ति, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ मंजरी, रामचरित्र माला, पद-प्रबोधमाला, जुगल भक्त विनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की मांझ, सांझी फूल-बीनन संवाद, वसंतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फागखेलन, समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास, गोविंद परचई, वन जन प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सवमाला, पदमुक्तावली, वैन विलास, गुप्त-रस प्रकाश (७५ ग्रंथ)।

४. **चाचा हितवृन्दावनदास**[1] (ज० संवत् १७६५) राधावल्लभीय संप्रदायानुयायी। इनको लिखे ४ लाख पदों में से एक लाख पद अब भी मिलते हैं। कृतियाँ-हिंडोरा, छद्मलीला, चौबीस लीला, ब्रजप्रेमानन्दसागर, श्रीकृष्ण गिरि पूजन मंगल, श्रीकृष्ण मंगल, रासरस, अष्टयाम; समय प्रबंध, भक्त प्रार्थनावली, श्री हितरूप चरितावली।

५. **सुन्दरि कुँवरिबाई** (नागरीदास की बहिन ज० संवत् १७६१) राधावल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित) कृतियाँ—नेह निधि, वृन्दावन गोपी माहात्म्य, संकेत-युगल, रसपुंज, प्रेम संपुट, सार संग्रह, गभ्झर, गोपी माहात्म्य, भावना प्रकाश, रास रहस्य, पद तथा फुटकर कवित्त।

६. **बख्शी हंसराज 'प्रेमसखी'**—(सखी संप्रदायानुयायी ज० संवत् १७६६) कृतियाँ—सनेह सागर, विरह-विलास, रायचंद्रिका, बारहमासा,, श्रीकृष्ण जू की पाती, श्री जुगलस्वरूप विरह पत्रिका, फागतरंगिनी, चुरिहारिन लीला।

७. **अलबेली अलि**—(विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा, र० का० अनुमानतः विक्रम की १८वीं शताब्दी का अंतिम भाग) कृति—'समय प्रबंध पदावली।

८. **भगवतरसिक**—(टट्टी संप्रदाय के महात्मा, ज० संवत् अनुमानतः १७६५, र० का० सं० १८३०—१८५०) इनके लिखे बहुत से पद, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया और दोहे मिलते हैं।

६. **श्री हठी जी**—(हित हरिवंश की शिष्य परंपरा के राधावल्लभीय मतानुयायी भक्त। ज० संवत् १७६७) राधासुधा शतक (र० का० संवत् १८३७)

१०. **ब्रजवासी दास**—(वल्लभ संप्रदायानुयायी) कृतियाँ—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का भाषानुवाद, ब्रजविलास (मानस के अनुकरण पर दोहा चौपाई शैली में, र० का० संवत् १८२७)।

११. **गुमानी मिश्र**—कृष्णचन्द्रिका (र० का० संवत् १८३८)

---

[1]. डा० गोपाल व्यास को इस विषय पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

१२. संचित—(सं० १८३६ में वर्तमान थे) कृतियाँ—सुरभीदान लीला, कृष्णायन (तुलसी की पद्धति पर)

१३. गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव[१]—ने मिलकर लगभग ५० वर्षों में महाभारत और हरिवंश का विविध छंदों में सुन्दर अनुवाद किया (र० का० संवत् १८३०—१८८४) गोकुलनाथ कृत गोविन्द सुखद विहार, राधाकृष्ण विलास, राधानुखशिख आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं।

१४. सहचरिशरण 'सखी शरण' (टट्टी सप्रदाय के वैष्णव, समय संवत् १८३७ के आस-पास) कृतियाँ—ललित प्रकाश, सरस मंजावली और गुरू प्रणालिका।

१५. रत्नकुँवरि बीबी—(समय सं० १८५७ के आस-पास) दोहा-चौपाई छंदों में प्रबंध रीति से प्रेमरत्न नामक ग्रंथ लिखा जिसमें कृष्णचरित का वर्णन है।

१६. कृष्णदास—(मिर्जापुर के कृष्ण भक्त थे) सं० १८५३ में 'माधुर्यलहरी' लिखी जो ४२० पृष्ठों का बृहदाकार ग्रंथ है। इसमें कृष्णचरित ही विविध छंदों में वर्णित है। भागवत भाषा पाठ्य और भागवत माहात्म्य नामक दो अन्य ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं।

१७. गुणमंजरीदास—(ज० संवत् १८८४ मृ० १९४७) कृतियाँ—श्री युगल छ्द्म, रहस्यपद तथा फुटकल पद।

कृष्णभक्ति की यह परंपरा रीतिकाल के अनन्तर भी चलती रही। आधुनिक काल के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं ही एक उच्चकोटि के कृष्णभक्त थे। शाह कुन्दन लाल 'ललित किशोरी' और शाह फुन्दनलाल 'ललितामाधुरी' तथा नारायण स्वामी आदि कृष्ण भक्त[२] इसी परंपरा के आगे आने वाले कवि हैं। ऊपर जिस कृष्ण भक्ति धारा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है उसके अनुसंधान और विशेष अध्ययन की आवश्यकता अभी बनी हुई है।

रामभक्ति धारा

हिन्दी में रामभक्ति के अनन्य प्रतिष्ठाता तुलसीदास ही हैं। रामभक्ति साहित्य की परंपरा वैसे तो अत्यंत प्राचीन है क्योंकि वैदिक युग में न सही वैदिक प्रभाव से परिपूर्ण कुछ बाद के ही युग में सही वाल्मीकीय रामायण निर्मित हुई थी। उसके

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि—'कथा प्रबंध का इतना बड़ा काव्य हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमें कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्य गुण में कमी हुई है। (इतिहास पृ० ३३८)

२. हिन्दी साहित्य : द्वि० खं० सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३६१

पश्चात् महाभारत, बौद्ध जातकों, जैन साहित्य और पुराणों में राम कथा का सविस्तार विवरण उपलब्ध है। संस्कृत साहित्य में सामान्यतया उपर्युक्त आधारों पर और विशेषतः वाल्मीकीय रामायण के आधार पर प्रचुर परिमाण में नाटक और काव्य ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। लंका, जावा, बाली, हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश, तिब्बत, काश्मीर, चीन आदि भूभागों में भी राम कथा नाना रूपों में विकसित हुई है[१]। हिन्दी में रामानंद, विष्णुदास, ईश्वरदास रामभक्ति परंपरा के तथा मुनि लावण्य, जिनराजसूरि, ब्रह्मजिनदास, ब्रह्मरायमल्ल तथा सुन्दरदास जैन—रामकथा की परंपरा के ऐसे रचनाकार हैं जो तुलसीदास के पूर्ववर्ती थे। सूरदास तथा अग्रदास ने भी तुलसी दास से पहले रामभक्तिधारा में अपना अनुपेक्षणीय योग दिया था। तुलसीदास के बाद उत्तरवर्ती श्रृंगारकाल में केशवदास, नाभादास, सेनापति, पृथ्वीराज, प्राणचंद चौहान, माधवदासचरण, हृदयराम और मलूकदास रामभक्तिधारा में अपना योग देते रहे।

रीतिकाल में लिखे गए रामकाव्य की अनेक प्रवृत्तियाँ अत्यंत स्पष्ट हैं। पहली बात तो यह है कि तुलसीदास ऐसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति के रामकाव्य ने औरों की हिम्मत तोड़ दी, वे या तो उस दिशा में गए नहीं या गए तो गोस्वामी जी के प्रभाव से अछूते न रहे। यह बात एक बड़ी सीमा तक सच है कि तुलसी कृत 'मानस' ने रामकव्य का विकास रोक दिया। तुलसी की रचना-शैली और उनका प्रबन्ध विधान तो इतना उत्कृष्ट और आकर्षक बन पड़ा है कि स्वयं कृष्ण काव्य के अनेक रचयिताओं ने उनका अनुसरण किया।[२] संतोष की बात यह है कि तुलसी के होते हुए भी रामकाव्य की परंपरा चलती रही।

रीतिकालीन रामकाव्य में सीता और राम के प्रति कवियों और भक्तों का वह पवित्र भाव दुर्लभ हो गया जो भक्तिकालीन रामकाव्य में गोस्वामी जी तथा अन्य कवियों में पाया जाता है। सीता और राम को छिछोरे नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया गया और इसकी परिपाटी-सी चल पड़ी। राम के प्रति दास्यभाव की जिस भक्ति का उत्थान गो० तुलसीदास द्वारा हुआ वह माधुर्य अथवा सखी भाव की उपासना में परिणत हो गई। कहीं पर सीता को रस की राशि तथा राम की आह्लादिनी शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है तो कहीं 'अष्टयाम' का वर्णन करते हुए राम और सीता की विलास-चेष्टा, रतिकेलि, विहार आदि का वर्णन किया गया है। सीता के नखशिख का वर्णन करते हुए कटि, नितंब और उरोजों तक का वर्णन हुआ है। रामकाव्य में यह श्रृंगार-प्रवणता पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कृष्ण काव्य

---

१. डा० कामिल बुल्के: रामकथा का विकास

२. जैसे मंचित कृत 'कृष्णायन', ब्रजवासीदास कृत 'ब्रजविलास', रत्नकुँवरि बीबी कृत 'प्रेमरत्न' आदि

के प्रभाव के कारण ही निष्पन्न हुई है। मात्र प्रेम को लेकर चलने वाले भक्ति पथ में विलासिता और इंद्रियासक्ति का प्रवेश स्वाभाविक है। कृष्णभक्ति में यही हुआ तथा उसी के अनुसरण से रामभक्ति साहित्य भी दूषित हुए विना न रहा। रामभक्ति-गत मर्यादावाद और दास्यभक्ति का स्थान कृष्ण भक्ति वाली शृङ्गार और माधुर्य भावना ने लिया। रामभक्ति में प्रवेश करने वाली "इस शृङ्गारी भावना के प्रवर्तक थे रामचरितमामस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकीघाट (अयोध्या) के रामचरणदास जी, जिन्होंने पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्वमुखी' शाखा रक्खा। स्त्रीवेश धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना; सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए।....रामचरणदास जी की इस शृंगारी उपासना में चिरान छपरा के जीवाराम जी ने थोड़ा हेर-फेर किया। उन्होंने पति-पत्नी भाव के स्थान पर 'सखी भाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इस सखी भाव की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्यशरण ने किया। रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह इन्हें बहुत मानते थे और इन्हीं की सम्मति से उन्होंने चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए। चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप में की गई और वहाँ के कुंज भी व्रज के क्रीड़ाकुंज माने गए। इस रसिक पंथ का आजकल अयोध्या में बहुत जोर है और वहाँ के बहुत से मंदिरों में अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। ये लोग सीताराम को 'युगल सरकार' कहा करते हैं।"[1] रासलीला, विहार, विलास क्रीड़ा आदि में राम को कृष्ण से भी आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई। रीति युगीन राम साहित्य पर छाई हुई इस रसिकता का इधर अच्छा अध्ययन हुआ है।[2] संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' जैसे ग्रंथों में शृंगारिकता पहले ही आ गई थी। रामकाव्य से इस प्रकार मर्यादा और लोक कल्याण के आदर्श धीरे-धीरे तिरोहित होते गए।

रीतियुगीन राम साहित्य आंशिक रूप से वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि के अनुवाद रूप में लिखा गया है शेष में भक्तिकालीन रामकाव्य, परवर्ती कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य और रसिक सम्प्रदाय आदि का प्रभाव है। जहाँ-तहाँ कुछ स्वतंत्र सृष्टि भी मिलेगी। कुछ कवियों ने तुलसीदास वाली मर्यादा भावना कायम रखी तथा भगवान राम के जीवन के विविध प्रसंगों को लेकर मुक्तक एवं प्रबंध रूप में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। राम तथा हनुमानादि को लेकर थोड़ा-बहुत वीर

---

[1]. रामचंद्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४१-४२

[2]. डा० भगवती प्रसाद सिंह : राम भक्ति में रसिक संप्रदाय (सं० २०१४) तथा रामनिरंजन पाँडेयः रामभक्ति शाखा (सन् १९६०)

पुरुष या देवस्तवन काव्य भी लिखा गया। किन्हीं-किन्हीं कवियों में वर्णनगत वैशिष्ट्य भी मिलेगा फिर भी ऐसी रचनाएँ कम ही हैं जिन्हें पर्याप्त साहित्यिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ हो। नीचे दिये हुए विवरण से रीतियुगीन रामभक्ति काव्य के परिमाण का बोध हो सकेगा :—

(१) लालदास कृत 'अवध विलास' (सं० १७००) दोहा-चौपाई में बड़े आकार का राम कथा ग्रंथ।

(२) नरहरिदास चारण कृत 'अवतार चरित्र' (अनुमानतः सं० १७०० के आस-पास) रामचरित वाले अंश पर तुलसी और केशव का प्रभाव।

(३) रामसखे कृत 'राघवमिलन' (सं० १७०४)

(४) रामचंद कृत 'सीता चरित्र' (सं० १७१३)

(५) बाल कृष्ण नायक 'बालअली' कृत 'ध्यान मंजरी' (सं० १७२६) और 'नेह प्रकाशिका' (सं० १७४६)

(६) गुरु गोविन्द सिंह कृत 'गोविन्द रामायण' (सं० १७५० के आस-पास)

(७) रामप्रिया शरण का 'सीतायन' (सं० १७६०) इस ग्रंथ का दूसरा नाम 'सीतारामप्रिया' भी है

(८) यमुनादास कृत 'गीत रघुनन्दन' (विक्रम की १८वीं शती मध्य) गीत गोविन्द के अनुकरण पर सीता-राम-केलि संबंधी ग्रंथ।

(९) जानकी रसिक शरण कृत 'अवधी सागर' (सं० १७६०) में राम-सीता के अष्टयाम और उनके विहार का वर्णन है।

(१०) प्रेमसखी कृत सीता राम नखशिख (सं० १७६१) होरी छन्दादि प्रबंध, कवित्तादि प्रबन्ध (सं० १७६१ के आस-पास)

(११) जनकराज किशोरीशरण कृत तुलसीदास चरित्र, जानकीसरणाभरण, सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली, रामरस तरंगिणी, रघुवर करुणाभरण। सं० १७६७ इनका विद्यमान होना कहा जाता है।

(१२) सरजूराम पंडित कृत जैमिनि पुराण (सं० १८०५) में अन्य अवतारों के साथ रामावतार का वर्णन तुलसी की पद्धति पर अवधी भाषा में दोहा-चौपाई छंदों में किया गया है।

(१३) रसिकअली कृत 'मिथिला विहार, अष्टयाम, होरी और षट्ऋतु पदावली (सं० १८०७ के लगभग)

(१४) भगवन्त राय खीची कृत एक (सातों काण्ड संपूर्ण) 'रामायण' कवित्तों में लिखी कही जाती है। इनकी 'हनुमत पच्चीसी' का रचनाकाल सं० १८१७ है।

(१५) मधुसूदनदास विरचित 'रामाश्वमेध' (सं० १८३९) को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य कहा है।

(१६) मनियार सिंह कृत भाषा-महिम्न (पुष्पदंत के महिम्न ग्रन्थ का भाषानुवाद सं० १८४१) हनुमत छब्बीसी, सुन्दरकाण्ड आदि ।

(१७) खुमान कृत 'अष्टजाम' (सं० १८५२), लक्ष्मण शतक (सं० १८५५), हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, हनुमान नखशिख आदि । ये 'मान' उपनाम से कविता करते थे ।

(१८) गोकुलनाथ कृत 'सीताराम गुणार्णव' (सं० १८७०) इसे अध्यात्म रामायण का अनुवाद कहा जाता है ।

(१६) नवलसिंह कृत रामचन्द्र विलास (सं० १८७३) आल्हा रामायण, अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, सीता स्वयंबर, रामविवाह खण्ड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, पूर्वश्रृङ्गार खण्ड, मिथिला खण्ड आदि ।

(२०) ललकदास कृत 'सत्योपाख्यान' (सं० १८७५ के आसपास) में रामचन्द्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार से वर्णित है ।

(२१) गणेश बन्दीजन कृत 'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' (समस्त बालकाण्ड तथा किष्किधा के ५ अध्यायों का भाषानुवाद) और हनुमत पचीसी ।

(२२) महाराज विश्वनाथ सिंह कृत आनंद रघुनंदन नाटक, संगीत रघुनंदन, आनंद रामायण, रामचन्द्र की सवारी, रामायण, गीता रघुनंदन, शतिका गीता रघुनंदन प्रामाणिक (सं० १७६० के आस-पास ये ग्रंथ लिखे गए ।

(२३) महाराज रघुराज सिंह कृत रघुपतिशतक, रामरसिकावली, रामस्वयंबर, रामाष्टयाम, हनुमत चरित्र ।

(२४) रसिकबिहारी कृत मानस प्रश्न, रामचक्रावली, श्रीरामरसायन ।

रीतियुग के प्रमुख कवियों के कृतित्व का अध्यय-

रीतिबद्ध कवि

केशवदास—हिन्दी काव्याकाश के ज्योतिर्ग-
बाद केशव का नाम लिया जाता है और लि-
उनका साहित्य वर्ण्य विषय और
पूर्ण, कलाभिरुचि-प्रकाश-
कटु आलोचनाओं
भाव था,

-शुद्ध ॥
-रथा सनमान ।
प्रगटे बुद्धि निधान ॥
-धुशाह नृप जिनपै सुने पुरान ।
-के सोदर ह्वै भये केशवदास कल्यान ॥
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास ।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास ।

शील आलोचनाओं से उनसे काव्य में निहित महत्वपूर्ण विशिष्टताओं का धीरे-धीरे अधिकाधिक उद्‌घाटन होता चल रहा है ।

जीवनवृत्त · केशवदास जी के ग्रंथों से ही उनके संबंध में हमें बहुत-सी प्रामाणिक जानकारी हो जाती है किन्तु अपने जन्म-काल के संबंध में वे मौन हैं। विद्वानों ने विविध अनुमान किये हैं, जिसमें सं० १६१२ के आस-पास केशव का जन्म मानना सत्य के अधिक निकट होगा, क्योंकि 'रसिक प्रिया' का रचना काल सं० १६४८ है और यह ग्रंथ महाराज इन्द्रजीत सिंह की प्रेरणा से लिखा गया था । महाराज इन्द्रजीत सिंह जी का जन्म इतिहासकारों ने सं० १६२० माना है । 'रसिक प्रिया' की रचना के समय महाराज इन्द्रजीत सिंह की आयु २८ वर्ष की थी । वे केशव का आदर करते थे । अपने युवा आश्रियदाता के लिये 'रसिकप्रिया' से शृङ्गार रसपूर्ण ग्रन्थ की रचना करने वाले केशव की आयु कुछ अधिक रही होगी, अतएव यदि केशव का जन्म सं० १६१२ के आस-पास माना जाय तो वे महाराज इन्द्रजीत सिंह से ७-८ वर्ष बड़े ठहरते हैं । केशव का जन्म बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत बेतवा नदी के तट पर बसी हुई ओरछा नगरी में हुआ था, वे वहीं रहते भी थे ।[1] बेतवा नदी का वर्णन केशव ने अपनी 'कविप्रिया' में बड़े उल्लास से किया है:—

> ओरछै तीर तरंगनि बेतवै ताहि तरै रिपु केशव को है।
> अर्जुन बाहु प्रवाह प्रबोधित रेखा ज्यों राजन की रज मोहै।।
> ज्योति जगै जमुना सो लगै जब लाल बिलोचन पाप बिपोहै।
> सूर-सुता सुभ संगम तुङ्ग तुरंग तरंगिणि गंग सी सोहै ।।'

केशवदास जी सनाढ्यवंशी थे । उन्होंने अपने वंश का पूर्ण परिचय 'कविप्रिया' के दूसरे प्रभाव में दिया है जिसके आधार पर पता चलता है कि उनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र थे और पिता काशीनाथ मिश्र । इनके पितामह को राजा रुद्र प्रताप ने पुराण वृत्ति प्रदान की थी और पिता महाराज मधुकर शाह के सम्मानपात्र थे । केशव के साथ थे, बड़े थे बलभद्र मिश्र और छोटे का नाम था कल्यान । पाण्डित्य और छंदों में किया गे वंशपरंपरागत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी । इनके यहाँ दास-

(१३) रसिक...

वली (सं० १८०७ के लगभग) ... तीर जहँ तीरथ तुंगारन्न ।

(१४) भगवन्त राय खीची कृत ... धरणीतल में धन्न ।।

में लिखी कही जाती है । इनकी 'हनुमत पचीसी' को ... द्वान ।

(१५) मधुसूदनदास विरचित 'रामाश्वमेध' (सं० १८...

शुक्ल ने 'सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परि...

योग्य कहा है ।

वर्ग भी बोल-चाल में संस्कृत का ही प्रयोग किया करता था । 'रामचन्द्रिका'[1] में भी यही बात संक्षेप में कही गई है—

सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव ।
सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पंडित राव ।।
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध ।
अशेष शास्त्र विचारि के जिन जानियो मत साध ।।
उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठ कवि केशवदास ।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास ।।
(रामचन्द्रिका : प्रथम प्रकाश)

केशव के बाल्यकाल के संबंध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है । अंतसाक्ष्य के आधार पर यह अवश्य पता चलता है कि उनका विवाह हुआ था और उनके सन्तान भी थी तथा केशव की प्रौढ़ावस्था में भी उनकी पत्नी जीवित थीं ।

'विज्ञान-गीता' में एक स्थान पर केशव लिखते हैं कि महाराज वीरसिंह देव ने 'विज्ञान-गीता' की रचना से प्रसन्न होकर उनसे अपनी मनोभिलाषा व्यक्त करने को कहा और उस समय केशव ने उनसे यह याचना की थी—

वृत्ति दई पुरखानि की देऊ बालनि आसु ।
मोहि आपनो जानि कै गंगा तट देउ बासु ।।
वृत्ति दई पदवी दई दूरि करो दुख त्रास ।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगा तट बस बास ।।' (विज्ञान गीता)

इन पंक्तियों से सिद्ध है कि केशव को एक से अधिक संतान थी और अधिक आयु तक स्त्री का साहचर्य भी प्राप्त रहा । 'विज्ञान गीता' की रचना उन्होंने लगभग ५२ वर्ष की आयु (सं० १६६४) में की थी । कुछ विद्वानों जैसे पं० गौरीशंकर द्विवेदी, स्व० बाबू

---

[1]पुत्र भये हरिनाथ के कृष्णदत्त शुभ वेष ।
सभाशाह संग्राम की जीति गढ़ी अशेष ।।
तिनको वृत्ति पुराण की दीन्हीं राजा रुद्र ।
जिनके काशीनाथ सुत सोभे बुद्धि समुद्र ।।
जिनको मधुकर शाह नृप बहुत कर्यो सनमान ।
तिनके सुत बलभद्र शुभ प्रगटे बुद्धि निधान ।।
बालहि ते मधुशाह नृप जिनपै सुने पुरान ।
तिनके सोदर द्वै भये केशवदास कल्यान ।।
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास ।
भाषा कवि भो मन्दमति तेहि कुल केशवदास ।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेकानेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी, केशव के पुत्र थे। इस संबंध में उन्हें बिहारी के उन दोहों से बड़ी सहायता मिली है :---

प्रकट भये द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ ॥
जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल ॥

दूसरे दोहे से बिहारी का बचपन बुन्देलखंड में बीतना, पहले से की गई केशवराय की स्तुति; बिहारी के काव्य में एक स्थान पर छाया हुआ 'पातुर राइ' शब्द (जिसे इन महानुभावों ने 'प्रवीण राय पातुर' का वचन कहा है) केशव के काव्य में आए हुए भावों, शब्दों, एवं प्रयोगों की 'बिहारी सतसई' के अनेक दोहों पर पड़ी हुई छाया तथा अन्य अनेक तर्क उक्त मत की पुष्टि में प्रस्तुत किये गए हैं किन्तु अद्यावधि ऐसे प्रबल तर्कों एवं प्रमाणों को नहीं रखा जा सका है, जिसके आधार पर यह कथन निर्भ्रान्त कहा जा सके। एक अन्य कवयित्री बुन्देलखंड में अपने श्वसुर के नाम से विख्यात है— 'केशवपुत्र बधू'। उसके नाम से अच्छे छंद मिलते हैं। लोगों का अनुमान है कि वह केशव की ही पुत्रवधू रही होगी।

राज्य का आश्रय केशव को वंशपरंपरा से प्राप्त था।[1] उनके सर्व प्रसिद्ध आश्रयदाता थे महाराज इन्द्रजीत सिंह, जो ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के छोटे भाई थे।

महाराज इन्द्रजीत सिंह काव्य, नृत्य, संगीत आदि कलाओं के प्रेमी थे। उनकी राज-सभा में नर्तकियों एवं कलाकारों का जमघट रहता था। उनके आश्रय में रहकर केशव ने यथेष्ट सुख और सम्मान प्राप्त किया है—
उनके आश्रय में रहकर केशव ने यथेष्ट सुख और सम्मान प्राप्त किया—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
जाके राज केशोदास राज सो करत है।

उन्हीं की इच्छा पूर्ति रूप में केशव ने 'रसिकप्रिया'। नामक ग्रंथ की रचना की।[2] केशव के दूसरे महत्वपूर्ण आश्रयदाता थे महराज वीरसिंह देव जो महाराज इन्द्रजीत सिंह के बड़े भाई थे। उनके जीवन चरित्र का विस्तृत वर्णन केशव ने "वीरसिंह देव चरित्र" नामक ग्रन्थ में किया है। इसके अतिरिक्त वीरसिंह देव की प्रेरणा से ही

---

[1]. देखिये कवि प्रिया : प्रथम प्रभाव (कवि प्रिया : दूसरा भाग) नृप-वंश-वर्णन।

[2] तिन कवि केशव दास सों कीन्हों धर्म सनेह।
सब सुख दै करि यों कह्यो रसिक प्रिया करि देहु ॥

केशव ने 'विज्ञान गीता' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में भी वीरसिंह देव की दानशीलता और वीरता पर कुछ छंद लिखे गए हैं।—

दानिन में बलि से विराजमान जिलि पाहि,
माँगिबे को है गलित विक्रम तनक से।
सेवक जगत प्रभुदितिन की मंडली में,
देखियत केशोदास सौनक सनक से॥
जोधन में भरत भगीरथ सुरथ पृथु,
विक्रम में विक्रम नरेश के बनक से।
राजा मधुकारशाह सुत राजा बीरसिंह देव,
राजनि के मंडली में राजत जनक से॥

अथवा

'केशोराई' राजा वीरसिंह के नामहिं ते
अरि गजराजनि के मद झुरझात हैं। (विज्ञान-गीता)

इसके अतिरिक्त 'कविप्रिया' के ही साक्ष्य से पता चलता है कि जोधपुर नेरेश मालदेव के पुत्र महाराज चन्द्रसेन से वे (सं० १६२५ से १६४२ के बीच) किसी समय सम्मानित हुए थे। महाराज चन्द्रकेन की तलवार की प्रशंसा में वे लिखते हैं —

रजै रज केशवदास टूटत अरुण लार,
प्रतिभटअंकन ते अंकन पै सरतु है।
सेना सुन्दरीन के विलोकि मुख भूषणनि,
किलकि किलकि जाहीं ताही को धरतु है॥
गाढ़े गढ़ खेल ही खिलौननि ज्यों तोरि डारै,
जग जाय यश चारु चन्द्र को अरतु है।
चन्द्र सेन भुआपाल आँगन विशाल रण,
तेरो करवाल बाललीला सी करतु है॥
(कविप्रिया)

इसी प्रकार महाराणा प्रताप के उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह के विषय में भी केशव का एक छंद मिलता है, जिसकी अंतिम पंक्ति इस प्रकार है—

केशोराय की सौं कहै केशोदास देखि देखि,
रुद्र की समुद्र अमरसिंह रान हैं।

इनसे पता चलता है कि उसी समय के आसपास कभी केशवदास जी मेवाड़ भी गए होंगे।

केशव की जीवनी का एक ढाँचा किवदंतियों के आधार पर भी खड़ा किया गया है। कहा जाता है कि एक बार केशव तुलसी से भेंट करने गए, तब उन्होंने कहलवा भेजा 'कवि प्राकृत केशव आवन दो।' यह सुनते ही केशव लौट गए; और रात

भर में रामचन्द्रिका की रचना करके दूसरे दिन सबेरे तुलसी दास जी से मिलने के लिए आए। यही बात 'मूल गोसाईं चरित्र' में भी मिलती है, जिसके रचयिता बाबा वेणीमाधव कहे जाते हैं[1]; किन्तु यह ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार एक और कथा मिलती है कि एक बार तुलसीदास जी ओरछे से चले जा रहे थे कि उन्हें केशव के प्रेत ने घेरा। उस समय गोस्वामा जी की कृपा से केशव प्रेतयोनि से मुक्त हुए और स्वर्ग लोक को गए। केशव दास का बीरबल से मिलना और महाराज इन्द्रजीत सिंह पर शहंशाह अकबर द्वारा किया गया जुरमाना माफ कराने की कथा भी प्रसिद्ध ही है। अकबर की कामुकता भी इतिहासप्रसिद्ध ही है। जब उसे पता चला कि इन्द्रजीत के दरबार में अनिंद्य सुन्दरी प्रवीण राय नामक एक वेश्या है, तो उसने प्रवीणराय को बुलवा भेजा। महाराज इंद्रजीत के लिए प्रवीणराय प्रेयसी के समान थी। वह पहले से ही पशोपेश में पड़े थे; किन्तु प्रवीणराय की अनिच्छा देख उन्होंने उसे न भेजने का ही निश्चय किया। इस पर रूष्ट हो अकबर बादशाह ने इन्द्रजीत पर एक करोड़ का जुरमाना कर दिया। इस जुरमाने को माफ करने के उद्देश्य से ही केशव बीरबल से मिले और उनकी प्रशंसा में यह छंद पढ़कर सुनाया—

पावक, पंछी, पशू, नर, नाग, नदी, नद, लोक, रचे दस चारी।
केशवदेव अदेव रचे, नरदेव रचे रचना न निवारी॥
कै बर बीरबली बलबीर भयो कृत-कृत्य महाव्रत धारी।
दै करतापन आपन ताहि; दई करतार दुवौ करतारी॥'[2]

इस छंद पर खुश हो बीरबल ने ६ लाख रुपये की हुँडियाँ केशव को इनाम में दीं। तब केशव ने दूसरा छंद पढ़ा—

---

१. कबि केशवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कबि जानि के दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेज दये॥
सुनि कै जु गुसाईं कहैं इतनो। कबि प्राकृत केशब आवन दो॥
फिरगे झट केशव सो वनि कैं। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कैं॥
जब सेवक टेरेउ गे कहि कै। हौं भेंटिहौं कालिह विनय गहि कैं॥
रचि राम चन्द्रिका रातिहिं में। जुरे केशव जू असि घाटिहि में॥
सतसंग जमी रह रंग मची। दोउ प्राकृति दिव्य विभूति बची॥
मिटि केसव को संकोच भयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो॥
(मूलगोसाईं चरित)

२. देखिये मिश्रबंधु कृत 'हिन्दी नवरत्न'

केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्यो ।
धोये धुवै नहि छूटो छुटै बहु तीरथ के जल जाय पखार्यो ।।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं, बीरबली बरबीर निहार्यो ।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो सुख चार्यो ।।[1]

इस पर वीरबल ने अत्यधिक प्रसन्न हो और कुछ माँगने को कहा, तब केशव ने उनसे कृपा भाव की याचना की और उनसे कहकर महाराज इन्द्रजीत सिंह पर किया हुआ जुरमाना माफ करवा लिया । सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित किंवदन्ती केशव के धवल केशोंवाली है । वे किसी पनघट से होकर जा रहे थे, जहाँ अनेक उमंगभरी युवतियाँ पानी भर रही थीं । उनमें से जब किसी ने उन्हें अधिक आयु वाला जानकर 'बाबा' शब्द से सम्बोधित किया तब उस हृदयहीन कहे जाने वाले कवि की सारी हृद्गत सरसता अनुताप-व्यंजक इस प्रसिद्ध दोहे में मूर्त हो उठी:—

'केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं ।
चन्द्र बदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं ।।

केशव की कविता के आधार पर कहा जा सकता है कि वे स्वाभिमानी, उदारहृदय अलोभी, धन की अपेक्षा आदर सम्मान को अधिक महत्व देने वाले, सन्मार्ग-प्रदर्शक एवं बुद्धिमान व्यक्ति थे । हास्य एवं विनोद की प्रवृत्ति भी यथावश्यक परिमाण में उनमें विद्यमान थी । साथ ही वे अनुभवी और वचन-विदग्ध भी थे । भावुकता एवं सहृदयता का भी उनमें अभाव न था । अपने पाण्डित्य एवं कवित्व पर वे स्वयं रीझे हुए थे । उनका ज्ञान और अनुभव भी बहुत विस्तृत था । सांसारिक ज्ञान का कदाचित् ही कोई विषय हो जहाँ केशव की थोड़ी-बहुत पहुँच न हो । ब्रज भाषा पर केशव का पूर्ण आधिपत्य था, छंद शास्त्र का उन्हें अन्य कवि-दुर्लभ ज्ञान था, संस्कृत का पाण्डित्य उनकी पैतृक सम्पत्ति थी तथा अलंकार एवं काव्य शास्त्र के वे आचार्य थे । इनके अतिरिक्त भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, वनस्पति विज्ञान, संगीत-शास्त्र, राजनीति, समाज नीति, धर्मनीति, वेदान्त आदि विषयों का भी केशव को पर्याप्त ज्ञान था । केशवदास जी से इन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों और बातों का अपने विभिन्न ग्रंथों में समय-समय पर उपयोग किया है ।[2]

काव्य-रचना का दृष्टिकोण

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक हिन्दी साहित्य का क्षेत्र भक्तिपूरक काव्य से ही आपूरित रहा। प्रत्येक धारा का कवि

---

१. देखिये मिश्र बन्धु कृत 'हिन्दी नवरत्न'

२. आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित (पृ० ५६)

अपने हृदय से ईश्वर का अनन्य भक्त रहा तथा भगवान के प्रति भक्त का अनुराग भी अखंड था। प्रेम रस से स्नात भक्त का हृदय केवल ईश्वर-तादात्म्य का आकांक्षी था। ऐसी स्थिति में कवि की अन्तरात्मा का उद्‌गार जिस किसी रूप में व्यक्त हुआ वही उस समय की सच्ची कविता कहलाई और इसमें संदेह नहीं कि दो सौ वर्षों का यह भक्तिकाव्य अपनी विशालता और गंभीरता में अद्वतीय है।

भक्ति काव्य की इन दो शताब्दियों के अनन्तर हिन्दी साहित्य में एक अभिनव युग देखने में आया । इस युग को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने रीतिकाल के नाम से अभिहित किया। इस नये युग में प्रवेश कर हिन्दी कविता के रचना-केन्द्र परिवर्तित हुए। कविता लोकाश्रय को छोड़कर राज्य प्रश्रय की अधिकारिणी हुई। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में शांति एवं समृद्धि के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। मुगल शासकों के राजभवनों की बात ही अलग, हिन्दू नरेशों के राजप्रासादों में भी चित्र, संगीत एवं काव्य ऐसी कलाओं के प्रति यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित किया जाने लगा। ओड़छा दरबार एक ऐसा ही केन्द्र था जहाँ कविता और संगीत का समादर परम्परा से होता चला आता था। भूतल पर इन्द्र के समान यशस्वी इन्द्रजीत सिंह ऐसे महिपालों के राज-प्रकोष्ठ नवरंगराय तथा प्रवीण राय ऐसी कला-कुशल वीरांगनाओं के कला प्रदर्शन की क्रीड़ा स्थली बने रहते थे। ये वेश्याएँ आज की वेश्यायों के समान ऐहिक सुखोपभोग को ही अपना सर्वस्व समझने वाली न थीं। उनमें आत्मिक बल था और वे अकबर ऐसे प्रतापी धराधिप के कुप्रस्तावों को यह कह कर—

बिनती राय प्रवीन की, सुनिये साहि सुजान,
जूठी पातर खात हैं, बारी बायस स्वान।

अस्वीकार करने की क्षमता रखती थीं। कला का एकान्तिक प्रेम ही उनका जीवन था। संगीत एवं नृत्यकला में प्रवीण, ये राजनर्तकियाँ काव्य-कला की भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथा समादृत होने के लिये, कवि-कर्म सीखने के हेतु केशवदास ऐसे आचार्य कवियों के चरणों में बैठ काव्य-रचना की शिक्षा लिया करती थीं।

राजदरबारों में काव्य-कला के समादर की अभिवृद्धि होते देख नये कवियों को तथा काव्य पारखी कहलाने के हेतु स्वत: नरेशों को भी काव्य-कला का अभिज्ञान आवश्यक हुआ तथा उनको पंडित कवियों के शरण में जाना पड़ा। युग की इस माँग की उपेक्षा केशवदास तो क्या कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता था, फिर केशव तो स्वत: समर्थ विद्वान थे। संस्कृत साहित्य का प्रकाण्ड पांडित्य लिए हुए हिन्दी साहित्य क्षेत्र में वे उस समाज से आए जिसमें रहने वाले भृत्य एवं अनुचर तक संस्कृत से नीचे बात नहीं करते थे। केशवदास जी के पास संस्कृत के साहित्यिक और शास्त्रीय ग्रंथों का प्रगाढ़ अध्ययन था। कविता से संबंधित चिन्तन से कठिन उनके पास एक अपनी विचारावली थी जिसे लेकर उन्होंने हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा

रस एवं अलंकार विषयों पर एक-एक पाठ्य ग्रंथ निर्मित किये । 'रसिकप्रिया' की रचना उन्होंने राजप्रेरणा से की तथा कवि-कर्म-शिक्षा प्रदान के विचार से 'कविप्रिया' निर्माण किया । यहाँ इस बात को न भूल जाना चाहिए कि इन ग्रंथों की रचना केशवदास जी ने अपने पाण्डित्य के पूर्ण प्रकाशन का दृष्टिकोण रखकर नहीं की वरन् इस विचार से कि कविकर्म की शिक्षा तथा रस एवं अलंकार विषय से संबंधित कोई महत्वपूर्ण रचना उनके सामने तक न हो पाई थी । अत: पाठ्य ग्रन्थों के रूप में उन्होंने दो ग्रंथ इन विषयों पर रच दिए । साधारण रूप में उभय रीति ग्रन्थों का निर्माण करते हुए भी केशवदास काव्याभ्यासियों के सामने आचार्य के रूप में आए, संभव है केशव के अनुकरण पर अन्यान्य रीतिग्रंथ बने हों पर ऐसे ग्रंथों का अभी तक पता नहीं चल सका है । जो हो 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की रचना कर केशवदास ने रीति ग्रंथों के प्रणयन का मार्ग खोल दिया । परवर्ती आचार्यों ने अपने रीति ग्रंथों में आचार्य केशव के मत एवं विचारों का पोषण नहीं किया । परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे चले उसी मार्ग पर जिसका प्रदर्शन केशव ने किया था । और इस दृष्टि से केशव का महत्व आज भी अक्षुण्ण है ।

केशव ने अपने समय तक के समस्त हिन्दी साहित्य की प्रगति एवं विकास को देखते हुए भाषा व्यापकता तथा साहित्यिक उत्कर्ष देने का प्रयास प्रकिया, कविता के विषय तथा काव्य को विकसित करने का यत्न किया । अनेकानेक नूतन शैलियों का प्रयोग कर भावी साहित्यसेवियों के लिए अनुकरणीय कार्य किया, इस दृष्टि से उनकी 'रतन बावनी' तथा 'विज्ञान गीता' का विशेष महत्व है । परन्तु इन सब के अतिरिक्त केशवदास की महान कवित्व शक्ति की परिचायिका हैं, उनकी अमर कृति 'रामचन्द्रिका' । इसकी रचना कर वे सहज ही अन्य रीतिकालीन कवियों में आगे हो जाते हैं । रामचन्द्रिका के अंतर्गत जो काव्य का कलापक्ष उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा हुआ दृष्टिगत होता है उसपर हम अन्यत्र विचार करेंगे । यहाँ पर इतना कहना ही उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, दादू और मीरा का भावनात्मक साहित्य अथाह सागर के समान है उसी प्रकार केशव का कलात्मक साहित्य भी अतल और अमान है ।

हृदयहीनता का दोषारोपण कर केशव को आज अपेक्षित, तिरस्कृत कवियों के वर्ग में खड़ा कर दिया गया है । उनकी कविता को आज समालोचना के पाश्चात्य चश्में से देखा जा रहा है जिससे केशव का स्वरूप कुछ विकृत-सा दीख पड़ता है । यह अधिक उपयुक्त होगा यदि केशव के निजी काव्य सम्बन्धी आदर्शों को ध्यान में रखते हुए आलोचकगण उनके काव्य के सौन्दर्यान्वेषण में प्रवृत्त हों । इस प्रकार की समालोचनाएँ प्रस्तुत कर देना "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था । उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए······

यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द क्रीड़ा के प्रेमी थे'' सहानुभूतिशून्यता का परिचायक है। जिज्ञासा और सहानुभूति तो आलोचक की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। ऐसी संहारात्मक समीक्षाओं का प्रतिवाद कब का किया जा चुका है—''केशवदास को हृदयहीन कहकर हम उनके प्रति अन्याय करते हैं क्यों कि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी-समझी हृदयहीनता है फिर अनेक स्थलों पर उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है।''

वस्तुतः केशव मौलिक प्रतिभावान एक आचार्य कवि थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य क्षेत्र में एक भिन्न दृष्टिकोण को लेकर प्रवेश किया। उनमें शास्त्रीय ज्ञान की प्रधानता थी, अतएव पाण्डित्य ही उनके काव्य का प्राण है। सूर, तुलसी और मीरा के सदृश केशव में भक्ति का उन्मेष न था। उनमें सूक्ष्म दृष्टि एवं बौद्धिक पक्ष की प्रधानता थी। वे भक्त-कवि न होकर प्रधानतया रीतिकवि थे। उन्हें भक्ति भावना का माहात्म्य स्थापित न कर अपने ज्ञान, शास्त्र तथा काव्य-कला का माहात्म्य प्रदर्शित करना था। भाषा पर अधिकार तथा भाव में गांभीर्य की दृष्टि से केशव का काव्य हिन्दी साहित्य के लिए अनमोल एवं गौरव की वस्तु है।

भावना की अभिव्यक्ति, मार्मिक भावों के चित्रण, आत्मानुभूति-प्रकाशन तथा भक्ति के उद्रेक की दृष्टि से केशव, सूर और तुलसी से अवश्य पीछे रह गये हैं पर काव्य-कला, अलंकार-विधान, छन्द-योजना, भाषाधिकार, श्लेष-कौशल, काव्यरीति की अभिज्ञता, शास्त्रीय ज्ञान आदि की दृष्टि से केशव, सूर और तुलसी से ऊँचे ठहरते हैं और इसी कारण से वे नक्षत्र-उपमित हैं जो साहित्य-गगन के सूर्य और चन्द्र से भी ऊँचे प्रदेशों के अधिवासी हैं।

रामचन्द्रिका को प्रबन्धकाव्य कहा जाता है। उसकी आलोचना करते हुए प्रायः आलोचक उसे असफल प्रबन्ध काव्य कहा करते हैं। कुछ लोगों को उसमें शुष्क पाडित्य-प्रदर्शन की अभिरुचि प्रधान मिलती है तथा कतिपय विद्वज्जन उसे मुक्तकों का एक संकलन-मात्र मानते हैं। वे यह कहकर कि इसका कथा-क्रम विशृंखल है तथा मार्मिक स्थलों के चित्रण का इसमें अत्यन्त अभाव है कवि की हृदयहीनता सिद्ध करना चाहते हैं। प्रयोगों की अशुद्धता, भावाभिव्यक्ति में असफलता, विशिष्टता आदि दोषों का भी केशव पर आरोप किया जाता है। साथ ही उनसे सहमा हुआ-सा साहित्य-संसार उन्हें आचार्य मानता हुआ उनके पाण्डित्य को भी निःशंक दृष्टि से देखता है।

सच तो यह है कि व्यक्तिगत रुचि ही अभी तक केशव सम्बंधी समालोचना क्षेत्र में प्रबल रही है, तथा साथ ही आंशिक रूप में सहानुभूतिशून्यता भी काम करती रही है। इसी को देखकर श्रद्धेय अयोध्या सिंह जी उपाध्याय को अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' में लिखना पड़ा है—वस्तुतः आलोचकों की रुचि भी

ओर काव्य के एक नए स्वरूप को जन्म दिया – छन्दान्तर शैली में वर्णनात्मक महा-काव्य—जो साहित्य-संसार में एक अनुकरणीय वस्तु हो गई ।

केशव की रामचन्द्रिका के प्रणयन के उद्देश्य का उद्घाटन करते हुए हरिऔध जी लिखते हैं – "रामचन्द्रिका की रचना पांडित्य-प्रदर्शन के लिये हुई है और मैं यह दृढ़ता से कहता हूँ कि हिन्दी संसार में कोई प्रबन्ध काव्य इतना पांडित्यपूर्ण नहीं है ।" केशव संस्कृत के पूर्ण विद्वान थे । उनके सामने शिशुपाल-बध और नैषध का आदर्श था । वे उसी प्रकार का काव्य हिन्दी में निर्माण करने के उत्सुक थे । इसीलिये राम-चन्द्रिका अधिक गूढ़ है । साहित्य के लिये सब प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता होती है । यथास्थान सरलता और गूढ़ता दोनों वांछनीय हैं । उनको यही अभीष्ट था कि उनकी एक ऐसी रचना भी हो जिसमें गंभीरता हो और जो पाण्डित्याभिमानी को भी पांडित्य-प्रकाश का अवसर दे अथच उसकी विद्वत्ता को अपनी गंभीरता की कसौटी पर कस सके । इस बात को हिन्दी के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है ।"

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए केशव के पांडित्य के प्रकाशन और प्रतिभा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति की जाँच करनी चाहिये । हमें यह देखना चाहिये कि कवि अपने संकल्प को (रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छंद) पूर्ण कर पाता है या नहीं अर्थात् उनके काव्य में विविध छंदात्मकता आई या नहीं ? कवि, जो अलंकारिक चमत्कार को काव्य की आत्मा मानता है उसको अपने काव्य में यथोचित स्थान दे सका है अथवा नहीं ? क्योंकि उसका स्पष्ट मत है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

केशव की रामचन्द्रिका साहित्य के प्रबंध काव्यों में गिनी जाती है और ऐसा भी कहा जाता है कि उसमें प्रबंधात्मकता का एक प्रकार से अभाव है । इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि केशव के प्रबन्ध की श्रृङ्खला टूटी हुई है, कथा का क्रम ठीक नहीं और यहाँ तक कि उसमें मुक्तक की-सी स्फुटता विद्यमान है । ये सब भ्रामक आलो-चनात्मक निर्णय केशव की चन्द्रिका-रचना के उद्देश्य को न पहचानने अथवा उसकी उपेक्षा कर देने के कारण देखने में आते हैं ।

केशव ने प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक योगदान किया है । क्या अभिव्यक्ति की शैली हो (छन्द , क्या अभिव्यक्ति का माध्यम (भाषा) और क्या अभिव्यक्ति का विषय (विचार) और इसी कारण अन्य ग्रन्थों की भाँति रामचन्द्रिका भी उनके मौलिकता के प्रभाव से ओत-प्रोत है ।

रामचन्द्रिका के अंतर्गत जो काव्य है वह सब का सब राम कथा के धागे से आबद्ध है । यही एक आधार है जिस पर रामचन्द्रिका की रचना हुई ही नहीं । गुलाब-राय जी का यह कहना कि 'कथा में न तारतम्य है न अनुपात" ठीक ही है क्योंकि कवि

कथा-कथन को नगण्य मानता है और संपूर्ण काव्य में कहीं भी इस ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं परिलक्षित होती। अतः हमें कवि से न तो कथा-सौंदर्य एवं उसके मार्मिक स्थलों की रमणीयता और न ही चरित्र-विकास की आशा करनी चाहिये। इनके स्थान पर कवि बल देता है, वर्णनों पर, संवादों पर, नवीन काव्योद्भावनाओं पर तथा उनकी चमत्कृत अभिव्यंजना पर, अलंकारों के चमत्कृत विधान पर तथा छन्दों की विविधता पर। समग्र रूप से देखने पर यह पता चलता है कि कवि कथा न लिखकर काव्य लिख रहा है। कथा संबंधी प्रत्येक स्थल को यथाशक्ति संक्षिप्त करता हुआ, कवि काव्य-प्रतिभा-प्रकाशन का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देता। कहीं भी वर्णन का प्रसङ्ग आया कवि कथा को भूल-सा जाता है और वर्ण्य वस्तु के चित्रण में अपनी समस्त काव्य-प्रतिभा का नियोजन कर देता है। पाठक भूल जाता है कि वह कथा पढ़ रहा है। कथा में पाठक कोई रस नहीं पाता परन्तु फिर भी काव्य से चिपका रहता है क्योंकि काव्यप्रेमी पाठक केशव की चन्द्रिका में एक काव्यमर्मज्ञ का काव्य-कौशल पाता है। वह कवि-प्रतिभा का ऐसा उत्कृष्ट प्रकाशन देख क्षण भर के लिये आश्चर्यचकित हो जाता है, अलंकारों के नवीन प्रयोगों, अपनी नवीन विभाव-नाओं तथा वर्णन वैचित्र्य में ही डूबने उतराने लगता है। कवि वर्णनों की झड़ी लगा देता है और पाठक उसके द्वारा अंकित चित्रों को मन्त्रमुग्ध-सा देखता ही रह जाता है।

कवि ने प्रायः सभी प्रकाशों में वर्णनों का प्रचुर समावेश किया है। जिस प्रकाश में वर्णनों का अभाव मिलेगा उसमें वर्णनों की पूर्ति संवादों द्वारा हो गई है जो हिन्दी के संवादात्मक-साहित्य की अनूठी निधि है। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यदि केशव का वश चलता तो वे कथा को अपनी वर्णन मंडली से बाहर निकाल देते।

रामचन्द्रिका में वर्णन की इस प्रधानता एवं कवि की वर्णन-प्रियता की मनोवृत्ति की पुष्टि उनके ग्रन्थ कवि-प्रिया से हो जाती है। अलंकारवादी केशव अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य केशव 'वर्णन' को भी अलंकार मानते थे। उनके इस वर्णन के क्षेत्र में काव्यान्तर्गत सभी परिपाटी-विहित वर्णनीय विषय आ जाते थे जिसके स्थूलतया चार अङ्ग उन्होंने निर्धारित किये।

(१) वर्णालंकार वर्णन

(२) वर्ण्यालंकार वर्णन

(३) भूमि-भूषण वर्णन

(४) राज्य श्री-भूषण वर्णन, (कविप्रिया)

इन भेदों के अनेकानेक उपभेद भी उन्होंने प्रस्तुत किये। केशव के अलंकारों को दो मुख्य वर्गों—सामान्य और विशिष्ट में से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'वर्णन

अलंकार' के इन्हीं चार भेदों एवं उनके अनेकानेक उपभेदों की व्याख्या एवं उनका वर्णन हुआ है। वर्णन अलंकार की यह व्याख्या कविप्रिया में प्रभाव ५ से प्रभाव ८ तक में गई है। इससे स्पष्ट ही है कि केशव काव्य में वर्णन को कितना महत्व देते थे। यह कहना कदाचित् अनुपयुक्त न होगा कि केशव की रामचन्द्रिका इन विस्तृत वर्णनात्मक अंशों से पृथक होकर प्राणहीन काया सदृश हो जायगी। उनका सामान्यालंकार ही जो उनके काव्य का वर्णनात्मक अंश है उनके विशिष्टालंकारों की क्रीड़ा स्थली है, और उन्हीं में केशव अपनी कुशलता की चरम अभिव्यक्ति कर पाते हैं।

केशव के संवाद, उनकी विविध छंदात्मकता और काव्य-प्रवीणता तथा उनकी नूतन उद्भावनाएँ, उनकी काव्य-काया के अन्य चार तत्व हैं (पांचवाँ तत्व है वर्णन)। वर्णन ही प्राण तत्व है जिससे उनका समस्त काव्य जीवनमय हो गया है।

इस प्रकार आचार्य कवि केशव ने रामकथा को उठाया। उसे महाकाव्य के अनेक गुणों से अभिमंडित किया, उसमें मुक्तकों-सा लावण्य भरा, विविध रसों की सृष्टि की, काव्य के अन्य आवश्यक उपादानों का संचयन किया तथा विविध छंदात्मकता, चमत्कृत अलंकरण एवं वर्णनात्मकता के मौलिक संयोजन से एवं नवीन काव्य-स्वरूप को जन्म दिया। विविध छंदात्मक शैली में लिखी जाने वाली रामचन्द्रिका के टक्कर का महाकाव्य हिन्दी संसार ने दूसरा नहीं देखा।

केशव का काव्य

केशवदास के नाम से १६ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है :—

(१) रसिक प्रिया (२) नख शिख (३) कवि प्रिया
(४) राम चन्द्रिका (५) वीर सिंह देव चरित (६) रतन-बावनी
(७) विज्ञान गीता (८) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका (९) जैमुनि की कथा
(१०) हनुमान जन्म लीला (११) बालि चरित्र (१२) आनन्द-लहरी
(१३) रस ललित (१४) कृष्ण लीला (१५) अमी घूँट
(१६) रामालंकृत मंजरी,

किन्तु इनमें से प्रथम ८ ग्रंथ ही प्रामाणिक हैं। स्वभाव के आधार पर केशव के ग्रंथों का अथवा उनके काव्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रबंध काव्य (२) रीति काव्य (३) दार्शनिक काव्य।

प्रबंध काव्य—केशवदास जी द्वारा लिखे गए प्रबन्ध-ग्रंथों में 'रामचन्द्रिका' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथ बाल्मीकीय रामायण पर आधारित है। कथा के कतिपय प्रसंगों पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव है तथा "प्रसन्नराघव" एवं 'हनुमन्नाटक' के अनेकानेक सुन्दर भाव भी रामचन्द्रिका की बहु विधि विशेषताओं एवं महत्व का श्रेय उसके यशस्वी रचयिता को ही है। कथा प्रवाह में केशव ने अत्यंत

क्षिप्रता दिखलाई है तथा रामकथा के मर्मस्पर्शी प्रसंगों और महत्वपूर्ण घटनाओं को भी अत्यंत संक्षेप में चलता कर दिया है, मानो कथा कहना उनका इष्ट ही न हो। इससे प्रबन्ध काव्य की गरिमा को निश्चय ही आघात पहुँचा है। साथ ही अनेक अनावश्यक बातें भी रामचन्द्रिका में समाविष्ट की गई हैं यथा दान-विधान-वर्णन, सनाढ्योत्पत्ति-वर्णन, रामकृत राज्यश्री निन्दा जिनका मुख्य कथा वस्तु से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। वास्तव में रामचन्द्रिका की कथावस्तु के सुश्रृंखलित न होने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि कथा को सुन्दर और उपयुक्त रूप देकर कुछ ही समय पूर्व गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना की थी अतएव उन्हीं विशेषताओं से युक्त काव्य-रचना केशव को इष्ट न थी। दूसरा यह कि केशव का उद्देश्य नाम के यश-ऐश्वर्यादि का विशेष रूप से वर्णन प्रचुरता के साथ चित्रण करना था। इसीलिये जहाँ-तहाँ वे कथावस्तु को छोड़ विविध वस्तुओं एवं दृश्यों के वर्णन में प्रवृत्त हो जाते हैं तथा रामचन्द्रिका में नाना प्रकार के एक से एक सुन्दर वर्णन मिलते हैं जैसे सरयू, अयोध्या, उपवन, गजशाला, राज सभा, आश्रम, सूर्योदय, मिथिला, पंचवटी, दण्डकवन, गोदावरी, वर्षा, शरद, रामराज्य, राजभवन, शयनागार, वसनशाला, जलशाला, गंधशाला तथा उपवन में कृत्रिम सरिता, पर्वत, जलाशयादि के वर्णन। इस वर्णन-प्रियता के कारण कथा का प्रवाह निश्चय अवरुद्ध हुआ है, किन्तु रामचन्द्रिका में ही ऐसे बहुत से अंश हैं जहाँ कथा का सुन्दर प्रवाह भी दीख पड़ता है जैसे धनुष यज्ञ, और राम-सीता विवाह का प्रसंग, हनुमान का सीता की खोज में लंका जाना, राम की सेना का दिग्विजय और लव-कुश से युद्ध।

चरित्र-चित्रण पर भी कवि की दृष्टि विशेष नहीं थी। दूसरे, कथा के विश्रृंखल होने के कारण पात्रों की रूप-रेखा भी पुष्ट और चटक नहीं हो सकी है, फिर भी 'रामचन्द्रिका' के प्रमुख चित्रण अपने रचयिता की निजी विशिष्टताओं से आभूषित अवश्य हो गए हैं। वे भाषा के पंडित, व्यवहारपटु और कूटनीतिज्ञ हो गए हैं, उतने आदर्शवादी नहीं जितने तुलसी के पात्र थे। इससे इतना अवश्य हो गया है कि वे अधिक मानवीय और यथार्थ बन पड़े हैं। स्थान-स्थान पर राम के चरित्र में किंचित उग्रता का चित्रण हुआ है। परशुराम के प्रति राम के इस कथन में—

'टूटै टूटनहार तरु वायुहि दीजत दोष,
त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष।'

\+ \+ \+

'होनहार ह्वै रहै मोह मद सबको छूटै।
होय तिनूकाना बज्र बज्र तिनका ह्वै टूटै॥

भगन कियो भव धनुष साल तुमको अब सालौं।
नष्ट करौं विधि सृष्टि ईश आसन ते चालौं ।।

\+　　　　　　+　　　　　　+

अति अमलु ज्योति नारायणी, कहि केशव बुझि जाय बर।
भृगु नंद सँभारु कुठारु मैं कियो सरासन युक्त सर ।।

अथवा लक्ष्मण को शक्तिहत हुआ देख उनका यह कथन—

'करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जम करौं अष्ट वसु ।
रुद्रन बोरिं समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु ।।
बलित अबेर कुबेर बलिहिं गहि लेउ इन्द्र अब ।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्धि सिद्ध सब ।।
निज होहिं दासि दिति की अदिति अनिल अनल मिटि जाय जल ।
सुनि सूरज सूरज उवत हीं, करौं असुर संसार बल ।।'

ये कथन बड़े ही मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित हैं और बार-बार राम को मानव रूप में देखने का आमंत्रण देते हैं। ऐसे स्थलों पर राम तथा अन्य पात्र बड़े ही प्राण-वान हो गए हैं। जैसे उग्रता वैसे ही शृंगारिकता भी राम के चरित्र की एक नई विशेषता रामचन्द्रिका में बन कर आई है। इसी प्रकार सीता का चरित्र भी अधिक प्रकृत धरातल पर अंकित किया गया है। हनुमान, कौशल्या, भरत आदि सभी केशव के इस नए साँचे में ढले चले जाते हैं। नैतिकता, मर्यादावादिता और आदर्श की दृष्टि से देखने पर ये पात्र अवश्य तुलसी द्वारा प्रस्तुत स्तर से गिरे मिलेंगे, किन्तु इन पात्रों को अधिक स्वाभाविक रूप देना ही संभवतः केशव को इष्ट था,—जो जो तुलसीदास जी कर गए थे, उसी उसी का पिष्टपेषण मात्र नहीं। केशव की तूलिका ने अनेक स्थलों पर चरित्रों में बड़े ही सूक्ष्म एवं सुन्दर मनोवैज्ञानिक रंग भरे हैं। उदाहरण के लिए रावण का राम के चरित्र को दूषित बतलाकर सीता को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा और दूत अंगद को यह समझाकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कि राम ने हमारे प्रिय मित्र और तुम्हारे पिता बालि की अकारण हत्या की है, तुम्हारे ऐसे सपूत के लिये यह कितनी ग्लानि और लज्जा की बात है, यह लो मेरी सेना और अपने पितृ-घातक को आज ही विनष्ट कर दो। इसी प्रकार राम और रावण के संदेशों के आदान-प्रदान में भी कुछ कूटनीतिक दाँव-पेंच लगाए गए हैं। यह सब होते हुए भी कहना ही पड़ेगा कि चरित्रों का समुचित विकास केशव का अभीष्ट न था।

भावों की व्यंजना के लिये कहा जाता है कि प्रबन्धकार को कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान होनी चाहिये किन्तु केशव की भावों की गठरी ऐसे स्थलों पर क्रम

खुली है। उन्होंने रामवन गमन, चित्रकूट में भरत और राम के मिलन आदि के प्रसंगों पर विशेष भावुकता नहीं दिखलाई है। इसी अपराध में उन्हें 'हृदयहीन' की उपाधि दी गई है। लेकिन सीताहरण पर राम के हृदय का दुख, लक्ष्मण के आहत होने पर राम के मन की व्यथा, अशोक वाटिका में सीता की दीन-दशा आदि के चित्रण में केशव ने पूरी सहृदयता का परिचय दिया है। कविप्रिया और रसिकप्रिया में केशव के सरस हृदय का हमें और भी गाढ़ा परिचय मिलता है और रतन बावनी तो वीरता के भावों की व्यंजना की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट कृति है। और ग्रंथों की बात छोड़िये, नाना मनोभावों की दृष्टि से रामचन्द्रिका को ही उठा लीजिये। वह उतनी हलकी न पड़ेगी जितनी उसे लोग कहते आए हैं। देखिये—

(क) विश्वामित्र के साथ राम के चले जाने पर—

राम चलत नृप के युग लोचन। बारि भरित भये बारिद रोचन ॥
पायन परि ऋषि कै सजि मौनहिं। केशव उठि गये भीतर भौनहिं।

(ख) सीता-वियुक्त राम का कथन (चकवे, चकोर और करुणा वृत्ति के प्रति)—

अवलोकत कै जब हीं तब हीं। दुख होत तुम्हें तब हीं तब हीं।
वह बैर न चित्त कछू धरिये। सिय देहु बताय कृपा करिये।

× × ×

शशि को अवलोकन दूर किये। जिनके मुख की छवि देखि जिये।
कृति चित्त चकोर कछूक धरो। सिय देहु बताय सहाय करो ॥

× × ×

कहि केशव याचक के अरि चंपक, शोक अशोक भये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते, तीक्षण जानि तजे हरि कै ॥
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आए, रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोधु कहौ करुणामय, हे करुणा करुणा करि कै ॥

(ग) अशोक बाटिका में सीता का बाह्य एवं आंतरिक चित्र—

धरे एक बेणी मिली मैल सारी। मृणाली मनो पंकते काढ़ि डारी ॥
सदा राम नामैं रटै दीन बानी। चहूँ ओर हैं राकसी दुःख दानी।

(घ) मेघनाथ वध पर रावण की मनोदशा का चित्र—

आजु आदित्य जन, पौन पावक प्रबल, चन्द आनन्दमय भास जग को हरौ।
गान किन्नर करौ, नृत्य गंधर्व कुल, यक्ष विधि लक्ष उर यक्ष कर्दम धरौ ॥
ब्रह्म रुद्रादि दै, देव तिहुँ लोक के, राज को जाय अभिषेक इन्द्रहिं करौ।
आजु सिय राम दै, लंक कुल दूषणहिं, यज्ञ को जाय सर्वज्ञ विप्रहु बरौ।

भावों की व्यंजना और मानसिक प्रतिक्रियाओं के चित्रण की दृष्टि से केशव के संवाद-वाले स्थल अत्यंत उत्कृष्ट हैं।

वर्णनों की दृष्टि से रामचन्द्रिका अत्यंत पुष्ट है। रूप-चित्रण, राज्य-श्री-चित्रण और प्रकृति-चित्रण सभी यथेष्ट परिमाण में एवं अत्यंत सुन्दर रूप में बन पड़े हैं। ऐसे स्थलों पर ही कवि को अलंकारों की छटा, कल्पना की समृद्धि एवं काव्य-कौशल के प्रकाशन का यथेष्ट अवसर प्राप्त हुआ है। सारी रामचन्द्रिका वर्णनों से आद्योपांत परिपूर्ण है, उनके वर्ण्य विषय हैं—सरयू, अयोध्या, गजशाला, उपवन, बन, नख शिख, सूर्योदय, पलकाचार, पंचबटी, दण्डक वन, गोदावरी, गान-वाद्य-प्रभाव, वर्षा, शरद, समुद्र, राजनीति, मंत्री, नारी-धर्म, विधवा-धर्म, युद्ध, दान-विधान, सनाढ्योत्पत्ति, यौवन एवं जरावस्था के दुःख, राम-नाम-माहात्म्य, अभिषेक, रामराज्य, चौगान, श्यनागार, राज महल, संगीत, शैया, प्रभात, भोजन, चन्द्र, शरीरांग, कृत्रिम पर्वत, सरिता, जलाशय, जल क्रीड़ा, सद्यःस्नाता आदि। केशव के प्रायः समस्त वर्णन ऐश्वर्य-व्यंजक हैं और अलंकृत शैली में किए गए हैं। उदाहरण स्वरूप देखिये—

(क) सीता और उनकी सखियों का स्वरूप वर्णन—

को है दमयन्ती इन्दुमती, रति रात दिन,
होहिं न छबीली छन छबि जो सिंगारिये।
केशव लजात जलजात जातवेद ओप,
जातरूप बापुरो विरूप सो निहारिये॥
मदन निरूपम निरूपत निरूप भयो
चन्द बहुरूप अनुरूप कै बिचारिये।
सीता जी के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
रूप ही के रूपक तो बारि बारि डारिये॥

× × ×

मुख एक है नत लोक लोचन लोल लोचन कै हरै।
जनु जानकी संग सोभिजै शुभ लाज देहहि को धरै॥
तहँ एक फूलन के विभूषन एक मोतिन के किये।
जनु छीर सागर देवता तन छीर छींटन को छिये॥

(ख) अयोध्या एवं मंच वर्णन—

अति उच्च अगारनि बीन पगारनि जनु चिंतामणि नारि।
बहु शत मख धूमनि धूपित अंगनि हरि की सी अनुहारि॥
चित्री बहु चित्रनि परम विचित्रनि केशवदास निहारि।
जनु विश्व रूप के अमल आरसी रची विरंचि विचारि॥

× × ×

शोभित मंचन की अवली गज दंतमयी छवि उज्ज्वल छाई।
ईश मनो बसुधा में सुधारि सुधा-धर मंडल मंडि जुन्हाई।।
ता महँ केशवदास विराजत राजकुमार सबै सुखदाई।
देवन स्यौं जनु देव सभा सुभ सीय स्वयंबर देखन आई।।

(ग) प्रकृति-वर्णन (बन एवं सूर्योदय)—

तरु तालीस ताल तमाल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर।।
एला ललित लवंग संग पुङ्गीफल सोहे।
सारी शुककुल कलित चित कोकिल अलि मोहे।।
शुकराज हंस कल हंस कुल, नाचत मत्त मयूर वन।
अति प्रफुल्लित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन।।

× × ×

अरुणगात अतिपात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय।।
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यौ माणिक मयूख-पट।।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधों लसत दिगभामिन के भाल को।।

केशव ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में, अलंकृत शैली में, वस्तु परिगणन शैली में और बिम्ब-ग्रहण करने वाले दृश्य चित्रण के रूप में किया है तथा उनके अलंकार विधान में भी प्राकृतिक उपादानों का ही ग्रहण विशेष हुआ है।

रामचन्द्रिका में संवादों की योजना विशेष मनोयोग से की गई है। उन्हें देखने से हमें कवि की बचनचातुरी, सभा-मर्यादा का ज्ञान एवं कुशाग्रता का पता चलता है। इन संवादों से परिस्थितियों एवं चरित्रों का चित्रण भी अधिक सुन्दर बन पड़ा है। केशव की भाषा-प्रवीणता, व्यवहार-कौशल, प्रत्युत्पन्नमतित्व और सूक्ष्म-मनोविश्लेषण आदि गुण उनकी संवाद-योजना में एकत्र हो गए हैं। रामचन्द्रिका में प्रमुख संवाद हैं—सुमति-विमति संवाद, रावण-बाण संवाद, राम-परशुराम संवाद, राम-जानकी संवाद, राम-लक्ष्मण संवाद, सूर्पणखा-राम संवाद, सीता-रावण संवाद, सीता-हनुमान संवाद, और रावण-अंगद संवाद।

'बीर सिंह देव-चरित' (रचना काल सं० १६६४) की रचना संवाद के रूप में हुई है। संवाद दान, लोभ और ओरछा की प्रसिद्ध विंध्यवासिनी देवी के बीच होता है। इस कृति में केशव ने अपने आश्रयदाता का चरित्र ३३ प्रकाशों में वर्णित किया

है। प्रारम्भ में दान और लोभ का स्वात्मप्रतिष्ठामूलक विवाद है। फिर ओरछा नरेशों की वंशावली दी गई है। तदनन्तर सुप्रसिद्ध ओरक्षा नरेश महाराज मधुकरशाह के पुत्रों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं अकबर की सेनाओं से बीरसिंह देव के अनेक युद्धों का वर्णन किया गया है। अंत में अकबर की मृत्यु पर जहाँगीर सिंहासनारूढ़ होते हैं तथा वे वीरसिंह देव को समस्त ओरछा राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त करते हैं। आगे चलकर महाराज बीरसिंह देव के भोग-बिलास, ऐश्वर्य, आमोद-प्रमोद एवं दिनचर्या का वर्णन हुआ है। ग्रन्थ में नगर, वाटिका, शयनागार, नख-शिख, चौगान आदि के विस्तृत वर्णन हैं तथा राजा के कर्तव्यों का भी शास्त्रानुसार निर्धारण किया गया है। यह ग्रन्थ वीर रस प्रधान है तथा इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस काव्य में प्रबन्ध की धारा का सुन्दर प्रवाह देखने को मिलता है, रचना के उदाहरण स्वरूप में एक छंद यथेष्ट होगा—

> जुद्ध कौं बीर नरेस चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि छाई।
> प्रात चली चतुरंग चमू बरनी अब केशव क्यों हूँ न जाई।।
> जौं सब के तन मानिन ते झलकी अरुनोदय की अरुनाई।
> अंतर तैं जनु रंजन कौं रजपूतन की रज ऊपर आई।।

'रतन-बावनी' में ओरछेश महाराज मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन की असाधारण वीरता का वर्णन है। उसकी वीरता की प्रसंसा अकबर तक ने की थी। इस ग्रन्थ में वीरगाथा काल की अपभ्रंश रचनाओं की शैली का आश्रय लेकर बीर रस एवं उसके स्थायी भाव उत्साह की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की गई है। रतनसेन अल्पायु में ही अकबर की सेना से लड़ते-लड़ते बीर गति प्राप्त करता है। इस युद्ध और किशोर रतनसेन की मृत्यु का मूल कारण यह है कि एक एक बार महाराज मधुकरशाह अकबर के दरबार में बहुत ऊँचा जामा पहन कर गए; अकबर द्वारा कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा—'मेरा देश काँटों का देश है।' उत्तर में व्यंग्य की गंध पाकर अकबर ने उनके देश को देखने की इच्छा प्रकट की। अकबरी सेना की इसी चढ़ाई में रतनसेन की मृत्यु हुई।

> दीठि पीठि तन फेर पाठ तन इक्क न दिख्खिय।
> फिरहु फिरहु फिर फिरहु करत दल सकल उमग्गिय।।
> ठान-ठान निज शान मुरकि पाठान जु धाये।
> काढ़-काढ़ तरबार तरल ता छिन तठ आये।।
> इक इक्क घाउ घाल्लित सबन रतनसेन रनधीर कहँ।
> जनु ग्वाल बाल होरी हरषि खंडल छोर अहीर कहँ।।

'जहाँगीर जस चंद्रिका' (सं० १६६९) उद्यम और भाग्य के संवाद-रूप में लिखी गई है। कौन बड़ा है, इस बात के निर्णय के लिये दोनों शिव जी के पास जाते हैं और शिवजी उन्हें जहाँगीर के पास आगरे भेज देते हैं। कवि ने आगरे का वर्णन किया है। शहर घूमते-घामते उद्यम और भाग्य जब जहाँगीर की राज सभा में पहुँचते हैं तब दोनों का स्वागत होता है परिचय के अनन्तर समस्या प्रस्तुत की जाती है और जहाँगीर दोनों को समान रूप से महत्वपूर्ण घोषित करते हैं। तदनन्तर सभी लोग जहाँगीर की प्रसंसा में छंद पढ़ते हैं और काव्य समाप्त होता है। यह काव्य साधारण स्तर का ही है। अपने आश्रयदाता बीरसिंह देव के हित में ही उचित समझकर इस रचना में केशव ने शाहंशाह जहाँगीर का यश वर्णित किया है—

'साहिन को साहि जहाँगीर साह जू को जश,
भूतल के आस-पास सागर हुलास है।
सागर में बड़ भाग वेष सेषनाग को सो,
सेष जू में सुख दानि विष्णु को निवासु है।।
विष्णु जू में भूरि भावभव के प्रभाव जैसो,
भव जू के भाव में विभूति को विलास है।
विभूति माँझि चन्द्रमा सो चंद्र में सुधा को अंसु,
अंसुन में सोहै चारू चन्द्रिका प्रकासु है।।

रीतिकाव्य—केशवदास जी कवि के साथ-साथ आचार्य रूप में भी प्रसिद्ध हैं। वे विद्वानों की वंश परम्परा में पैदा हुए थे तथा उन्होंने प्रभूत परिमाण में संस्कृत के विवध विषयक साहित्य का अध्ययन किया था तथा भाषा-काव्य की परम्परा एवं समृद्धि को ध्यान में रखते हुए भी इन्होंने 'भाषा' में काव्य की रचना की। उन्होंने लक्ष्य ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ लक्षण ग्रन्थों के प्रणयन की भी आवश्यकता का अनुभव करते हुए 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' ऐसे साहित्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। वे काव्य में अलंकार को प्रधान समझने वाले अलंकारवादी कवि थे :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिना न सोभई, कविता बनिता मित्त।।'

वे भामह और दण्डी की परम्परा के आचार्य थे। काव्य में इसकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए केशव ने रसरहित काव्य में 'रसहीनता' के काव्यगत दोष स्वीकार किया है। रस विवेचन की दृष्टि से रसिक-प्रिया उनकी एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें उन्होंने नवरसों का कथन करके श्रृंगार को नायकत्व अथवा रसराजत्व प्रदान किया है।

शृंगार रस की महत्ता दिखलाकर वे ग्रंथ के अंत तक शृंगार का ही वर्णन करते चले जाते हैं। शृंगार के संयोग एवं विप्रलंभ पक्ष, उनके प्रकाश और प्रच्छन्न भेद, आलंबन के अन्तर्गत नायक-नायिका के विस्तृत भेदोपभेद, प्रिय-दर्शन के विविध रूप (स्वप्न, चित्र प्रत्यक्षादि), उद्दीपन विभाव (दम्पत्ति-चेष्टाएँ) अनुभाव (हाव, भाव, हेलादि), मान और मानमोचन के विस्तृत विवरण, नायिका की विभिन्न दशाएँ, उसकी दूतिकाओं आदि के वर्णनों एवं रोचक उदाहरणों में ग्रंथ लगभग समाप्त-सा हो जाता है। अन्त में शेष सभी रसों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। केशव ने वीर, रौद्र, करुण, आदि अन्य सभी रसों का शृंगार के ही अंतर्गत प्रतिपादन किया है। ग्रंथ के अंत में वृत्तियों एवं काव्य दोषों का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त श्रेष्ठ है। उदाहरण देखिये :—

'सौहैं दिवाय दिवाय सखी
इक बारक कानन आनि बसाये।
जानै को केशव कानन वे कित,
ह्वै हरि नैनन माँझ सिधाये॥
लाज के साज धरेई रहे तब,
नैनन लै मन ही सौं मिलाये।
कैसी करौं अब क्यौं निकसैं री
हरेई हरे हिय में हरि आये॥'

'कविप्रिया' की रचना कवि ने नवीन काव्याभ्यासियों को कविकर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर की। यह ग्रंथ संस्कृत के अलंकार शेखर, काव्य कल्पलता-वृत्ति, काव्यादर्श आदि ग्रंथों पर आधारित है किन्तु अनेक विषयों की मौलिक विवेचना भी इसमें लक्षित होती हैं। यह ग्रंथ १६ प्रभावों में विभक्त है—पहले में नृपवंश वर्णन, दूसरे में कविवंशवर्णन, तीसरे में काव्य-दोष निरूपण और चौथे में कवि-भेद, कवि, रीति एवं सोलह शृंगारों का वर्णन किया गया है। केशव ने अलंकारों को अत्यंत व्यापक अर्थ में स्वीकार किया था, वे अलंकार्य और अलंकार दोनों को ही 'अलंकार' के अंतर्गत मानते थे। प्रथम को उन्होंने सामान्यालंकार कहा है जिसका वर्णन पाँचवें से आठवें प्रभाव तक चला है। सामान्यालंकार के उन्होंने चार भेद किये हैं—

(१) वर्णालंकार (२) वर्ण्यालंकार (३) भूमि भूषण एवं (४) राज्यश्री भूषण। इस अलंकार के व्यापक निरूपण में आचार्य ने यह बतलाया है कि कवि-परम्परा क्या है और उसमें वर्णन करने का आदर्श रूप क्या है, वर्णन के कौन-कौन से

विषय हो सकते हैं और उन-उन विषयों के वर्णन में किन-किन वस्तुओं का वर्णन हो सकता या किया जा सकता है। इस प्रकार यह पुस्तक कवि-शिक्षा की पुस्तक हो गई है और उसी ग्रन्थ के आधार पर वे काव्याचार्य के रूप में हिन्दी जगत में मान्य हुए हैं। नवें प्रभाव से पन्द्रहवें प्रभाव तक इन अलंकारों का वर्णन है, जिन्हें हम आज 'अलंकार' नाम से पुकारते हैं, किन्तु इन्हें केशव ने 'विशिष्टालंकार' कहा है। सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार का वर्णन है। यह रचना केशव को काव्यशास्त्राचार्य के पद पर प्रतिष्ठित करने में असमर्थ हुई है यद्यपि उनका यह आचार्यत्व अपने प्रायोगिक रूप में वस्तुतः रामचन्द्रिका में अवतरित हुआ है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' बहुत दिनों तक भाषा कवियों का कंठहार बनी रहीं।

'नख शिख' वर्णन-रीति पर लिखी गई एक छोटी-सी कृति है जिसमें कवि की परंपरा विहित-रीति पर राधिका जी के नख से शिख तक प्रत्येक अंग का वर्णन है। केशव ने दोहों में एक-एक अंग के लिये कवि परंपरागत उपमान निर्धारित किये हैं। तदनन्तर उन्हीं उपमानों पर आधारित अंग विशेष का वर्णन कवित्तों में किया गया है। यह ग्रन्थ भी केशव ने कवियों को नख-शिख वर्णन की शिक्षा देने के लिये ही तैयार किया था। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ प्रौढ़ और ऊँचे स्तर का है। एक ही उदाहरण से यह बात प्रमाणित हो जायगी। कपोल का वर्णन देखिये :—

गोरे गोरे गाल अति अमल अमोल तेरे,
ललित कपोल किधौं मैन के मुकुर हैं।

दार्शनिक ग्रन्थ—केशव की विचारधारा को समझने में उनके दो ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे—'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञान गीता'। यों बीर सिंह देव चरित्र और कविप्रिया के औदाहरणिक भाग भी किसी सीमा तक उनके विचारों से हमें अवगत कराते हैं किन्तु उस दृष्टि से इन सभी ग्रन्थों में 'विज्ञानगीता' का महत्व विशेष है। विज्ञान गीता (रचना काल सं० १६६७) महाराज बीरसिंह देव की प्रेरणा से लिखी गई थी। इस ग्रंथ में २१ प्रभाव हैं—प्रथम बारह प्रभावों में विवेक और महामोह के युद्ध का वर्णन है तथा शेष प्रभावों में शिखीध्वज, प्रह्लाद, तथा राजा बलि का चरित्र बतलाते हुए ज्ञान की बातें कही गई हैं। यह ग्रन्थ एक रूपक है। महामोह और विवेक नामक दो नरेश हैं, महामोह की रानी है मिथ्या दृष्टि; दासियाँ हैं दुराशा, तृष्णा, निंदा, चिन्ता आदि, दलपति और हितैषी हैं काम-क्रोध, योद्धा हैं आलस्य और रोग तथा दूत हैं छल और कपट। उधर विवेक नायक राजा की पटरानी हैं बुद्धि तथा श्रद्धा, करुणा आदि अन्य रानियाँ हैं, कुटुम्बी हैं शील, संतोष, शम, दम आदि; मंत्री और सभासद हैं विजय, सतसंग और राजधर्म तथा दूत हैं धैर्य। विवेक काशी का राजा है जिसको विजित करने के लिये महामोह उस पर आक्रमण करता है। महामोह के छल-कपट नामक दूत पहले से ही पहुँच कर काशी की प्रजा

को भड़का देते हैं, किन्तु अंत में चतुर्दिक विजयी महामोह विवेक के हाथ परास्त होता है। इस ग्रन्थ में दार्शनिक विषयों (ब्रह्म, जीव-मुक्तबद्ध और विदेह, सृष्टि, उसकी अनित्यता और दुखपूर्णता, मोक्ष, सत्संग, सम, संतोष, विचार, प्राणायाम, सन्यास, राम भावना आदि) के साथ-साथ सामाजिक विषयों, नारी-धर्म तथा राजनीति आदि पर भी विचार प्रकट किये हैं। विश्लेषित विषयों को काव्य की सरसता और नाटकीय मनोरंजकता के अभिनिवेश द्वारा हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न किया गया है। यह ग्रन्थ संस्कृत के 'योग-बाशिष्ठ' और 'प्रबोध-चन्द्रोदय' से प्रभावित हैं।

इस प्रकार केशव का बहुविध काव्य अपनी भावगत रमणीयता, कलात्मक उत्कर्ष और विचारगत गंभीरता के कारण हिन्दी साहित्य का गौरव है।

मतिराम

मतिराम सहज, स्वच्छ और अनलंकृत काव्य-रचना का आदर्श लेकर चलने वाले कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये कवित्व की बारीकियों, असंगत या दूरारूढ़ कल्पनाओं के फेर में नहीं पड़े इसीलिए ये केशव अथवा बिहारी के समान अतिशय ख्याति तो न प्राप्त कर सके फिर भी अपने युग में तथा बाद भी सुकवि के रूप में उनकी कीर्ति बनी रही। स्वयं रीतियुगीन परवर्त्ती कृतिकारों ने श्रेष्ठ एवं सम्मान्य कवियों में उनकी गणना की है। मतिराम के जीवन-वृत्त के संबंध में कितनी ही अनसुलझी समस्याएँ रह गई थीं जिन पर आधुनिक शोधकर्ताओं ने पर्याप्त विचार किया हैं[1] जैसे मतिराम और बिहारी का सम्बन्ध, मतिराम, भूषण, चिन्तामणि और नीलकंठ का सहोदर होना, मतिराम का वंश-गोत्र आदि, उनका जन्म-स्थान, उनके आश्रयदाता, उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता आदि। मतिराम के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में निम्नलिखित ६ ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप से उन्हीं की रचना बतलाया गया है—१. फूलमंजरी (रचना काल सं० १६७६ के लगभग), २. रसराज (सं० १६९०-१७००), ३. ललित ललाम (सं० १७१८-१७२१), ४. मतिराम सतसई (सं० १७३८-१७४०), ५. अलंकार पंचाशिका (सं० १७४७), ६. वृत्त कौमुदी (सं० १७५८)। सं० १६८० से १६९० के बीच इन्होंने कदाचित नो ग्रन्थ और लिखे थे 'साहित्य सार' और 'लक्षण शृङ्गार' जो आज प्राप्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भी विभिन्न राज दरबारों में लिखे गए इनके कुछ स्फुट छंद हो सकते हैं।

मतिराम का रीति-शास्त्र

फूलमंजरी—फूलमंजरी मतिराम की सर्व प्रथम रचना कही गई है जिसमें किशोर वय सुलभ भावों एवं भाषा के अप्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। ६० दोहों में यह

---

[1]. मतिराम कवि और आचार्य : डा० महेन्द्रकुमार

रचना समाप्त हुई है। इसके प्रणयन का कारण सम्राट जहाँगीर की आज्ञा बताई गई है। साठवाँ दोहा इस प्रकार है—

हुकुम पाय जहाँगीर को नगर आगरे धाम।
फूलन की माला करी मति सों कवि मतिराम॥

शेष ५६ दोहों में देश-विदेश के ५६ फूलों का वर्णन हुआ है। जहाँगीर द्वारा आगरे में लगाए गए 'गुल-ए-आफशां' नामक शाही उद्यान के विभिन्न पुष्पों का ही वर्णन कदाचित इस ग्रन्थ में हुआ है। सं० १६७६ के आस-पास मतिराम ने इस ग्रन्थ की रचना कर सम्राट जहाँगीर की कृपापात्रता प्राप्त की। रचनारंभ में किसी प्रकार का मंगलाचरण नहीं है तथा कृति के अंतिम दोहे से ही उसके मतिराम कृत होने का पता चलता है। पुष्पों का ही वर्णन होने के कारण रचना का नाम फूलमंजरी रक्खा गया है परन्तु पुष्प वर्णन प्रायः प्रणय संदर्भ लिये हुए है जैसे—

(क) कमल नयन लीने कमल कमलमुखी के ठाउँ।
तन न्यौछावरि राज की यहि आवत बलि जाउँ॥

(ख) फूल चमेली को सरस चौंसर लीयें हाथ।
सरस चाँदनी आज की मेरे रहिये नाथ॥

(ग) निसि कारी भारी हुती तरसत मेरो जीव।
फूल निवारा को सरस वारी तुम पर पीव॥

स्पष्टतः तो नहीं किन्तु परोक्ष रूप में अवश्य यह भेद नायिका भेद की सरणि को अपनाए हुए है। स्वकीया-प्रेमपरक उक्तियों का इसमें बाहुल्य है और किशोरवय की हृद्‌गत उमंगें ही इसमें विशेष रूप से चित्रित हुई हैं। प्रणय, कलह, पश्चाताप, विनोद आदि की रसमयी झाँकियाँ और गार्हस्थिक वातावरण के बीच कुछ दाम्पत्य भावना का सुन्दर निदर्शन इस कृति में हुआ है :—

(क) माया गर्व कोउ जनि करो कहिबे की बात सुहात।
कंत कटेरी फूल है पलक माँहि फिर जात॥

(ख) आकसपेचा माल गुहि पहिराई मो ग्रीव।
हूँ निहाल बलिमा करी दासी जानिक जीव॥

अलंकार पंचाशिका—'अलंकार पंचाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना मतिराम ने सं० १७४७ में कुमायूँ के राजा उद्योतचंद्र के पुत्र ज्ञानचंद्र के लिए की—

संवत सत्रह सै जहाँ सैंतालिस नभ मास।
अलंकार पंचासिका पूरन भयो प्रकास॥
महाराज उद्योतचन्द जू भयो धरम को धाम।
तपत धरन परपक्व सम चहूँ चक्क परनाम॥
तिनके राजकुमार वर ज्ञानचन्द कुलचन्द।
कुवलै कोविद कविन को बरषै सुधा अनन्द॥

कवि ने किसी या किन्हीं संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उदाहरण क्रम में अलंकार पंचाशिका' की रचना की है—

संस्कृत को अर्थ लै भाषा सुद्ध विचार।
उदाहरन क्रम 'ए किए लीनौ सुकवि सुधार ॥

इस संक्षिप्त कृति में केवल ५० अलंकारों का ही लेखा-जोखा है क्योंकि यह ग्रन्थ लक्षण क्रम से न लिखा जाकर संभवतः उदाहरण क्रम से लिखा गया है जैसा कि उपर्युक्त दोहे से भी विदित होता है। राजकुमार ज्ञान चंद से सम्बन्धित जितने कवित्त तैयार किये थे उन्हीं के क्रम से उनमें आए अलंकारों के लक्षण भी किसी संस्कृत ग्रन्थ से ले लिए और एक अलंकार ग्रन्थ और तैयार कर दिया। अलंकार ग्रन्थ लिखने की तो प्रथा ही थी राजकुमार के प्रति अपना आदर-सम्मान भी इसी बहाने गाढ़े रूप में दिखाने का अवसर मिल गया। इस प्रवृत्ति से भी इतना तो स्पष्ट ही है कि मतिराम सरीखे कर्ता प्रमुखतः कवि ही थे आचार्य नहीं। कवित्व ही उनका लक्ष्य था आचार्य कर्म नहीं। अलंकार पंचाशिका उनकी वृद्धावस्था की रचना है तारुण्य काव्य की नहीं। इसमें शृङ्गारी छंदों का पूर्ण अभाव भी उक्त तथ्य का ही एक प्रबल प्रमाण कहा जा सकता है।

अलंकार पंचाशिका में वैसे तो ५० अलंकारों का ब्यौरा मिलना चाहिए किन्तु उसमें ४० अलंकारों का ही वर्णन मिलता है। वर्णित अलंकारों का क्रम भी कुछ संगत नहीं है, कोई अलंकार कहीं आ गया है तो कोई कहीं। उदाहरण के लिए उपमा आदि में तो रूपक बीच में और उत्प्रेक्षा अंत में। ग्रन्थ में कुल ११६ छंद हैं जिनमें से प्रथम १० छंद आश्रयदाया एवं कवि निवेदन से सम्बन्धित हैं तथा अंतिम छंद रचनाकाल का सूचक है। शेष १०५ छंदों में अलंकार निरूपण हुआ है। ग्रन्थ में दोहा, कवित्त और सवैया छंदों का व्यवहार हुआ है। ग्रन्थ में अलंकार निरूपण संबंधिनी सामान्य बातों का भी ठीक से विवेचन नहीं किया गया है हाँ ज्ञानचंद के गुणों की प्रशस्ति जरूर पूरी तरह की गई है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इस कृति की रचना करते हुए अलंकार विवेचन कवि का लक्ष्य नहीं था वरन अलंकार ग्रन्थों की प्रणयन परम्परा का निर्वाहमात्र कवि की दृष्टि में था, उसका मूल लक्ष्य आश्रयदाता का प्रशस्ति गायन ही रहा। आश्रयदाता ज्ञानचंद की वीरता आदि का वर्णन कवि ने पूरे आवेश के साथ किया है और स्थायी भाव उत्साह की जगह-जगह अच्छी व्यंजना हुई है। अलंकार पंचाशिका और ललित ललाम नामक अलंकार ग्रन्थों के कर्ता मतिराम एक ही हैं इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है।

छंदसार संग्रह या वृत्त कौमुदी—छंदसार संग्रह जिसका दूसरा नाम वृत्त कौमुदी भी है मतिराम रचित पिंगल ग्रन्थ कहा गया है। इसे भी कुछ विद्वान शृंगारकाल के प्रसिद्ध कवि 'रसराज' और 'ललितललाम' के रचयिता मतिराम की कृति

नहीं मानते जब कि मतिराम पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले डा० महेन्द्रकुमार ने इसे भी 'अलंकार पंचाशिका' के ही समान रससिद्ध प्रसिद्ध कवि मतिराम की ही कृति स्वीकार किया है। 'अलंकार पंचाशिका' के ही समान 'छंदसार संग्रह' का भी शुद्ध और प्रामाणिक पाठ नहीं मिलता। 'छंदसार संग्रह' का रचना सं० १७५८ में हुई जैसा कि कवि ने स्वयं लिखा है—

संवत् सत्रह सौ बरस, अट्ठावन सुभ साल।
कातिक शुक्ल त्रियोदसी, करि विचार तिहि काल॥ (पंचमप्रकाश)

परंपरा से भी यह बात प्रसिद्ध रही है कि मतिराम ने एक पिंगल ग्रन्थ लिखा। मतिराम विरचित छंद सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम शिवसिंह सेंगर और मिश्र बन्धुओं ने 'छंदसागर पिंगल' दिया है परन्तु यह मतिराम रचित पिंगल ग्रन्थ का प्रामाणिक नाम नहीं। उसका प्रामाणिक नाम 'छंदसार संग्रह' ही है जैसा कि कवि के अधोलिखित कथन से सिद्ध है -

छंदसार संग्रह रच्यौ, सकल ग्रंथ मति देखि।
बालक कविता सींघ कों, भाषा सरल विशेषि॥

ग्रन्थ का नाम 'छदसार संग्रह' होने का संगत कारण भी है और वह यह कि कवि ने संस्कृत और प्राकृत के कई पिंगल ग्रन्थों से सामग्री संकलित कर उनका सार अपने ग्रन्थ में संग्रहीत कर दिया है। यह तथ्य ऊपर के दोहे से भी ध्वनित होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'वृत्त कौमुदी' इस बात से प्रमाणित होता है कि इसके अध्यायों के नाम 'प्रकाश' हैं और उनके अंत में 'वृत्त कौमुदी' शब्द का व्यवहार ही बराबर किया गया है।

इस ग्रन्थ में पाँच प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में पहले गणेश और सरस्वती की वदना की गई है फिर आश्रयदाता स्वरूप सिंह बुंदेला की दानशीलता का वर्णन है फिर ग्रन्थारंभ प्रसङ्ग वर्णित है। इसी प्रकाश में वर्णिक गणों तथा उनके स्वरूप, क्रम, देवता, फल, गुण, रस, रंग, देश आदि का वर्णन है। इसके बाद मात्रिक गणों की चर्चा है। द्वितीय प्रकाश में १ से लेकर २६ वर्णों तक के १ ७ सम वर्णिग छदों का वर्णन है तृतीय प्रकाश में १ मात्रा से ३२ मात्रा तक के सममात्रिक छंदों का वर्णन तथा इसके बाद अर्धसम और विषम छंदों का विवरण है। इसमें ३५ समछंद और २० अर्धसम और विषम छंद है। चतुर्थ प्रकाश में प्रत्यय वर्णन है तथा वर्ण और मात्रा के अनुसार प्रत्यय के सभी भेदों (प्रत्यय, प्रस्तार, पताका आदि) का विवेचन है। पंचम प्रकाश में वर्णिक दंडक छंदों का वर्णन है (अभंगशेखर, घनाक्षरी और रूप घनाक्षरी) तथा अंत में कवि ने अपना वंश परिचय दिया है।

भट्ट केदार कृत वृत्त रत्नाकर, हेमचंद्रकृत छंदानुशासन और प्राकृत पैंगलम के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा कहा गया है। कवि ने अन्य ग्रन्थों की सार संग्रहीत करने की बात स्वयं भी स्वीकार की है इसलिए विशेष मौलिकता की अपेक्षा इस कृति से

नहीं की जा सकती फिर भी भाषा के पिंगल ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का स्थान सम्माननीय रहा है। लक्षण स्पष्ट और सुबोध है और उदाहरण सरस है। अपवाद स्वरूप कतिपय छन्दों का निरूपण सदोष है फिर भी कृति की उपयोगिता और उसका महत्व असंदिग्ध है।

रसराज : रस और नायिका भेद विवेचन—'रसराज' शृङ्गाररस निरूपण तथा नायिका भेद विवेचन का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है और समूचे रीति युग में सरस उदाहरणों की बहुलता के कारण यह ग्रंथ अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है। मतिराम के अलंकार ग्रंथ 'ललित ललाम' की भी इसी कारण विशेष धूम रही है। ये ग्रंथ भावों की सुकुमारता तथा काव्य लालित्य के कारण काव्य रसिकों के कंठहार रहे हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रन्थ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। रसराज का तो कहना ही क्या है। ललित ललाम में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की-सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती।'

'रसराज' में समस्त रसों का वर्णन न होकर केवल शृङ्गार रस ही वर्णित हुआ है। शृङ्गार समस्त रसों का राजा मान्य रहा है इसी कारण ग्रन्थ का नाम ही कवि ने 'रसराज' रख दिया है। कवि की दृष्टि इतनी शृंगारपरक रही है कि उसने अन्य रसों का सर्वथा त्याग कर दिया है। कवि ने ग्रन्थारम्भ में गणेश की वंदना की है फिर नायिका नायक वर्णन के माध्यम से उसने राधारमण की लीला का वर्णन और उसका यशोगान करना भी अपने मंतव्य रूप में स्वीकार किया है—

बरनि नायका नायकनि, रच्यो ग्रंथ मतिराम।
लीला राधा रमन कौ सुंदर जस अभिराम॥

शृङ्गार को नायिका-नायक पर आलंबित मानकर पहले कवि ने नायिका-नायक का ही वर्णन किया है। पद्माकर ने भी जगद्विनोद का आरम्भ नायिका वर्णन से ही किया है। नायिका का स्वरूप निदर्शन करते हुए कवि उसके भेद-प्रभेद-वर्णन में प्रवृत्त हुआ है जो इस प्रकार है :—

(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) गणिका। स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा—अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा। मध्या—धीरा, अधीरा, धीढाधीरा। प्रौढ़ा—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। जेष्ठा, कनिष्ठा। परकीया—ऊढ़ा,

अनूढ़ा । गुप्ता, विदग्धा—वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा—लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना—पहली, दूसरी, तीसरी । गणिका । अन्य संभोग दुःखिता, प्रेमगर्विता, रूपगर्विता, मानवती । दशनायिका वर्णन—प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगतपतिका तथा इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद (मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या या गणिका) तथा अभिसारिका के परकीया के अंतर्गत कृष्णाभिसारिका, चन्द्राभिसारिका और दिवाभिसारिका । अंत में नायिका के ३ अन्य भेदों उत्तमा, मध्यमा और अधमा का लक्षणोदाहरण देकर नायक भेद की ओर उन्मुख हुआ है । नायक के तीन भेद पति, उपपति और वैशिक । पति चार प्रकार के—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट । नायक के ३ और प्रकार—मानी, वचन चतुर और क्रिया चतुर । प्रोषित नायक का भी एक भेद मतिराम ने किया है । दर्शन भेद में प्रेमारम्भ के चार भेद बताए गए हैं—श्रवण दर्शन, स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन और साक्षात दर्शन ।

इस प्रकार शृंगार के आलंबनों का इनके भेद प्रभेदों का लक्षणोदाहरण प्रस्तुत कर चुकने के उपरान्त मतिराम उद्दीपनों के विवरण में प्रस्तुत हुए हैं । उद्दीपन में सहायक होते हैं प्राकृतिक उपकरण 'चंद, कमल, चंदन, अगर, ऋतु, बन, बाग-बिहार' आदि तथा सखी और दूतियाँ । सखी के काम हैं मंडन (शृंगार करना), शिक्षा करण, उपालंभ और परिहास । दूतियाँ ३ प्रकार की कही गई हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा ।

इसके बाद अनुभावों का वर्णन है जिसके अन्तर्गत ६ प्रकार के—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय और जृम्भा—सात्विक भावों का भी विस्तार दिया गया है । इसके पश्चात् शृंगार तथा उसके संयोग और वियोग दो भेदों का कथन हुआ है । संयोग शृंगार के अन्तर्गत व्यक्त होने वाले भावों अथवा १० हावों—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल किंचित, मोट्टाइत, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहित—का वर्णन हुआ है । वियोग शृंगार के तीन भेदों—पूर्वानुराग, मान (लघु, मध्यम, गुरु) और प्रवास तथा प्रवासजन्य वियोग की नौ काम दशाओं (अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुण वर्णन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता) का वर्णन किया है । इस प्रकार नायिका भेद एवं शृंगार रस निरूपण सम्बन्धी यह ग्रंथ सम्पूर्ण होता है । रसिकों को आनन्द देना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है—

समुझि समुझि सब रीझि हैं सज्जन सुकवि समाज ।
रसिकन के रस को कियौ नमों ग्रंथ रसराज ॥

'रसराज' में कृति का रचना काल कहीं नहीं दिया गया है फलतः इसके रचना काल के सम्बन्ध में मतभेद है । मिश्र बन्धुओं ने सं० १७६७ में इसकी रचना

होने का अनुमान किया है जबकि याज्ञिक महोदयों ने सं० १७०० । इधर के विद्वान सं० १७०० के आस-पास ही इसकी रचना होना स्वीकार करते हैं। यह ग्रन्थ ललित ललाम से पहले लिखा गया था क्योंकि इसके अनेक उदाहरण ललित ललाम में भी ले लिए गए हैं। कहा जा सकता है कि ये उदाहरण ललित ललाम से लेकर रसराज में ही न कहीं रख दिये गए हों परन्तु इसकी सम्भावना कम ही है क्योंकि ललित ललाम अलंकार का ग्रंथ है तथा उसमें रक्खे गए उदाहरण अलंकारों के उतने सच्चे उदाहरण नहीं जितने नायिका भेद अथवा किसी रस प्रसंग के। यह ग्रंथ कुल ४२७ छंदों में सम्पन्न हुआ है जिसमें कवित्त और सवैयों की अपेक्षा दोहों का आधिक्य है (२७५ दोहे हैं) ग्रन्थकार, उसके आश्रयदाता आदि का कोई भी विवरण इसमें नहीं दिया गया है। बिना शृंगार की 'रसराजकता' प्रमाणित किये ही कवि शृंगार के आलंबनों नायिका-नायक के वर्णन से ही ग्रंथारम्भ कर चलता है। आधी पोथी तो नायिका वर्णन का ही विस्तार है। भानुदत्त की रस मंजरी से ही यह विवेचना शैली गृहीत हुई है तथा इसके लक्षण उसी पर आधारित हैं परन्तु उदाहरण उनके अपने हैं नितांत सरस मौलिक और रमणीय। लक्षणोपयुक्त सुन्दर सरस उदाहरण प्रस्तुत करने में रीति के अध्येताओं ने मतिराम को श्रेष्ठतम रीति ग्रन्थकारों में परिगणित किया है हाँ लक्षण रचना में उनकी कोई मौलिकता या विशिष्ट देन नहीं है इसीसे आचार्य के रूप में इनका पल्ला हल्का ही माना गया है। इनकी अपेक्षा इनके भाई चिंतामणि बड़े आचार्य थे, उनकी दृष्टि अधिक आचार्यत्व लिए हुए थी, इनमें कवित्व शक्ति का स्फुरण विशेष है। नायिका भेद निरूपण में रसमंजरी का आधार लेते हुए इन्होंने नायिकाओं के वर्णन में तो सरस उदाहरणों की सुन्दर राशि खड़ी कर दी है जिनसे उनके सरस हृदय और उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का पूरा-पूरा पता चलता है। सुन्दर रमणीय संयत और सुकुमार भावों के एक से एक मनोहर चित्र 'रसराज' में देखे जा सकते हैं। 'रस सिद्ध' रचना की दृष्टि से मतिराम कृत 'रसराज' रीतियुग के उत्तमोत्तम ग्रन्थों में परिगणित किया जायगा।

ललित ललाम : अलंकार विवेचन—अपने आश्रयदाता बूँदी नरेश महाराज भावसिंह को प्रसन्न करने के लिए मतिराम ने 'ललित ललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा—

> भावसिंह की रीझ कौं कविता भूषन धाम।
> ग्रंथ सुकवि मतिराम यह कीनौं ललित ललाम ॥

ग्रन्थ में तो इसका रचना काल दिया नहीं गया है परन्तु विभिन्न आधारों पर इसका कृतिकाल सं० १७२० के आस-पास ठहरता है। यह ग्रंथ अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें कुल ४०१ छंद हैं। लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त और सवैयों में लिखे गए हैं वैसे अनेक दोहे भी उदाहरण रूप में रखे गए हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ के ५ छन्दों में

गणेश एवं कृष्ण की वन्दना है फिर १७ दोहों में बूँदी वर्णन है फिर १६ छन्दों में आश्रयदाता भावसिंह के वंश का वर्णन है। अलंकार निरूपण से पूर्व अलंकार ग्रन्थ की रचना का कारण दिया गया है जो ऊपर के दोहे से व्यक्त हो रहा है। अलंकार ग्रन्थ की समाप्ति पर नृप भावसिंह को आशीर्वाद दिया गया।

अलंकार ग्रन्थ का नाम 'ललित ललाम' रखना कवि की अनोखी सूझ-बूझ का परिचायक है। यों तो 'ललित' और 'ललाम' दोनों ही शब्द एकार्थक अथवा सौन्दर्य-वाची हैं परन्तु मतिराम ने इन्हें एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है ऐसा जान पड़ता है—ललित शब्द विशेषण है और ललाम विशेष्य। ललाम शब्द अलंकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ में केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन हुआ है। ललित शब्द उन्हीं के लिए विशेषण होकर आया है। मतिराम को संभवतः अभिनव शब्द विधान का शौक था, इसलिए भी अपने अलंकार ग्रन्थ का उन्होंने ऐसा नया सा नाम रख दिया था। अप्पय दीक्षित के साक्ष्य से ललित शब्द 'सुकुमारोपयोगी' अर्थ रखता है, उन्होंने अपने लक्ष्य-लक्षण-संग्रह को ललित ही कहा है—ललितः क्रियते तेषां लक्ष्य-लक्षण-संग्रहः (कुवलयानंद)। इस प्रकार 'ललित-ललाम' का अर्थ सुकुमार बुद्धि के काव्य-पाठकों अथवा काव्याभ्यासियों के लिए लिखित अलंकार ग्रंथ भी माना जा सकता है।

मतिराम का अलंकार ग्रंथ ललित-ललाम भी रसराज के ही समान अपने सरस औदाहरणिक अंश के लिए ही विशेष रूप से द्रष्टव्य है, उन्हीं में मतिराम का वास्तविक स्वरूप मिलता है लक्षण कथन तो साधारण चलते ढंग का ही है। मतिराम के निजी काव्यादर्शों पर न तो रसराज से ही विशेष प्रकाश पड़ता है और न ललित-ललाम से ही। ललित ललाम में १०० अलंकारों और उनके भेदों का निरूपण हुआ है। निरूपित अलंकार अर्थालंकार ही हैं, शब्दालंकार नहीं। उनका चित्र अलंकार ही कहा जा सकता है। उसका विवरण ठीक नहीं है। अन्य शब्दालंकारों की अवहेलना कर इन्होंने परोक्ष रूप में यह तो सूचित कर ही दिया है कि इनकी दृष्टि में शब्दालंकार विशेष महत्वपूर्ण नहीं। शब्दालंकारों का निरूपण न करने का एक और भी कारण है। इनके उपजीव्य ग्रंथ 'कुवलयानंद' में भी शब्दालंकारों का निरूपण नहीं है, इसी कारण इन्होंने भी उन्हें छोड़ दिया है हालाँ कि यह बात ठीक नहीं हुई है। मतिराम पर अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द का इतना अधिक प्रभाव है कि इनके लक्षण उनके लक्षणों के अनुवाद मात्र ही कहे जा सकते हैं। अलंकार निरूपण में इन्होंने कुछ सहारा अपनी बुद्धि का भी लिया है तथा कुछ अन्य संस्कृत के आचार्यों के ग्रंथों का भी जैसे चंद्रालोक, काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण आदि। फिर भी मतिराम के अलंकार विवेचन का क्रम कुवलयानंद के ही अनुसार है। कुछ अलंकारों के तो इन्होंने नाम ही बदल दिये हैं जैसे छलापन्हुति (कैतवापन्हुति), गुप्तोत्प्रेक्षा (प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा), परस्पर (अन्योन्य), हेतुमाला (कारणमाला) आदि। मतिराम ने भाषा-

भूषण के ही समान दोहे के आधे भाग में ही लक्षण दे दिया है । शेष आधे में अलंकार एवं कवि का नाम दिया है । लक्षणों को स्पष्ट और पूर्ण बनाने की ओर उनका ध्यान विशेष न था, अनेक लक्षण गलत भी हैं जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण । उदाहरण सरस, मधुर और सुन्दर होते हुए भी सर्वत्र सटीक ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता । हाँ, वे स्वतंत्र रूप में अवश्य अतिशय महत्वपूर्ण हैं । इससे स्पष्ट है कि रीतिकर्म अथवा आचार्यत्व इनका लक्ष्य न था, ये वस्तुतः कवि थे । आचार्य कर्म इन्होंने परम्परा निर्वाह भर के लिए किया था । संस्कृत के जिन ग्रन्थों का सहारा इन्होंने लिया उनका भी पूर्ण उपयोग इन्होंने नहीं किया । पूर्ववर्ती हिन्दी अलंकार ग्रन्थों का भी इन्होंने अवलोकन किया होगा । भूषण और मतिराम के अलंकार ग्रन्थों 'शिवराजभूषण' और 'ललितललाम' में लक्षणों का विशेष रूप से सादृश्य मिलता कहा गया है और इस आधार पर इन दोनों के भाई होने की बात तक प्रमाणित की गई है (और कहा गया है कि ये तिकवाँपुर, जिला कानपुर, निवासी कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे) । समग्र रूप से यही कहा जायगा कि ललित ललाम अलंकार निरूपण का एक साधारण ग्रंथ है जिसकी उपयोगिता सरस कवित्तों की दृष्टि से अधिक है । रीति निरूपण की दृष्टि से उतनी नहीं । यह ग्रंथ कवि मतिराम को हिन्दी रीति के श्रेष्ठतम आचार्यों की श्रेणी में बिठाने वाला नहीं ।

मतिराम का काव्य

रसराज—मतिराम की 'कविताई' के सम्बन्ध में संप्रति संक्षेप में ही कुछ कहना अभिप्रेत है । काव्य के मूल तत्व रस की प्रतिष्ठा की दृष्टि में मतिराम वृत्त 'रसराज' ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्ता स्वतः सिद्ध है । रसराज में मतिराम ने शृङ्गार के आलंकरों की ही चर्चा की है—नायक, दूती, नायिका आदि को लेकर उनके कार्यों और भेदों के विवेचन रूप में बहुत सारे छन्द प्रस्तुत किये हैं । सामान्यतः सरल और स्पष्ट काव्य की रचना करते हुए भी इनके छन्दों में रीतिबद्ध पद्माकर अथवा रीति मुक्त ठाकुर के कवित्त सवैयों जैसा आकर्षण नहीं आ पाया है । एक प्रकार की एकतानता (Monotony) से मतिराम कृत 'रसराज' के छन्द ग्रस्त हैं । कवित्व-परीक्षा की दृष्टि से दोहों को छोड़ा जा सकता है केवल कवित्त सवैयों को ही ले लीजिये, 'रसराज' ग्रन्थ को देखने से लगता है कि मतिराम ने अपनी कवित्व शक्ति का ठीक प्रयोग नहीं किया । अच्छी रचना शक्ति पाकर भी लक्षणोदाहरण लिखने में अपनी शक्ति का जो उपयोग उन्होंने किया वह कुछ बहुत सराहनीय नहीं कहा जायगा । स्वतन्त्र कवित्वशक्ति के विकास में यदि वह सामर्थ्य नियोजित हुई होती तो कहीं अच्छा था । अनिवार्य रूप से विविध नायिकाओं का चित्र प्रस्तुत करने में जो शक्ति खर्च हुई है वही यदि स्वच्छन्द पद्धति पर चल कर काव्य-रचना में प्रयुक्त हुई होती तो मतिराम के कवि रूप की आभा कुछ और ही होती । किन्हीं बँधे-बँधाए

साँचों में उनके कवित्व की मृत्तिका ढाल भर दी गई है। लगता है जैसे कवि को उसमें अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का अवसर नहीं मिलने पाया है। एक के बाद एक नायिका भेद के छन्द पढ़ते चले जाइये, स्वतन्त्र चेतना और जीवन शक्ति कहीं दिखाई ही नहीं देती। शास्त्रोक्त छवियाँ अंकित करने में ही कवि-कर्म का साफल्य मान कर कवि आँख मूँद कर एक निर्धारित ढर्रे पर चलता चला गया है। इसीलिए रसराज के छन्द हर्षोत्तेजक कम एकतान और एक रस अधिक हो गए हैं जिससे अपेक्षित सरसता का संचार गोचर नहीं होता। मनोभावों का चित्रण भी दबा-दबा सा और बँधा-बँधा सा हुआ है। रसराज में विद्यमान काव्य वैभव के निदर्शन की दृष्टि से कतिपय उदाहरणों को लिया जा सकता है। पहले शृङ्गार के नायक और नायिका के रूप सौंदर्य को ही देखिये—

मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि मैं छबि छाई॥
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
बा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

———

कुंदन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन मैं अलसानि चितौन मैं मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यो खरी निखरै सी निकाई॥

नायिका के अल्पवय, वयः संधि, उसका चोर मिहीचनी खेलना, उसका नवोढ़ा रूप आदि चित्रित करते हुए कवि उसके विविध भेद प्रभेदों के चित्रण में प्रवृत्त हुआ है। अल्पवयस्का लाजवती नवोढ़ा का प्रिय संसर्ग से भय दिखाने की दृष्टि से इस प्रकार के छन्द दर्शनीय हैं—

साथ सखी के नई दुलहीं कों भयो हरि को हियो हेरि हिमंचल।
आय गये मतिराम तहाँ घरु जानि इकंत अनंद ते चंचल।
देखत ही नंद लाल को बाल के पूरि रहे अँसुआनि दृगंचल।
बात कही न गई सु रही गहि हाथ दुहू सों सहेली को अंचल॥
केलि कै राति अघाने नहीं दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हँसि, हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीनो, सु गेह की देहरि पै धरि आई॥

चोर मिहीचनी के खेल में जब एक अज्ञात यौवना और कृष्ण अकस्मात एक ही भवन में जा छिपते हैं उस समय उनके आकस्मिक अंगस्पर्श के कारण नायिका की जो तन-

दशा होती है उसे इस प्रकार अंकित किया गया है—'कंप छुट्यौ, घन स्वेद बढ़्यो, तनु रोम उठ्यौ, अँखियाँ भरि आईं।' धीरे-धीरे कृष्ण के प्रति गोपिका का प्रेम जब बढ़ जाता है और कृष्ण उसके छोटे से अस्तित्व के अंग ही हो जाते हैं तब वह 'गौरी पार्वती' से यही मनौतियाँ करती है कि जो उसके मन का राजा हो गया है वही उसके जीवन का भी सर्वस्व हो जाय। हृदय की यह मधुर आकांक्षा कितने प्रणत और भक्ति भाव से व्यक्त हुई है देखिये—

गोपसुता कहै गौर गुसाँइनि ! पायँ परौं बिनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित दया-रस भीजै।
देहिजो ब्याहि उछाह सों मोहनै, मात-पिता हू को सो मन कीजै।
सुंदर साँवरों नंदकुमार, बसै उर जो वह सो बर दीजै॥

उसकी आकांक्षाएँ निर्बन्ध हुआ चाहती हैं, गाँव की सीमा उसके लिए सँकरी हो रही है, उसमें उसका प्रेम निबह सकेगा इसमें संदेह ही है। लोक लाज और कुल मर्यादा के बोझ वह कब तक ढोती फिरेगी। इसीलिए उसके हृदयोच्छ्वास इस प्रकार की पंक्तियों में फूटते हैं—

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै कीजै॥
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै॥

गाँव-घाट में आभीर प्रेमी प्रेमिका कहीं न कहीं मिल ही जाते हैं। राधा और कृष्ण को एक दूसरे के सम्पर्क में आने के अवसर मिलते ही रहते हैं, उन्हीं के बीच किन्हीं-किन्हीं छंदों में प्रेम का विकास दिखाया गया है। राधिका का बछड़ा कहीं खो गया है, शाम का समय है और घर में कोई है भी नहीं। वह कृष्ण से इसीलिए निवेदन भी करती है कि मैं तो खोजते-खोजते थक गई जरा तुम्हीं मेरे खोए हुए बछड़े को खोज दो। इस प्रकार की वचन और क्रिया विदग्धाओं का चित्रण करते हुए ज्येष्ठा कनिष्ठा के संग एक साथ ही प्रीति निर्वाह करते हुए चतुर नायक का भी परंपरागत ढंग से चित्रण किया है—

बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ,
आय तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसै।
कवि 'मतिराम' ढिग बैठे मनभावन जू,
दुहुँन के हीय-अरबिंद मोद सरसै।
आरसी दै एक सों कह्यो यों निज मुख देखौ,
जामे बिधु बारिज बिलास बर दरसै।
दरप सौं भरी वह दरपन देख्यौ जौ लौं,
तौ लौं प्रान प्यारी के उरोज हरि परसै॥

इस प्रकार की सीधी-सीधी स्थूल प्रणय वर्णना का जमाना अब लद गया । अब अभिव्यंजना की सूक्ष्मतर पद्धतियाँ आविष्कृत हो चुकी हैं और काव्य की नई भाषा भी सामर्थ्य की दृष्टि से पुरानी पड़ गई है फलस्वरूप उसमें प्रणय के सरल गूढ़ व्यापारों की, और भी जीवन प्रसंगों की सूक्ष्म विशद व्यंजना संभव हो सकने के कारण ऐसे वर्णन और चित्र अब कुछ स्पृहणीय नहीं रहे । बदले हुए मान्यताओं के इस युग में यह सीमित और स्थूल प्रणय दृष्टि अब कुछ बहुत सम्मानजनक नहीं है परन्तु अपने युग के काव्यरसिकों का मनोरंजन तो इन कवित्तों से हुआ ही होगा और उसी परिप्रेक्ष्य में हमें इन पर विचार करना है । 'प्रेम गर्विता' अपने प्रिय से मान करने को तैयार नहीं है क्योंकि नायक के अतिशय प्रेम ने उसे सब प्रकार से अभिभूत कर रखा है । तभी तो वह कहती है—

मेरे हंसे हँसत हैं, मेरे बोले बोलत हैं,
मोही कौं जानत तन-मन-धन-प्रान री।
कवि 'मतिराम' भौंह टेढ़ी किए हाँसी हू मैं
छोड़ देत भूषन-बसन-खान-पान री।
मौतैं प्रान प्यारी, प्रान प्यारे कें न और कोऊ,
तासों रिस कीजै कहौ कहाँ की सयान री।
मैन-कामिनी के मैनका हू के न रूप रीझे,
मैं न काहू के सिखाएँ आनौं मन मान री॥

ऐसी ही एक मुग्धा स्वाधीनपतिका का चित्र देखिये जीसके रूप गुण पर रीझ कर प्रिय उसके आधीन बना हुआ है—

आपने हाथ सों देत महावर, आप हो बार सँवारत नीके।
आपुन हीं पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौल सिरी के।
हौं सखी लाजनि जाति मरी, 'मतिराम' सुभाव कहाँ कहौं पी के।
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अबही ते ये चेरे भए दुलही के॥

पति के आसन्न वियोग दुख से दुखित 'मुग्धा प्रवत्स्यतप्रेयसी' की दशा का निदर्शन करते हुए कवि लिखता है कि 'सोवत न रैन दिन रोवति रहित बाल, बूझौ तैं कहत मायके की सुधि आई है।' इस प्रकार तथा इससे हलके छंदों में कवि ने अनुशयना, गर्विता, प्रोषित पतिका, कलहांतरिता, अनुशयना, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, अभिसारिका, आगत् पतिका आदि नाना नायिकाओं का विवरण शास्त्रोक्त पद्धति पर प्रस्तुत किया है। हाव भावों; दूत दूतियों के लक्षणोदाहरण यथाक्रम प्रस्तुत करते हुए यह रीति ग्रन्थ समाप्त हुआ है। जैसा हम पहले कह आए हैं ये छंद सरस तो हैं परन्तु इनकी सरसता एक प्रणाली विशेष की सरसता है। कवि वृत्ति की स्वच्छंदता का यदि कहीं इनमें समावेश हो पाता तो बात दूसरी ही होती। ये छंद एक विशेष

बैण्ड के है और उसी 'रीति-ब्रैण्ड' के होने में ही इनकी विशेषता है। 'रस राज' नामक ग्रंथ में रसराज शृंगार के अतिरिक्त अन्य किसी रस की चर्चा नहीं है।

ललित ललाम—ललित ललाम नामक अलंकार ग्रंथ भी कवित्व की दृष्टि से देखने योग्य ग्रंथ है जिसके आरम्भ में गणेश वन्दना, आश्रयदाता भावसिंह नरेश, बूँदी और नृपवंश का वर्णन हुआ है। कुछ दूर तक तो अलंकारों का उदाहरण उपर्युक्त विषयों को लेकर ही प्रस्तुत किया गया है वैसे समूचे ग्रंथ में ही बहुत बड़ी संख्या में अलंकारों के उदाहरण रूप में लिखे गए छंदों में आश्रयदाता नरेश भावसिंह का वर्णन किया गया है। प्राकृत जन के विशद गुण गान से ऐसे अधिकांश छंदों में पाठक की प्रवृत्ति ही नहीं होती। ललित ललाम में कई एक छंद सरसता और उपयुक्तता के कारण 'रसराज' से भी ले लिये गए हैं। अनेक अलंकारों के उदाहरण तैयार मिल जाने के कारण नए छंदों की रचना का श्रम नहीं उठाया गया है, बँधी हुई काव्य-लीक पर चलने का यह भी एक परिणाम दिखाई देता है। काव्य रचना में एक प्रकार की बाध्यता अथवा विवशता का कवि को अनुभव होता है। इस अलंकार ग्रन्थ में लक्षणों के जो उदाहरण हैं वे या तो आश्रयदाता भावसिंह की प्रशस्तिपरक हैं जिनमें उनके साहस, शौर्य, वैभव, औदार्य आदि का बखान किया गया है या फिर शृङ्गारपरक। शृंगारी रचनाओं के आलंबन प्रायः कृष्ण राधा और गोपियाँ हैं। जब तब सामान्य नायक-नायिकाओं को भी प्रीति रीति उनमें वर्णित हुई है। कृष्ण के स्वरूप वर्णन में सुंदर प्राकृतिक उपकरणों की सजावट विशेष रूप से दिखलाइ गई है, फूलों के आभूषण, मयूर पक्ष का किरीट, हाथ में, अरुणपल्लव युक्त पुष्पों की छड़ी, गुंजों की माला और निकुंजों का वातावरण आदि। उनकी चित्त में चुभ जाने वाली चितवन और अविस्मरणीय मुसकान को देखकर मुग्ध हुई गोपिका से यही कहते बनता है कि **मैं तौ भई मनमोहन को मुखचंद लखै बिन मोल की दासी।**' उनके आकर्षण के भँवर में पड़ी एक अन्य गोपिका की उक्ति है—

> **आनन-चंद निहारि-निहारि नहीं तनु औ धन-जीवन वारैं।**
> **चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए मति कौं गहि ताहि निकारैं।**
> **क्यौं करि धौं मुरली मनि कुंडल मोर पखा बनमाल बिसारैं।**
> **ते धनि जे ब्रजराज लखैं गृहकाज करैं अरु लाज सँभारैं।।**

राधिका के सौंदर्य वर्णन में कवि लिखता है कि उस शोभा-सदन की सृष्टि तो विधाता ने अपने हाथों से की है जिसकी छवि चूराने के लए चन्द्रमा ने जब अपनी किरणों का जाल फैलाया तब विधाता ने रुष्ट होकर उसे दण्ड दे दिया और अब उस चन्द्रमा की यह दशा हो गई है कि '**रातौं दिन फेरै अमरालय के आस पास, मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगाय कै।**' यह तो रूप-राशि राधिका के सौन्दर्य वर्णन की बात हुई, सामान्य नायिका का सौंदर्य भी कवि ने असाधारण ही बताया है—उसके जगमग

यौवन और अनूप रूप के सामने रति, रंभा, रमा आदि को कौन याद करेगा। उसके अंग अंग के माधुर्य और लावण्य तो नायक और सौतों की आँखों में क्रमशः अमृत और नमक के समान लग कर सुख और पीड़ा पहुँचाने वाले हैं, बस वह सिर्फ जरा अपना घूँघट भर खोल दे—

तेरे अंग अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
'मतिराम' कहत प्रकट यह पाइए।
नायक के नैनन मैं नाइए सुधा सो सब,
सौंतिन के लोचनन लौन सो लगाइए॥

उसके अरुण अधरो पर बिंबा फल, हास पर चंद्रिका, अंग-रंग पर नागकेसर और अंग सुगंधि पर भ्रमर मुग्ध दिखलाए गए हैं फिर भला दर्पण उसकी कांति को क्या पा सकता है चंद्रमा जिसका चेला है और कमल जिसका दास—'कहा दरपन कैसैं पावत वदन जोति, चंद जाको चेरो, अरबिंद जाको दास है।' आलंकारिक पद्धति पर किया गया नायिका के रूप-ऐश्वर्य का वर्णन देखिये—

ह्वै कै डह डहे दिन समता के पाएँ बिन,
साँझि सरसिजनि सरमिसिर नायो है।
निसा भरि निसापति करि कै उपाय बिन;
पाएँ रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है।

उसकी सुकुमारता के वर्णन में बताया गया है कि वह पुष्पित कुसुमों की शैया पर ही विश्राम करती है कठोर पृथ्वी पर अपने चरण नहीं देती और भार के डर से वह अपने रमणीय अंगों में कुंकुम, चंदनादि अंगरागों का लेप नहीं कराती, वातायन से आते हुए आतप से उसका वदन-मयंक मलिन पड़ जाता है फिर भला वह घर के बाहर किस प्रकार आ सकती है। फारसी शायरी की प्रतिस्पर्धा में ही ऐसी अन्युक्ति भरी नजाकत का वर्णन समसामयिक हिन्दी कविता में देखा जा सकता है—'कैसे वह बाल लाल बाहर विजन आवै, बिजन बयारि लागे लचकत लक है।' अन्याय छंदों में उसके साज संभार युक्त, प्रसाधनों से सुसज्जित रूप सौंदर्य और वेशविन्यास का वर्णन हुआ है जिसमें श्वेत वर्ण के चंदनादि अंगरागों, दुग्ध-धवल सारी में परिवेष्ठित नायिका को मोतियों के आभूषणों एवं कुसुम कलित केशों से युक्त बताया गया है, उसकी मृदु स्मिति और ज्योत्स्ना सी अंग छटा और उसके सौंदर्य को और भी बढ़ा देती हैं। अत्युक्तिपूर्व वर्णनाओं में कहीं उसे चाँदनी से एक मेक कर दिया गया है और कहीं दिन के प्रकाश से—

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी,
केसरि को अंगराग कीन्हौं सब तन मैं।

तीछन तरनि की किरनि तैं दुगुन जोति,
जागति जवाहिर जटित आभरन मैं।
कवि 'मतिराम' आभा अंगनि अंगारनि की,
धूम कैसी धारा छवि छाजति कचन मैं।
ग्रीपम दुपहरी मैं हरि कौं मिलन चली,
जानि जाति नारि ना दवारिजुत बन मैं॥

नायिका के नेत्रों का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि ये नेत्र सबके देखते देखते चित्त को चुरा लेते हैं और उन्हें लौटाते नहीं, फिर कामशर से भी तीक्ष्ण कटाक्षों से छाती को छेद डालते हैं, खंजरीट-कंज-मीन-मृगादिकों की छवि छीन लेते हैं। इतने अवगुणों के होते हुए भी जाने क्यों लोग इनकी बड़ाई करते हैं। उसके यौवन का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

कुंदन के आँग माँग मोतिन सँवारि सारी,
सोहत किनारीवारी केसरि के रंग की।
कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना छोटी,
नथुनी जराबी गजमुकतन संगकी।
कुसुम के हार हियो हरति कुसुंभी आँगी,
सकै को बरनि आभा उरज उतंग की।
जोबन जरब महा रूप के गरब गति
मदन के मद मद मोकल मतंग की॥

राधा और कृष्ण के प्रेम वर्णन सम्बन्धी छंदों में बताया गया है कि किस प्रकार दोनों एक दूसरे के प्रेम में आबद्ध हैं जैसे अमृतमय ताल की मनोहर मछलियाँ हों। दोनों प्रेम भरी आँखों से अनिमेष भाव से एक दूसरे को देखते ही रहते हैं मानों प्रणय पालन का प्रण कर लिया हो दोनों ने—'लाल मुख-इंदु नैन बाल के चकोर, बलमुख अरविन्द चंचरीक नैन लाल के।' राधिका कभी कृष्ण को संध्या समय घर ही में कहीं खोया हुआ बछड़ा खोजने को कहती है और कृष्ण कभी चोर मिहीचनी के खेल-खेल में ही उसकी आँख मूँद लेते हैं और जब सभी सखियाँ भाग कर छिप जाती हैं उस समय वे किसी हलके से प्रणय व्यापार में प्रवृत्त हो उभय पक्षों में हर्ष का संचार कर चल देते हैं—

मनमोहन आय गये तित ही, जित खेलति बाल सखी गन मैं।
नहँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन चोर मिहीचनी खेलनि मैं।
दुरिबे कौं गई सगरी सखियाँ 'मतिराम' कहै इतने छन मैं।
मुसकाय के राधिके कंठ लगाय छप्यौ किहूँ जाय निकुंजजन मैं॥

गोरस दान माँगते हुए कृष्ण उन्हें तंग करते हैं तो कभी खासी फटकार भी गोपियों से पा जाते हैं—

> ऐसी करौ करतूति बलाइ ल्यौं नीकी बड़ाई लहौ जग जातैं ।
> आई नई तरुनाई तिहारी ही ऐसे छके चितवौं दिन रातैं ।
> लीजिए दान हौं दीजिए जान तिहारी सबै हम जानती घातैं ।
> जानौं हमैं जानि वै बनिता, जिन सौं तुम ऐसी करौ बलि बातैं ।

यह चित्र बहुत ही मार्मिक और जीवंत है, फटकारती हुई गोपी का चित्र सामने खड़ा हो जाता है साथ ही खिसियाए हुए अपराधी कृष्ण की रसभरी और फीकी हँसी वाली मुद्रा की भी कल्पना की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अनेक सूक्ष्म बातें उक्त छंद में सन्निविष्ट पाई जाती हैं। भरे समाज में भी प्रेमी युगल अपने मतलब-मतलब भर की बातें आँखों ही आँखों में कर डालते हैं, देखिये कैसे प्रवीण हैं ये—

> लाल सखीनि मैं बाल लखी 'मतिराम' भयो उर आनंद भीनौं
> हाथ दुहूनि सौं चंपक गुच्छनि को जुग छाती लगाय कै लीनौं ।
> चंदमुखी मुसकाय मनोहर हाथ उरोजन अंतर दीनौं ।
> आँखिनि मूँदि रही मिसि कै मुख ढाँपि निचोल को अंचल कीनौं ।।

यहाँ क्रियाविदग्धा नायिका हुई। मतिराम ग्रन्थावली के सम्पादक पं० कृष्ण बिहारी मिश्र प्रेमियों की क्रिया-विदग्धता का उद्घाटन करते हुए लिखते हैं—'नायक ने दो चंपक पुष्पों के गुच्छों को छाती से लगाकर प्रकट किया कि मैं तेरा आलिंगन करना चाहता हूँ। नायिका ने उरोजों के नीचे हाथ ले जाकर बताया कि तुम हृदय में बसते हो, आँख मूँद कर जाहिर किया कि रात को मिलना (कमल बन्द होने पर) और रात में किस समय मिलना होगा, यह बात मुख पर परदा डाल कर प्रकट की गई अर्थात जब चंद्रमा अस्त हो जाय।' प्रेमियों के जीवन में ऐसे भी कितने अवसर आते हैं जब अन्य जनों के बीच में उन्हें लज्जा और संकोच धारण करना पड़ता है, वे ऐसे अवसरों पर अपने आप को व्यक्त भी नहीं कर पाते और अव्यक्त भी नहीं रख पाते। ऐसा ही एक और भी अवसर आया जब प्रेमिका सहेलियों के बीच थी और प्रिय उधर से होकर निकला, नायिका का प्रेम-भाव उत्साह से हिलोरें लेने लगा। नायिका सखियों की दृष्टि को बचाकर प्रिय को देखती भी है और अपनी प्रीति को सहेलियों पर व्यक्त भी नहीं होने देती। वह स्वयं अपने हृदय में बहते हुए आनंद के प्रवाह की थाह नहीं जानती। अपने हृदय के भावों को इस प्रकार वह व्यक्त करती और छिपाती है कि उसके वे ही नेत्र औरों को रूखे मालूम पड़ते हैं और उसके प्रिय को स्नेह से भरे—

मोहन लला कौं मनमोहनी बिलोकि बाल,
कसि करि राखति है उमगे उमाह कौं।
सखिनि की दीठि कौं बचाय कै निहारत है,
आनंद प्रवाह बीच पावति न थाह कौं।
कवि 'मतिराम' और सब ही के देखति ही,
ऐसी भाँति देखति छिपावति उछाह कौं।
वे ही नैन रूखे से लगत और लोगनि कौं
वेई नैन लागत सनेह भरे नाह कौं॥

कभी नायक के किसी आचरण विशेष से रुष्ट हो नायिका उससे सीधे ढंग से बात नहीं करती और प्रकारांतर से अपना रोष जनाती है—तुम्हें मना कौन करता है, जहाँ चाहो वहाँ रहो, क्यों बेकार में कसमें खाते हो, तुम भला क्यों कर अपराध करने लगे। जाने दो, हमें सोने दो, बेकार की बातें क्यों करते हो। जिसका मान होता है उसे ही न मान करने का अधिकार है, यहाँ तो यह सब कुछ भी नहीं—'मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सो मानै मनायो।' ऊपर के समस्त कथनों का एक वाक्य बहुत ही चुभने वाला है। नायक वाक्‌वाणों की इस वर्षा के सामने ठहर नहीं सकता। 'ललित ललाम' में कुछ छन्द उद्धव गोपी-प्रसंग के भी हैं जिनमें गोपियों के कुछ मार्मिक कथन मिलते हैं जो मुख्यतः 'कुब्जा' और उद्धव के 'योग के संदेशे' को लेकर किये गए हैं। गोपियाँ कहती हैं कि इस प्रेम का ऐसा फल मिलेगा ऐसा हम नहीं जानती थीं—कृष्ण प्रेम में इतना बड़ा धोखा दे डालेंगे ऐसा सोचा न था और कृष्ण ऐसी रूप गुणहीन दासी के क्रीतदास हो जायँगे यह बात भी हमारी कल्पना के बाहर थी—

यौं दुख दै ब्रजबासिन कौं ब्रज कौं तजि कै मथुरा सुख पैहैं।
वै रसकेलि बिलासिनि कौं, बन कुंजन की बतियाँ बिसरैहैं।
जोग सिखावन कौं हम कौ बहुरयौ तुम से उठि धावन ऐहैं।
ऊधो नहीं हम जानत हीं मनमोहन कूबरी हाय बिकैहैं॥

उद्धव और कृष्ण दोनों की बेतुकी बातें गोपियों के समझ में नहीं आतीं—कहाँ तो ऋषियों और मुनियों की साधना का दुर्गम योग-मार्ग और कहाँ असमर्थ अबलाओं से उसकी साधना का प्रस्ताव! वे कहती हैं उद्धव जी आप कुछ समझ में आने लायक बात कहिये तो हम जरूर उसे सम्मानपूर्वक स्वीकार करेंगी किन्तु यह योग साधना का उपदेश कैसा—'जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी।' ठीक इसी प्रकार रसिकेश कृष्ण और कूबड़ी के प्रणय संबंधों की बात भी उनके गले नहीं उतरती और वे आश्चर्य के अथाह सागर में डूबती हुई कहती हैं—'स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी!' गोपियों की उद्धव के प्रति की

गई वह उक्ति बहुत ही मार्मिक है जिसमें वे उद्धव के योग संदेश को यह कह कर अस्वीकार करती हैं कि यहाँ तो निरंतर श्याम का सयोग ही प्राप्त होता रहा है, जब वियोग हो तब न योग का संदेश ग्राह्य होगा ! वह प्रेममग्नता देखिये जिससे पग कर इस प्रकार की वचनावली उनके वाष्परुद्ध कंठ से निर्गत होती है—

निसि दिन श्रौननि पियूष सो पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरी के सुर ग्राम को।
तरनि तनूजा तीर बन कुंज बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखति हैं रूप छबि धाम को।
कबि 'मतिराम' होत हाँतो न हिए ते नैक
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम कौ ।।

इस प्रेम-विह्वल भाव-लहरी के आगे उद्धव के सारे तर्क बह जाते हैं। मतिराम की कविता भी मूलतः श्रृंगारिक ही है। रसराज तो ऐसे ही छंदों का संग्रह ग्रन्थ है और ललित ललाम का भी अर्धाधिक औदाहरणिक भाग श्रृंगार-मुक्तकों से ही परिपूर्ण है। संभोग श्रृंगार के कुछ वर्णनों की अल्पचर्चा के अनंतर 'ललित ललाम' के काव्यत्व की चर्चा समाप्त हो जायगी। प्रिय संसर्ग से अनभ्यस्त नवोढ़ाओं अथवा मुग्धाओं में लज्जातिशय्य और संकोच ही प्रधान रूप से दिखाया जाता है---

पाइ इकंत कैं बाल सो बालम जो रति रूपकला दरसावै।
नाहीं कढ़ै मुख नारि के नाह जहीं हिय सौं हियरा परसावै।
काम बढ़ौ 'मतिराम' तहीं अति लाल बिलासनि कौं सरसावै।
जोवै त्रसै मन भोवै अनंद मैं, रोवै-हँसै रस कौं बरसावै ।।

लज्जा और काम के उभयविध खिचाव में पड़ी मुग्धा की दशा विचित्र हो जाती है। ऐसी ही एक प्रिया को अपने चित्र पर आसक्त देख नायक जब सहसा उसकी बाँह पकड़ लेता है उस समय उसकी लज्जा-विकल स्थिति का चित्रण कवि इन शब्दों में करता है---

'गाढ़ै गही लाज मैं न कंठ ह्वै फिरत बैन, मूल छ्वै फिरत नैन बारि बरुनीन के।'

इसी प्रकार स्वप्न संयोग का भी एक चित्र पर्याप्त मार्मिक बन पड़ा है---

आवत मैं हरि कौं सपने लखि नैसुक बाट सकोचन छोड़ी।
आगे ह्वै आड़े भए 'मतिराम' चली सुचितै चख लालच ओड़ी।
ओठनि को रस लैन कौं मोहन, मेरी गही कर कंपत डोड़ी।
और भटू न भई कछू बात, गई इतने ही मैं नींद निगोड़ी ।।

गुप्त रूप से रति-रस लूट कर उसका संगोपन करने वाली 'सुरति गुप्ता' का भी चित्र कम रोचक नहीं है—

> लैन गई हुती बागहिं फूल अँध्यारी लखे डर बाढ्यौ तहाँई।
> रोम उठे तन कंप छुट्यौ 'मतिराम' भई श्रम की सरसाई ॥
> बेलिन सौं उरझी अँगिया छतियाँ अति कंटनि की छत छाई।
> देह मैं नेकु सम्हार रह्यौ नहीं, ह्याँ लगि भागि मरू करिआई ॥

संभोग की अदम्य अभिलाषा और गुरुजन-भय की परस्पर विरोधिनी स्थितियों के बीच मिथ्यालाप का ही मार्ग एक मात्र प्रशस्त मार्ग है बशर्ते वह विदग्ध जनों के बीच चल सके। मतिराम के काव्यत्व की चर्चा करते हुए इसके अतिरिक्त न तो लक्षण निरूपक दोहे ही देखने योग्य हैं और न 'भावसिंह नरनाह और उनके वंश की विरुदावली' ही।

मतिराम सतसई—भोगनाथ नामक एक गुणी राजा के लिए मतिराम ने भी बिहारी की सतसई की तरह एक सतसई लिखो। ये भोगनाथ कौन थे इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इनके रूप, शील, शक्ति, गुण आदि की मतिराम ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है—'राजा भोगनाथ गुरुजनों का सम्मान करते हैं और बड़े-बड़े विद्वानों की संगति। वे पृथ्वी के इन्द्र हैं तथा शरणागत के परम रक्षक हैं, दानशीलता और युद्धवीरता में असाधारण हैं। उन्हें देखते ही गरीबी भाग जाती है वे ऐसे संपदशील और उदार दाता हैं। कितने ही भिखारी उनसे भीख पाकर राजा हो गए हैं आदि आदि।' बिहारी के अनेक दोहों का प्रभाव मतिराम पर लक्षित किया जा सकता है तथा मतिराम सतसई के अनेकानेक दोहे स्वयं भी बिहारी के दोहों के समान ही काव्योत्कर्षपूर्ण हैं। असंभव नहीं कि बिहारी की सतसई की लोकप्रियता से ही प्रेरित होकर इन्होंने भी सतसई की रचना की हो। बिहारी की सतसई की प्रेरणा से अथवा उसके अनुकरण पर जितनी सतसइयाँ लिखो गई उनमें मतिराम सतसई का विशेष स्थान है। मतिराम सतसई की रचना सं० १७३८ के आस-पास हुई। रसराज और ललित ललाम के दोहे इसमें संकलित हैं जिससे ऐसा अनुमान होता है कि उक्त दोनों महत्वपूर्ण रीति ग्रन्थों की रचना के बाद इन्होंने सतसई की रचना में हाथ लगाया होगा।

मतिराम सतसई का प्रथम दोहा बिहारी के प्रथम दोहे 'मेरी भवबाधा हरौ' वाला भाव लिए हुए है—

> मो मन तम-तोमहि हरौ राधा को मुख चंद।
> बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंद-नंदन आनंद ॥

उनका दूसरा दोहा बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे के भाव को लेकर लिखा गया जान

पड़ता है जिसमें वे 'मोर मुकुट, कटि काछनी कर मुरली, उर माल' के एक विशेष बानक में कृष्ण को अपने मन में बसाना चाहते हैं : —

मुंज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंज बिहारी बिहरियैं, मेरेई मन-कुंज ॥

इस प्रकार के राधाकृष्ण स्तवनपरक दोहों से सतसई का आरम्भ होता है। राधा और कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम को भी उन्होंने अतिशय सुन्दर रूप में आरम्भ में ही व्यक्त कर दिया है—

राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस तिनकी आँखिन खेह ॥

मतिराम की सतसई भी बिहारी सतसई की ही भाँति मूलतः शृंगार सतसई ही है। गौण रूप से इसमें भक्ति, नीति आदि के भी कुछ कथन सम्मिलित हैं तथा कृति के अन्तिम शतक में १५-१८ दोहे राजा भोगनाथ के लिए लिखे गए हैं जो कुछ काल तक इनके आश्रयदाता रहे होंगे। नीति भक्ति आदि के कथन रहीम बिहारी आदि की ही शैली पर हैं यथा :—

(क) अब तेरो बसिबो इहाँ नाहिंन उचित मराल ॥
सकल सूखि पानिप गयो, भयो पंकमय ताल ॥
(ख) दुख दीनें हूँ सुजन जन छोड़त निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि में, करत सुबासित केस ॥
(ग) निज बल के परिमान तुम तारे पतित बिसाल।
कहा भयो जु न हौं तरतु, तुम न खिस्याहु गुपाल ॥

जहाँ तक शृङ्गार वर्णन का सम्बन्ध है 'मतिराम सतसई' का तो आशय ही शृंगाररस के दोहों को उसमें संग्रहीत करता रहा है। 'रसराज' और 'ललितललाम' की अपेक्षा मतिराम को सतसई लिखने में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई फलतः कुछ स्वतन्त्र आधार पर अधिक सरस उक्तियाँ वे हमें दे सके हैं। मध्ययुग के मुक्तक काव्य में उक्तियों का विशेष महत्व मान्य रहा है। मतिराम के दोहों की सरसता और उक्तियों, भावों, कल्पनाओं की सुन्दरता और साथ ही सहजता माननी पड़ेगी। नायक-नायिका, कृष्णगोपिका या राधाकृष्ण का प्रेम उन्होंने इस ग्रन्थ में छोटी-छोटी स्वतंत्र उक्तियों के रूप में ही सही बड़े विस्तार से कहा है। जैसा हम कह आए हैं बिहारी इस दोहात्मक पद्धति पर प्रेम-शृंगार की वर्णना का मार्ग पहले ही प्रशस्त कर गए थे, उनके मार्ग पर चलने वाले पीछे मतिराम, रसनिधि, वृन्द आदि कितने ही लोग हो गए। आधुनिक युग में वियोगी हरि और दुलारे लाल के अलावा भी और बहुत से मुक्तककारों ने अपने इन पूर्वजों से प्रेरणा प्राप्त की है। बिहारी की इस उक्ति का—

कहत सबै बैं दी दिये आँक दसगुनो होत।
तिय लिलारे बैंदी दिये अगनित बढ़त उदोतु। (बिहारी)

प्रभाव मतिराम के निम्नलिखित दोहे पर स्पष्ट ही है—

होत दसगुनो अंकु है दिएँ एक ज्यों बिंदु ॥
दिएँ दिठौना यौं बढ़ी आनन आभा इंदु ॥ (मतिराम)

इस प्रकार की प्रभाव परंपरा सतसई शैली की काव्य रचना में चलती रही है।

आलंबन वर्णन—अब मतिराम सतसई में वर्णित शृङ्गार की भी थोड़ी चर्चा हो जानी चाहिये। नायक कृष्ण की अपेक्षा नायिका या राधा का रूप सौंदर्य वर्णन विशेष किया गया है। कृष्ण का सौंदर्य तो क्या उसके प्रभाव का वर्णन एक ही छंद में कर दिया गया है—

देखें बानिक आजु की वारौं कोटि अनंग।
भलो चल्यो मिलि साँवरे अंग रंग पट रंग ॥

पर नायिका के रूप-सौंदर्य वर्णन में कवि का विशेष अभिनिवेश गोचर होता है। नायिका के रूप-सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण सीधे ढंग पर नहीं किया कराया गया है वरन् अनेक स्थितियों में उसे रख कर और अनेक व्यक्तियों के कथनों द्वारा नायिका के रूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है उदाहरण के लिए एक सखी कहती है कि अपने माथे पर रोली का तिलक लगा कर तू ऐसी शोभा दे रही है जैसे रूप के भवन में दीपक की ज्योति जगमग कर रही हो। दूसरी सखी कहती है—हे रूपवती! तेरे रूप-वैभव को देखकर नन्दलाल को प्रणय ऐश्वर्यपूर्ण निशा की प्रतीति होने लगती है और उसका मन तेरे साहचर्य का आकांक्षी हो उठता है। तीसरी कहती है—हे आली! तेरे रूप की समता करने से कमल और चंद्रमा को खूब मुँह की खानी पड़ी, किसी के मुँह में तो धूल पड़ गई और किसी को कलंक का टीका लग गया। चौथी कहती है कि जब-जब यह नायिका दिन में अपनी अटारी पर चढ़ती है गाँव वालों को उसका मुख चंद्र देख कर रात का भ्रम हो जाता है। यह चौथी उक्ति हास्यास्पद तो हो गई है परन्तु कवि ने नायिका के सौन्दर्यातिशय्य का कथन तो किया ही है और समसामयिक रसिकता ऐसी उक्तियों को न केवल सहर्ष गवारा करती थी वरन् सोत्साह प्रोत्साहित भी करती थी—

(क) बंदन तिलक लिलार में ऐसो मुख छबि होति।
रूप भौन में जगमगै मनो दीप की ज्योति ॥

(ख) नखतावलि नख, इंदु मुख, तनु दुति दीप अनूप।
होति निसा नंदलाल मन लखे तिहारो रूप ॥

(ग) तेरी मुख समता करी साहस करि निरसंक।
धूरि परी अरबिंद मुख, चंदहि लग्यो कलङ्क ॥

(घ) जब जब चढ़ति अटानि दिन चंदमुखी यह बाम ।
तब तब घर घर धरत हैं दीप बारि सब गाम ।।

कभी यह कहा गया है कि ज्यों-ज्यों नवल बाला के मुखचंद्र की छवि अधिक होती जाती है त्यों-त्यों उसकी सौत का मुख कमल मुरझाता जाता है—चंद्र के प्रकाश से कमल का मुरझाना प्रसिद्ध ही है। दोनों व्यापारों की कैसी सुन्दर संगति बिठाई गई है। यह उक्ति सूझ और कल्पना पर ही आश्रित है और नायिका के रूपोत्कर्ष की व्यंजक भी—

ज्यों ज्यों छवि अधिकाति है नवल बाल मुख इंदु ।
त्यों त्यों मुरझत सौति कौ अमल बदन अरबिंदु ।।

कभी उसके चपल रूप-सौंदर्य का बिंब इस प्रकार उतारा गया है—'बिहसौंहैं मैं बदन मै लसत नचौहैं नैन' और कभी नायक को ऐसी तरुणी से मान करने पर मूर्ख कहा गया है जिसमें एक सकुमार, सुगन्धित, सरस, विकसित, उज्ज्वल चंपक पुष्प के सभी गुण विद्यमान हैं—

सुबरन बरन सुबास जुत, सरस दलनि सुकुमार ।
ऐसे चंपक कौं तजै, तैं ही भौंर गँवार ।।

रूप-सौंदर्य के साथ-साथ तरुणी के सौंदर्य और आकर्षण के कारण रूप उसके अन्यान्य अवयवों और गुणों पर भी कवि की दृष्टि गई है जैसे नेत्र, अधर, उरज, अंगकांति, देह, वेश भूषा, गति, लज्जा, तारुण्य आदि। नेत्र संबंधिनी उक्तियाँ अनेक हैं जिनमें उनके पानीदार होने, मरणशक्ति संपन्न होने, शिकारी होने, चपल और बलिष्ठ होने, विशाल और मीनवत होने आदि का वर्णन किया गया है। सारा संसार कहता है कि पानी मछली का घर है किन्तु तरुणी के दृग-मीनों में तो पानी का अपार पारावार लहराता रहता है, यह विरोधाभासात्मक उक्ति बहुत सुन्दर बन पड़ी है—

पानिप मैं घर मीन को कहत सकल संसार ।
दृग मीनन को देखियत पानिप पारावार ।

तरुणी के नेत्रों में असाधारण मारक शक्ति है, उसके नेत्रों से आहत व्यक्ति पर जो विष चढ़ता है उसे ये नेत्र ही उतार सकते हैं जैसे विषधर का बिष विषधर स्वयं उतार लिया करता है—

हन्यो मोहिं उहिं नैन सों नैननि कियो अचेत ।
काढ़ि बहुरि विष आपनों ज्यौं विषधर हर लेत ।।

कामदेव तरुनी के नेत्रों के माध्यम से स्वयं शिकार करता रहता है। रूप के सागर में तैरती हुई बड़ी-बड़ी मछलियों के समान हैं ये आँखें जो पल भर में ही मन के जहाज को उलट दिया करती हैं या निगल जाती हैं—

पानिपपूर पयोधि में नेक नहीं ठहराइ।
नैन मीन ए पलक में मन जहाज गिलिजाइ॥

कभी-कभी ये नेत्र रूपी मछलियाँ रूप का जाल फैलाकर नागर नरों को ही फँसा लिया करती हैं। जाल में फँसाने का यह उलटा क्रम देखिये। लोक में तो नागर नर ही जाल फैलाकर मछलियों को फँसाते देखे जाते है परन्तु प्रेम-सौंदर्य और रूप के लोक का यह उलटा व्यापार देखिये—

पानिप पूर पयोधि में रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ।

मतिराम की इस उक्ति में बिहारी के **'खेलन सिखए अलि भले चतुर अहेरी मार, काननचारी नैन मृग नागर नरन सिकार'** वाले दोहे की छाया बहुत स्पष्ट है। नायिका के छोटे से मुँह में बड़े-बड़े नेत्र विशेष शोभा देते हैं। खंजन, कमल, चकोर, अलि, मीन, मृगादिकों की छवि छीन लेने वाले तरुणी के नेत्र भला क्यों न बड़ाई प्राप्त करें। (अर्थात् उनमें विशालता का होना स्वाभाविक ही है क्योंकि उनके कर्म ही ऐसे हैं) नेत्रों के उड़ने, दौड़ने, भागने आदि की तीव्रता को लक्ष्य कर कभी-कभी उन्हें तुरंगवत भी कहा गया है और कभी-कभी उनमें हर्ष आदि के आँसुओं को छलका देखकर उसी सादृश्य को और भी पुष्ट कर दिया गया है—

जब तें मिल बरुनीनि सों अच्छिनि की छबि अच्छ।
जनु अवनीप अनंग के तरल तुरंग सपच्छ।
लसत बूँद अँसुवानि के बरुनिनि छोर उदार।
दृग तुरंग झूलनि मनो, झलकत मुकुत सुढार॥

अधर वर्णन में उनके स्वाद-माधुर्य और सुगंधित होने का ही विशेष रूप से कथन किया गया है—**'सुधा मधुर तेरो अधर सुन्दर सुमन सुगंध'** कहकर उनकी सरसता का निर्वचन किया गया है, उनकी मिठास के आगे 'जलज' को 'जंबीर' के समान और 'चन्द्रमा' को निःसार बताया गया है—'लगत जलज जंबीर सो चंद चूक सो ताहि।' उरज-वर्णन में उनकी कठोरता, पीनता, ऊँचाई, उज्ज्वलता आदि का वैशिष्ट्य दिखलाया गया है—

(क) प्रान पियारो पग परयो तू न लखत यहि ओर।
ऐसो उर जु कठोर तौ उचितै उरजु कठोर॥

(ख) ज्यों ज्यों ऊँचे होत हैं उरज बाल के ऐन।
सब सौतिन के होत हैं त्यों त्यों नीचे नैन॥

(ग) उजियारी मुख इंदु की परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगधि तिय पुनि पुनि चंदन जानि।

नायिका के अंगों में दीपक की-सी दीप्ति और उसके शरीर में स्वर्ण की-सी आभा का

कथन किया गया है। नील कमल दल सज्जित शैया पर शयन करती हुई कुन्दन वर्ण की तरुणी ऐसी प्रतीत होती है जैसे श्याम निकष पर कंचन की रेखा---

नील नलिन दल सेज मैं परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी मैं मनो तनक कनक की रेह।।

रेशम की सारी और माथे पर लटकता हुआ झूमर आदि उसकी वेशभूषा के विवरण रूप में कहा गया है। उसकी गति में मंदता ही विशेष द्रष्टव्य कही गई है—'को न होत गति मंद है लखि तेरी गति मंद।' नायिका की लज्जा का अनेक रूपों और स्थितियों में वर्णन हुआ है—कभी वह 'गोने' की चर्चा सुनकर ही हर्षातिरेक से भर उठती है और आँख बंद करके अपनी माला गूँथती चली जाती है, कभी वह सहज प्रश्नों का भी उत्तर नहीं देती और लाज से सिर झुका लेती है, कभी नेत्रों और मन के बीच ही लज्जा भाग-दौड़ करती रहती है 'मन तें नैननि कों चली नैननि तें मन काज' और कभी प्रिय के अत्यल्प स्पर्श से भी बीर बहूटी के समान लाज से अपने अंगों को समेट लेती है—

गौने की चर्चा चलें दिए तहाँ चित बाल।
अधमूँदी अँखियान सों गूँदी गूँदति माल।।

सहज बात बूझत कछुक बिहसि नवाई ग्रीव।
तरुन हिये तरुनी दई नई नेह की नीव।।

ज्यों ज्यों परसे लाल तन, त्यों त्यों राखति गोइ।
नवल बधू लाजन लखित इंदु बधू सी होइ।।

नायिका के मातृत्व प्राप्त कर लेने पर यह लज्जा इस रूप में अभिव्यक्त होती है—

निसि दिन निंदति नंद है, छिन छिन सासु रिसाति।
प्रथम भए सुत को बहू, अंकहि लेति लजाति।।

नायिका के तारुण्य का वर्णन करते हुए नायक के नेह का भी कथन हुआ है। उसमें जितनी ही तरुणाई आती जाती है नायक में उतना ही स्नेह का आधिक्य होता चलता है, इसी प्रकार नायक का स्नेह जितना ही अधिक होता जाता है नायिका का यौवन भी उतनी ही आभा प्राप्त करता चलता है—

अभिनव जोबन जोति सों जगमग होत बिलास।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास।।

भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज।
नाह नेह साथहि बढ्यो लोचन लाज उरोज।

प्रेम वर्णन—प्रणय के आलंबन की चर्चा के साथ-साथ उनके मन की दुनियाँ की भी जानकारी जरूरी है। जैसा हम कह आए हैं इनका प्रेम-वर्णन निजी अनुभूतियों

की व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यंजना कम परम्परागत रीति पर साहित्यिक कर्म अधिक है फलतः साधारण नायक नायिकाओं का प्रेम गोपीकृष्ण या राधाकृष्ण के प्रेम-वर्णन के साथ जोड़कर एक अनोखा रसमिश्रण तैयार किया गया है जिसमें प्रतीति तो राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण के प्रणय संबंधों की होती रहती है पर वर्णन साधारण नायक-नायिकाओं का रसिक और विलासी प्रियतम प्रियतमाओं का होता रहता है। हाँ जब तब, अनेक बार परम्परा निर्वाह के लिए (या धोखा देने के लिए ?) कृष्ण-राधा आदि का भी नाम ले लिया जाता है और जब तब उनका वर्णन भी कर दिया जाता है क्योंकि जैसे भी हो रीतियुगीन शृंगार काव्य की केन्द्रीय प्रेरणा-भूमि ब्रज और वृन्दावन का राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण का प्रणय विलास संयुक्त वृत्त ही रहा है। राधा और कृष्ण की भावना किये बिना इस काव्य की सरस पृष्ठभूमि को समझा ही नहीं जा सकता—

सुबरन बेलि तमाल सों घन सों दामिनि देह।
तूँ राजति घनस्याम सों राधे सरस सनेह॥

प्रणय चित्रण में पहले दो-चार 'पूर्वराग' की मादक स्थितियाँ देखिये। इनमें यही बताया गया है कि कृष्ण के प्रति आसक्त होकर गोपिका सूखने लगी है और सशंक भी रहने लगी है परन्तु न तो प्रेम घटता है और न कलंक का भय ही जाता है। इसी नवल नेह में उसका तन ज्यों-ज्यों सूखता जाता है त्यों-त्यों उसकी कांति बढ़ती जाती है। कोई तो उसकी सशंकित मुद्राओं से ही उसके प्रेम को भाँप लेती है—'**नाहिन जु पै कलक तो कैसे बदन ससंक**' और कोई अपनी सफाई इस प्रकार देती है—

झूठे ही ब्रज में लग्यो मोहि कलंक गुपाल।
सपने हूँ कबहूँ हिए लगे न तुम नँदलाल॥

प्रणय प्रवण प्रेमातुरा को उसकी सखियाँ कभी तो हिम्मत बँधाती हुई कहती हैं कि तेरा भाग्य है जो नंदलाल से तुझे कलंक लगा; झूठ ही सही वे जान तो जायँगे कि तू उनके प्रति इस प्रकार के भाव रखती है—'**कत सजनी है अनमनो अंसुवा भरति ससंक, बड़े भाग नन्दलाल सों झूँठहु लगत कलंक।**' दूसरी उसे समझाती है कि तू जलशायी विष्णु की पूजा किया कर, तेरे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे—

नींद भूख अरु प्यास तजि करती हो तन राख।
जलसाई बिन पूजिहैं क्यों मन के अभिलगाव।

प्रणयमयी अपने प्रणय-भाव का गोपन करती है कभी भौंहें टेढ़ी करके और कभी किसी अन्य भाँति परन्तु कदंब की माला बनी हुई उसकी रोमांचित काया उसके मनोभावों को साफ कहे दे रही है, आशय यह है कि प्रेम का भाव छिपाने से छिपता नहीं—

नायिका की ये चेष्टाएँ नायक के हृदय में भरपूर असर डालती हैं। दोनों की प्रणय चेष्टाएँ उनके मनोभावों को एक दूसरे पर ज्ञापित करती हैं और दोनों एक दूसरे के निकट आते हैं। मिलन और साहचर्य के अनेक योग संघटित कराए गए हैं और प्रणय केलियों की मनोरम भूमि निर्मित की गई है। दोनों किसी दिशा में घूमने निकलते हैं तो घूमते ही चले जाते हैं, घर की ओर मुड़ने या लौटने का नाम ही नहीं लेते, पारस्परिक दर्शन और प्रीति समन्वित साहचर्य का सुख उन्हें इन अनावश्यक बातों पर विचार करने का अवसर ही हीं देता—

नेकु न थाकत पंथ में, चलें जु कोस हजार।
चंचल लोइनि-हयनि पर भए जात असवार ॥

चोर मिहीचनी के खेल में नायक के कर-स्पर्श से नायिका तुरन्त पहचान लेती है कि उसकी आँखें किसने मूँदी हैं। नायक कभी-कभी तंग करने के इरादे से अपने हाथ में कपूर लगा कर नायिका की आँखें मूँद लेता है। इस विनोद में शालीनता और सुरुचि पर भी हमारी दृष्टि जा सकती है और उसके लिए कवि की सराहना भी की जा सकती है—

लाल तिहारे संग मैं खेलै खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नैन हो करन कपूर लगाइ ॥

प्रेमोन्मत्त प्रणयी कभी एक दूसरे को भुजा में भरकर भेंटते हैं, कभी वन प्रान्तर में नायक नायिका को डरवाता है और कभी काँटा धँस जाने पर उसके तलवों से काँटा निकालता है। ऐसे अनेक सरस और उन्मादक प्रसंग सतसई में वर्णित हुए हैं जो अनेक बार तो पूरा का पूरा बिंब सामने रख देते हैं—

(क) कंटक काढ़त लाल की चञ्चल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि ॥

(ख) साँझ समै वा छैल की छलनि कही नहिं जाइ।
बिन डर बन डरपाइ कै लियो मोहिं उर लाइ ।

(ग) लपटानी अति प्रेम सों दै उर उरज उतंग।
घरी एक लगि छूटे हूँ, रही लगी सी अंग ॥

प्रणय-काल में मनोवृत्ति सब समय एक ही-सी नहीं रहती। मन रीझता भी है, खीझता भी है। कभी एक दूसरे के किसी कार्य आचरण या व्यवहार से प्रेमी प्रेमिका रुष्ट भी होते हैं, यह वृत्ति अल्पकालिक ही सही परन्तु जब तब जोर मारती ही है, इसे ही 'मान' कहा गया है जो प्रायः नायिकाओं में ही विशेष रूप से जागृत दिखाई जाती है जिसमें नायक क्षमार्थी होता है और परमदीन रूप में सामने लाया जाता है। नायिका हर्षित हो उठती है और मान इस तरह दूर भाग जाता है जैसे कभी रहा ही न हो। पद-लुंठित नायक की दीन दशा देखकर नायिका साश्रुबदन हो उठती है, उसका

मान छूट जाता है, छलछलाती हुई आँसुओं की बूँदें प्रिय के तन पर बरसने लगती हैं, लगता है जैसे वह प्रेम के रस से ही सींच दी गई हो —

पगनि परयो लखि आनपति दियो मुगुध तिय रोइ।
कज्जल छल मन मलिनता त्याए अँसुआ धोइ॥

वह हर्षातिरेक से भर उठती है, उसे रोमांच हो आता है, वह प्रेम-शिथिल पड़ जाती है, ऐसे अवसर पर कोई-कोई दूती (शायद कवि की ओर से) नायक को इस प्रकार की नेक सलाह भी देती है—

परसत हा याको भई तन कदंब की माल।
रह्यो कहा परि पगनि में क्यों न अंक भरि लाल॥

मानवती नायिका को एक उक्ति में बहुत ही सटीक ढंग से कवि ने 'इंदु उपल' या चंद्रकांतमणि के समान बतलाया है जो प्रिय का मुखचंद्र देखने से ही द्रवित हो उठता है अन्यथा नहीं। चंद्रकांत मणि पर जब चंद्रमा की किरणें पड़ती हैं तब उससे शीतल जल रसने (टपकने) लगता है, यही हाल मान करने वाली नायिका का भी है, उसका आधा मान तो प्रिय का मुँह देखकर ही छूट जाता है—

इन्दु-उपल उर बाल कौ कठिन मान मैं होत।
देखे बिन कैसें द्रवै तो मुख इन्दु उदोत॥

मान त्याग करते हुए कभी-कभी नायिका प्रिय से यह कहती हुई पाई जाती है कि हे प्रिय यह तो तुम्हारी सदा की चाल है, पैरों पर गिर कर सिधाई जतलाते हो और बाद में फिर वक्र हो जाते हो जिससे मुझे मान करना पड़ता है पर यह उक्ति किसी प्रौढ़ा की ही हो सकती है—'पग परिबो मुरि बैठिबो यहै तिहारे काज।'

प्रेमी जीवन में सुख-दुख, प्रेम-रोष, मिलन-बिछोह आदि की घड़ियाँ आती-जाती रहती हैं। जीवन के इन क्षणों का भी अपना महत्व है। प्रिय के जाने या आने के समय स्त्री-चित्त के क्या मनोभाव होते हैं इसे कवि ने अंकित करने की चेष्टा की है। प्रवत्स्यत्पतिका की मनोवृत्ति की यह निदर्शना तो कुछ अजीब है—

प्यो राख्यो परदेस तें करामात अधिकाइ।
कनक कलस पानिप भरे सगुन उरोज दिखाइ॥

पर आगतपतिका के मनोभावों और उल्लास का वर्णन अच्छा बन पड़ा है—वर्षा बीतने और शरद ऋतु के आने पर प्रिय परदेस से वापस आ गया, ऐसे समय नायिका की खुशी का क्या कहना! उसके अंगों की आभा, आँखों की प्रफुल्लता और मुख की कांति को देखिये, वह स्वयं ऋतु-रूप हो गई है—

सरदागम पिय आगमन, लगी जोति मुख इंदु।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरबिंदु॥

प्रियागम की सूचना ही उसे हर्षोल्लास से भर देती है, यह हर्षोल्लास इस प्रकार उसके

अंग-अंग से व्यक्त होता है जैसे वर्षा के प्रथम जल पड़ने पर पृथ्वी से सुगन्धि उठती है। बहुत ही सुन्दर और असाधारण सादृश्य है यह, इसमें नवता का सौरस्थ और आकर्षण भरपूर है —

> प्रिय आगम सुनि बाल तन बाढ़े हरष विलास।
> प्रथम बूँद बारिद उठैं ज्यों बसुमती सुवास ॥

प्रिय के परदेश से वापस आने पर वामा का हुलास आत्यंतिक हो उठता है, काम भी ऐसे समय खूब अपनी कमनैती दिखलाता है— 'टूक-टूक कंचुकि कियो करि कमनैती काम ।'

संभोग शृंगार के गाढ़े और उत्तान चित्र भी अनेक हैं। रति चिह्नों से मंडित नायक नायिकाओं का भी परम्परागत ढंग पर वर्णन आया है। नायक के भाल पर लाल बिंदी लगी होती है जब वह सबेरे अलसाता हुआ उठता है, नायिका तो मारे लाज के गड़ जाती है पर लोग तो मुस्कराते ही हैं। उधर नायिका की सुरतांत दशा बताते हुए कवि लिखता है कि कंत के कंधे पर हाथ रखकर वह अटपटी चाल से चली जा रही है, श्रम से शिथिलांग हुई तरुणी अपनी इस चाल से सभी को थका दे रही है, (लोग रुक कर उसकी ओर देखते रह जाते हैं) । प्रातः होने पर भी आँखों की निद्रा और लाली, तन और वेशभूषा पर अनेक अर्थभरे चिह्न आदि ऐसे वर्णनों में बराबर बताए गए हैं। कहीं-कहीं रति का गोपन करने वाली 'सुरति गुप्ताएँ' भी आ गई हैं—

> जानत खेत कुसुंभ के तेरी प्रीति अमोल।
> चुभत करनि कंटकनि सौं कत कंटकित कपोल ॥

सतसई की रचना करते हुए मतिराम को रीति की जकड़न उतनी अधिक न थी जिसके फलस्वरूप वे रीति की सीमा के बाहर में दृष्टि, मन और बुद्धि को थोड़ा बहुत दौड़ा पाए हैं और इसका सत्परिणाम यह हुआ कि देश के ग्राम्य जीवन पर भी उनकी नजर थोड़ा पहुँची है। ग्राम्य जीवन के प्रति दृष्टिकोण तो वही रहा है रीति कवि की रसिकता से भरा हुआ ही पर दृष्टिक्षेत्र का विस्तार जरूर गोचर होता है। इसी कारण कहीं तो वे नायिका द्वारा पड़ोस में जाकर आग माँगने या दिया जलाने की बात लिख सके हैं और ग्रामीण तरुणी की यौवन दीप्ति के लिए ज्वार-बाजरा ऐसी देशी खाद्य सामग्री की बात कर सके हैं और पुराणवाचन सरीखे ग्राम्य मनोरंजनों की चर्चा कर सके हैं—

> वरषा ऋतु बीतन लगी, प्रतिदिन सरद उदोति।
> लहलह जोति जुवार को अरु गंवारि की होति ॥
> सुत को सुनो पुरान यों लोगनि कह्यो निहोरि।
> चाहि चाहि जुत नाह मुख मुसिक्यानी मुख मोरि ॥

वह कैसा रोचक प्रसंग हुआ करता है जब कोई अवगुणी स्वयं ही उस अवगुण पर भाषण और उपदेश देने लगता है। ऐसा ही प्रसंग उपस्थित किया गया है दूसरे दोहे में जब एक पुराण-वाचक ब्राह्मण की पत्नी पुराण श्रोताओं के बीच बैठी बैठी अपने प्रिय के कथन पर मन ही मन मुस्करा रही है। उसका प्रिय जो पुराण वाचक ब्राह्मण है संतति कामी लोगों को संतति लाभ का उपाय बता रहा है; पत्नी को हँसी इस बात पर आ रही है कि संतति लाभ का मार्ग बताने वाला स्वयं क्यों आज तक निःसंतान बना हुआ है ? 'खुद मियाँ फजीहत दीगरा नसीहत' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन्सानों पर हँसी आना स्वाभाविक है।[1]

विरह-वर्णन—प्रेम की नाना परिस्थितियों का निदर्शन करते हुए मतिराम ने प्रेम को रंग और आब देने वाली विरह-दशा का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और नायिका की विरह-दशा को विशेषतः निदर्शित किया है। विरह-वर्णन के अंतर्गत उसका रुदन और अश्रुपात, अंगदाह या अंगताप और निःश्वास, दशा-निवेदन, स्वप्न, कृशता, विरहोद्दीप्ति आदि का वर्णन हुआ है। नायिका का नया-नया विरह है, पहली बार प्रिय उसे छोड़कर परदेस जाता है फलतः क्षण-क्षण उसके आँसू निकलते चले जाते हैं, रुकते ही नहीं, इस पर कवि की उक्ति बहुत सुन्दर है—लगता है उसके तन में जो पानी है वह स्रोत का स्रोत उसकी आँखों में जा लगा है, तभी न इतना जल उसकी आँखों से बह रहा है !

नए विरह अंसुवानि कौ छिन छिन होत उदोत।
अंखियन लग्यो अपार वह तन-पानिप कौ सोत॥

ये आँसू जब उसके कपोलों पर से होकर अनवरत रूप से बहते हैं तो जल चादर का सा दृश्य उपस्थित करते हैं। किसी ऊँचे धरातल से पानी जब नीचे को गिरता है और उस धारा के पीछे दीपकों की माला प्रकाशित होती रहती है उस समय जो दृश्य उपस्थित होता है उसे जल चादर कहते हैं। यह प्रयोग बिहारी में भी आया है। मतिराम की उक्ति इस प्रकार है—

अंसुवा बरुनी ह्वै चलत जलचादर के रूप।
अमल कपोलनि की झलक झलकति दीप अनूप॥

यहाँ आँसुओं के पीछे नायिका के कान्त कपोलों की दीप्ति का भी वर्णन हुआ है। विरहिणी के आँसुओं का वर्णन अनुभूति के मार्मिक संस्पर्श के अभाव में ऊहात्मक भी

---

[1] बिहारी में भी भाव की प्रकारांतर से अभिव्यक्ति हुई है, असम्भव नहीं कि मतिराम पर बिहारी के इस दोहे का प्रभाव हो—

बहु धन लै अहसान कै, पारो देत सराहि।
बैद-बधू हंसि भेद सों, रही नाह मुख चाहि॥

हो गया है जहाँ कोरी कल्पना का ही चमत्कार गोचर होता है। नायिका इतना रोती दिखाई गई है कि उसके आँसुओं का सागर ही उमड़ने लगता है पर गनीमत यह है कि वियोग की जो बड़वाग्नि है वह उस अश्रु सागर के समूचे उद्वेग को शान्त कर देती है—

नारि नैन के नीर को नीरधि बढ़ै अपार।
जारे जौन वियोग की बड़वानल की झार ॥

दूसरी ऊहा में यह कहा गया है कि ग्रीष्म ऋतु में भी नायिका के गाँव में नदी का जल सूखने नहीं पाता, ग्रामवासियों को सरिता स्नान और सरिता के आरपार तैरने की सुविधा बनी ही रहती है क्योंकि वह नदी विरहिनी के आँसुओं को जो ठहरी, उसमें जल की कमी होने ही नहीं पाती—

ग्रीषम हूँ रितु मैं भरी दुहूं कूल पैराउ।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गाउं ॥

यह वर्णन उपहासास्पद होते हुए भी रोचक तो है ही। पहली उक्ति का वैलक्षण्य भी इसी प्रकार का है। विरह के कारण उसके शरीर में बेहद ताप बताया गया है, इस विरह के ताप को समेटे हुए वह सूर्यकांत मणि बनी हुई है, चंद्रमा आदि की किरणें अपने स्पर्श से उसे शीतल नहीं करतीं वरन् और भी दग्ध करतीं हैं—

चंद किरन लगि बाल त न उठे अंग अति जागि।
परसत कर दिन कर किरनि ज्यों दरपन में आगि ॥

उसके अंगों की यह ज्वाला अथवा तपन इस हद तक बढ़ी हुई है कि वर्षा ऋतु में भी समीपवर्ती वन प्रदेश के वृक्षादि हरे भरे नहीं हो पाते ठूँठ ही बने रहते हैं। उसकी एक टक देखने वाली, प्रिय की प्रतीक्षा में खुली आँखों से विरह की ऐसी ज्वाला फूटती रहती है कि स्वयं मृत्यु भी उसे छूने का साहस नहीं कर पाती। **गई मीच परसत पजरि विरहानल की झार**। एक सखी तो कहती है कि इसकी दशा और क्या कहें। विरह की आँच में सचमुच इसके अंग अंगार हो गए हैं,—**विरह आँचे भए याके अंग अंगार**' वह आग की लपट की तरह हो गई है और जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ की सभी वस्तुएँ झुलस जाती हैं। ये सारे वर्णन ऊहात्मक पद्धति पर हैं, विरहातिरेक के निदर्शनार्थ रीति कवियों के पास यही एक अतिशयोक्ति मूलक पद्धति थी जिस पर ये कवि चलकर बहुत करतब दिखाते पाए जाते हैं। बिहारी अपनी वियोग वर्णनात्मक ऊहाओं के लिए प्रसिद्ध ही हैं। मतिराम ने भी विरह वर्णन में वही पद्धति अख्तियार की है, अनुभूति से लिपटे हुए कथन कम किये हैं। ऋतुएँ वसन्तादि—उसकी वेदना को और भी बढ़ावा देने वाली हैं। किंशुक से पुष्पित लाल वन उसे काम के हाथी के लोहू सरीखे लगते हैं और कोयल की कूक उसके देह में बसने वाले काम को जागृत कर देती है—'**जाग्यो मैन महीप सुनि पिकबदिनी के बैन।**' कुछ छंदों में अश्रु और

विरह और ताप दोनों का एक साथ ही वर्णन हुआ है—विरहिणी विरह की अग्नि में जलती और आँसुओं में डूबती-उतराती बताई गई है। एक तरफ वियोग की आग कम नहीं होती बढ़ती ही जाती है दूसरी तरफ नेत्रों की वर्षा भी बंद नहीं होती :—

जलद निकासी रैन दिन रहै नैन झर लागि।
बाढ़ति जाति वियोग की विद्युत की सी आगि॥

उसकी ऊँची-ऊँची निःश्वासों की झोंक में उसका मन इधर-उधर उड़ता रहता है, उसकी आहों की दीर्घता और मन की बेचैनी इस उक्ति में मूर्त हुई है—'मन उड़ात अजहूँ रहै, ऊँची उहीं उसास।' आँसुओं में गलती हुई और ताप में दग्ध होती हुई विरहिणी यदि कृशता में क्षीण कनक रेखा-सी प्रतीत होने लगे तो आश्चर्य ही क्या!

नील नलिन दल सेज में परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी में मनो तनक कनक की रेह॥

कृशता के कारण कामिनी की बाँह के कंकण के गिर जाने का वर्णन—'दुबराई गिरि जातु है कंकन कामिनि बाँह'—कोई नई चीज नहीं है। केशवदास तथा अन्यान्य कवियों की भी इसी आशय की उक्तियाँ पहले से ही कवि परंपरा में प्रसिद्ध हैं—

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम॥ (केशवदास)

ये तथा अधिकांश विरहवर्णनात्मक उक्तियाँ इसी प्रकार विरहिणी की वाह्य दशा का सूचन करती हैं उसकी मनस्थिति के निदर्शक चित्र अपेक्षा कृत कम हैं। नायिका बार-बार दूती से यह अनुनय-विनय करती दिखाई गई है कि प्रिय का मिलन करा दो। विरह के घनत्व की व्यंजना की दृष्टि से यह मनोभाव कुछ बहुत स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता, इसमें एक प्रकार की तुच्छता या हलकापन है। इसकी अपेक्षा यह उक्ति अधिक युक्ति युक्त, अर्थगर्भित और मार्मिक है —

लाज छुटी गेह्यो छुट्यौ, सुख सो छुट्यो सनेह।
सखि कहियौ बा निठुर सों, रही छूटिबे देह॥

कभी-कभी विरहिणी को इस बात का अफसोस होता है कि वियोग की इतनी अग्नि से भरा हुआ उसका पाषाण-हृदय अब तक दुःखातिरेक से विदीर्ण क्यों न हो गया—

चलत लाल के मैं कियो सजनी हियो पखान।
कहा करों दरकत नही भरे बियोग कृसान॥

यह पश्चात्ताप नितान्त स्वाभाविक पद्धति पर है इसीलिए मार्मिक भी है। रात-दिन प्रिय के सोच में विकल विरहिणी रात्रि में कभी प्रिय का स्वप्न भी देखती है पर वह स्वप्न-सुख उसे दुख ही देने वाला होता है। राधिका का विरह तो सर्वथा अनिर्वचनीय ही समझिये, वह तो वायु के झकोरों के बीच प्रकंपित दीपशिखा बनी हुई है, विरह-

वायु का कोई भी झकोरा उसकी जीवन-शिखा को किसी भी क्षण बुझा सकता है, इस उक्ति में निश्चयमेव असाधारण मार्मिकता है—

दसाहीन राधा भई सुनिए नंद किसोर।
दीपसिखा लौं देखियत बारि बयारि झकोर।।

निष्कर्ष—सब मिला कर यही कहना पड़ेगा कि मतिराम सरस काव्य के स्रष्टा हैं। रीति के बंधनों में यदि उनकी कविता जकड़ी न होती तो वे काव्य रचना का और भी अधिक उत्कर्ष दिखा सकते थे। कवि प्रतिभा उनमें भरपूर थी। 'रसराज' और 'ललित-ललाम' के छंदों में जो दोष है वह प्रधानतः उनकी रीतिबद्धता का है; रीति की जकड़न से कविता का गला एक सीमा तक घुँट गया है यह मानना पड़ेगा फिर भी सरस छन्द वहाँ भी बहुत से मिल जाते हैं। शृंगार उनका प्रधान वर्ण्य है और नायिका उसका प्रधान आलंबन। उसी के रूप-सौंदर्य, प्रेम, प्रणय-चेष्टादि के वर्णन में, उसी के अंतर्बाह्य स्वरूप के दिग्दर्शन में कवि प्रतिभा का विनियोग हुआ है। इसमें वे सफल भी हुए परन्तु सीमित काव्य दृष्टि जो सभी रीतिबद्ध या रीतियुगीन कवियों में पाई जाती है उस दोष से मतिराम भी मुक्त नहीं हैं। बँधे हुए अति सीमित वर्ण्य को लेकर ही इनकी कवित्ता लिखी जा सकी है। मतिराम की 'सतसई' को उनकी अन्य दो प्रधान कृतियों 'रसराज और ललितललाम' की अपेक्षा मैं अधिक सरस और उत्कृष्ट कृति मानता हूँ जिसमें उनकी कविता कुछ मुक्ति का अनुभव करती है। वह उनकी रीतिबद्धता की अपेक्षा रीतिसिद्धता का द्योतन करती है और उसकी रचना उन्हें बिहारी और रसनिधि के समीप ला देती है। इसमें तो संदेह ही क्या कि मतिराम अपने युग के कृती कवियों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं परन्तु हमारा विचार है कि यह स्थान उन्हें अपनी सतसई के कारण अधिक प्राप्त होता है। वैसे उनके कवित्त-सवैयों में जो सरसता है उसका निषेध नहीं किया जा सकता। मतिराम की कविता में बाहरी तड़क-मड़क, दिखावे और चमत्कार की प्रधानता नहीं, उसमें एक ऋजुता है, सरलता और सीधापन है। भाषा सीधी है वक्र नहीं, वह अपने सीधेपन की ही विशिष्टता से मंडित है। दिखावा और बनाव-शृङ्गार उनकी प्रकृति में नहीं, जो बात है सीधे कही गई है और इसी कारण वह समझ में भी आने वाली है। परंपरागत काव्य का प्रभाव भी उन पर भरपूर है तथा बिहारी आदि कवियों के भावों की आवृत्ति उनकी कृतियों में पाई जाती है विशेषतः सतसई में। यह भावापहरण सामान्यतः तो ठीक बन पड़ा है परन्तु बिहारी से अधिक उत्कर्ष उनके दोहों में आ सका है ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनके दोहों की मर्मस्पर्शिता असंदिग्ध है। मतिराम हिन्दी कवियों की प्रथम कोटि में नहीं बिठाए जा सकते परन्तु उनकी द्वितीय कोटि सुरक्षित समझना चाहिये। शृंगार से इतर रचनाएँ अपवाद रूप में ही उनमें मिलती हैं। थोड़ा सा 'प्राकृत-काव्य' भी उन्होंने लिखा है जो वर्ण्य की साधारणता

के कारण विशेष प्रवृत्तिकारी नहीं है। भक्तिपरक छन्द प्रमुख ग्रंथों के मंगलाचरण में ही आए हैं। उनकी छोटी-छोटी कृतियाँ तो सामान्यतः सुलभ भी नहीं हैं।

देव

वृत्त

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था तथा ये अपने कवित्त सवैयों में 'देव' शब्द का ही प्रयोग करते थे जिससे देव इनका उपनाम या कविनाम हो गया। कई बार अपने ग्रंथों के अंत में या उनके परिच्छेदों के अन्त में इन्होंने अपने पूरे नाम 'देवदत्त' का भी प्रयोग किया है। इनके प्रपौत्र भोगीलाल भी इनका नाम 'देवदत्त' ही बताते हैं - 'देवदत्त कवि जगत में भए देव रमणीय।' इनके जन्म काल, वंश और निवास-स्थान आदि का पता इनकी प्रसिद्ध कृति 'भाव विलास' से चलता है—

शुभ सत्रह सैं छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देवमुख देबता, भाव विलास सहर्ष॥
द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हौं भाव विलास॥

पहले दोहे के अनुसार सं० १७४६ में ये १६ वर्ष के थे अतएव इनका जन्मकाल सं० १७३० ठहरता है। दूसरे दोहे में देव ने अपने आप को इटावा जिला (उत्तर प्रदेश) का निवासी द्यौसरिया ब्राह्मण बतलाया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण बतलाया है जो ठीक नहीं। द्यौसरिया को धौसरिया पढ़ने के कारण यह गलती उनसे तथा उनके पूर्ववर्ती विचारकों से हुई। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की एक अल्ल होती है और इटावा सनाढ्यों की बस्ती थी अतएव इस भ्रांति का फैलना स्वाभाविक था परन्तु यह बात अब सिद्ध हो चुकी है कि देव सनाढ्य ब्राह्मण न थे वरन कान्य-कुब्ज थे जिनकी आज भी इटावे में कमी नहीं। वहाँ देव के वंशजों के दो-तीन घर अब भी मिलते हैं ऐसा डा० नगेन्द्र ने लिखा है। देव कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, काश्यप उनका गोत्र था और दुसरिहा या द्यौसरिया उनकी अल्ल थी। देव के प्रपौत्र भोगीलाल ने अपने रस ग्रंथ 'बखत विलास' में जो स्ववंश विवरण दिया है उससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

काश्यप गोत्र द्विवेदि कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भए देव रमनीय॥

देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था तथा देव के दो पुत्र भी थे — भवानी प्रसाद और पुरुषोत्तम जिनके वंशज क्रमशः इटावे और कुसमरा में अब भी विद्यमान हैं। देव कवि २९-३० वर्ष तक इटावे में रहने के बाद कदाचित् कुसमैरा नामक गाँव में जाकर रहने लगे थे। इटावा-फर्रुखाबाद की सड़क पर इटावा से ३० मील की दूरी

पर सड़क से दो फर्लाङ्ग अन्दर की तरफ कुसमरा नामक गाँव स्थित है जहाँ उनके वंशज मातादीन दुबे का मकान है । यहीं पर देव जी की बगीची के अवशेष अब भी मिलते हैं । इसी कुसमरा नामक गाँव में देव की गृहस्थी थी तथा ये विविध आश्रय-दाताओं के यहाँ आया-जाया करते थे ।

देव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होते । डा० नगेन्द्र ने अपने शोध प्रबन्ध के सिलसिले में देव के निवास-स्थान कुसमरा इटावा आदि की यात्रा की तथा देव के वंशज मातादीन दुबे से देव के सम्बन्ध में स्थानीय रूप से प्रचलित कुछ किंवदन्तियों की भी जानकारी संग्रहीत की है जिनका सम्बन्ध देव के विद्याध्ययन काल से है तथा भरतपुर एवं अलवर नरेशों से भी । इनके आधार पर पता चलता है कि देव एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे, किसी की कृपा पर रहना इन्हें नहीं रुचता था साथ ही धन वैभव का भी इन्हें लोभ न था फलतः अंतिम समय में इन्हें आर्थिक विपन्नता सहनी पड़ी । इनमें वाणी की सिद्धि थी अर्थात इनकी कही हुई बातें प्रायः सत्य ही होती थीं । ये निर्भीक और दोटूक बात कहने वाले आदमी थे । संभव है अपनी इसी प्रकृति के कारण ये किसी एक आश्रयदाता के यहाँ जम कर न रह सके । यह तो प्रसिद्ध और सर्वविदित ही है तथा उनकी रचनाओं से भी प्रकट है कि देव कवि किसी भी राज्याश्रय में अधिक काल तक न रह सके । जगह-जगह आश्रय की खोज में इन्हें जाना पड़ा । रीतिमुक्त कवियों में बोधा की भी यही स्थिति रही है । किसी भी राजा या रईस का आश्रय यथावांछित रूप में अनुकूल न रहा हो, देव की निजी रुचि किसी आश्रयदाता या स्थान विशेष से पूर्णतः तुष्ट न ही सकी हो, अपने स्वभाव के कारण ये कहीं अधिक काल तक न खप सके हों, तरुणावस्था में देशाटन आदि का विशेष चाव रहा हो आदि ऐसा ही कोई न कोई कारण होना चाहिए जिसने देव को इधर-उधर काफी भटकने को बाध्य किया होगा । देव का 'जाति विलास' नाम ग्रंथ इनके विशद देशाटन के अनुभवों का ही परिणाम बताया जाता है जिसमें इन्होंने विविध जातियों और प्रदेशों की स्त्रियों (या नायिकाओं) का वर्णन किया है । ये वर्णन सर्वत्र यथार्थ और सटीक ही हों ऐसा नहीं कहा जा सकता । जो हो, इससे इनकी रसिकता और जीवन-दृष्टि पर विशेष प्रकाश पड़ता है ।

आश्रय और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए देव जिन-जिन रईसों राजाओं के यहाँ गए उनमें सर्वप्रथम थे औरंगजेब के पुत्र आजमशाह जिन्हें इन्होंने अपने दो ग्रंथ 'अष्टयाम' और 'भाव विलास' सुनाये तथा समर्पित किये । आजमशाह काव्यानुरागी व्यक्ति थे, उन्होंने देव की रचनाओं की सराहना की तथा इन्हें प्रोत्साहित भी किया—

दिल्ली पति अवरंग के आजमसाहि सपूत ।
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम-संजूत ।।

इसके बाद ये चर्खी-दादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानी दत्त वैश्य के आश्रय में रहे तथा उन्हीं के नाम पर 'भवानी विलास' नामक ग्रंथ लिखा। देव के तीसरे आश्रयदाता थे फफूँद रियासत के राजा कुशल सिंह जिनके लिये इन्होंने 'कुशल-विलास' नामक ग्रंथ की रचना की। मनोनुकूल आश्रयदाता न मिलने के कारण ये बहुत जगह भटकते फिरे और सम्भवतः इसी संदर्भ में इन्होंने देश के विविध भागों की लम्बी-चौड़ी यात्रा भी की। सं० १७८३ के लगभग एक अपेक्षाकृत अधिक गुणज्ञ आश्रयदाता इन्हें मिले जिनके लिये इन्होंने अन्य आश्रयदाताओं का त्याग करना ही उचित समझा—

पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाति जल बिन्दु।
कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इन्दु॥
देव सुकबि तातें तजें राइ रान सुलतान।
'रस विलास' सुनि रीझिहैं, भोगीलाल सुजान॥

भोगीलाल को प्रसन्न करने के लिए ही इन्होंने 'रस विलास' नामक ग्रंथ लिखा। उसमें इन्होंने राना भोगीलाल की प्रशंसा इस प्रकार की है—

भूलि गयौ भोज बलि विक्रम बिसरि गए
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

भोगीलाल काव्य-प्रेमी और गुणज्ञ थे परन्तु देव ठहर वहाँ भी न सके। देव की रुचि इनमें से किसी पर भी स्थायी रूप से जम न सकी और न ही कोई आश्रयदाता इन्हें आर्थिक चिन्ताओं से कदाचित आजीवन मुक्त करा सकने की सामर्थ्य रखता था। देव की निर्भीकता और दुर्दयनीय स्वाभिमान भी कारण हो सकता है। इस समय तक ये ५३ वर्ष के हो चुके थे, राजा रईसों के आश्रय का सम्भवतः कुछ बहुत अच्छा अनुभव इन्हें न था, पराधीनता में सुख कहाँ! तज्जन्य ग्लानिवश इन्होंने 'नरिन्दों' को छोड़ गोविन्द की शरण में जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। स्वयं रस-विलास ही इसका प्रमाण है—

बीचु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द से पाँयन पूजि गुविन्द के॥

परन्तु ये गोविन्द की शरण जा न सके। जीवनव्यापी कवि-वृत्ति ने इन्हें वैराग्य न लेने दिया और इन्हें अन्यान्य आश्रयदाताओं की शरण स्वीकार करनी पड़ी। ये इटावा के समीपस्थ ड्योंड़िया खेरा के जमींदार मर्दन सिंह के पुत्र उद्योत सिंह वैश्य के यहाँ कुछ समय तक रहे और उनके लिए इन्होंने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की। इसके बाद देव कवि दिल्ली के रईस कायस्थ (नरोत्तमदास के पुत्र) पातीराम के पुत्र

सुजानमणि के आश्रम में भी रहे जो अत्यंत सम्पन्न, काव्यरसिक और दानशील व्यक्ति थे। इनके लिए सं० १७६० से १७६५ के बीच किसी समय देव ने 'सुजान विनोद' नामक ग्रंथ लिखा। सुजानमणि ने देव को दान-सम्मान द्वारा पर्याप्तरूपेण तुष्ट किया। इसके अनंतर देव की जो रचनाएँ प्राप्त होती हैं—शब्द रसायन, देवमाया प्रपंच, देव-शतक या वैराग्यशतक आदि—वे किसी को समर्पित नहीं हैं जिससे यह अनुमान होता है कि सं० १८०० के आस-पास देव कुसमरा में ही जाकर रहने लगे थे। वृद्धावस्था में शांतिप्रियता की रुचि स्वाभाविक है। बहुत समय तक अपने गाँव में शांत जीवन-यापन के बाद भी राज-सम्पर्क से इन्हें मुक्ति न मिल पाई। भरतपुर और अलवर की रियासतों के राजाओं से भी इनका थोड़ा बहुत सम्पर्क हुआ यद्यपि इन संबंधों की परिणति कुछ कटुतापूर्ण ही रही। देव के अंतिम आश्रयदाता थे पिहानी राज्य के अधिपति अकबर अली खाँ जो एक वीर पुरुष होने के साथ-साथ काव्य-प्रेमी भी थे। सं० १८२४ में देव ने अपना ग्रथ 'सुख सागर तरंग' उन्हें समर्पित किया जिसमें उनकी बहुत-सी पहले की रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनके ही कुछ दिनों बाद सं० १८२४-२५ में लगभग ६४-६५ वर्ष को आयु में देव कवि का निधन हुआ होगा। कुसमरा में ही इनकी मृत्यु हुई।

जिस कवि ने बार-बार राजा रईसों के आश्रय के कटु अनुभव के अनंतर नरिन्दों की मृगमरीचिका से मुक्त हो गोविन्द के चरणों को ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की है और चंचल मन के हाथ-पैर तोड़कर नरनाहों की आज्ञाओं की उपेक्षा कर उसे राधावर के विरद-वारिधि में डुबोने की अभिलाषा व्यक्त की है, यह परिस्थितियों की ही विडम्बना है कि ६४ वर्ष की वृद्धावस्था में भी उसे अकबर अली खाँ के यहाँ हाथ जोड़कर खड़ा होना पड़ा। माया का दुर्निवार बंधन मनुष्य के काटे नहीं कटता देव का जीवन इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है।

देव को कुछ लोगों ने हित हरिवंश, कुछ ने निंबार्क तथा कुछ ने राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित बतलाया है परन्तु इस संबंध में अंतर्साक्ष्य तो कुछ है नहीं कोई विश्वसनीय बहिर्साक्ष्य भी उपलब्ध नहीं होता। देव एक श्रृङ्गारी कवि थे उनकी श्रृंगार भावना में कोरी रसिकता का छिछलापन नहीं है, उसमें प्रेम-निष्ठा की कुछ गहराई भी है। वे प्रेम और भोग के साथ-साथ भक्ति और वैराग्य के प्रगाढ़ भावों के भी कवि हैं। उनमें गाढ़ श्रृंगारिकता के साथ-साथ सच्चे ईश्वर-प्रेम की भी वृत्ति दिखाई देती है। मगध, अन्तर्वेद, मालवा, केरल, द्रविड़ भूमि, भूटान, कश्मीर आदि सुदूर भूभागों की यात्रा के कारण इनकी काव्याभिरुचि और जीवन-दृष्टि में निश्चित विकास हुआ होगा तथा इनमें अनुभव तथा अनुभूतियों की संपन्नता भी विशेष हुई होगी। इनके काव्योत्कर्ष में इनके जीवनानुभवों का सुनिश्चित योग रहा है। उन्होंने जीवन के अनुभवों के साथ-साथ पर्याप्त ज्ञान भी अर्जित किया था—संस्कृत, प्राकृत

और भाषा-साहित्य के साथ-साथ उन्होंने दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी अच्छा अध्ययन किया था। इन सभी कारणों से देव हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में परिगणित होते हैं।

कृतियाँ

परम्परागत रूप में यही प्रसिद्ध है कि देव ने ७२ ग्रंथ लिखे। किसी-किसी ने इस संख्या को ५२ भी कहा है पर सभी ग्रंथों की अद्यावधि उपलब्धि नहीं हो सकी है। संभव है देव की रचनाओं के किसी अनुरागी को इतने ग्रंथ प्राप्त रहे हों। देव की अनेकानेक कृतियों में कई छंद ऐसे हैं जो समान रूप से मिल जाते हैं। बात यह है कि नए-नए आश्रयदाताओं को इन्हें ग्रंथ समर्पित करना पड़ता था। नये न लिख सकने की स्थिति में ये पूर्ववर्ती रचनाओं के छंदों को ही जोड़-तोड़कर या कुछ हेर-फेर के साथ नए ग्रंथ तैयार कर देते रहे होंगे। डा० नगेन्द्र के मतानुसार आज देव की उपलब्ध कृतियों की संख्या १८-२० से अधिक नहीं—

१. भाव विलास　२. अष्टयाम　३. भवानी विलास
४. शिवाष्टक　५. प्रेम-तरंग　६. कुशल विलास
७. जाति विलास　८. रस विलास　९. प्रेमचद्रिका
१०. सुजान विनोद या रसानंद लहरी　११. राग-रत्नाकर　१२. शब्दरसायन
१३. देव चरित्र　१४. देवमाया प्रपंचनाटक
१५. देव शतक　१६. सुखसागर तरंग　१७. श्रृंगार विलासिनी

उक्त १७ ग्रंथों के अंतर्गत देवशतक में ही ४ छोटी-छोटी रचनाएँ शामिल हैं— जगद्दर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, तत्वदर्शन पचीसी, प्रेम पचीसी। इस प्रकार कुल प्राप्त ग्रंथों की संख्या २० हो जाती है। इनके अतिरिक्त भी जो ग्रंथ देव कृत बताए जाते हैं उनकी नामावली इस प्रकार है—

१. प्रेम दीपिका　२. सुमिल विनोद　३. राधिका विलास　४. पावस विलास
५. वृक्ष विलास　६. नख-शिख　७. प्रेम दर्शन (या नख-शिख प्रेम दर्शन)
८. नीति शतक　९. वैद्यक ग्रंथ　१०. सुजान चरित्र　११. सुन्दरी सिंदूर
१२. बखत विलास　१३. बखत विनोद　१४. बखत शतक　१५. वृत्त मंजरी
१६. माधवगीत　१७. कालिका स्तोत्र　१८. नृसिंह चरित्र　१९. प्रज्ञान शतक

देव कृत कुछ संस्कृत ग्रंथ भी कहे गए हैं—

१. श्री रघुनाथ लहरी　२. शक्ति विलास　३. श्री लक्ष्मी नृसिंह पंचाशिका
४. मनोभिनंदिनी　५. महावीर मल्लारि स्तोत्र या देवाष्टक
६. शिव पंचाशिका　७. सांब शिवाष्टक　८. लक्ष्मी दामोदर स्तोत्र
९. शक्ति विलास　१०. राग विलास　११. वरुणाष्टक स्तोत्र
१२. शुक्राष्टक।

ये सभी ग्रंथ मिलकर (२०+१६+१२)=५१ की संख्या में हो जाते हैं परन्तु ये सभी प्रसिद्ध कवि देव के ही हैं इसमें संदेह है। प्रथम २० ग्रंथों के अतिरिक्त जिन ग्रंथों का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके नाम ही मिलते हैं, ग्रंथ नहीं। परम्परा प्राप्त इन नामों से क्या होता है जब तक कि मूल ग्रंथ ही प्राप्य न हों। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि देव ने और भी ग्रन्थ लिखे होंगे। इस संभावना का निषेध नहीं किया जा सकता पर वे सब अब प्राप्त नहीं हैं। एक संभावना यह भी है कि देव नाम के और जो कवि हिन्दी में हुए हैं उन सब के ग्रन्थों को जोड़कर एक ही देव के ग्रन्थ किसी ने मान लिए हों और कहीं लिपिबद्ध भी कर दिया हो और इस प्रकार देव के नाम से ७२ या ५२ ग्रन्थों के लिखे जाने की रूढ़ि बन गई हो। सत्य जो भी हो देव का वही कृतित्व आज हमारे सामने विचारणीय है जो प्रामाणिक रूप से उनका कहा गया है और इस दृष्टि से उपर्युक्त विवरण में आये २० ग्रन्थों तक ही हमारी गति हो सकती है।

देव के कुछ ग्रन्थों के दो-दो नाम भी प्रचलित हैं जैसे देवशतक या वैराग्य-शतक, सुजान विनोद या रसानंद लहरी, शब्द रसायन या काव्य रसायन।

देव का कृतित्व

रीतियुगीन कवियों में देव कवि की ख्याति केशवदास, बिहारी और पद्माकर के समान तो नहीं थी परन्तु उनकी महत्ता सदा स्वीकृत हुई है तथा रीतियुग के उक्त तीन कवियों के अतिरिक्त अन्य कोई कवि देव से अधिक ख्याति प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक देव के काव्य के गुणात्मक उत्कर्ष का सवाल है यह वाद-विवाद का विषय भले ही रहा हो परन्तु रीतियुग के कवियों में देव का सुनिश्चित महत्व कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सका। रीति युग के महत्वपूर्ण काव्य-मर्मज्ञों-भिखारीदास, सूदन, कालिदास त्रिवेदी, दलपतिराय, बंशीधर, प्रतापसाहि गोकुल प्रसाद, सरदार कवि, देव के प्रपौत्र भोगीलाल आदि ने अपने ग्रंथों में देव कवि का महत्व कथित और स्वीकृत किया है। आधुनिक युग के आरम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ठा० शिवसिंह सेंगर और पं० बालदत्त मिश्र ने देव के महत्व की प्रतिष्ठा में योग दिया है। ये पं० बालदत्त मिश्र हिन्दी आलोचना जगत में देव की प्रतिष्ठा करने वाले मिश्र बंधुओं के पिता थे जिन्होंने सं० १६५४ में देव के 'सुखसागर तरंग' नामक काव्य संग्रह का प्रकाशन कराया तथा उसकी भूमिका में मध्ययुग के पाँच कवियों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया—सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और देव। उन्होंने अपनी भूमिका में देव कवि के किसी अनन्य भक्त द्वारा लिखा गया देव कवि की महत्ता प्रतिपादित करने वाला यह छंद प्रस्तुत किया था—

सूर-सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ,
सेस कबिराजन कौं जुगनू गनाय कै।

कोऊ परिपूरन भगति दरसायो, अब
काव्यरीति मो सन सुनहु चित लाय कै ।
देव नभ मंडल समान हैं कवीन मध्य,
जामैं भानु सितभानु तारागन आय कै ।
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै,
ताको ओर छोर नहि परत लखाय कै ॥

सूर, तुलसी, केशव आदि को सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा अन्य कवियों को उड़गन कहा जा चुका था ऐसी स्थिति में देव की प्रतिष्ठा बिना किसी ऐसे प्रतिष्ठा ज्ञापक छंद की रचना के संभव न थी कम-से-कम लोक-दृष्टि में। उसी लोक-दृष्टि को आकर्षित और चमत्कृत करने के उद्देश्य से किसी से उक्त छंद की रचना करा डाली। हिन्दी समीक्षा के सूत्रधारों में गण्यमान्य मिश्रबंधुओं ने भी इस सूत्र को अपने पिता जी से ही ग्रहण किया और उसे अग्रसर करते हुए हिन्दी नवरत्न में देव की असाधारण प्रतिष्ठा का भरपूर प्रयत्न किया। यह बात है सं० १९६७ की। देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं या सूर और तुलसी के बाद महत्व की दृष्टि से देव का ही नम्बर आता है या देव आकाश तुल्य हैं जिसका ओर-छोर सूर्य (सूरदास चंद्रमा (तुलसीदास) और नक्षत्रादि (केशव आदि) चक्कर खा-खाकर भी नहीं पा सकते ये सारी बातें चौंकानेवाली थीं और समीक्षा के अखाड़े में (जो अभी-अभी खोदा और जोड़ा गया था) खलबली मचा देने वाली थीं। इन बातों से हिन्दी समीक्षा के कई पहलवानों में गर्मी आ गई और वे खम ठोंक-ठोंक कर अखाड़े में उतर पड़े। 'हिन्दी नवरत्न' के जवाब में पं० पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संहार' और 'सतसई संहार' के मुकाबले में पं० कुन्ज बिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' और उसके खंडन के लिए लिखी गई लाला भगवान दीन की 'बिहारी और देव' आदि पुस्तकें सामने आईं जिनसे तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग भले ही प्रशस्त हुआ हो परन्तु एक भद्दा झगड़ा सामने उपस्थित हो गया। तमाशाइयों के लिये यह रोचक भी रहा। इस झगड़े में हालाँकि ज्यादा तो नहीं परन्तु एक सीमा तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे स्थिरमति और संतुलित समीक्षक को भी अपना संतुलन खो देना पड़ा। (सं० १९८६)। सं० २००६ (सन् १९४९) में देव पर एक स्वस्थ और संतुलित शोध-प्रधान समीक्षा कृति डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत की जो अद्यावधि देव का श्रेष्ठतम अध्ययन कहा जा सकता है।

देव कवि द्वारा निर्मित विशद काव्य त्रिविध है—१. रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ, २. श्रृंगारिक काव्य, ३. भक्ति, वैराग्य एवं तत्वचिंतन सम्बन्धिनी कविता। ये तीनों प्रवृत्तियाँ उनमें नितांत स्पष्ट लक्षित होती हैं जैसा कि बहुतेरे रीतिबद्ध कवियों में देखा जा सकता है। श्रृंगारिक काव्य स्वतंत्र ग्रन्थों के साथ-साथ देव के रीति ग्रन्थों में

औदाहरणिक भाग के रूप में सर्वत्र विद्यमान है अतएव उनके श्रृंगारी साहित्य के परिशीलन के लिए शुद्ध शृङ्गार वर्णन के लक्ष्य ग्रंथों के साथ-साथ उनके लक्षण ग्रन्थों का भी अध्ययन आवश्यक है। अब हम देव-काव्य की इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों का अलग-अलग संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

रीति शास्त्रीय ग्रन्थ

देव के लिखे जो १८-२० ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश रीति ग्रन्थ ही हैं। भाव विलास, अष्टयाम, भवानी विलास, प्रेम तरंग, कुशल विलास, जाति विलास, रस विलास, प्रेम चन्द्रिका, सुजान विनोद या रसानन्द लहरी, राग-रत्नाकर, शब्द रसायन और सुखसागर तरंग।

भाव विलास—(रचना काल सं० १७४६) यह देव की प्रथम रचना है जिसे लेकर दूसरी कृति अष्टयाम के साथ ये आजम शाह के दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए पहुँचे थे। भानुदत्त कृत रस तरंगिनी (संस्कृत ग्रन्थ) के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें प्रधानता की दृष्टि से महत्व देते हुए केवल श्रृंगार रस तथा नायिका भेद एवं अलंकारों का वर्णन विवेचन हुआ है। ग्रन्थ में ५ विलास हैं—पहले में स्थायीभाव, विभाव और अनुभावों का वर्णन है दूसरे में संचारियों का वर्णन है। संचारीभावों के दो भेद किये गए हैं—शारीर (सात्विक भाव) और आंतर (निर्वेद आदि) आंतर संचारियों की संख्या ३४ है जिसमें ३३ प्रचलित संचारियों के साथ-साथ छल नामक संचारी भाव और बताया गया है। वितर्क नामक संचारी भाव के ४ भेद भी किये गए हैं (विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय)। तीसरे विलास में रस का वर्णन है जिसके दो भेद हैं लौकिक (श्रृंगारादि ९ प्रकार के) और अलौकिक (जिसके ३ भेद हैं स्वाप्निक, मानोरथिक और औपायनिक) शृङ्गार के संयोग वियोग के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद और किये गए हैं। केशव देव के पहले अपनी रसिक प्रिया में प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद बता गए थे। देव ने संयोग के अंतर्गत हावों का तथा वियोग के अंतर्गत १० काम दशाओं के साथ-साथ मान का भी वर्णन किया है। चौथे विलास में शृङ्गार के आलंबन रूप नायक-नायिकादि का ही वर्णन है जो परंपरागत ढङ्ग का ही है। इसमें विविध जातियों और देशों की नायिकाओं का कथन नहीं हुआ है। पाँचवें विलास में अलंकारों का विवेचन है। देव के मत में ३९ अलंकार जिनका उन्होंने वर्णन किया है प्रधान हैं, शेष अलंकार जो औरों द्वारा वर्णित हुए हैं वे इन्हीं के अवांतर भेद हैं। देव का अलंकार निरूपण अपूर्ण और अपुष्ट है क्योंकि उसमें अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ दिया गया है तथा कइयों के प्रभेदों की कोई चर्चा नहीं की है। रसवत, ऊर्ज-स्वल, प्रेम या प्रेयस तथा आशिष जैसे नगण्य अलंकारों को भी ३९ के अंतर्गत सर्वथा अनावश्यक महत्व दे दिया गया है। एक तो यह कवि का बाल प्रयत्न है दूसरे इसमें

अलंकार की अपेक्षा रस और नायिका भेद पर कवि की दृष्टि विशेष है। रस और नायिका-भेद की सारी विवेचना का आधार भानुदत्त की रसतरंगिणी ही है यह कहा जा चुका है साथ-ही-साथ केशवदास का भी थोड़ा प्रभाव देव पर मानना पड़ेगा। भाव विलास में विवेचन और निरूपण का कार्य स्पष्ट है कुछ स्थलों पर वह सदोष भले ही हो तथा लक्षणों को चरितार्थ करने वाले जो उदाहरण हैं वे विशेष रूप से सरस और मधुर हैं।

अष्टयाम (लगभग सं० १७४६) नायिका भेद से ही संबंधित विषय हैं जिसमें तरुण और विलासी नायक-नायिकाओं के आठों पहर के बिविध भोग-विलासों का ही वर्णन हुआ है। यह एक संक्षिप्त एवं साधारण कोटि की रचना है।

भवानी विलास (सं० १७५०-१७५५ के बीच)—यह ग्रन्थ दादरी नरेश सीताराम के भतीजे भवानी दत्त वैश्य को समर्पित किया गया है। यह रस और नायिका भेद विवेचन का ग्रन्थ है जिसमें रस की अपेक्षा नायिका भेद का विवेचन बहुत अधिक विस्तार से किया गया है। इस ग्रंथ के प्रथम विलास में शृंगार रस की प्रधानता का प्रति पादन करते हुए उसका सम्यक निरूपण किया गया है। देव के अनुसार शृंगार मूल रस है, वीर, शान्त आदि अन्य रस इसी मूलरस शृङ्गार से उत्पन्न होते हैं--

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृङ्गार।
तेहि उछाह निरवेद लै बीर सांत संचार ।।

उनका दूसरा उल्लेखनीय कथन यह है कि रसोत्पत्ति के कारण रूप भावों की संख्या ६ है—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव तथा हाव। देव के शृङ्गार निरूपण में तीसरी विशेषता यह है कि वे संचारी भाव दो प्रकार के मानते हैं; एक कायिक जिसके अंतर्गत ८ सात्विक भाव आते हैं (स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु या कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय) क्योंकि इनका संबंध शरीर से है दूसरा मानसिक जिनका संबंध मन से है (इनकी संख्या ३३ प्रसिद्ध ही है)। शृंगार रस के पहले वियोग और संयोग नामक दो भेद बतलाते हैं फिर उनके प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो-दो भेद और कहते हैं। शृगार के अंतर्गत संयोग और वियोग की स्थितियाँ प्रचलित रूप में स्वीकार न करके देव उन्हें किंचित मनोवैज्ञानिक आधार पर निरूपित करते हैं। उनके अनुसार संयोग वियोग का क्रम इस प्रकार होता है—पूर्वानुराग, वियोग (और उसकी दस अवस्थाएँ), संयोग, मान, प्रवास और अन्त में संयोग। इस प्रकार अपने शृङ्गार निरूपण में कुछ नवीनता लाने की चेष्टा देव में लक्षित होती है। ग्रन्थ के दूसरे विलास से लेकर सातवें विलास तक नायिका-भेद वर्णित हुआ है। नायिका के नाना भेदों का कथन करते हुए देव ने स्वकीया की महत्ता स्वीकार की है, स्वकीया ही उत्तम नायिका के आठों गुणों—भूषण, यौवन, रूप, गुन, सील,

विभव, कुल और प्रेम से समन्वित अष्टांगवती होती है। देव ने स्वकीया, परकीया और सामान्या (गणिका) का अलग-अलग प्रयोजन बताया है। पहली सुख-संतान के लिए, दूसरी प्रेम के लिए तीसरी उत्सवादि के लिए —

सुकिया सुख सन्तान हित प्रेमदरस पर नारि।
सामान्या उत्सव समय मंगल रूप निहारि॥

परकीया प्रेम में उन्होंने सुख की अपेक्षा दुख ही विशेष कहा है। सातवें विलास के अंत में संक्षेप में नायक भेद कहा गया है। आठवें विलास में शृङ्गारेतर रसों का वर्णन हुआ है। शृङ्गार के बाद ये वीर और शांत रसों को अधिक महत्व देते हैं। वे वीर तीन प्रकार के मानते हैं युद्ध वीर, दान वीर और दया वीर। शांत के दो भेद बताए गए हैं शरण्य शांत और शुद्ध शांत, बाद में शरण्य के ३ प्रकार कथित हुए हैं– प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम। हास्य के ३ भेद उत्तम, मध्यम और अधम) तथा करुण के ५ भेद (करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण) किये गए हैं। जैसा हम कह चुके हैं शृङ्गार के बाद वीर और शांत ही देव की दृष्टि में महत्वपूर्ण रस हैं। हास्य और भयानक रस शृङ्गार में, रौद्र और करुण वीर में तथा अद्भुत और वीभत्स रस शांत में लीन हो जाते हैं। अंत में शांत और वीर शृंगार में लय हो जाते हैं। इस प्रकार प्रधान रस शृङ्गार ही हुआ। इस प्रकार देव का रस विवेचन कुछ अधिक मौलिकता और गंभीरतापूर्ण है। भवानी विलास में रचयिता का काव्य पक्ष कुछ अधिक गंभीर हो गया है।

प्रेमतरङ्ग सं० १७६० के आस-पास) यह ग्रन्थ किसी आश्रयदाता को समर्पित नहीं है। भवानी विलास और कुशलविलास की बहुत सी बातें इसमें ज्यों-की-त्यों आ गई हैं, बहुत से लक्षण हू-ब-हू भवानी विलास से ही उतार दिये गए हैं, औदाहरणिक भाग सर्वथा नवीन है और उसमें देव कवि का विकासशील कवि रूप अपने समुन्नत रूप में देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में स्वकीया के पति प्रेम का अत्यंत विशद वर्णन किया गया है।

कुशल विलास—(लगभग सं० १७६५) फफूंद शुभकर्ण नामक सेंगर क्षत्रिय राजा के पुत्र राजा कुशलसिंह के लिये रस और नायिका भेद सम्बन्धी यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसमें प्रेमतरंग के ३ तरंगों की सारी सामग्री प्रथम ५ विलासों में लगभग ज्यौं-की-त्यों रख दी गई है क्योंकि जीवन की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आश्रयदाता की खोज थी और उसके लिए उपयुक्त काव्य सामग्री तैयार भी थी। ग्रन्थ के प्रथम विलास में शृंगार रस तथा उसके अवयवों का (विभाव, अनुभाव, तन-संचारी, मन संचारी आदि) वर्णन किया गया है शेष ८ विलासों में नायिका-भेद विषय का ही प्रसार है। ग्रन्थ में १९ दोहे तथा १८७ छंद (कवित्त और सवैये) मिलते हैं। इसमें प्रीति निरूपण संबंधिनी एकाध अनुभूति-ईरित मार्मिक उक्ति देखिये —

पति की चौविधि रसिकता तिहूँ वैस बढ़ि जात ।
प्रीति प्रौढ़ स्वकियान त्यौं पति सुत हित घटि जात ।।

जाति-विलास—(सं० १७८० के लगभग) इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह देश की लम्बी-चौड़ी यात्रा के परिणामस्वरूप तैयार हुआ ग्रन्थ है। तात्पर्य यह है कि देशाटन करते हुए स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए कवि ने भले ही इसके छंद लिखे हों परन्तु इस ग्रन्थ का संकलन-संपादन यात्रा काल की समाप्ति पर ही हुआ होगा यात्राकाल पर्याप्त दीर्घ रहा होगा, लगभग १०-१५ वर्ष, क्योंकि इसमें दूरस्थ भू-भागों की नायिकाओं का वर्णन किया गया है। इसमें जाति-व्यवसाय, निवास-स्थान आदि के आधार पर नायिका-भेद वर्णित हुआ है।

रस-विलास—(सं० १७८३) यह ग्रन्थ रस और उससे भी अधिक नायिका-भेद का ग्रन्थ है जो भोगीलाल नामक देव के सम्भवतः श्रेष्ठतम आश्रयदाता के लिए लिखा गया था और उन्हीं को समर्पित भी किया गया था। १३४ दोहों तथा २१६ कवित्त सवैयों में यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है। रस का वर्णन तो नाम मात्र को है नायिका भेद का ही इसमें समूचा विस्तार समाया हुआ है। भवानी विलास और जाति विलास की बहुत सी सामग्री इसमें समाविष्ट है। रस और नायिका भेद-विषय पर देव कवि ने सम्भवतः सबसे अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। इस ग्रंथ में नायिका के सर्वथा नये और परम्परायुक्त भेद-प्रभेद किये गए हैं उदाहरण के लिए नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, वनवासिनी, सैन्या और पथिक वधू। इसके बाद इनके भी उपभेद बताए गए हैं। व्यवसाय और निवास स्थान पर आधारित नायिकाओं के भेदों का कथन देव की अपनी विशेषता है। रूप-शील-यौवन आदि से सम्पन्न अष्टांगवती नायिका का वर्णन किया गया है तथा जाति, कर्म, गुण (सत-रज आदि), देश, काल, वय, प्रकृति (आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार) और सत्व के आधार पर नायिका के भेद-प्रभेदों का विशद वर्णन हुआ है। संयोग स्थिति में उसके हावों और वियोग के अंतर्गत उसकी दस कामदशाओं का भी कथन है तथा उन कामदशाओं में प्रत्येक के कई-कई उपभेद भी बताए गए हैं जो देव की नवीनतानुधाविनी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। नायिका के सूक्ष्म अथवा अमूर्त गुणों का देव ने पर्याप्त सुन्दर वर्णन किया है। देव के नायिकाभेद की नवीनता संक्षेप में निम्नलिखित विवरण से जानी जा सकती है—

जाति कर्म कुल देस अरु काल वयक्रम जानि।
प्रकृति सत्य है नायिका, आठों भेद बखानि।

जातिगत भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।
कर्मगत भेद—स्वकीया, परकीया, सामान्या।
गुण-भेद—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

देशगत भेद—मध्य देश, मागध वधू, कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंगाल तथा अन्य प्रदेशों की स्त्रियाँ ।

वय-क्रम भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा ।

प्रकृति भेद—बात गुणी, पित गुणी, कफ गुणी ।

सत्व भेद—देवसत्व, मानुषसत्व, गंधर्वसत्व, यक्षसत्व, पिशाचसत्व इत्यादि । देव ने नागरी और ग्राम्या नायिकाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—राजपुर नागरी पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल नागरी, धाई, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटविन, सुनारिन, गधिन, तेलिन आदि । इस ग्रन्थ में शृंगार से अतिरिक्त रसों की चर्चा नहीं है । रीति-निरूपण के साथ-साथ कवि-कर्म में भी विकास ही लक्षित होता है तथा काव्य गुण एक धीर गम्भीर रूप लिए हुए है ।

प्रेम चंद्रिका—(सं० १७६० के लगभग) इस ग्रंथ में प्रेम तत्व की ही विशद चर्चा है । इसमें काव्य रीति और प्रेम काव्य दोनों मिलता है । यह ग्रन्थ रीति बन्धन और रीति से मुक्ति की आकांक्षा दोनों संग्रथित किये हुए है क्योंकि इसमें अंशतः रीति निरूपण है और अंशतः प्रेम व्यंजना जो सर्वथा रीति-निरपेक्ष है । इसमें ५६ दोहे हैं तथा १७१ कवित्त सवैये । ग्रन्थ चार प्रकाशों में विभक्त है—प्रथम प्रकाश में साधारण प्रेम का वर्णन है जिसमें प्रेम रस, प्रेम स्वरूप, प्रेम माहात्म्य तथा प्रेम और वैषयिकता का भेद वर्णित हुआ है । दूसरे और तीसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेदों में से प्रथम भेद सानुराग शृङ्गार का विशद वर्णन किया गया है जिसके अंतर्गत मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया आदि के प्रेम का अत्यंत सरस चित्रण किया गया है । चौथे प्रकाश में प्रेम के अन्य चार भेदों सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य का वर्णन किया गया है तथा उदाहरण रूप में क्रमशः गोपियों के सौहार्द्र, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य को सामने रक्खा गया है । सरस काव्य रचना और उत्कृष्ट एवं तन्मयकारिणी भाव व्यंजना की दृष्टि से देव का यह ग्रंथ रस विलास से भी उत्कृष्ट बन पड़ा है । इस उत्तरवर्त्ती कृतियों में देव की प्रौढ़तम काव्य-सर्जना का स्वरूप देखा जा सकता है ।

सुजान विनोद या रसानंद लहरी (सं० १७६५ के लगभग)—यह ग्रन्थ दिल्ली निवासी पातीराम कायस्थ नामक रईस के सुपुत्र सुजान मणि को प्रसन्न करने के लिए लिखा गया था । इस ग्रन्थ का अधिकांश भवानी विलास, रस विलास और प्रेम-चंद्रिका से संकलित हुआ है । इस ग्रन्थ में ऋतु क्रम से विविध नायिकाओं के आमोद-पमोद, रसकेलि आदि का वर्णन किया गया है । ग्रन्थ में ८६ दोहे और २३८ छंद हैं तथा वह ७ विलासों में विभक्त है । अंतिम दो विलास जो ऋतु वर्णन से संबंधित हैं उन्हीं में कवि की मौलिकता लक्षित होती है । प्रेम चंद्रिका के ही समान यह ग्रन्थ भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट है तथा कवि की गम्भीर भाव-व्यंजना के साथ-साथ

कला कौशल की परिपूर्णता का भी सूचक है। इस ग्रंथ में षटऋतु वर्णन को प्रधानता दी गई है ।

राग रत्नाकर – यह संगीत शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ है जो दो अध्यायों में विभक्त है। पथम अध्याय में ६ रागों तथा उनकी भार्याओं का सविस्तार वर्णन है तथा द्वितीय अध्याय में १३ उपरागों का साधारण कथन मिलता है। विभिन्न रागों का वर्णन करते हुए कवि ने रागों के स्वरूप, गायन समय, सहायक वाद्यों, उनके वाहन, भूषण तथा स्वर लक्षण आदि का जो कथन किया है उससे देव कवि की बहुज्ञता तथा विस्मयकारी संगीत शास्त्र-निष्णात होने का पता चलता है। राग-भार्याओं का वर्णन भी पर्याप्त आकर्षक है ।

शब्द रसायन—(सं० १८०० के लगभग) यह देव का प्रौढ़तम रीति ग्रन्थ है जिसमें काव्य के समस्त अंगों--काव्य महिमा, काव्य स्वरूप, पदार्थ निर्णय, समस्त रसों, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल आदि का निर्वचन हुआ है। इस ग्रन्थ में एकादश प्रकाश हैं। काव्य को देव कवि अत्यंत महत्वपूर्ण कर्म मानते हैं जिससे मनुष्य अमर हो जाता है--

रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप ।।

काव्य के महत्व और स्वरूप-निर्देश के बाद कवि ने शब्द शक्तियों का विशद विवेचन किया है। इस शब्द-शक्ति विवेचन में कहीं भी देव ने अभिधात्मक काव्य को उत्तम काव्य नहीं कहा है। उनके अधोलिखित दोहे---

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ।।

को लेकर लोगों ने भूल से यह समझ लिया कि देव कवि व्यंजना शक्ति के विरोधी थे, वास्तव में व्यंजना को अधम कहकर उन्होंने व्यंजना शब्द शक्ति का नहीं वरन् 'परकीया' नायिका का प्रकारांतर से तिरस्कार किया है। शब्द रसायन के षष्ठ प्रकाश में उक्त दोहा आया है नायिकाओं के स्वभाव-भेदादि की चर्चा के संदर्भ में परन्तु इसे भ्रमवश शब्दशक्ति संबंधी कथन मान कर लोगों ने इसके आधार पर यह भावना बना ली थी कि देव व्यंजना के महत्व से अनभिज्ञ थे। भला देव ऐसे सहृदय कवि और अनुभवी आचार्य व्यंजना को अधम काव्य कैसे कह सकते थे ? उनके 'अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन' को ही अभिधा द्वारा नहीं वरन् व्यंजना द्वारा समझने की जरूरत थी। अब तो देव की व्यंजना सम्बन्धिनी धारणा पर विवेचकों ने काफी प्रकाश डाल दिया है और भ्रम की गुञ्जाइश नहीं रह गई है।[1] तीसरे प्रकाश में रस

[1]देखिये देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र (सन् १९४९) पृ० ५९ और श्रृङ्गार-काल : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सं० २०१७) पृ० ४९७--५०० ।

का विशद वर्णन है जो भाव विलास और विलास की ही पुनरावृत्ति है। कुछ अनावश्यक विस्तार हटा दिये गए हैं तथा रस विवेचन में कुछ नई बातें जोड़ भी दी गई हैं जैसे रसों की मित्रता और शत्रुता, रसों के सरस रस, उदास रस और निरस रस ऐसे भेद हैं तथा उनके भी प्रभेद एवं रसों के स्वमुख-विमुख स्वनिष्ठ-परनिष्ठ रूपों का विवेचन हुआ है। रसों का विवेचन पूर्ण है परन्तु उसी के पश्चात् कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी नामक वृत्तियों का वर्णन इतना पूर्ण नहीं बन पड़ा है। इसके बाद नायिकाओं का संक्षिप्त कथन और द्वादश रीतियों का वर्णन है—अर्थ, श्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव, सुकुमार, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति, ओज और उदार तथा इनमें से प्रत्येक के नागर और ग्रामीण नामक दो-दो उपभेद। इसके पश्चात यमक और अनुप्रास पर आधारित चित्रालंकार का और तत्पश्चात ४० मुख्य एवं ३० गौण अलंकारों का निरूपण हुआ है तथा उपमा का प्राधान्य देव ने स्वीकार किया है। अंतिम दो अध्यायों में पिंगलशास्त्र का स्वच्छ निरूपण है। समग्र रूप से कहना पड़ेगा कि 'शब्द रसायन' देव की अत्यन्त महत्वपूर्ण रीतिशास्त्रीय कृति है जिसमें काव्य के समस्त अंगों का पर्याप्त स्वच्छ सरस और उपयोगी विवेचन है। व्यवस्थित निरूपण, सरस उदाहरण तथा भेद-प्रभेद की नवीनता ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर देव सरस कवि और रीति के समर्थ आचार्य दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं।

सुख सागर तरंग—(सं० १८२४) यह ग्रथ पिहानी के अकबर अली खाँ को समर्पित है। यह एक प्रकार से संग्रह ग्रंथ है जिसमें देव की पूर्ववर्त्तिनी रचनाओं से छन्द ले लेकर वर्ण्यक्रम से सँजो दिये गए हैं। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसके १२ अध्यायों में कुल ८५६ छन्द हैं। देव के काव्य के सर्वोत्कृष्ट अंश को विशेषतः उस अंश को जो स्वयं देव की ही दृष्टि से श्रेष्ठतम है यदि हम देखना चाहते हैं तो सुख सागर तरंग देख लेना पर्याप्त होगा। इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्य उनकी अधिकांश अन्य रचनाओं के ही समान शृङ्गार तथा नायिका भेद है। जीवन की विषम आर्थिक स्थिति ने ही कवि को ९४ वर्ष की अवस्था में किसी आश्रयदाता के यहाँ एक ग्रन्थ तैयार कर उपस्थित होने के लिए बाध्य किया होगा। देव के जीवन का यह पहलू अत्यन्त कारुणिक है, जीवन के अन्तकाल तक उन्हें राज्याश्रय के लिए भटकना पड़ा था। ग्रन्थ के आरम्भ में आश्रयदाता का परिचय, तत्पश्चात सरस्वती, महालक्ष्मी, गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधिका की वंदना है। इसके बाद शृङ्गार के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी अनेक मांगलिक उत्सवों का वर्णन है फिर इसके अवयवों, षट्ऋतु, अष्टयाम, नखशिख तथा व्यवसाय-भेद से नायिकाओं का वर्णन है। अनन्तर नायिका-भेद का ही प्रसंग ग्रन्थान्त तक असाधारण विस्तार के साथ चला चलता है।

इस प्रकार देव के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों की ही संख्या बहुत बड़ी है जिसमें बार-

वार विस्तार के साथ प्रमुख रूप से नायिका भेद और शृङ्गार रस का ही विवेचन हुआ है। इस विवेचन में जहाँ-तहाँ नवीनता और सूझ-बूझ भी देव कवि ने दिखाई है जिससे उनके शास्त्रज्ञान और प्रगाढ़ एवं व्यापक अनुभवों का भी पता चलता है; परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्रियों वाली शास्त्रबुद्धि और काव्यशास्त्र निष्णातता देव में नहीं मिलती। देव कर्त्ता या कवि के रूप में ही अधिक सफल और महत्वपूर्ण कहे जायँगे शास्त्राचार्य के रूप में नहीं। उस जमाने में रीति का बन्धन कुछ ऐसा था कि उसमें बँधे बिना सम्भवतः कविकर्म पूर्ण नहीं होता था पर उसी रूढ़ि की जकड़न में देव भी आ गए अन्यथा कवित्व का वे और भी उपकार कर गए होते। फिर भी सरस छन्दों की बड़ा भारी राशि वे हमें दे गए हैं। उनका रीति कर्म भी सामान्यतः अच्छा है तथा नवीनता, सूझ-बूझ और मौलिकता की दृष्टि से उनका स्थान हिन्दी के अन्य रीतिशास्त्रियों के बीच अधिक महत्वपूर्ण कहा जायगा। काव्य के समस्त अंगों के विवेचन में प्रवृत्त होने वाले आचार्यों में उनकी गणना है।[1] शब्दशक्ति, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल, रस, नायिकाभेद आदि सभी पर उन्होंने लिखा तथा नख-शिख, अष्टयाम, षट्ऋतु आदि काव्य रूढ़ियों का भी अनुधावन किया। इन सारी बातों से स्पष्ट है कि देव रीतिबन्धन से बेतरह बँधे हुए कवि थे, जहाँ उससे मुक्त होने का उन्होंने प्रयास किया है उनकी कविता में और ही रंगत आ गई है। उनकी रीति-निरपेक्ष रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।

शृङ्गार काव्य

रीतियुगीन कवियों का मूल भाव-लोक शृंगार रहा है इसी से इस युग को शृंगार काव्य कहना अधिक युक्त है। देव कवि के द्वारा भी शृंगार धारा की विशेष पुष्टि हुई इसमें संदेह नहीं। उनके काव्य के आलंबन भी परंपरागत काव्य के नायक-नायिका, कृष्ण गोपियाँ, आभीर स्त्रियाँ आदि ही रहे हैं।

रूप चित्रण—कृष्ण के रूप चित्रण में देव का वह चित्र ही सर्व प्रथम सामने आता है जिसमें श्रीकृष्ण को 'ब्रज दूलह' कह कर चित्रित किया गया है—

पायनि नूपुर मंजु बजैं कटि किंकिन के धुन की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुन्हाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल मंद हँसो मुख चन्द ‍ ्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुंदर श्री ब्रजदूलह देव सहाई॥

[1] देव के रीति विवेचन के अध्ययन के लिए देखिये डा० नगेन्द्र कृत देव और उनकी कविता, हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास तथा डा० ओमप्रकाश का हिन्दी अलङ्कार साहित्य।

अन्य अधिकांश छंद कृष्ण के सौंदर्य का प्रभाव बतलाने वाले ही हैं रूप चित्रण करने वाले कम। यह प्रभाव रूप का है, गुणों का है। कृष्ण मुरली बजाते हैं तो गोपियाँ अपने मनोभावों को रोक नहीं पातीं उनकी ओर दौड़ चलती हैं। यमुना तट पर पहुँचती हैं तो श्रीकृष्ण के रूप रस पर इस कदर मुग्ध हो जाती हैं कि उनकी इच्छा घर लौटने की नहीं होती, वे बार-बार अपने घड़े भरती हैं और खाली कर देती हैं और राधिका की तो विशेष कर ऐसी ही दशा है—

ब्रषभानु कुमारि मुरारि की ओर बिलोचन कोरनि सों चितवै।
चलिबे को घरै न करै मन नैक, घरै फिर फेरि भरै रितवै।।

कोई कोई गोपिका तो उनके छवि का आसव पीकर बेहोश और मतवाली हो जाती है, उन्हें ही जहाँ-तहाँ खोजती फिरती है और कहती है—

मंद मुसक्याय लै समाय जी में ज्याय लै रे
प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधा की हौं।
मेरे सुखदाई दै रे देवजू दिखाई नेकु,
ए रे ब्रज-भूप तेरे रूप-रस छाकी हौं।

कोई उन्हें देख कर आत्मविस्मृत हो जाती है। वह जिन फूलों को आँचल में भर कर ले जाती रहती है वे उसके आँचल से गिर पड़ते हैं और उसे इस सब की कोई सुध नहीं रहती। किसी की यह हालत हो जाती है कि श्रीकृष्ण को देखने के बाद दूसरे किसी रूप को देखती ही नहीं। एक वही रूप, एक वही छटा उसे नगर में, वन में सर्वत्र घूमती दिखाई देती है और उसकी आँखों की जो दशा होती है उसका तो कहना ही क्या, वे तो रूप तन्मय हो जाती हैं। रूप के आश्लेष से उसकी आँखें निकल ही नहीं पातीं—

देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
पूरि रही री वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सो जाइ मिलीं जलबूँद ज्यों कूप मैं।
कोर करो नहिं पाइयै केहूँ समाइ गयीं ब्रजराज के रूप मैं।।

और रूप-छवि की धारा में धँस कर तो वे मधुमयी हो जाती हैं—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अँधेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।
देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेग ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।।

और अब देखिये साँवरे लाल के श्यामल रूप को आँखों में काजल की तरह बसा लेने वाली प्रेमिका क्या कहती है—

देव मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ ।
कंचुकी मैं चुपरयौ करि चोवा लगाय लियौ उर कै अभिलाख्यौ ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजारा करि राख्यौ ।।

इन प्रभावाभिव्यंजक रूप वर्णनात्मक छंदों को कोई चाहे तो प्रेमाभिव्यंजक भी कह सकता है किन्तु ये अभिव्यक्तियाँ रूप की चोट झेलने वाली गोपिकाओं की ही हैं । इन प्रेममय वचनों के पीछे रूप की ही प्रेरणा है ।

राधा के रूप वर्णन से सम्बन्धित उस छंद पर दृष्टि सबसे पहले जाती है जिसमें उनकी अमंद रूप छटा और वर्णाभा का उसकी अशेष उज्ज्वलता का वर्णन किया गया है । रूप के प्रस्तुतीकरण पूर्णतम कथन अवश्य हुआ है—

फटिक सिलानि सों सुधारयौ सुधा मंदिर,
उदधि दधि कौ सा अधिकाई उमगै अमंद ।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखेऐं देव,
दूध को सो फेन फैलो आँगन फरसबंद ।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका कौ मकरंद ।
आरसी से अंबर मैं आभा सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द ।।

राधिका जिधर-जिधर जाती है सभी की दृष्टि उसी पर पड़ती है और जो ही उसे देखता है उसके रूप गुण का गायक हो जाता है—कुंजनि कलिनमयी गुंजनि अलिन-मयी, गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ।' राधिका की रूपछटा और अंग विभा का कहना ही क्या । तुलसी दास ने तो लिखा है कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' किन्तु देव ने इस क्रम को उलट दिया है और नारी को भी नारी के रूप सौंदर्य पर बेतरह मुग्ध होते दिखाया है—

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये कर सूधे सुभाइनि ।
कंचुकी छोरि उतै उबटैबे को ईंगुर से अंग की सुख दाइनि ।
'देव' स्वरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं सीस तें पाँइनि ।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी धरै ठकुराइनि ।।

सामान्य नायिका का रूप का चित्रण तो कम पर उसके सौंदर्य, चपलता, अंग-विभा आदि गुणों का वर्णन विशेष किया गया है कहीं उसका दूल्हन रूप दिखाया गया है जिसमें वह कान में तरौना, नाक में नथ, मुँह पर घूँघट, माथे पर तिलक या बिंदी, नथ में मोती और नेत्रों की चंचलता के साथ वर्णित हुई है । उस उन्नतयौवना की वेशभूषा अंगप्रत्यंग के आकर्षण आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

जगमगे जोबन जराऊ तखिन कान,
ओठन अनूठे रस हाँसो उमड़े परत,
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज
बिंदु बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मनि झुमका झुमकि छुमड़े परत।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोरी नथ,
बड़ी बरुनीन होंड़ा होड़ा हुमड़े परत॥

नायिका का प्रताप, सुहाग, प्रभाव, गुण कवि को सब कुछ बड़ा ही बड़ा लगता है उसका मुँह देखने की इच्छा बड़े बड़े देव-अदेवों की स्त्रियों के मन में जगा करती है क्योंकि वह गुण और सौंदर्य में विशाल है असाधारण है—

बड़ी दिल दार, बड़े बड़े हार, बड़े बड़े बार, बड़ी बड़ी आँखैं।

नायिका की कांति को ही ले कीजिये उसकी सोने जैसी गोराई नायक की पुतलियों की कसौटी पर कंचन रेखा सी खिंच गई है नायिका को देखे हुए पर्याप्त समय हो गया है फिर भी उसकी वर्णच्छटा आँखों में बस सी गई है—

अब लगि आँखिनि की पूतरी कसौटिन मैं,
लागी रहै लीक बाकी सोने सी गुराई की।

बार-बार कवि ने उसके शरीर की छवि की तुलना सोने से की है, मुख की होड़ चन्द्रमा से, वस्त्रों की चाँदनी से आदि आदि। नायिका के चरणों की ही आभा इतनी है कि उससे पृथ्वी पर रँग या लाली की धारा बहने लगती है—'भू पर अनूप रंग रूप बिथुर्‌यौ परै' अथवा सदृश उक्तियाँ प्रमाण हैं। नायिका की अंग-कांति, रूपाभा आदि का यह जीवत चित्र देखिये —

विद्रुम और बँधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति।
देव जू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति।
पाँव धरै अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति।
मानो मजीठ की माठ ढुरी एक ओर ते चाँदनी बोरति आवति॥

नायिका के अंगों में पद्मिनी-सी सुरभि का भी वर्णन किया गया है – उसके दुकूलों से फूलों की सुगंध और मुख से कमल का-सा बास फूटता रहता है, हँसी से अमृत के बिन्दु टपकते जान पड़ते हैं। उसके अंगों से सुगंधित पदार्थों की महक आती रहती है और निश्वासों की सुरभि भी प्रमत्त करने वाली होती है। उसकी सुरभि से तो गिरि-वन की वायु भी सुवासित रहा करती है। इस भावना को कहीं-कहीं ऐसा कह कर कि, नायिका का रंग भवन तो उसकी सुगंधि के कारण भौंरों की भीड़ से भरा रहता

है, उपहासास्पद भी बना दिया है। उसके रूप और अंग सौरभ आदि का वर्णन अपने श्रेष्ठतम रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है--

देव जो बाहिर ही बिहरै तौ समीर अमी रस बिंदु लै जैहै।
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै।
जैयें कहूँ इहि राखि गुविंद कै इन्दु मुखी लखि इन्दु लै जैहै।
राखिहौ जौ अरविंद हू मैं मकरन्द मिलै तौ मलिंदु लै जैहै ।।

नायिका में अमृत है, सुगंधि है और इतनी अधिक है कि श्रीकृष्ण की पटु दूती को भय है कि कहीं उसके रस-सौरभ को देवी-अदैवी शक्तियाँ उससे छीन न लें क्योंकि उसमें सभी को मोहित कर लेने की असीम शक्ति है। नायिका बोलती है तो जैसे अमृत निचोड़ कर रख देती है, वह जहाँ जाती है अपने यौवन और रूप-लक्ष के प्रभाव को फैलाती चलती है और लोगों की मति-गति हरण किये लेती है --

थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देद रूप रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेत हित को।
तोरे लेति रति दुति मोरे लेति मति गति,
जोरे लेति लोक-लाज चोरे लेति चित को ।।

उसका सतत चांचल्य भी निरीक्षणीय है—

लोने मुख लचनि नचीन नैन-कोरन कीं,
उरति न और ठौर सुरति सराहिनै।
बाम कर बार हार अंचल सम्हारो करै,
कैयो छन्द कंदुक उछारै कर दाहिनै ।।

उसकी ऐश्वर्यभरी, मदभरी सुकुमारता भरी मंद-मंथर चाल का यह गत्यात्मक और जीवंत चित्रण देखिये। लगता है जैसे कोई अत्यंत ऐश्वर्यमय लोक की अपूर्व सुन्दरी अपने सारे ऐश्वर्य के साथ चली जा रही हो—

पीछे परबानैं बीनैं संग की सहेलीं आगे,
भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि।
चौंकति चकोरनि त्यौं मोरै मुख मोरनि त्यौं,
भौंरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि।।
एक कर आली-कर ऊपर ही धरे,
हरे-हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथनि सुनावति बचन,
राजहंसनि चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि ।।

किसी-किसी छंद में कवि ने ऐसी अनुपम रूप-गुण-शील मृगनैनी के अपरिमित सौंदर्य

का रहस्य जानने की चेष्टा की है। रूपशालिनी घर-घर की चर्चा का विषय बनी हुई है तथा उसकी सुखद मुख-सुषमा को देख सौत की आँखें भी सुखी होती हैं। रूप रसिक कवि नायिका की शोभा का वर्णन करते हुए और भी आगे बढ़ा है और उसके अंगों के सौंदर्य को कुछ अधिक प्रकट रूप में दिखाने की चेष्टा करता है। सद्यः स्नाता का वर्णन प्रमाण है; जब शशिमुखी संकोच के साथ सरोवर से निकलती है—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
आ फल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी॥

ऐसी रूप गुण यौवना सब प्रकार से माधुर्यमयी है। उसका मन नवनीत सा कोमल है, यौवन दूध-सा पवित्र या उज्ज्वल है, उसकी छवि के सामने चंद्रमा छाछ या निःसार-सा है और अमृत सहित पृथ्वी रसहीन है, उसकी आँखों में असीम स्नेह राशिभूत है और वाणी उसकी वियोग के संताप का शमन करने वाली है फिर भला ऐसी रसीली नायिका मनमोहन को अच्छी क्यों न लगेगी?

माखन सो मन दूध सो जोबन, है दधि सों अधिकौ उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछि समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन-नेह चुवै कवि देव', बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यौं न लगै मनमोहनै मीठी॥

एक स्थान पर कवि ने सीता के सौंदर्य का भी वर्णन किया है अनुराग के रंगों से सनी हुई अंग-अंग से रूप और आभा की लहरें उठाती हुई, सौभाग्यवती सीता को देखकर सबका हृदय शीतल हो जाता है तथा सभी अपनी-अपनी अटारियों पर चढ़कर उन्हें उतावली से देखने लगती हैं और उन्हें देखने के लिये तो 'सखियान के आनन इंदुन तें अँखियान की बन्दनवार तनी।'

ऋतु-वर्णन—आलंबन की किंचित चर्चा हो चुकने पर उस प्राकृतिक प्रेरणा भूमि की भी चर्चा आवश्यक है जो रति भाव का उत्तेजक है। रीति कवियों में प्रकृति और ऋतुओं का ग्रहण इसी रूप में हुआ है। ऋतु वर्णन में वसन्त और वर्षा की ही चर्चा अधिक है। वसन्त वर्णन में कवि ने या तो ऋतुराज में व्याप्त उल्लास और विभव का वर्णन किया है या फिर ऋतु की विरहोत्तेजकता का। वसन्त ऋतु की शोभा और श्री का वर्णन करने वाला देव कवि का यह छन्द प्रसिद्ध है—

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै केकी-कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै।

पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।।

किन्तु विरहिणी के लिए तो बसंत साक्षात अंतक के ही समान है, अनार की फूली डालों को देखकर, सघन रूप से विकसित ग्राम्र मंजरियों को देखकर, कचनारों को देखकर और पिकी की कूक सुनकर वियोगिनी के प्राणों पर जो कुछ बीतता है उसे तो उसके सिवा और कोई क्या जान सकता है? कवि ने ऋतुराज-जन्य व्यथा का आभास मात्र कराया है—

कों बचिहै यह बैरी बसंत पै आवत जो बन आग लगावत।
बौरत हौ करि डारत बौरी, भरे विष बैरी रसाल कहावत।
होत करेजन की किरचैं कवि देव जू कोकिल बैन सुनावत।
बीर की सौं बलबीर बिना उड़ि जायँगे प्रान अबीर उड़ावत।।

बसन्त ऋतु में ही आता है हिन्दू जीवन का परम उल्लासमय त्यौहार जिसे होली कहते हैं, तरुण जन जिसमें उन्मत्त हो उठते हैं। गोपियाँ लाल और गुलाल दोनों के ही रंग में भींगने की अभिलाषा से भर उठती हैं—'लाल के रंग मैं भींजि रही, सो गुलाल के रंग मैं चाहति भींज्यौ।' होली में तरुणियों के अरमान मिटाए नहीं मिटते—

लोग-लोगाइन होरी लगाई मिला-मिली-चाउ न भेंटत ही बन्यो।
देव जू चंदन-चूर कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यो।
वे यही औसर आये इहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो।
कीनी अनाकिनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेंटत ही बन्यौ।।

होली में तरह-तरह से नायक-नायिकाओं या कृष्ण और उनकी प्रेमिकाओं की प्रणय क्रीड़ाएँ दिखाई गई हैं -

लाल गुलाल सों लीन्हीं मुठी भरी बाल की भाल की ओर चलाई।
वा द्रिग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै वृषभान की जाई।।

होली वर्णन में ऐसी ही बातों का आधिक्य मिलेगा।

वर्षा के वर्णन में कवि ने घटाओं, हवा के झकोरों, हरियाई हुई वनस्पतियों, चातक-मयूर, झूला हिंडोला आदि का वर्णन किया है। नायिका को सखियाँ इतनी जोरों से हिंडोले पर झुलाती हैं और हवा का झोंका भी इतनी जोर से लगता है कि नायिका का देह दूनर हुआ जाता है, उसका चंचलांचल हवा में इधर-उधर उड़ता रहता है और उसकी इस छवि को देखकर श्री कृष्ण भी आनन्द-दोल में दोलायित होने लगते हैं -

आली झुलावति झूँकनि सौं झुकि जाति कटी झननाति झकोरे।
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहोर हरा के हिंडोरे॥

राधा और कृष्ण के वर्षा काल में हिंडोला झूलने का वर्णन पर्याप्त गत्यात्मक है साथ ही साथ चित्रात्मक भी—

सहर-सहर सोधौं सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव,'
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तन कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीतपट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

एक जगह वर्षा की छटा तथा घटाओं और विपिन स्थली की शोभा देखकर मुग्ध हुए कृष्ण के बनोपवन में विचरण करने का अत्यन्त सरस वर्णन आया है; इस वर्णन में वर्षा ऋतु का सौंदर्य भी संक्षेप में किन्तु अत्यन्त सुन्दर रूप से दिखलाया गया है—

सुनि कै धुनि चातक मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागत राग अचूकनि सों।
कबि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

वर्षा के बाद शरद ऋतु का कवियों ने प्रायः वर्णन किया है जिसमें रस की चादरों का आकाश में ऊपर ही ऊपर उड़ना, पृथ्वी भर में स्वच्छता का छा जाना, निर्मल चन्द्रमा का आकाश में उदित होना, सरोवरो में मरालों का क्रीड़न, पुष्पों का प्रसन्न विकास, पौधों की उज्ज्वलता, दिशाओं का प्रकाशित रहना आदि वर्णित हुआ है तथा शुभ्र चाँदनी तो ऐसी लगती है जैसे आकाश के शुभ्र शिखर से गंगा सहस्र धार होकर पृथ्वी पर फैल गई हो—

सरद-जोन्हाई-जन्हुजाई धार सहस,
सु धाई सोभा सिंधु नभ सुभ्र गिरवर ते।
उमड़ो परत जोति मंडल अखंड,
सुधा मंडल मही मैं बिधु-मंडल बिबरते॥

प्रेम वर्णन (संयोग)—देव ने जीवन में प्रेम का, इसी लौकिक प्रेम का, असाधारण महत्व,बताया है। भौतिक जीवन में भी प्रेम करने से बड़ा सुख दूसरा नहीं। सभी सम्पदा हो किन्तु दाम्पत्य जीवन के अभाव में व्यर्थ है, दाम्पत्य जीवन हो

किन्तु प्रेम-प्रतीति न हो तो बेकार। प्रीति के लिए तरुण युगल हों और उनकी अमृतमय वाणी हो। इसी प्रकार काव्य में भी श्रेष्ठतम आनन्द शृंगार रस की कविता से ही मिलता है। ये सब बातें देव ने इस सवैये में बड़ी सुन्दरता से कही हैं—

> 'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति कौ सुख दंपति जोरी।
> दंपति दीपत, प्रेम-प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी॥
> प्रीति तहाँ गुन रीति बिचार, बिचार की बानी सुधा रस बोरी।
> बानी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी॥

इसी प्रकार देव उसी स्त्री को सच्ची स्त्री ठहराते हैं जिसकी आँखों पर प्रगाढ़ पति-प्रेम का परदा पड़ा हो, हृदय में पतिव्रत धर्म का सजग पहरुआ बैठा हुआ हो, जिसने कीर्ति की चादर ओढ़ रखी हो तथा जिसका हृदय इधर-उधर न भटकता हो चाहे पति कायर, क्रूर, कलंकी, कोढ़ी कुछ भी हो, कुल लाज और आँखों की लाज जिसने बना रक्खी हो—

> सेई बधू जिनके दृग द्वार परी परदा प्रिय-प्रेम की पोढ़ी।
> देव पतिव्रत पौरिया कै उर कीरति की सिर चादर ओढ़ी॥
> अंतर अंत रमै भरमै नहिं कायर कूर कलंकी कि कोढ़ी।
> ना खिन डोलि सकै कुल लाज से आँखिन में दिढ़ लाज की ड्योढ़ी।

यहाँ पर सिर्फ इतना ही कहने की आवश्यकता रह जाती है कि बहु स्त्री अनुरक्त नायकों का तो इन कवियों ने डटकर वर्णन किया है और पुरुष के एक पत्नीव्रत होने पर तो कोई बल नहीं दिया है पर स्त्री को धर्म, कुल, लोक, लाज आदि का बड़ा भारी पाठ पढ़ाया है। अच्छा होता यदि सच्चरित्रता की एक ही कसौटी स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए बनाई गई होती। एक जगह देव ने कहा है कि लाखों भाँति मैं अपने अन्तःकरण को टटोलता हूँ तो देखता हूँ कि उसमें एक ही अभिलाषा विद्यमान है और वह यह कि यह मन जिसके प्रति अनुरक्त हो उसके प्रति सर्वतोभावेन अनुरक्त हो, दूसरे की इच्छा का लेश भी मन में न रहे और वह प्रेम कभी छीजे नहीं, लाख-लाख विपदाओं को झेलकर भी अटल रहे, प्रेम में अभिमान न आवे और प्रेम के घर में हम अच्छी तरह गड़कर पहुँच जायँ! प्रेम सम्बन्धी इस आदर्श के विषय में मतभेद की गुञ्जाइश नहीं—

> पाँचन के आगे आंच लागे ते न लौट जाय,
> 　　साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं।
> प्रेम सों कहत कोऊ ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
> 　　बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम घर मैं॥

प्रेम का वर्णन करते हुए पूर्वराग भी कवि ने दिखाया है। 'जब ही ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी' वाले कवित्त में केवल गुण श्रवण से उत्पन्न असाधारण प्रीति का कथन हुआ है और नाना विध अनुभाव योजना द्वारा कृष्ण के हाथों उसकी बिकी हुई दशा का वर्णन किया गया है। पहले तो कृष्ण को कानों ने अपना बनाया फिर आँखें और हृदय उन्हें अपना बनाने को आकुल हैं, लज्जा उधर अलग अवरोध पैदा करती है, ऐसी मनस्थिति का आगे चलकर कवि ने वर्णन किया है। फिर कभी अचानक भेंट भी होती है और सुजान श्याम के समक्ष पहुँचकर भी तरुणी से उनकी ओर देखते नहीं बनता। लोभ और लज्जा की खींच-तान में बेचारी संकटग्रस्त हो जाती है—'लालच लाज चितौत लग्यौ; ललचाअत लोचन लाज लजौंहैं।' प्रेम में दीवानी प्रेमिका कभी साँवरे लाल के साँवरे रूप को कभी तो अपनी आँखों में अंजन लगाती है और कभी लाल की ओर देखकर उनके रूप की धारा में निराधार हो गिर पड़ती है और मधु में आसक्तिवश गिरकर जा फँसने वाली मधु की मक्खी-सी उसकी दशा हो जाती है। प्रिय का आकर्षण कुछ साधारण नहीं होता, प्रिय की मोहिनी छवि देखकर नायिका को अपनी सुध-बुध भूल जाती है। एक बार देखकर बार-बार उन्हें देखने की अभिलाषा जगती है, उनकी छवि का चषक पीकर बार-बार उसे पीने का अरमान लिए हुए गोपिका गोकुल में कहाँ-कहाँ उन्हें नहीं ढूँढ़ती और प्रिय से मिलन की अभिलाषा में भरकर इस प्रकार चीख उठती है —

मंद मुसक्याय लै समाय जी मैं ज्याय लै रे,
प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधों की हौं।
मेरे सुखदाई दै रे देव जू दिखाई नेकू,
ए रे ब्रजभूप तेरे रूप रस छाकी हौं॥

यहाँ पर प्रिय-संसर्ग की तड़प व्यक्त हुई है। लेकिन यह संयोग जब तक भावना के स्तर पर रहता है तभी तक, जब वास्तव में संयोग का अवसर आता है तब लज्जा आ घेरती है। एक तरफ दर्शन और मिलन की ललक है दूसरी तरफ लाज की दुर्निवार बाधा! कभी तो नायिका दरवाजे की आड़ से प्रिय को देखती है और कभी झरोखे से उन्हें जी भरकर देखने भी नहीं पाती। उनकी मधुर वाणी सुनते ही उसका हृदय अमृत वाणी की-सी शीतलता का अनुभव करता है लेकिन आँखों में जो लाज की घटा भरी हुई है वह उसे देखने भी नहीं देती —

मूरति जो मनमोहन की मन-मोहनी के थिरु ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखनि झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी॥

बहुत बड़ी बाधा के रूप में लज्जा आ खड़ी होती है, वह कहीं जा नहीं सकती, किसी को देख नहीं सकती । प्रिय एक नजर उसको देख क्या लेता है चवाइयाँ (चुगलखोरिनें) गाँव में शोर मचा देती हैं । नायिका में यौवन क्या आ गया जैसे पाप पीछे लग गया हो जिधर ही वह जाती है उधर ही उसे कलंक लगता है । उसके इस कथन में कितनी पीड़ा और मानसिक व्यथा भरी हुई है—

जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव रहैं गुरु लोग रिसौहैं ।
जौ मैं लजैये जु जैये कहूँ, तित पैगै कलंक चितैये जु सौहैं ।।

इसीलिए वह लज्जा को ही सम्बोधित करती हुई कहती है कि हे लज्जा ! तू मुझे मेरे प्राणप्रिय से मिलने नहीं देती, हे अकाजिन लज्जा ! तुझे लज्जा भी नहीं आती !

प्रान से प्रानपति सों निरंतर अंतर अंतर पारत हे री ।
देखन दै हरि को भरि नैन घरी किन एक सरीकिन मेरी ।

लज्जा परिवार के लोगों की भी होती है सिर्फ आँख की ही नहीं । एक बार क्या हुआ कि सखियों और गुरुजनों के बीच नायक ने नायिका का हँसी-हँसी में हाथ छू दिया, नायिका बेचारी नवोढ़ा ठहरी ! उसने रो-रो कर सारा घर अपने सिर पर उठा लिया —

सखी के सकोच गुरु सोच मृग लोचन,
रिसानी पिय सों; जु उन नेकु हँसि छुयो गात ।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहि
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात ।
को जानै री बीर बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात ।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो सों बिलानो जात ।।

लज्जा आदि का चाहे जितना भी और चाहे जिस प्रकार वर्णन किया गया हो प्रेम उस लाज की, कुल की या लोक की बाधा के कारण छीजता नहीं । परिवार के भरे-पुरे वातावरण के बीच भी उसका पालन होता है—सास को देखकर प्रेमिका अपनी हँसी छिपा लेती है, ननद को देखकर भय का अभिनय करती है, सौतों से ऐंठती है और जिठानी के प्रति आदर प्रदर्शित करती है; दासियों की उपेक्षा नहीं करती वरन् उनके प्रति सद्भाव रखती है और अपने प्रियतम से वह इस प्रकार अपना प्रेम बढ़ाती रहती है । धाय से वह विनय की बातें करना सीखती है और सखियों से सुहाग की रीति । कुल, लोक और लज्जा की परवाह आखिर वह कब तक करती रहेगी ।

इतनी लगन और प्रीति की परिणति प्रिय संयोग में क्यों न होती । प्रियतम से मिलन होता है और संयोग की स्वच्छन्द क्रीड़ाएं चलने लगती हैं घर में भी बाहर

भी। संयोग के आलिंगन के, स्पर्श के सुरति के अनेकानेक चित्र देव ने अंकित किये हैं। अनेक बार तो श्लीलता और शालीनता की सीमा को लाँघकर भी।

आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि,
जोगवर जघन सघन लरे लचि कै।
बार-बार देती बकसीसैं जेववारनि कौं
बारनि को बाँधै जे पिछारैं दुरे बचि कै।
उरुन थुकूल दै उरोजनि को फूल माल
ओठनि उठाये पान खाइ खाइपचि कै।
'देव' कहै आजु मनौ जीत्यौ है अनंगरिपु,
पी के रंग संगर सुरति-रंग रचि कै।

एक बार रंगभवन में दीपक का प्रकाश मन्द करके सखी दूल्हे को कहीं छिपा देती है और नायिका को जबरन उस प्रकोष्ठ में पहुँचा देती है, इसके बाद का चित्र देव के ही शब्दों में—

अंक भरि लीन्ही गहि अंचल को छोरु देव
जोरु कै जनावै नवयोवन के जोम सों।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि-लागि,
उठी मैन आगि पघिलान्यौ मन मोम सों॥

ऐसा ही एक चित्र वर्षा ऋतु में कुन्ज मिलन का भी देखिये—

आजु गई हुती कुंजनि लौं बरसैं उत बूँद घने-घन घोरत।
देव कहै हरि भीजत देखि अचानक आइ गए चित चोरत॥
पोटि भटू तट ओट कुटी कै लपेटि पटी सौं कटी पट छोरत।
चौगुनो रंग चढ्यौ चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत॥

छंद की अंतिम पंक्ति में गूढ़ार्थ निहित है। रतिक्रीड़ा आदि के कितने ही चित्र देव ने मुक्त भाव से अंकित किये हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि ये सारे चित्र किसी-न-किसी रसावयव, नायिका भेद आदि के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं। इस रीति-बद्धता से ही देव की समूची श्रृंगारी रचना बंधी मिलेगी। प्रणय संसर्ग के लिए जो आकुल रहती है वही कभी मानिनी बनने का भी सुयोग प्राप्त करती है, सखियाँ उसे यह कह कर मनाती हैं और प्रिय संयोग के लिए तत्पर करती हैं कि तुम्हारे बिना रंगभवन सूना लगता है, तू वहाँ चल कर अपनी सौत के मुख में कालिख पोत दे तथा 'पावस ने उठि कीजिये चैत, अमावस ते उठि कीजिये पूनो।' अभिसारिका के वर्णन में चाहे वह श्यामाभिसारिका हो चाहे शुक्लाभिसारिका वही परंपरागत बातें बार-बार कही गई हैं। कृष्णाभिसारिका अर्धरात्रि में घर के और पड़ोस के लोगों को

सोया जान कर धीरे से उठती है और छिप कर किवाड़ खोलती है और बाहर पग रखती है उस समय का वर्णन देखिये—

सूझत न गात बीति आई अधरात,
अरु सोए सब गुरजन जानि कै बगर के।
छिपि कै छबीली अभिसार को केवार खोले
खुलिगे खजाने चारु चन्दन अगर के।
देव कहै भौंर गुँजि आए कुंज कुंज नितै,
पूँछि-पूँछि पीछे परे पाहरु डगर के।
देवता कि दामिनी मसाल किधौं जोतिजाल,
झगरे मचत जागे सिगरे नगर के॥

कृष्ण पक्ष की अभिसारिका तो प्रिय मिलन के लिए अर्धरात्रि के सघन अंधकार में बाहर निकलती है किन्तु उसकी सुरभि और अंग दीप्ति से भ्रमर-समूह जुट आते हैं, प्रकाश फैल जाता है, सारे सोने वाले जग उठते हैं और शोर मच जाता है। उसका सौंदर्य उसके प्रिय मिलन में अभिशाप स्वरूप आ उपस्थित होता है। शुक्ल पक्ष में तो वह कुंदनवर्णी चंद्र चन्द्रिका की छवि और आभा को क्षीण कर देती है और जहाँ जाती है वहाँ के वातावरण को सुरभित बना देती है किन्तु यहाँ भी उसका प्रिय संसर्ग निरापद नहीं रहने पाता क्योंकि उसके सुगंधित लेपों, अंगबास और सुरभित निःश्वासों के कारण दूर-दूर के भ्रमर खिच-खिच कर रंगभवन में भर आते हैं—

सोंधे की सुबास अंग बास औ उसास बास,
आस पास बासि रह्यो सुखद समीर सों।
कुंज तजि गुंजत गभीर गिरि तीर-तीर,
रह्यौ रंग भौन भरि भौंरन की भीर सों॥

ऐसे वर्णन रीतिबद्ध और परंपराप्राप्त तो हैं ही आज अस्वाभाविक और उपहासास्पद भी प्रतीत होते हैं, हाँ ये एक युग विशेष की कल्पना सरणि का सूचन अवश्य करते हैं। खंडिता, उत्कंठिता आदि के वर्णन भी इसी प्रकार हैं। खंडिता के रोष की अभिव्यक्ति देखिये—

गात ते गिरत फूल पलटे दुकूल,
अनुराग अनुकूल भाग जाके बड़ भाग के।
अंजन अधर बीच नख-रेख लाल,
लालि जावक तिलक-भाल सघन सुहाग के।
भौंहैं अलसौंहैं पल सोहैं पगे पीक रस,
रगमगे नैन रैनि जागे लगे लाग के।
काहे को लजात जलजात से बदन,
मोहि महासुख देत आप देत पैंच पाग के॥

पीक भरी पलकैं झलकैं, अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की।
छाय रही छबि छैल की छाती मैं, छाप बनी कहूँ ओछे उरोज की।
ताहि चितौंति बड़ी आँखियान ते, ती की चितौनि चली अति ओज की।
बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मनौ खौंचि सनाल सरोज की।।

सहेट या संकेत स्थल पर प्रियतम के न आने से दुखित नायिका उत्कंठिता कहलाती है। श्याम के काम संदेशों को पाकर प्रेमिका सहेट स्थल पर पहुँची तो किन्तु वहाँ श्याम न मिले, वह एक क्षण के लिए दुःख से स्तब्ध रह जाती है, ईषत रोष भी जगता है और भीषण विषाद भी। पान की बीरी जो उसने दाँतों में थोड़ी दी ही थी ज्यों-की-त्यों कुछ काल के लिए रखी जाती है—'देव कछू रद बीरी दबी सी, सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।' बहुत दिनों के बाद प्रिय परदेस से लौट रहा है, इस बात की बधाइयों सहित सूचना पाते ही नायिका की मनोदशा जैसी कुछ हो जाती है उसका अत्यंत उल्लासमय और सटीक चित्रण अधोलिखित छंद में किया गया है—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है।
मोरि मोरि बदन निहारती बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी सी उघरती है।
देव कर जोरि-जोरि बन्द सुरन,
गुरु लोगन के लोरि लोरि पाँयन परति है।
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन को चौक,
निवछावर को छोरि-छोरि भूषन धरति है।।

इस प्रकार देव की समूची श्रृङ्गारी कविता रीति की छाप लिए हुए है। उससे नायक-नायिका, गोपी-कृष्ण, राधाकृष्ण आदि सभी का समावेश है। कहीं पर गोपी का, कृष्ण का राधा का नामोल्लेख सहित समावेश है कहीं पर बिना नामोल्लेख के ही। गोपीकृष्ण का जहाँ उल्लेख नहीं है वहाँ भी प्रेम वर्णन का सारा वातावरण वही है ब्रजभूमि का ही। साधारण नायक-नायिकाओं का शृंगार वर्णन पढ़ते हुए भी यही प्रतीत होता रहता है जैसे ये गोपीकृष्ण के ही प्रणय सम्बन्धों की चर्चा हो रही है तथा गोपीकृष्ण भी साधारण नायक-नायिका के स्तर पर ही प्रेम-व्यापार करते पाए जाते हैं। गोपीकृष्ण प्रेम-वर्णन करते हुए गोरसदान, रास आदि के प्रसंगों का भी विवरण आया है। दधिदान का एक चित्र इस प्रकार है—

ग्वालि गई इक झाँकी वहाँ,
मग रोकी सु तौ मिसु कै दधि दान कौ।

वा तौ भटू वह भेंटी भुजा भरि,
नातौ निकासि कछू पहिचान कौ।
आई निछावर कै मन मानिक,
गोरस दै रस लै अधरान कौ।
वाही दिना ते हिये में गड़ौ,
वह ढीठ बड़ौ री बड़ी अँखियान कौ ॥

रास प्रसंग के वर्णन में कृष्ण की मुरलिका के नाद पर गोपियाँ किस प्रकार अपना सब कुछ छोड़ कर—'चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँड़े उन, सुत छाँड़े अंक पति छाँड़े परजंक में'—कृष्ण की ओर दौड़ती है, वन-पथ की निर्जनता, मार्ग की पंकिलता या कंटकाकीर्णता आदि का वे विचार भी नहीं करतीं; वे मृदु-चरण गोपियाँ शीघ्रता में वस्त्र उलटे ही पहने चल देती हैं, आभूषण कहीं के कहीं डालती हैं इस प्रकार की उनकी मिलन की आतुरता है। रासक्रीड़ा के बीच कृष्ण जब-जब अंतर्धान हो जाते हैं गोपियाँ उन्हें कालिंदी तट पर, मल्लिका, मालती, नेवारी जूही की क्यारियों के बीच, आम्र-वकुल-कदम्बादि वृक्षों के समीप खोजती और ताली दे-देकर टेरती फिरती हैं, भावोन्माद में वे तमाल वृक्षों से भ्रमवश लिपट-लिपट जाती हैं। जिन गोपिकाओं को प्रेम-संयोग का इतना सारा सुख मिल चुकता है या मिलने की संभावना रहती है वे यदि भाव विभोर हो या प्रेम की लगन से भर कर इस प्रकार कह उठें तो आश्चर्य ही क्या ?

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन मैं,
लीन्हीं मैं अलीक लोक-लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीतपटवारी वाही मूरति पै वारी हौं ॥

यहाँ पर उसकी उद्विग्नतामयी प्रेम-निष्ठा अत्यंत जीवंत रूप में व्यक्त हुई है।

जिन छन्दों में राधा और कृष्ण के प्रेम का कथन हुआ है उनमें तो प्रेम की और भी प्रगाढ़ सरस एवं आह्लादकारिणी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। राधा और कृष्ण दोनों में ही एक दूसरे के लिए अपार आकर्षण दिखलाया गया है। दोनों एक दूसरे की आँखों में आँखें डाल कर एक दूसरे को देखते हैं मुस्कराते हैं हँसते हैं और एक दूसरे पर निछावर होते हैं—

लोयन लोयन लागे अनूप दुहूँ के दुहूँ रसरूप लुभै कै।
मंद हँसी अरबिन्द ज्यौं बिंद अँचै गये दीठि खुभै कै ।।

और इसके बाद—

दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई ।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका मैं,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई ।।

कृष्ण और राधा के प्रेम-व्यापार चलने लगते हैं। कृष्ण सबेरे ही सबेरे किसी दिन राधिका के भवन में पहुँचते हैं, वह अत्यन्त झीनी चादर ओढ़ कर सोती रहती है। अकस्मात आलस्य में उसकी एक बाँह खुल जाती है, उस स्वर्णवर्णी का कुन्दन वर्ण देख कर कृष्ण दिन भर बेचैन फिरते रहते हैं।

भोरहीं भोरहीं श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो ।
देव जू सोवत ही उत भावती झीनों महा झलकें पट तान्यो ।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छबि हेरि हरी अकुलान्यो ।
मीड़त हाथ फिरै उमड़ो सो, मड़ो ब्रज बीच फिरै मड़रान्यो ।।

राधिका एक दिन शरारत करती है। राजपौरिया का रूप बना कर वह कृष्ण के दरवाजे पर आती है और कहती है—हे कान्हा ! चल तुझे कंस बुला रहे हैं। किसके कहने से तुम दधिदान लेते हो। साथी-संगी तो भाग जाते हैं किन्तु डरे हुए से कान्हा पकड़ में आ जाते हैं लेकिन राधिका अपना कृत्रिम रूप सँभाल नहीं पाती। कृष्ण को भयभीत देख कर उसका छल छूट जाता है भौहों की कड़ाई समाप्त हो जाती है और उसकी लज्जायुक्त मुसकान उसके बनावटी वेश का भंडाफोड़ कर देती है—'छूटि गयो छल सो छबीली की बिलोकनि में, ढाली भईं भौहें वा लजीली मुसकान मैं।' इसी प्रकार के एक से एक उन्मादक प्रेम-प्रसंगों के बीच राधा का प्रेम पल्लवित होता है। कालांतर में यह प्रेम राधिका के हृदय में इस प्रकार उमड़ता है जिसका कोई हिसाब नहीं, उसे अपनी चेतना नहीं रहती, कृष्ण के प्रेम में जैसे बिक गई हो। गुरुजनों को जैसे किसी अनिष्ट की आशंका होने लगती है और राधिका है कि पागल बनी हुई है कृष्ण के प्रेम में ! ज्यों-ज्यों सखियाँ उसे सँभालती है चैतन्य दिलाना चाहती हैं वह बावली इस प्रकार की बातें बकती जाती है—'राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि काल्हि की बेनु बजाई मैं कैसो ?' इस प्रकार की प्रेममग्नता का श्रेष्ठतम उदाहरण देव का निम्नलिखित छंद है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै ।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै ।

राधे ह्वै जात तहीं छिन मैं वह प्रेम की पाती लै छाती लगावैं ।
आप मैं आपुन हीं उरझै-सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै ॥

प्रेम योग के अन्तर्गत भावना की यह परमोच्च स्थिति है जहाँ प्रेमी और प्रिय एक हो जाते हैं । ऐसे भावयोग की दशा का वर्णन विद्यापति, सूरदास आदि पहले कर चुके हैं तथा 'प्रिय के ध्यान गही-गही रही वही है नारि' वाले दोहे में बिहारी ने भी इसी भाव-दशा को व्यक्त किया है ।

प्रेम-वर्णन (वियोग)— वियोग-दशा के वर्णन में ही प्रेमी चित्त की दशा का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष हो पाता है । मिलन दशा के चित्रण में नहीं हो पातीं । पति को परदेस जाने से कौन ऐसी प्रिया होगी जो न रोके ? रीतिबद्ध कवि देव की एक नायिका प्रियतम को रोकने के अनोखे ठाठ उठाती है । वह अपनी अभिनव तथा विचित्र रूप और वेशसज्जा द्वारा वसंत ऋतु को वर्षा ऋतु में परिणत करने के लिए कृत संकल्प है जिससे प्रिय अपना विदेश जाना स्थगित कर दे—

नील पट तन पै घटान सी घुमाय राखौं,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हौं ।
हीरन की किरनैं लगाइ राखौं जुगुनू सी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों ढरति हौं ।
कीच अँसुवन की मचाउँ कवि 'देव' कहै,
पीतम विदेश को सिधारिबो हरति हौं ।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु,
रहु रे बसन्त तोहि पावस करति हौं ॥

यह सारी कल्पना हास्यास्पद सी कही जा सकती है परन्तु एक प्रेमिका के चित्र की ऐसी भी तरंग हो सकती है कलात्मक और साहित्यिक बस इसी का इसमें वैशिष्ट्य है । विरह होता है और उस समय प्रिय नहीं उसकी याद विरहिणी का साथ देती है । याद और बेसुधी यही उसका जीवन हो जाता है, वह प्रेम का नशा पीकर मतवाली बनी हुई है—

'प्यालो भरि दै री मेरी सुरति-कलारी, तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है ।'

प्रिय के ध्यान में व्यस्त-व्यग्र नायिका की जो अकथ व्यथा दशा है उसकी अनुभाव योजनामूलक यह विवृत्ति देखिये --

वैरागिनि कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
देव बड़ भागिनी लजाति औ लरति क्यों ।
सोवति जगति अरसति हरखाति,
अनखाति बिलखाति दुःख मानति डरति क्यों ।

चौंकति चकति उचकति औ बकति,
बिथकति औ थकति ध्यान धीरज धरत क्यों ।
मोहति मुरति सतराति इतराति,
साइचरज सराहि आइचरज मरति क्यों ।।

विरहिणी नाना प्रकार से आत्मदशा निवेदन करती है—हे प्रिय ! तुम मेरे हृदय में बसते हो फिर भी मेरी पुकार पर दया नहीं करते ? मेरे तन-मन में और कौन है जो सदा समाया हुआ है ? मैं ऊँचे चढ़-चढ़ कर रोती हूँ और तुम्हें लेश मात्र भी करुणा नहीं आती । हे निरमोही गात की आड़ में बैठकर सुनते नहीं, मेरे अन्दर बसते हुए भी मुझे ही तरसा और तड़पा रहे हो, क्या यह तुम्हारे लिए लज्जा की बात नहीं—

ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत अरु,
मोही तें निकरि फेरि मोही न मिलत हौ ।

नायिका प्रिय की सतत प्रतीक्षा में है और निष्ठुर प्रिय है कि लौटता ही नहीं । वसंत की ऋतु है, अपने संपूर्ण विकास में वनस्पतियाँ लहरा रही हैं, कुंजों में हरियाली और सुरभि की बहार है, भ्रमरों का गुंजन चल रहा है, नदनीरों के तट पर वृक्षों की सघन छाया में शीतलता का अखण्ड साम्राज्य है पिकी के शोर से सारा प्रकृति देश गूंज उठा है किन्तु भोली किशोरिका का मुँह कुम्हलाया हुआ है—

ऐसे में किसोरी भोरी फोरी कुम्हिलाने मुख,
पङ्कज से पाँय धरा धीरज सौं धरि जात ।
सोहैं घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जाति ।।

वसंत की मादक ऋतु में विरहिणी की प्रिय संबंधिनी व्यग्रता का निदर्शन पर्याप्त स्वाभाविक और चित्रात्मक है । भारी प्रतीक्षा के बाद भी प्रिय नहीं आता—विरहिणी की अश्रुवर्षा रुकने का नाम नहीं लेती, पान, पान, भोजन, स्वजन, गुरुजन किसी का उसे ध्यान नहीं, जाने कौन-सा पाप उस वियोगिनी के पीछे लग गया है कि एक पल के लिए भी उसे चैन नहीं, वह सोचती है इस समय तो मेरा चैतन्य ही मुझे मारे डाल रहा है, यदि मैं अज्ञान अथवा जड़ होती तो कम से कम ऐसी व्यथा तो न व्यापती—

होतो जो अजान तौ न जानतो इतीक विथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो ।।

विरह में वह अपने दिन किस प्रकार व्यतीत करती है इसे उसके सिवा और कोई नहीं जानता । प्रिय का स्मरण, रूप-ध्यान, उसके लिये रोना, उसी के गुण गाना आदि कामों में यदि वह व्यस्त न होती तो आज वह विरह के इस दुर्भर काल में जीवित न रहती—

आँसुन के सलिल सिरावती न छाती जो,
उसास लागि कामागि भसम होतो ही ततो।
कोकिला के टेरत निकरि जातो जीव,
जो तिहारे गुन गनत उधेरत न बीततो ॥

विरहिणी किस कदर रोते-रोते रात-दिन एक किये दे रही है इसकी तो चर्चा ही मत कीजिये उसके दोनों नैन सावन-भादों बने हुए हैं। एक जगह कवि ने उसकी अश्रु-वर्षा पर सहृदयतापूर्वक कोई बात कहने के बजाय एक सूझभरी उक्ति इस प्रकार की है—हे कृष्ण तुम्हारा रूप जो उसने आँखों से अपरिमित परिमाण में पी रक्खा है वही अब आधिक्यवश गिरा पड़ रहा है—'रावरो रूप पियो अँखियान भरयो सु भरयो उबरयो सुढरयो परै।' जो रूप उसकी आँखों द्वारा पीकर पचाया जा सका वह तो भीतर ही रहा और जो अधिक हो गया, पच न सका वह बाहर ढला पड़ रहा है। इस उक्ति में सहृदयता की जगह सूझ का ही वैशिष्ट्य माना जा सकेगा। अतिशय विरह की स्थिति राधिका के अन्दर आत्म-दैन्य के साथ-साथ स्वकर्मों पर पश्चात्ताप व्यक्त करने को बाध्य कर रही है—

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ किते अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिये मैं।
आपने ओछे हिये मैं दुराइ दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं॥

स्मृति, स्वकीय अपराधों पर आत्मग्लानि और अपना दुर्भाग्य, इन सब बातों को इस छंद में मार्मिकता के साथ कहा गया है। नायिका या प्रेमिका की विरहजन्य कृशता का वर्णन परंपरागत काव्य की ऊहात्मक या अतिशयोक्तिमूलक पद्धति पर चल कर किया गया है। यहाँ भी चमत्कृति का ही विशेष प्राधान्य गोचर होता है जब कवि कहता है कि प्रवासो लाल के वियोग की अग्नि में जलकर बाला सूख गई है; भोजन-पान, प्रेम-चर्चा सब कुछ छूट गई है तथा प्रियागम की अवधि भी व्यतीत हुई जा रही है—

देव जू आजु हौं ऐबे की औधि सुबीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

इसी प्रकार वियोग के दुख में नायिका इस प्रकार सूख गई है कि सेज पर वह पड़ी हुई है ऐसा नहीं जान पड़ता। कृशता इतनी अधिक है कि प्रतीत होता है जैसे मनोज रँगरेज ने सेज पर एक सुन्दर सी सोने की बेल बना दी हो—

सो दुख दूखि परी तन सूखि मरै कि जियै सु परै न जनाई।
सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज सलोनी सी सोने की बेलि बनाई॥

दीर्घ कालक्षेप के अनंतर अपनी प्रेम-वियोगिनी के पास श्रीकृष्ण स्वयं तो नहीं आते

हाँ एकाध पत्र अवश्य भेजे देते हैं। उसे पाकर उसके हृदय में भावों का जो ज्वार उठता है उसकी सुन्दर विवृत्ति देव कर सके हैं, उस भावावेग में विरहिणी बह जाती है, संज्ञासून्य हो जाती है—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सु न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जम्बु रस बुन्द जमुना जल तरंग मैं।
यौं ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यौ माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग मैं॥

पत्र आवे पर प्रिय न आवे, उसके आने की अवधि बढ़ती ही जाय तो जीव किसके सहारे जिये; कभी-कभी स्वप्न भी होता है जिसमें प्रिय मिलता है, यह स्वप्न संयोग क्या कुछ सुख दे पाता है ? नहीं, इससे तो दुःख ही द्विगुणित होता है। जो हो, ये स्वप्न-संयोग-चित्र हैं बहुत मधुर—

हौं सपने गई देखन को कहूँ नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै मेरोई खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ बगाइ उठी कहि देवबधूनि मथ्यौ दधि को घट।
जागि परीं तो न कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुंज न कालिंदी को तट॥

इसी प्रकार एक बार और गोपिका स्वप्न देखती है कि वर्षा की ऋतु है और श्याम उसके पास आकर झूला झूलने के लिए चलने का प्रस्ताव करते हैं, जीवन का समस्त माधुर्य जैसे उस क्षण उसके चरणों पर लोटने लगता है किन्तु उसके ऐसे भाग्य कहाँ कि वह उस राशिभूत सुख का लेश भी भोग कर सके—

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मों सों चलौ झूलिबै कौं आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँख खोलि देखौं तौ न घन है न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं॥

वियोगिनी अपने इस अतिशय व्यथामय जीवन के लिए कभी खुद को धिक्कारती है, कभी प्रिय से प्रार्थना करती है, कभी उन तक अपनी दशा का संदेशा भिजवाती है।

अपने मन को संबोधित करते हुए वह कहती है कि हे मन ! तेरा कहना मान कर इस जीव या प्राण को हमने इतना दग्ध किया है पर तूने इसकी सँभाल न की। तेरे कहने से ही प्रिय को देख लेने के बाद पलकों ने लगना बन्द कर दिया; उनकी बेचैनी का भी तूने कोई इलाज न किया। ऐसे निरमोही से तेरे ही कहने से स्नेह के बँधन में बधी किन्तु उसने विपत्ति के समुद्र में हमें बेसहारा छोड़ दिया—हे मन ! तूने इस प्रकार हमें असंख्य दुख दिये हैं अब तेरे ऐसे कुकृत्य के लिए मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकती—

ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें अब,
ए केवार दै कै तोहिं मूँदि मारौं एक बार।

देव को उक्त पंक्ति को हमें उन्हीं को इस उक्ति की याद दिलाती है—

भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बाँधि
राधा बर बिरद के बारिधि में बोरतो।

पद्माकर ने देव की ही देखादेखी यह उक्ति की होगी—

एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा की कछार मैं पछारि छार करिहौं।।

कभी उसकी दशा का विवरण कोई सखी जाकर श्रीकृष्ण को देती है कि वह विरह-जर्जर हो अस्थि-पंजर मात्र हो गई है, मनोज उसे व्यथित किये दे रहा है, वस्त्रादिकों की सँभाल अब वह नहीं कर पाती। आँसुओं का प्रवाह और निःश्वासों की दीर्घता उसे क्षण-क्षण खाए डालते हैं और क्षीण किये देते हैं, उसकी आँहें थम नहीं रहीं और हे कृष्ण तुम ऐसे निर्दय हो कि तुम्हें किसी की पीड़ा ही नहीं व्यापती —

'देव' घरी पल जाति लुटी अँसुवानि के नीर उसास-समीरन।
आइन जाति अहीर अहै तुमैं कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न।।

वह स्वयं अपनी दशा का निवेदन और पिय की कृपा की याचना इन शब्दों में करती है—

बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हूँ जागैं,
भौंहैं धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक-माल लाल डोरे सेली पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये सँयोगिनि ये,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिन की अँखियां।।

और भी तरह-तरह से देखने विरहिणी की तीव्र वेदना का, तड़प का चित्रण किया

है। उसके तड़पने का अधोलिखित चित्रण अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है। इस हृदयग्राहिता में शब्दावली का योग ध्यान देने योग्य है—

बालम विरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठैं ज्यौं ज्यौं बरसै बरफराति।
बीजन डुलावत सखीजन सो सीत हू मैं,
सौतिन-सराय तन-तापनि तरफराति।
'देव' कहै सांसनि सों अँसुवा सुखात,
मुख निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौट खटपाटी लै लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति॥

इस प्रकार देव का विरह-वर्णन एक अंश में ऊहात्मक और चमत्कार प्रधान होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक बन पड़ा है। अनेक उक्तियाँ चमत्कारपूर्ण होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक और व्यंजक हैं उदाहरण के लिए—

'देव' जू देखिये दौरि दसा ब्रज पौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भई हिमरासि घरीक मैं धाम सों जाति घुरी है।

अथवा

साँसन ही सों समीर गयौ अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
'देव' जिये मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यौ भरि।
जा दिन से मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

इन पंक्तियों में विरहिणी की अंतिम कामदशा मूर्च्छा या मरण का निदर्शन हुआ है।

भक्ति, वैराग्य एवं तत्त्व-चिन्तन—देव कवि की कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जो स्पष्ट ही श्रृंगार-भावना से मुक्त हैं तथा जिन्हें रस-दृष्टि से हम शांत रस के अंतर्गत रख सकते हैं। दीर्घ जीवन काल के उत्तरार्ध में कवि ने भक्ति, वैराग्य और आध्यात्मिक आशयों को भी काव्यबद्ध करना आवश्यक समझा जिसके परिणाम-स्वरूप देव चरित्र, देव माया प्रपंच नाटक, देव शतक ऐसी रचनाएँ सामने आती हैं। इनके भी पहले देव सं० १७५५ में शिवस्तुतिपरक एक साधारण रचना शिवाष्टक लिख चुके थे जिसमें ८ छन्द हैं। देवचरित्र की रचना कवि ने लगभग ७० वर्ष की अवस्था में सं० १८०० के लगभग की। इसमें लगभग १५० छंद हैं जिनमें श्री कृष्ण-जन्म, ब्रज-सौभाग्य, बकी और तृणावर्त वध, छठी, नामकरण, कृष्ण का शिशु-रूप, माखनचोरी, वृन्दावन गमन, बकासुर, कालबन, कालिया और प्रलंब नामक असुरों का विनाश, चीरहरण, गोबर्धन लीला, रास लीला, अक्रूर का आगमन, कृष्ण का मथुरा प्रस्थान, कृष्ण द्वारा रजक का दण्डित होना, कुब्जा का

उद्धार, कंसवध, कृष्ण का द्वारिका प्रस्थान, रुक्मिणी स्वयम्बर, सत्याभामा, सोलह हजार रानियों को भौमासुर की अधीनता से मुक्ति तथा उनको अपने महल की रानी बनाना, प्रद्युम्न जन्म, पांडवों की सहायता आदि प्रसंगों का वर्णन है तथा कृष्ण माहात्म्य के कथन एवं उनकी-स्तुति गान से ग्रंथ की समाप्ति होती है। आश्चर्य है कि कृष्ण के जीवनव्यापी इस वृत्त कथन प्रधान काव्य को डा० नगेन्द्र ने खंड काव्य कह दिया है। देवमाया प्रपंच एक पद्यबद्ध नाटक है जिसकी शैली का आधार संस्कृत का प्रबोध चन्द्रोदय बताया जाता है। कथा इस प्रकार है—परम पुरुष नामक व्यक्ति की दो स्त्रियाँ हैं प्रकृति और माया जिनसे क्रमशः बुद्धि और मन नामक संततियाँ होती हैं। मन माया के वशीभूत हो अपने पिता (परम पुरुष) विमाता (प्रकृति) और बहन (बुद्धि) तीनों से विद्रोह कर बैठता है जिसके परिणामस्वरूप परम पुरुष बन्दी बना लिये जाते हैं और बुद्धि भाग जाती है। बुद्धि भटकते-भटकते सत्संगति से मिलती है। इसके बाद धर्म और अधर्म के उभय पक्षों में युद्ध होने लगता है। उधर तर्क की सलाह से मन माया के फंदे से मुक्त हो जाता है और अपने पिता से मिल कर क्षमा याचना करता है। अधर्म की पराजय होती है, परम पुरुष माया के बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार अंत में प्रकृति, मन और बुद्धि सभी का परम पुरुष से आनन्ददायक मिलन होता है। इस प्रतीक पद्धति पर रीतियुग में कई प्रबन्ध लिखे गए थे। केशव विज्ञान गीता पहले ही लिख चुके थे तथा आधुनिक युग में प्रसाद की कामायनी और पन्त के लोकायतन में अपनाई गई प्रतीक शैली को कोई सर्वथा नई शैली नहीं कहा जा सकता। मूल्यवान अभिप्रायों से पूर्ण यह एक अच्छा रूपक है। देवशतक चार पचीसियों का संग्रह है—जगद्दर्शन पचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्वदर्शन पचीसी और प्रेम पचीसी जिनमें क्रमशः संसार की असारता, जीव की भ्रमित स्थिति तथा उसकी भर्त्सना और ब्रह्म तत्व का निरूपण किया गया है। प्रेम पचीसी में ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताया गया है जो प्रेम ही है, प्रेम ही जीवन का सारभूत साधन है जिससे परमसत्ता की प्राप्ति संभव है। भक्ति, वैराग्य और तत्वचिंतन प्रधान इन रचनाओं में पर्याप्त अनुभूति प्रवणता और गभीरता है।

ये रचनाएँ जीवन के अनुभवों से ओत-प्रोत हैं और कवि के वार्धक्य में लिखी गई होंगी। ऐसी अनुभूतिगर्भित उक्तियों के मूल में जरूर ही लौकिक आसक्तियों से उत्पन्न अतृप्ति और अशांति रही होगी। देव कवि आजीवन धन-वैभव और सुखद आश्रय की तलाश में भटकते रहे, लौकिक आश्रयदाताओं की मृगमरीचिका उन्हें बहुत काल तक छलती रही और विषय-वासनाओं ने मन को बेतरह लोभी, चंचल और विषयासक्त बना रक्खा था—

> हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
> हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥

दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी ।
पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी ॥

विषयों की प्यास बुझती नहीं कितना भी उसे बुझाया जाय वह और भी तीव्र होती चली जाती है । यही हाल देव का था । कोई भी राज्याश्रय इन सांसारिक आकांक्षाओं की अभिलषित परिमाण में पूर्ति न कर सका बस इसी कारण कवि ने तरुणी के रूप पर मुग्ध हुए चित्त को ईश्वर के चरण-कमलों पर समर्पित कर दिया होगा । कवि के मनोजगत के इस सत्य का आभास देने वाली बहुतेरी पंक्तियाँ मिलती हैं—

बोजु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहे नरिंद के ।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द से पाँयन पूजि गुविंद के ॥

भोगैष्णाओं में आतिशयिक प्रवृत्ति पर उनका पश्चात्ताप इस प्रसिद्ध छन्द में व्यक्त हुआ है—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हांथ पाँव तेरे तोरतो ।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो ।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बाँधि,
राधाबर बिरद के बारिधि में बोरतो ॥

यह हम बार-बार कह चुके हैं कि रीति कवियों में भक्ति-भावना-विषयक संकीर्णता अपवादस्वरूप ही मिलेगी । देव ने शिव-स्तुति-सम्बन्धी शिवाष्टक भी लिखा और कृष्ण-भक्ति के छन्द भी कहे । मन उनका कृष्ण-भक्ति में विशेष रमता था ऐसा प्रतीत होता है । जिस राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण के प्रेम-सम्बन्धों का विशद वर्णन उन्होंने किया उसे प्रेम के दैवत पर उन्होंने अपनी भक्ति भी निछावर की । कृष्ण के जन्मोत्सव, स्वरूप-सौंदर्य और लीलाओं की मनोहारिता का वे बड़ी मग्नता से गायन करते पाये जाते हैं—

(क) सूनो के परम पदु, ऊनौ के अनंत मदु,
दूनौ कै नदीस-नदु इन्दिरा फुरै परी ।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज बीथिन बिथुरै परी ।
भादौं की अँधेरी अधराति मथुरा के पथ,
आई मनोरथ 'देव' देवकी दुरै परी ।

पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरे एक बारक कुरे परी ॥

(ख) पायनि नूपुर मन्जु बजै कटि किंकिनि के धुन की मधुराई ।
साँवरे अंग लसैं पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई ।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मन्द हँसी मुखचंद जुन्हाई ।
जै जगमंदिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥

कृष्ण की भक्तवत्सलता के विविध दृष्टान्तों का भी कवि स्मरण करता है — ब्रज की गलियों में दौड़ना, नन्द की गोद में खेलना, गोपियों की भीड़ में नाचना, अर्जुन का रथ हाँकना, हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण करना, गज को ग्राह के मुँह से छुडाना, बिदुर की भाजी, भिल्लनी के बेर और सुदामा के चावल खाना आदि । भक्त भगवान के ऐसे कर्मों का स्मरण कर बहुत बल का अनुभव करता है । श्री कृष्ण के साथ-साथ श्री राधा जी की भी स्तुति देव ने की है —

(क) श्री राधे ब्रजदेवि जै सुन्दर नन्द किसोर ।
दुरित हरो चित के चितै नैसुक दै दृग कोर ॥

(ख) दूजो नहिं देव 'देव' पूजौं राधिका के पद
पलक न लाऊँ धरि लाऊँ पलकनि पै ॥

भक्ति की सच्ची लहर विराग से ही प्रेरित हुआ करती है । स्वार्थों के लिए की जाने वाली भक्ति भक्ति नहीं । वह तो सांसारिकता का ही पल्लवन है । देव में समय-समय पर वैराग्य का भाव जागृत हुआ था और उसकी तीव्र अभिव्यक्ति उन्होंने बार-बार की है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं । सांसारिक विषयैष्णाओं की तीव्र प्रतिक्रिया-स्वरूप उनकी कविता में वैराग्य और भक्तिसंबंधी भाव आए हैं । ग्रंथों के मंगलाचरण आदि के रूप में कृष्ण राधा, यशोदा, नन्द या देवी-देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के जो छन्द हैं वे तो परंपरा पालन मात्र हैं ।

देव के काव्य में दार्शनिक विचारों की भी प्रचुरता मिलती है । ये दार्शनिक विचार हमारे चिर परिचित और परम्परागत ही हैं परन्तु काव्य के आवरण में वे सरसता के साथ-साथ अपना अलग प्रभाव लेकर आए हैं । देव कहते हैं कि संसार का यह सारा प्रसार माया का ही जाल है चौदहों लोक उसी माया के शिकार हैं । इस सृष्टि में दृश्यमान जो कुछ भी सुख और ऐश्वर्य है, सौंदर्य और गौरव है, महत्ता और प्रतिष्ठा है वह सब माया का ही पचडा है और जो कुछ मायामय है वह सभी नश्वर है और इसीलिए त्याज्य भी । धन-वैभव, स्त्री-पुत्र सभी संसार से बाँधने वाले उपकरण हैं । ये एक से एक शक्तिशाली साधन हैं मन को वशीभूत करने के परन्तु इनके वशी-भूत होकर अभिमान से उद्धत होकर संसार में कभी कोई बड़ा नहीं हुआ । एक मात्र

सत्कर्म, औदार्य, निष्कपटता, दया, निरभिमान आदि गुणों से ही कोई इस संसार सागर से तर सकता है—

जगत प्रबाह पथ अकथ अथाह देव,
दया के निबाह कहूं कोई तरि जातु है।
केते अभिमानी भए पानी के बबूला, कोई।
बानी बोजु धरम धरा पै धरि जातु है।।

इस माया-मोह की दुनियाँ में, इस व्यावसायिक सृष्टि में जो खरा दाम देकर पक्का माल (गुरु उपदेश) नहीं खरीदेगा उसका उद्धार ही नहीं हो सकता, मनुष्य-जन्म बार-बार मिलने वाला नहीं इसलिए अपनी आकबत इसी जन्म में बना लेने के सिवा हमारे पास दूसरा चारा नहीं है। इस व्यावसायिक जगत के लिए देव का यह संदेश पर्याप्त मूल्यवान है—

आवत आयु को द्यौस अथौत गए रबि यों अंधियारिए ऐहै।
दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।
देव छितीस की छाप बिना, जमराज जगाती महादुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैठ, अरे बनियै बनियै नहिं रैहै।।

इस नश्वर संसार की ओर कवि ने बार-बार इशारा किया है और कहा है कि बड़े से बड़े वीर और प्रतापी पुरुष इस संसार में आ-आकर चले गए, रूप-गुण-शक्ति-संपदा कुछ भी टिकाऊ नहीं—

देव अदेव बली बलहीन चले गए मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने।।

फिर तुच्छ मनुष्य किस बात का अभिमान कर सकता है? उसका तो अपना ही तन अत्यन्त दुर्बल, रोगग्रस्त और नश्वर है। विनाश के ज्वालामुखी पर तो वह खुद बैठा हुआ है—

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने।
काँख मैं बाँधि कै पाँख पतंग के देव सुसंग पतग को लीने।
मोम के मन्दिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने।।

ऐसे नश्वर संसार में कौन किसका साथ देता है, धन-वैभव, साथी-संगी, मित्र-कलत्र सब साथ छोड़ देता है, हमें सिर्फ अपना और अपने कर्मों का ही सहारा रह जाता है—

काम परयो दुलही अरु दूलह चाकर यार ते द्वार ही छूटे।
माया के बाजने बाजि गए परभात ही भातखवा उठि बूटे।
आतसबाजी गई छिन में छुटि, देखि अजौं उठि कै अंख फूटे।।
देव दिखैयन दाग बने रहे बाग बने ते बरोठेई लूटे।।

ऐसे असार और नश्वर संसार में हमें एकमात्र अपना ही भरोसा रह जाता है। गुरु के उपदेशों को श्रमपूर्वक सार्थक करने वाला जीवधारी ही संसार में अमर होता है, उसी की यशःकाया दिक्-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई जीवित रहती है—'सबद रसायनि के अरथ उपायनि, अमर तरु कायनि अमर करि जातु है।' यश की यह अमर काया किस प्रकार बन सकती है? देव का कहना है कि इसे सत्कर्मों से, सदाचारों से, उच्चाशयी होकर निर्मित किया जा सकता है। जीवन को तपाना पड़ता है, ठीक रास्ते पर ले चलना पड़ता है, वृत्तियों का परिष्कार करना पड़ता है तभी अमरता प्राप्त होती है। गुरु का उपदेश मन में जब तक दृढ़ नहीं होता, विवेक का प्रयोग जब तक नहीं किया जाता, मानव मात्र के प्रति प्रेम जब तक जागृत नहीं होता, क्षमा, दया आदि भावों का व्यापक रूप से आविर्भाव नहीं होता तब तक जीवन अकारथ ही जाता है और मूर्ख मनुष्य अज्ञानवश अपने जीवन को व्यर्थ ही गँवाता रहता है—

> गुरुजन जामन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
> मथ्यो न विवेक रई देव जो बनायगो।
> माखन मुकुति कहाँ छाँड्यो न भुगुति जहाँ,
> नेह बिनु सिगरे सवाद खेह नायगो।
> बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
> तच्यो कोप-आँच पच्यो मदन सिरायगो।
> पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
> दूध सो जनम बिन जाने उफनायगो॥

इस सांसारिकता के नाश का एकमात्र मार्ग है सद्बुद्धि का उदय, आत्मज्ञान और ईश्वर-प्रेम। देव का विश्वास सद्वृत्तियों के विकास में था, धर्म का आडम्बर प्रधान रूप उन्हें न इष्ट था और न प्रिय। वे उसकी अनेक बार कुत्सा करते पाये जाते हैं बहुत कुछ आधुनिक बुद्धिवादियों की तरह या कबीर की तरह। व्रतोपवास का आत्म-पीड़ाकारी मार्ग उन्हें ठीक नहीं लगता था और न ढोंगियों के झूठे प्रचार। इनकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना की है—

> (क) मूढ़ कहैं मरि कै फिरि पाइये ह्याँ जु लुटाइये भौन भरे को।
> तै खल खोइ खिस्यात खरे अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को।
> जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुररूख हरे को।
> ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सराध मरे को॥
> (ख) पापु न पुन्य न नर्क न स्वर्ग मरो सुमरो फिरि कौने बुलायो।
> गूढ़ ही बेद पुरानिनि बाँचि लबारनि लोग भले भुरकायो॥

(ग) जो कुछ पुन्य अरन्य जलस्थल तीरथखेत निकेत कहावै।
पूजन जाजन औ जपदान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और कितै व्रत नेम उपास अरंभु कै देव को दंभु दिखावै।
हैं भिगरे सरपंच के नाच जु पै मन मैं सुचि साँच न आवै॥

मन में सत्य प्रतिष्ठित हो जाय यही सबसे बड़ा पुण्य है, सबसे बड़ा धर्म है, इसी से अभीष्ट-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो चलता है। मन में सत्य की प्रतिष्ठा हो और प्रेम-प्रतीति हो बस फिर सारे जग-जाल और भवभ्रम छूट जाते हैं। ईश्वर धार्मिकता के शत-शत दिखावटी कार्य व्यापारों में कहाँ है, वह तो सर्वत्र व्याप्त है और प्रीति-प्रतीति से ही प्राप्य है—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं, न पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं।
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न,
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मैं।
पैठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दण्ड मैं न, देव देहरे की भीति मैं।
आप ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यौ,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं॥

ईश्वर प्रेम में जब भक्त रम जाता है और प्रेम रस की जब वर्षा होने लगती है तब मनुष्य की सारी सांसारिकता बह जाती है, वह दिव्य और ईश्वरीय हो जाता है—

देव घनस्याम-रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम-पूर नहि सोह परयौ।
विषै बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहंकार मीत मरि, मुरझि मही परयौ।
आसा त्रिसना सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया मेहरी पै देहरी पै नहिं रहि परयौ।
गयौ नहि हेरो, लयो बन में बसेरो, नेह,
नदी के किनारे मन-मंदिर ढहि परयौ॥

उसे सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देता है, कण-कण में वह एक ही सत्ता के दर्शन करता है—

मिलि गयौ मूल-थूल, सूच्छम समूल कुन,
पंचभूत गन अनुकन मैं कियौ निकेत।
आप ही ते आप ही सुमति सिखराई 'देव'
नख सिख राई में सुमेरु दिखराई देत॥

मनुष्य प्रीति-प्रतीति से पवित्र हो आत्मज्ञ हो उठता है, स्वयं प्रकाश हो जाता है। जगत का सत्य उसे गोचर होने लगता है। सर्वत्र वह ईश्वरीय सत्ता की ही प्रतीति करने लगता है।

मूलतः शृंगारी कवि होते हुए भी अपनी ढलती आयु में देव ने जो भक्ति, वैराग्य और तत्वज्ञान की बातें लिखीं उनकी प्रेरणा जीवनानुभव भी रही होगी। प्रकृत्या वे भक्ति के कवि न थे पर संसार की लोभ-लिप्साओं, भोगैष्णाओं में लिप्त रह कर, भोगवासनामय जीवन का अनुभव प्राप्त कर यदि उनमें संसार से विरक्ति और ईश्वर-भक्ति का भाव जागृत हुआ हो तो इसमें अनौचित्य ही क्या। संसार की असारता, उससे विरक्ति, जीव की नश्वरता, एक मात्र सत्य ईश्वर के प्रति रुझान आदि बातें तो ऐसी हैं जो प्रत्येक भारतीय के मन में संस्कार रूप से ही विद्यमान पाई जाती हैं, देव तो फिर भी अत्यन्त सजग प्राणी थे। वे दर्शन आदि विषयों का पर्याप्त ज्ञान रखते थे इसका प्रमाण 'देवमाया प्रपंच' पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कुछ अनुभूति की प्रेरणा से, कुछ बौद्धिक प्रेरणा से, कुछ तत्वज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन से और कुछ परम्परागत रूप में देव भक्ति, वैराग्य और दर्शनप्रधान कृतियों के प्रणयन में दत्तचित्त हुए।

देव ने लिखा है कि यह संसार माया का प्रसार है, सृष्टि में जो कुछ भी दृश्यमान है वह सभी माया के प्रभाव में है। मनुष्य जानकर भी माया की दासता से मुक्त नहीं हो पाता। संसार की नश्वरता और क्षणिकता देखते हुए भी वह बलात माया का शिकार बन जाता है और विषयों की ओर उन्मुख होता रहता है। उसके मन की आशाकांक्षाएं पूरी भी नहीं होने पातीं कि यह नश्वर जीव काल का ग्रास हो जाता है—

मन की मिटी न तौ लौं आप ही मिटि रह्यौ।

ऐसे मूर्ख प्राणी को कवि चेतावनी देता है, कहता है कि हे मनुष्य तूने खुद ही अपने आपको इस मकड़ी के जाले (माया) में फँसा रक्खा है। तू यह क्यों भूलता है कि तू ही सृष्टि का केन्द्र है और विधाता की विलक्षण और श्रेष्ठतम सृष्टि। तेरे अन्दर अशेष सामर्थ्य है फिर भी तू दीन होकर इन्द्रियों की दासता में क्यों पड़ा हुआ है। जरा उठ! और अपनी आँखों से अज्ञान का परदा हटा दे। कपट के दरवाजे खोलकर अपने ही अन्दर झाँक, वहीं तुझे आत्मदर्शन होंगे और उसी आत्मदर्शन में तुझे सृष्टिदर्शन और ब्रह्मदर्शन सभी कुछ लब्ध होगा—

तेरे अधीन अधिकार तीनों लोक को,
सु दीन भयो क्यों फिरै मलीन बाट बाट हैं।
तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिए हिय में दिए कपट कपाट हैं॥

देव तत्वज्ञ होकर भी ज्ञान और वैराग्य की अपेक्षा प्रेम और भक्ति के कायल थे। ज्ञान और वैराग्य की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने प्रेम की लगन और भक्ति को ही महत्व दिया है—

शान्त रस सु निर्वेद बढ़ि होत ज्ञान वैराग।
रीतं तुच्छ सु है बिना प्रेम भक्ति की लाग ।।

इसी प्रेम-पंथ का अनुधावन करते हुए उन्होंने श्याम रंग में समा जाने की अभिलाषा व्यक्त की है—'श्याम रंग ह्वै करि समान्यो श्याम रंग मैं' ईश्वर के दिव्य और सर्वव्यापी स्वरूप के कायल होकर भी वे अपनी भक्ति के लिए उन्हें विराट रूप गुण-शील पुरुष के रूप में ही देखते हैं—

देव नभ मंदिर में बैठारयो पुहुमि पीठ,
सगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सिकल महीतल के मूल-फल फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं।
अगिनि अनंत, धूप दीपक अनंत ज्योति,
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौर, कामना न मेरे और,
आठौं जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

पद्माकर

वृत्त और कृतियाँ

अकबर के राज्यकाल में (वर्तमान) मध्यभारत में नर्मदा नदी के तट पर गढ़ा-पत्तन नामक एक छोटा सा राज्य था, जिसका शासन महारानी दुर्गावती के हाथ में था। सं० १६१५ में मधुकर भट्ट नाम के एक तैलंग ब्राह्मण लगभग ७५० दाक्षिणात्य लोगों के साथ जीवन की सुविधाओं के आकर्षण से महारानी के राज्य में आ बसे और बाद में समग्र उत्तर-भारत में फैल गए। मधुकर भट्ट अपने निकट संबंधियों के साथ ब्रज में आकर बस गए। समयान्तर में ये लोग भी यत्र-तत्र बिखर गए। मधुकर भट्ट की पाँचवी पीढ़ी में जनार्दन भट्ट हुए जो बांदा में रहा करते थे। इनके पुत्र मोहन लाल भट्ट हुए जो संस्कृत, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान तथा मंत्रशास्त्र के बहुत अच्छे ज्ञाता हुए। अपनी विद्वत्ता के कारण ये नागपुर के भोंसला घराने के अप्पा साहब रघुनाथ राव, हिन्दूपति महाराज पन्ना नरेश तथा जयपुर नरेश सवाई महाराज प्रतापसिंह द्वारा सम्मानित हुए। पद्माकर भट्ट इन्हीं मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पद्माकर जी का जन्म सं० १८१० में सागर (मध्य-भारत में हुआ। इनके पिता और पितामह

ब्रज भाषा में अच्छी कविता किया करते थे, अतः इनका वंश ही 'कवीश्वर वंश' के नाम से प्रख्यात हो गया। इनके वंश का राजन्य वर्ग पर बहुत प्रभाव था।

पैतृक संपत्ति के रूप में पद्माकर जी को काव्याभ्यास के साथ-साथ मंत्रसिद्धि भी मिली। सबसे पहले सुगरा (बुन्देलखंड) निवासी नोने अर्जुनसिंह पवार ने इन्हें अपने यहाँ आदरपूर्वक निमंत्रित किया तथा एक लाख चंडी पाठ (लक्षचंडी अनुष्ठान) के द्वारा अपने खड्ग की सिद्धि करवा कर उन्हें धन-धान्य से प्रसन्न कर अपना मंत्रगुरु बनाया। तब से आज तक पद्माकर के वंशज उस कुल के मंत्र-गुरु होते रहे हैं। पद्माकर ने अपनी कविता द्वारा अर्जुनसिंह का यशोगान भी किया है तथा ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने 'अर्जुन रायसा' नामक एक वीर काव्य भी लिखा। वहाँ से ये दतिया नरेश पारीक्षित के दरबार में गए जहाँ इनके एक छन्द पर प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हें जागीर भेंट कर दी (देखिए छन्द ४९)। तत्पश्चात् वे गोसाई अनूपगिरि हिम्मत-बहादुर के यहाँ गए जो स्वयं कविता करते थे तथा कवियों का सम्मान करते थे। उनकी प्रशंसा में भी पद्माकर जी ने अनेक कवित्त रचे (देखिए छन्द ५०)। सं० १८४९ में नोने अर्जुन सिंह और हिम्मत बहादुर में एक युद्ध हुआ। यह युद्ध अजयगढ़ और बनगाँव (बुन्देलखंड) के मध्यवर्ती क्षेत्र में हुआ, जिसमें अर्जुनसिंह वीरता से युद्ध करते हुए मारे गए। इस समय पद्माकर जी हिम्मत-बहादुर के यहाँ थे तथा उन्होंने उनकी प्रशंसा में एक वीर कथा-काव्य 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' भी लिखा। किन्तु अपने पहले आश्रयदाता अर्जुन सिंह की मृत्यु पर पद्माकर जी ने जो उद्गार (देखिए छन्द ५१) प्रकट किए हैं, उनसे पता चलता है कि सच्चे वीर की प्रशंसा में इनकी वाणी कभी पीछे नहीं रही।

सं० १८५६ में जब रघुनाथ राव को सागर की गद्दी मिली, उन्होंने पद्माकर जी को अपने यहाँ बुलाया। रघुनाथ राव के दान और कृपाण की प्रशंसा में लिखी गई उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं (देखिए छन्द ५२)। यहाँ से लौटकर पद्माकर जी बांदा आए और वहाँ से सं० १८५८ में जयपुर गए। उस समय वहाँ सवाई महाराज प्रतापसिंह राज्य करते थे। वे बड़े गुणग्राही थे, अतः उन्होंने पद्माकर जी की प्रतिभा पर मुग्ध हो उन्हें अपना राजकवि बना लिया। पद्माकर जी ने उनकी प्रशंसा में बहुत से छन्द बड़ी ही ओजपूर्ण भाषा में लिखे हैं (देखिए छन्द ५३-५४)। महाराज ने भी इन्हें अपने जीवनकाल तक अपने पास रखा। उनकी मृत्यु के पश्चात् ये बांदा लौट आए। अनुमान किया जाता है कि 'पद्माभरण' की रचना पद्माकर जी ने इसी समय की, क्योंकि एक तो वह किसी राजा-महाराजा के नाम पर नहीं लिखा गया है, दूसरे उसमें आए हुए किसी भी छन्द का किसी शासक से कोई संबंध नहीं। कुछ समय पश्चात् ये फिर जयपुर गए, क्योंकि सवाई महाराज प्रतापसिंह के समय में इन्होंने वहाँ जो आन्दोलन में योग दिया था उसकी स्मृति इन्हें

रोक न सकी। इस समय उनके पुत्र जगतसिंह गद्दी पर थे। उन्हें भी कविता से अपार प्रेम था। पद्माकर उन तक पहुँच न पाते थे। एक बार महाराज जगतसिंह तथा उनके गुरु एक समस्या के चक्कर में पड़े हुए थे, जो किसी भी प्रकार पूरी न हो पाती थी। समस्या थी—'सारे नभमंडल में भारगव चन्द्रमा' ये किसी प्रकार उनके समीप पहुँचे तथा इन्होंने अपनी समस्यापूर्ति (देखिए छन्द ५५) दिखलाई, जिसे सुनकर वे आश्चर्य-चकित हो गए। ये वेश बदल कर गए थे और पूछने पर इन्होंने अपने को पद्माकर कवि का साईस वतलाया तथा दूसरे दिन अपने स्वामी को राजसभा में उपस्थित करने का वचन दिया। राजसभा में इन्होंने एक छन्द में अपना परिचय प्रस्तुत किया, जिससे इनकी प्रतिभा पर रीझ कर महाराज ने इन्हें अपना राजकवि बना लिया। महाराज जगतसिंह भोग-विलास में मस्त रहने वाले जीव थे। उनके घोड़ों तथा तीतर बटेरों तक का वर्णन पद्माकर ने किया है। उनकी आज्ञा से पद्माकर जी ने 'जगद्विनोद' नामक नायिकाभेद का प्रसिद्ध ग्रंथ बनाया। स्व० लाला भगवानदीन का कहना है कि इस ग्रंथ पर कवि का १२ हाथी १२ ग्राम तथा १२ लाख मुद्रा पारितोषिक में मिला। पद्माकर जी धन-धान्य से खूब संपन्न हो गए थे और जहाँ जाते थे इनके साथ पूरा लाव-लश्कर जाता था। एक बार जब ये जयपुर से बाँदा जा रहे थे, इनके लाव-लश्कर को देखकर बूंदीवालों ने समझा कि कोई राजा चढ़ाई करने के लिए चढ़ आया है, तब उन्हें अपनी रचना पढ़कर लोगों को समझाना पड़ा—

> नाम पद्माकर डराउ मत कोउ भैया,
> हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।

तब बूंदी नरेश ने इनका यथेष्ट स्वागत किया और कहा जाता है कि 'राम-रसायन' नामक ग्रन्थ उन्हीं के आग्रह से बना। जयपुर-नरेश जगतसिंह की मृत्यु (सं० १८७५) के अनन्तर ये तत्कालीन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के यहाँ गए। उनके नाम पर इन्होंने 'आलीजाह प्रकाश' नामक नायिकाभेद का एक अन्य ग्रंथ तैयार किया, जो 'जगद्विनोद' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसका रचना-काल सं० १८७८ है। अन्त में इनकी इच्छा उदयपुर जाने की हुई तथा ये वहाँ गए भी। तत्कालीन महाराज भीमसिंह से भेंट भी हुई। मेवाड़ प्रान्त में चैत शुक्ल चतुर्थी को गनगौर का मेला बड़े धूमधाम से होता है, इसका वर्णन भी इन्होंने अपनी कविता में किया है। कहा जाता है कि जयपुर में निवासकाल में ही पद्माकर जी का किसी सुनारिन से अनुचित प्रेम-संबंध हो गया था तथा कुष्ठ रोग से भी ये विपीड़ित हुए, जिसके प्रायश्चित्त में 'राम रसायन' तथा 'प्रबोध-पचासा' की रचना हुई। ग्वालियर में इन्होंने दौलतराव के एक सभासद 'ऊदोजी' के कहने से संस्कृत के 'हितोपदेश' का भाषानुवाद भी किया था। सं० १८८३ में महाराज रतनसिंह चरखारी की गद्दी पर बैठे। अपनी प्रकृति के अनु-

सार ये उनसे भी मिलने के लिए गए, पर इनके पाप की कथा सुनकर उन्होंने इनसे मिलना स्वीकार न किया। इस पर इन्हें कुछ ऐसी ग्लानि हुई कि घर न लौट कर इन्होंने पतित पावनी गंगा की शरण पाने के लिए कानपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में ही 'गंगा-लहरी' रची गई, जिसके अंतिम छंदों से पता चलता है कि कवि गंगा के समीप ही पहुँच गया है। कानपुर पहुँचने पर कवि का कुष्ठ रोग भी बहुत नष्ट हो गया। ८० वर्ष की अवस्था में सं० १८९० में वहीं उनकी मृत्यु हुई।

पद्माकर जी का जीवन-वृत्त देखने से पता चलता है कि ये आजीवन दर-दर भटकते ही रहे। अर्थ का अभाव इन्हें न रहा होगा किन्तु अर्थ का लोभ इन्हें विशेष रहा होगा। इनकी कवित्व-शक्ति का उपयोग कितने ही राजा-रईसों की प्रशंसा में हुआ। जिसके भी दरबार में गए, उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने लगे। परिणाम-स्वरूप इनकी प्रतिभा का स्वच्छन्द और पूर्ण विकास देखने को न मिल सका। नर-काव्य का सृजन करना उस युग की परिपाटी थी, ये उसके निर्वाह में ही लगे रहे। अपने समय और समाज से ऊपर उठने की शक्ति तथा उसका निर्माण करने की भावना पद्माकर में न थी। इनके जीवन का स्वाभाविक विकास तो इस रूप में दिखाई देता है कि 'नवयौवन में इन्होंने वीर रस को अपनाया, युवावस्था में शृङ्गाररस में डूबे और ढलती अवस्था में भक्ति की कविता की' (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)। इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति की बदौलत धन भी खूब कमाया। लाला भगवानदीन ने तो लिखा है कि "पद्माकर ने अपनी काव्यशक्ति के प्रभाव से ५६ लाख रुपया नकद, ५६ गाँव और ५६ हाथी इनाम में पाए थे। उन गाँवों की सनदों में से कई एक सनदें और स्वयं गाँव अभी तक उनके वंशधरों के कब्जे में हैं।" पद्माकर जी ने स्वयं भी लिखा है—

> **हय, रथ, पालकी, गयंद, गृह, ग्राम चारु**
> **आखिर लगाय लेत लाखन को सामा हौं।**

पद्माकर जी भले ही धनार्जन के लिए कितने राज दरबारों में गए हों, पर इन्हें धन की कमी न थी (देखिए छन्द ५७)। इनका ठाठ-बाट राजसी था तथा इनकी प्रवृत्ति शृङ्गारिक। भक्ति इनके जीर्णावस्था की प्रवृत्ति है।

पद्माकर जी के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ भी प्रचलित हैं। पद्माकर के वंशधरों की किंवदंती के अनुसार यह सुना जाता है कि पद्माकर जी का रघुनाथ राव से इतना निकट का संबंध था कि ये उनके रनिवास तक में आया-जाया करते थे। एक बार इन्होंने रघुनाथ राव की महारानी को लेटे हुए देखा, सावन का महीना था, उनकी हथेली में बिंदीदार मेंहदी लगी हुई थी तथा वे अपनी हथेली पर मुँह रखकर लेटी हुई थीं। इस मुद्रा पर पद्माकर ने यह सवैया लिखा था —[२]

कै रतिरंग थकी थिर ह्वै पलका पर प्यारी परी सुख पाय कै।
त्यौं 'पद्माकर' स्वेद के बुन्द मुकताहल से तन छाय कै।।
बिन्दु रचै मेंहदी के सुलैकर तापर यों रह्यो आनन आय कै।
इन्दु मनो अरविन्दु पै राजत इंद्रबधून के वृन्द बिछाय कै।।

पद्माकर जी समस्यापूर्ति करने में भी बहुत पटु थे। एक बार महाराज प्रतापसिंह श्रावण मास में काशी के शंकु उद्धार के मेले में गए हुए थे। वहाँ गाती हुई गौन-हारिनों पर गुंडे लोग छींटे कस रहे थे—'रंग है ही रंग है'। इसी बात पर पद्माकर जी ने चट से एक छन्द बनाकर अपने महाराज को सुनाया। जयपुर में एक उद्यान-विशेष में लोग सावन में झूलने जाया करते थे। उस अवसर पर महाराज प्रतापसिंह ने समस्या दी थी 'सावन में झूलिबो सुहावनों लगत है।' एक अन्य अवसर पर दरबार में आए हुए बांसुरी वाले की बांसुरी सुनकर महाराज द्रवीभूत हुए थे और उन्होंने समस्या दी थी, 'बांसुरी बजत आँख आँसु री ढरक परै' और पद्माकर जी ने इन सबको प्रसन्न कर देने वाली पूर्तियाँ प्रस्तुत की थीं। इससे उनकी कुशल कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

रचनाएँ—(१) हिम्मतबहादुर-बिरदावली, (२) पद्माभरण, (३) जगद्विनोद, (४) प्रबोध-पचासा, (५) गंगा-लहरी, (६) जयसिंह विरदावली, (७) आलीजाह-प्रकाश, (८) हितोपदेश, (९) रामरसायन, (१०) अश्वमेघ भाषा। नीचे 'पद्माकर' जी की प्रधान रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

हिम्मत बहादुर बिरदावली एक वीर काव्य है जो पाँच अंशों में विभक्त है। पहले अंश में हिम्मत बहादुर के विजय के लिए भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना की गई है; दूसरे अंश में नायक द्वारा गूजरों के परास्त होने, महाराज छत्रसाल के द्वारा संस्थापित राज्यों पर अधिकार करने, नोने अर्जुन सिंह पर आक्रमण तथा सेना आदि का वर्णन है। तीसरे-चौथे अंश में युद्ध तथा पाँचवें अंश में हिम्मत बहुहार द्वारा नोने अर्जुनसिंह के मारे जाने का वर्णन है। केशवदास तथा सूदन ऐसे काव्यकारों के वीर काव्यों (वीरसिंह देव चरित, सुजान चरित) को सामने रख कर यदि पद्माकर के इस ग्रंथ की तुलना की जाय तो यह सामान्यतया ठीक ही कहा जायगा। किन्तु उच्चकोटि के काव्यों में गिने जाने योग्य यह ग्रंथ नहीं है। पद्माकर के वर्णनों में सूची गिनाने वाली भद्दी प्रवृत्ति मिलती है, जमे हुए वर्णन नहीं मिलते; इसी प्रकार कहीं-कहीं वीरों द्वारा ऐसे भाषण कराए गए हैं जिनसे वीरोन्मेष के स्थान पर संसार की असारता का चित्र सामने आता है।

पद्माभरण—यह एक अलंकार-ग्रंथ है जिसकी रचना जयदेव कृत चन्द्रालोक के आधार पर हुई है किन्तु कवि ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। इसके लक्षण अवश्य चन्द्रलोक से लिए गए हैं पर उदाहरण कवि के अपने हैं। लक्षणों में कहीं-कहीं

अस्पष्टता आ गई है, उसके दो कारण हैं—एक तो समास-पद्धति दूसरे छन्द का बंधन। यह दोष सभी रीतिकारों में मिलेगा, फिर भी इस ग्रन्थ में हिन्दी के अन्य अलंकार-ग्रंथों की अपेक्षा सुस्पष्टता और सुबोधता है। विषय की जानकारी के लिए ग्रन्थ पठनीय है।

जगद्विनोद—नायिका भेद संबंधी विशद ग्रन्थ है, जिसमें रस का विवेचन भी अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। पद्माकर का नायिका-निरूपण हिन्दी की चली आती हुई परंपरा के ही अनुसार है। उदाहरण अत्यन्त मौलिक एवं भावपूर्ण हैं। इस ग्रंथ के लक्षण एवं उदाहरण-संबंधी दोनों भाग यथेष्ट एवं सफल हैं। यह कवि का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है, जिसमें उसकी भावना खुल कर खेल सकी है।

प्रबोध-पचासा—कवि के ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति-भावापन्न ५१ छन्दों का संग्रह है। इन कवित्तों में भावना की सचाई के साथ अद्भुत मर्मस्पर्शिनी शक्ति है। गंगालहरी में गंगा की महिमा एवं कीर्ति का वर्णन है तथा राम रसायन वाल्मीकीय रामायण के प्रथम तीन कांडों का भावानुवाद है।

पद्माकर जी रीतिकाल के प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों में परिगणित किये जाते-जाते हैं क्योंकि जहाँ वे काव्य-रीति के अच्छे ज्ञाता थे वहीं रस-सिद्ध कवि भी थे। उनका अलंकार निरूपण, रस निरूपण, नायिका-भेद काफी सुलझता हुआ है। उनकी भावाभिव्यंजना अत्यन्त प्रौढ़ और प्रगल्भ है। भाव के क्षेत्र में उनकी कविता बहुत बढ़ी-चढ़ी है तथा उनकी प्रवाहशालिनी भाषा पाठक के हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेने वाली है। पद्माकर के कवित्तों की मँजी हुई लय हमें हिन्दी के अन्य किसी भी कवि में नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि वे अपने काल के अति प्रसिद्ध कवि हैं।

शृंगार काल के सर्वाधिक प्रशंसित एवं लोकप्रिय कर्त्ताओं में छन्द प्रवाह, नाद सौन्दर्य चित्रमत्ता, रस व्यंजना आदि दृष्टियों से पद्माकर कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके काव्योत्कर्ष-दर्शन एवं रसव्यंजक काव्यानुशीलन के विचार से हमारा वक्तव्य जगद्विनोद, प्रबोध पचासा, गंगालहरी तथा कतिपय प्रकीर्णक पद्यों तक ही सीमित रहेगा क्योंकि उक्त दृष्टि से उनके प्रशस्ति—काव्यों हिम्मत बहादुर बिरुदावली, प्रतापसिंह विरुदावली तथा अलंकार ग्रन्थ पद्माभरण एवं ईश्वर पचीसी या कलि पचीसी ऐसी वैराग्यमूलक रचनाओं का कोई विशेष महत्व नहीं।

शृङ्गार रसात्मक-काव्य—सर्व प्रथम हम पद्माकर की उस प्रकार की रचनाओं का सौंदर्य देखना चाहेंगे जिनमें कवि का कवित्व अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच सका है और जिसके कारण उसकी इतनी ख्याति है। हिन्दी की परंपरागत काव्य धारा के किसी भी रसज्ञ पाठक से पद्माकर के १०-२० छन्द सुने जा सकते हैं। 'आरस सों आरस सँभारत न सीस पट' से लेकर 'एक पग भीतर और एक देहरी पै धरे; 'एक कर कंज एक कर है किवार पर' वाला छंद अथवा 'फाग की भीर

अमीरनि मैं गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी''''नैन नचाइ कही मुसकाई लला फिरि आइयो खेलन होरी' या 'एकै संग धाए नंद लाल औ गुलाल दोऊ' या 'पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल मैं होत त्रिवेनी' या 'आनंद के कंद जग ज्यावत जगत बंद' आदि कितने ही एक से एक सरस सुन्दर छंद पद्माकर का नाम आते ही हमारी स्मृति में घूम-झूम जाते हैं। हिन्दी काव्य की श्री संपदों के अग्रणी संवर्धक पद्माकर जी की काव्यश्री का विहंगावलोकन ही यहाँ हमें अभीष्ट है।

पद्माकर के ग्रन्थों पर दृष्टि डालते ही पहली बात जिसे कहे बिना कोई न रहेगा यह है कि एक बड़ी हद तक उन्होंने अपनी कवि-प्रतिभा का अपव्यय किया। उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने व्यर्थ ही 'राजप्रशस्ति' और 'रीति का अनुसरण' करने में अपनी प्रतिभा का विनियोग किया। जगत के चित्त विनोदनार्थ लिखी गई रचना 'जगद्विनोद' भी इस दोष से मुक्त न रह सकी। कवि की आर्थिक पराधीनता रही हो चाहे राज्याश्रय के बिना ख्याति की उपलब्धि न हो सकने की समस्या रही हो और चाहे परम्परा पालन के बिना गति ही नहीं—ऐसी वृत्ति काम करती रही हो, इन कारणों ने मिल कर पद्माकर के काव्य को बेतरह प्रभावित किया है। पद्माकर काव्य रीति के महान अथवा नदीष्ण आचार्य भी न बन सके और न प्रशस्ति गायन के कारण भूषण-सी गौरवपूर्ण लोकप्रियता ही पा सके। यदि कवित्व शक्ति उन्हें न मिली होती तो वे काव्य-जगत में उपेक्षा के ही पात्र बने रहते। पद्माकर निश्चय ही कहीं अच्छा रचना कर गए होते यदि कहीं वे शास्त्र ग्रन्थ लेखन के चक्कर में न पड़े होते। नायिका भेद के सूक्ष्मतम भेद-प्रभेदों के निरूपण में पड़कर उनकी भावना के पंख कट जाते हैं फलतः वे उस मुक्त भावा-काश में उड़ नहीं पाते जिसमें उड़ना किसी भी कवि के लिये श्रेयस्कर हुआ करता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट कवित्व शक्ति, असाधारण रूप से सुन्दर भाषा प्रवाह आदि के गुणों से समलंकृत होते हुए भी उनकी कविता में एक जकड़न है, नियमों की अर्गला है और परंपरा का बोझ है जिसके नीचे उनकी पीठ झुक गई है और कमर टेढ़ी हो गई है। रीति ग्रन्थों की प्रणाली पूरी करने के लिए उनकी शक्ति का अनावश्यक रूप से व्यय हुआ है। उनके जगद्विनोद को पढ़कर बार-बार हमें कवि की लाचारी पर तरस आती है। पद्माकर श्रेष्ठ शिल्पी होते हुए भी जागरूक और नव्यता की चेतना से सम्पन्न कवि नहीं थे। इस दृष्टि से घनआनंद ठाकुर आदि रीतिस्वच्छन्द काव्यकारों का महत्व बढ़ कर ही ठहराना पड़ेगा।

लक्षणानुधावन करते हुए कवि को शत-शत सीमाओं में बँध जाना होता है। 'पद्माभरण' में तो कवित्व शक्ति विशेष लक्षित नहीं होती उनकी श्रेष्ठतम काव्यकृति 'जगद्विनोद' में भी वह नियंत्रित एवं आहत हुई है इस बात की प्रतीति आपको पदे-पदे

होगी। अन्यान्य रसों के अस्तित्व में विश्वास रखते हुए आलंबन एवं उसके अंतर्गत भी नायिका के चित्रण पर अपना ध्यान विशेषत: केन्द्रित किया है।

नायिका—यह नायिका कौन है? कह सकना कठिन है। घन आनंद को सुजान अथवा बोधा की सुभान तो वह है नहीं परन्तु फिर भी जिस नायिका के नाना बिम्ब उन्होंने अंकित किये हैं वह उनके मन की कल्पना, मनोभिलषित सुन्दरता, मनोवांछित सौकुमार्य आदि का साक्षात स्वरूप तो है ही। इसके साथ ही साथ पद्माकर के द्वारा वर्णित नायिका रीतिशास्त्रीय रसग्रंथों अथवा नायिकाभेद ग्रंथों में वर्णित परंपरा प्राप्त नायिका भी है जो आयु, लज्जा, यौवन, परिस्थिति आदि नाना आधारों पर शत-शत भेद-प्रभेदों के साथ नाना रूपों में चित्रित हुई है। स्पष्ट ही वह कोई एक स्त्री नहीं है जिसमें कवि का सारा अनुराग राशिभूत हो उठा हो। वह कवि की कल्पनाशक्ति की सृष्टि है जिसके सृजन में शास्त्रोक्तियों का आदेश काम करता रहा है। रमणीय रूप वाली नायिका के अंग-अंग के, कतिपय अंग समूहों के, उसके समग्र सौन्दर्य के तथा जहाँ-तहाँ उसके सौन्दर्य के प्रभाव के चित्र कवि ने अंकित किये हैं।

नायिका के रूप का वर्णन करते हुए नेत्रों पर बहुत सी उक्तियाँ तो पद्माकर ने नहीं कही हैं परन्तु जो दो चार उक्तियाँ उनकी हैं उनमें नेत्रों के प्रभाव का कथन हुआ है—नेत्र बिना पैरों के दौड़ते हैं बिना हाथों के प्रहार करते हैं। अंग रहित होने पर तो इनकी ये हालत है कहीं अंग-शक्ति संपन्न होतीं तो ये आँखें न जाने क्या आफत कर डालतीं? खंजन मीन गजादिकों का मान भंजन करने वाली प्रिय की आँखें कलेजे में ही अटकी हुई हैं—

(क) पाखन बिना ही करैं लाखन ही वार आँखें,
पावतीं जौ पाँखैं तौ कहा धौं करि डारतीं।

(ख) लाज के कटा हित कटाछिन के भाले लिये,
नेजेवार नैना वे करेजे में लगे रहैं।

नायिका के कपोलस्थ तिल का कल्पनाश्रित एवं संदेह-संश्लिष्ट वर्णन रीतिकालीन सौन्दर्य वर्णन की परिपाटी का एक प्रातिनिधिक उदाहरण कहा जा सकता है—

कैधौं रूप रासि में सिंगार रस अंकुरित,
संकुरित कैधौं तम तड़ित जुन्हाई में।
कहैं 'पद्माकर' किधौं काम कारीगर
नुकता दियो है हेम-फरद सुहाई में।
कैधौं अरबिंद में मलिंद-सुत सोयो आनि,
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई में।
कैधौं परयो इंदु में कलिंद-जल बिंदु आई
गरक गुबिंद किधौं गोरा की गोराई में॥

राधिका के कपोलों पर जो तिल है वह राधिका की गौरता पर मुग्ध होकर आ अटके हुए मानो श्याम वर्ण गोविन्द हैं। सलोनी रूपांगना के अधरों पर खेलती हुई मुसकान में जो मिठास है वह ऐसी है जिसमें समग्र सृष्टि का ही माधुर्य लाकर समो दिया गया है। गुलकंद, दाख, कलाकंद, सुधा, मधु, ईख, छुहारा, बसौंधी, मिश्री आदिकों की मिठास जैसे वह लूटकर ले आई है और उन्हें उसने अपने अधरों में भर रक्खा है। उसकी सुकुमारता! उसका तो कहना ही क्या है? 'फर्श मखमल पे तेरे पैर छिले जाते हैं' वाले अशार के वजन की चीज पद्माकर लिख गए हैं—

> बारन के भार सुकुमार को लचत लंक,
> राजै परजंक पर भीतर महल के।
> कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
> सुजात गड़ि पाइन बिछौना मखमल के।।

नायिका अथवा व्रजांगना की वर्णोज्वलता, उसकी अंग-शुभ्रता का यह धवल चित्र देखिये जिसमें वह मनिमन्दिर के आँगन में खड़ी दिखलाई गई है—

> चैत की चाँदनी में चहुँधा चलि चाइन चंद सी वै रही वै रही।
> त्यों 'पद्माकर' बिज्जुछटा छबि कैसो छटा छिति छ्वै रही छ्वै रही।
> वा मानमंदिर के अंगना में ब्रजंगना यों कछु ह्वै रही ह्वै रही।।
> चातुरई चतुरानन की मनो चाँदनी चौक में च्वै रही च्वै रही।

ब्रजांगना की शुभ्र वर्णच्छटा का यह चित्र देव कवि के प्रसिद्ध छंद 'फटिक सिलानि सों सुधार्यो सुधा मन्दिर' का स्मरण दिला देता है जो उज्ज्वल वर्ण सौंदर्य का चित्रण करने वाला असाधारण छंद है। अंगद्युति का वर्णन करते हुए सशक्त लेखनी के कवियों ने अंगों से आभा की लहरों का उठना वर्णित किया है जैसे 'अंग-अंग तरङ्ग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै' (घनआनन्द) अथवा 'पग-पग मग अगमन परत चरन अरुन दुतिझूल' (बिहारी)। ऐसी ही अंगद्युति और सौन्दर्याभा का वर्णन पद्माकर ने स्नानोद्यत तरुणी का बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत करते हुए किया है—

> चौक में चौकी जराउ जरी तिहिं पै खरी बार बगारति सौंधैं।
> छोरि धरी हरी कंचुकी न्हान कों अंगन तें उठे जोति के कौंधैं।।
> छाई उरोजन की छबि यों 'पद्माकर' देखत ही चक चौंधैं।
> भाजि गई लरिकाई मनो करि कंचन के दुहुँ दुंदुभि औंधैं।।

अंगों की स्वर्णाभा यहाँ नेत्रों में चकाचौंध पैदा करने वाली है। वर्णच्छटा और अंग-कांति का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण सौंदर्य एक छंद में कवि ने संघटित किया है जिस समय वे तन्वंगी का ताल में पैरना वर्णित करते हैं—

जाहिरै जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बैनी।
त्यों 'पद्माकर' हीर के हारन गंग तरंगन कों सुखदैनी।
पाइन के रँग सों रँगि जात सी भाँति ही भाँति सरस्वति सैनी।
पैरै जहाँई जहाँ ब्रजबाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबैनी॥

नायिका के तारुण्य का चित्र उन छंदों में विशेष रूप से अंकित हुआ है जिनमें वयः-संधि या संभोग-व्यापारों की वर्णना हुई है।[1] कतिपय अंगों का विकास एवं कतिपय का ह्रास निर्दशित करते हुए परम्परावद्ध शैली पर क्रमिक रूप से यौवनागम का विवरण दिया गया है। अंगों में एक प्रकार की बढ़ाबढ़ी या प्रतिस्पर्धा सी दिखलाई गई है। तारुण्य के आगमन से एक गुण का आगमन और दूसरे का गमन दिखाकर वयः-संधि या बिहारी की भाषा में पुण्य संक्रमण काल का चित्रण किया गया है। 'एवालि या तिय के अधरानि मैं आनि चढ़ी कछु माधुरई सी' या थापति सी चातुरी सरापति सी लंक अरु आफत सी पारत अरी अजानपन में' या 'ए अलि हमैं ता बात गात की न बूझी परै' अथवा 'आली री अनूप रूप रावरो रचत रूप' आदि छंदों में तारुण्य-विकास के गुदगुदाने वाले चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। राधिका की गति का चित्रण करते हुए पद्माकर ने एक ऐसी छवि उरेह दी है जो कुछ काल के लिए हृदय पर अमिट हो जाने वाली है—

हूलै इतै पर मैन महावत लाज के आँदू परेजऊ पाइन।
त्यौं पद्माकर कौन कहाँ गति माते मतंगन की दुखदाइन।
ये अँग अंग की रोसनी में सुभ सोसनी चीर चुभ्यो चित चाइन।
जाति चली ब्रज ठाकुर पै ठमकाँ-ठमकाँ ठुमकी ठकुराइन॥

चरणांत के अन्तिम चार-छः शब्द जैसे राधिका के चलने के चार-छः डगों का गत्यात्मक चित्र हमारे समक्ष उपस्थित कर देते है।

कुछ छंदों में नायिका की वेशभूषा के अत्याकर्षक विवरण उपस्थित किये गए हैं।[2] ये चित्र प्रायः संभोग अथवा अभिसार के संदर्भ में ही अंकित हुए हैं। इनमें रूप की रोशनी को छिपाने के लिए चेष्टाशील 'सोसनी' (ललाई सहित नीले) दुकूलों का, बूटेदार घाँघरे के घेरदार घुमावों का, तंग पड़ने वाली अँगिया और उसकी तनी का, घूँघट का, जवाहिर जटित झूमकों और भूमि तक झूम जाने वाले झिलमिल झालरों का, हीरकहारों और भुजभूषणों का और तरुणी के अंगों में बसे हुए खुशबू के खजानों का वर्णन हुआ है। स्वर्णाभरणों के भार से लदी हुई समस्त शृंगारों से मंडित एक तरुणी तो अपने भाल पर लाल टीका लगाकर अपनी सपत्नियों का मुँह फीका करती हुई दिखाई गई है —

1. जगद्विनोद—छंद २२, २३, २९, ३४, ३६,
2. वही—छंद २११, २३५, ४२९।

भूषन भार सिंगारन सों सजी सौतिन को जु करै मुख फीको ।
जोति को जाल बिसाल महा तिय भाल पै लाल गुलाल को टीको ।।

रमणी के समूचे सौंदर्य को भी जहाँ-तहाँ रूपायित करने की सफल चेष्टा कवि ने की है। वाम ने झरोखे से उझक करके झाँका और श्याम उसे दिख भी गए। वह श्याम स्वरूप पर मुग्ध है और कवि उसके झाँककर देखने की इस मुद्रा पर। चैत्र की चन्द्रिका के समान उसके अंगों की उज्ज्वल आभा फैल गई है, उसके श्वासों की सुरभि समग्र वातावरण को आपूर कर उठी है और उसके सुन्दर रूप का एक-एक अवयव अपनी छवि की विशिष्टता के कारण कवि को स्तब्ध किये हुए है—

उझकि झरोखा है झमकि झुकि झाँकी बाम,
स्याम कौं बिसरि गई खबरि तमासा की।
कहै 'पद्माकर' चहूँघा चैत चाँदनी सी,
फैलि रही तैसियै सुगंध सुभ स्वासा की।
तैसी छबि तकत तमोर की तरौनन की,
वैसी छबि बसन की बारन की बासा की।
मोतिन की माँग की मुखौ की मुसक्यानहू की,
नैनन की नथ की निहारिबे की नासा की ।।

ऐसा ही एक चित्र बिहारी का भी है जो पर्याप्त चमत्कारक तो है किन्तु इतना परिपूर्ण नहीं—

नावक सर मे लाइ कै, तिलक-तरुनि इत ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ।। (बिहारी)

वेश सजा करके अंग-अंग का शृंगार करके प्रिय मिलन को जाने वाली नायिका के सौंदर्य की क्या व्याख्या की जाय, साक्षात प्रकृति ही उसके अपरूप रूप और असाधारण सौंदर्य की साक्षी है। उसका अनंत सौंदर्य ही चतुर्दिक प्रसार पा रहा है—

सजि ब्रजचंद पैं चली यों मुखचंद जाको,
चंद चाँदनी को मञ्ज मंद सो करत जात।
कहै पद्माकर त्यों सहज सुगंध ही के,
पुंज बन कुञ्जन में कंज से भरत जात।
धरति जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात।
हारन तें हेरौ सेत सारी के किनारन तें,
बारन तें मुकता हजारन झरत जात ।।

नायिका की इस छवि पर कवि इतना मुग्ध है कि इसे उसने अपने जगद्विनोद में दो

जगह प्रस्तुत किया है (शुक्लाभिसारिका के उदाहरण रूप में और आगे चलकर ललित हाव के उदाहरण रूप में भी) जिस रमणी रूप का कवि ने नाना भाव से नाना अवसरों पर चित्रण किया है उसकी सार्थकता एक ही है प्रिय को भा जाना उसे मोहित कर सकना जैसा कि कालिदास ने भी 'प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता' कहकर संकेतित किया है। पद्माकर की नायिका का सौंदर्य इस साधना में कृत काम हो जाता है क्योंकि उस पर मुग्ध हो नायक अपनी सम्पूर्ण सत्ता को इन शब्दों में उसे समर्पित कर देता है—

ईस की दुहाई सीस फूल तें लटकि लट,
लट तें लटकि लटि कंध पै कहरि गो।
कहै 'पद्माकर' सु मंद चलि कंधहूँ तें,
भ्रमि-भ्रमि भाई सी भुजा पै त्यों भभरिगो।
भाई सी भुजा तें भ्रमि आयो गोरी-गोरी बाँह,
गोरी बाँह हू तें चपि चूरिन में अरि गो।
हेर्‌यो हरें हरें हरि चूरिन तें चाहौं जौ लौं,
तौ लौं मन मेरो दौरि तेरे हाथ परिगो॥

उक्त छंद में नायिका के सौंदर्य का चित्रण प्रभावसूचक पद्धति पर किया गया है परन्तु प्रभावाभिव्यंजन करते हुए भी कवि की वर्णन शैली और नायक के क्रमिक रूप से सौंदर्याभिभूत हो जाने का वर्णन अत्यन्त मोहक है।

प्रेम-वर्णन

जैसा हम पहले कह चुके हैं पद्माकर रीति से बँधकर रचना करने वाले कृती थे इसलिए प्रेम की बहुत अच्छी अनुभूति रखते हुए भी वे स्वच्छन्द वृत्ति के प्रेमोमंग के कवि नहीं बन सके। रीति-निरपेक्ष भाव से यदि वे रचना करने पाते तो उनकी काव्य-विभूति का और भी उत्कर्ष देखने को मिलता। हम पद्माकर के काव्य को यहाँ लक्षण-बद्ध रूप में नहीं देख रहे हैं, हम यह देखने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं कि जिस रीति-तत्व का प्रतिपादन उन्होंने लक्षण-निरूपण करते समय किया है उसके लिए वे कितना सटीक उदाहरण प्रस्तुत कर पाए हैं। हम तो केवल यही देखने की चेष्टा कर रहे हैं कि उनके 'जगद्विनोद' के औदाहरणिक भाग में (तथा स्फुट रूप में प्राप्त कुछ छंदों में) सौन्दर्य और प्रेम-भावना का जो चित्र वे अंकित कर गए हैं वह कैसा है तथा उनके माध्यम से उनकी प्रेम-भावना का क्या और कैसा स्वरूप व्यक्त हो सका है।

परम्परा प्राप्त गोपी और कृष्ण या कृष्ण और राधा ही प्रेम के मधुर आलंबन हैं तथा गोकुल, वृन्दावन और ब्रज का वही चिर परिचित वातावरण ही प्रणय-चित्रण के लिए उपस्थित किया गया है। समर्थ कवि होने के कारण इस घिसे-पिटे काव्य

विषय को भी पद्माकर ने अभिनव सौन्दर्य से मंडित किया है। बहुत कम कवियों के छन्द पद्माकर की-सी सुन्दरता, सजीवता, चित्रमत्ता और मुग्धकारिणी शक्ति जुटा सके हैं।

प्रेम का उदय—गोपियों में प्रेम का उदय किस प्रकार होता है ? कृष्ण के रूप-दर्शन द्वारा, उनकी शरारतों के कारण, उनकी बाँसुरी की वजह से। जो कृष्ण को एक बार देख लेती है वह उनकी हो जाती है और वे उसके हो जाते हैं। वह लाख 'ना' करे प्राणों में उसके कृष्ण ही बसे होते हैं—'लाज बिराज रही अँखियान में प्रान में कान्ह जुबान में नाहीं।' कृष्ण की हल्की-हल्की शरारतें उसे रिझाने लगती हैं, वह रीझने लगती है। बहुत तड़के उठकर वह गोरस लेने जाती है मनमोहन उससे भी पहले वहीं जाकर उसके लिए खड़े रहते हैं। ज्यों ही वह गोरस लेकर चलती है सँकरी गली में वे कंकड़ी मारकर कुछ दूर भाग जाते हैं और भागकर फिर उसकी ओर देखते हैं। वह भी कुछ विशेष बुरा नहीं मानती। धीरे-धीरे कृष्ण उसके हृदय के अंदर धँसते चले जाते हैं। प्रेम जब हृदय में परिपुष्ट हो जाता है तो लज्जा का क्रमशः तिरोभाव होने लगता है—

> धारत ही बन्यो ये हो मतो गुरु लोगन को डर डारत ही बन्यो।
> हारत ही बन्यो हेरि हियो 'पद्माकर' प्रेम पसारत ही बन्यो।
> वारत ही बन्यो काज सबै अब यों मुखचंद उघारत ही बन्यो।
> टारत ही बन्यो घूँघट को पट नंदकुमार निहारत ही बन्यो॥

जो पहले लज्जावश बोल भी नहीं पाती थी वह धीरे-धीरे पान खिलाने के बहाने ही सही प्रिय के पर्यंक तक जाने लगती है। लज्जा की गाँठ कालांतर में खुल कर ही रहती है—

> जाहि न चाहि कहूँ पति कौ सु कछू पति सों पतियान लगी है।
> त्यों पद्माकर आनन में रुचि कानन भौंह कमान लगी है।
> देत तिया न छुवै छतियाँ बतियाँन में तौ मुसिक्यान लगी है।
> प्रीत मैं पान खवावन कौं परजंक के पास लौं जान लगी है॥

कृष्ण की बातों और शरारतों की ही तरह कृष्ण की मुरली का सम्मोहन भी किसी से छिपा नहीं है। प्रस्वेद, कंप, अश्रु आदि सात्विकों का संचार कृष्ण की मुरलिका ही करा देती है और दो ही चार दिन के अंदर गोपिका की मनोदशा क्या से क्या हो जाती है—

> ह्वै धौं कहा को कहा यो गयो दिन द्वैक ही तें कछु ख्याल हमारो।
> कानन में बसी बाँसुरी की धुनि प्रानन में बस्यो बाँसुरी वारो॥

जो सारे शृंगार करके 'माणिक-महल' में बैठी होती है उसके अंग-अंग कृष्ण की वंशी-ध्वनि से विलोड़ित हो उठते हैं—

बैठी बनि बानिक सु मानिक महल मध्य,
अंग अलबेली के अचानक थरक परैं ।
कहै पद्माकर तहाँई तन तापन तें,
बारन तें मुकता हजारन दरक परैं ।
बाल छतियाँ तें थकथक ना कढ़त मुख,
बक ना कढ़त कर ककना सरक परैं ।
पाँसुरी पकरि रही साँसु री सँभारै कौन,
बाँसुरी बजत आँख आँसु री ढरक परैं ।।

बाँसुरी प्रणय की किस दशा को नहीं पहुँचा देती !

नूतन प्रसंगोद्भावनाएं—प्रेम में भीग कर, प्रेमनद में डूब लेने पर गोपियों के कृष्ण के साथ प्रेम-व्यापार शुरू होते हैं । एक से एक मधुर और मनहर प्रसंगों की पद्माकर कवि ने कल्पना की है । नवीन प्रसंगोद्भावनाओं के लिए पद्माकर का वैशिष्ट्य स्वीकार करना होगा । मध्य युग में हिन्दी के जिन कवीश्वरों के बल पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के स्वर में स्वर मिलाकर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह घोषित किया है कि हिन्दी के कवियों ने एक से एक सरस श्रृंगार के मनोहर पद्यों का इतना बड़ा भंडार तैयार कर दिया जितना बड़ा भंडार संस्कृत के समस्त रीति साहित्य से ढूँढ़कर इकट्ठा किया जाय तो भी तैयार न हो सकेगा उनमें पद्माकर सरीखे अभिनव प्रसंगोद्भावक कवियों का नाम सबसे आगे रहेगा । वही ब्रज है, वही यमुना-तट, वे ही कुंज और वै ही ऋतुएँ परन्तु अपनी उन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर पद्माकर ने कितने ही अभिनव प्रसंगों की हृदय-ह्लादिनी उद्भावना की है ।

एक अल्पवयस्का गोपी है, वह दही बेचने जाया करती है । कभी-कभी सँकरी गलियों से भी उसे गुजरना पड़ता है । कृष्ण जब तब उसे उसी सँकरी वीथी में आकर छेड़ते हैं और वह आत्मरक्षार्थ भागने भी नहीं पाती । कृष्ण की छेड़-छाड़ से तंग आकर वह दही बेचना बन्द करने वाली है । उसकी विवशता और खीझ की तथा प्रसंगगत माधुर्य की कैसी चित्रमयी व्यंजना है—

आज ते न जैहौं दधि बेचन दुहाई खाउँ,
भैया की कन्हैया उत ठाढ़ोई रहत है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों साँकरी गली है अति,
इत उत भाजिबे कौं दाउँ न लहत है ।
दौरि दधिदान काज ऐसो अमनैक तहाँ,
आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है ।
भादौं सुदी चौथ को लख्यो मैं मृग अंक याते,
झूठहू कलंक मोहिं लागिबे चहत है ।।

इसी संदर्भ का एक और चित्र है जिसकी गोपिका संभवतः कुछ अधिक वय वाली और प्रगल्भ है। कृष्ण और गोपिका एक अत्यन्त संकीर्ण गली में अचानक या पता नहीं जानबूझ कर दो दिशाओं से चलकर आ मिलते हैं। रास्ता इतना सँकरा है कि एक समय में एक ही व्यक्ति उससे होकर सुविधापूर्वक जा सकता है। दोनों बड़ी साँसत में पड़े हैं अन्त में गोपिका ही कृष्ण को रास्ता देती है—

त्यों 'पद्माकर' ह्वै तिरछे कढ़ि जाहु लला कर जोरि या माँगत।
खोर ना नंद किसोर तुमैं यह खोर लौं साँकरी खोर को लागत॥

उसकी उक्ति में कितना अपनाव है कितना स्नेह भरा हुआ है और साथ ही उस अप्रत्याशित (या पूर्वायोजित ही सही) क्षण की कैसी मधुर अनुभूति भी है। दोष इसमें कृष्ण का हो भी तो वह उन पर दोष मढ़ना नहीं चाहती। भावना का अगाध माधुर्य इस एक उक्ति में पुंजीभूत हो उठा है। एक और प्रसंग है जिसमें गोपिका की संपूर्ण रीझ और समर्पणमयी भावना उसके एक ही कार्य व्यापार में राशीभूत हो उठी है। ग्वालों के कहने से घर और गायों से संबंधित कार्यवश श्रीकृष्ण किसी दूर के खेड़े (गाँव) में जाते हैं। रात किसी ग्वालिन के घर व्यतीत करते हैं और सबेरे जब चलने लगते हैं तब नैश सुख से अतृप्त और संसर्गजन्य आकांक्षाओं से अभिभूत ग्वालिनी की समर्पणमयी अनुरक्ति देखिये—

गो गृह काज गुवालन के कहें देखिबे कौं कहूँ दूरि को खेरो।
माँगि बिदा चले मोहिनी सौं पद्माकर मोहन होत सबेरो।
फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिन्द गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरो॥

उसका कंठावरोध, उसकी अबोल स्थिति, उसके बिके हुए मन और अपहृत चित्त की सर्वस्व ग्रासिनी वेदना आसन्न वियोग काल में उसके एक ही कार्य व्यापार द्वारा मूर्त्त कर दी गई है। बिना असाधारण विभावन-क्षमता के कोई कवि इस प्रकार की मनःस्थिति व्यंजना कर ही नहीं सकता। वह गोरी न तो कृष्ण का फेंटा पकड़कर उन्हें रोकती है और न उनकी बाँह पकड़कर ही जिद्द करती है न ही वह उनके गले में अपनी बाहों का फंदा डालकर न जाने का उनसे अनुनय विनय करती है। वह तो केवल अपना गुलाबों का गजरा प्रियतम के जाने के मार्ग पर डाल देती है। प्रणय-मधुर प्रिया के सत्याग्रह का यह मर्मस्पर्शी स्वरूप गाँधी जी के बहुत पहले ही ईजाद कर गए थे। इस प्रकार के मधुमय प्रसंगों की कुछ उद्भावनाएँ होली के आनंदोल्लास-वर्णन के संदर्भ में भी देखी जा सकती हैं।

होली—होली की उमंग और उल्लास के कितने ही उन्मादक चित्र पद्माकर ने अंकित किये हैं। ये कृष्ण और गोपियों की होली है, ब्रज और बरसाने की होली है जहाँ मुक्त भाव से तरुण-तरुणियाँ सोल्लास रंग घोलते हैं, एक दूसरे पर डालते हैं,

अबीर उड़ाते हैं, कुंकुम लगाते हैं और जाने क्या-क्या करते हैं। होली निर्बन्ध और उन्मुक्त मन का त्यौहार है, कोई किसी भी प्रकार का बंधन नहीं मानता। एक गोपिका है जो केसरिया रंग की ओढ़नी ओढ़े हुए गुलाब कलिकाओं का शृंगार किये हुए भाल में गुलाल लगाए हुए और अंगों को भली-भाँति भूषित किये हुए चली जा रही है, उसकी सहेलिका उसके इस विशिष्ट शृंगार पर फबती कसने से बाज नहीं आती, वह कहती है—

> औरन कों छलती छिन में तुम जाली न औरन सों जु छली हौ।
> फाग में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लेन चली हौ॥

होला में तरुणियों का शृंगार ही कुछ दूसरा हुआ करता है। ऋतु और त्यौहार उनके अन्तर्बाह्य को अपने अनुराग के रंग से रँग देता है। उनके एक-एक अंग से वह मंजिष्ठा राग टपका पड़ता है, देखिए न —

> रंग भरी कंचुकी उरोजन पै ताँगी कसी,
> लागी भली भाई सी सुजान कखियन में।
> कहै 'पद्माकर' जवाहिर से अंग अंग,
> ईंगुर से रंग की तरंग नखियन में।
> फाग की उमंग अनुराग की तरंग वैसी,
> तैसी छबि प्यारी की बिलोकी सखियन में।
> केसरि कपोलन में मुख में तमोल भरि,
> भाल में गुलाल नंदलाल अँखियन में॥

होली के खेल शुरू होते हैं, धमार गीतों का गायन आरंभ होता है, पिचकारियों से रंग छूट चलते हैं, रंग के फौवारों में तरुण जन भींजते हैं, पृथ्वी रंग से रँग जाती है केसर इतनी घोली और ढोली जाती है कि उसकी कीच-सी फैल जाती है, उधर ग्वाल-बाल हैं जो उसी में सन जाने में गर्व का अनुभव करते हैं। गुलाल उड़ता है, तान छिड़ते हैं साथी सब ताल देते हैं और कन्हाई हर्षोन्माद में नाचते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक गोपिका दूसरे को उसकाती है तू जा न! एक मूठी गुलाल की डाल न! देख फिर फाग खेलने का सच्चा आनन्द आए बिना न रहेगा।[1] एक गोपिका फाग के इस उन्माद में आ ही तो जाती है और वह जो कुछ भाव और अरमान अपने मन में सँजोए रहती है उसे पूरा करके ही रहती है—

> फाग के भीर अभीरन तें गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
> भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।

[1] जगद्विनोद : छन्द ३४०

छीन पितम्बर कंमर तें सु बिदा दई मोड़ि कपोलन गोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी ।।

फाग खेलते हुए गोपियाँ केवल केसर या टेसू के ही रंग नहीं डालतीं, वे अपने हृदय का भी रंग उड़ेल डालती हैं, उनके नयनों के भी रंग की पिचकारियाँ एक दूसरे पर चलती हैं—

(क) या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागती राग किसोर किसोरी।
त्यौं पद्माकर घालि घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रँग भीजि गो साँवरो साँवरे के रंग भीजि गी गोरी ।।

(ख) ये नंद गाँउ ते आए यहाँ उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की।
त्यों पद्माकर होत जुराजुरी दोउन फाग करीं इहि ख्याल की।
डीठि चली इनकी उन पै उनकी इन पै घटी मूठि उताल की।
डीठि सी डीठि लगी इनकें उनकें लगी मूठि सी मूठि गुलाल की ।।

इस अनुराग की फाग में गोपिका की ही दुर्गति होती है, नंदलाल तो होशियार हुरिहार ठहरे वे तो आँखों में अबीर झोंककर चल देते हैं पर जिसकी आँखों में अबीर घुलती है उसकी दशा अकथनीय हो जाती है। अंतर्दशा का चित्र देखिये और देखिये कि वह क्या कह रही है—

एकै संग धाए नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गए जु भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोइ धोइ हारी पद्माकर तिहारी सौंह,
अब तौ उपाइ एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं कहाँ जाउँ कासों कहौं कौन सुनै,
कोऊ तौ निकासौ जासौं दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तें,
कढ़िगो अबीर पै अहीर तौं कढ़ै नहीं ।।

आँखों में पड़ी अबीर तो जैसे तैसे निकल भी जाती है पर उनमें बसी हुई कृष्ण की छवि तो किसी प्रकार भी निकलती नहीं, वह सतत शूल उपजाती रहती है। इसी संदर्भ में एक अन्य गोपिका का कथन देखने योग्य है। वह कहती है कि हे कृष्ण तुम खूब सज धज कर या पूरी तैयारी के साथ होली खेलने आए हो तो खेलो, तुम्हारा स्वागत है किन्तु हमारी बस एक ही विनय है—

भाल पै लाल गुलाल गुलाल सों गेरि गरें गजरा अलबेलौ।
यों बनि बानिक सों पद्माकर आए जु खेलन फाग तौ खेलौ।
पै इक या छबि देखिबे के लिए मो बिनती कै न झोरन झेलौ।
रावरे रंग रंगी अँखियान मैं ए बलबीर अबीर न मेलौ ।।

उमंग के साथ जो गोपियाँ कृष्ण की अथाई में होली खेलने जाती हैं उनकी बुरी दशा होती है परन्तु वे त्यौहार के हर्षोन्माद में उसकी कुछ परवाह नहीं करतीं हाँ अपनी दशा का उत्साह पूर्वक विवरण अवश्य देती हैं—

(क) ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै रंग तरंग उमंगनि सीचैं ।
त्यौं पद्माकर छज्जन छातनि छ्वै छिति छाजतीं केसरि कीचैं ।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछू गुपाल गुलाल उलीचैं ।
एक ही संग इहाँ रपटे सखि ये भए ऊपर हौं भई नीचैं ।।

(ख) घोरि डारी केसरि सु बेसरि बिलोरि डारी,
बारि डारी चूनरि चुचात रंगरैनी ज्यौं ।
मोहिं झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी,
तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बैनी त्यौं ।।

(ग) नेही नंदलाल की गुलाल की घलाघल में,
यों तन पसीजि घनघोर की घटा भयौ ।
चोरै चखचोटन चलाक चित्त चोर्‍यो गयौ,
लूटो गई लाज कुलकानि की कटा भयौ ।।

एक गोपिका होली में अपनी लुटी हुई लज्जा को ढूँढ़ रही है—

फहरि गई धौं फबै रंग के फुहारन मैं
कैधौं तराबोर भई अतर अ्पीच मैं ।
कहै पद्माकर चुभी सी चार चोवन मैं
उलचि गई धौं कहूँ अगर उलीच मैं ।
हाय इन नैनन तें निकरि हमारी लाज
कित धौं हेरानी हरिहारन के बीच मैं ।
उरझि गई धौं कहूँ उड़त अबीर रंग
कचरि गई धौं कहूँ केसरि की कीच मैं ।।

होली में यह सब होता है । गोपिका की लाज लुटती है और बाद में वह उसकी अनु-शोध करती है – पश्चात्ताप होगा, स्मृति आती होगी, हर्ष भी होता होगा । एक को होली में कृष्ण द्वारा किये गए व्यवहार पर क्रोध आता है और वह प्रतिशोध की भावना से भर उठती है—

गइल मैं गाइ कै गारी दई फिरि तारी दई औ दई पिचकारी ।
त्यौं पद्माकर मेलि मुठी इत पाइ अकेली करी अधिकारी ।
सोंहें बबा की करे हौं कहौं यहि फाग को लेहुँगो दाँव बिहारी ।
का कबहूं मझि आइहौ ना तुम नन्दकिसोर या खोर हमारी ।।

इसे प्रतिशोध कहें या चसका ! एक बार प्राप्त आनंद को फिर पाने की आकांक्षा ! होली प्रेमोत्पादन और प्रेम-विवर्धन का अद्वितीय पर्व है। कृष्ण मधुर मधुर स्वर में अपनी मुरली बजाते हुए आते हैं, ग्वालों के संग में आते हैं कामदेव सी छवि लिए हुए आते हैं धमारों की धूम-धाम और अबीर की उड़ती हुई गरद के बीच आते हैं और एक गोपिका विशेष को अपने प्रेम के रंग में भिगो जाते हैं—

को हौ वह ग्वालिनि गुवालनि के संग में
अनँग छबिवारो रसरंग भिनै गयो।
कै गयो सनेह फिरि छ्वै गयो छरा को छोर
फगुवा न दै गयो हमारो मन लै गयो।[1]

एकाध जगह पद्माकर जी ने फाग के अवसर पर नायक के चित्त की मुग्धता का भी वर्णन किया है। पतली कमर वाली एक तरुणी की 'बाँकी अवलोकनि' का उसके दिल पर जो असर दिखाया गया है वह थोड़ा शायराना प्रभाव लिए हुए—

चोरिन गोरिन मैं मिलि कै इतै आई ही हाल गुवाल कहाँ की।
जाकी न को अवलोकि रह्यो पद्माकर वा अवलोकनि बाँकी।
धीर अबीर की धुंधुर मैं कछु फेर सो कै मुख फेरी कै झाँकी।
कै गई कार्टा करेजन के कतरे कतरे पतरे करिहाँ की।।

होली खेलने के बाद के भी कुछ उन्मादक चित्र पद्माकर प्रस्तुत कर गए हैं। उदाहरण के लिए एक नवल किशोरी है जो होली के रंग में भली भाँति भिगोई गई है और सुगंधियाँ जिसे अच्छी तरह चुपड़ दी गई हैं। होली खेल कर वह लौटी है और स्नान करने जा रही हैं अंगों को धोकर रंगों को छुड़ाने की गरज से। उसका वर्णन अतिशय चित्रात्मक है—

आई खेलि होरी घरैं नवल किसोरी कहुँ
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।
कहै पद्माकर इकंत चलि चौकी चढ़ी
हारन के बारन के फंद बंद छोरै है।

---

१. फगुवा देने की बात को लेकर अन्यत्र भी ऐसी ही उक्तियाँ पाई जाती हैं—
(क) फाग में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लेन चली हौ। (पद्माकर)
(ख) इतै पै नवेली लाज अरस्यो करै जु, प्यारो
मन फगुवा दै गारी हूँ कौं तरस्यौ करै। (घनानंद)
(ग) ज्यौं ज्यौं पट झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू, फगुआ देत बने न।। (बिहारी)

घाँघरे की घूमन सु अरुन दुबीचे पारि,
आँगीहू उतारि सुकुमारी मुख मोरै है ॥
दंतन अधर दावि दूनर भई सी चापि
चौअर पचौअर कै चूनर निचोरै है ॥

एक दूसरी गोपिका है जो मधुपान करती रहती हैं, श्याम उन्मदिष्णु की भाँति आकर उसका अंचल खींच लेते हैं और झूठ-मूठ को गुलाल की मूठी मार देते हैं। गुलाल उस पर झोंकते नहीं परन्तु वह मदमत्त तो वे सम्हाल हुए बिना नहीं रहती और आध घड़ी तक वह अपने अंगों को झाड़ती और अपने वक्ष देश को ही देखती रह जाती है—'राती परी सो रही धरी आध लौं झारत अंग निहारत छाती।' इसी प्रकार फागुन की यामिनी गोविन्द के संग बिता कर प्रातःकाल वह जिस शोभा को प्राप्त होती है उसका वर्णन देखिए—उसके अधरों पर लाली है, मुख पर ललक जगा देने वाली प्रसन्नता है और—

देहैं भरी आलस कपोल रह रोरीभरे,
नींद भरे नयन कछूक झपैं झूलकैं।
भाग भरे भाल औ सुहाग भरे सब अंग
पींक भरी पलकैं अबीर भरी अलकैं ॥

इस प्रकार होली पद्माकर के काव्य में ऐसे पर्व के रूप में आई है जो उनका शृङ्गार-परक कविता के लिए असाधारण वर्ण्य का काम कर गई है। प्रणय-व्यापारों के मुक्त स्वरूप के निदर्शन के लिए इस संदर्भ में उन्हें पर्याप्त अवसर मिला है और इसका उन्होंने पर्याप्त उपयोग भी किया है। इसी कारण अन्य कवियों की अपेक्षा उनकी होली के प्रसंग की कविताएँ अधिक मनहर बन पड़ी हैं।

ऋतु एवं प्रकृति—उद्दीपन विभाव के रूप में मध्य युगीन कवि जन ऋतु प्रकृति आदि का वर्णन करते आए हैं। अब हम यह देखना चाहेंगे कि शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन सामग्री कही जाने वाली प्रकृति पद्माकर के द्वारा किस प्रकार चित्रित हुई है। पद्माकर ने प्रकृति को विशेषतः ऋतुओं के संदर्भ में प्राकृतिक उपकरणों का वर्णन किया है और ऐसा करते हुए एक ओर जहाँ उन्होंने ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन किया है और अपने रीति कर्म का निर्वाह किया है वहीं कल्पना एवं कवित्व शक्ति से संपन्न होने के कारण पद्माकर जी ने प्रकृति के सौंदर्य में उसके हर्ष-विषाद में अपने अभिनिवेश का भी परिचय दिया है। सर्वथा स्वतंत्र प्रकृति वर्णन तो एकाध छंदों में ही मिलेगा। शेष वर्णन मानव-भावनाओं से संपृक्त ही हैं।

ऋतु वैभव की व्याप्ति—अनेक छंदों में कवि ने यही दिखलाया है कि अमुक ऋतु इन-इन, इन-इन स्थानों पर अपनी पूरी छटा के साथ छहर रही है। उदाहरण के

लिए निम्नलिखित पंक्तियों वाले छंदों को लिया जा सकता है जिनमें क्रमशः वसंत, वर्षा और शरद की सर्वव्यापकता को ही निदर्शित किया गया है—

(क) कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में, क्यारीन में कलित कलीन किलकंत हैं।

(ख) मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले, मंद मंद मारुत महूम मनसाफी है।

(ग) तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै, बृन्दाबन बीथिन बहार बंसीवट पै।

एक-एक वस्तु और प्रकृति के एक-एक अंग को लेकर उस पर ऋतु विशेष का प्रभाव-सूचन करने में जहाँ चित्र उतरता चलता है वहीं दृष्टि के प्रसार और ऋतु के विलास-विस्तार का भी भाव मन में बँधता चलता है। ऋतुओं का जो आनंद है उसके व्यापक प्रसार और कवि के निजी आंतरिक उल्लास की भी इस प्रकार के छंदों में अभिव्यंजना हो सकी है। वसंत ऋतु के आगमन पर प्रकृति में जो परिवर्तन लक्षित होते हैं उसे भेदकातिशयोक्ति के सहारे कवि ने बड़े ही सुन्दर, सजीव एवं चित्रात्मक ढंग से उपस्थित किया है—

औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
औरै डौर झौरन पैं बौरन के वैगए।
कहै पद्माकर सु औरै भाँति गलियान,
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गए।
औरै भाँति बिहग समाज में अवाज होति
ऐसे रितुराज के न आज दिन द्वै गए।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गए॥

इसी शैली के अनुसरण पर और पद्माकर जी के उक्त छंद से ही प्रेरित होकर द्विज-देव ने भी वसंत वर्णन-संबंधी कई छंद लिखे हैं।

अनुकूल वातावरण निर्माण—कुछ छंदों में पद्माकर ने यह बतलाया है कि प्रकृति प्रणय के लिए परम अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है, ऐसा वातावरण प्रकृति द्वारा स्पष्ट एवं निर्मित होता है जिसमें प्रेम का सम्यक विकास हो सकता है[1]—वृन्दावन की वीथियाँ, ताल-तमालों के वन, पूनम की रात और कुन्जों में गोपिका का मनहरन गुपाल से मिलना! कैसे सम्मोहक वातावरण के बीच प्रणय-मिलन आयोजित है। दूती एक प्रणायिनी गोपिका को निश्चिन्त भाव से एक प्राकृतिक सुषमा संपन्न वन कुन्ज में चलने का निमंत्रण दे रही हैं। वह उपवन ही ऐसा मादक है जहाँ प्रेम भावना का अनायास उदय और विकास होगा—

चालौ सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागनि घनेरे अलि घूमि रहे।

[1] जगद्विनोद : छन्द ११२, ११८, २५३, ३८६ तथा प्रकीर्णक, छंद ६४, ६६.

कहै पद्माकर मयूर मंजु नाचत हैं
चाइ सों चकोरिन चकोर चूमि चूमि रहे।
कदम अनार आम अगर असोक थोक
लतनि समेत लौने लौने लागि भूमि रहे।
फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे फबि रहे,
झपि रहे झालि रहे झुकि रहे झूमि रहे।

यहाँ पर प्रकृति का ही जो चित्र अंकित किया गया है उसी में एक मस्ती है, स्वयं प्रकृति ही आनंद-क्रीड़ा में निमग्न है, मन को फिर तन्मय होते क्या देर लगेगी। हिंडोला भूलने का जहाँ वर्णन कवि ने किया है वहाँ भी आह्लादक प्रकृति के पुष्प संसारमय वातावरण का आलेख हुआ—स्वयं हिंडोला, उसकी डोर, उसके खंमे, उसकी पटिया, उसके फँदने, उसके झालर, उसकी फुलवारी, उसकी फर्श सभी कुछ तो पुष्पमय है—फूलझरी, फूलभरी फूलजरी फूलन में फूलई सी फूलति सुफूल के हिंडोरे में।' जहाँ भौंरे गुंजार करते हैं, वनकुंजों में मलारें गाई जाती हैं, मयूरों का शोर होता है और तमाम झूले पड़े होते हैं। वहाँ विहार करना और हिंडोला झूलना एकान्त सुख का ही कारण हो सकता है—'नेह सरसावन में मेह बरसावन में सावन में झूलिबो सुहावन लगत है।' प्रकृति की इसी उन्मादिनी शक्ति के आधार पर तो एक परदेश जाते हुए प्रिय को प्रेमिका के चले जाने की अनुमति दे देती है। वह कहती है कि जरा इन्हें गाँव की सीमा तक पहुँचने ता दो यह मादक ऋतु, ये हवा के झोंके से कोइलिया की कूकें, ये उलहे वन में वन-विहार इन्हें आप से आप आगे न बढ़ने देंगे। प्रकृति की उन्मादकारी शक्ति पर जिसका ऐसा अटल विश्वास हो उस ऋतु और प्रकृति की विभा का क्या कहना! पद्माकर ने इस प्रकार के छंदों में यही दिखलाने की चेष्टा की है कि प्रकृति स्वयं अनुरागवती है, वह स्वयं प्रणयमूर्ति है और मानव के प्रेम व्यापारों के लिए तो वह श्रेष्ठतम आश्रय है। उसके क्रोड़ में उसी से प्रेरणा पाता हुआ तरुण प्रेमीयुगल अनन्त आनन्द लाभ कर सकता है।

प्राकृतिक उपकरणों की सुखदता—नाना ऋतुओं में प्रकृति के ही कितने उपकरणों की चर्चा कवि ने आमोद-प्रमोद की सुखद सामग्री के रूप में की है। उदाहरण के लिए ग्रीष्म ऋतु में पानी के फौव्वारे, नहरें और नदियाँ हिम, अंगूर, गुलाब, पंकज की पंखुड़ियाँ आदि प्रभूत सुख के साधन हैं। कवि ने इन्हें ग्रीष्म ऋतु की सौख्य सामग्री के रूप में सुझाया है—

(क) फहरै फुहारै नीर नहरै सी बहै
छहरै छबीन छाम छीटिन की छाटी है।
कहै पद्माकर त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ
पावैं क्यों प्रबेस बेस बेलिन की बाटी है।

बारहूँ दरीन बीच चारहू तरफ तैसी
बरफ बिछाय तापैं सीतल सुपाटी है।
गजक अंगूर की अँगूर से उचौहैं कुच
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी है॥

(ख) ग्रीषम कहत कहा मान के महल बैठी
चंदन चहल थल थलन मचाइ कै।
कहै पद्माकर घनेरे घनसार घोर
चार चौरा बोर कै गुलाब छिरकाइ लै।
पंकज की पाँखुरी बिछाइ परजंक पर
फरस फुहारन की फैल सरसाइ लै
कीजिये उताली ह्वै है आनन्द बहाली बन
माली सों लिपट आली लपट बराइ लै॥

इसी प्रकार हेमंत और शिशिर में तरणि का तेज तथा अन्य सदृश वस्तुएँ, प्राकृतिक उपकरण अथवा उनसे विनिर्मित वस्तुएँ सुख उपजाने वाली कही गई हैं। इस संदर्भ में उक्त ऋतुओं से संबंधित छंद देखने योग्य हैं[1] जैसे 'अगर की धूप मृगमद की सुगंध बर, बसन बिसाल जाल अंक ढाँकियतु है' अथवा 'गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं, चाँदनी हैं चिकैं हैं चिराकन की माला है।' आदि से आरंभ होने वाले छंद।

उद्दीपन रूप—ऋतु एवं प्रकृति वर्णनात्मक छंदों का एक समूह ऐसा भी छाँटा जा सकता है जिसमें ये उपकरण मानव मन से अनिवार्यतः संबद्ध कर दिये गए हैं। ऐसे छंदों में भी भावों के नाना स्तरों के दर्शन होते हैं। प्रकृति प्राणी की भावना के ही अनुरूप कभी बदली-सी नजर आती है, कभी वह अप्रिय लगती है, कभी वह चित्त को अधीर कर देती है और कभी वह चित्तवृत्ति या मानव मनोदशा को अतिशय उद्दीप्त कर देती है। भावना के ये स्तरभेद यों तो सभी प्रकार के भावों के संदर्भ में थोड़ा बहुत दिखाए जाते हैं या दिखाए जा सकते हैं किन्तु काव्यों के अंदर प्रायः प्रणय की निवृति के संदर्भ में कवियों ने इनका निदर्शन किया है और उसमें भी विशेष रूप से वियुक्ता की दिनचर्या दिखाते हुए पद्माकर ने भी इसी क्रमागत रीति के अनुरूप प्रकृति के स्वरूप में और उसके प्रभाव में किंचित भिन्नता का वर्णन किया है—

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल छंद से छ्वै गए हैं।
पद्माकर चाँदनी चंदहु वे कछु और ही ठौरन वै गए हैं।
मन मोहन सों बिछुरे इत ही बनिकै न अबै दिन द्वै गए हैं।
सखि ये हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं॥

---

[1]. जगद्विनोद : छंद ३९०, ३९१.

प्रकृति तो वही है पर उसमें गोचरीभूत भिन्नता का कारण मानसिक है । अन्तर्जगत में जो एक वियुक्तिजनित व्यथा है वही प्रकृति में प्रक्षेपित दिखलाई गई है । इस तथ्य को पहचाने के लिए साधारण अनुभव ज्ञान ही पर्याप्त है कुछ मानसशास्त्र की विशेष अभिज्ञता इसके लिए आपेक्षित नहीं । स्वयं पद्माकर ने भी प्रकृति में दृश्यमान या प्रतीयमान परिवर्तन का कारण आंतरिक वृत्तियों का ही विपर्यय ठहराया है । धन-धाम, चंद्र-चन्द्रिका सायं-प्रात कुछ अच्छा नहीं लगता, प्रकृति की सारी रमणीयता तिरोभूत सी प्रतीत होती है—

> घर न सुहात न सुहात बन बाहिरि हू
> बाग न सुहात जे खुस्याल खुसबोही सों ।
> रात हू सुहात न सुहात परभाँत आली
> जब मन लागि जात काहू निरमोही सों ।।

चेतन प्रिय की अप्राप्ति से प्रकृति की रम्यता अर्थहीन हो गई है । भावना के अब और भी ऊँचे सोपान पर आइये । यहाँ प्रकृति न केवल भिन्न या अप्रिय प्रतीत हो रही है वह दाहक हो रही है और वेदना पहुँचा रही है तथा चित्त इसके कारण विक्षोभ का अनुभव करता है और प्रकृति के उपकरणों को बुरा भला भी कह चलता है । एक गोपिका कृष्ण के पास संदेश भेजती है कि वसंत ने बल्लरियों को पत्रहीन कर दिया है, वन कुंज यहां पुष्पित नहीं हैं, पलाशादि के विकास को विकास मत समझो, अग्नि ज्वाल के समान दहक रहे हैं और हमें भी दग्ध कर रहे हैं—

> (क) पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के
> परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं ।
> किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
> डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं ।।
> (ख) त्यों पद्माकर देखौ पलासन पावक सी मनौ फूकन लागी ।
> कारा कुरुप कसाइनी ये सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी ।।

वसंत के ही समान वर्षा भी विरही चित्त को बेहद अधीर कर देती है - चंचला की चपलता, लवंग लतिकाओं का लरजना समीर का तरजना और घुमड़ती घटाओं का बार-बार गरजना धैर्य के सुमेरु को भी विचलित कर देता है ।[1] बरसते हुए मेघ कामव्यथा की उद्दीप्ति करते हैं और पपीहे की हूक में स्वातिजल की प्यास नहीं किसी वियोगिनी के प्राणों को पी लेने की तृषा है ।[2] शरद का चन्द्रमा भी ऐसी ही कुटिलता अख्तियार किये हुए है हो कै द्विजराज काज करत कसाई को ।' प्रकृति की

---

[1]. जगद्विनोद : छंद ३८६.

[2]. वही : छंद ३८७.

इन उद्वेग उत्पादिनी क्षमता का बड़ा ही गत्यात्मक और मनोग्राही बिंब सजल मेघों के आगमन का वर्णन करने वाले अधोलिखित छंद में देखिए—

अंगन अंगन माहिं अनंग के तुंग तरंग उमाहत आवैं।
त्यों पद्माकर आसहू पास जवासन के बन दाहत आवैं।
मानवतीन के आनन में जु गुमान के गुंबज ढाहत आवैं।
बान सी बुंदन के चदरा बदरा बिरहीन पै बाहत आवैं॥[1]

कुछ छंदों में रीति की परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रकृति के उपकरणों को लेकर कुछ रूपक भी खड़े किये गए हैं। अलंकृत शैली पर किये गए ये विभाव वर्णन सर्वत्र सुन्दर ही बन पड़े हों ऐसी बात नहीं। कुछ भोंड़ी कल्पनाएँ भी खड़ी की गई हैं जिनमें न तो कोई वैशिष्ट्य है और न कोई सरसता।

ऐश्वर्यपूर्ण एवं विलासमय वातावरण

पद्माकर का काव्य उस ऐश्वर्यमय वातावरण की कुछ झलक देता है जो रीतियुगीन सामन्तों को सुलभ था और जिसके बीच भोग-विलासमयी जीवनचर्या चली चलती थी। आज भी मुगल काल के भवनों और महलों को देख उस युग के रंगीन वातावरण का स्वरूप मन पर उतरे बिना नहीं रहता। अंतःपुर, मणिमंदिर, केलिभवन, चित्रसारी आदि के ऐश्वर्य और वैभव का कहना ही क्या था! सोलहों शृंगार करके सहेलियों के साथ नवेलियाँ केलिमंदिर में आती हैं, समीप ही गुलाबपाश होता था खस का इत्र होता था और अन्यान्य प्रकारों की सुगन्धियाँ रक्खी होती थीं, हीरों के हौज गुलाब जल से भरे होते थे, दंपति-मिलन के लिए खूब प्रकाश होता था, चाँदनियों पर चमेली की चार लड़ों वाली मालाएँ होती थीं और चंदन की चौकियों पर चंगेरियाँ या फूलों से भरी हुई डालियाँ रक्खी होती थीं—भोग के ये सारे सरंजाम ग्रीष्म ऋतु के लिए एकत्र किये जाते थे। शीत ऋतु में झुक कर झूमते हुए झालरदार वितान होते थे, मोटे गलीचे और गुलगुले गद्दे होते थे और समग्र केलिमंदिर में ज्योति की जगर-मगर विकीर्ण कर देने वाली दीपावलि होती थी। सुराही, सुरा और चषक होते थे, गरम-गरम खाद्य पदार्थ होते थे और सेज होती थी, तरुणियाँ होती थीं और दुशाले होते थे, तेल और तमोल होता था तथा तान की तरंगें हुआ करती थीं। ये सब सामग्री ऐन्द्रिक सुख के लिए ही हुआ करती थीं उसका और कोई प्रयोजन न था। स्पष्ट ही ये चित्र युग की सामंती मनोवृत्ति और जीवनचर्या पर प्रकाश डालते हैं।[2] जब हिम्मत बहादुर जैसे छोटे-छोटे राजा-रईसों की यह हालत थी तब बड़े-बड़े

---

१. प्रकीर्णक के अन्तर्गत देखिये वर्षा वर्णन संबंधी छंद ६२ और ६३।

२. जगद्विनोद : छंद १७४, २०५, २०६, २१३, २६०, २६४, ३६०, ३६१, ३६५, ४३६, प्रकीर्णक छंद ७६।

रजवाड़ों और राजमहलों के बेइन्तहा वैभव और ऐश-इशरत का तो कहना ही क्या। प्रिय के आगमन पर उसका स्वागत मामूली ढंग से नहीं होता था—

अगमन कान्ह आगमन के बधाए सुनि
छाए मग फूलनि सुहाए थब थल के।
कहैं पद्माकर त्यों आरती उतारिबे कौं
थारन मैं दीप हीरहारन के छलके।
कंचन के कलस भराइ भरि पन्नन के
ताने तुँग तोरन तहाँ ही झलाझल के।
पौरि के दुआरे तें लगाइ केलि मंदिर लौं
पदमिनी पाँउड़े पसारे मखमल के॥

और भी बहुत कुछ होता था—

कहै पद्माकर सु पन्नन के हौज हो
ललित लबालब भरे हैं जल बास बास।
गूँदि गूँदि गेंदें गजगौहरनि गंज गुल
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाबपास।
खासे खस बीजनि सु खौन खौन खाने खुले
खस के खजाने खसखाने खूब खसखास॥

ग्रीष्म में सुख की सामग्री इस प्रकार जुटाई जाती थी—

नीर के तीर उसीर के मंदिर धीर समीर जुड़ावन जी रे।
त्यों पद्माकर पंकजपुंज पुरैनी के पात परैं जे न पीरे।
ग्रीषम की क्यों गनैं गरमी गजगौहर चाह गुलाब गँभीरे।
बैठी बधू बनी बागबहार में बार बगारि सिवार से सिरे॥

और पद्माकर का शीतोपचार तो साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध ही है—

गुलगुली मिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी हैं चिकै हैं चिराकन की माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेजै हैं सुराही हैं सुरा हैं अरु प्याला हैं।
सिसिर के पाला फे न ब्यापत कसाला तिन्हैं
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं॥

संभोग शृंगार

पद्माकर ने संभोग के चित्र बड़े जोश खरोश के साथ अंकित किये हैं। रमणीय नायिका के संग संभोग को कवि ने तरह-तरह से बार-बार वर्णित किया है। संभोग वर्णन में पद्माकर बहुत आगे बढ़े हुए हैं। उनसे आगे बढ़ने की ताकत सिर्फ उमंगी बोधा में ही दिखाई देती है।

प्रेमी नायक नायिकाओं का एक दूसरे पर मुग्ध होना बड़ी ही सुन्दर रीति से दिखाया गया है—जब से दोनों ने एक दूसरे के रूप सौंदर्य का वर्णन सुना है तभी से दोनों एक दूसरे के संग रहने लगे हैं। शरीर से न उही मन से तो दोनों एक दूसरे के साथ रहते हैं, दोनों सदा एक दूसरे के ध्यान में रहने लगे हैं और उनका मोह इस प्रकार बढ़ा हुआ है कि दो में से किसी एक को भी दूसरे को छोड़कर किसी और चीज की सुध नहीं रह गई है—

> ध्यान में दोऊ दुहून लखैं हरषैं अंग अंग अनंग उछाहीं।
> मोहन को मन मोहिनी में बस्यो मोहिनी को मन मोहन माहीं॥

यह तो प्रत्यक्ष साक्षात् के पूर्व की स्थिति है और जब वह सुदिन और मूहुर्त्त आता है जब दोनो के नेत्र एक दूसरे का साक्षात्कार करते हैं उस समय की उनकी आनंद दशा तो कही ही नहीं जा सकती—

> (क) आजु ही की दिखा दिखी में दसा दोउन की नहिं जात कही है।
> मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहनी मोहि रही है॥
> (ख) देखु दिखा दिखी के सुख में तनकौ तन को न सम्हार रही है।
> जानत हौं सखि सापने में नँदलाल को नारी निहारी रही है॥

दोनों प्रेमियों का संबंध जुड़ता है और साहचर्य के दिन आते हैं। शुरू-शुरू में तो प्रिय का निकट आना ही प्रिया के लिए बहुत था, उतने की ही लज्जा वह सँभाल नहीं पाती थी—

> ज्यौं लखि सुंदरि सुंदरि सेज तें यों रिरकी थिरकी थहरानी।
> बात के लागे नसीं ठहरात हैं ज्यों जलजात के पात पै पानी॥

रोज ही कन्हाई सूने गैल से जाती हुई गोपिका के निकट आते थे और रोज ही वह उनसे कह देती थी 'साँउरे बाउरे' तैं हमैं छू ना लेकिन यह निषेध कब तक चल सकता था, एक दिन उस निर्जन मार्ग को देख हरि से रहते न बना और न उस गोपिका से ही कुछ कहते बना—

> जाति हुती नित गोकुल कौं हरि आवै तहाँ लखि कै मग सूना।
> तसों कहौं पद्माकर हौं अरे साँउरे बाँउरे तैं हमैं छू ना।
> आजु धौं, कैसी भई सजनी उतवा विधि बोल कढ़योई कहूँ ना।
> आनि लगायो हिये सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना॥

अब दोनों की प्रेम-क्रीड़ाएँ शुरू हो जाती हैं। गाय का दुहना दुहाना ही कभी परम मनोहर प्रणय व्यापार का रूप ले लता है—

> बछरै खरीप्यावै गऊ तिहि कों पद्माकर को मन ल्यावत है।
> तिय जानि गिरैयाँ गही बनमाल सु एंचे लला इँच्यो छावत है।
> उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दाबत है।
> दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है।

अब ये प्रेमी युगल खुल कर जीवन का सुख लूटते हैं। पूस की रात में रंग महल में बैठकर मदपान करते हैं और शीत पर विजय पाकर निर्द्वंद्व भाव से काल यापन करते है। मधु के दौर अखंड भाव से सारी रात चलते हैं। नेत्रों के मदभरे प्यालों से वे छवि का आसव पीते हैं और पीते चले जाते हैं।[1] कभी वे जलकेलि में निमग्न होते हैं और यौवनोन्माद में बहते चले जाते हैं। जलकेलि की उतावली और उन्मत्तता में जीव रक्षा की चेतना भी नहीं रह जाती—

> टूटे हरा छुरा टूटे सबै सराबोर भई अँगिया रँगराती।
> को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गुबिंद तो मैं बहि जाती।।

रंगमहल में प्रणय व्यापारों के अनेक दृश्य पद्माकर ने दिखाए हैं और खुल कर दिखाए हैं—स्पर्श, चुंबन, परिरंभ आदि। उनके संबंध में विस्तार से कुछ कहना भी ठीक नहीं और न कहने से पद्माकर के काव्य के एक महत्वपूर्ण अंश से काव्य पाठकों को अंधकार में ही रखने का दोष पल्ले पड़ता है। इसलिए ऐसे प्रसंगों को कवि की भाषा में ही रखना समीचीन प्रतीत होता है—

> (क) अंचल के ऐंचे चल करत दृगंचलनि
> 　　　चंचला ते चंचल चलै न भाजि द्वारे कों।
> कहै पद्माकर परै सी चौंकि चुम्बन में
> 　　　छलनि छपावै कुचकुंभनि किनारे कों।
> छाती के छिये पै परै राती सी रिसाइ
> 　　　गलबाहीं के किये पै करै नाहीं के उचारे कों।
> ही करति सीतल तमासे तुंग नी करित
> 　　　सी करति रति में बसी करति प्यारे कों।।
>
> 　　　　　　　　　　(संभोग व्यापार)

> (ख) छाक छकी छतिया धरकै दरकै अँगिया उचकैं कुच नीके।
> त्यों पद्माकर छूटत बारहू टूटत हार सिंगार जे ही के।

---

[1] जगद्विनोद : छंद ४८९

संग तिहारे न झूलहुँगी फिर रंग हिंडोरे सु जीवन जी के।
यों मिचकी मचकौ न इहा लचकै करिहाँ मचकें मिचकी के ।।

(हिंडोला झूलना)

(ग) रति बिपरीति रची दंपति गुपति अति
मेरे जान मान भय मनमथ नेजे तें।
कहै पद्माकर पगी यों रसरंग जामें
खुलिगे सु अंग सब रंगनि अमेजे तें।
नीलमनि जटित सु बेंदा उच्च कुच पैं
परयो है टूटि ललित लिलाट के मजेजे तें।
मानौं गिरयौ हेमगिरि सृंग पैं सु केलिकरि
काढ़ि कै कलंक कला निधि करेजे तें ।। (बिपरीत-रति)

(घ) अधखुली कंचुकी उरोज अधआधे खुले
अधखुले बेष नखरेखन के झलकैं।
कहै पद्माकर नवीन अधनीबी खुली
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं।
भोर जगि प्यारी अध-ऊरध इतै की ओर
झाँखी झिखि झरफ उघारी अध पलकैं।
आँखैं अधखुली अधखुली खिरकी है खुली
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं ।।

(सुरतान्त स्थिति)

इस प्रकार के संभोग शृंगार के कितने ही चित्र 'पद्माकर' की कविता में देखे जा सकते हैं। सुरतान्त दशा के चित्रों में खुली हुई बेणी, टूटे हुए मोतियों के हार, आँखों में रति, अंगों में शिथिलता और आलस्य, जमुहाई और अँगड़ाई प्रस्वेद मुक्ताओं का किल मिलाना, पीक भरी पलकें आदि ही वर्णित हुए हैं जो परंपरागत रीति पर तो है ही रीति रचना के कारण रीति या रसावभव के उदाहरण रूप में भी लाए गए हैं।[1] अनंग की लहर में आकर रची गई विपरीत रति के वर्णन भी ऐसे ही हैं; उनमें भी सारे सेज पर बिखरी हुई मोतियों, वेश और केश को सँभालने की चेतना से रहित नायिका, बजते हुए घुँघरू और कोलाहल रत किंकिणी, उच्छ्वसित श्वासावलि, मुक्त वक्षोदेश, स्वेदकण रंजित, कपोल, साँवले के शरीर पर पड़ा हुआ श्रमशिथिल तरुणी तन आदि ही कथित हुआ है।[2] इसी प्रकार संभोग के अन्य वर्णनों में कहीं कृष्ण का

१—जगद्विनोद: छंद ४१३, ४८०, ४८३, ४९२
२—जगद्विनोद: छंद ५३ और प्रकीर्णक: छंद ४८, ४९, ५०

गोपिका बलात हिंडोले पर बिठा कर झुलाने का वर्णन है, कहीं नायक-नायिका का परिधान परिवर्तन कर संभोग व्यापार में तन्मय होना वर्णित है और इसी प्रकार के कहीं-कहीं अन्याय व्यापार कथित हुए हैं।[1] पद्माकर की संभोग वर्णना पर्याप्त विशद हैं किन्तु नायक-नायिका को जहाँ एकाधिक व्यक्तियों से अनुरक्त दिखाया गया है वहाँ रसाभास पैदा हो गया है, संभोग का रहा सहा सौंदर्य भी विनष्ट हो गया है।[2]

मानस पक्ष का चित्रण—प्रेम की वर्णना में वहाँ और भी सौंदर्य दृष्टिगत होगा जहाँ कवि ने स्थूल कायिका संबंधों से ऊपर उठ कर प्रणयी युगल के अंतर्तम की छवियाँ अंकित की हैं, क्योंकि मानव व्यक्तित्व की सच्ची मनोहारिता वहीं देखी जा सकती है। ऐसे छंदों में प्रणय भावना की एक से एक मनोहर मधुर और पवित्र झाँकी देखी जा सकती है। ये मनोभाव अधिकतर प्रेमिका या गोपिका के ही हैं जो उसके नायक अथवा कृष्ण के प्रति प्रभूत अनुराग के परिचायक हैं। जबकि गोपिका का कृष्ण से मिलन भी नहीं हुआ रहता तभी से उसका प्रेम बरसाती नदी की तरह उमड़ता हुआ दिखाया गया है। वह अपने अंग-अंग में गोविन्द के गुणों को भर लेना चाहती है। प्रियतम के संसर्ग की उसकी दुर्दमनीय आकांक्षा इस छंद के शब्द-शब्द से फूटी पड़ रही है—

हारन में बारन में कंचुकी निनारन में
वे गुन गुबिंद ही के गाँज दै री गाँज दै।
कहै पद्माकर अगार अनखीलिन की
भीरी भीर भारन कों भाँज दै री भाँज दै।
आव पद पंकज पराग ही लै प्रीतम को
ये पल कपोल मेरे माँज दै री माँज दै।
साँवरी सिरी मैं बोरी आँगुरी अहेरी एरी
मेरी इन आँखिन मैं आंज दै री आँज दै।

अनुरागवती गोपिका नाना प्रकार से अपनी अभिलाषाओं को व्यक्त कर रही हैं—वे 'गनगौर गुसाइँन' से वरदान माँगती हैं कि हे देवी ऐसा कुछ उपाय कर दो जिससे मैं मोहन की बाँसुरी हो जाऊँ और उनके अधरों का संसर्ग सदा प्राप्त करती रहूँ, मैं मैं वनमाल होकर सदा उनके कंठ से लिपटी रहूँ, लकुटी होकर उनके हाथों में घूमती रहूँ, पीतांबर होकर उनकी कटि से बँधी रहूँ। वह उस वनोपवन की मालिन बनना चाहती है जिसमें गोपाल विचरण करते हैं और इस प्रकार उन्हें विशाल और सघन पुष्पों की माला पहिनाया करेंगी, वह उनके मुँह की ओर देख-देख कर आवश्यकता-

[1]—जगद्विनोद : छंद ५१९, ५१

[2]—जगद्विनोद: छंद ७६, १०९

नुसार उन्हें पान समर्पित करने के उद्देश्य से उनकी 'खवासिन' हो जाना चाहती है, वह गुणाकर गोबिंद के घर की चेरी होकर अपने सारे अरमान पूरे करना चाहती है। इन आकांक्षाओं को मन में लिए हुए वह प्रणयिती नित्य ही तड़के उठती है, स्नान करती है, जल भरती है, फूल चुनती है और 'गनगौर गुसाइन' के मंदिर में जाती है।[१] उसकी कैसी-कैसी तो आकांक्षाएँ हैं और कैसे-कैसे वह उन्हें अभिव्यक्त करती है—

> गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन बीथिन में बढ़ि जैयै।
> त्यों पद्माकर कुंज कछार बिहार पहारन मैं चढ़ि जैयै।
> हैं नँदनंद गुबिंद जहाँ तहाँ नंद के मंदिर मैं मढ़ि जैयै।
> यौं चित चाहत मेरी भटू मनमोहनै लै कै कहूँ कढ़ि जैयै।।

नंद गाँव से नंदलाल के अपार रूप-रंग को देखकर आई हुए एक गोदना गोदने वाली को वह गोपिका सादर निमंत्रित करती हुई कहती है—आ ! तू तो भली आई है, नंद गाँव से अपार रूपशाली को देख कर आई है, तू तो मुझसे बड़ा है और बड़ी बुद्धिमती है, मेरे अंगों में वही रंग तू अच्छी तरह गोद दे।

> आव तूँ आव दिखाव सुई अँग अंग लगाव दुराव कहा री।
> साँवरे को रँग गोद दै गातनि ए गुदनान की गोदन हारी।।

यह भावना कितनी मधुर और मनोहर है अभिनव और रमणीय है। इस प्रकार प्रिय से भेंटने की उससे मिलने की शतशत इच्छाएँ तरुणी के मनोलोक में जगती हैं लेकिन जब मिलन की घड़ी आती है तो अरमानों में अकथ जड़ता आ जाती है—वे उसके द्वार पर आते हैं वह स्वागत के लिए देहली तक पहुँचती है, वे हर्षित होकर उसे देखते हैं वह भी हर्ष भरी उन्हें देखती ही रह जाती है, मुग्धता दोनों की देखने योग्य है पर गोपिका भी विशेष—

> ऐसे मैं न जान्यो गयो मेरी आली मेरो मन
> मोहन वे जाइ धौं परयो है कौन ख्याल मैं।
> भूल्यौ भौंह भाल मैं चुभ्यो कै चारु चाल मैं
> छक्यो कै छबि जाल मैं कै बाँध्यो बनमाल में।[१]

रूपासक्ति और हर्षोन्माद का यह अनुपम चित्र है, लज्जा और दर्शनोन्माद के बीच झूलते हुए मन का बहुत ही श्रेष्ठ चित्रण हुआ है। एक ओर अंतस्तल में भरा हुआ प्रेम दूसरी ओर रूप का ज्वार, उसके मनकी क्या दशा होती है वह स्वतः नहीं बखान सकती। लज्जा के कारण, संकोच के कारण, प्रिय के सौन्दर्यातिशय्य के कारण प्रिय जब सामने होता है तब तो देखते नहीं बनता और जब चला जाता है तो मन मसोस मसोस कर ही रह जाता है, पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। वह कहती है अंगों में

---

[१] प्रकीर्णक : छंद ७०, ७१, ७२

परिंदों के समान भगवान ने पंख क्यों नहीं दिये, और भी आँखें क्यों नहीं दी आदि आदि। प्रिय को इन दो असमर्थ आँखों से देखने पर तो लेश मात्र भी जी नहीं भरता। उसकी बेचैनी देखिये—'कीजै कहा राम स्याम आनन बिलोकिबे कौं, बिरचि बिरंचि न अनंत आँखियाँ दईं।'

प्रेमिका या गोपिका के मनोलोक के कुछ और भी चित्र देखिये। एक बार प्रिय का दर्शन हो जाने पर उसकी दो चार झलक मिल जाने पर या यत्र-तत्र एकाध बार भेंट हो जाने पर गोपिका के बार-बार उससे मिलने की स्पृहा होती है। वह तरह तरह के बहानों की रोज करती हैं—

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तौ कहूँ चित दैबो करौ।
पद्माकर ये बछरा अपने बछरान के संग चरैबो करौ।
अरु औरन के घर में हम सों तुम दुनों दुहावनी लैबो करौ।
नित साँझ सबेरे हमारी हहा हरि गायें भला दुहो जैबो करौ॥

यह ललक रोज मिलने और देखने तक ही सीमित रहने वाली न थी। उसकी तो हविस बहुत अधिक थी पर पुर और गाँव की धड़क भी अंतस्तल में थी, उसे वह कैसे पी जाती! इसीलिए वह कुछ ऐसे ब्यौंत को खोज में आतुर दिखाई देती है जिससे उसके कुल में कलंक भी न लगे और प्रेम विकसित होता चले—

ए दई ऐसो कछू कर ब्यौंत जु देखें अदेखिन के दृग दागै।
जामें निसंक ह्वै मोहन को भरिये निज अंक कलंक न लागै॥

धीरे-धीरे वह भी घड़ी आती है जब प्रेमिका अपनी प्रेम साधना के बल प्रिय को अपना बना लेती है। अब तक तो वह प्रिय पर रीझी हुई थी परंतु अब प्रिय ही उस पर अनन्य भाव से रीझा हुआ है। प्रिय उसका बनाव-श्रृंगार करता है, उसे अपने हाथों से पान खिलाता है, उसके तन-वसन को सुगंधियों से चर्चित करता है, उसकी बेणी गूँधता है उसके माँग सँवारता है और भी अंग-अंग के संभार में प्रवृत्त होता है यहाँ तक कि हृदय में उसके माला भी डाल कर सँवारता है। ऐसे प्रेमी नायक के प्रति कथित उक्ति में प्रणयिनी के लज्जासूचक मधुर मनोभाव अतिशय मनोग्राही हैं—

मो मुख बीरी दई तो दई सु रही रचि साधि सुगंध घनेरौ।
त्यों पद्माकर केसरि खौरि करी तौ करी सो सुहागु है मेरौ॥
बेनी गुही तौ गुही मनभाउते मोतिन माँग सम्हारी सबेरौ।
और सिगार सजे तौ सजौ इक हार हहा हियरे मति गेरौ॥

प्रेमिका ने अपने रूप से, गुण से, आचरण से, स्वभाव से, सब प्रकार से प्रिय को वशीभूत कर लिया है यहाँ तक कि वह अब उसके साथ-साथ ही लगा डोलता है। खाता है तो उसके साथ, पीता है तो उसके साथ, बैठता है तो उसके साथ गरज यह कि उसके बिना कोई काम नहीं करता और जैसा कि प्रणयिनी ने कहा भी है कि 'मा

बिन माइ न खाइ कछू' उसकी यह दशा हो गई है। ऐसी हालत में नायिका को और सब सुख है बस दुःख है तो एक और वह यह कि उसका प्रिय उसे 'बीरन' के आने पर भी 'मायके' नहीं जाने देता—'और तौ मोहिं सबै सुख री दुख री यहै माइकै जान न देत है।' यहाँ पर प्रेमिका का दुःख भी कितना मधुर है, यह उक्ति जिस प्रेमगर्व की भावना से प्रेरित है वही यहाँ पर द्रष्टव्य है।

कल जो प्रेमिका थी आज वह कुलवधू बनी हुई है। अब उसे अपने प्रेम की रक्षा के साथ-साथ कुटुंब के अन्य प्राणियों के बीच रहते हुए उनकी मर्यादाओं का भी पालन करना पड़ता है। हिन्दू पारिवारिक जीवन में दम्पति को सब प्रकार की छूट आज भी नहीं है, कौटुंबिक मर्यादाओं के पालन न करने पर पारिवारिक जीवन विषाक्त हुए बिना न रहेगा। प्रेमिका यदि चतुर पत्नी और गृहिणी है तो कौटुम्बिक मर्यादाओं का ध्यान अवश्य रखेगी, उसका सुख उसी में निबद्ध है, वह जिनके घर गई हुई है उनके यहाँ के सभी लोगों से उसे सद्भाव-संबंध स्थापित करने पड़ते हैं इसके बिना अपर गति नहीं—

है नहिं माइकौ मेरौ भटू यह सासुरो है सब कौ सहिबो करौ।
त्यों पद्माकर पाइ सुहाग सदा सखिमानहु कौ चहिबो करौ ।।

प्रणयिनी की बौद्धिक-प्रवीणता इसी में है। ऐसे परिगणित वातावरण के बीच भी कुछ चित्र पद्माकर ने उरेहे हैं। प्रिय जब परदेस जाता है तो उससे वापसी संबंधी प्रश्न अत्यंत उद्विग्नता से किये जाते हैं और जब उसके लौटने की घड़ी निकट आती है तो प्रतीक्षा भी बड़ी बेसब्री से की जाती है—

(क) बालम बिदेस तुम जात हौ तौ जाउ पर
साँचि कहि जाउ कब ऐहो भौन रीते पर।
पहर के भीतर कै दो पहर ऊपर ही
तीसरे पहर कैधौं साँझ ही बितीते पर ।।

(ख) एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे
एक कर कंज एक कर है किवार पर ।।

ऐसे मधुर-मनोहर मानस लोक के चित्रों से पद्माकर का काव्य भली-भाँति सौन्दर्यान्वित है।

नायक अथवा प्रेमी मन के चित्र पद्माकर ने बहुत कम या नहीं के बराबर उतारे हैं। जो दो-चार छंद इस संबंध में ढूँढ़ने से मिलेंगे उनमें घोर रसिकता ही छलकती मिलती है—

(क) काल्हि परौं फिरि साजबी स्थान सु आज तौ नैन सों नैन मिला लै।
त्यों पद्माकर प्रीति प्रतीति मैं नीति की रीति महा उर सालै।

ये दिन जोवन एतो इते तन लाज इती तूँ करैगी कहा लै।
नेक तौं देखन दै मुखचंद सो चंदमुखी मत घूँघटि घालै ।।

(ग) जग जीवल को फल जानि पर्यो धनि नैनन कों ठहरैयतु है ।
पद्माकर ह्यो हुलसै पुलके तनु सिंधु सुता के अन्हैयतु है ।
मन पैरत सो रस के नद में अति आनँद मैं मिलि जैयतु है ।
अब ऊँचे उरोज लखे तिय के सुरराज को राज सो पैयतु है ।।

ये भावना किसी सीमा तक बोधा के निकट पहुँची हुई कही जा सकती है । यहाँ पर बोधा के उन छंदों का स्मरण किया जा सकता है जिनमें उन्होंने छिपकर केलि करने वाले नर नारियों को धन्य बतलाया है अथवा इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है कि संसार में अमृत कहाँ है ।

विरह

मानस पक्ष के और भी अधिक उद्घाटन का अवकाश प्रेम-जन्य विरह की वर्णना में हुआ करता है । पति या प्रिय-वियोग की स्थिति में प्रेमिका की दशा का ही कवि ने भाँति-भाँति से निदर्शन किया है, प्रेमी की मनोव्यथा की टोह में वह प्रवृत्त नहीं हुआ है । रीति से बँधकर चलने के कारण प्रायः सभी कवि प्रोषित-पतिकाओं, कलहान्तरिताओं, विप्रलब्धाओं की नानाविध मन-स्थितियों के चित्रण में तो प्रवृत्त हुए पर तरुण नर हृदय की भावनाओं को मूर्तित करने की चेष्टा इतनी कम हुई है कि वह न के बराबर है ।

प्रिय-वियोग का प्रसंग आते ही या उसके प्रवास की चर्चा चलते ही विरहिणी की दुःख की घड़ियों का आरम्भ होने लगता है । आसन्न वियोग की आशंका ही उसके मन को मथने वाली हो जाती है । प्रिय जब जाने को तैयार होता है उस समय वह तरह-तरह से उसे रोकने की चेष्टा करती है कभी गुलाब के गजरे ही उसके रास्ते में डाल देती है कभी ऋतुओं की दुहाई देती है । अन्त में जब प्रिय जाने का ही निश्चय कर लेता है तो वह उससे पूछती है कि कब वापस आओगे । एक छंद में यह उत्कंठा कि जाने वाले प्रिय से मिलन की बेला आएगी अब हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच गई है—'सौ दिन को मारग तहाँ कों वेगि माँगि बिदा' वाले छंद में वह गँवार प्रेमिका पूछती है कि कब लौटोगे एक पहर में कि दो पहर बाद कि तीसरे पहर या चौथे पहर ? रास्ता सौ दिन का है, एक ही तरफ का, लौटने में १०० दिन और लगते हैं प्रवास काल भी कुछ तो होगा ही । फिर भी वह मूर्खा पूछती है क्या चार पहर तक लौट आओगे । प्रत्यक्ष उपहासास्पदता के भीतर उत्कंठा की वह तीव्रता फिर भी दर्श-नीय है जिससे प्रेरित हो सारी चेतनाओं को भूलकर वह ऐसा प्रश्न करती है । यह वह प्रेम प्रमाद है जिसमें लोक भूला हुआ है ज्ञान भूला हुआ है । सच्चे प्रेमी को तो यह

जड़ता समस्त वेद ज्ञान और लोक ज्ञान से भली लगती है। एक अन्य गोपिका में यह विरह वेदना इतनी तीव्र हो उठी है कि वह कहती है कि आज यदि वनमाली जायँगे तो मेरे प्राण बचने वाले नहीं।[१] कोई प्रेमिका ऐसी भी है जो अपना विरह दुख बतलाती भी नहीं, अंदर ही अंदर झेलती है। वह नई दूल्हन है, उसका प्रिय ६ दिन के ही लिए किसी न्यौते में गया हुआ है पर वह ऐसी दुखी है जैसे १०० दिनों का वियोग हो, अपना मुँह छिपाए रहती है और पूछने पर सहेलियों को अपने दुख का सच्चा कारण नहीं बतलाती। ऐसी ही एक और भी प्रेमिका है जो इसी प्रकार की वियोग-दशा से घिरी हुई है और दिन-दिन क्षीण होती जाती है और पूछने पर बोलती है कि मेरी पसलियों में दर्द है। अपने प्रणय को गुप्त रखने वाली लज्जामयी विरहिणियाँ ऐसी ही होती हैं।[२]

शास्त्र कवियों ने पूर्वराग और मान को भी वियोग स्थिति ही माना है क्योंकि मानसिक वियोग इन दशाओं में भी हुआ करता है। शास्त्रकवि होने के कारण पद्माकर ने भी ऐसी स्थितियों का चित्रण किया है जिसमें प्रेमिका सारे लोकलाज को छोड़कर प्रिय का शृंगार करने और प्रिय के सुन्दर रूप को देखते ही रहने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। जो बातें मिलन में बाधक हैं उन्हें त्याग देने पर ही प्रेम का सुख सम्भव है—

> कहै पद्माकर समाज तजि काज तजि
> लाज के जिहाज तजि डारिबोई करिये।
> इन्दु ते अधिक अरबिंद ते अधिक ऐसो
> आनन गोबिंद को निहारिबाई करिये॥

मान से उत्पन्न वेदना भी वियोग की ही वेदना है जो कम गहरी नहीं होती। मान की ग्रंथि जब नायिका के मन में बहुत कस कर पड़ जाती है और नायक के कितने ही प्रयत्नों पर भी खोले नहीं खुलती तो वह अन्ततः दुख का ही कारण होती है। पैरों पर गिरकर क्षमा याचना करने वाला प्रिय जब चला जाता है तब मानवती मूर्खा को अपने आचरण की कठोरता का भान होता है। अब उसकी ही नींद हराम होती है, उसी के चित्त में अनचैन छा जाता है और मुँह सूखने लगता है और अन्त में अपने अविचारित आचरण के लिए पश्चात्ताप ही हाथ लगता है—'प्रानन की हानि सी दिखान सी लगी है हाय कौन गुन जानि मान कीन्हों प्रान प्यारे सों।'[२] वियुक्ति की स्थिति में प्रिय के एक-एक मधुर कर्म और आचरण पर दृष्टि जाती है और मन उसके माधुर्य से भर जाता है—

---

१. प्रकीर्णक : छंद ७८

२. जगद्विनोद : छंद १४६, १५४

हौं हूँ गई जान तित आइगो कहूँ ते कान्ह,
आन बनितान हूँ को झपकि झलो गयो।
कहैं पद्माकर अनंग की उमंगन सों,
अंग अंग मेरे भरि नेह को नलो गयो।
ठानि ब्रज ठाकुर ठगोरन की ठेलाठेल,
मेला के मझार हित हेला कै भलो गयो।
छाँह छ्वै छला छ्वै छिगुनी छ्वै छोर छोरन छ्वै,
छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो॥

मन में प्रिय का प्रेम और दृढ़ीभूत हो जाता है, विरह की यह सबसे बड़ी तासीर है। देखिये न विरहिणी गोपिका इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है—

नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं रोम रोमनि
रसे हैं निकिसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वे गुविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ
मेरो तौ गुविन्द मोहि मोही में रहत हैं॥

बालम विदेश जाता है, उधर उसकी प्रिया की दशा दयनीय हो रहती है। तीन दिन में ही वह तप जाती है प्रिय के लौटने तक की वह प्रतीक्षा कर सकेगी यह संदेहास्पद ही है। धैर्यवाचक शब्द उसे तीर की तरह चुभते हैं और वह पूछने पर भी नहीं बोलती तथा चन्द्रोदय हुआ जान वह मुँह नीचा किये अपने घर के अन्दर चली जाती है। विरह-वेदना का यह सीधा-सादा चित्रण कितना मार्मिक है। उसका अरविन्द-सा चेहरा मुर्झा जाता है, वाचा उसकी मौन हो गई है, मन तो मोहन के संग जा चुका है तथा तन की लज्जा मनोज के पाले पड़ गई है। ऐसी स्थिति में तरुण विरहिणी की कोई भी दुर्दशा सम्भव है।[1] जब वियोग काल के प्रारम्भिक दिनों में उसकी ये हालत है तो आगे उसकी जो दशा होगी उसका तो भगवान ही मालिक है। विरहिणी अपनी दशा कहना चाहती है पर उससे कहते नहीं बनता—'**कंत न मिले को दुख दारुण अनंत तिय चाहत कह्यो पै कछू काहू सो कहै नहीं।**' आँसुओं का कोष आँखों में ही थमा हुआ है, प्रिय के धोखे में वह तमाल वृक्ष को ही पकड़ लेना चाहती है और ढूँढ़कर भी अपना अवलम्ब वह नहीं प्राप्त कर पाती है। यह वियोग दुख ऐसा है जिसे एक तरफ तो वह कहना चाह कर कह नहीं पाती दूसरी तरफ कहे बिना उससे रहा भी नहीं जाता—'**साहस हूँ न कहूँ दुख आपनो भाषैं बनै न बनै बिन भाषैं।**' केवल प्रिय की प्रतीक्षा भर आँखों में रह जाती है। प्रतीक्षा का परिणाम तो कुछ निकलता नहीं—न प्रिय दिखता है न मिलता है न

---

[1] जगद्विनोद : छंद १४७, १४८

उसकी बातें बस एक चाह भर शेष रहती है। कभी-कभी उसे अपने किये पर पछतावा भी होता है तथा औरों की सलाह न मानने का भी—

सीखन न मानी सयानी सखीन की यों पदमाकर की अमनैकी।
प्रीति करी तुम सों बजि के सु बिसारि करी तुम प्रीति घनै की।
रावरी रीति लखी ईमि साँमरे होति है संपति ज्यों सपनै की।
साँचहू ताको न होत भलो जो न मानत है कही चार जनै की॥

यह भावना भी कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है।

ऋतुएँ आती हैं पर्व और त्यौहार आते हैं पर नायिका को उनसे क्या! वे उसे कुछ दे तो जाती ही नहीं उलटे कुछ उसका ले ही जाती हैं। उसका कुछ सौंदर्य चला जाता है, कुछ रक्त सूख जाता है, रंगत कुछ कम हो जाती है, धीरज कुछ लुप्त हो जाता है आदि आदि। यह सब कहाँ जाता है? ऋतुएँ ले जाती हैं और पर्व ले जाते हैं। वर्षा में मेघ घिरते हैं, वनस्पतियाँ सब्ज हो जाती हैं, झिल्लीगण शोर करते हैं, मोर कूकते हैं, विरहिणी अनंग पीड़ा से दग्ध होती है और कहती है कि कितना निष्ठुर है विधाता जिसने वर्षा बनाई है। यदि किसी विरहिन की राय माँगता तो वह उसे ऐसी सलाह देती जिससे लोक में उसका बड़ा नाम होता, वह दया का सागर कहलाता। सूझ का अनूठापन ही इसे कहा जा सकता है—

काहू बिरही की कही मानि लेतौ जौ पै दई
जग में दई तौ दयासागर कहाउतो।
बिरह बनायो तौ न पावस बनाउतो
जौ पावस बनायो तौ न बिरह बनाउतो॥

ऐसी ही मनोदशा में एक बार विरहिणी कहती है कि विधाता ने कुछ बुद्धिमत्ता से यदि काम लिया होता तो हमारी यह दशा न होती—आँखों से सदा नीर न बहता रहता और न पुष्पोद्यानों के परागसने सुमनों को देख-देख कर यह तन ही अनंग ताप से तपता और न चंद्रमा ही हमारे इस ताप से सुख मनाता! यदि वियोग देना था तो विधाता को संयोग का ही निषेध कर देना चाहिये था और यदि संयोग ही दिया था तो वियोग स्थापित कर देने की क्या जरूरत थी—'होतो जौ न प्रथम संजोग सुख वैसो वह ऐसो अब यो न तौ बियोग दुख ब्यापतो।' पूरी शीत ऋतु बीत जाने पर भी प्रिय नहीं लौटा। न आया ही और न पत्र ही भेजा, सारी अभिलाषाएँ मन की मन में ही रह गईं। पूरे आठ पखवारे बीत गये प्रतीक्षा में और अब वसन्त ऋतु भी आ गई। वह खीझ कर कहती है कि इस उन्मादिनी वसन्त ऋतु को लेकर क्या करूँ। इसे किसके सामने रक्खूँ? व्यंग्य यह है कि वसन्त की शोभा दुख देती है, शृंगार कर नहीं सकती क्योंकि उसका होगा क्या? उसे सार्थकता देने वाला तो दूर बैठा है और हमारी सुध को भुलाकर।[1] होली का त्यौहार भी आ गया परन्तु

वियोगिनी को वह क्या सुहाएगा ? होली की मौज बहार देखकर उसके तन में आग सी लग जाती है। यह आग ईर्ष्याजन्य भी हो सकती है, संतापजन्य भी और काम-जन्य भी—

कौन करै होरी कोऊ गोरी समुझावै कहा,
नागरी को राग लग्यो विष सो बिराग सो।
कहर सी केशर कपूर लग्यो काल सम,
गाज सो गुलाब लग्यो अरगजा आग सो।।[1]

कभी वह व्यथामयी खीझकर कहती है कि हमारे विरहाग्नि की होली यदि प्रिय के आगे ले जाकर जला दी जाय तो कदाचित उन्हें हमारी दशा का ज्ञान हो सकेगा। होली के उन्मादकारी पर्व पर विरहिणी की जो दशा हो रही है उसका बोध वह किसी न किसी प्रकार प्रिय को करा ही देना चाहती है इसी आशय से वह अपनी सहेली से कहती है —'एरी इन नैनन के नीर मैं अबीर घोरि बोरि पिचकारी चितचोर पै चलाइ आउ।' वह जब प्रिय को पत्र लिखती है तो अपनी दशा का निवेदन उनसे यही कहती हुई कहती है कि हे प्रिय प्रस्तुत ऋतु की दावाग्नि से ही समझ लेना कि मेरी विरहाग्नि कैसी है तथा उदास सी बहती हुई हवाओं से मेरी आहों का अन्दाजा लगा लेना, अभंग चलती हुई पिचकारियों से मेरी आँखों की दशा का अनुमान कर लेना तथा पीले पत्तों से मेरे शरीर की विवर्णता समझ लेना। इस प्रकार ऋतु-दशा में ही वह आत्मदशा का दिग्दर्शन कराती है।[2] कभी वह यह भी सोचती है कि प्रिय को मेरी दशा का तो ज्ञान होगा ही क्या मेरी दशा की साक्षिणी प्रकृति को देखकर अथवा स्वयं प्रकृति की ही दशा देख कर प्रिय को मेरी स्थिति का ज्ञान न हो गया होगा—

प्रीतम लौं जाई कै पपीहा परमारथिन,
पीव पीव या रटि सुनाइ तौ दई ह्वैहै।
कहै पद्माकर सु आँसुन की धार ऐसी,
झार ऐसी झपटि झलान की गई ह्वैहै।
ए अलि इतै कहूँ पै मति मनमोहन की,
नेकहूँ कहूँ न जौ पै दरदमई ह्वैहै।
ताती पौन लागत इतै तौ जानि जैहै घन,
ताकत तिया के तन तपत भई ह्वैहै।।

इस प्रकार विरह में नाना प्रकार से ऊब डूब होती हुई विरहिणी चेतना-हत-सी हो

---

1. जगद्विनोद : छंद १५६

2. वहीं : छंद १५२

जाती है। उसे उन्माद हो आता है—वह स्वय से ही रूठती है और स्वयं को ही मनाती है, कभी तमाल तरु को देखकर उससे भेंटने को दौड़ती है, प्रिय का चित्र देखकर कभी हँसकर उसे अपने पास बुलाती है और अपनी सखियों से कुछ कहना चाहती है किन्तु कह कुछ डालती है; विरहिणी प्रिय में इस प्रकार तन्मय है कि उसे अपनी ही दशा का ज्ञान नहीं।[१] भीषण, अकथ्य और दारुण विरह दशा के बावजूद भी विरहिणी मरती नहीं क्योंकि प्रिय मिलन की आशा उसे मरने नहीं देती—'मिलि बिछुरे हैं त्यौंही बिछुरि मिलैंगे फेरि याही एक आसा पर स्वासा भरिबो करैं।' विरह में अतिशय क्षीण गात अचेत पड़ी हुई प्रेमिका की दशा की खबर अन्त में प्रिय कृष्ण तक पहुँचा दी जाती है जिससे श्रीकृष्ण स्वयं आकर उसे देखें और उसकी दशा में सुधार सम्भव हो सके। पद्माकर कृत दूती द्वारा विरहिणी की दशा का निवेदन करने वाला यह छंद 'ए हो नंदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल हाल ही चलौ तौ चलौ जोरे जुरि जायगी' बहुत प्रसिद्ध है। विरह-दशा-वर्णन के ये छंद पर्याप्त सरस और हृदयग्राही हैं। इनमें भावगत सौंदर्य के साथ-साथ एक स्वाभाविकता भी है। विरह के अतिशयोक्ति प्रधान ऊहात्मक चित्र पद्माकर में कम ही हैं—

> दूर ही ते देखति बिथा मैं वा वियोगिनि की
> आई भलैं भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवैगी।
> कहै पदमाकर सुनौ हो घनश्याम जाहि
> चेतत कहूँ जौ एक आह कढ़ि आवैगी।
> सर सरितानि को न सूखत लगैगी देर
> एती कछु जुलमिनि ज्वाल बढ़ि आवैगी।
> ताके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
> गातहि छुवौ तौ तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी॥

भक्ति और वैराग्य

भक्ति और वैराग्यपरक रचनाएँ थोड़ा बहुत सभी रीति कवियों में देखी जा सकती हैं। ऐसी रचनाओं का स्वर बहुत कुछ क्रमागत भक्ति काव्य के मेल में है। सच तो यह है कि भक्ति भावना के प्रकाशन में रीति कवि भक्त कवियों से प्रभावित हैं। भक्तों-सा आवेशोन्मेष चाहे न हो परन्तु उनके द्वारा व्यक्त भावनाएँ ही इन कवियों की भक्ति-प्रवण अभिव्यक्तियों में देखी जा सकती हैं। पद्माकर ने अपनी भक्ति भावना के निवेदनार्थ तीन स्वतंत्र रचनाएँ ही तैयार कर दी थीं—कलिपचीसी, गंगा लहरी और प्रबोध पचासा।

कलिपचीसी—में २५ लावनियाँ हैं। इसे 'ईश्वर पचीसी' भी कहते हैं।

---

१. वही : छंद ५६४, ६२६

इस रचना के सभी छंदों का अंतिम चरण एक ही है –'जब बचन विचार कहै पद्माकर यह ईस्वर की माया है।' यह रचना शैली की दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से भिन्न प्रकार की रचना है। भाषा शैली इतनी भिन्न है कि अनेक विद्वान इसे पद्माकर की रचना मानने से भी अस्वीकार करते हैं। सच बात तो यह है कि कविता के लिए नई भाषा शैली, नया तर्ज अपनाने की भी जो एक प्रवृत्ति कवि में होती है और नए विषयों को भी काव्यबद्ध करने की जो स्पृहा होती है उसी के परिणामस्वरूप रीति कवियों ने 'कलिपचीसी' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। 'कलिपचीसी' में प्रस्तुत भावों का स्वर निर्गुण हठयोगियों वाला है। पद्माकर कृष्ण और राम के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं। सगुण और निर्गुण भक्तों की भावनाओं के इस सम्मिलन को देख आश्चर्य नहीं करना चाहिये क्योंकि उत्तर-भक्ति काल में ये दोनों विरोधी विचार-धाराएँ काव्य-व्यवधान प्राप्त कर अपनी उग्रता या तीक्ष्णता खो बैठीं और दोनों का सामञ्जस्य हो चला था। स्वयं सूर और तुलसी ने ही निर्गुण का विरोध या निषेध नहीं किया था। इस रचना मे पद्माकर ने मनुष्य की 'इन्द्रिय परायणता' के प्रति क्षोभ और ग्लानि प्रकट की है और शरीर के कुत्सित और घृणित स्वरूप को—जो मांस मज्जा, रक्त, चाम आदि से बना है—सामने रक्खा है और ऐसे तन के लिए आसक्ति की नही विरक्ति की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया है उन्होंने कहा है कि हे मनुष्य तू कफ, बात, पित्त, मल, मूत्र, हाड़, नस, मांस, रुधिर से बने शरीर के प्रति इतना आकर्षण दिखलाता है। राम तेरे दिल और दिमाग में नहीं आता। तू देखता क्यों नहीं कि यह जितनी खूबसूरती है चाम की ही है। इसके अंदर नख से शिख तक घृणा पैदा करने वाली चीजों का ही ढेर लगा हुआ है? ये क्यों भूलता है कि जिस आकर्षण के भँवर में फँस कर तू 'कछु काटि कपोलनि चाटि अधर को चूमि चम्बन चित लाया है' तथा 'कछु रुचिर परस रस विबस' हो तू अपने को इन्द्र का राज्य प्राप्त करने का सा गौरव अनुभव कर रहा है वह सब सत्य नहीं है। तूने संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियों को अपने वश में कर लिया है परन्तु यदि तेरा मन ही तेरे हाथ में नहीं है तो सब बेकार। तू अपने कर्मों को तो देखता नहीं और दूसरों पर दोष पढ़ता है, विष के बीज बोकर अमृत के फल खाना चाहता है। जिस ईश्वर ने गज, गीध, गृह, गणिका, प्रहलाद, अजामिल, व्याध, विराध, गाध का उद्धार किया उसे छोड़कर हे मूर्ख तू मनमानी करता फिरता है। अपनी जन्मदा और पोषिका माँ का असम्मान कर पराई कन्या को सब कुछ समझता है। फिर-फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ अपनी गति नहीं देखता और ईश्वर को भूला हुआ है। सर्वत्र परिव्याप्त यहाँ तक कि तेरे स्वयं में समाए हुए व्यापक राम को तू नहीं देखता और पहचानता। आयु बहती जा रही है और तू खड़ा उस प्रवाह को देख रहा है, काल के विकराल गाल में खड़ा होकर भी गाल बजा रहा है। तरुणी को

देख कर तेरा सारा ज्ञान और पाण्डित्य भूल जाता है, मद, मोह, लोभ, काम, क्रोधादि के चक्कर में पड़कर तूने जप, तप, योग को भुला दिया है। अहंकार में आकर तू कहता है कि हम यह कर डालेंगे, वह कर डालेंगे परन्तु विकराल काल के सामने भी तेरी कुछ चल सकेगी इस बात को तू नहीं सोचता। तू पशु हत्या कर तरह-तरह के सुख मानता है परन्तु हरि भजन बिना तुझे क्या चैन मिल सकती है। तन, धन, यौवन का रंग ससार में हल्दी के रंग की तरह ही समझ जो जल्दी उड़ जाया करता है, ईश्वर ने जिस काम के लिए तुझे नर का स्वरूप दिया उसी लक्ष्यभूत ईश्वर की प्राप्ति को तूने भुला दिया है। तेरे गुनाह ही तेरे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के बैरी हो गए हैं। मित्र, बंधु, पुत्र, कलत्रादि के भरोसे यदि तू हरि की कृपा चाहता है तो वह असंभव है, अपने ही कर्मों के बिना या खुद ही लगन लगाए बिना इन पुरुषार्थों की प्राप्ति भला कैसे सभव है ! तू इस बात को क्यों नहीं समझता कि लाखों और करोड़ों कमा कर अथवा शहंशाह का-सा जीवन बिता देने मात्र से कुछ नही होता, अंत में सीतापति ही काम आते हैं। तेरा धन ठग कर खाने वाले मित्र तुझे समृद्धि काल में घेरे रहते हैं और दुर्दिन आने पर तुझे छोड़ चलते है और मूर्ख ठहराते हैं, तू इन्हीं के फेर में पड़ कर न तो साधुओं का सम्मान करता है और न उनकी संगति और न राम की शरण में ही जाता है। तृष्णा के चक्कर में पड़ कर तू तरह-तरह के नाच नाचता है तथा काम क्रोधादि पंच विकारों में फँसा रहता है। यौवन, शक्ति और संपदा तेरे जीवन में अल्पकाल के लिए आकर बादल की छाँह की तरह चले जाते हैं और हरि-भजन बिना गए दिनों के लिए हे जड़ ! तू लेश मात्र भी पश्चात्ताप नहीं करता 'जड़ जे दिन गए भजन बिन हरि के तिनहिं न तूं पछताया है।' जगत के प्रतीयमान सुखों और आकर्षणों के पीछे तू मिहिर मरीचियों का मृग बना फिर रहा है, स्वप्नों की माया को सत्य माने बैठा है इसीलिए-इसीलिए तुझे मैं यह उपदेश विचारपूर्वक कर रहा हूँ कि सर्वत्र परिव्याप्त जो लौकिक आकर्षण है वह कुछ बड़े भारी सुख का हेतु नहीं वह ईश्वर की भ्रमित कर देने वाली मायाजनित भ्रम को हे जीव ! तू छोड़ दे और दिन के आठ प्रहरों में एक ही प्रहर सही तू प्रेम से राम का भजन कर, व्यर्थ के टंटों को छोड़ तीर्थाटन आदि कर डाल, इससे तेरी पापमलिन काया भी पवित्र हो जायगी। इस प्रकार कलिपचीसी नामक रचना वैराग्य भावना को उत्तेजित करने वाली है जिसमें संसार के आकर्षणों को फंदा अथवा माया बतला कर मानव को उनसे नजात दिलाने की चेष्टा की गई।

गंगालहरी

गंगालहरी— में कुल ५७ छंद हैं जिनमें ५४ कवित्त हैं शेष दोहे। कवित्तों में गंगा की महिमा का ही मुख्य रूप से कथन किया गया है। कवि कहता है

कि गंगा राजा भगीरथ के कीर्ति की लता है जिसमें चारों फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) फले हुए हैं। गंगाजल के एक बिंदु के पान से समस्त जीवन की तृष्णा शांत हो जाती है। महापातकी लोग भी गंगा स्नान कर विष्णुलोक को पहुँच जाते हैं। गंगा की धवलधारा में धंसने वाला कभी भी सुरपुर से पतित नहीं होता—

जहाँ जहाँ मैया धूरि तेरी उड़ि जात गंगा
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है।

गंगा ने ऐसे-ऐसे पापियों को तार दिया है जिन्हें कोई भी तारने को कभी तैयार नहीं हुआ —

काहू ने न तारे तिन्हें गंगा तुम तारे और
जेते तुम तारे तेते नभ मैं न तारे हैं।।

गंगा को परम मोक्ष प्रदायिनी विशेष रूप से कहा गया है। ऐसे महापापी जिनकी गति में रौरव नरक लिखा जाता है गंगा की कृपा से परमपद प्राप्त करते हैं—यह सब देखकर चित्रगुप्त जी चित्रवत चकित भाव से देखते रह जाते हैं। अपने विधान में आमूलचूल परिवर्तन होते देख यमराज अपनी खीझ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

गंगा के चरित्र लखि भाषै जमराज ऐसें
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दै।
कहै पद्माकर ये नरकनि मूँदि करि
मूँदि दरवाजनि को तजि यह थान दै।।
देख यह देव नदी कीन्हें सब देव याते
दूतन बुलाइ कै विदा के वेगि पान दै।
फारि डारि फरद न राखि रोजनामा कहूँ
खाता खति जान दै वही को बहि जान दै।।

बड़ी ही भक्तिभावना के साथ कवि ने तरह-तरह से गंगा की महिमा का बार-बार गायन किया है। तेरी कृपा से भाषा भूषित होती है, सुयश की लता बढ़ती है, तेरा गुणगान करने से आनंद की वर्षा होती है, अधर्म दूर होते हैं, चिंताएँ नष्ट होती हैं और दुर्बुद्धि दूर होती है। स्वयं शिव की जो इतनी प्रतिष्ठा है वह गंगा को ही शिर पर धारण करने के कारण अन्यथा तीन आँखों वाले, अंगों में भस्म पोतने वाले, जटाजूट बाँधकर परवतकूट में बैठने वाले, प्रेतों का संग करने वाले, नंगे को कौन पूछता। वे जो महाकालकूट कंठ में धारण कर सके वह भी शिरस्थ गंगा के ही प्रभाव के कारण -- 'पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै ऐसे पूछतो को नंगै जौ न गंगै सीस धरतो।' पापियों की पंक्ति स्वर्गलोक को ही जाती है ऐसा है गंगा का प्रभाव, इन्द्र बेचारे को अपने अभ्यागतों की सेवा से ही फुरसत नहीं मिलती।

सुरधुनि रावरे उधारे जग जीवन की
छिन छिन सेन सिवलोक कों झिलति है।
आसन अरध देत देत निसिवासर
बिचारे पाकसासन कों साँस न मिलति हैं ।।

गंगा की धारा बहती हुई जिधर-जिधर भी जाती है उधर-उधर ही मुक्ति नृत्य करती है। अनेकानेक पापियों की मुक्ति की कथा बड़े ही चमत्कारिक ढंग से किन्हीं-किन्हीं छंदों में कही गई है।[1] गंगा की उदारतापूर्वक मुक्ति प्रदान करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देख कभी यमराज उनसे विनय करता है और कभी पापी। यमराज कहता है देवी पापियों के अपकर्मों का कुछ तो विचार करो उधर पापी कहता है हमें शिवलोक में तो पहुँचा दिया अब यदि हम तुम्हारी भक्ति करें तो किस अपर लोक में ले चलोगी।' गंगा का नाम मात्र ले लेने से पापियों को शिवलोक विष्णुलोक आदि सुलभ हो जाते हैं। गंगा का जलमात्र पी लेने से सब विकार जल जाते हैं सब पाप कट जाते हैं। उसमें स्नान करके तो चौदहो भुवनों के जीव सीधे विष्णुलोक पहुँच जाते हैं। इसी कारण कवि ने हर दशा में गंगाजी की महिमा गायन का उपदेश किया है, उसे कभी न भूलने की बात कही है। 'गंगा जू को नाम कामतरु तें सरस है' कहते हुए जैसे वे औरों को अपने-अपने पापों के शमन का आवाहन करते हैं वैसे ही अपने पापों को भी 'गंगा की कछार में पछार कर छार' कर देने का संकल्प प्रस्तुत करते हैं --

जैसे तैं न भोकों कहूँ नेकहू डरात हुतौ
ऐसौ अब तोको हौंहूँ नेकहु हुँ न डरिहौं।
कहैं पद्माकर प्रचंड जौ परैगो तौ
उमंड करि तोसो भुजदन्ड ठोंकि लरिहौं।
चलो चल चलो चल बिचल न बीच हीते
कीच बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा की कछार में पधार छार करिहौं ।।

कुछ छंदों में गंगा की उज्ज्वल धारा का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है[2]—'अघ की अँधेरी कहूँ रहन न पाइ फिरै धाई धाई गंगाधार सरद जुन्हाई सी'—और गंगा की महिमा तो इसके प्रत्येक छंद में अंकित है। बानगी के तौर पर एक ही छंद पर्याप्त होगा—

---

१. उदाहरण के लिए देखिए 'गंगा लहरी' छंद ५, १८, १६, २३, ३१, ३७, ३८, ५०
२. देखिये 'गंगालहरी' छंद २, ३२, ४६

विधि के कमन्डल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
हरिपद पंकज प्रताप की नहर है।
कहैं पद्माकर गिरीस सीस मँडल के
मुंडन के माल ततकाल अघहर है।
भूपित भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ
जन्हु जप जोग फल फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर
कलिकाल की कहर जमजाल को जहर है।।

प्रबोध पचासा—प्रबोध पचासा में कवित्त और सवैये मिलाकर कुल ५१ छंद हैं। समूची कृति में भक्ति और वैराग्य भावना का पोषरण करने वाली भावनाएँ मिलेंगी। भक्ति के आलंबन राम ठहराए गये हैं। यद्यपि प्रथम छंद में कृपा और उदारता शिव की वर्णित हुई है। इससे एक तो यह विदित होता है कि भक्ति युग के ही समान रीतियुग में भी भक्तिपरक दृष्टि उदार थी शिव और रामभक्ति में अविरोध देखा गया। दूसरे सेनापति के ही समान पद्माकर ने भी अपनी शृङ्गारी रचना का केन्द्र तो कृष्ण को बनाया परन्तु भक्ति निवेदन का आधार भगवान राम को स्वीकार किया। वैसे ये कवि राम और कृष्ण में भी न तो अन्तर करते थे और न विरोध मानते थे। भक्ति की यह उदारतावादिनी वृत्ति भक्ति युग से ही इस युग में भी अवतरित हुई है। भक्त कवियों ने जैसे भक्ति भाव कहे हैं लगभग उसी प्रकार की बातें पद्माकर ने भी अपने 'प्रबोध पचासा' में कही हैं उदाहरण के लिए यह कि हमें हर समय राम का नाम जपते रहना चाहिए, हमने अपना जीवन संसार में व्यर्थ गँवा दिया राम का नाम नहीं लिया। राम तो हमारे ही अन्दर है किन्तु हम ऐसे अज्ञ हैं कि उसे पहचानते नहीं—

है हम ही में हमारो महाप्रभु राम इते पै न सैं पहिचाने।
जैसे बिचित्र सुपत्रन में लिखे बेदन भेद न पुस्तक जाने।।

समस्त लोक में परिव्याप्त जानकी जीवन का यश एक मुँह से किस प्रकार गाया जा सकता है और उनकी सुन्दर कथाओं के समूचे विस्तार को मनोगत करने के लिये करोड़ों कान कहाँ पाये जा सकते हैं? दशरथ के पुत्र सर्वतोभावेन समर्थ हैं जो चाहें कर सकते हैं। ऐसे राम के नाम की महिमा लोगों ने तरह-तरह से वर्णित की है फिर शिव जी भी भला पाँचों मुँह से उनका नाम क्यों न लें! हे जड़ जीव राम-नाम ही समस्त वेद-पुराणों का सार है, माया के सारे प्रपंचों को छोड़ तू इसी का सहारा पकड़ क्योंकि यम के दूतों के फंदे में पड़ने पर यही राम-नाम तेरे काम आएगा। संसार में हम किसी से प्रीति करते हैं किसी से बैर, बूढ़े हो जाते हैं दाँत हिलने लगते हैं परन्तु तृष्णा नहीं छूटती तथा राम की भक्ति हृदय में नहीं आती। इस कठिन

संसार की गति का कुछ ठिकाना नहीं कि कब क्या हो जाय ! प्रलय पयोनिधि रूप इस संसार में पड़ी इस जीवन तरी को किनारे लगाने वाला राम ही है, कम से कम मेरा तो यही विश्वास है—'बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै ऐसो अमित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को ।' इस चाम के चोले का कोई भरोसा नहीं कि यह कब धोखा दे जाय – शरीर के घृणास्पद स्वरूप को कवि ने अधिक उभार कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है जिससे मनुष्य को इसके प्रति विराग पैदा हो और उसकी बुद्धि ईश्वर के प्रति झुक जाय[१]—राम-नाम के सहारे ही इस जीवन को, जन्म को, तन को, धन को सार्थक बनाया जा सकता है। धना जाट, सदना, गज-कपि-रिक्ष, शबरी, प्रहलादादिकों का उल्लेख कर कवि लोगों में भक्ति भावना का उद्रेक कराना चाहता है। जो राम का हो जाता है उसकी वे सदा रक्षा करते हैं। संसार से उद्धार के समस्त साधनों को छोड़कर कवि ने राम नामाश्रय लेने की बात कही है।[२] सिर पर सवार मौत का डर दिखला कर, रोग-जराजन्य दुर्दशा का वर्णन कर, सांसारिक संबंधों की तुच्छता और अशक्तता घोषित करके पद्माकर ने आत्मोद्धार की एकमात्र युक्ति राम का नाम और उनकी भक्ति ही निर्धारित की है। इस प्रकार राम के नाम का महत्व पद्माकर ने भी तुलसीदास के ही समान अधिकता से वर्णित किया है। जब रावण, शूर्पणखा, गणिक, गिद्ध जैसे पापी और निकृष्ट जन राम का नाम लेकर तर गये तब साधारण पाप करने वाले संसारी लोग तो जरूर ही तर जायँगे। बार-बार और तरह-तरह से पद्माकर अपने प्रबोध पचासा में एक ही बात कहते हैं कि राम को भजो और बस इसी से सभी भव-बंधन और पाप कट जायँगे। इस प्रकार की उपदेशपरक उक्तियों में जहाँ सबके उद्धार का मंत्र बताया गया है वहीं प्रकारान्तर से कवि ने अपनी भक्ति-भावना का भी आख्यान किया है। कुछ छंदों में भक्तिभावना का यह प्रकाशन और भी सीधे-स्पष्ट ढंग से हुआ है। वे कहते हैं कि जब अपना मन ही अपने हाथ आ गया तब और कुछ आना शेष नहीं रह गया और जब राम के रूप का ध्यान कर लिया तब और किसी वस्तु का ध्यान करना शेष नहीं रह गया। हे भगवन् जिस कृपा से तुम गुह गीध-गणिका-गयंद पर कृपावंत हुए थे उसी प्रकार की कृपा तुम हम पर कब करोगे और मेरे मन को अपने चरणों के प्रति अनुरागशील कब करोगे ? कैसी भोली है यह याचना, कैसी निष्कपट है यह वाञ्छा ! एक जगह वे अपने को राम का दासानुदास बताते हैं—

> एक यहै बर माँगत हौं बर दूजो बिरंचि न भूलिहूँ दीजौ ।
> राम को कोऊ गुलाम कहै ता गुलाम को मोहि गुलाम लिखीजौ ॥

---

१. देखिये प्रबोध पचासा : छंद २३, २६, २७।

२. वही : छंद २८, २९, ३०, ३१, ३२।

रीतियुग के कवियों में सूरदास के विशेष प्रभाव के कारण अथवा प्रगाढ़ एवं आंतरिक निष्ठापूर्ण भक्ति भावना के ह्रास के कारण सख्यभाव की भक्ति अधिक पाई जाती है। पद्माकर के अनेक कवित्त सख्य भक्ति भावापन्न हैं।[३] वे कहते हैं कि बड़े-बड़े पापियों की तुलना में तो हम ठीक ही ठहरते हैं इतने पर भी यदि हमें न तारोगे तो हमारा क्या वश है ! हे राम गुह गीधादि के समान मुझ जैसे पापी के उद्धारने में मत बींधना, मेरा उद्धार करना बहुत कठिन है ! मेरे महापापों का तुम पार भी नहीं पा सकते, झूठा कलंक सुनकर जब तुमने सीता-सी सती को नहीं अपनाया तब मुझ जैसे वास्तविक कलंकी को कैसे अपना सकते हो ! कहीं-कहीं अपनी पापाभिमुखता और राम की कृपालुता की स्पर्धा भी दिखाई गई है। 'जगद्विनोद' में भी भक्ति और वैराग्यपरक कुछ छंद देखे जा सकते हैं।[४] उनमें भी प्राप्य भाव इसी प्रकार के हैं।

पद्माकर का रीति कर्म

पद्माकर रीतिकाल के उत्तरवर्ती रीति ग्रंथकारों में थे तथा रीति रचना के क्रम को ढोए बिना वे भी न चल सके। हिन्दी के समर्थ रीतिशास्त्रियों में उनका नाम नहीं लिया जाता, हाँ परम्परानुसारी रीति ग्रंथ लेखकों की नामावली में उनका नाम अवश्य आता है। उनके लिखे दो रीति ग्रंथ हैं—१. पद्माभरण, २. जगद्विनोद।

पद्माभरण—पद्माभरण अलंकार निरूपण संबंधी ग्रंथ है (रचना काल सं० १८६७ के आस-पास) जिसकी रचना का कारण कवि पथानुधावन है जैसा कि कवि ने ग्रन्थ के आदि और अन्त में स्वयं लिख दिया है—

राधा राधा बर सुमिरि देखि कबिन को पंथ।
कवि पद्माकर करत हैं पद्माभरन सुग्रंथ॥

राधा माधव कृपा लहि लखि सुकविन को पंथ।
कवि पद्माकर ने कियो पद्माभरन सुग्रन्थ॥

इस ग्रन्थ में अलकारों का समस्त निरूपण अधिकतर दोहा, छंद में ही हुआ है—बीच-बीच में चौपाइयों का भी व्यवहार मिलता है। कवि ने शब्दालंकारों का निरूपण ही नहीं किया है तथा उपमालंकार से ही अलंकार-निरूपण आरम्भ किया है। अलंकार की परिभाषा आदि के चक्कर में वह नहीं पड़ा है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि पद्माकर का ध्यान अलंकारों के सम्यक निरूपण पर नहीं रहा है। अलंकारों की मुख्यता के संबंध में उन्होंने एक रोचक अभिमत दिया है जिससे सामान्यतया सहमत नहीं हुआ जा सकता। उनका कहना है कि काव्यगत नाना अलंकारों के बीच वही

३. वही : छंद १३, १४, १५, १८, ४३, ४८, ५०।
४. जगद्विनोद : छंद ४७७, ४९१, ४९६, ५०६, ५२२।

अलंकार प्रमुख माना जायगा जिस पर कवि की विशेष अभिरुचि होगी। इस मंतव्य को उन्होंने निम्नलिखित दृष्टान्त से व्यक्त किया है —

जा बीधी एकै महल में बहु मंदिर इक मान।
जो नृप के दल में रुचै गनियत वहै प्रधान ।।

इस ग्रन्थ में बीच-बीच में कहीं-कहीं ब्रजभाषा गद्य में वक्तव्य की किंचित् व्याख्या भी कर दी गई है जिसे 'वार्ता' कहा गया है। पद्माभरण में अलंकारों का विवेचन तीन प्रकरणों में किया गया है—१. अर्थालंकार प्रकरण २. पंचदशालंकार प्रकरण ३. संसृष्टि-संकर प्रकरण— जो उत्तरोत्तर छोटे होते गए हैं।

इस ग्रंथ के लक्षणों एवं उदाहरणों में कोई असाधारण वैशिष्ट्य नहीं स्वीकार किया गया है तथा समूची कृति को एक सामान्य रीतिग्रन्थ ठहराया गया है। हिन्दी रीतिग्रन्थों के अध्येताओं के मतानुसार 'पद्माभरण' पर तीन पूर्ववर्ती रीतिकारों का ऋण ठहराया गया है

१. जयदेव का चंद्रालोक
२. कुवलयानंद
३. महाराज जसवंत सिंह का भाषा-भूषण
४. बैरी साल का भाषाभरण

पद्माभरण के औदाहरणिक भाग पर जसवंत सिंह, दूलह, बिहारी, मतिराम आदि कवियों का किंचित् प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। कुछ विवादास्पद स्थलों को छोड़कर अलंकार विवेचन की दृष्टि से पद्माभरण स्पष्ट और सुबोध ग्रन्थ कहा जायगा। अलंकार में जो स्वच्छता है उसके कारण यह ग्रन्थ उपादेय ही बन पड़ा है।[1] हाँ, प्रकाण्ड पाण्डित्य और आचार्यत्व की प्रतीति जरूर नहीं हो पाती।

जगद्विनोद—जगद्विनोद यों तो रस विवेचन संबंधी ग्रन्थ है परन्तु उसका मूल प्रतिपाद्य 'नायिकाभेद' ही है। यह एक अत्यन्त विशद ग्रन्थ है जिसमें बड़े विस्तार से नायिका के भेद-प्रभेदों का कवि ने मनोयोग पूर्वक वर्णन किया है। पद्माकर का यह ग्रन्थ काव्य-रसिकों के बीच विशेष सम्मान पाता रहा है। लक्षण भाग की अपेक्षा इसका औदाहरणिक भाग ही पद्माकर कवि की अखंड कीर्ति का सर्वप्रथम कारण ठहरता है। रसिक शिरोमणि साँवरे नंदनंद की वन्दना अथवा कृपा-याचना से इस काव्य का आरम्भ हुआ है। इसके पश्चात् कवि ने अपने आश्रयदाता जयपुर नरेश आमेर-गढ़ाधीश 'जगत सिंह' का जयगान किया है। चार-पाँच छंदों में उनकी प्रशस्ति गायन के अनंतर लिखा है कि महाराज जगत सिंह की इच्छापूर्ति के निमित्त

[1] 'पद्माभरण की विशद समीक्षा के लिए देखिये पद्माकर ग्रन्थावली की 'प्रस्तावना' पृ० ६२—७३ तथा हिन्दी अलंकार साहित्य—डा० ओम प्रकाश पृ० १८२—१९०।

ही उन्होंने यह रस ग्रन्थ लिखा। सहर्ष कृतज्ञ भाव से महाराज 'जगत सिंह' की इच्छा पूर्ति करना तथा 'जगत के हित' के लिए भी रसग्रन्थ का निर्माण करना ये दो ऐसे कारण थे जिनकी प्रेरणा से पद्माकर ने यह रस ग्रन्थ लिखा। 'जगतविनोद' या 'जगद्विनोद' नाम सब प्रकार से सार्थक ही है। इसके अतिरिक्त रीतिग्रंथकारों की परम्परा में अपने कृतित्व द्वारा अमिट कीर्ति छोड़ जाना भी पद्माकर को इस रचना का लक्ष्य रहा होगा।

रस ग्रन्थ लिखते हुए लोकप्रसिद्ध मत के अनुसार शृंगार रस को ही शीर्षस्थ रस मानते हुए शृङ्गार के आलंबन नायिका वर्णन से ही उन्होंने रस चर्चा का श्रीगणेश किया है। नायिका का महत्व इतना अधिक हो गया है कि कवि ने शृंगार के स्थायी भाव की चर्चा बाद में की है तथा आलंबन के अंतर्गत भी नायक को नहीं नायिका को ही प्राधान्य देते हुए नायिका-निरूपण का कार्य शुरू कर दिया है। नायिका कौन है इस प्रश्न के उत्तर से ही उनका नायिका-निरूपण प्रारम्भ होता है—

रस सिंगार को भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताहीं को कवि नाइका बरनत बिबिध बिचारि।।

नायिका के ३ भेद होते हैं—१. स्वकीया २. परकीया ३. गणिका।

स्वकीया के अवस्था के आधार पर ३ भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा दो प्रकार की—अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना। ज्ञात यौवना के दो भेद—नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा। प्रौढ़ा के भी दो भेद—रतिप्रिया और आनंद सम्मोहिता। मध्या और प्रौढ़ा दोनों के तीन-तीन भेद बताए गए हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

परकीया के दो भेद पहले बताए गए हैं ऊढ़ा और अनूढ़ा। इसके बाद षड्विध परकीया का भी वर्णन आता है—१. गुप्ता (इसके ३ भेद भूत सुरति संगोपना, वर्तमान सुरति संगोपना, भविष्य सुरति संगोपना) २. विदग्धा (इसके २ भेद वचन-विदग्धा और क्रिया विदग्धा) ३. लक्षिता ४. कुलटा ५. मुदिता ६. अनुशयना (इसके ३ भेद पहली, दूसरी और तीसरी अनुशयनाएँ)।

इसके बाद गणिका का निरूपण किया गया है पर उसके भेद-प्रभेद नहीं किये गये हैं। नायिका के ३ भेद (स्वकीया, परकीया, गणिका के अतिरिक्त) फिर किये गये हैं—

१. अन्य सुरति दुःखिता २. मानिनी ३. वक्रोक्तिगर्विता (रूप गर्विता, प्रेम गर्विता)।

इसके पश्चात् नये सिरे से फिर दशविध नायिकाओं का वर्णन है—१. प्रोषित-पतिका २. खंडिता ३. कलहांतरिता ४. विप्रलब्धा ५. उत्कंठिता ६. वासक सज्जा ७. स्वाधीनपतिका ८. अभिसारिका ९. प्रवत्स्यत्प्रेयसी और १०. आगत्पतिका।

इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद किये गए हैं—स्वकीया मुग्धा, स्वकीया मध्या, स्वकीया प्रौढ़ा, परकीया और गणिका। अभिसारिका के ३ भेद और किये गए हैं—दिवा अभिसारिका, कृष्णा अभिसारिका, शुक्ला अभिसारिका।

नायिका के फिर ३ भेद किये गए—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

इसके पश्चात् आलंबन विभाव के अंतर्गत आने वाले नायक का निरूपण किया गया है। नायक के भेद इस प्रकार कहे गये हैं—१. अनुकूल २. दक्षिण ३. धृष्ट ४. शठ। उपपति और वैशिक मानी, वचन चतुर और क्रिया चतुर; प्रोषित, अनभिज्ञ आदि कतिपय अन्य नायक भेदों का भी विवरण दिया गया है। इसी सन्दर्भ में श्रवणदर्शन, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन और प्रत्यक्षदर्शन का भी वर्णन हुआ है।

आलंबन विभाव की विशद चर्चा के अनंतर पद्माकर ने उद्दीपन विभाव का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसके अंतर्गत सखा, सखी, दूती और षटऋतु तथा इनके प्रभेदों का वर्णन आया है। सखा चार प्रकार के पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक कहे गये हैं। सखी के निरूपण में उसके चार प्रकार के कार्यों की चर्चा की गई है मंडन या शृङ्गार करना, शिक्षादान, उपालंभ और परिहास। दूतियाँ ३ प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा; इनके दो मुख्य कार्य होते हैं विरह निवेदन और संघट्टन (नायक नायिका का सम्मिलन कराना); इसी सन्दर्भ में स्वयंदूती का भी वर्णन किया गया है। षटऋतु वर्णन प्रसिद्ध ही है वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमंत और शिशिर।

इसके अनंतर अनुभावों का पद्माकर ने निरूपण किया है जिसके अन्तर्गत सात्विक भाव और हाव के भेद-प्रभेदों सहित लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। सात्विक भाव ९ प्रकार के कथित हुए हैं—१. स्तम्भ २. स्वेद ३. रोमांच ४. स्वरभंग ५. कंप ६. वैवर्ण्य ७. अश्रु ८. प्रलय ९. जृंभा। हाव के १२ भेद बताए गए हैं—१. लीला २. विलास ३. विच्छित्ति ४. विभ्रम ५. किलकिंचित ६. ललित ७. मोट्टायित ८. विब्बोक ९. विहृत १०. कुट्टमित ११. हेला १२. बोधक।

संचारी भावों का जिस क्रम से निरूपण हुआ है उसे पद्माकर ने एक छंद में ही बता दिया है—

कहि निरवेद ग्लानि संका त्यों असूया मद श्रम
धृति आलस बिषाद मति मानिये।
चिंता मोह सुपन बिबोध स्मृति अमरष
गर्व उत्सुकता अवहित्थ ठानिये॥
दीनता हरष ब्रीड़ा उग्रता सुनिद्रा व्याधि
मरन अपसमार आवेगहु आनिये।

त्रास उनमाद पुनि जड़ता चपलताई
तेंतिसौ बितर्क नाम याहि बिधि जानिये ।।

इसके पश्चात् ६ स्थायी भावों —१. रति २. हास ३. शोक ४. क्रोध ५. उत्साह ६. भय ७. ग्लानि ८. आश्चर्य और ९. निर्वेद का कथन हुआ है। तदनंतर कवि इन्हीं से उत्पन्न होने वाले ९ रसों —१. शृंगार २. हास्य ३. करुण ४. रौद्र ५. वीर ६. भयानक ७. वीभत्स ८. अद्भुत और ९. शांत के विधिवत निरूपण में क्रमशः प्रवृत्त हुआ है।

पद्माकर जी का यह रस-निरूपण तथा रसावयवों का विशद विवेचन पर्याप्त स्पष्ट और प्रांजल जान पड़ता है। वह नितांत व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है तथा उदाहरण भाग का तो कहना ही क्या? इसकी व्याख्या पद्माकर ने इस प्रकार की है—

मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन के बूँद।
परिपूरन थिर भाव जो सुरस रूप आनंद ।।
जौ मन पाइ विकार कछु लखि दृढ़ होत अनूप।
तौं पूरन थिर भाव कों बरनत कवि रस रूप ।।

पद्माकर जी ने ग्रंथारम्भ से ही नायिका, नायक आदि आलंबन एवं सखा-सखी-दूती, ऋतु आदि उद्दीपन विभावों, अनुभावों, संचारियों और स्थायी भावों का क्रमशः निरूपण करते हुए इन रसांगों की संक्षिप्त परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की हैं तथा भेद प्रभेदों के कथन द्वारा उनके लक्षणों एवं उदाहरणों द्वारा अपने वक्तव्य विषय को अधिकाधिक पुष्ट बनाने की कोशिश की है तथा इसमें वे कृतकार्य भी हुए हैं। उनकी कुछ परिभाषाएँ देखिये—

नायिका — रस सिंगार को भाव उर उपजत जाहि निहारि।
ताहि को कवि नाइका बरनत विविध बिचारि ।।

नायक — सुन्दर गुन मंदिर जुवा जुवति बिलोकैं जाहि।
कविता राग रसज्ञ जो नायक कहिये ताहि ।।

उद्दीपन विभाव — जिनहिं विलोकत हीं दुरत रस उद्दीपन होत।
उद्दीपन सु बिभाव है कहत कबिन को गोत ।।

अनुभाव — जिनहीं ते रति भाव को चित में अनुभव होत।
ते अनुभाव सिंगार के बरनत है कवि गोत ।।

संचारी भाव— स्थाई भावन को जिते अखि मुख रहे सिताब।
जे नव रस में संचरैं ते संचारी भाव ।।
स्थाई भावन में रहत या विधि प्रकट बिलात।
ज्यों तरंग दरियाब में उठि उठि तितहि समात ।।

स्थायी भाव इस अनुकूल बिकार जो उर उपजत हैं आय।
थायी भाव बखानहीं तिनहीं को कविराय ॥
है सब भावन मैं सिरे टरत न कोटि उपाय।
है परिपूरन होत रस तेई थाई भाव ॥

रस निरूपण करते हुए शीर्षस्थ रस शृंगार का वर्णन फिर कुछ विस्तार से हुआ है। शृङ्गार के संयोग और वियोग तथा वियोग के फिर त्रिरूपों पूर्वानुराग, मान और प्रवास का विवरण प्रस्तुत किया गया है। मान लघु, मध्यम और गुरु के क्रम से तीन प्रकार का तथा प्रवास भी भविष्यत् प्रवास और भूत प्रवास के क्रम से दो प्रकार का कहा गया है। इसके अनंतर वियोग की १० अवस्थाओं का कथन हुआ है—१. अभिलाषा २. गुण कथन ३. उद्वेग ४. प्रलाप ५. चिंता ६. स्मृति ७. उन्माद ८. जड़ता ९. व्याधि और १०. मरण। पद्माकर ने इनमें से प्रथम ४ का तथा एक अन्य मूर्छा का तो लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है परन्तु चिन्ता से लेकर मरण तक के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत नहीं किये हैं और इसका कारण यह बताया है कि इन ६ विरहावस्थाओं का बखान संचारियों के निरूपण में किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि संचारियों के उक्त ६ नाम और ये ६ विरह दशाएँ उनकी दृष्टि में एक ही हैं। समस्त रसों का कवि ने पृथक-पृथक विवेचन किया है तथा प्रत्येक रस के अवयवों का पृथक-पृथक कथन भी किया है, इसके पश्चात् उनके सरस सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। वीर के चार भेद युद्ध, दया, दान और धर्मवीर क्रमागत रूप में ही कथित हुए हैं। शृंगारेतर रसों की ऐसी विवेचना तथा उनके ऐसे सरस उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कम ग्रन्थ ही मिलेंगे। यह ग्रंथ भानुदत्त कृत रसमंजरी की पद्धति पर लिखा कहा जाता है। ग्रन्थांत में कवि ने लिखा है कि जगत सिंह महाराज की आज्ञा से रसिकों को वश में करने के लिए मैंने 'जगद्विनोद' की रचना की है। जगद्विनोद का औदाहरणिक भाग निश्चय ही रसिकों के लिए वशीकरण मंत्र है।

ग्वाल

ग्वाल कवि वृन्दावन (मथुरा) के निवासी कहे जाते हैं। रीतियुग के अंतिम कवियों में ग्वाल कवि का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि एक तो इनमें रीति की छाप भरपूर है दूसरे ह्रासशील रीतियुग की प्रवृत्तियाँ इनमें पूर्णतः उभरे हुए रूप में गोचर होती हैं। अपने युग के तो ये बड़े ही प्रसिद्ध कवि हो गए हैं तथा काव्यरसिकों के बीच इनके कवित्तों का बड़ा आदर सम्मान रहा है। इनका सारा जीवन काव्य-रचना और दरबारों की सेवा में ही व्यतीत हुआ। इन्होंने देशाटन बहुत किया था तथा जीवन के प्रति मौज-बहार की दृष्टि रखते थे।

वृत्त

ग्वाल कवि सेवाराम नामक किसी बन्दीजन के पुत्र थे।[1] ग्वाल नाम के एक कवि विक्रम की १८वीं शती में भी हो गए हैं जिनके छंद कालिदास हजारा में उपलब्ध हैं परन्तु हमारी चर्चा के विषय ग्वाल कवि विक्रम की १६ वीं शती के उत्तरार्ध में अस्तित्वशील थे। इनका जन्म कुछ लोग सं० १८४८ तथा कुछ सं० १८५६ मानते हैं। ये जाति के ब्रह्मभट्ट (बंदीजन) थे। वृन्दावन में ये पैदा हुए थे और प्रारंभिक जीवन भी इनका वहीं बीता पर बाद में ये मथुरा चले आए थे और वहीं रहने लगे। कहा जाता है कि विद्याध्ययन के लिए ये काशी गए तथा वहाँ बरेली के किसी खुशहालराम के यहाँ रह कर इन्होंने अध्ययन किया। इनके संबंध में प्रसिद्ध है कि इनके गुरु ने रुष्ट होकर इन्हें अपनी पाठशाला से बाहर कर दिया परन्तु बाद में ये किसी तपस्वी अथवा फकीर के आशीर्वाद से कुशल कवि बन गए। कथा यों है कि एक मस्त फकीर अथवा कोई सिद्धपुरुष खुशहालराम के यहाँ आया। उसने पीने के लिए शीतल जल माँगा। जल से तृप्त होकर उसने खुशहालराम से कुछ माँगने को कहा। उन्होंने अपने शिष्य ग्वाल के लिए अच्छी कवित्व शक्ति माँगी। फकीर ने इसी बात पर खुशहालराम का विशेष आग्रह देखकर धरती पर पड़ा हुआ एक तिनका उठाया और उसी से ग्वाल की जीभ पर कुछ लिख दिया और इनके सिर पर तीन बार हाथ फेर कर इन्हें कवीश्वर हो जाने का आशीर्वाद दिया। बस उसके बाद से ही इनमें बुद्धि की कुशाग्रता और कवित्व की प्रतिभा दीप्त हो उठी। कवित्व रचना द्वारा इन्हें जब यश प्राप्त होने लगा तो ये पंजाब चले गए और वहाँ पहले नाभा नरेश महाराज जसवंत सिंह के आश्रय में रहे और बाद में लाहौर महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में पहुँचे। लाहौर में पजनेश कवि के ये अच्छे प्रतिस्पर्धी हुए। महाराज रणजीत सिंह की मृत्यु के अनंतर ये उनके पुत्र शेर सिंह द्वारा विशेष रूप से सम्मानित हुए। इन्हें बड़ी जागीर मिली तथा स्वयं राजा शेर सिंह की मृत्यु हो जाने के कारण इनका मन वहाँ न लगा और ये उधर के कुछ पहाड़ी इलाकों का भ्रमण करते हुए तथा कुछेक स्थानों पर बसते बसाते मथुरा लौट आए। पंजाब से लौटने पर इनकी ऊँची कवि-प्रतिष्ठा से प्रभावित हो रामपुर रियासत के नवाब यूसुफ अली खाँ ने इन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया। ये उनके दरबार में गए और कुछ समय तक वहाँ रहे भी। ग्वाल संबंधी कुछ वृत्त उर्दू शायर अमीर अहमद मीनाई ने अपने 'इंतखाबे यादगार' में

---

१. ग्वाल संबंधी विशेष जानकारी के लिए देखिये:—

(क) श्री प्रभुदयाल मीतल का लेख 'ब्रजभारती' (वर्ष ६, संख्या ४)

(ख) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का लेख 'हिन्दी अनुशीलन : धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक' (वर्ष १३, अंक १-२)

प्रस्तुत किया है जो प्रामाणिक माना जा सकता है क्योंकि मीनाई के समय में ही ग्वाल भी रामपुर दरबार में कुछ समय तक रहे। सं० १६२४ में मथुरा में इनकी मृत्यु हुई (कुछ लोगों के अनुसार सं० १६२५ में रामपुर में ही इनका इन्तकाल हुआ) सारा जीवन इन्होंने काव्य रचना करते हुए और राजदरबारों में रहते हुए गुजार दिया। प्रकृति से ये मस्तमौला थे, स्वच्छंद और तरंगी। रहन सहन में ये राजाओं का-सा ठाठ-बाट रखतै थे तथा आमोद-प्रमोद सहित मेलजोल पूर्ण भलमनसाहत की जिन्दगी गुजार देने में ही इनका विश्वास था। जीवन में जो सुख वैभव प्राप्त कर लोगे यही तुम्हारा है शेष कुछ इस संसार में रखा नहीं है ऐसा इनका विश्वास था।

कृतियाँ

ग्वाल के लिखे बहुत से ग्रन्थ बताये जाते हैं, किसी-किसी ने तो उनकी संख्या ६० से ऊपर तक कह दी है। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—(१) यमुनालहरी (सं० १८७६)—राधा हरि का ध्यान करके सं० १८७६ की कार्तिक पूर्णिमा को इन्होंने यमुना लहरी नामक ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ किया जिसके पढ़ने लिखने से आनंद प्राप्त होगा और सुर-पंथ का पता लगेगा ऐसा इनका कथन है। यही इनकी सर्वप्रथम रचना है। यह ग्रंथ इन्होंने पद्माकर कृत गंगा लहरी के जोड़ पर लिखा परन्तु उसका-सा सौंदर्य इनकी कृति में नहीं आ पाया है। यमुना लहरी को विशद ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इन्होंने उसमें नव-रस वर्णन और षट्ऋतु वर्णन भी जोड़ दिया है जिससे इन पर रीति की गहरी छाप का भी पता चलता है। (२) रसिकानंद (सं० १८७६)—इसमें रस एवं नायिकाभेद का विवेचन हुआ है। इनका प्रथम रीतिग्रन्थ यही है। इस ग्रंथ में 'नेह निबाह' नामक अपनी एक अन्य कृति का भी उल्लेख इन्होंने किया है। (३) हमीरहठ (सं० १८८३)—ग्वाल ने यह वीर काव्य चन्द्रशेखर बाजपेयी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हम्मीरहठ' की देखा देखी लिखा जिसका वस्तुविधान तो लगभग वही का वही है परन्तु वर्णन शैली इनकी अपनी है। इसकी रचना सं० १८८३ की कार्तिक अमावस्या को अमृतसर में हुई जिस समय ये पंजाब में रहा करते थे। (४) कृष्ण जू को नख-शिख (सं० १८८४), (५) राधा-माधव-मिलन, (६) राधा-अष्टक (सं० १८८३), (७) नेह निबाह—इस रचना का उल्लेख रसिकानन्द में ग्वाल ने किया है जिससे इसकी रचना उससे पूर्व होनी सिद्ध होती है। नेह-निबाह में कुल ३२ छंद हैं जिनमें रसखान, घनआनन्द, बोधा, ठाकुर आदि स्वच्छन्द प्रेमी कवियों की तरह प्रेम पंथ की विलक्षणताओं का आख्यान किया गया है। इस रचना में कवि के प्रेम सम्बन्धी विचार एवं आदर्श सरस काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किये गए हैं, नीरस नीति कथन अथवा उपदेशात्मक शैली में नहीं। (८) बंसी लीला या बंसी-बीसा, (९) गोपी-पच्चीसी कृष्ण काव्य, (१०) कुब्जाष्टक, (११) दूषण दर्पण

(सं० १८६१)—इसका दूसरा नाम 'कविदर्पण' भी है, इसमें काव्य-दोषों का विवेचन हुआ है। (१२) **साहित्यानंद** (सं० १६०४), (१३) **रस रंग** (स० १६०४)—रस विवेचन एवं नायिकाभेद का ग्रंथ, (१४) **अलंकार भ्रम-भंजन**—यह अलंकार विवेचन सम्बन्धी रीति ग्रन्थ है, (१५) **प्रस्तार-प्रकाश**—पिंगल का ग्रंथ, (१६) **भक्ति-भावन** (सं० १६१६)—इसका एक छोटा संस्करण 'कविहृदय विनोद' नाम से प्रकाशित हुआ है जिसमें बहुत से स्फुट कवित्त संग्रहीत हैं। भक्ति-भावन इनकी अन्तिम रचना है। इसमें इनकी बहुत सारी भक्ति संबंधिनी रचनाएँ संकलित हैं जैसे यमुना लहरी, श्रीकृष्ण को नख-शिख, गोपी पच्चीसी, राधा अष्टक, कृष्ण अष्टक, राम अष्टक, गंगा जी के कवित्त, देवी-देवतान के कवित्त, गणेशाष्टक, ध्यानादि के कवित्त, षड्ऋतु वर्णन, अन्योक्तियाँ और मित्रता विषयक रचनाएँ। इस प्रकार यह एक विशाल संग्रह ग्रंथ है। 'कविहृदय विनोद' में इसी की बहुत सारी रचनाएँ मिलेंगी। इस ग्रंथ में ग्वाल की ब्रजभाषा के अतिरिक्त पूर्वी हिन्दी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं की रचनाएँ भी संग्रहीत हैं। इस प्रकार ग्वाल का रचनाकाल सं० १८७६ से सं० १६१६ तक ठहरता है। लगभग ४० वर्षों तक ये काव्य-रचना में प्रवृत्त रहे।

ग्वाल का रीति-निरूपण

ग्वाल का लिखा साहित्य परिमाण में प्रचुर है परन्तु ये अपनी कवित्व शक्ति की अपेक्षा अपने रीतिग्रंथों के लिये अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी बुद्धि रीति के पीछे-पीछे खूब दौड़ती थी जिससे ये अपनी सभी रचनाओं में रीति की रंगत जरूर मिला देते थे। नख-शिख, षड्ऋतु, प्रकृति वर्णन आदि संबंधिनी रीतिबद्ध रचनाएँ जो इन्होंने कीं वे तो कीं ही परन्तु इन्होंने कई रीति ग्रंथ भी लिखे; उदाहरण के लिए रस और नायिकाभेद विवेचन के लिए लिखित इनका 'रसिकानंद' और 'रसरंग' अलंकारों के विवेचनार्थ लिखा गया 'अलंकार भ्रम-भंजन', काव्य दोषों के निरूपण के लिये लिखा गया 'दूषण दर्पण' (या कविदर्पण), पिंगल निरूपण से सम्बन्धित ग्रन्थ 'प्रस्तार-प्रकाश' और सम्भवतः सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र को लेकर लिखा गया 'साहित्यानन्द'। खेद है कि ग्वाल की सभी कृतियाँ आज सुलभ नहीं हैं।

रसिकानंद—इसको कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ परिचय के अभाव में अलंकार ग्रन्थ कह दिया है किन्तु जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है यह रस-विवेचन का ग्रन्थ है और इसके अन्तर्गत नायिकाभेद का भी निरूपण हुआ है। उक्त विषयों के निरूपण में ग्वाल ने अपनी कुछ मौलिकता भी प्रदर्शित की है, उदाहरण के लिये नायिकाभेद के अन्तर्गत नायिकाओं के जो विविध प्रकार से भेदोपभेद किये जाते हैं उसके आधार का इन्होंने संकेत कर दिया है जो अन्य नायिकाभेदकारों में नहीं मिलता। इन्होंने उस

आधार को ही हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है जिसे लेकर नायिकाभेद निरूपण किया जाता रहा है और बताया है कि जाति के आधार पर नायिका के पद्मिनी, चित्रिणी आदि भेद किये गए हैं। इसी प्रकार अंश के आधार पर दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य आदि, गुण के आधार पर उत्तमा, मध्यमा आदि, कर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया आदि तथा वय के आधार पर मुग्धा, मध्या आदि भेद किये गये हैं। गुण श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन आदि जो चार प्रसिद्ध भेद दर्शन के बताये जाते हैं उससे भी अधिक भेद इन्होंने वाणी, गुण, पत्र, नादध्वनि आदि के आधार पर कर दिये हैं और इस प्रकार दर्शन के १६ भेदों की प्रतिष्ठा की है। नायिका के ही समान जाति के आधार पर नायक का भी विभाजन किया है। रस का विवेचन करते हुए भी ये परम्परा से आगे गए हैं तथा इन्होंने भक्ति को भी रस स्वीकार किया है और उसके दास्य, सख्य और वात्सल्य भेदों की भी चर्चा की है। इस संदर्भ में इन्होंने गौड़ संप्रदायानुयायी आचार्य रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिंधु' का भी उल्लेख किया है। ग्वाल ने थोड़ा बहुत खंडन-मंडन का कार्य भी किया है; उदाहरण के लिए इन्होंने केशवदास की रसिकप्रिया के आधार पर अभिसारिका के ३ अन्य भेदों—कामाभिसारिका, प्रेमाभिसारिका और मत्ताभिसारिका-को स्वीकार करके उन्हें पुष्ट किया है तथा कुलपति के काव्य लक्षण सम्बन्धी मत का खंडन कर दिया है। भाषा और संस्कृत के अनेकानेक रीतिग्रन्थों का इन्होने पर्याप्त उपयोग किया है तथा रुचिपूर्वक रीति-निरूपण में प्रवृत्त हुए हैं। यह बात रीति के अधिकांश कर्त्ताओं में नहीं मिलती। इस प्रकार ग्वाल रीति-निरूपण की सच्ची और असली स्पृहा तथा प्रवृत्ति रखने वाले रीतिकार थे। इन्होंने बिना संकोच अन्य कवियों की कविता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। संस्कृत रीति ग्रन्थों का इनके समान मंथन करने वाला तथा इनकी-सी रीतिपरक दृष्टि रखने वाले आचार्य रीति युग में उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। रसिकानंद नामक ग्रन्थ की रचना सं० १८९९ में हुई जिस समय ये नाभानरेश शालिवाहनवंशी महाराज जसवंत सिंह के आश्रित कवि थे। इसके अनुसार इनके पूर्व पुरुषों का क्रम इस प्रकार है—माथुर—जगन्नाथ—मुकुन्द—मुरलीधर—सेवाराम—ग्वाल। इनका 'साहित्यानंद' नामक ग्रन्थ सम्भव है 'रसिकानंद' से भी विशद हो तथा उसमें शब्दशक्ति आदि अन्य काव्यांगों का भी निरूपण हो जैसा कि इनकी प्रवृत्ति से भी पता चलता है और ग्रन्थ के नाम से भी। 'रसिकानंद' में ग्वाल के रीति-निरूपण का वैशिष्ट्य स्पष्ट देखा जा सकता है।

रस रंग—इनका दूसरा महत्वपूर्ण रीति ग्रन्थ है जिसमें रस तथा नायिका-भेद का विशद विवेचन हुआ है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है जो ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय को 'उमंग' कहा गया है। रस विवेचन का क्रम इस प्रकार है—पहली 'उमंग' में स्थायी भाव, अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भाव

का विशद निरूपण हुआ है। दूसरी, तीसरी और चौथी 'उमंगों' में नायिका-भेद कथित है। आगे के 'उमंग' सखी और दूती वर्णन से संबंधित हैं। अन्तिम 'उमंग' में शृंगारेतर रसों का निरूपण हुआ है। शांत रस के अन्तर्गत 'गुरूपदेश' एवं 'भक्त-पक्ष' शीर्षकों में इन्होंने बहुत सी बड़ी सुन्दर वैराग्य प्रवण रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस ग्रन्थ की रचना सं० १९०४ में हुई जब ये मथुरा में रहने लगे थे जैसा कि ग्रन्थ से ही प्रकट है—

संवत वेद[४] ख[०] निधि[९] ससी[१] माधव सित पख संग।
पंचमि ससि कौं प्रगट हुअ ग्रंथ जु यह रस रंग॥

रस एवं उसके उपकरणों का विवेचन करते हुए उनका लक्षण दोहों में दिया गया है जिनमें संक्षिप्तता के साथ-साथ स्पष्टता का गुण विशेष है। भाव, स्थायीभाव, विभाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि का अत्यन्त स्पष्ट निरूपण कवि ने किया है तथा उन्हें अपनी रचनाओं से उदाहृत किया है। ग्वाल ने परिभाषा को 'लक्षण' और उदाहरण को 'लक्ष' कहा है। ग्वाल ने एक-एक रस से संबंधित अनेकानेक अनुभावों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है।

ग्वाल के रस विवेचन की कुछ बातें देव के अनुसार हैं जैसे उन्होंने देव की ही भाँति सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत स्थान न देकर संचारी भावों के अन्तर्गत रखा है। सात्विक भावों के देव ने दो भेद किये हैं—कायिक और मानसिक। ग्वाल ने उनको 'तनज' और 'मनज' कहा है। सात्विक भाव 'तनज' हैं संचारी 'मनज'—

पुनि संचारी भाव सो द्विविध होत कवि ईस।
मन सहाय सौं तनज बसु मनज कहत तैंतीस॥

देव के ही समान ग्वाल ने भी कुछ अलग ढंग से रस के भेदों का कथन किया है। देव के अनुसार रस दो प्रकार का होता है—अलौकिक और लौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनयनिक और लौकिक रस ९ प्रकार के जो प्रसिद्ध ही हैं। ग्वाल ने देव से ही रस-विभाजन के सूत्र को ग्रहण किया है फिर भी देव से कुछ भिन्न ढग से उन्होंने रस भेद का कथन किया है—

चिदानन्द घन ब्रह्म सम रस है श्रुति परमान।
द्विविध सुरस लौकिक जु इक, दुतिय अलौकिक जान॥
रस जु अलौकिक है त्रिधा, स्वाप्निक एक विचार।
मनोरथिक सुजानियें, औपनयनिक कहि धार॥
औपनयनिक जो रस लिख्यौ, सो नौ निधि मतिधार।

देव की अपेक्षा ग्वाल का यह रस भेद कथन कुछ उलझा हुआ है।

ग्वाल के रस विवेचन की कोई-कोई बात केशवदास के अनुसार है उदाहरण

के लिये उन्होंने केशवदास की ही अनुकृति पर भाव के चार भेद कहे हैं। विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव—

भाव सु चारि प्रकार है कहियत प्रथम विभाव।
पुनि कहि थाइ भाव को लिखिहौं फिर अनुभाव ॥

यह कथन सही नहीं है विभाव और अनुभाव भावों के अन्तर्गत निरूपित नहीं किये जा सकते। विभावादि के सम्बन्ध में उनकी धारणा ठीक न हो यह बात नहीं। बिभाव निरूपण करते हुये आलम्बन और उद्दीपन का उन्होंने स्पष्ट पार्थक्य निर्दिष्ट किया है —

हेतु रूप औ वृद्धि कर रस को सो जु विभाव।
दोई भाव को संगता सों विभाव बरनाव ॥

संचारी भाव और स्थायी भाव का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बड़ी ही मार्मिक बात कही है जो लक्ष्य करने की है। बहुत से भाव स्थायी भाव भी हैं और संचारी भी, इन्हें पृथक किस प्रकार किया जाय ? इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि जो स्थायी भाव जिस रस का है वह जब तक उसी रस में है तब तक स्थायीभाव है, अन्य रसों की सीमा में प्रवेश करते ही वह संचारी या व्यभिचारी भाव हो जाता है—

जिहिं रस कौ जो थिति कह्यौ तिहिं रस मैं थिति जान।
वहो भाव पर रस विषै संचारी पहिचान ॥

सात्विक भावों की चर्चा करते हुए उन्होंने एक और नई बात कही है। सात्विक भाव ८ माने गये हैं पर ग्वाल का कहना है कि ५ ज्ञानेन्द्रियों में से प्रत्येक इन आठों सात्विक भावों को व्यक्त कर सकती हैं और इस प्रकार सात्विक भावों की संख्या ४० हो जाती है। यह नवीनता सूक्ष्ममात्र की ही है तथ्यपरक कम क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय सात्विक भावों को ज्ञापित नहीं कर सकती।

इस प्रकार बड़े मनोयोग से ग्वाल ने रस-विवेचन किया है तथा कई नई बातें भी उसमें सन्निविष्ट की हैं। उन्होंने नवरसों में शृंगार निरूपण पहले किया है। आलंबन वर्णन के अन्तर्गत नायक नायिका भेद आया है। नायिकाभेद में कुछ नई नायिकाएँ कथित हुई हैं जैसे सुखसाध्या, दुखसाध्या, बहुकुटुम्बिका आदि। नायक भेद बतलाते हुए नायिकाभेद सम्बन्धिनी पद्मिनी, चित्रिणी आदि जातिगत विभाजनों के ही समान कामशास्त्रीय आधार पर नायक के भी भेद बतलाये गये हैं। संयोग शृंगार के अन्तर्गत सखी, हाव-भाव आदि और वियोग शृंगार के अन्तर्गत प्रवास, पूर्वराग, मान तथा वियोग की दस दशाएँ आदि वर्णित हुई हैं। उद्दीपन विभाव के वर्णन में षट्ऋतु वर्णन के अत्यन्त सरस एवं काव्यात्मक छंद संग्रहीत हैं। इनके ऋतुवर्णन में राजसी ठाट-बाट या शाही शान शौकत का पूरा विवरण मिलता है। 'रसरंग' के

अन्तिम उमंग में शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य आठ रसों का निरूपण हुआ है। ग्वाल का रस-निरूपण रीति की प्रगाढ़ रुचि का परिचायक है और निरूपण-वैशिष्ट्य की दृष्टि से अपने युग के रीतिकारों में ग्वाल की महत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। कोई बहुत बड़ी या असाधारण रूप से मौलिक उद्‌भावना उनमें भले ही न मिले और कुछेक साधारण भूलें भी उनके रस-निरूपण में मिल जायँ फिर भी विषय के प्रतिपादन में स्वच्छता और सुबोधता है। विवादास्पद विषयों या प्रसंगों को ग्वाल ने अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। काम चलता कर देने की प्रवृत्ति उनमे नहीं। रस-रंग के आधार ग्रंथ हैं भानुदत्त की रसमंजरी और रस-तरंगिणी जिसे कवि ने स्वयं 'छल' संचारी की चर्चा करते हुए स्वीकार किया है—

भानुदत्त जू नै लिख्यो रस तरंगिनी माँह।
नूतन इक औरौ बनत छल संचारी चाहि॥

रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद रसतरंगिणी के ही आधार पर ग्वाल ने किये हैं। इसके साथ ही इन्होंने श्रमपूर्वक हिन्दी के पूर्ववर्ती रीतिकारों केशव, देव आदि के रीतिग्रंथों का भी अनुशीलन किया था। ग्वाल ने रीतिशास्त्र सम्बन्धी पूरे अभिनिवेश के साथ इस ग्रंथ का प्रणयन किया है।

अलङ्कार-भ्रम-भंजन—यह अलंकार निरूपण करने वाला ग्रंथ है तथा इसमें अलंकार सम्बन्धी विवादास्पद बातों को सुलझाया गया है जैसा कि ग्रंथ के नाम तथा उसके कर्त्ता की प्रवृत्ति से भी पता चलता है। अनुमान किया जा सकता है कि अलंकार निरूपण विषयक यह एक विशद् ग्रंथ होगा। यह साधारणतः सुलभ नहीं है। अंशतः ही यह ब्रजभारती में प्रकाशित हो चुका है जिसमें अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक चार शब्दालंकारों और उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम और उल्लेख का निरूपण देखा जा सकता है। ग्रंथ के आरम्भ में कृष्ण की और अलंकारों की एक साथ कौशलपूर्वक वन्दना की गई है। उपलब्ध अलंकार निरूपण से विवेचन शैली की सूक्ष्मता एवं विशदता का बोध होता है और अलंकार की सम्यक व्याख्या का सहज ही अनुमान हो जाता है। ग्रंथ के आरम्भ में अलंकार के महत्व पर भी सुन्दर एवं अभिनव ढंग से कवि का अभिमत प्राप्त होता है—

हेमादिक भूषनन को ग्रहन उतारन होत।
ये भूषन तन मन दियत होत न जुदौ उदोत॥

अलंकारों को कविता कामिनी का जो आभरण कहा गया है उस परम प्रसिद्ध उक्ति की नई व्याख्या करते हुए ग्वाल ने कहा है कि कामिनी के आभूषण तो पहने भी जाते हैं और उतारे भी जाते हैं आशय यह कि धारणकर्त्ता की रुचि स्वर्णाभरणों के प्रति कम भी हो सकती है पर कविता के अलंकार तो कविता से कभी पृथक होते ही नहीं, वे काव्य के तन-मन (शब्द और अर्थ) दानों के उपकारक और आह्लादक हैं।

अलंकारों की महिमा के अनन्तर उन्होंने उनका लक्षण कुछ नये ढंग से कहने की चेष्टा की है—

रस आदिक ते व्यंग तें होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ ते भिन्न हैं सब्दारथ के माहि॥
होई विषय संबंध करि चमत्कार कौ कर्न।
ताहू मों सब कहत हैं अलंकार इम बर्न॥

ग्वाल का कहना यह है कि रस और व्यंग्य जिस प्रकार शब्द से भिन्न वस्तु हैं, वे व्यंग्य हैं, ध्वनित होते हैं कथित नहीं बहुत कुछ उसी प्रकार अलंकार भी शब्द तथा अर्थ से कुछ भिन्न ही होता है अपने सौंदर्य एवं चमत्कार के कारण। अलंकार का यह लक्षण तथा ग्वाल की ये मान्यता कुछ नई है जिसके माध्यम से कवि ने अलंकार के महत्व को और भी अधिक बढ़ा दिया है। अलंकारों की यह अभिनव व्याख्या वैद्यनाथ सूरि कृत कुवलयानन्द की व्याख्या 'अलंकार चन्द्रिका' के आधार पर हुई है—

अलंकारत्वं च रसादि भिन्न वयंग्यविभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्तर निष्ठाया॥
विषयितासंबंधावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदक वम्॥

अलंकार लक्षण के अनन्तर उपमान उपमेयादि आधारभूत शब्दों की व्याख्या हुई है। तत्पश्चात शब्दालंकारों का विवेचन है। शब्द एवं अर्थ दोनों के अलंकारों की विवेचना करते हुए ग्वाल की दृष्टि संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक और कुवलयानन्द पर रही है। इन्होंने यथाशक्ति काव्यरीति का विवेचन निष्ठापूर्वक किया है इसीलिये इनके रीति ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन का अधिक उत्कर्ष भी देखा जा सकता है। ग्वाल ने अपने वक्तव्य विषय को सही रूप में समझने और निरूपित करने की चेष्टा की है तथा यथास्थान उन्होंने संस्कृत के आचार्यों के मतों की परीक्षा भी की है और अपना मत व्यक्त करने का भी साहस किया है। जहाँ-तहाँ ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लेकर इन्होंने अपने मत को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और स्थान-स्थान पर संस्कृत आचार्यों के मतों का भी हवाला दिया गया है। इस प्रकार यथासम्भव परिपूर्णता के साथ और पूरी मानसिक तन्मयता के साथ ग्वाल रीतिकर्म में दत्तचित्त हुए हैं फलतः इन्हें हिन्दी के आचार्य श्रेणी के रीतिकारों यथा चिन्तामणि, कुलपति, केशव, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि की कोटि में गिना जाना चाहिए।

दूषण दर्पण—इसमें काव्य दोषों पर विचार किया गया है तथा ऐसा करते हुए उन्होंने बिहारी आदि भाषा कवियों की रचनाओं के उदाहरण दे देकर उनमें दोष दिखाये हैं। इस प्रकार का समीक्षा कर्म करने वाले रीतिकार रीतियुग में बहुत नहीं हुए। इन्होंने बिहारी की रचना से दोष के कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा इनका

दोष विवेचन श्रीपति कृत काव्य सरोज में आये दोष विवेचन की अपेक्षा अधिक विशद एवं प्रशस्त है। ग्वाल ने काव्य के दशांगों का निरूपण तो नहीं किया (सम्भव है साहित्यानन्द में किया भी हो) परन्तु जो भी रीति रचनाएँ उनकी प्राप्त हैं उनसे यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि ग्वाल में अपने युग को देखते हुए अच्छी तथा पर्याप्त विकसित समीक्षा दृष्टि थी। उनके इस ग्रन्थ से काव्य को निर्मल बनाने में अनेकानेक कवि कीर्तिकामियों को सहायता मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। दूषण-दर्पण का दूसरा नाम 'कवि दर्पण' है और उस नाम की सार्थकता इस दोहे से सिद्ध है—

जो कवि दर्पन सम सदा निरखय याहि बनाय।
कबिता दर्पन माहि तिहि दोष न दरसय आय ।।

ग्वाल का मत है कि अविचारित काव्य से उतना ही दुख होता है जितना एक रोगी शरीर से। काव्य के सम्बन्ध में इतनी ईमानदारी हिन्दी कविता के किसी युग में बर्ती गई हो ऐसा दिखाई नहीं देता—

रोग दोष सम अंसित कहुँ सुखद काव्य की देह।
बिन बिचार कहुँ कहत हैं अविचारित दुख गेह ।।

ग्वाल का कवित्व

रीति ग्रन्थों के प्रति ग्वाल की असाधारण अभिरुचि देखकर कुछ लोगों ने यह भी कह दिया है कि उनका रीतिकार उनके कवि की अपेक्षा अधिक अच्छा है। ग्वाल की कविता में जो बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं वे हैं गहरी शृङ्गारिकता, ऋतुवर्णन अथवा प्रकृति चित्रण, कतिपय अनुभव गर्भित उक्तियाँ या नीत्योक्तियाँ आदि। ऋतु-वर्णन भी शृङ्गार के उद्दीपक ही होकर आए हैं हाँ यमुना का वर्णन स्वतन्त्र है जो प्रकृति चित्रण उतना नहीं कहा जा सकता जितना महिमा गायन। वह एक प्रकार से स्तवनात्मक काव्य का अंग है।

शृङ्गारिक रचनाओं में जहाँ प्रणय के नानाविध सरस प्रसंग कल्पित एवं वर्णित हुये हैं वहीं छिछली मानवी वृत्तियों का प्रकाशन भी बेहिचक किया गया है। शुद्ध आयुष्मिकता का स्वरूप ऐसे छन्दों में देखा जा सकता है—

गरकि-गरकि प्रेम पारी परजंक पर
धरकि धरकि हिय हौल सों भभरि जात।
ढरकि ढरकि जुग जंघन जुटन देई
तरकि तरकि बंद कंचुकी के करि जात।
'ग्वाल' कवि अरकि-अरकि पिय थाम्हैं तऊ
थरकि-थरकि अंग पारे लौं बिखरि जात।

सरकि-सरकि जाय सेज पै सरोजनैनी
फरकि फरकि केलि फंद ते उछरि जात ॥

इस छन्द में एक ओर जहाँ पाठक लज्जा से गड़ जायगा और दाँतों तले उँगली दबा लेगा वहीं कवि की प्रगल्भता और कुंठाहीनता की भी दाद दिये बिना न रहेगा। शुद्ध कवित्वकामियों के लिये तो श्लीलता-अश्लीलता का कोई प्रश्न रहता नहीं। ऐसे लोगों के बीच ऐसी रचनाएँ विशेष प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर लें तो कोई आश्चर्य नहीं पर काव्य की सामाजिक सदाशयता का विचार करने वाले ऐसी रचनाओं पर आक्षेप किये बिना न रहेंगे।

नायिका का सौंदर्य—नायिका के सौंदर्य का वर्णन करते हुये कवि ने उसके तन को वन सा ठहराया है और लाल की आखेटप्रियता को लक्ष्य करके कहा है कि तरुणी के तन से अधिक उपयुक्त और कौन सा वन हो सकता है जिसमें उसकी आखेट की प्रवृत्ति की सम्यक तुष्टि हो सके। वनस्थली का सारा परिपार्श्व तो नायिका के शरीर में ही अवस्थित है—

नखशिख रूप की झलाझली है सघनाई
जंघ केल नाभि कूप आवै दरशन मैं।
हाथ मैं न अवै कटि केहरि दुबीच तहाँ,
उदर सरोवर अपार है तरन मैं।
'ग्वाल' कवि कुच-कोक दुरे कर वासन तें,
नैन ये न मृग भरैं चौकड़ी चलन मैं।
जो पै तुम्हें सौख है सिकार हीं सों प्यारे लाल,
तौ पै क्यूँ न खेलौ तरुनी के तन-बन मैं॥

तरुणी के सौंदर्य वर्णन की यह भी एक परिपाटी रही है जिसमें उसके शरीर को वन-उपवन आदि नाना प्राकृतिक उपकरणों के समक्ष ठहरा दिया गया है। समक्ष भी ठहरा दिया गया है प्राकृतिक उपकरण विशेष लेकर सांग रूपक का पूरा ठाठ खड़ा कर दिया गया है जिससे काव्यों में चमत्कार पैदा हो गया है और नायिका के सौन्दर्या-तिशय्य की व्यंजना भी पूरी-पूरी हो गई है। तरुणी के सौंदर्य-वर्णन के ही संदर्भ में सद्यःस्नाता का चित्र देखिये—

बाल ताल तीर मैं तमाल की तराईं तरैं,
तन तनजेब सों दुरावै गुन गाँसे मैं।
न्हाय के नवेली कढ़ी नाइ के नुकीलो नैन,
चैन की चलन मढ़ी मैन-प्रेम-पासे मैं।
'ग्वाल' कवि ऊँचे वे उरोज की अगारिन पै,
लिपटी अलक ताके ललित तमासे मैं।

कुलशील को जहाँ तक सम्भव है निभाए चलती हैं। गार्हस्थिक वातावरण के बीच यह प्रेम पल्लवित होता है। रात अँधेरी है घर में जामन की जरूरत है सास अपने बहू को पड़ोस के घर से माँग कर ले आने को कहती है। बहू सास के इस प्रस्ताव से बहुत खुश है कि उसे इसी बहाने दो क्षण के लिए 'लाल' से मिलने का अवसर मिलेगा पर वह सास को अपने शील का परिचय देने का यह अवसर हाथ से जाने देना नहीं चाहती। वह जाना भी चाहती है और सास को यह बतलाना भी चाहती है कि उसे अंधेरी रात में बाहर जाते डर लगता है, रात्रि को उसे बाहर नहीं निकलना चाहिए आदि जिससे सास उसकी सुशीलता पर विश्वास कर ले उसके मन में उसकी सच्चरित्रता का भाव दृढ़ हो जाय। अगर भविष्य में वह रात्रि में निकल भी जाय तो कोई उस पर संदेह न करे। ऐसी भावनाएँ मन में बाँध कर ही वह अपनी सास को इस प्रकार उत्तर देती है –

राति है अँधेरी, फेरि द्वारन किवार दैया,
हेरी बहुबेरी, वह राह अति बंक री।
सास! तू पठावै लैन जामन सिलावै अब,
जाऐं बनि आवै पर काँपत है अंक री।
'ग्वाल' कबि गैयन की भीर माँह ऐबो जैबो,
दौरि के उठैबो पग, लागत है संक री।
अँगिया मसकि जैहै, बिछुलो खसक जैहै,
तब तू दुखैहै, पैहै नाहक कलंक री॥

'जाऐं बिन आवै' कह कर उसने आज के मौके को भी हाथ से जाने नहीं दिया है और आगे का रास्ता तो प्रशस्त कर ही रही है। और सचमुच वह बहू अपनी सास का विश्वास प्राप्त कर लेती है। एक बार बुरी दशा में वह घर लौटती है तो भी उसकी सास उस पर कोप नहीं करती। वह अहनी बधू को सर्वथा निर्दोष और भोली समझ कर छोड़ देती है तथा उसकी ही बताई बातों पर बिना तर्क किये विश्वास कर लेती है—

तुम कैसी आई, मैं तौ दधि बेचि आवति हो,
नाहर निकसि आयौ बन बज मारे तें।
वा ने मैं न देखो, मैं अचक भजी चपकी स्यों,
धँमी मैं करी. की कुटी में डर भारे तें।
'ग्वाल कवि' बेंदी गई छरा फँस्यो आँगि चली,
छिरे ये कपोल, देखो अबि उरझारे तें।
आस हो न जीवन की, राम वे बचाय राखी,
मरु कै बची हौं सास! धरम तिहारे तें॥

'मरु कै वचो हौं ग्रास धरम तिहारे तें' में बहू ने सास की सारी सहानुभूति और ममता अपनी ओर आकर्षित कर ली है। बधू की इस आत्मीयता पर तो सास का हृदय अवश्य पिघल गया होगा तथा किसी आक्षेप की भावना उसके मन में पनपने के पहले ही दब गई होगी। नायिका धीरे-धीरे ढीठ हो चलती है, लाल से उसका मिलना खुलना जारी है। वह और अधिक नियमित और मुक्त-रूप से उसका साक्षात करने की अभिलाषिणी है। लिजिये ! इसके लिए भी उसने आखिर एक रास्ता निकाल ही लिया—

> यह लाल चलावनी हाय दैया हर एक को नाहिं छुहावनी है।
> सुनि तेरी तरीफ मिलावनी की, हित तेरे सुमाल पुहावनो है।
> 'कवि ग्वाल' चराइ लै आवनी ह्याँ, फिर बाँधनि पौर सुहावनी है।
> मनभावनी दैहौं दुहावनी मैं, यह गाय तुही पै दुहावनी है।।

कल से लाल उसके घर 'गाय दुहने' आया करेंगे। धन्य है मानव मस्तिष्क जो अपनी सुख-सुविधा के नए-नए मार्ग ढूँढ़ निकालने में सदा से ही निपुण रहा है। अपने शील स्वभाव मृदुभाषिता आदि के कारण उस बहू ने घर में असाधारण स्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। अब वह चाहे तो घर का सर्वस्व लुटा दे उसे रोकने वाला कौन है। उसे दूध दुहने के लिए ग्वाले तो बहुत मिल सकते थे और कम दुहानी देने पर भी वह तो लाल से ही दूध दुहाएगी और दुहावनी भी उन्हें मुँह माँगी देगी। इस बात में कुछ राज तो होना ही चाहिए।

प्रणय के संयोग के पक्ष का चित्रण करते हुए जहाँ प्रवास से लौटे हुए प्रिय से उसकी प्रियतमा की भेंट दिखलाई गई है वहाँ भी वर्णन पर्याप्त सरस और मार्मिक बन पड़ा है। सखी ने ज्यों ही श्याम के आगमन की सूचना दी उसका विरह जर्जर तन एकाएक प्रफुल्ल हो उठा, उसमें नई प्रभा फूट पड़ी। और उसका बहिरंतर हरा हो उठा—

> 'ग्वाल कवि' त्यों ही उठि अंक लगी प्रीतम के,
> बदन मयंक जोति जाहिर खरी भई।
> मानो जरी जेठ की जलाकन तें बेलि झेलि,
> अरसा बिना ही बरसा हरी भई।।

इसी प्रकार के एक अन्य अवसर पर जब प्रिय के परदेस से लौटने की सूचना दूती ने दी वह नायिका अभिनव अंग ज्योति से ज्योतित हो प्रिय से मिलने को दौड़ पड़ी। उसकी आतुरता बेहिसाब थी और हर्ष ! उसका तो ठिकाना ही न था—

> 'ग्वाल कवि' भेंटति भुजा तें भुजा जोरि जोरि,
> आनंद को नीर बह्यो प्यारी नैन सोतैं ही।
> मानो ब्याल बिरह वियोग ने डस्यो री हीय,
> वाकौ विष झरत मिलाय मंत्र होतैं हीं।।

यहाँ यह अभिनव उत्प्रेक्षा असाधारण भावोत्कर्षक्षम सिद्ध हुई है। उसमें स्वतन्त्र चमत्कार भी कम नहीं है।

नायक की शठता पर एक मानवती खंडिता का रोष देखिये —

आए पास कौन के हौ, भूले कौन भौन के हौ,
डगमग गौन के हौ, देह मौज-माँची है।
पाग पेच ढीले भये, दृग उनमीले भये,
तऊ न लजीले भये, पाठी भली बाँची है।
'ग्वाल कवि' और न उपाय ब्रजराज अब,
जाउ-जाउ जहाँ चाउ, मैं तो यह जाँची है।
घर की जो मिसरी सो फीकी सो लगन लागै,
मीठौ गुड़ चोरी कौ कहन यह साँची है।।

वियोग—वियोग के छंद ग्वाल ने सम्भवतः कम लिखे हैं या फिर ऋतु-वर्णनों साथ उन्होंने उनका गठबन्धन कर दिया है। उद्धव गोपी प्रसंग से संबंधित कुछ छन्द उन्होंने भी लिखे हैं जिनमें विरह दशा प्रकारान्तर से व्यक्त हुई है। अधिकांश कथन गोपियों के ही हैं। जिनमें कहीं-कहीं तो कृष्ण पर गहरा व्यंग किया है उनके प्रेमाचरण को लेकर और कहीं गोपियों ने अपनी प्रेम निष्ठा का निर्वचन किया है, वे कहती हैं कि प्रेम तो कुलीन व्यक्तियों से ही निभ सकता है अकुलीनों से प्रेम अन्तोगत्वा विषाद में ही परिणत हो जाता है। अजीब प्रेमी है वह जिसका प्रेम नित नए रंग बदला करता है। हम सबसे प्रेम करना छोड़ अब के एकमात्र कुब्जा के ही रसिक हो गए हैं। हे सखी! विधाता ने भाग्य में प्रिय तो लिख मारा परन्तु 'कुढंगी' और 'बहुरंगी' मीत लिखा क्योंकि जो अपने माँ-बाप का ही साथी न हुआ वह भला हमारा साथ क्या देगा। हमारे साथ थे तो खूब रास-विलास के सुख लूटते रहे, जब से अक्रूर लिवा ले गए और कूबरी उनके कान लग गई तब से उनकी मति फूट गई है प्रेम को तो 'बलाए ताक' कर दिया और योग की 'विष-बूटी' हमारे पास भेज दी है—

क—प्रीति कुलीनन सों निबहै अकुलीन की प्रीति मैं अन्त उदासी।
ख—यों कवि ग्वाल ही भाल लिखी हुतो मीत सही पै कुढंगी भयो।।
माय न बाप को अंगी भयो सो हमारौ कहौ कब संगी भयो।।

गोपियों की एक उक्ति अच्छी और नई है। वे कहती हैं ऊधो! कृष्ण तुम्हें यहाँ नहीं दिखाई पड़ते इसीलिए तुम 'अलख-अलख' की रट लगा रहे हो किन्तु उनके अस्तित्व का बात तुम हमारे हृदय से पूछो-! हम तो उन्हें नित्य देखती हैं, प्रतिक्षण देखती हैं, प्रति स्थान देखती हैं फिर भला हमें अलख की बात क्यों रुचिकर लगेगी। गोपियों की प्रीतिनिष्ठा भरी यह युक्ति बड़ी मार्मिक है—

'ग्वाल कवि' ह्याँ तौ व्हौ जाम धाम धाम बाम,
मूरति मनोहर न नेकौ होत न्यारी है।
कानन मैं कानन मैं आनन मैं आँखिन मैं,
अंगन मैं रोम-रोम रसिक बिहारी है॥

ऋतु एवं प्रकृति वर्णन—ऋतु अथवा प्रकृति का सीधा वर्णन तो कवियों ने इस युग में बहुत कम ही किया है। ग्वाल में भी यही बात है। प्रकृति की छटा का वास्तविक स्वरूप उपस्थित करने के बजाय उसे वे किसी कलात्मक रूप में या उद्दीपनकारी रूप में उपस्थित करते हैं। कभी-कभी महापुरुषों की दासता सी करती हुई प्रकृति उन्हें अवगत होती है जिसके मूल में कवि की खुद की दरबारदारी और प्रशस्ति गायन प्रवृत्ति झलकती जान पड़ती है। वसंत का वर्णन करते हुए वे ही छंद विशेष मार्मिक बन पड़े हैं जिनमें वसंत को विरह का उद्दीपनकारी बताया गया है। कहीं तो वसंत ऋतु भोग और विलास का वातावरण उपस्थित करती है। यमुना का किनारा है, संगीत के स्वरों का समा बँधा हुआ है, लोग वसंती परिधान पहने हुए हैं और जर्द विछौने बिछे हुए हैं, कोयलों का कलित रव सुनाई पड़ रहा है तथा सुखद समीर बह रही है। वसंत की इस बहार में किंशुक, कुसुम, अनार, कचनार, आदि फैल-फैल कर फूल रहे हैं! इस चित्र में तथ्यपरकता कम वसंत की बहार का काल्पनिक चित्रण अधिक है। एक अन्य छन्द में कवि कहता है सरसों के खेत बिछे हुए हैं, वासंती चाँदनी खड़ी हुई है, सभी लतालियों ने वासंती वस्त्र पहन लिए हैं, सोनजुही हुलसित हृदय से लहरा रही है ऐसे वातावरण के बीच प्रिय अपनी प्रिया को पुखराज के प्याले भर-भर कर पिला रहा है। यह वर्णन अपेक्षाकृत अधिक बिम्बात्मक, सरल और मनोग्राही है—

'ग्वाल कवि' प्यारी पुखराजन कौ प्यालौ पूर,
प्यावत प्रिया कों, करै बात बिलसंत की।
राग में बसंत, बाग-बाग मैं बसंत फूल्यो,
लाग में बसंत, क्या बहार है बसंत की॥

यही वह ऋतु है जिसमें होली का उन्मादकारी त्यौहार आता है और ब्रज भाषा काव्य के प्रसिद्ध प्रेमी युगल कवियों के मन की अँगड़ाई में रंग-रंग की क्रीड़ाएँ कर चलते हैं—'ताल पै तमाल पै गुलाल उड़ि छायो ऐसो, भयौ एक और नन्दलाल नन्दलाल पै' कुछ छंदों में वसंत ऋतु के समूचे वैभव को उसकी समस्त मार्मिकता के साथ हमारे अंतःकरण में प्रतिष्ठित करने के बजाय कवि ने प्राकृतिक उपकरणों जैसे वायु, सौरभ, गुलाब, किंशुक, कुसुम, किसलय, भौंरे, कोयल, बाँस, कलियों का चटकना, भ्रमरों का गुँजार, अमराई, कोकिलस्वर, आदि को लेकर तरह-तरह के रूपक खड़े किये हैं और कभी तो वसंत को 'बहुरूपिया' कहा है, कभी नर्तक और कभी कलावंत।

जिस छंद में गोपियों ने ऊधव द्वारा श्रीकृष्ण के पास आत्मदशा सूचक एक छोटा सा संदेश संप्रेषित किया है वह बहुत मार्मिक है—

ऊधौ ! ये सूधौ सो संदेसौ कहि दीजो जाय,
स्याम सौं सितावी तुम बिन सरसंत है।
कोप पुरहूत कें बचाई धारि धारन तें,
तिन पै कलंकी चंद विष बरसंत है।
'ग्वाल कवि' सीतल समीर जे सुहृद हीं, ते
बेधत निसंक, तीर-पीर सरसंत है।
जेई विपनागिन तें बरत बचाई तिन्हैं,
पारि विरहागिन मैं, बारत बसंत है॥

इन उक्तियों की मार्मिकता इस बात में है कि गोपियाँ कृष्ण को उनके विगत जीवन की स्मृतियों और सम्बन्धों को जगा रही हैं और कह रही हैं कि जिन्हें तुमने अपने असाधारण प्रीति के कारण इन्द्र के कोप से और दावाग्नि से बचा लिया था उन्हें ही वासंती ऋतु के उपकरण चन्द्रमा, वायु आदि दाहे दे रहे हैं। उस प्रेम में यदि लेश-मात्र की सत्यता होगी तो कृष्ण अवश्य इन्हें आकर बचा लेंगे। ये उक्तियाँ कृष्ण के चित्त में प्रसुप्त प्रणय को उदबुद्ध करने वाली तो हैं ही, पाठक मात्र के चित्त को द्रवीभूत करने वाली भी हैं। इसी प्रकार का एक और भी संक्षिप्त संदेश भेजा जा रहा है जिसमें प्रेमिका की वसंत ऋतु जनित विरह वेदना ही प्रकाशित की गई है—

वाह-वह ! आप कों, बिहारीलाल प्यार भरे,
बाला बिरहागि नची अब न नचैगी वह।
बानी कोकिला की विषधार सी पचायौ करी,
अब लौं पची सो पची, अब न पचैगी वह।
'ग्वाल कवि' केते उपचारन सच्चाई करौ,
अब लौं सची सो सची, अब न सचैगी वह॥
आयौ पंचबान लै बसंत बजमारौ बीर,
अब लौं बची सो बची, अब न बचैगी वह॥

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में ग्वाल कवि की दृष्टि जहाँ ऋतुगत ताप के आधिक्य और अभाव के चित्रण पर गई है वहीं उसके निराकरण के साधनों पर भी ग्रीष्म की तपन का आधिक्य बहुत ही स्वाभाविक पद्धति पर चलकर नितांत यथार्थवादिनी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी ।
भीजे खस-बीजन झुलै हैं न सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात, दावा सी डरापिनी ।
'ग्वाल कवि' कहै कोरे कुंभन तें, कूपन तें,
लै लै जलधार, बार बार मुख थापिनी ।
जब पियौ, तब पियौ, अब पियौ फेर अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी ॥

इस वर्णन में प्रकृति की दशा तो वैसी नहीं वर्णित हुई है जैसी सेनापति ने 'वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि' वाले छंद में दिखलाई है परन्तु ऋतुजनित ऊष्मा की अधिकता सूचित करते हुए मनुष्य पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का ही चित्रण किया है । यह छंद शुद्ध ऋतुसंबंधी समझा जाना चाहिए प्रभावाभिव्यंजक पद्धति पर किया गया भले ही हो । इसमें न तो प्रकृति विलासोपकरण के रूप में आई है और न उद्दीपनकारी हो कर । गर्मी दावाग्नि-सी दाहक और डराने वाली है, दोपहर में निकलते नहीं बनता, ताजे घड़े का शीतल जल, कुएँ का ठंडा पानी आदि पी-पीकर भी प्यास नहीं बुझती । बार-बार पानी पिया जाता है पर पापिनी प्यास बनी रहती है—यह उक्ति बहुत ही सच्ची है हालाँकि 'भीजे खस-बीजन झुलै हैं ना सुखात स्वेद' कह कर कवि ने तनिक सी अत्युक्ति का आश्रय अवश्य लिया है । जो हो लगभग समस्त उत्तर भारत में ग्रीष्म ऋतु का यही स्वरूप आज भी गोचर होता है । एक अन्य छंद में पूर्ण प्रचण्ड मार्तण्ड की मयूखों से दह्यमान ब्रह्माण्ड की दशा का कवि ने ऐसा ही वर्णन किया है बल्कि अतिशयोक्ति प्रणाली का सहारा लेते हुए किया है और कहा है कि कितना भी पियो मगर प्यास नहीं बुझती—'कुंड पिये, कूप पिये, सर पिये, नद पिये, सिंधु पिये, हिम पिये, पीयबौई करिये ।' कवि ने यह भी कहा है कि नरम वातास तन को छूती है तो लगता है जैसे बिना धुएँ की आग तन को छू रही हो और जेठ मास की जलाकों (लुओं या गर्म हवाओं) का तो कहना ही क्या ! चित्त में प्यास की शलाकाएँ आ अड़ती हैं । ग्रीष्म के ऐसे भीषण ताप के निदर्शन के साथ-साथ ग्वाल ने बहुत से ग्रीष्मोपचारों का भी उल्लेख किया है । यदि शिशिर के कसाले दूर करने वाले मसाले पद्माकर बता गए हैं तो गर्मी का इलाज बताने में ग्वाल भी पीछे नहीं रहे हैं । जैसे पद्माकर के नायक-नायिकाएँ शिशिर को चुनौती दे डालते हैं वैसे ही ग्वाल के प्रेमी-प्रेमिका भी दह्यमान ग्रीष्म को ललकारे बिना नहीं रहते । असंभव नहीं कि भर्तृहरि के शृंगारशतक आदि का प्रभाव इन कवियों ने ग्रहण किया हो । जिन ग्रीष्मोपचारों का विवरण भिन्न-भिन्न क्रम से ग्वाल ने नाना छंदों में दिया है उनकी एक तालिका दे देने से कवि की दृष्टि और उसके सुखोपकरणों के परिज्ञान

तथा साथ ही साथ समसामयिक दरबारी अथवा राजसिक वातावरण का पता चल जायगा। अमीर, राजे, नवाब और सामंत ग्रीष्म का ताप मिटाने के लिए क्या कुछ वस्तुएँ जुटा लिया करते थे इसकी एक हल्की-सी झलक इस सूची से मिल सकती है— कमल के पत्ते, पुष्परज, फौव्वारे, सुरभित जल, उसीरखाने, सुरा, यमुनातट, गुलाब जल, चंदन और कपूर चूर्ण, चमेली, चंदबदनी, खास खसखाने, खिलवत खाने, सुगंधियों के कोप, मलय वृक्ष, सघन छाया, शीतल वायु, वर्फ मिश्रित क्षीर, उसीर के बंगले गुलाबजल से तर किये हुए, स्वच्छ गुलाब जल के कृत्रिम झरने और फौवारे आदि। इस सूची से संतोष न होने पर इन छंदों को देखा जा सकता है जिनमें ग्वाल कवि ने पद्माकर की चाल पर चल कर यह बतलाया है कि ग्रीष्म किसे नहीं सताता और कौन सी विधियाँ हैं जिन्हें अपना कर उसके कसाले को भाग्यशाली लोग आसानी से काट दिया करते हैं—

(क) ग्रीषम न त्रास जाके पास ये बिलास होंय,
खस के मबास पै गुलाब उछर्‌यो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे-पाक केवरे में बरफ पर्‌यौ करै।
'ग्वाल' कवि चंदन चहल में कपूर पूर,
चंदन अतर तर बसन खस्यौ करै।
कंज मुखी कंज नैनी, कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी कर-कंज सों करयौ करै।

(ख) बरफ-सिलान की बिछायत बनाय करि,
सेज संदली पै कंज-दल पाटियतु है।
गालिब गुलाब जल-जाल के फुहारे छूटें,
खूब खसखाने पर गुलाब छाँटियतु है।
'ग्वाल कवि' सुन्दर सुराही फेरि, सोरा में,
ओरा कौ बनाय रस, प्यास डारियतु है।
हिमकर-आननी हिवाला सी हिए तें लाय,
ग्रीषम की ज्वाला के कसाला काटियतु है॥

एक छंद में चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली का आश्रय लेकर ग्वाल ने यह बताया है कि ग्रीष्म की अधिकता के कारण शीतलता भागती फिर रही है। यहाँ जा रही है वहाँ जा रही है पर कहीं उसे चैन नहीं मिलने पाती। मेष और वृष राशि में आकर सूर्य इतना तप उठा है और त्रासद हो उठा है कि शीतलता तहखानों, सरोवरों, कंजों, चंदन, कपूर, चंद्र, चाँदनी, सोरा, जल, ओला आदि में क्रम-क्रम से जाकर

अंत में हिमालय में छिप गई है। इस छंद की प्रेरणा ग्वाल को सेनापति की इन पंक्तियों से मिली जान पड़ती है--

> भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
> सीरक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै
> मानौं सीत काल सीतलता के जमाइबै कौं,
> राखै हैं बिरंचि बीच धरा मैं छुपाइ कै ॥ (सेनापति)

सेनापति के इस छंद को यदि हम उसके संपूर्ण रूप में देखें तो उसमें सौंदर्य और भी अधिक समुन्नत और श्रेष्ठ रूप में गोचर होगा।

वर्षा ऋतु के वर्णन में भी दो-तीन प्रचलित पद्धतियों का अनुसरण मिलता है। वर्षा की प्रकृति संयोग की मधुर-मादक पीठिका उपस्थित करती है—सावनी तीज में प्रिय और प्रिया जल की बूँदों में भींगते हैं, लाल रंग की ओढ़नी तर-बतर हुई जा रही हैं, दोनों मलार गा रहे हैं; उधर झिल्लियों की झनकार और घन की गरज भी हो रही है। शीतल पवन के झकोरे अलग चल रहे हैं तथा प्रिय और प्रिया उदारता-पूर्वक विहार कर रहे हैं। प्रकृति के ऐसे आह्लादक वातावरण के बीच डिंडोला झूलते हुए दोनों विलास कर रहे हैं—'धमक घटान की चमक चपलान की, झुमक जरी को तामैं रमक हिंडोरे की।' कहीं-कहीं सखी अथवा दूती द्वारा नायिका को वर्षा के उन्मादकारी वातावरण में मान से विरत होने की सीख भी दी गई है—लहलही वल्लरियाँ डाल-डाल पर हेलमेल का खेल-खेल रही हैं। बालाएँ लाल को गलबहियाँ डाले छवि बिखेर रही है, बेलें अपनी अभिनव अरुणिम प्रभा से मंडित हो उठी हैं, बूँदें पड़ रही हैं और मेघ हैं, जो घूम-घूम कर, झूम-झूम कर, लूम-लूम कर चंचला को चूम-चूम कर भूमि पर झुक आए हैं। ऐसी बेला सम्मान की ही हो सकती है मान करने की तो नहीं ही हो सकती चाहे झाँक कर बाहर की दृश्यावली देख ले, मेरे कहने का विश्वास न होता हो तो अपनी आखों की ही प्रतीति कर ले, बात तेरे हित की है और बावन तोला पाव रत्ती सही है—'मान की न बेर सन-मान की है बेर प्यारी, मान कह्यो मेरो झुक झाँकि तौ झमाके सौं।' यह तो संयोगियों की हालत है, वियोगियों को तो वर्षा पीड़ा ही पहुँचा सकती है। वियोगिनी के पीड़ा-प्रमत्त-चित्त का उद्गार सुनिये--

> मेरे मनभावन न आये सखि! सावन मैं,
> तावन लगी है लता लरजि लरजि कै।
> बूँदैं कबौं रूँदै, कबौ धारैं हिय फारैं दैया,
> बीजरी हू बारैं, हारो बरजि बरजि कै।
> 'ग्वाल कवि' चातकी परम पातकी सौं मिलि,
> मोरहू करत सोर तरजि तरजि कै॥

गरजि गये जे घन, गरजि गये हैं भला,
फेर ए कसाई आये गरजि गरजि कै ॥

कहीं-कहीं पर चमत्कार प्रधान अलंकारिक पद्धति पर वर्षा वर्णित हुई है जिसमें कभी तो उसे वेश्या बना कर और कभी रंगीली नर्तकी ठहरा कर शान से रूपक खड़ा किया गया है—

(क) प्यार सों पहरि पिसवाज पौन पुरवाई,
ओढ़नी सुरंग सुर-चाप चमकाई है।
जग-जोति जाहर, जवाहर सी दामिनी है,
अमित अलापन की गरज सुनाई है ॥
'ग्वाल कवि' कहै, धाम-धाम लखि नाँचै,
राचै, चित वित लेत, मोद माचत सुहाई है।
बंचनी बिरागहू की, अति परपंचनि सी,
कंचनी सी आज मेघ माला बनि आई है ॥

(ख) तरल तिलंगन के तुंग तेह तेजदार,
कानन कदंब कौ, कदंब सरसायौ है।
सूबेदार मोर, बग-दादुर हवलदार,
जमादार औ तंबूर पिक मनभायौ है।
'ग्वाल कवि' बाढ़ै गरराट घन गहन की,
कंपनी कौं कंपू, झला होय छवि छायौ है।
भूपत उमंगी, कामदेव जोर जंगी, ग्वाल,
मुजरा कों पावस, फिरंगी बनि आयो है ॥

अलंकार-प्रवण वर्षा वर्णन शैली के बीच कवि-कल्पना और सूझ-बूझ का यहाँ अच्छा विकास देखा जा सकता है। इन वर्णनों में चमत्कृत एवं प्रसन्न करने की सामर्थ्य पूरी है। अब निरलंकारिक पद्धति पर वर्षा के एकाध चित्र और देख लीजिये जिसमें कवि का ऋतु एवं प्रकृति-प्रेम स्वच्छ और स्वतंत्र रूप में सामने आता है जहाँ प्रकृति केवल अपने लिए ही वर्णित हुई है। ये वर्णन पर्याप्त बिम्बात्मक हैं और साथ ही इनमें ऋतु के हुलास को देख कर हृद्गत उल्लास फूटा पड़ रहा है—

(क) झूम-झाम चलत चहूँवा घन घूम-घूम,
लूम-लूम भूमि छ्वै छ्वै धूम से दिखात हैं।
तूल फे से पहल, पहल पर उठे आवैं,
महल महल पर सहल सुहात हैं।
'ग्वाल कवि' भनत, परम तम सम केते,
छम छम छम डारें बूँदें दिन-रात हैं।

गरज गये हे एक गरजन लगे देखो,
गरत आनें एक, गरजत जात हैं ।।

(ख) प्यारी आउ छात पै, निहारि नये कौतुक ये,
घन की छटा तें खाली नभ में न ठौर हैं।
टेढ़ी सूधी गोल औ चखूँटी, बहु कौन वारीं,
खालो, लदी, खुली, मुँदी, करैं दौरा दौर हैं।
'ग्वाल कवि' कारी, धौरी, धुमरारी, घहरारी,
धुरवारी, बरसारी, झुकी तौरा तौर हैं।
ये आईं, वो आईं, ये गईं, वो गईं,
और ये आईं, उठि आवत वे और हैं।।

वर्षा के सूचक सर्वप्रमुख उपकरण मेघों का ही इनमें वर्णन हुआ है। उनकी गति, स्वरूप, शोभा, वर्ण, वर्षण, गर्जन, आवागमन, आकार-प्रकार, सजलता-निर्जलता, मुक्तता-बद्धता, दौड़धूप आदि ही इन छंदों में विशेष रूप से वर्णित हुई है। ऐसे मेघों को देख कर कवि मन का उल्लास भी फूटता दिखता है। कभी-कभी पावस की साँझ में ऐसा भी होता है कि सूर्य की मद्धिम किरणें पीछे दिखाई देती रहती हैं और सामने हलकी-हलकी वर्षा होती है। प्रकृति के ऐसे बिरले दृश्यों पर भी जाने वाली दृष्टि को देखकर कवि की सहृदयता का पूरा-पूरा एहसास हुए बिना नहीं रहता। मेघों की न्यारी-न्यारी छवि ही वर्षा ऋतु में नित्य का ही व्यापार है। मेघों की नाना प्रकार की वर्णच्छटा से आकृष्ट कवि मन का यह उत्प्रेक्षागर्भित कथन भी उसके प्रकृति-प्रेम का ही परिचय दे रहा है—

'ग्वाल कवि' सूही सेत, चंपकई, नीली-पीली,
धूमरी सिंदूरी बदरी में मँडरात हैं।
मानहु मुसब्बर मनोज को मुकब्बा मंजु,
फैलि पर्यौ, ताकी तसबीरें उड़ी जात हैं।।

मूर्तिमत्ता भी ग्वाल की ऋतु वर्णना की एक उल्लेखनीय विशेषता कही जा सकती है।

शरद ऋतु के वर्णन में ग्वाल ने यही बात विशेष रूप से कही है कि वर्षा के समग्र दोष दूर हो गए हैं और ऋतु तथा प्रकृति में स्वच्छता आ गई है जैसे मयूरों के कर्कश स्वर अब नहीं सुनाई पड़ते और न मेघों की अप्रिय गर्जना ही शेष रह गई है। आकाश, सर, सरिताएँ निर्मल हो चले हैं और पृथ्वी भी कर्दम से रहित हो गई है। चकोरों को विमल चंद्र दर्शन सुलभ होने के कारण विशेष प्रसन्नता प्राप्त होने लगी है और पथिकों-प्रवासियों का दुखदर्द भी अब दूर हो चला है और इस सबसे बड़ी बात जो लोक के चित्त को अनुरंजित करने वाली बन पड़ी है वह यह कि 'जल पर, थल

पर, महल अचल पर, चांदी सी चमकि रहा, चाँदनी सरद की।' चाँदनी की यह चारु चमचमाहट समस्त सृष्टि पर एक रूप, एकरस, एकतान होकर छाई हुई है। उसके प्रियतर शीतल और मद प्रकाश में वस्तुभेद और वर्णभेद मिट-सा रहा है। समूची सृष्टि एक ही-सी एकवर्ण हो चली है। भेद की सत्ता जैसे शरद के मनहर प्रकाश में लुप्त हो गई है—

अंबर, अवनि, अंबु, आलऐ, विटप गिरि,
एक ही से पेखे परें, बनैं परख तें।
लीपी अबरख तें, कै टीपी पुंज पारद तें,
कैधौं दुति दीपी, चारु चाँदी के बरख तें॥

हेमंत में शीत की प्रधानता होती है, तुषार का आधिक्य होता है, कड़ाके का जाड़ा पड़ता है तथा बर्फीली हवा चलती है। यह शीत के युवा होने की ऋतु है। इसके वर्णन में ग्वाल ने एक ओर तो शैत्य की अधिकता का वर्णन किया है दूसरी ओर उसे नेस्तनाबूद कर देने वाले साधनों का भी वर्णन किया है। हेमंत के शीत का वर्णन करते हुए ग्वाल ने लिखा है कि नदियों के किनारे तो विशेष शीत होती है, पानी बेहद ठंडा हो जाता है, वस्त्र, वस्तुएँ, धरती सभी कुछ में शीत समा गया है, खूब कुहरा पड़ता है और कड़ाके की ठंडक में हवाएँ सनसनाती हुई तीर सी निकल जाती है। विरहिणी को तो यह ऋतु विशेष सालती है। प्रवासी प्रिय का वियोग दूना हो जाता है, फूल सूख जाते हैं और भौंरे दिखाई भी नहीं देते—

'ग्वाल कवि' ऐसे या हिमंत मे न आये कंत,
सो तुम्हें न दोप सलसंत औरैं ढरि गई।
सूख गये फूल भौंर और उड़ि गये मानौं,
काम की कमान की कमान सी उतरि गई॥

पाले, कुहरे की इस ऋतु के वर्णन में कभी तो ग्वाल ने अपनी आदत के अनुसार शीत की बादशाहत का रूपक खड़ा किया है और कभी ठिठुरा देने वाले हेमंत में गरीब आदमी की दशा का वर्णन किया है। शीत की बादशाहत कैसी है देखिए—चौमासे की तखत बिछती है, सजल बादलों का छत्र छजता है, जलधारा के चँवर डुलाये जाते हैं और थहरा देने वाली हवा वज़ीर का काम करती है। वनस्पतियों पर पड़े तुहिन बिन्दुओं अथवा हिम की बिछायत बिछती है और कटकटा देने वाली ठिठुरन की नौबत बजती है। ऐसी बादशाहत भला और किसे प्राप्त है—

कातिकादि चारों मास, तखत बिछाय बैठ्यो,
बद्दल सजल जल छत्र छवि छाई है।
जब-तब मेह-धार चौंर चारु ढोरियत
सुरहर पौन की वजीरी सरसाई है।

'ग्वाल कवि' बरफ बिछायत कुहर दल,
ठिरनें प्रबल नौबी जौबल बजाई है।
सीत बादसाह सौ न दूजो कोऊ दुरसाय,
पाय बादसाही बाँटै सबकों रजाई है॥

हेमंत में शीत का आधिक्य रात-दिन सताता है, खेतों में पत्ते हिम से जमे जाते है, सरर-सरर बरफीली हवाएँ बहती हैं और करर-करर दाँत बजते हैं। सूती कपड़े तो इस शक्ति की प्रबल धारा में बहे से चले जाते हैं और ठिठुरते हुए जीव की भीषण दुर्दशा हो जाती है—'जोरि-जोरि जंघन उदर पर धारि-धारि सिकुरि-सिकुरि नर होत हैं करोरा से, ऐसी शीतमयी ऋतु का इलाज क्या है पद्माकर के ही ढर्रे पर चलकर ग्वाल ने भी बता देना जरूरी समझा है। ग्वाल के नुस्खे गरीबों के किस काम के! वे तो सामंती जीवन की सूझ-बूझ हैं और तदनुरूप प्रकृति, स्थिति और ऐश्वर्य वालों के काम के हैं। जो हो अपने वातावरण और जमाने की बात ही प्रकारांतर से ग्वाल के ऐसे छंदों में अनायास उतर आई है। हाँ तो अब ग्वाल कवि नुसखों पर ध्यान देना जरूरी है क्योंकि उनकी वर्णना के बिना ग्वाल की ऋतु-वर्णना के का प्रसंग अधूरा ही रह जायगा—

(क) सौने की अंगीठिन में अगिन अधूम होय,
होय धूम-धार हू तो मृगमद आला की।
पौन को ना गौन होय, भरयौ सु भौन होय,
मेवन को खोन होय डब्बियाँ मसाला की।
'ग्वाल कवि' कहै हूर-परी सी सुरंग वारी,
नाचती उमंग सों तरंग तान ताला की।
बाला की बहार औ दुसाला की बहार आई,
पाला में बहार है बहार बड़ी प्याला की॥

(ख) गाले अति अमल, भरा ले तोसकों में फेर,
ऊपर गलीचे बिछवाले जाल वाले अब।
सेजन पै सेजबंद खूब कसवाले बनि,
खाले रसवाले जे गजक बनवाले सब।
'ग्वाल कवि' प्यारी कों लगा के लिपटाले अंक,
सोड़ कै दुस्शाले में, मजा ले अति आले जब।
मंजुल मसाले मिलें, सुरा के रसाले पिएँ,
प्याले पर प्याले, मिटै पाले के कसाले तब॥

शिशिर वर्णन के छंद भी बहुत कुछ इसी पद्धति पर है जिनमें कारचोबी (कसीदाकारी) के कीमती परदों से ढके हुए प्रकोष्ठ, उसमें शमादानों की ज्योति, फर्श पर मोटे मोटे गलीचे, बीच में मसनद, मखमली गुलगुली तोषकों, सुन्दर शय्या, अगरु सुगन्धि, गर्मी

पहुँचाने वाले मसाले, दुशाले आदि का वर्णन करके कवि ने यह बताना चाहा है कि ऐसे वातावरण के बीच संभोग सुख प्राप्त करना ही आदर्श रीति से शिशिर व्यतीत करना है। किसी ऊँचे जीवन धर्म का निदर्शन करती हुई भी ऐसी उक्तियाँ रसिकों का चित भली भाँति बहलाती रहीं।

इस प्रकार ग्वाल कवि ने विशद रूप से ऋतु वर्णन किया है और उसके वर्णन में प्रायः सभी प्रचलित रीतियों का समावेश मिलता है :—(१) ग्वाल की ऋतुएँ संयोगी और वियोगी चित्त की भावनाओं को उद्दीप्त करती हैं, (२) प्रेमियों के भोग-विलास हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती हैं, (३) ऋतु के वैभव का और ऋतु के सूचक उपकरणों का भी कवि ने विशद रुप से चित्रण किया है जो कभी-कभी बड़ा सुन्दर और बिम्बात्मक भी बन पड़ा है, (४) कहीं-कहीं शुद्ध ऋतु का ही चित्रण नितान्त सहज स्वच्छंद शैली पर किया गया है तथा कोई-कोई दृश्य स्वानुभूति के संस्पर्श की मार्मिकता लिये हुए है। ऐसे छंदों में ऋतु का स्वरूप अच्छी तरह उरेहा गया है, (५) ऋतु के प्रभाव का भी चित्रण ग्वाल ने किया है और किसी-किसी छंद में निर्धन प्राणी पर पड़े हुए ऋतु के प्रभाव को चित्रित किया है। ऐसे छंदों में कवि की मानवी संवेदना का वैशिष्ट्य लक्षित होता है. (६) ग्वाल ने कभी-कभी चमत्कार प्रधान या आलंकारिक पद्धति पर चलकर ऋतु वर्णन किया है जिसमें जगह-जगह कल्पना की अच्छी दौड़ देखने को मिलती है। ऐसे छन्दों में कवि ऋतुओं का अथवा उनके सूचकों प्राकृतिक उपकरणों को लेकर नये-नये रूपक खड़े करता है, (७) अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण पद्धति वह है जिसके द्वारा कवि ने ऋतु की कठोरता के नाशक उपकरणों का आलेख किया है, ऋतुओं की पीड़ा-प्रदायनी शक्ति को नष्ट करने वाले मसाले या नुस्खे बताए गए हैं। इन छंदों में ऋतुगत उपचारों का कथन करते हुए विविध भोग-सामग्री का पृथक्-पृथक् परिगणन कराया गया है।

यमुना माहात्म्य—यह कहा जाता है कि पद्माकर की 'गंगालहरी' की देखा देखी ग्वाल कवि ने भी 'यमुनालहरी' तैयार की। गंगालहरी का प्रभाव यमुना लहरी के छदों पर स्पष्ट है। वैसे ही भावों को व्यक्त करने वाले यमुना संबंधी छंद ग्वाल ने प्रस्तुत किये हैं। उक्त दोनों रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन रोचक सिद्ध हो सकता है। 'यमुनालहरी' के छंदों में ग्वाल ने 'तरनि तनूजा' का माहात्म्य ही तरह-तरह से वर्णित किया है। यमुना के गुण गाते हुए नारद, सनक-सनंदन, शेष आदि थकते नहीं फिर भी उसके गुणों का अंत नहीं होता, उसका दर्शन करके इन्द्र भी गौरव प्राप्त करता है फिर साधारण जनों के तो हर्ष और गौरव का ठिकाना ही क्या। उसके जलस्पर्श का आनंद तो अनिर्वचनीय ही समझिये। ऐसी यमुना हम सबके लिए परम मंगलमयी है—जारक जमेस की, विदारक कलेस को है। तारक हमेस की है तनया दिनेस की।' यमुना की तरल तरंगों की अनूठी आन-बान है, वह पाप के लिए कृशानु

के समान है, यमदूतों को तो दौड़-दौड़कर सताती और दग्ध करती है किन्तु सज्जनों को परम शीतलता और अमृत तुल्य सुख प्रदान करने वाली है। उसकी तरंगें यम से तो लड़ती हैं किन्तु अपने भक्तों को परम पद देने को आतुर रहती हैं—'जंग भरी जमते, उमंग भरी तारिबे को, रङ्ग भरी तरल तरङ्ग तेरी जमुना।' पापियों के पाप नष्ट होने की और उनके सीधे विष्णुधाम पहुँचने की रोचक कहानियाँ भी कवि ने पद्माकर की ही तरह छंदोबद्ध की हैं। एक सुरापायी महापापी नीच के मुँह में ज्योंही-'रविजा' की एक लघु बूँद पड़ती है, उसका स्वरूप परम निर्मल हो उठता है उसकी भाग्य-लेखा बदल जाती है। दिशाओं को चीरती हुई उसकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। यमदूतों की मति भ्रष्ट हो जाती है और ब्रह्मा तथा शंकर जी के देखते-देखते वह पापी विष्णुरूप हो जाता है। आस्था बुद्धि से लिखी गई ऐसी रचनाएँ अपने युग के लोगों में अवश्य भक्ति और आस्था-बुद्धि जगाती रही होंगी इसमें संदेह नहीं और श्रोताओं की बुद्धि को विशेष विस्मयविमुग्ध करती रही होंगी—

> अविधि सुरापी घोर तापी नीच पापी मुख,
> रविजा तिहारी बूंद लघु अति ह्वै गई।
> ताही छिन पल मैं अमल अलरूप भयो,
> कुटिल कुढंग ताकी रेख-लेख ध्वै गई।
> 'ग्वाल कवि' कीरत सुचीरति दिशान जाति,
> दूतन की चित्र की चलाँकी चित ख्वै गई।
> चार मुख चंद्रधर चाहत चितौल ताहि,
> चारन के देखत ही चार भुज ह्वै गई॥

यमुना की इस पतितपावनी शक्ति के समक्ष चित्रगुप्त हतबुद्धि से खडे रह जाते हैं। उनकी मति ही विनष्ट हो जाती है, कलम भला कौन पकड़े और नाम कौन करे। यमदूतों के विरुद्ध जागृत यमुना के रोष की धारा में उनकी दवात भी बह जाती है—

> कौन गहै कर मैं कलम कौन काम करै,
> रोस की दवाइति सौं रोशनाई ध्वै गई।
> लेखो भयौ ड्योढ़ा रोजनामा को सरेखो भयो,
> खाता भयो खतम फरद रद ह्वै गई॥

नीत्योक्तियाँ—जहाँ-तहाँ ग्वाल कवि की कुछ नीत्योक्तियाँ भी मिलती हैं जैसी कि प्रायः सभी रीतियुगीन कवियों में फुटकल रूप में कुछ न कुछ देखी जा सकती हैं। पहली महत्वपूर्ण उक्ति तो हम आरंभ में ही दे चुके हैं 'दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि खाव पियो देव लेव, यही रह जाना है।' जिसमें कवि ने संसार में मौज से रहने की, खूब घूम-फिर लेने की बात कही है क्योंकि इस 'जिन्दगानी का कोई भरोसा नहीं, यह संसार अनंत काल के लिए मिलने वाला नहीं—

'आए परवाना पर चलैं ना वहाना, यहाँ नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है।' इस दुनियाँ के असंख्य लोगों के जीवन का यही तो उद्देश्य-वाक्य है, इसमें संसार के कोटि-कोटि प्राणियों की जीवनाभिलाषा पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त हुई है। इसमें ग्वाल क्या समस्त रीति कवियों की जीवनविषयक दृष्टि का बड़ी खूबी के साथ उद्घाटन हुआ है। एक छंद में कवि ने कमल का उदाहरण देकर बहुत ही सुन्दर ढंग से यह बता दिया है कि सुख-संपत्ति जब तक है मनुष्य का सभी लोग साथ देते हैं, उसके बाद तो उसका साथ देने वाला कोई नहीं—

बारिधि तात, बड़े विधि से सुत, सोम से बंधु सहोदर ओई।
रंभा रमा जिनकी भगिनी, मघवा मधुसूदन से बहनोई।
तुच्छ तुषार, इतौ परिवार, भयो न सहाय कृपानिधि कोई।
सूखि सरोज गयो जल मैं, सुख संपति में सब को सब कोई॥

प्रेम के संदर्भ में एक बात ग्वाल ने लिखी है कि कुलीन व्यक्ति का प्रेम तो ठीक होता है और निभ पाता है लेकिन अकुलीन से प्रेम करके पछतावा ही हाथ लगता है। यह उक्ति एक गोपी के द्वारा कहलाई गई है —

प्रीति कुलीलन सों निबहै, अकुलीन की प्रीति मैं अंत उदासी।
खेलन खेल गयो अबहीं, हमैं योग पठाय बन्यो अविनासी।
त्यों कवि ग्वाल विरंचि बिचारि, कै जोड़ी जुड़ाई दई अति खासी।
जैसोई नंद को पालक कान्ह, सो तैसियै कूबरी नंद की दासी॥

गुणी और दुर्गुणी के संबंध में ग्वाल कवि का कथन ही लगता है लोक में प्रसिद्ध होकर लोकोक्ति बना हुआ है। जिनमें खूबियाँ खूब होती हैं, सिद्धियाँ होती हैं उन्हीं की सराहना यहाँ भी होती है वहाँ भी होती है। वे इस लोक में भी प्रसिद्ध होते हैं और परलोक में भी परन्तु जो निकम्मे हैं, बदज़ात हैं उनकी यहाँ-वहाँ सभी जगह निन्दा होती है—

जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना॥

इस प्रकार के कुछ सांसारिक सत्य और अपनी जीवन संबंधिनी विचारधारा सूक्ष्म रूप से किन्तु पर्याप्त मार्मिक रीति से ग्वाल कवि अंकित कर गए हैं।

स्फुट रूप से यत्र-तत्र प्राप्त ग्वाल की रचनाओं के अवलोकन के अनंतर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ग्वाल रीति काव्य की उत्तरकालीन परंपरा के अच्छे कवि थे। रीति की गंभीर रुचि रखने के साथ-साथ अच्छी कवित्व-शक्ति से संपन्न थे। इनका काव्यगत वर्ण्य तो बहुधा वही रहा है जो अन्य परंपरागत कवियों का परन्तु उसका प्रस्तुतीकरण इन्होंने अपने ढंग से किया है। काव्य रीति के विविधांगों के निरूपण के साथ-साथ इन्होंने प्रेम के संभोग पक्ष के अनेक जीवंत साथ ही साथ उत्तान शृंगारी

चित्र प्रस्तुत किये हैं। आंगिक आकर्षण, ऐन्द्रियता, गार्हस्थिक वातावरण और विलास सामग्री का बड़ा ही सरस चित्र ये अपनी शृंगारी कविता में अंकित करते रहे हैं। ऋतुओं का वर्णन करते हुए इनकी कविता प्रकृति प्रेम और अनुभूति संवलित प्रकृति चित्रण का प्रमाण तो प्रस्तुत करती ही है साथ ही साथ परंपरागत पद्धति पर आलंकारिक, संभोगोपयोगी वातावरण निर्मात्री और विरह-उद्दीपनकारी रूप में भी प्रस्तुत हुई है। हाँ वे वर्णन अवश्य ही विशेष द्रष्टव्य हैं जिनमें कवि ने ग्रीष्मोपचारों अथवा हेमंत के कसालों को मिटाने वाले मसालों या नुस्खों की गणना कराई है। यथास्थान भक्ति नीति आदि की कविताएँ भी सुन्दर उक्तियों सहित उनकी कृतियों में देखा जा सकती हैं जिनमें स्वच्छता और मार्मिकता है। ऋतु-वर्णन और यमुना संबंधी कुछ छंदों पर समसामयिक कवि पद्माकर का प्रभाव जान पड़ता है। ग्वाल एक विदग्ध कवि थे जिनकी भाषा में वाग्वैदग्ध और भाषा प्रवाह का अच्छा रूप गोचर होता है। वे अपने युग के उत्कृष्ट कवियों में थे इसमें संदेह नहीं। रीति की अच्छी जानकारी होने के कारण उनकी बहुत-सी रचनाएँ उससे प्रभावित तो हैं किन्तु स्वतंत्र रूप से पढ़ी जाने पर उनमें रसबाधक उपकरण नहीं मिलते। काव्य-रीति की मर्मज्ञता से कवित्व की शिखा मंद पड़ गई हो ऐसा ग्वाल के संबंध में कहना युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। ग्वाल युगीन काव्यपरंपरा के उन्नायकों में आते हैं, उनकी रचनाएँ—शास्त्र कथन और शास्त्र वहन संबंधिनी दोनों प्रकार की—उनकी गहरी काव्याभिरुचि की द्योतिका हैं। वे सच्चे अर्थों में कवि थे और कवित्व के संभार के लिए ही उनका जीवन अर्पित हो चुका था। ग्वाल की कविता का कोई भी अध्ययन अभी तक देखने में नहीं आया है। प्रस्तुत अध्ययन एक असंपूर्ण अध्ययन है। उसका सम्यक अनुशीलन अब भी अपेक्षित है।

रीतिसिद्ध कवि

बिहारी

शृङ्गार वर्णन—बिहारी के काव्य का प्रधान वर्ण्य शृङ्गार है। उनकी शृंगार-वर्णना के आलम्बन एक तरफ कृष्ण हैं, दूसरी तरफ राधा और गोपियाँ। प्रेम-मूर्त्ति राधा और गोपियों का महत्व कृष्ण से अधिक नहीं क्योंकि अंतस्तल में प्रेम का पोषण जैसा वे करती दिखाई गई हैं कृष्ण नहीं। गोपियों के प्रेम में गाम्भीर्य मिलेगा परन्तु कृष्ण में लंगरैतों की भी खासी झलक देखी जायगी। गोपी या राधा और कृष्ण के प्रेम को सामान्य नायक-नायिका के स्तर पर भी उतरा हुआ देखा जा सकता है। प्रेम की ऐसी विवृतियों में समसामयिक युग की झलक देखी जा सकती है। बिहारी की कविता सम-समायिक युग की प्रतिच्छवि भी प्रस्तुत करती है वह चाहे भक्ति और नीति सम्बन्धिनी हो चाहे शृङ्गार से संपृक्त। पहले हम बिहारी की

उस प्रकार की कविता पर ही एक सरसरी निगाह डालना चाहेंगे जिसके कारण लोक में उनकी इतनी प्रसिद्धि है।

कृष्ण -- पहले बिहारी के कृष्ण को देखिये। वे शृंगार के देवता हैं, सौंदर्य अपरिमित परिमाण में उनमें विराजता है। उनकी क्रीड़ाएँ न केवल गोपियों को बल्कि गोपियों की तरह कवि के मन को भी जमुना-तीर के सघन कुँजों की शीतल मन्द समीर युक्त सुखद छाया-भूमि में पहुँचा देता है। कृष्ण की पूरी छवि जब सृष्टि में ही नहीं समा सकती तो दोहे में भला क्या समायेगी। बस इसी लिए उस असीम रूप राशि को कुछ दोहों में जहाँ-तहाँ झलका भर दिया गया है-- 'सखि सोहत गोपाल के उर गुँजन की माल', 'सीस मुकुट 'कटि काछिनी कर मुरली उर माल', 'मोर मुकुट की चन्द्रिकनि यों राजत नन्दनन्द', 'मकराकृत गोपाल के कुँडल सोहत कान', सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात', 'जानति हौं नन्दित करी यहि दिखि नन्दकिशोर' आदि में उसी सौंदर्य को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। ये रूप संकेत या छवि वर्णनाएँ असम्पूर्ण होते हुए भी कवि-चित्त की अमिट सौन्दर्याभिव्यक्तियां हैं तथा उनका अपना महत्व है। बिहारी के कृष्ण की बाहरी रूप-रेखा, सौन्दर्य-सज्जा यही है लेकिन अन्दर से वे परम प्रेममय हैं, मृदुल हैं और रसिक भी --

> मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमान।
> लखिबी पायन पै लुठत सुनियत राधा मान ॥

> गोपिन सँग निसि सरद की रमत रसिक रस रास।
> लहा छेह अति गतिन की सबनि लखे सब पास ॥

कृष्ण की सम्मोहन शक्ति के और भी कई कारण हैं जिनमें से उनकी मुरली और असीम क्षण शक्ति से सम्पन्न उनकी बलिष्ठ भुजाएँ। रूप और शक्ति की इन अशेष सम्पदाओं ने कृष्ण में अपार आकर्षण भर दिया है—

> प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ।
> सुरपति गर्व हरयो हरषि गिरिधर गिरिधर हाथ ॥

> किती न गोकुल कुल बधू काहि न किहिं सिख दीन।
> कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली-सुर लीन ॥

राधा, या गोपी नायिका— उधर—शृङ्गार के आलंबन स्वरूप दूसरे पक्ष का भी आकर्षण कुछ कम नहीं। मेरा अभिप्राय गोपांगनाओं से है और उनकी भी शिरोरत्न राधिका से सुजान श्रीकृष्ण सहज ही जिसके वशवर्ती और अनुचर बने हुए हैं—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान।।

ब्रज दीर्घ कमलायत नेत्रों वाली गोप सुन्दरियों का चिर-विकसित उद्यान है। वहाँ बड़ी-बड़ी आँखों वाली कितनी ही गोपियाँ हैं उन्हीं के बीच कृष्ण विहार करते हैं, रास-रस लूटते हैं और अपार प्रेमानन्द की धारा वहीं बहती है। ऐसे मुग्धकर वातावरण की सृष्टि बिहारी ने अपनी कविता में का है। तारुण्य प्राप्त अथवा तारुण्य में प्रवेश करने वाली गोपियों का, ब्रजांगनाओं का और राधा का जो रूप-सौन्दर्य बिहारी ने अपने समय में अंकित किया था वह भी अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर चुका है। यौवन और रूप का वर्णन करते हुए बिहारी की दृष्टि नायिका के अंग-प्रत्यंग पर गई है और कवि ने उनका विशद वर्णन किया हैं। इन सारी रूप एवं अंग-प्रत्यंग वर्णनाओं में कवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि के जो सुन्दर-से-सुन्दर प्रयोग किये हैं उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। वे चर्चा के स्वतन्त्र विषय हैं। यहाँ हम केवल बिहारी के वर्ण्य-विषय मात्र का ही परिचय कराना चाहते हैं।

यौवनागम—नायिका यौवन में पदार्पण कर रही है, यह वह पुण्य-संक्रमण काल है जब शिशुता की झलक अभी गई नहीं और अंगों में यौवन भी छलकने लगा है। उसके विकसनशील यौवन को देख उसको सहेलियों में ईर्ष्या जग-जग उठती है और धीरे-धीरे उसकी मनोदशा भी बदलने लगी है—

भावक उभरौहौं भयौ कछुक परयो भरु आय।
सीप-हरा के मिस हियो निस दिन देखत जाय।।

तिय तिथि तरनि किसोर वय पुन्यकाल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत बैससन्धि संक्रौन।।

धीरे-धीरे नायिका के तन-देश पर जब यौवन नृपति का राज्य छा जाता है तो वह अपने पक्ष के सहायक लोगों की विशेष बढ़ती या तरक्की कर देता है। राजनीति में ऐसा पक्षपात मामूली बात है। अपने साम्राज्य को सबल और दृढ़ीभूत करने के लिए प्रवीण यौवन नृपति ने भी इसी पक्षपात नीति का सहारा लेना शुरू कर दिया है—

अपने तन के जानि कै जोबन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन।।

तरुणी के तन में यौवन की आभा जितनी तेज होती जाती है सपत्नियों के मुख की कांति उतनी ही फीकी पड़ती जाती है। अधिकार पा करके हाकिमे लोग रुपये पैसों के

हिसाब में काफी घपला कर दिया करते हैं। हाकिमे यौवन ने भी नई मिलिकयत पाकर ऐसी ही धाँधली शुरू कर दी है--

नव नागरि तन मुलक लहि जोबन आमिल जोर।
घटि बढ़ि ते बढ़ि घटि रकम करी और की और ।।

अंग-प्रत्यंग वर्णन—लहलहाती हुई तरुणाई की चर्चा के बाद कवि तरुणी-तन के अंग-अंग पर दृष्टि दौड़ाता है। तरुणी के केशों की सहज चिक्कणता, श्यामता सुकुमारता, अनियन्त्रितता और सुगंधि आदि की चर्चा करते हुए कवि ने चित्त के रीझने और उन्हीं केशों में जा उलझने की बात बार-बार कही है—

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह जूरो बाँधि निहारि ।।

———

छुटे छुटावैं जगत में सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार ।।

कुटिल अलकों के मुँह पर छूट पड़ने से नवयौवना की मुख-कान्ति कितनी अधिक हो जाती है इस बात को बताने वाली बिहारी की 'बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत' वाली उक्ति तो बड़ी प्रसिद्ध है ही। केशों में सघनता और विशालता के गुण अपने यहाँ विषेश महत्वास्पद माने गए हैं। बिहारी ने तो ऐसे केशों के दर्शन में वह सुख और पुण्य माना है जो विकट तीर्थों के परिभ्रमण में भी असंभव है—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय ।।

नायिका के ललाट पर रत्नजटित टीका तो विशेष रूप से शोभावर्धक होता है और उसके गोरे रंग के भाल पर तो लाल, पीली, सफेद, श्याम सभी रंग की विदियाँ बेहद खूबसूरत लगती हैं। उधर खुल कर बिखरे हुए केश हों इधर लाल विंदी फिर देखिये रूप की शोभा। चंदन चर्चित भाल देश पर लाल बिन्दी नायिका की अरुणिम गौर तन कान्ति के कारण पहले तो दिखाई नहीं देती लेकिन बाद में उसकी आभा देखने ही लायक होती है—

मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुखं न लखाय।
ज्यों ज्यों मद लाली चढ़े त्यों त्यों उघरति जाय।

बिन्दी की ही शोभा के वर्णन के कारण एक जमाने में बिहारी बहुत बड़े गणितज्ञ और ज्योतिषाचार्य ठहरा दिये गये थे—

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराज।
इंदुकला कुज में बसी मनौ राहुभय भाजि॥

भौंहों के वर्णन में उनकी कमान सी वक्रता, कँटीलापन या चुभन शक्ति ही विशेष कथित हुई है—'काँटे सी कसकति हिये वहै कँटीली भौंह।' भृकुटियों के धनुष पर चन्दन-खौर का प्रत्यंचा चढ़ा कर काम-बधिक तिलक-शर से तरुण-मृग का शिकार करता फिरता है। अहेरी का यह रूपक भ्रू-धनु के हो सहारे टिका हुआ है—

खौरि पनच भृकुटी धनुष बधिक समर तजि कानि।
हरत तरुन-मृग तिलक-सर, सुरकि भाल भरि तानि॥

नेत्र - नेत्रों का वर्णन बिहारी ने बड़े विस्तार से किया हैं तथा उनके नाना गुणों का एक-एक करके वर्णन किया है। नायिका के नेत्र लगते हैं जैसे शृङ्गार रस से नहाए हुए हों। सुन्दरता में कमलों का और चपलता में खंजनों का मान नष्ट कर देने वाले नेत्र बिना अंजन के ही ऐसे कजरारे हैं कि उनकी शोभा कही नहीं जाती। आँखों को बहुत हठीला और चतुर भी कहा गया है। वे अड़ पर आ जाते हैं तो फिर बल पकड़ लेते हैं, टाले नहीं टलते—'अर तें टरत न बर परे' ऐसा कहा गया है। उनकी मायाविता भी विशेष रूप से चर्चित हुई है—

सायँक सम मायक नयन, रंगे त्रिविध रंग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥

बड़े-बड़े उपमानों का निरादर कराया गया है कमल, मीन, खंजन, मृग, कामशर आदि तरुण नायिका के नेत्रों के सामने कुछ नहीं हैं। कामदेव द्वारा तो उन्हें विशेष रूपसे शिक्षा-दीक्षा मिली है। कामदेव ने ही इन्हें जोरदार अहेरी बना दिया है और परम श्रेष्ठ योगी भी पर मजे की बात तो यह है कि शिष्यत्व ग्रहण करने वाले इन नेत्रों ने अपने गुरु की ही शक्ति ध्वस्त कर दी है—

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार।
कानन चारि नयन-मृग नागर नरन सिकार॥
जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन॥

जिन्होंने नागर नरों का शिकार करना सिखा दिया और प्रिय से अद्वैत-भाव लाभ करने का योग बता दिया उन्हीं महात्मा कामदेव के वाणों की शक्ति को अब ये नेत्र व्यर्थ और निस्तेज करने लगे हैं। सहचरी सहेलियाँ ही अब ऐसा अनुभव करने लगी हैं—

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरनि के नैनान तें, हरि नीके ये नैन।।

भौंहों के संग रहने के कारण इनमें कुटिलता भी आ गई है, इनकी चाल तक में टेढ़ापन समा गया है क्योंकि ये लगते तो नेत्रों में हैं बेधते हैं हृदय को और व्याकुल करते हैं अन्य सभी अंगों को। इसी गति वैलक्षण्य का निदर्शन कवि ने इस प्रकार किया है—

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अंग आन।
ये तेरे सब तें विषम, ईछन तीछन बान।।

कवि ने दृष्टि का, आँखों के इशारों का, आँखों के बातचीत करने आदि का, उनके साहस और निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के सामर्थ्य आदि का भी कवि ने कथन किया है। नेत्रों को अभिव्यक्ति का अधिक प्रामाणिक माध्यम माना गया है क्योंकि मुँह से निकली बात तो झूठी भी हो सकती है पर आँखों से तो सच्चाई ही सदा प्रकट हुआ करती है। निर्मल आरसी के समान हिय की हेत अहेत बता देने वाले नेत्रों की सत्यता सभी ने स्वीकार की है। आँखों की वाचालता बताते हुए कवि ने आँखों ही आँखों में नायक और नायिका की पूरी बातचीत एक ही दोहे में करा दी है और इस चतुर वार्तालाप के लिए यह दोहा बहुत प्रसिद्ध भी है—

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौंन में करत हैं नैनन ही सों बात।।

नेत्रों के विषय में और जो बातें कही गई हैं वे इस प्रकार हैं—तरुण नायिका के नेत्र बेहद चंचल हैं, स्थिर रहना तो जानते ही नहीं। भरी भीड़ में भी सबकी दृष्टि बचा कर ये नेत्र अपनी दृष्टि प्रिय की दृष्टि से मिला ही लेते हैं। तरुनी की दृष्टि यों तो सभी ओर जाती है पर किब्लानुमा की सुई की तरह आकर अपने प्रिय पर ही टिक जाती है। ये उक्तियाँ वास्तव में बहुत ही मार्मिक हैं और नेत्रों की वृत्ति की निदर्शिका भी :—

खरी भीरहू भेदि कै, कितहू ह्वै उत जाय।
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सब की डीठि बचाय।।

सबही तन समुहाति छिन, चलत सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा लौं दीठि।।

पहुँचत उठि रन सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं।
लाखन हू की भीर में, आंखि उतै चलि जाँहि।।

गड़ी कुटुम्ब की भीर में, रही बैठि दै पीठि।
तऊ पलक परि जात उत, सलज हसौंहीं डीठि।।

इन दोहों में दृष्टि की सलज्जता, चपलता, एकनिष्टता, साहसिकता आदि गुणों के कथन के साथ-साथ प्रेम की एकनिष्ठता का भी प्रकाशन हुआ है। नेत्रों और दृष्टि की वर्णना के संदर्भ में एक और युक्ति देखने योग्य है जिसमें कहा गया है कि नायक और नायिका ने अपनी-अपनी अटारियों से दृष्टि की रस्सी इधर से उधर तक बाँध रक्खी है तथा उनके मन नट की तरह उसपर इधर से उधर निडर होकर दौड़ते रहते हैं—तथ्य विशेष्य की व्यंजना और सूझ दोनों ही दृष्टियों से कवि के मानस और बुद्धि उभय पक्षों की सराहना करनी पड़ेगी—

डीठि बरत बाँधी अटनि, चढ़ि धावत न डरात।
इत उत तें चित दुहनी के, नट लौं आवत जात।।

चंचल नेत्रों की पुतलियाँ तो और भी चंचल हैं। जो पातुरराय की तरह अनंत गति लेना सीख गई है। कटाक्षों में हृदय को आर पार वेध देने की क्षमता बताई गई है। कई एक अनूठे उपमान भी उनके लिए ढूँढ़कर कवि ले आया है। कभी तो नेत्रों को तुरंग बनाकर उस पर मन को सवारी करते बताया है और कभी कहा है कि ये नेत्र रूपी घोड़े लाज को लगाम मानते ही नहीं, मेरे बस के बाहर हैं और रोकने पर भी प्रिय की ही ओर दौड़े चले जाते हैं। कभी इन्हें खुँदी करते हुए घोड़े से भी उपमित किया है।[1] एक दोहे में इन्हें छोटी जति का बाज या शिकारी पक्षी भी कहा है 'कुही' जो पहले तो नीचे ही नीचे उड़ता रहता है परंतु जब किसी पक्ष पर आक्रमण करना होता है तो बहुत ऊँचे उड़ जाता है और उस पर अचानक हमला नीचे कर देता है।

नीची पै नीची निपट डीठि कुही लौं दौरि।
ऊठि ऊँचे नीचे दियै मन कुलंग झकझोरि।।

आँखों को कहीं तो हँसीला बताया गया है कहीं उनकी अवगुन्ठन से झलकती हुई चपल सुषमा पर रीझ कर उन्हें गंगा प्रवाह में उछलती हुई मछलियाँ कहा है। उन्हें धनुर्धर कह देना कोई बहुत खास या नयी बात तो नहीं है पर वह शायराना अदा जरूर क़ाबिले तारीफ है जिसमें उसे पेश किया गया है।

तिय कित कमनैती पढ़ी, जिन जिह भौंह कमान।
चल चित बेझो चुकत नहिं बंक बिलोकनि बान।।

बिहारी के इसी तर्जे बयाँ पर द्विवेदी युग के पं० पद्मसिंह शर्मा ऐसे कितने ही काव्य रसिक सौजान से निसार थे।

---

१ बिहारी बोधिनी : दोहा ७९

अन्य अवयव—अब शरीर के दूसरे अवयवों की वर्णना पर आइये। नासिका का वर्णन करते हुए कवि ने उसके सौंदर्य की अपेक्षा उसमें पहने जाने वाले आभूषणों का विशेष वर्णन किया है—सींक, लौंग, बेसर, नथ आदि। नथ पहिनकर नायिका की नाक हँसती सी जान पड़ती है, लौंग पहन करके तो उसकी नाक चढ़ी-चढ़ी सी लगती है। नथ और बेसर की मोती आदि का भी कवि वर्णन कर गया है जिसमें हल्की और मधुर रसिकता की झलक भली भाँति देखी जा सकती है—

> बेसरि मोती-दुति झलक परी अधर पर आय।
> चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यो जाय॥
> × × × ×
> बेसरि मोती धन्य तू, को पूछे कुल जाति।
> पीबो करि तिय अधर को, रस निधरक दिन राति॥

कपोल का वर्णन करते हुए कवि ने नायिका के कपोलों को गुलाब की पंखुरी से एकमेक कर दिया है—नायिका के गाल पर गुलाब की पंखुरी लगी हुई उसमें ऐसी एक रूप हो गई है, वर्ण सुवास और सौकुमार्य की दृष्टि से ऐसी एकमेक हो गई है कि उसकी अलग प्रतीति ही नहीं होती—

> बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
> पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥

इसी प्रकार कवि ने कान के वर्णन में तरौने आभूषण का, अधर वर्णन में पान की पीक और अधरों की लाली का, चिबुक वर्णन में ठोढ़ी के गड्ढे का या मन के उसमें जा फँसने का, डिठौने के कारण बढ़े हुए रूपाकर्षण का, मुख के उजास अथवा ओप का, दाँतों की चमक और हँसी की प्रभा का भी वर्णन किया है। शरीर के जिन अन्य अंगों का वर्णन हुआ है वे हैं उरज, कटि, जघन, मोरवा, एँड़ी आदि। अंग-अंग के वर्णन में कवि ने अपनी रीझ और रसिकता को किसी न किसी रूप में अवश्य व्यक्त किया है। कटि की क्षीणता, एँड़ी की अरुणता आदि ही विशेष रूप से वर्णित हुए हैं रूप रंग एवं अवयवादि का वर्णन करते हुए बिहारी ने पायल, अनवट, बेसर, नथ, तरचौना, (तरकी या मुरासा) खुभी (लौग के आकार का एक कर्णाभरण) छल्ला (अँगूठी), कर्णफूल, उनमें जड़ी हुई चुन्नी या माणिक, झिलमिली, घुँघची की माला, माणिक की उरबसी, पँचरंगी नगों की बिन्दी, मुख में तमोल; आँख में अंजन, पैरों में महावर आदि का भी वर्णन किया है। जहाँ ऊपर कहे गए आभूषणों का वर्णन हुआ है वहीं सुगन्धित कंचुकी, अँगिया, कुसुंभी चूंदरी, नीलाचल चीर, श्वेत पचतोरिया (एक प्रकार की बारीक रेशमी साड़ी) चुनौटिया रंग-बिरंगी लहरियादार सारी) नीली साड़ी, जरी के किनारों वाली

सारी आदि का वर्णन किया है। बिहारी जहाँ सौंदर्य साधनों से प्रसाधित सौंदर्य के रसिक हैं वहीं सहज सौंदर्य के भी वे कम प्रशंसक नहीं—

> तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
> सबै मरगजै मुँह करीं, वहै मरगजे चीर॥
> × × × ×
> बेंदी भाल तँबोल मुख, सीस सिलसिले बार।
> दृग आँजे राजैश्वरी, एही सहज सिंगार॥

रूप और अंग कांति—बिहारी ने नायिका के समग्र रूप, उसकी छवि और अंग कांति, सलज्जता, सुकुमारता, भावभंगी अथवा हाव भावों का वर्णन करते हुए अन्यान्य रूपों में भी उसके रूप सौंदर्य को निहायत खूबसूरत ढंग से मनोगत कराया है। उसका सब गुणों से भरपूर रूप ऐसा सलोना है कि उसे जितना भी देखा जाय कम है, उसे अधिकाधिक देखने की प्यास बढ़ती ही चली जाती है। रूपशील कुलवधू छोटे हाथों वाली समझकर श्वसुर ने भिक्षा देने का काम सौंप दिया लेकिन यह तमाशा देखिए कि रूपलोभी संसार भिखारी बनकर उसके द्वार पर आने लगा। निराश होने के बजाय भिखारियों की भीड़ चौगुनी अठगुनी के क्रम से बढ़ने लगी। नायिका के रूप-सुधा आसव को देख कर नायक से मदिरा पीते न बनी—ओठ प्याले से लगे रह गए और आँखें प्रिय के मुख पर ही टिक रहीं। नायिका का रूप का तो सारी सृष्टि की सुन्दरता की सीमा है, सारे जगत का रूप लेकर विधाता ने उसे सिरजा है, ऐसे रूप के प्रति आँखों की जो बेचैन है वह कही नहीं जा सकती। उसके रूप का चित्र बनाने वाले कितने ही चितेरों की चातुरी फीकी पड़ गई है, कौन है संसार में जो उसके रूप को चित्रांकित कर सके! उसकी छवि और अगकांति भी अकथ है। उस सोनजुही-सी छवि वाली नायिका पर कौन नहीं रीझेगा उसके अंग-अंग के छवि समूह में पड़कर मन भँवर की नाव के समान हो गया है। उसकी अंग छटा की बराबरी कोई क्या कर सकेगा—

> केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप।
> गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप को रूप॥

पीली चमेली (सोनजुही) की क्यारियों के बीच पहुँचकर तो वह तद्वत हो जाती है, वहाँ उसके अस्तित्व का भान उसके तन की सहज बासना अथवा सुगंधि द्वारा ही संभव हो पाता है। उसकी तन कांति का कोई क्या वर्णन कर सकता है जिसके तन नहीं वरन् तन की छाया के सामने चाँदनी छाया की तरह जान पड़ती है। ऐसी अमृतमधुर शीतल प्रभामयी तरुणी की तन-छवि का कौन निर्वचन कर सकता है। उसके तन की द्युति तो भेदीसार (बरमे) की तरह नायक के चित्त को बेधे देती है। कुमुद, कौमुदी, आरसी जोति (दर्पण प्रभा) आदि उसकी उज्वलता के

समक्ष क्या है, कुछ भी तो नहीं। उसकी उज्ज्वलता आँखों को उज्ज्वल बना देने वाली है—

कहा कुमुद कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति॥

उस केसर वर्ण तरुणी के तन में लगकर केसर अपना अस्तित्व ही खो बैठती है, केवल उसकी सुगंधि के द्वारा ही लोगों को पता चलता है कि नायिका ने केसर चुपड़ रक्खी है। दीपशिखावत तरुणी-तन के अंग-अंग नगजटित आभूषणों से जगमगाते रहते हैं फलस्वरूप अंधेरा हो जाने पर भी घर में प्रकाश की कमी का अनुभव नहीं होता। इस कथन में छवि और कांति का अतिशय्य सूचन ही अभिप्रेत है अन्यथा इसे कल्पना-विलास कहा जायगा। छवि अथवा अंग कांति के वर्णन में कवि कुछ अनूठी कल्पनाएँ कर गया है, ऐसी कल्पनाएं जिनके कारण बिहारी बिहारी कहे जाते हैं। नायिका ने मोतियों की माला पहन रक्खा है जो उसकी अंगद्युति से मिलकर कहरुवा की (पीले रंग की) माला-सी हो जाती है। अतिशय विचक्षण सखियों को भी भ्रम हो जाता है कि यह माला मोतियों की है या कहरुवा की। अपने भ्रम का निवारण करने के लिए वे उसमें तृण छुआ-छुआ कर देखती हैं क्योंकि कहरुवा की माला में तृण चपक जाया करता है। कहरुवा को कपूरमणि भी कहते हैं—

ह्वै कपूर मणिमय रही मिलि तनदुति मुकुतालि।
छिन छिन खरी बिचच्छनौ लखति छुवाय तिनु आलि॥

चंपे की पीली माला कंचन-से शरीर वाली बाला के अंग पर पड़कर उसके अंग के रँग से मिलकर ऐसी एकरूप हो गई है कि जानी ही नहीं जाती, जब वह कुम्हला जाती है तभी पता चलता है कि उसने माला पहन रक्खी है। केसर, चंदन, कस्तूरी आदि अंगराग उसके अंग की छटा को फीका ही करते हैं जैसे मुँह की भाप से दर्पण की कांति नष्ट हो जाती है, कथ्य यह है कि उसकी स्वाभाविक कांति ही अधिक स्पृहणीय है। वह इतने गोरे रंग की है कि पान की लीक गले से नीचे उतरते हुए उसके कंठ देश पर स्पष्ट झलकती दिखाई देती है। अन्य स्त्रियों के बीच घूंघट डाल कर भी जब वह बैठती है तो भी घूंघट के भीतर से उसकी कांति फानूस की दीपशिखा-सी स्पष्ट प्रतिबिंबित होती है। स्वर्ण के आभूषण उसके शरीर पर स्पर्श से ही जाने जाते हैं, उसके दर्पण के समान अंगों पर आभूषणों के अनेकानेक प्रतिबिंब पड़ते हैं जिससे उसकी सारी देह आभूषणमय ही प्रतीत होती है, उसके आभूषण दोहरे-तेहरे और चौगुने हो-होकर जनाई देते है। छवि की उठती हुई लपटों के कारण उस कृशांगी का शरीर भरा-भरा सा लगता है—

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

इसी प्रकार के कल्पना-क्रम में युक्तियाँ बिठाते हुए कवि ने नायिका के चरणों से अरुणाई की धूल का झरना, उसकी एँड़ियों में महावरी को भ्रांति होना आदि वर्णित किया है। इस प्रकार की अतिशय काल्पनिक सृष्टियों के पीछे समसामयिक फारसी शायरी की प्रतिद्वंद्विता भी कारण स्वरूप कही जाती है। जो हो, उस युग की रसिकों की जीवन-चर्या में इस प्रकार की रंगभरी कविताई जरूर आनन्द की लहर तरंगित करती रही होगी। आज भी एक बहुत बड़े काव्यपाठकों के समाज में ये रचनाए प्रशंसा के दो शब्द तो खींच ही लेती हैं। प्रबुद्ध और नये युग का काव्यपाठक भी कवि की सूझ-बूझ पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहेगा—

सौकुमार्य—नायिका के सौकुमार्य वर्णन में कवि लिखता है कि शोभा के ही भार से भला जो सीधे चल नहीं पाती वह आभूषणादि क्या धारण कर सकेगी! उस पर बहुत बोझ पड़ जायगा इसी डर से श्रीकृष्ण अपने हृदय आदि पर कपूर, चंद-नादि का लेप नहीं कराते और बनमाला आदि भी धारण करना छोड़ दिया है। वह उनके हृदय में बसती है इसलिए हृदय पर चंदन कपूर पुष्पहार आदि का भार उन्हें सह्य नहीं। विछुवों के ही भार से उसकी उंगलियों से लाल रंग निचुडने लगता है और गुलाब की पंखुरी से उसके शरीर दूखने लगते है। इसीलिए उसके तलवों और एड़ियों को नाइन अपने हाथों से छूने के बजाय गुलाब के झाँवे से साफ करती है परन्तु गुलाब की पंखुरियों के झांवे का प्रयोग करते हुए भी उसका मन संकोच ही में पड़ा रहता है।

आलंबन के रूप वर्णन के इस प्रसंग को समाप्त करते हुए अब सार रूप में यही कहना शेष रह जाता है कि बिहारी ने नायक की अपेक्षा नायिका का वर्णन विशेष किया है। नायक के वर्णन के समय तो उनका ध्यान केवल श्रीकृष्ण पर है परन्तु नायिका का वर्णन करते हुए उन्होंने केवल राधिका का वर्णन किया है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कहीं-कहीं तो राधिका का वर्णन है परन्तु सर्वत्र नहीं। अनेका-नेक रूपवती रमणियाँ वर्णित हुई हैं या फिर किसी कल्पित नायिका का वर्णन है जो रूप सौंदर्य की समस्त विभूतियों से असाधारण रूप से समृद्ध है। उसके एक-एक अंग पर रह-रह कर कवि की दृष्टि गई है। जो हो वर्णन अनेकांश में जहाँ बहुत सुन्दर हैं वहीं वे कितनी ही बार कोरी कल्पना या चमत्कृति मात्र पैदा करने वाले हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कवि की दृष्टि सौंदर्य की नाना प्रकार से अपूर्वता ही देखने दिखाने में तल्लीन रही है। जिस सौंदर्य का वर्णन उन्होंने किया है उसमें कवि की रसिकता तो पूरी टपकती है परन्तु घनआनन्द जैसी आत्म परकता नहीं मिलती। वह रूप किसी नायिका का है उनकी प्रेमिका का नहीं।

उद्दीपन वर्णन : ऋतु, चंद्रिका, पवन आदि—विभाव वर्णन के अंतर्गत आलंबन की चर्चा के अनंतर उद्दीपन की चर्चा भी अपेक्षित हुआ करती है। बिहारी ने

उद्दीपनांतर्गत षट् ऋतुओं के साथ-साथ चंद्र, चंद्रिका और पवन का भी वर्णन किया है। वसंत की मस्ती तो एक ही दोहे में कथित हुई है जिसमें सौरभ से छका हुआ भ्रमर मधु-अंध होकर ठौर-ठौर झूमता दिखाया गया है—

छाक रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध॥

'पुलक पसीजे गात' आदि का वर्णन करके कवि ने वसंत के रोमांचक प्रभाव का भी निदर्शन किया है साथ ही पलाश वनों की अग्निमय प्रभा का वर्णन करके ऋतु की विरहोद्दीपकता भी सूचित की है —

अंत मरेंगे चलि जरैं, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ये निरधूम अँगार॥

विरह की प्रमत्तता इसे मानिये या मात्र उक्ति और सूझ। उक्ति मात्र ही यदि माना जाय तो भी उसकी विलक्षणता असंदिग्ध है। जीती जी ही यदि जल मरना है तो धुएँ की घुटन से तो कम से कम विरहिणी बचेगी ही इसी उद्देश्य से वह दह्यमान पलाश वन की डालों पर चढ़ जाना चाहती है। ग्रीष्म वर्णन में अधिक सहृदयता दिखाई देती है। कवि कहता है कि ये चारों तरफ चलने वाली गर्म हवाएँ नहीं हैं और न भीषण अग्नि दाह ही है यह जो वातावरण में ऊष्मा है, गर्म लपटें हैं और लू के तेज झोंके हैं वे वसंत के विरह में निकलने वाली ग्रीष्म की निःश्वासें हैं। इस भयंकर गर्मी ने तो संसार में कलह को एक दम शांत कर दिया है और उसे तपोवन में परिणत कर दिया है—साँप और मोर, मृग और बाघ जलाशयों के निकट अब एक साथ बसने लगे हैं। ग्रीष्म की प्रचंड ऊष्मा में छाया अब सब जगह बिलबिलाती फिर रही है यह तथ्य पर्याप्त सुन्दरता, मार्मिकता और चित्रात्मकता के साथ इस दोहे में कथित हुआ है—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माहँ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह॥

वर्षा तो ग्रीष्म की प्रचंड ऊष्मा के बाद परम आह्लादिनी ऋतु के रूप में सामने आती है, वह कामिनी मन को और भी तृष्णाशील तथा स्नेह सरसित करने वाली है—

पिय तरसौंहैं मन किये, करि सरसौंहैं नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह॥

पावस में अंधकार इतना अधिक होता है कि दिन और रात चकवी-चकवा को देखकर ही जाने जाते हैं (उनकी उपस्थिति से दिन का और वियुक्ति से रात्रि का बोध हो पाता है), यहाँ भी सूझ का ही वैशिष्ट्य प्रधान कहा जायगा। इस ऋतु के वर्णन में अंधकार के साथ-साथ बिजली की चमक और मेघों की घुमड़न का भी यत्किंचित उल्लेख मिलेगा पर उससे भी अधिक नायक नायिका के संयोग-वियोग का कथन हुआ है। संयो-

गिनी तो अपने प्रियतम के गले में भुजाएँ डालकर अपनी अटारी पर चढ़कर कभी मेघों की घटा को देखती है और कभी बिजली की छटा को। वर्षा को विशेष रूप से उद्दीपन-कारी बताया गया है और मानिनियों से बार-बार मान त्याग करने की बात कही गई है क्योंकि इस ऋतु में संसार भर की स्त्रियाँ कोप और मन के कुढंग छोड़ देती हैं, बूढ़ों में भी रंग-तरंगों का संचार हो आता है। वर्षा में प्रबल से प्रबल मानिनी भी अपने मान की गाँठ को कस नहीं पाती, संत आदि की गाँठ तो इस ऋतु में कस जाती है परंतु मान की गाँठ छूटने लगती है। वर्षा के अभिसार के प्रति सलज्ज और शंकालु नवोढ़ाओं को दूतियाँ ऋतु के वैशिष्ट्य की ही बात बता कर अधिकाधिक प्रोत्साहन देती हैं और कहती हैं कि उठ! चल, इतनी ठक-ठक ठीक नहीं, यदि तुझे कोई देख भी लेगा तो यही समझेगा कि वर्षा के मेघों के बीच बिजली चली जा रही है। एक ओर ऋतुजनित मनोभावों का दूसरी ओर तन्वंगी की रूप-विभा का कैसा आमोद-प्रद चित्रण है --

उठि ठक-ठक एतो कहा पावस के अभिसार।
जानि परैगी देखियो, दामिनि घन अँधियार॥

विरहिणी की तो वर्षा में बुरी हालत बताई गई है। उसका कहना है कि आग की लपट भली हैं परन्तु वर्षा की झड़ी अच्छी नहीं क्योंकि उसके तो स्पर्श होने पर देह जलता है परन्तु इसे तो देखकर ही देह दग्ध हो जाता है। वर्षा के प्रथम पयोद को देखते ही विरहिणी चीख उठती है कि ये बादल नहीं हैं बल्कि धरती पर चारों ओर उठने वाला धुँआ है जिसका काम ही हम विरहिणियों को जलाना है। वर्षाऋतु में जुगनुओं को देखकर भी उसे इसी प्रकार का भ्रम होता है—

धुरवा होंहि न अलि उठे धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद॥

× × × ×

विरह जरी लखि जीगननि कह्यौ न वहि कै बार।
अरी आव भजि भीतरै बरसत आजु अंगार॥

पावस में परदेस जाने वाले प्रिय को अपने लिये 'प्यारी' शब्द का प्रयोग करते देख नायिका की वेदना भड़क उठती है, वह व्यंग करती हुई कहती है कि हे प्रिय! तुम्हारे मन और वचन की यह अनेकता ठीक नहीं। यदि पावस में तुम हमसे अलग ही होना चाहते हो तो बामा, भामा, कामिनी आदि और भी बहुत से शब्द हैं उनका प्रयोग करो 'प्यारी' ऐसे सुन्दर शब्द को क्यों लज्जित करते हो। जरूर ही बिहारी की यह नायिका उच्चकोटि की साहित्यिक रुचि रखने वाली रही होगी। वर्षा ऋतु आया देख कर ही विरहिणियों की व्यथा और चिंता बढ़ जाती है। वे कहने लगती हैं कि अब तो परम कामोद्दीपक वर्षा ऋतु आ गई अब कदंब पुष्प की सुगन्धि को सँभाल सकना

कोई हँसी खेल नहीं है । वे उन प्रेमियों के भाग्य को सराहती हैं और उनसे ईर्ष्या भी करती हैं जो बिना क्षणिक वियोग के पूरी वर्षा ऋतु व्यतीत करते हैं—

वे ई चिरजीवी अमर निधरक फिरौ कहाय ।
छिन बिछुरे जिनकौ न यहि, पावस आयु सिराय ।।

यहाँ संयोग की कैसी प्रबल अभिलाषा व्यक्त हुई है । दूसरी किसी भी पद्धति से संयोग की इतनी उत्कट आकांक्षा की अभिव्यक्ति संभव न था । बिहारी की विरहिणी तो वर्षा ऋतु में बेहोश हो-हो जाती है तथा प्रिय का नाम लेकर और शीघ्र ही उसके आने की अवधि सूचित करके जो सखी उसे होश में ले आती है उससे भी वह यही कहती है कि तूने व्यर्थ में मुझे चैतन्य प्रदान किया है, मेरी तप्त आहों को घनीभूत कर दिया है, इससे तो भली मेरी मूर्छा ही थी । वर्षाजनित प्रेमिका-चित्त की यह दशा कितनी दयनीय, दारुण और मार्मिक है । वर्षा ऋतु का वर्णन अपने इसी उद्दीपनकारी स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने में विशेष सहायक हुआ है । शरद ऋतु आई और उसने वर्षा के सारे जंजाल काट फेंके, रास्ते खुल गए, प्रवासी घर लौटे । मेघों का भय जाता रहा । संसार ने चैन की साँस ली । उधर रसिक शिरोमणि शरद चंद्रिका में रास रस में मत्त होने लगे । शरद बीतने के बाद हेमंत ऋतु आती है, इसमें रात बड़ी होती है और चकवे को विशेष दुःख प्राप्त होता है—'ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमन्त ।' यहाँ पर चकवा समूचे विरही समुदाय का प्रतिनिधि है । विरहियों के लिए बिहारी ने इस ऋतु को विशेष दुखद और कामोद्दीपक बताया है— अगहन में कामदेव संसार को धनुष बाण के बिना ही जीत लेता है—

कियौ सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय ।
कुसुम सरहिं सर-धनुष कर अगहन गहन न देय ।।

इसे कवि ने मिलकर बिहार करने की ऋतु कहा है, इसमें वियोग अत्यंत असह्य और मारक बतलाया गया है । शिशिर ऋतु में शीत अधिक हो जाती है, रातें बहुत बड़ी होने लगती हैं और दिन छोटे । सूर्य का प्रताप शिथिल पड़ जाता है । दिन कब आता है और कब चला जाता है इसका पता ही नहीं चलने पाता । दिन मान को इस युक्ति द्वारा 'घरजमाई' की तरह दलित मान बतलाया गया है—

आवत जात न जानिये तेजहिं तजि सियरान ।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिनमान ।।

सूर्य की किरणों का ताप चन्द्र किरणों-सा शीतल हुआ बताकर बिहारी एक और भी दूर की कौड़ी ले आये हैं— चकोरी को सूर्य की किरणें चन्द्रमा-सी शीतल प्रतीत होती हैं फलतः वह रात्रि का सुख दिन में ही अनुभव करती हुई माघ के

महीने में चन्द्रमा के भ्रम में सूर्य को ही देखा करती है। पद्माकर ने शिशिर का कसाला मिटाने वाले बहुत से नुस्खे बताये हैं। अपनी गागरी वृत्ति के कारण अधिक न कहकर बिहारी ने एक ही आध नुस्खे दिये हैं पर जो हैं वे बहुत ही तगड़े —

> तपन-तेज तापन-तपन तूल तुलाई माह।
> सिसिर सीत क्यौंहु न मिटै बिन लपटै तिय नाह॥

शिशिर के भास से गर्मी दुर्गम स्थानों को जा छिपती है—

> रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत कें त्रास।
> गरमी भजि गढ़वै भई; तिय-कुच अचल मवास॥

इस दोहे का व्यंग्यार्थ या अभीष्टार्थ इस दोहे से दुगना गूढ़ है। बस इसी रूप में ऋतुओं का वर्णन बिहारी ने किया है। या तो वह प्रेमी-चित्त के मनोभावों की संवर्धक अथवा उद्दीपनकारिणी शक्ति के रूप में बताई गई है या फिर कवि ने उसे लेकर अनेकानेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनमें बुद्धि का चमत्कार और दूरारूढ़ कल्पनाओं का वैशिष्ट्य ही देखने योग्य है।

रीतिबद्धता की वृत्ति के कारण बिहारी निर्धारित ऋतु-वर्णन या प्रकृति चित्रण की सीमा के अंदर-अंदर ही घूम-फिर कर रह गए हैं। प्राकृतिक सौंदर्य की व्यापक विभूतियों में अत्यत परंपरित विषयों चन्द्रमा, पवन आदि तक ही उनकी दृष्टि जा सकी है। चन्द्रमा के वर्णन में उसकी पवित्र और चित्तमोहिनी धवलता; शीतलता आदि का कथन तो दूर बिहारी ने बस यही कह कर संतोष किया है कि अरे नायक तू इस आकाश के चन्द्रमा को क्या देखता है तू अपनी प्रेयसी के उस मुखचन्द्र को क्यों नहीं देखता जो तेरे ही भाग्य से आज उदित हुआ है—'तो भागनि पूरब उग्यो अहो अपूरब चंद।' बस इसी उक्ति के माध्यम से बिहारी क्या उनके वर्ग के सभी रीति-बद्ध कवियों की प्राकृतिक वर्णना संबंधिनी वृत्ति को जाना-पहचाना जा सकता है। चाँदनी में उन्हें वह अंधकार दिखाई देता है जो समस्त वियोगियों के चित्त में समाया हुआ होता है—'जोन्ह नहीं यह तम बहै, किये जु जगत निकेत।' वायु का वर्णन भी नाना रूपकों के अलंकृत आवरण में लिपट कर आया है। वासंती कुंज समीर को मंद मंद चाल से आने वाला कुंजर (हाथी) कहा गया है मकरंद कणों के भार से मंदता प्राप्त मलयज को परिश्रांत पथिक कहा गया है अथवा नवोढ़ा नारी। कभी-कभी खूँदी या उछल कूद करता हुआ तुरंग भी उसे बताया गया है।[1]

---

1. बिहारी बोधिनी—दोहा ५६०. ५६४।

प्रेम-वर्णन

बिहारी ने प्रेम का वर्णन 'बिहारी सतसई' में असाधारण विस्तार से किया है। उसमें एक बहुत बड़ी बात यह दिखाई देती है कि एक ओर जहाँ उनके दोहों में किसी के प्रेम का वर्णन हुआ है वहीं ऐसा भी लगता है कि वे दोहे प्रेम तत्व का विवेचन या निरूपण भी कर रहे हैं। ऐसे दोहों में मानों प्रेम के लक्षण भी सूचित कर दिये गए हैं।

प्रेमिका की दशा--प्रेम में पड़ी हुई प्रेमिका स्वयं ही अपनी मनोदशा का बखान करती है, अनेक बार कवि की सखियाँ और दूतियाँ भी उसकी स्थिति का वर्णन करती हैं। प्रेमिका कहती है कि करोड़ों यत्न करने पर भी मेरा मन मोहन के रूप में जो जा फँसा सो जा फंसा, अब वह उससे उसी प्रकार घुल-मिल गया है जैसे पानी में नमक, उसे करोड़ों प्रयत्न करके भी उनसे अलग नहीं किया जा सकता। इन आँखों को लगता है प्रेम नहीं है बल्कि कोई रोग हो गया है जो ये हर समय जल से भरी रहकर भी प्यासी मरी जाती हैं। हे प्रिय ! तेरी चाह रूपी चुड़ैल इस तरह मेरे पीछे पड़ गई है कि क्या बताऊं उसने मेरी देह को अत्यन्त कृश बना दिया है और मेरे अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वह मेरा पीछा नहीं छोड़ती। इस अनुरागी चित्त की दशा कोई समझ नहीं सकता, ये जितना ही श्रीकृष्ण के श्याम रंग में डूबती हैं उतनी ही उज्ज्वल होती जाती हैं। मैंने तो समझा था कि आँखों के मिलने से आँखें सुख पाएंगी, यह नहीं सोचा था कि दृष्टि के लिए दृष्टि ही पीड़ा का कारण हो जाएगी—

मैं हो जान्यो लोचननि, जुरत बाढ़ि हैं जोति।
को है जानत डीठ को, डीठि किरकटी होति॥

अजीब है मेरा प्रिय जिसने अपनी छवि की माधुरी पिला कर इन नेत्रों को ठग लिया है और अब ये नेत्र उसी के पीछे लग गए हैं, उन्हें मुझसे भी कोई मोह नहीं है। प्रेमिका कहती है कि यह प्रेम की आग अजीब है जो आँखों में लगती है तो मन तक व्याप्त हो जाती है, इससे तो दूरी ही भली। प्रेम में ऐसा ही उलटा-सीधा बहुत कुछ हुआ करता है – आँखें किसी से उलझती हैं नाता किसी से टूटता है, सद्भाव कहीं जगता है दुर्भाव कहीं उपजता है आदि-आदि—

को जाने ह्वै है कहा जग उपजी अति आग।
मन लागै नैनन लगे, चले न मग लग लागि॥

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

प्रेमिका कहती है कि नशे तो और भी बहुत से हैं पर रूप-सौंदर्य का नशा बहुत गहरा

होता है क्योंकि यह उतरता नहीं, भय, निद्रा और कालांतर से भी इस नशे से मुक्ति नहीं मिलती—

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिर खरो विषम छवि छाक ।।

लोभी नेत्रों को तो प्रेमिका बार-बार कोसती है जिन्होंने रूप के लालच में फँसकर उसके मन को बेच डाला है। ये नेत्र ऐसे हठीले हो गए हैं कि जिधर घूम गए उधर घूम गए, अब वहाँ से हटाए नहीं हटते दूसरी ओर को मुड़ते नहीं। प्रकारान्तर से यहाँ यही बताया गया है कि सच्चे प्रेम में अनन्यता हुआ करती है —

ढरे ढार त्योंही ढरत दूजे ढार ढरै न।
क्योंहूँ आनन आन सों, नैना लागत हैं न ।।

सच्चा प्रेम इतना गरजमंद होता है कि प्रिय एक बार रोष भी कर ले और न भी बोले तो भी प्रेमिका अपना प्रेम नहीं छोड़ती—

अपनी गरजनि बोलियत कहा निहोरो तोहिं।
तू प्यारो मो जीव को मो जिय प्यारो मोहि !!

प्रेम में जितना ही कटाव होता है या बाधा आती है प्रेम उतना ही दृढ़ होता जाता है और लोग प्रेमियों की जितनी ही निन्दा करते हैं उतना ही उनका प्रेम बढ़ता जाता है—

करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत।
आल बाल उर प्रेम तरु तितो-तितो दृढ़ होत ।।

खल बढई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार।
आल बाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु-डार ।।

प्रेमिका कहती है कि प्रेमनगर में न्याय नहीं है, यहाँ पर (प्रेम की) मार खाया हुआ जीव बार-बार मार खाता है और मारने वाला (खूनी या कातिल) खुश हो-हो कर घूमता है। इस नगर में जो आता है वह छूटने नहीं पाता। भला ऐसे नगर में कोई किस प्रकार बसे और किस प्रकार उसका निबाह होगा, नीति और न्याय को तो यहाँ तिलांजलि दे दी गई है—

क्यों बसिये क्यौं निबहिये, नीति नेह-पुर नाहिं।
लगा लगी लोयन करैं नाहक मन बँधि जाहि ।।

यहाँ गलती और शरारत आँखों की होती है तो दंड मिलता है मन को देह को। प्रिय की आँखों को देखकर तो सारी चतुराई ही गायब हो जाती है, उनके साँवले गात को देखकर तो ये नेत्र उनके ही हो जाते हैं। ये नेत्र ऐसे लोभी हैं कि परम रूपशाली के

रूपमात्र से ही संतुष्ट नहीं होते उसकी मुस्कान के भी अभिलाषी हैं। ये नेत्र अपना सर्वस्व हार कर भी हँसते रहते हैं। ये मेरे बस में नहीं हैं और न लज्जा आदि की लगाम ही मानते हैं, मुँहजोर घोड़े की तरह खींचने पर भी आगे को ही बढ़े चले जाते हैं—

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

इन तथा अन्यान्य कितने ही रूपों में प्रेमिका अपनी प्रेम-दशा का वर्णन करती है।

सखी या दूती द्वारा प्रेमिका के प्रेम की व्यंजना—प्रेम की व्यंजना के लिए बिहारी ने और भी कितने ही माध्यम चुने हैं। घनआनंद सरीखी आत्मगत प्रेम विवृति न होने के कारण बिहारी के काव्य में प्रेम सम्बन्धों के निदर्शन में मध्यस्थों की भी योजना की गई है जो एक में दूसरे के प्रति अनुराग जगाते हैं बढ़ाते हैं। एक का रोष या मान कम करते हैं दूसरे को प्रेम-पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं, संदेशा पहुँचाते हैं, उपहार पहुँचाते हैं, दशा निवेदन करते हैं, शृङ्गार करते हैं, सलाह देते हैं, रास्ता दिखाते हैं आदि-आदि। दूत-दूतियों, सखा-सखियों की इस विशद कार्यावली का निदर्शन यहाँ हमारा अभिप्रेत नहीं, प्रेमिका की प्रेम में क्या मनोदशा है इसको सखियाँ किस रूप में प्रस्तुत करती हैं यही दिखलाना सम्प्रति हमारा अभीष्ट है।

सखी नई प्रेमिका की प्रीति का निदर्शन कराती हुई कहती है कि जरा इस नई दही बिलोने वाली की गति तो देखो, पास की दहेंड़ी को छोड़ कर मथनी में पानी भर कर उलटी मथानी से ही उसे मथे जा रही है। जरूर ही पास में कहीं नायक को खड़ा देखकर प्रेमिका की यह दशा हो गई है। नया प्रेम करोड़ों यत्न करने पर भी छिपता नहीं, नायिका की आँखों की बनावटी रुखाई ही कहे देती है कि उसका चित्त स्नेह से चिकना हो गया है—'कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन।' प्रेम गोपन करने वाली प्रेमिका से ही सखी कहती है कि स्नेह में सगबगी (शराबोर) तो तू यों ही दिख रही है मिथ्या रोष क्यों जतला रही है, तेरा कटंकित (रोमांचित) गात ही इस कथा को कहे देता है—

पूछे क्यों रूखी परति, सगबगि रही सनेह।
मनमोहन छवि पर कटी, कहै कँट्यानी देह॥

सखी कहती है कि प्रेमिका को लोक और कुल की परवाह नहीं है, घर-घर में चैरु (चुगली) चलती है फिर भी वह अपने घर नहीं ठहरती बार-बार प्रिय के घर की ओर आती-जाती है। नट के बटे अथवा गेंद की तरह कभी तो वह अटारी पर चढ़ती है और कभी नीचे को उतर आती है, दिन भर उसका यही क्रम रहता है, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ चकई की तरह नाचती रहती है। कभी-कभी प्रेम और

लज्जा के दुतरफे खिचाव के बीच फिरकी की तरह चकराती और बेचैन भी होती है—

नई लगन कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिन जाइ ।।

उसकी और भी नानाविध प्रेमदशाओं का वे वर्णन करती हैं। वे कहती हैं कि प्रियतम की छवि का नशा पीकर वह बेहोश हो जाती है, रात-दिन वह नशा उस पर सवार रहता है और असंयत होकर निःशंक भाव से जो जी में आता है बकती फिरती है। कभी वह जड़ता की स्थिति को भी प्राप्त करती है और बुलाने पर भी मुश्किल से बोलती है। प्रियतम के ध्यान में कभी तो वह तद्गत हो जाती है—

प्रिय के ध्यान गही गही रही वही है नारि ।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि ।।

और कभी यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ दाढ़ी (दासी) की तरह अधीर होकर डोलती है। कभी वह प्रिय की ओर निहारती है और कभी लज्जा से भर उठती है। कभी प्रेम लहरें लेता है और कभी गुरुजनों की लज्जा बाधित करती है, कभी प्रेम में वह जड़वत हो जाती है और बुलाने पर रुष्ट होकर बोलती है। सखी कहती है कि प्रिय पास है फिर भी उससे भेंट न होने के कारण उसके मन में असाधारण व्यथा होती है, इस बात की तो मुझे ही पूरी जानकारी है—

चित तरसत मिलत न बनत बसि परोस के बास ।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास ।।

प्रेमिका के मन में नायक के बारे में प्रत्येक बात पूरी तरह जान लेने की प्रबल स्पृहा विद्यमान है। इसलिए वह अपनी दूती से पूछती है, बार-बार पूछती है और तरह-तरह से पूछती है कि श्यामलगात प्रियतम ने क्या कहा है, क्या संदेश भेजा है, जब तू उनसे मिली तो वे क्या कर रहे थे और मेरी चर्चा उन्होंने किस प्रकार चलाई आदि आदि प्रेमिका के उत्कंठापूर्ण चित्त की यह झाँकी बहुत ही सरस और मार्मिक है। प्रिय सामने हो और वह उसकी रूप-छवि पीती ही रहे यही उसकी अभिलाषा है, मन अपना प्रिय को समर्पित कर देती है और स्वयं निश्चेष्ट हो रहती है, प्रीति में उसकी यह दशा है। सखी कहती है कि हे प्रिय तुमने प्रेम से जो व्यजन (पंखा) उसके लिए भेजा उससे उसका संताप तो मिटा परन्तु वह पसीना-पसीना हो गई, तुम्हारा नाम सुनते ही उसके तन-मन की दशा ही बदल गई, छिपाने की उसने बहुत चेष्टा की पर मुझसे छिपने न पाई और वह माला जो तुमने उसके लिए भेजी थी उसे वह अपने हृदय पर ही धारण किये रहती है भले ही वह सूख कर निर्गंध ही क्यों न हो गई हो—

नेकौ उहि न जुदी करी हरषि जु दी तुम माल ।
उर तें बास छुट्यौ नहीं बास छुटे हू लाल ।।

और हे लाल तुम्हारे हाथ का दिया हुआ छल्ला (मुन्दरी या अँगूठी) पाकर तो उसके हर्षोन्माद का वार पार नहीं है—

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि ।
चूमति चाहति लाय उर, पहिरति धरति उतारि ।।

प्रेम में नायक की दशा—इस प्रकार नायिका की प्रेम-दशा का वर्णन तो बिहारी ने बड़े विस्तार से किया है परन्तु प्रेम में नायक की दशा क्या होती है इस पर भी उनकी निगाह गई है। प्रेमी नायक में नायिका के प्रति रूप रसिकता विशेष दिखाई गई है देखिये-नायक जाली के छेद से नायिका की अंगदीप्ति की जरा-सी झलक पाकर अपनी दृष्टि उसी जालरंध्र पर लगा देता है और सारी दुनिया की तरफ पीठ कर देता है—

जालरंध्र मग अगनि को कछु उजास सो पाय ।
पीठि दिये जग त्यौं रहै, डीठि झरोखनि लाय ।।

कभी वह नायिका की किसी चाल पर रीझता दिखाया गया है और कभी किसी मुद्रा पर। प्रेमी नायक कहता है कि एक डगडगमगाती हुई चल कर, जरा सा रुक कर, मेरी ओर देख कर वह तो चली गई परन्तु मेरा चित्त मेरे हाथ न रहने पाया। उसे वह चुरा ले गई—

डगकु डगति सी चलि ठठकि, चितई चली सँभारि ।
लिये जाति चित चोरटी, वहै गोरटी नारि ।।

चमक, चिकनाई, तेजी और लचकभरी साँवली नायिका मेरे चित्त को नागिन की तरह डस जाती है। इन वर्णनों में जैसा ऊपर कहा जा चुका है प्रेम की अपेक्षा रसिकता ही अधिक है। नायिका ने नायक को पान दिया बस इसी स्नेहस्निग्ध अवसर पर नायक अपने रसद्रवित चित्त की दशा का वर्णन कर चलता है—प्रेम और संकोच के साथ हर्ष, स्वेद, कंप आदि सात्विक भावों के साथ मुस्करा कर उसने मेरे हाथ में पान क्या दिये मेरे प्राण उसने अपने हाथ में कर लिये, रूपा सक्ति और द्रवीभूत चित्त का यह वर्णन भी बहुत हृदयस्पर्शी है—

सहित सनेह सकोच सुख, स्वेद कंप मुसुकानि ।
प्रान पानि करि आपने पान धरे मो पानि।।

नायिका उरबसी (माला) के समान नायक के उर में बसी रहती है, उसकी एक-एक चेष्टा निरंतर प्रेमी नायक के हृदय में खटकती रहती है—

चितवनि भोरे भाय की गोरे मुख मुसकानि ।
लगनि लटकि आली गरे, चित खटकति नित आनि।।

नायिका की रूपासक्ति इतनी बढ़ी हुई दिखाई गई है कि वह पराग और मधुरहित कली पर ही हर तरह से निसार है। जिस प्रकार नायिका नायक द्वारा भेजे उपहार को पाकर हर्ष से आत्मविस्मृत हो जाती है उसी प्रकार नायक भी। नायिका द्वारा प्रेषित गुलाब के फूल को हाथ में लेकर कभी तो वह छूता है कभी पोंछता है और कभी उसके गालों का ध्यान करके उसकी ओर देखता रह जाता है—'परसत पोंछत लखि रहत लगि कपोल के ध्यान।' राधा के लड़ैते नेत्र तो नायक कृष्ण को बेहाल कर देते हैं, उनकी दशा ही विचित्र हो जाती है—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट बनमाल॥

प्रेम क्रीड़ाएँ – यहाँ तक तो प्रेम में पड़े प्रेमी नायिका-नायक की मनोदशा का कुछ निदर्शन हुआ अब प्रेम में होने वाले कतिपय व्यापारों का वर्णन देखिये। इन्हें आप प्रेम की क्रीड़ाएँ कह लीजिये चाहे प्रेम के खिलवाड़। प्रेम की वृत्ति कुछ मन ही में घनीभूत नहीं होती रहती, वह नाना रूपों में व्यक्त भी तो होती रहती है तथा संयोग की अवस्था में तो और भी। नायिका नाना हाव-भावों का प्रदर्शन करती हुई नायक को अपनी ओर आकृष्ट करती है, ललचाई हुई नजरों से देखती है, घूँघट की ओट से देखती है और कभी पास से छाया छू कर चली जाती है। कभी वह ढिठाई के साथ हँसती बोलती है और प्रिय उसके रूप का नशा पीकर जड़ हो रहता है, कभी नायक चित्र बनाता रहता है नायिका उसे निहारती रहती है, कभी टटिया फाड़कर नायिका नायक को निहारती रहती है और कभी नायक की भेजी हुई माला को पाकर हर्षातिरेक से कंटकित हो जाती है। कभी नायक की पतंग की परछाईं के पीछे आँगन में यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ दौड़ती रहती है—

गुड़ी उड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥

कभी नायक के निषेध करने पर भी नायिका मुस्करा कर अपनी गायें नायक की गायों में मिला देती है, कभी बतरस के लोभ में लाल की मुरली चुरा दी जाती है, कभी नायक नायिका को जान-बूझ कर बार-बार कंकरीली गैल से ले जाता है और उसे तंग करता है—

नाक मोरि सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै, पिय कँकरीली गैल॥

कभी प्रिय नायिका के पैरों का दर्द के साथ काँटा निकालता है और नायिका को इससे पूर्ण परितृप्ति होती है, कहती है भला हुआ जो पैरों में काँटा गड़ गया, नायक के प्रेम की प्रतीति तो इससे हुई—

ए काँटे सों पायँ गड़ि लीन्हों मरत जिवाय।
प्रीति जतावत भीति सों मीत जु काढ्यो आय।।

कभी प्रेमिका नायक के घर जामन लेने के बहाने जाती है और किसी बहाने उसकी प्यार सस्मित दृष्टि से निहार कर उसके हृदय में नेह जमा आती है—'आई जामन लेन तिय नेहैं गई जमाय।' इस प्रकार के बहुसंख्यक प्रेम व्यापारों का बिहारी ने विदग्धतापूर्वक चित्रण किया है। दोहे की संकीर्ण सीमा में ये चित्र उरेहे गए हैं। ये कवि की असाधारण चित्रांकन क्षमता का निर्दशन करने वाली बात है। फाग के वर्णन में ऐसे ही कई सुन्दर चित्र अंकित किये गए हैं—नायिका गुलाल की मूँठ देख कर जितना ही डरती है नायक उतना ही उसे झूठ मूठ में डराता है, दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह रंग से तर करके भी एक दूसरे से दूर नहीं हटते और इसी प्रकार उदार-चित्त नायक भी रस लिप्सावश फाग में जल्दी 'फगुआ' देने को तैयार नहीं—

ज्यौं ज्यौं पट झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहू फगुआ देत बनै न।।

प्रेम के अन्य प्रसंग—'बिहारी सतसई' में और भी कितनी ही स्थितियों, भावनाओं और प्रेमदशाओं की वर्णना देखी जा सकती है। प्रणय और जीवन के शृंगारिक संदर्भों का ही कथन सतसई का प्रधान वर्ण्य है। लाला भगवान दीन और रत्नाकर जी सरीखे बिहारी साहित्य के मर्मज्ञों ने नायिका भेद ग्रंथों के शतशत लक्षणों को सतसई में घटित किया है। यह एक समीचीन और परंपरा प्राप्त दृष्टि रही है जिससे कि बिहारी की कविता का आनंद परंपरागत काव्य के रसिक लेते रहे हैं, वह दृष्टि बिहारी के काव्य को ठीक-ठीक समझने में सहायक रही है परन्तु यदि हम रीति-शास्त्रीय दृष्टि को छोड़ भी दें तो भी बिहारी के दोहे अपने स्वतंत्र अस्तित्व के साथ कम आकर्षक नहीं लगेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि परंपरा और शास्त्रज्ञान से तो बिहारी को ठीक-ठीक समझा ही जा सकता है परन्तु उसके बिना भी बिहारी की कविता का रस प्राप्त करने में काव्य-पाठक को किसी बाधा का अनुभव नहीं होने पाता। परंपरागत काव्य-रीति के पंडितों ने बिहारी सतसई में रीति ग्रंथोक्त नाना प्रसंगों का निर्देश किया है उदाहरण के लिए प्रिय मिलन, प्रेम-क्रीड़ा, आँख मिचौनी, मदपान, वन विहार, जल विहार, हिंडोरा, चोर मिहीचनी, सुरतारंभ, नाहीं वर्णन, रति, विपरीत रति, सुरतांत, स्नान वर्णन आदि। इसी प्रकार अभिसारिका, रति लक्षिता, मानिनी, खंडिता, क्रिया विदग्धा, प्रेमगर्विता, उत्कंठिता, प्रवत्स्यत्पतिका, आगतपतिका आदि नाना नायिकाओं का निर्देश भी उनके बहुत से दोहों को लक्ष्य कर के किया गया है।

नायक और नायिका जब पहली बार मिलते हैं तो दोनों को अभिलाषा के अतिरेक के कारण एक दूसरे से कुछ बोलते नहीं बनता। कभी नायक नायिका का

का, शिथिलांग तरुणी का और ऊँचाई पर खिले हुए फूल को तोड़ने वाली नायिका आदि का वर्णन किया गया है—

बढ़ति निकसि कुलकोर रुचि कढ़त गौर भुज मूल ।
मन लुटिगो लोटन चढ़ति चूँटत ऊंचे फूल ।।

जल विहार में नायक नायिका के ऊपर पानी के छींटें डालकर प्रसन्न होता दिखाया गया है और डुबकी लगा कर नायिका को तैरते भी दिखाया गया है । जलक्रीड़ा के लिए अधीर तरुणी जिधर-जिधर सरोवर में पहुँचती है उधर-उधर का जल केसर-जल के समान हो जाता है—

लै चुभकी चलि जाति जित जित जलकेलि अधीर ।
कीजत केशर नीर से तित तित के सर नीर ।।

'हिंडोरा-वर्णन' में हिंडोले से जल्दी में उतरती या गिरती हुई नायिका को सम्हालकर नायक के पृथ्वी पर खड़ा करने का या नायक के मन करने पर भी नायिका द्वारा हिंडोले को और भी जोर से पेंग (गति) देने का वर्णन किया गया है । सुरतारंभ, नाहीं वर्णन, रति, विपरीत रति, सुरतांत तथा शैय्या से उठने आदि के भी वर्णन बिहारी कर गए हैं—

(क) भौहनि त्रासति मुख नटति आँखिन सों लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति कर इँची आगे आवति जाति ।।

(ख) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि ।
कर आँचर की ओट करि, जमुहानि मुख मोरि ।।

(ग) परयो जोर विपरीत रति, रुपि सुरति रनधीर ।
करत कुलाहल किंकिनी, गह्यौ मौन मंजीर ।।

(घ) मेरे बूझे बाल तूँ कत बहरावति बाल ।
जग जानी विपरीत रति लखि बिंदुली पिय भाल ।।

(ङ) लहि रति सुख लगियै गरें लखि लजौंहि नीठि ।
खुलत न मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि ।।

(च) लखि लखि अँखियन अधखुलिन आँग मोरि अँगराय ।
अधिक उठि लोटत लटकि आलस भरी जँभाय ।।

(छ) नीठि नीठि उठि बैठि कै प्यौ प्यारी परभात ।
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिर जात ।।

'नाहीं-वर्णन' में कवि ने इतना ही लिख दिया है कि समागमारंभ में तिय के मुख से निकली हुई 'नाहीं' भी मीठी लगती है—'तिय-मुख-रति-आरंभ की "नहिं" झूठियै मिठाय ।' स्नान के अनेक रमणीय और रोमांचक चित्र हैं—न तो नायिका स्नान

करती है और न घर जाती है, नायक को तट पर खड़ा देख कर वह बड़ी देर तक शीत के भय से सरोवर में धँसती ही नहीं। अपना मुँह धोती है, एँड़ियों को घिसती है और हँसती है परन्तु वह अनंगवती नदी के अन्दर प्रवेश ही नहीं करती। मुँह धोकर घुटने के बल बैठकर वह खूब अच्छी तरह स्नान करती है और स्नान के उपरांत—

बिहँसति सकुचति सी हिये, कुच आँचर बिच बाँहि।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँहि॥
× × ×
न्हाय पहिरि पट झट कियौ बेंदी मिस परनाम।
दृग चलाय घर को चली, बिदा कियो घनश्याम॥

एक और भी रोचक चित्र है जिसमें स्नान करके प्रेमी और प्रेमिका सूर्य का जप कर रहे हैं, जप क्या कर रहे हैं एक दूसरे को अपांगों से देख रहे हैं। भींगे शरीर दोनों काँप रहे हैं पर जप है कि समाप्त होने को नहीं आता। और भी बहुत से फुटकर प्रसंग हैं जिनका वर्णन बिहारी ने किया है जैसे मान, मुरली, ग्रामीण नायिका, धृष्ट नायक, पड़ोसिन का प्रेम, सपत्नीक भाव आदि[1] जिन सब का बखान यहाँ सम्भव नहीं।

विविध नायिकाएँ—जिन शास्त्रोक्त नायिकाओं का कवि ने वर्णन किया है उनकी संक्षिप्त चर्चा भी यहाँ हो जानी चाहिए। अभिसारिका का वर्णन करते हुए सायंकाल या रात्रि की बेला में नायिका के प्रति दूतियों से कहलाया गया है कि अभिसार हेतु यही बेला उत्तम है। घने अन्धकार में अभिसार के लिए जाती हुई दीपशिखा-सी नायिका का जाना किसी से छिप नहीं पाता—

निसि अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप सिखा सी देह॥

शुक्लाभिसारिका के मार्ग में ही चन्द्रास्त हो जाने पर सखी प्रकाश की व्यवस्था के के लिए उससे घूँघट हटा लेने को कहती है और इसी प्रकार कृष्णाभिसारिका को आधे रास्ते में ही जब चंद्रमा मिलता है तो अनपेक्षित प्रकाश के कारण उसे बड़ी घबराहट होती है, वह तो बड़ा भाग्य समझिये की साथ लगे हुए भौंरों ने घिरकर गैल को पुनः अन्धकारमय कर दिया। यहाँ कवित्व की अपेक्षा कुछ तमाशा ही अधिक है—

अरी खरी सटपट परी बिधु आगे मग हेरि।
संग लगे मधुपनि लई, भागन गली अधेरि॥

अभिसार के लिए जाती हुई शुक्लाभिसारिका चाँदनी में इस तरह मिल जाती है कि

---

[1] बिहारी बोधिनी : छंद २०६, २२५, २८७; २०७, १६०; ५६६, ५६७, ५६८; ४६६—४७२; ४७३-४७५, २८१

साथ में जाने वाली सखी को उसका पता ही नहीं चलता, वह तो उसके अंग की सुगंधि है जिसके सहारे वह भी उसके साथ-साथ चली चलती है। पर पुरुष प्रेम को जो गुप्त न रख सकती हो ऐसी रति लक्षिता के वर्णन में बिहारी ने लिखा है कि सलवटों वाली सारी को देखकर सभी सखियाँ जान जाती हैं कि नायिका ने सुख की मोट (गठरी) लूट ली है, नायिका के बहुतेरा मना करने पर भी उन्हें उसकी बात का विश्वास नहीं होता। इसी प्रकार उसके अनसौंहे नेत्रों को देखकर, पूस के महीने में भी उसके तन के प्रस्वेद बिंदुओं को देखकर, उसकी कनीनिकाओं की नई कांति देखकर तथा ऐसे ही कितने लक्षणों को देखकर रतिलक्षिता की प्रतीति कराई गई है—

(क) यौं दल मलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उर ते जात॥

(ख) छनक उघारति छन छुवति, राखति छनक छिपाय।
सब दिन पिय खंडित अधर, दरपन देखत जाय॥

(ग) कियो जो चिबुक उठाय कै कंपित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरत, टेढ़े तिलक लिलार॥

अपने हाव भावों द्वारा अपने मनोभावों का बोध कराने वाली नायिका क्रिया विदग्धा कहलाती है। बिहारी की क्रियाविदग्धा के बोधक हावों को लाला भगवानदीन ने खूब समझाया है—

लखि गुरुजन बिच कमल सों सीस छुवायो स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हिये लगाई बाम॥

'राधिका को गुरुजनों के बीच देख कृष्ण ने कमल पुष्प से अपना सिर छुवाया (यह जताया कि हम तुम्हारे कमलवत चरणों पर मस्तक रखते हैं)। तब राधा ने भी अपनी आरसी कृष्ण के सम्मुख करके हृदय से लगा ली (यह उत्तर दिया कि मैं भी दर्पणवत स्वच्छ चित्त में आपको बसाए हुए हूँ)।' एक और चित्र देखिये—

हरषि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सब साथ।
आँखिन ही में हँसि धर्‍यो सीस हिये धरि हाथ॥

'नायक को देखकर हर्षित तो हुई, परन्तु सब अजनबी सखाओं को साथ में देखकर कुछ बोली नहीं। (मिलने का संकेत इस तरह बताया कि) आँखों ही में हँसकर छाती पर हाथ रखकर फिर सीस पर रक्खा। क्रियाविदग्धा की चतुराई के भाव:—(१) हृदय में बसते हो प्रणाम करती हूँ (२) शिव की शपथ अर्धरात्रि को मिलूँगी (३) दोनों पर्वतों के बीच वाली कुंज में कृष्णपक्ष की द्वितीया को मिलूँगी (४) यमुना तट पर शिवालय में मिलूँगी (५) प्रतिज्ञा स्मरण है सूर्यास्त बाद मिलूँगी।' (बिहारी बोधिनी देखिये दोहा ४५८ और ३९८) खंडिता संबंधिनी उक्तियाँ अनेक हैं। पर स्त्री संसर्ग

जनित चिह्नों सहित प्रातःकाल अपनी नायिका के पास आने वाले नायक के प्रति नायिका की तरह-तरह की उक्तियाँ देखने योग्य हैं। नायक के तन पर नायिका का उपटा हुआ हार, लाल आँखें, खिसियाए हुए नेत्र, पलकों पर पान की पीक, अधरों पर अंजन, भाल पर महावर, अंगों में केसर पुष्प के किंजल्क, रदच्छद, नख रेखाएँ, हृदय पर उपटी हुई वेणी का चिह्न, बिना गुन की माला, पुलक प्रस्वेद से भींगा हुआ शरीर आदि नायिका का रोष जगा देने के लिए पर्याप्त हैं। इन्हीं चिह्नों से नायक की धृष्टता का प्रमाण मिल जाता है और नायिका तरह-तरह से उसके प्रति रोष जतलाती हुई दिखाई गई है ! कभी वह व्यंग्य करती है, कभी रोष[1]—

(क) मैं तपाय त्रय ताप सों राख्यौ हियौ हमाम।
मकु कबहूँ आवै इहाँ, पुलक पसीजे स्याम॥

(ख) दुरै न निघरघटौ दियै, ए रावरी कुचाल।
विष सी लागति है बुरी, हँसी खिसी की लाल॥

(ग) जिंहि भामिनि भूषन रच्यो चरण महाउर भाल।
वहीं मनो अँखियाँ रँगीं, ओठनि के रंग लाल॥

नायिका अपने रोष को कभी तो कह कर व्यक्त करती है और कभी अपने आचरण द्वारा जाहिर करती है। अनेक दोहों में मानवती नायिका के 'मान' का भी चित्रण हुआ है जो कभी तो व्यक्त और कभी अर्धव्यक्त रखा गया है। कभी नायक भी मान करता है। रूप-गुण आदि के अहंकार से, पति-पत्नी के अवगुण से मान का जन्म होता है। कभी-कभी दूतियाँ या सखियाँ नायिका को मान करना सिखाती हैं और कभी मान-त्याग का भी उपदेश करती हैं। कभी-कभी नायक नायिका दोनों ही मान कर लेते है और 'प्रणयमान' की स्थिति आ जाती है, परस्पर न कोई किसी को मनाता है और न कोई मान छोड़ता है—'कौन मनावै को मनै, मान भति ठहराइ।' किसी-किसी नायिका से सहज हँसमुखता के कारण मान करते भी नहीं बनता। एक सखी ऐसी ही नायिका से कहती है कि तू खूब मान किया कर ! मैं तुझे मना थोड़े ही करती हूँ बल्कि सौगंध दिलाती हूँ पर तू इतना तो बता दे कि तू अपनी सहज हँसने वाली भौंहों को सरोष कर भी सकेगी या नहीं ?

मान करत बरजति न हौं उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौहीं जायँगी, सहज हँसौंहीं भौंह॥

अन्त में वह बहुत यत्नपूर्वक मान करती है, रुख में रुखाई ले आकर बनावटी क्रोध दिखलाती है और रूखे वचन बोलती है पर नेह से चिकने नेत्रों में मान का पानी ठहर नहीं पाता—

---

[1]बिहारी बोधिनी : छंद ३८२ से ४२२

रुख रूखे मिस रोष मुख, कहति रुखौहैं बैन ।
रूखे कैसे होत ये, नेह चीकने नैन ।।

वह फिर प्रयत्न करती है—कपटपूर्वक भौंहें टेढ़ी कर लेती है और सक्रोध वचन कहती है परन्तु इस भय से कि उसकी हँसीली आँखें रोष का भंडाफोड़ न कर दें वह अपनी आँखें नायक के सामने नहीं करती—

कपट सतर भौंहैं करी मुख सतरौहैं बैन ।
सहज हँसौंहै जानिकै, सौंहैं करति न नैन ।।

कान की पतली नायिकाओं की तो बड़ी 'बहाऊबानि' बतलाई गई है जो हर समय ही मान किये रहती हैं, नायक के लाख मनाने पर भी मान नहीं छोड़ती, इतने छोटे से तन में इतना अधिक मान जाने कहाँ से भरा हुआ है । मान त्याग के लिए नायिका के प्रति एक दूती के कैसे सुन्दर वचन हैं—

हा हा बदन उघारि दृग सुफल करैं सब कोय ।
रोज सरोजनि के परै हँसी ससी की होय ।।

कभी नायिका के रुख में किंचित् शिथिलता आई देखकर दूतियाँ नायक से ही बार-बार नायिका के पास जाने का अनुरोध करती है । उनके अनुरोध की भाषा इस प्रकार होती है—हे रसज्ञ ! उस रसीली के समीप मान दशा में भी आपको रस ही प्राप्त होगा जिस प्रकार इक्षुदण्ड की गाँठ भी मिठास से भरी होती है—

अनरसहू रस पाइये रसिक रसीली पास ।
जैसे साँठे की कठिन गाँठौ भरी मिठास ।।

'प्रेमगर्विता' तो प्रिय के गुणों पर इस कदर रीझी हुई होती है कि वह मान का अवसर ही नहीं पाती । मोहन को देखकर उसका मन उसके हाथ से निकल जाता है । मान की बात सोचने से भी उसे आत्मग्लानि होती है । 'उत्कंठिता' के चित्त में वनमाली के न आने की बेचैनी, उसके समाचार आदि जानने की बेताबी ही विशेष दिखाई गई है । जिसका नायक परदेस जाने को तैयार होता है उस 'प्रवत्स्यतप्रेयसी' का वर्णन करते हुए बिहारी लिखते हैं कि नायिका की पलकों में चैन का अब लेश भी नहीं, ललन ने जाने का जब से निश्चय किया है तब से उसे अपने प्राणों की चिंता हो गई है । कभी तो कोई नायिका अपने प्रिय को प्रातः काल प्रस्थान के लिए तैयार देख वीणा लेकर मलार राग बजाने लग जाती है, किसी को कंठावरोध हो आता है, किसी को नायक अपने गले से लगा लेता है तथा दोनों वाष्परुद्ध कंठ के कारण बोल नहीं पाते, ऐसी ही स्थिति में बड़ी देर तक बने रहते हैं—

बिलखी डबकौंहैं चखनि तिय लखि गमन बराय ।
पिय गहबर आये गरे, राखी गरे लगाय ।।

लाल का चलना सुन एक नायिका की पलकों में आँसू छलक आए, सखियाँ उसका इस

दशा से अवगत न होने पायें इस उद्देश्य से उसने झूटमूठ की जम्हाई लेने लगी। द्वार तक पहुँचाते-पहुँचाते नायक नायिका अपने हृद्‌गत प्रेम, आकांक्षा और विरह की जाने कितनी बातें कह डालते हैं। जरा इसी सन्दर्भ का एक हास्यास्पद वर्णन देखिये जिसमें नायक को परदेश जाते-जाते शाम हो जाती है हालाँ कि मुहूर्त्त सबेरे का ही रहता है—

मिलि मिलि चलि चलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु।
भयो महूरत भोर कं, पौंरिहि प्रथम मिलानु ॥

'प्रवत्स्यत्पतिका' की एकाध उक्तियाँ और देखिये—

(क) चलत चलत लौं लै चले, सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम-बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय ॥

(ख) अजौं न आये सहज रँग, बिरह दूबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयत ललन चलन की बात ॥

प्रवासी पति जब घर लौटता है तो उसकी प्रेमिका 'आगत पतिका' कहलाती है। आगत् पतिका के वर्णन में उसकी उत्कण्ठाओं, हर्षोल्लासों आदि का विशेष वर्णन होता है। उसके मलिन तन वसन और रूप में प्रियागम की सूचना से नई कांति ज्योतित हो उठती है -'पिय आगम औरै चढ़ी आनन ओप अनूप।' हर्षोत्फुल्लता के कारण उसके अंगो में और ही जीवंतता आ जाती है—

कहि पठई जिय-भाव त पिय-आवन की बात।
फूली आँगन में फिरै आँग न आँगि समात ॥

'आगतपतिका' अपने शुभ अंगों के फड़कने मात्र से प्रियागम की प्रतीति कर लेती है और बिना प्रिय के आए ही कपड़े आदि बदलने लगती है, उसके हृदय में उत्साह और तन में प्रफुल्लता भर आती है। उसका यह हर्ष उसकी सहेलियों से छिप नहीं पाता हालाँकि वह उसे गुप्त रखने की बहुत चेष्टा करती है। प्रिय जब तक परिवार के अन्य लोगों से मिलता रहता है उतने में तो नायिका की जाने कितनी बुरी गत हो जाती है—

रहे बरोठे में मिलत पिय प्रानन के ईसु।
आवत आवत की भई बिधि की घरी घरीसु ॥

उधर नायक में भी उत्कण्ठा का आधिक्य कुछ कम नहीं। तेज रौहाल (घोड़े) के द्वारा वह सैकड़ों कोस बिना विलम्ब लगाए चला आया परन्तु घुड़साल से भामिनी की देहली तक का मार्ग उसे हजार कोस के बराबर हो गया। आगतपतिका के नायक के हृदय से लगने का चित्र और उनके हृदय की दशा का निदर्शन पर्याप्त मार्मिक है—

ज्यौं ज्यौं पावक लपट सी तिय हिय सों लपटाति।
त्यौं त्यौं छुहा गुलाब सी, छतिया अति सियराति ॥

विरह वर्णन

अब शेष रह जाता है बिहारी का वियोग वर्णन जिसमें उन्होंने विरहिणी की नाना अन्तर्बाह्य स्थितियों का चित्रण किया है। विरह की जो दस-ग्यारह कामदशाएँ बताई गई हैं उन्हें भी बिहारी-सतसई में ढूँढ़ा जा सकता है। प्रवासी प्रिय की 'स्मृति' में विरहिणी सतत व्याकुल है, पुरानी बातें एक-एक करके याद आती हैं, प्रिय की सुधि करते हुए वह आत्मचेतना भी विस्मृत कर देती है, प्रिय ही उसकी आँखों में समाया रहता है तथा नींद आती नहीं। श्याम की स्मृति में राधिका केवल यमुना की ही ओर देखती रहती है दूसरी कोई बात उसे अच्छी नहीं लगती। उसमें एक ही चेतना शेष है और कुछ नहीं—

सोवत जागत सपन बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम घन की सुरति, बिसराये बिसरै न॥
ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिनराति।
पल कंपति पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति॥

विरहिणी में एक ही कामना शेष है और उसी एक 'अभिलाषा' से वह ज्वालामुखी के समान दह्यमान होकर भी जीवित है। वह प्रियतम से मिलन की लालसा में अपने सारे सुखों को होम किये दे रही है—

होमति सुख करि कामना, तुमहिं मिलन की लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल॥

विरहिणी की व्यथा का नाना रूपों में चित्रण किया गया है। विरहिणी कहती है कि हे लाल तुम्हारे रूप की यह कौन-सी रीति है कि उसका साक्षात्कार करके ये पलकें एक पल के लिए भी नहीं लगतीं। इसी विरह-व्यथा में घुल-घुलकर विरहिणी अति कृशगात हो जाती है। उसकी विरह-व्यथा इतनी दारुण है कि घर बैठे उसकी स्थिति का अन्दाजा लगाया ही नहीं जा सकता। इसी तथ्य को निरूपित करती हुई दूती नायक से कहती है—

जौ वाके तन की दशा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नेकु बिलोकिये चलि अचकाँ चुपचाप॥

——

कहा कहौं वाकी दशा हरि प्रानन के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस॥

वियोग की अग्नि में उसका सारा शरीर प्रज्वलित होता रहता है तथा नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होती रहती है और वह दीर्घ निःश्वासें लेती रहती है। विरह ने उत्तरोत्तर दारुण हो-हो कर उसे 'व्याधि' दशा तक पहुँचा दिया है जब वह रह-रह कर

प्रिय का नाम ले-ले कर बर्रा उठती है, कोई भेषज उस पर कारगार नहीं होता, गुलाब जल के चन्दन और कपूर घिस-घिस कर लगाना उसके लिये बेकार है, इन उपचारों से तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है। समीपी सखियों का तो निश्चित मन है कि विरहिणी के रोग की दवा उसका प्रियतम ही है और कुछ नहीं—

करि राख्यो निरधार यह मैं लखि नारी ज्ञान।
वहै बैद ओषध वहै, वहै जु रोग निदान।।

प्रियतम का रस (अर्क, दवा) ही वह इलाज है जिससे उसका रोग जा सकता है—'वाको जुर बलि बैदजू तो रस जाय तु जाय'—नायक के प्रति दूती का इतना ही कहना है। व्याधि के अनन्तर 'प्रलाप' नाम्नी वह विरह दशा भी दिखलाई गई है जिसमें विरहिणी रोगातिशय्य वश एक प्रकार की बेसुधी में बहुत कुछ बक-झक करती पाई जाती है। जुगनुओं को देखकर समझती है कि अङ्गारे बरस रहे हैं और इसी कारण सखियों को भीतर भाग जाने को कहती है और चन्द्रमा को देखकर एकदम पागल हो जाती है—

हौं हो बौरी बिरह बस कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं ससिहि सीतकर नाँव।।

विरहिणी को ऋतुएँ, सुखद परिस्थितियाँ और उपकरण, प्रकृति आदि विशेष कष्ट-प्रद ही होते हैं। वर्षा काल में ये 'बदराह बादर' उमड़ उमड़ कर विरहिणी के प्राण लिये लेते हैं, मोतियों की चौलरी माला, चन्द्रमा, मन्द बातास आदि दूसरे ही प्रकार का व्यवहार करते हैं और विरहिणी के प्राणों पर आफत के पहाड़ ढाए देते हैं, चाँदनी उसे बेहोश किये देती हैं और खस की टट्टियों से घिरी अतिशीतल रावटी में भी वह औटाए जाने का अनुभव करती है। बनोपवन के कुसुमित पुष्प उसे ऋतुराज द्वारा विरचित बाणों के तीक्ष्ण पिंजड़े के समान प्रतीत होते हैं, बौरे हुए आम तरुओं को देख उसकी दशा और ही हो जाती है तथा कोयलों की कूक अतिशय प्राणघातक प्रतीत होती है—

बन-बाटनि पिक बटपरा, तकि बिरहिन मत मैन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठत, करि करि राते नैन।।

वियोग वर्णन सम्बन्धी अनेक ऐसे दोहे भी बिहारी लिख गए हैं जिनमें अत्युक्तियों की ही भरमार है। ये अत्युक्तियाँ सहृदयता से असंपृक्त होने के कारण कोरी उक्ति मात्र हो कर रह गई हैं जिनमें दूर की कौड़ी लाने की चेष्टा की गई है। सिर्फ सूझ के ही आधार पर मर्मस्पर्शी काल की रचना नहीं की जा सकती। ऐसी ही विरह सम्बन्धिनी उक्तियों और ऊहाओं को लेकर बिहारी की खूब खिल्ली उड़ाई गई है। ऐसी कुछ उक्तियों और दूरारूढ़ कल्पनाओं पर दृष्टिपात कीजिये। कवि कहता है कि इसके हृदय में कुछ और ही तरह की विरहाग्नि लगी हुई है जो गुलाबजल से प्रज्ज्वलित

होती है और नायक की बात (हवा) से बुझती है, अग्नि जल से बुझती और वायु से भड़कती है परन्तु नायिका की विरहाग्नि इससे विपरीत है। विरह की ज्वालाओं से स्नेह की लता लेशमात्र भी नहीं झुलसती, वह नित्य प्रति हरी होती और फैलती जाती है। विरहिणी की आँखें धूनी रमाए हुए मलंग (योगी या फकीर) की भाँति पड़ी रहती हैं, उसका आँसुओं की बूँदें कौड़ा हैं (कौड़ियों की माला जिन्हें फकीर लोग पहने रहते हैं, सजल बरौनियाँ जन्जीर हैं (जिन्हें फकीर लोग कमर में लपेटे रहते हैं)। इनको धारण किये हुए और मुँह खोले हुए (योगियों की तरह जप मुद्रा में ये नेत्र स्थिर होकर मलंग की भाँति कहीं एक स्थान पर पड़े रहते हैं —

कौड़ा आँसू बूँद करि साँकर बरुनी सजल।
कीन्हें बदन निमूँद, दृग मलंग डारे रहत ।।

यहाँ तथा ऐसे ही अन्य दोहों में व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण करने के बजाय उक्ति विधान मात्र कवि का अभिप्रेत है—

रह्यो ऐंचि अंत न लह्यौ, अवधि दुसासन बीर।
आली बाढ़त विरह ज्यौं, पंचाली को चीर ।।

× × ×

बिरह बिथा जल परस बिन, बसियत मो हिय ताल।
कछु जानत जलथंभ-बिधि, दुरजोधन लौं लाल ।।

ऐसी ही ऊहाएँ अनेक हैं जो हास्यास्पद तक हो गई हैं और जिनसे प्रमाणित होता है कि कवित्व का सत्य और वास्तविकता से संस्पर्श आवश्यक है। नायिका की कृशता से देखकर उसकी सखियों को चिन्ता होती है कि कहीं वह कर्पूर चूर्ण की तरह विलीन ही न हो जाय। पलकों, बरौनियों और कपोलों पर तो उसके आँसू किसी प्रकार क्षण भर ठहरते भी हैं किन्तु विरह प्रतप्त छातियों पर गिरकर तो सन्ताप की अधिकता के कारण छन्न से सूख जाते हैं। विरहिणी हाथ से मसले हुए फूल की तरह ऐसी मुरझा गई है कि सदा समीप रहने वाली उसकी समीपवर्तिनी सखी भी मुश्किल से ही उसे पहचान पाती है। कृष्ण की प्रतीक्षा में खड़ी राधिका के आँसू यमुना तट के जल पर गिर कर वहाँ के जल को क्षण भर में खौला देते हैं—

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करति तरौंस को, खिन खौरौंहौं नीर ।।

बिहारी की अन्य ऊहाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध हैं :—

(क) आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।
साहस कै कै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति ।।

(ख) सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुवैं चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिन ही कहे, जियत बिचारी बाम ।।

(ग) इत आवति चलि जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥

(घ) औंधाई सीसी सु लखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुयौ न गात॥

इस प्रकार विरहिणी की सार्वत्रिक दुरवस्था का चित्रण करते हुए बिहारी ने उसका जड़ता, मूर्च्छा, अस्मृति या मरण आदि सभी कामदशाओं का निदर्शन किया है। ऊहाओं में हृदय की लीनता कहाँ ! हाँ, परम्परा-निर्वाह अवश्य है। 'जड़ता' का चित्रण करते हुए विरहिणी को लोक लाज का डर छोड़कर अपलक दृष्टि से एक ही ओर को अवाक् रूप से देखते हुए दिखलाया है। प्रेम भी सभी दुर्दशायें झेल कर भी विरहिणी के प्रेम में कोई खोट नहीं आने पाता उसकी प्रेम सम्बन्धिनी निष्ठा और अनन्यता पूर्ववत क्या दृढ़ता ही दिखाई गई है। वह चन्द्रमा की किरणों से प्रिय संसर्ग की शीतलता ही प्राप्त करेगी या फिर विरह की चिनगारियों को ही चकोर के समान चुग लेगी। वह प्रिय के ध्यान में भृङ्गी कीट सी निमग्न दिखाई गई है। प्रिय को पाकर उसे नरक का भी भय नहीं और यदि प्रिय न मिले तो उसे मुक्ति की भी आकांक्षा नहीं विरहिणी के प्रेम की अनन्यता की इससे बढ़कर विवृत्ति और क्या हो सकती है—

जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुख दीन।
जा लहिये संग सजन तौ धरक नरक हू कौन॥

उसे विश्वास है कि प्रिय चाहे जहाँ रहे हैं उसको का 'उड़ी जाउ कित हू जुड़ी तऊ उड़ायक हाथ।' प्रेम के बहुत से संदेशे भी प्रेमियों के द्वारा भेजे और पाए गए हैं जिनमें एक प्रकार की उन्माद' की दशा का चित्रण हुआ है—बिना लिखे ही पत्र भेज दिया गया है और बिना अक्षरों का पत्र बाँच भी लिया गया है। आँसुओं की धारा से पत्र की स्याही इधर-उधर फैल गई है और पत्र अवाच्य हो गया है पर उससे भी तो दोनों ने एक दूसरे की विरह दशा का पूरा विवरण पा लिया है, प्रिय का पत्र प्रिया के लिए कितना बड़ा सहारा होता है—

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की तिया, बाँचति धरति समेटि॥

विरह की अन्तिम अवस्था 'मूर्छा' अथवा 'मरण' के भी कई दारुण चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। नायिका के प्राण विरहातिरेक से अब छूटा चाहते हैं और रोती-धोती सहेलियाँ अन्तिम उपचार के रूप में प्रिय का नाम लेकर उसकी रक्षा किया चाहती हैं। विपदा आने पर सभी लोग साथ छोड़ देते हैं इस लोकोक्ति को विरहिणी की दशा पर सुन्दरता से घटित किया गया है —

विरह विपति दिन परत ही तजे सुखनि सब अंग।
रहि अबलौंऽब दुखौ भये, चलाचली जिय संग।।

विपत्ति आने पर सुखों ने तो विरहिणी का साथ छोड़ ही दिया किन्तु प्राणों की चला-चली देख अब दुख भी उसका साथ छोड़ जाने को तैयार हो गए हैं। इस उक्ति द्वारा विरहिणी की दशा का रूप अत्यन्त करुण और मार्मिक होकर सामने आया है। विरह में सतत कराहती रहने वाली विरहिणी की कराह जब बन्द हो जाती है और आह भी जब नहीं निकलती है तो आह और कराह की अभ्यस्त सखियों को उसके मृत हो जाने की आशंका हो उठती है—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहाँ खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुख आहि न आहि।।

दूतियाँ नायक से कहती है कि हे लाल! इस विरह के 'विषम ज्वर' से नष्ट होते हुए रत्न 'नायिका' की रक्षा अपने 'सुदर्शन' द्वारा कीजिये और संसार में यश लीजिये— 'जरी विषमजुर ज्याइये आय सुदरसन देहु।' वैद्यक में सुदर्शन चूर्ण ही विषम ज्वर की औषधि कही गई है। इसी रोग ज्ञान के आधार पर 'रत्नाकर' जी ने भी यह उक्ति लिखी है—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौं,
भाय क्यौं अनारिनि कौं भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।। (उद्धव शतक)

विरहिणी की दशा ऐसी करुण रहती है कि प्रत्येक दिन उसके प्राणान्त की आशंका उग्रतर होती जाती है परन्तु विरहिणी जब प्रतिदिन बच जाती है तो ऐसा ही अनुमान होता है कि मृत्यु रूपी सचान 'बाज़' विरह-अग्नि की प्रखर लपटों के डर से उसके जीव रूपी हँस पर झपट नहीं पाता। आशय यह हुआ कि विरह की ज्वाला जो इसे मरण अवस्था तक पहुँचा चुकी है वही उसकी प्राणरक्षा का भी कारण बनी हुई है—

नित संसौ हंसौ बचत, मनहुँ सु यह अनुमान।
बिरह अगिनि लपटनि सकत, झपटि न मीचु मिचान।।

ऐसी ही विरह स्थिति की व्यञ्जना एक और दोहे द्वारा की गई है—

गनती गनिबे तें रहे, छत हू अछत समान।
अब अलि ये तिथि औम लौं, परे रहौं तन प्रान॥

विरहिणी कहती है हे सखी ! अब तो इन प्राणों की ये दशा है कि ये शरीर में पड़े रहकर भी न होने के समान हैं। विरह ने हमें इस दशा में लाकर पटक दिया है। अवम वह तिथि है जो पत्रा में लिखी तो जाती है परन्तु जिसकी गणना नहीं की जाती ऐसी क्षय तिथि के समान प्राण विरहिणी के तन में पड़े हुए हैं। यह उक्ति बहुत ही मार्मिक है, काव्योपयोगी और व्यथा व्यञ्जक दोनों ही। ऐसी विरहिणी विरह-जनित कृशता के कारण बुझते हुए दीपक की तरह जब जब प्रज्ज्वलित और चैतन्य हो उठती है तभी तब उसके अस्तित्व का बोध हो पाता है अन्यथा नहीं—

नेकु न जानी परत यों, पर्‌यो विरह तन छाम।
उठति दिया लौं नादि हरि, लिये तिहारो नाम॥

इस प्रकार बिहारी ने संयोग वियोगात्मक प्रणय के उभय पक्षों का विस्तृत निदर्शन किया है जो अपनी कलात्मकता में अतिशय कमनीय और मार्मिकता में अतिशय संवेदनशील बन पड़ा है। अपनी शृंगारी वृत्ति, रसिकता, काव्यगत कौशल और मार्मिक वाग्वैदग्ध्य के कारण बिहारी रीतियुग क्या हिन्दी के अन्यतम मुक्तककार कवियों के बीच प्रतिष्ठित हैं। उनके काव्य की विशद भावविभूति का अत्यल्प विश्लेषण ही यहाँ पर सम्भव हो सका है।

भक्ति भावना

बिहारी हिन्दी साहित्य में एक शृङ्गारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा वे रीति काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में रक्खे जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनको काव्य-सृष्टि का अधिकांश शृङ्गार ही है किन्तु अन्य विषय भी उसमें मिलेंगे और शृङ्गारेत्तर विषयों में भक्ति की एक निश्चित धारा उनके काव्य में मिलतो है। यह धारा पृथुल भले ही न हो किन्तु भक्ति की पुनीत भावना का जल उसमें अवश्य बहता मिलेगा।

जिस युग में बिहारी अपने दोहों की रचना कर रहे थे वह आस्थावादी युग था। ईश्वर उस काल के मनुष्यों के लिए एक ठोस अवलम्ब था, विशेष रूप से उस काल के कवि तो जीवन भर चाहे जिस रस से नहाते रहें अन्त काल में उन्हें भगवान ही एक मात्र अवलम्ब के रूप में मिला करता था। केशव, मतिराम, सेनापति, दास, पद्माकर आदि की रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं। दूसरे, मन का प्रेम की जो सहज भूख हुआ करती थी वह जब ससार में कहीं भी प्रशमित न हो पाती थी तो उसकी शांति के लिये भगवान ही अक्षय कोष के रूप में मिलता था। तीसरे, यह कि भक्ति की जो पुनीत मंदाकिनी सूर और तुलसी ऐसे भावुक भक्तों की वाणी से स्फुरित हुई उसका प्रभाव उनके समय में तो पड़ा ही साथ ही वह धारा रीतिकाल के अन्त तक यहाँ तक कि

आधुनिक काल के प्रारम्भ तक चली आई है । अनेकानेक भक्तिकालीन भक्तों की भावनाएँ रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में भी बहुत कुछ वही उन्मेष लिये हुए मिलती हैं । जैसे मतिराम की यह उक्ति —

मो मन होत रहै मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ।
ह्वै बनमाल गरें रहियै अरु ह्वै मुरली अधरा रसु पीजै ।।

अथवा सेनापति का यह कथन—

बानारसी जाइ मनिकर्निका अन्हाइ,
मोहिं शंकर सों राम नाम साँ‍िबे को मनु है ।

बिहारी भी इसी स्वर में गाते दिखाई देते हैं, उनके शृङ्गार का भक्ति से विरोध नहीं है । एक ही मन सांसारिक प्रीति में लिप्त रह सकता है, और ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम भी रख सकता है, हाँ यह अवश्य है कि बिहारी तथा सदृश रीति कवियों में भगवत्प्रीति की वह उच्छल धारा और वैसी शुभ्रता जैसी हिन्दी के भक्त कवीश्वरों में देखी जाती है, नहीं मिलती । इसका कारण उस परानुरक्ति का अभाव है जो सूर, मीरा आदि की रचनाओं को प्रेम के उन्माद से भर देती है ।

बिहारी सगुण के भक्त थे अथवा निर्गुण के इस बात का निर्णय कठिन नहीं है । दो-चार दोहे जिनमें उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है काफी नहीं है जिनके आधार पर उन्हें निर्गुनियाँ सन्तों की परम्परा में गिना जा सके—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट ही चंग रंग गोपाल ।।

इसमें निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता की ही ओर संकेत है, उसकी विभूति सृष्टि के कण-कण में समाई हुई है ऐसा तो सूर और तुलसी ने भी कहा है लेकिन जिस प्रकार उन्होंने निर्गुण की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी अपने तथा साधारण जीवों के लिये (योग और ज्ञान का पंथ जिनके लिये दुष्कर है) अगम और दुष्प्राप्य ठहराया है और कहा है—

रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावै ।।

बिहारी भी इसी प्रकार कहते हैं कि अनुमान-प्रमाण और श्रुति-प्रमाण के अनुसार ईश्वर की गति सूक्ष्म और अदृश्य है—

सूछम गति परब्रह्म की अलख लखी नहि जाइ ।

इसीलिए वे भी ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करते हैं और उसके प्रति भक्ति-भावना से भरकर कहते हैं—

मोहू दीजै मोषु जो अनेक पतितन दियौ ।
जौ बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननि ।।

इस प्रकार भक्त बिहारी ईश्वर में गुणों का आरोप करते हैं तथा अपने लिए भी यही चाहते हैं कि ईश्वर की कृपा से मेरे अन्दर भी ईश्वरीय गुण प्रतिष्ठित हो जायँ।

कुछ लोगों ने बिहारी को श्री हित हरिवंश द्वारा संस्थापित राधावल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित भक्त माना है। उनके काव्य में अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमें श्री राधिका जी के प्रति कवि की अनन्य निष्ठा दर्शनीय है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह निष्ठा उन्हें संस्कृत और हिन्दी की काव्य परम्परा से प्राप्त हुई है। ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्म पुराण, जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डी दास की कविताएँ, मैथिल कोकिल विद्यापति और सूरदास की रचनाएँ—जिनमें भगवान कृष्ण की अह्लादिनी शक्ति के रूप में श्रीराधिका जी स्वीकृत हुई हैं—बिहारी की राधा भक्ति की प्रेरणा का स्रोत मानी जा सकती हैं सतसई में बिहारी की हृद्‌गत भक्ति-भावना कृष्ण के प्रति ही मुख्य रूप से धावित होती हुई दिखाई देती है तथा उनको प्रियतमा होने के कारण अपनी इष्ट देवी के प्रति बिहारी लाल ने यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित किया है। अपने आराध्य देव और देवी के प्रति उनकी यह सम्मान भावना इस हद तक मिलेगी कि उन्होंने इनके साथ श्रृंगार हास्य आदि का संयत रूप ही प्रस्तुत किया है। उनके श्रृंगार में संयम का बन्ध यदि कहीं टूटा है तो सामान्य नायक-नायिका वर्णन के प्रसंगों में ही। बिहारी ने अपने मंगलाचार्य में राधिका की प्रशंसा की है और उनकी पापहारिणी शक्ति के प्रति आस्था रखते हुए अपने लिये भव बन्धन से मुक्ति की याचना की है। एक दोहे में उन्होंने राधा और कृष्ण को अत्यन्त पवित्र रूप में स्मरण किया है---

तजि तीरथ हरि-राधिका तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयाग।।

एक अन्य दोहे में उन्होंने उनके सौंदर्य और श्री का अद्‌भुत प्रभाव स्वीकार करते हुए कहा है—

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगुलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक।।

कहीं पर चाँदनी रात में राधा और कृष्ण के एक साथ चलने का, कहीं पर राधिका के मान करने और कृष्ण के उनके पैरों पर गिरने का वर्णन किया है [1]। बिहारी ने अपने आराध्य श्री कृष्ण की छवि का, उनकी लीलाओं का तथा उनकी जनरक्षक प्रकृति का भी चित्रण किया है। भक्ति सम्बन्धी जो दोहे उन्होंने लिखे हैं उनमें एक में

---

[1] मिलि परछाहीं जोन्ह सों रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही चले गली में जात।।
मोर चन्द्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबी पायनि पै लुठत, सुनियत राधा मान।।

तो उन्होंने बहुत ही स्पष्ट रूप से कह दिया है कि हे भगवान तुम इस रूप में हमारे मन में बसो —

> सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल ।
> इहिं बानक मो मन बसो सदा बिहारी लाल ।।

दोहे की संकीर्ण सीमा के बीच भगवान का पूरा स्वरूप खींचने में बिहारी ने जहाँ अपने चित्रांकन कौशल का प्रदर्शन किया है वहीं अपने को प्रिय लगने वाली भगवान की मुद्रा भी बतला दी है । यह बात भी भक्तों की प्रकृति और भावना के अनुरूप ही है । भक्त जन जिस ईश्वरीय रूप की भावना किया करते हैं उसकी एक छबि विशेष, एक मुद्रा विशेष उनके मन में सदा घूमती रहती है और उनकी यही सतत अभिलाषा रहती है कि भगवान का वह स्वरूप उनके मन में सदा अंकित रहे ।

बिहारी ने अपने परम प्रिय और आराध्य श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण छवि का चित्रण नहीं किया है जो होना चाहिये था । सूर तुलसी आदि भक्तों ने अपने इष्ट देव के सौन्दर्य का रूप चित्रण द्वारा अनेक स्थलों पर पूर्ण साक्षात्कार कराने की सफल चेष्टा की है । मीरा, रसखान और भारतेन्दु में भी यही बात है किन्तु बिहारी ने ऐसा नहीं किया है, उन्होंने अपने परमप्रिय श्रीकृष्ण के स्वरूप की किन्हीं विशेषताओं की ओर हमारे ध्यान को आकर्षित भर कर दिया है । श्रीकृष्ण गुंजों की माला पहना करते थे और मुरली लिए रहते थे, मोर पंखों का मुकुट उन्हें विशेष प्रिय था । इसी कारण उन्होंने समूची सतसई में केवल चार ही दोहे ऐसे लिखे जिनमें बिहारी के मन में बसे कृष्ण का रूप स्पष्ट होता है—

> सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल ।
> बाहर लसत मनौ पिये दवानल की ज्वाल ।।
> सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात ।
> मनौ नीलमणि शैल पर आतप परयौ प्रभात ।।
> अधर धरत हरि के परत ओंठ दीठि पट-ज्योति ।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र धनुष रंग होति ।।
> मोर मुकुट की चंद्रिकनि यौं राजत नँद नंद ।
> मनु शशि शेखर की अकस किय सेखर सत चंद ।।

इस प्रकार से बिहारी ने पहले तो अपने मन को लोक लगने वाली भगवान की मुद्रा का चित्रण किया है और बाद में उस मुद्रा के अन्तर्गत आकर्षण रखने वाले उपकरणों को एकत्र करके चित्रित किया है । यह चित्रण अत्यन्त ऐश्वर्य पूर्ण है और साथ ही साथ कृष्ण की असीम शक्ति का प्रकाशक भी । जहाँ बिहारी यह कहते हैं कि सलोने गात वाले श्रीकृष्ण पीत पट ओढ़े ऐसी शोभा देते हैं जैसे नीलमणि शैल पर प्रभातकालीन सूर्य की किरणें अथवा जहाँ वे यह लिखते हैं कि कृष्ण के अधरों पर

बसने वाली मुरली उनके अधरों के अरुण, नेत्रों के श्वेत, श्याम और रतनार तथा पीताम्बर की पीत और स्वयं अपनी हरित वर्णच्छटा से अलंकृत हो इन्द्रधनुष-सी लगने लगती है वहाँ उन्होंने अपनी ऐश्वर्यमयी कल्पना शक्ति का पूर्ण प्रकाशन किया है। साथ ही कृष्ण के रूप का चित्रण करते हुए जहाँ उन्होंने कृष्ण के हृदय पर रहने वाली गुँजों की माला का वर्णन किया है वहाँ इस बात की कल्पना की है कि वह माला मानों कृष्ण के द्वारा पान की गई दावानल की फूटकर बाहर आनेवाली आभा है। जहाँ उन्होंने अनेक मयूर चन्द्रिकाओं से अलंकृत कृष्ण के रूप की कल्पना की है वहाँ इस बात का संकेत किया है कि कृष्ण चन्द्रमौलि से सैकड़ों गुना अधिक रूपवान और ओजशील हैं। इन दो चित्रों में कृष्ण के रूप के साथ-साथ उनकी विविध शक्तियों की ओर भी संकेत मिलता है। इस प्रकार बिहारी ने यद्यपि कृष्ण का किन्हीं मुद्रागत विशेषताओं का ही उल्लेख किया है किन्तु जो कुछ भी है वह अत्यन्त प्रभावशाली है। उत्प्रेक्षा के द्वारा उन्होंने कृष्ण का रूप चित्रण करते हुए उनके रूप की भावना को उत्कर्ष देने की चेष्टा की है। यदि उन्होंने अपने आराध्य के रूप का विशद वर्णन किया होता तो और भी अच्छा होता।

श्रीकृष्ण की कुछ लीलाओं का बड़े रोचक ढंग से बिहारी ने चित्रण किया है, उदाहरण के लिये गोवर्धन लीला, दान लीला, रासलीला और वेणुवादन लीला।

गोवर्धन लीला—कोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै जो, गोपी, गोपाल॥
डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किशोरी दरस तें खरे लजाने लाल॥

दान लीला — लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जाहि।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं॥

रास लीला — गोपिन सँग निसि सरद की रमत रसिक रसरास।
लहाछेह अति गतिन की सबनि लखे सब पास॥

वेणु लीला — किती न गोकुल कुलवधू काहि न किहि सुखदीन।
कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुरलीन॥

वास्तव में बिहारी का उद्देश्य भगवान कृष्ण की लीलाओं का चित्रण करना न था जैसा कि भक्त कवि सूरदास का रहा किन्तु बिहारी में श्रीकृष्ण की भक्ति थी चाहे परंपरागत काव्य के कारण, चाहे मध्य युगीन भक्ति भावापन्न वातावरण के कारण इसलिए उन्होंने कुछ दोहे ऐसे भी लिखे हैं जिनमें उनके आराध्य की लीलाओं का आलेखन हो गया है। लीलाओं का चित्रण करते हुए कवि ने उनकी ओर संकेत मात्र किया है। विशद रूप से कृष्ण लीला का चित्रण उनका उद्देश्य भी नहीं था। गोवर्धन

धारण लीला चित्रित कर कवि ने कृष्ण को जनरक्षण-शक्ति का आभास कराया है। शेष लीलाओं के चित्रण में शृङ्गार का अनिवार्य पुट मिलता है। किशोर तथा वय-प्राप्त कृष्ण की मुग्ध कर देने वाली लीलाएँ शृङ्गारावलंबित ही हैं इसी कारण बिहारी की दृष्टि उन तक ही गई। इस क्षेत्र में हम बिहारी को आगे बढ़ा हुआ नहीं पाते।

जहाँ तक बिहारी की भक्ति-भावना का प्रश्न है यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनके काव्य से उनकी त्रिविध भक्ति-भावना के प्रमाण मिलते हैं--दास्य, साख्य और माधुर्य। सच्ची भक्ति का अर्थ ही दास्य वृत्ति से होता है जैसा कि भक्तप्रवर तुलसीदास जी ने कहा है 'सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि।' हम जिसकी भक्ति करते हैं, वह हमसे बड़ा है, हमारी कल्पना में उससे बड़ा संसार में दूसरा नहीं और हम छोटे हैं, इतने क्षुद्र कि हमसे पतित और तुच्छ प्राणी संसार में दूसरा नहीं। यही भक्ति का प्रथम सोपान है। सभी प्रकार की भक्ति इसी भावना से प्रारंभ होती हैं। बिहारी यह जानते हैं कि उन्होंने अपने जीवन में पाप किये हैं, हरि-भजन से अपने को दूर रक्खा है और यह उसी का परिणाम है कि आज अपने उद्धार के लिये उन्हें भगवान की शरण में जाना पड़ रहा है। उनको विवशता और दीनता उनके इस विनय के दोहे में देखिए---

> हरि कीजत तुमसे यहै बिनती बार हजार।
> जेहि तेहि भाँति डरो रहौं परो रहौं दरबार ।।

यहाँ पर कवि ने भगवान के दरबार में पड़े रहने की आकांक्षा व्यक्त करते हुए एक प्रकार से सालोक्य मुक्ति की कामना की है। भक्त बिहारी के लिये भक्ति के क्षेत्र में आ जाने पर धन-दौलत का कोई मूल्य नहीं रह जाता—

> तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय।
> जौ पति संपति हू बिना रघुपति राखे जाय ।।

वे कहते हैं कि कोई करोड़ों की संपत्ति जुटाए, कोई हजार लाख की, लेकिन 'मो सम्पति जदुपति सदा बिपति बिदारन हार'। यहाँ पर कवि की निश्छल और सेव्य-सेवक-भाव की भक्ति लक्षित होती है। वे प्रार्थना करते हैं कि मेरे अवगुणों को मत देखिए और गिनिये, केवल मन में मेरे लिये करुणा ले आइये। दास्य-भावना वाले भक्त की भाँति बिहारी यह भली भाँति जानते हैं कि उनके कर्म ऐसे नहीं हैं जिन्हें देखते हुए उनका उद्धार हो सके लेकिन उन्हें भगवान की सीमातीत करुणा में विश्वास है—

> निज करनी सकुचौंहि कत सकुचावत यहि चाल।
> मोहूँ से अति बिमुख त्यों सन्मुख रहि गोपाल ।।

ऐसे भी अनेक दोहे हैं जिनमें बिहारी ने भगवान को निःसंकोच होकर कुछ भला-बुरा कहा है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह प्रेम और प्रतीति में लिपटकर आया है।

ऐसा बिहारीलाल जी इसीलिए कह भी सके हैं क्योंकि उनके हृदय में कृष्ण के लिए अत्यन्त अनुराग था। कहीं तो उन्होंने ईश्वर के विरद-प्रेम और अकर्मण्यता की ओर इशारा भी किया है और कहीं संसार की दूषित वायु से प्रभावित बतलाया है तथा कहीं उन्हें चुनौती भी दी है। श्रीकृष्ण को अपने मित्र के समान मानकर बिहारी ने यहाँ तक कहा है—

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की दुहुँन निबाहन लाज।।

एक अन्य दोहे में कवि ने बड़ी सुन्दरता से कृष्ण के प्रति व्यंग किया है—

नीकी दई अनाकनो फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरद बारक बारन तारि।।

एक बार भगवान ने गजेन्द्र को मोक्ष क्या दे दिया जैसे हमेशा के लिए अचल कीर्ति का पट्टा लिखा लिया। 'शरणागत को उबारने वाले' की प्रतिष्ठा प्राप्त करके बड़प्पन के झूठे मोह में श्री कृष्ण फूले-फूले फिरते हैं—इस मिथ्याभिमान की ओर भी कवि ने भगवान का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया है और यह भी कहा है कि पहले तो तुम कुछ गुणों पर ही रीझकर कृपालु हुआ करते थे किन्तु अब तो बात ही बदल गई है—

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु जग नायक जगबाय।।

ऐसी उक्ति द्वारा बड़ी ही कुशलता से कवि भगवान कृष्ण को आजकल के-से दानियों की कोटि में घसीट लाया है—'तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज कालिह के दानि।' एक मित्र के साथ जैसा व्यवहार हम करते हैं ठीक वसा ही व्यवहार इन दोहों में बिहारीलाल जो अपने भगवान के प्रति करते देखे जाते हैं। एकाध स्थल पर तो वे अपनी दुर्वृत्तियों और कुटिलताओं को न छोड़ने तक की बात करते हैं—

करौं कुबत जग कुटलता तजौं न दीन दयाल।
दुखो होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल।।

अथवा

ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होउँगौ हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन है मो तारिबो गुपाल।

बिहारी की इस प्रकार की उक्तियों में बड़ा अपनापन है। इनका अर्थ अभिधा में नहीं किया जा सकता। वास्तव में बिहारी के कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि वे अपने दुर्गुणों को नहीं छोड़ना चाहते, इस प्रकार के कथनों में तो वे अपने सखा भगवान के साथ विनोद या खिलवाड़ करते दिखाई देते हैं और यह खिलवाड़ है भी

मन को मुग्ध कर लेने वाला। इस सम्बन्ध में बिहारी की स्पष्ट धारणा अन्यत्र देखी जा सकती है जब वे कहते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं केहि बाट।
विकट जुटे जौ लगि निपट खुलैं न कपाट-कपाट ॥

भक्ति के सम्बन्ध में उनका वास्तविक मत तो यह है किन्तु जैसा पहिले कहा जा चुका है भक्त की ओर से भगवान के लिए हास-परिहास एवं विनोदपूर्ण बातें तभी कही जा सकती हैं जब भक्त के हृदय की प्रेम-भावना और निष्ठा एक सीमा तक पहुँच गई हो, उस सीमा को बिहारी का हृदय निश्चय ही पहुँच गया था तभी वे सख्य-भावना और भक्ति-रस से ओत-प्रोत ऐसे दोहे लिख सके हैं—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥

किन्हीं-किन्हीं दोहों में बिहारी की भगवत्प्रीति माधुर्य-भाव में परिणत हुई दृष्टिगत होती है। कुछ दोहे ऐसे हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगने लगता है जैसे कान्ता-भाव से कवि अपने आराध्य का स्मरण कर रहा हो—

जहाँ जहाँ ठाढ़यो लख्यो स्याम सुभग सिर मौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहुँ वह ठौर ॥
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर ॥
नाच अचानक ही उठे बिन पावस बन मोर।
जानति हौं नंदित करी यहि दिसि नंद किसोर ॥

इस प्रकार के और भी दोहे सतसई से ढूँढ़े जा सकते हैं। । मुक्तक काव्य में पाठक को नए-नए प्रसंगों के आरोपण की सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है इसीलिए कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि बिहारी के किन्हीं दोहों को अर्थकर्ताओं ने विभिन्न प्रसंगों में ग्रहण करते हुए श्रृंगार, वात्सल्य, वीर आदि विविध रसों की व्यंजना करने वाला बताया है। लेकिन बिहारी की भक्ति-भावना को दृष्टि में रखते हुए बिना किसी खींचतान के यह तो कहा ही जा सकता है कि बिहारी में अनेक ऐसे दोहे हैं जिनमें बिहारी ने अपनी प्रीति की प्रगाढ़ भावना किसी गोपिका की उक्ति के रूप में प्रस्तुत की है। उसे हम बिहारी की गोपीभाव (माधुर्य भाव या कान्ता भाव) की भक्ति कह सकते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारी की कविता में भक्ति का एक छोटा किन्तु निर्मल स्रोत बह रहा है। हम कितनी भी तर्क और श्रृंगार-बुद्धि के साथ बिहारी को पढ़ें उपर्युक्त दोहों में प्रकट भक्ति की उच्छल

भावना निश्चय ही असंदिग्ध है। सूर और तुलसी के समान बिहारी भी राम और कृष्ण को भिन्न नहीं मानते। इस कथन के प्रमाण रूप में निम्नलिखित दोहा पर्याप्त होगा।

यह बिरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन कीन्हें पार पयोधि॥

बिहारी ने अपना भक्ति-भावना का निवेदन मात्र नहीं किया है। सच्चे भक्तों की भाँति उन्होंने कुछ उपदेश भी दिया है। अपने जीवन के अनुभवों के बल पर वे भी हमारे समक्ष संसार का मूल तत्व प्रस्तुत करते हुए पाए जाते हैं—

ब्रजबासिन कौ उचित धन जो धन-रुचित न कोय।
सुचित न आयौ सुचितई कहौ कहाँ ते होय॥

बिहारी कभी तो यह कहते हैं कि दुख में लम्बी साँसें मत लो और सुख में ईश्वर को न भूलो, कभी अपकर्मों से दूर हटने और भगवान का भजन करने की बात कहते हैं, कभी 'तिय-छवि छाया-ग्राहिनी' से बचकर चलने की बात करते हैं और कभी निष्कपट होकर भगवान से लौ लगाने की बात करते है। बाह्याडम्बरों के वे वैसे ही विरोधी थे जैसे कबीर—

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम॥

बिहारी ने संसार की करालता का अनुभव करके हमें जो भक्ति का संदेश दिया है उसका स्वर श्रृंगारिकता के आगे मन्द अवश्य है किन्तु वह प्रभावहीन नहीं। उन्होंने द्विधाहीन भाषा में कहा है—

जमकरि मुँह तरहरि पर्‌यौ यह धरि हरि चित लाउ।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

बिहारी ने भक्ति की है तथा भक्ति के पुनीत पथ पर चलने का उपदेश भी दिया है।

नीति–चर्चा

महाकवि बिहारी के काव्य का महत्व प्रमुख रूप से उनकी श्रृङ्गारी रचनाओं के कारण ही माना गया है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सात सौ दोहों के बीच केवल सौ से कम दोहे ही ऐसे मिलेंगे जिनमें श्रृङ्गार से इतर विषयों पर कवि की लेखनी चली है किन्तु श्रृङ्गार से अवशिष्ट इन दोहों पर ध्यान देने से यह बात भी स्पष्टतया ज्ञात होती है कि बिहारी सूक्ष्मदर्शी थे। कोरी श्रृङ्गारिकता ही उनके जीवन का सर्वस्व न थी, वे भक्त भी थे और साथ ही जगत और जीवन के सूक्ष्म द्रष्टा। मानव मन और मानव-प्रकृति का उन्हें सच्चा ज्ञान था तथा उनके कहने में एक अमोघ शक्ति थी जो सुनने वाले को बिद्ध किये बिना न रहती थी। जयपुराधीश जयसिंह

का सारा भोगविलास बिहारी ने अपने एक ही बाण से हर लिया था और उन्हीं महाराज ने जब कान के कच्चे होकर बिहारी की ओर से अपना मन फेर लिया तो बिहारी ने अपने दूसरे शर का संधान किया था और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह बाण व्यर्थ गया होगा। बिहारी और उनके आश्रयदाता के जीवन की इन घटनाओं से बिहारी की काव्य-शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। बिहारी के कवित्व-कौशल की बात जाने दीजिए वह तो उनके काव्य की प्राण-शक्ति ही है, रचना चाहे शृङ्गार की हो चाहे अन्य किसी विषय की।

बिहारी की जिन रचनाओं को नीतिपरक कहा जाता है उनमें कतिपय बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। उन्होंने मानव प्रकृति को लेकर बहुत कुछ कहा है। सज्जनों और दुर्जनों, सुसंगति और कुसंगति उदार और कृपण, नागरिकों और ग्रामीणों, लोभियों और संतोषियों को अपनी रचना के वर्ण्य के रूप में स्वीकार किया है। गुणी और निर्गुण, योग्य और अयोग्य, कलाविद् और अरसिक, मित्रता और साहचर्य, श्रेष्ठ और हीन, धनी और निर्धन भी उनकी कविता के विषय बने हैं। भले ही ऐसी रचनाएँ परिमाण में कम हों किन्तु शृङ्गार की संकीर्ण सीमा से बाहर निकलने की स्पृहा के स्पष्ट लक्षण हमें बिहारी में मिलते हैं। कुछ बातें सम्भव हैं सुने सुनाए ज्ञान अथवा प्राचीन साहित्य से गृहीत हों किन्तु अनेक बातें ऐसी भी हैं जिन्हें बिहारी ने अपने वैयक्तिक जीवन के अनुभवों के भंडार से निकाल कर हमें समर्पित किया है और जिनसे सचमुच ही साहित्य की भावनिधि समृद्ध हुई है।—

बिहारी के नीति-काव्य की जब हम बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य यहां नहीं है कि बिहारी ने आचार-शास्त्र प्रस्तुत किया है तथा जीवन के व्यावहारिक नियम की स्थापना की है वरन् अभिप्राय यह है कि जीवन की शाला में परीक्षित प्रयोगों से प्राप्त सत्यों का उन्होंने उद्घाटन किया है। अनेक अवसरों पर उन्होंने स्वानुभव-बल से सांसारिकों की प्रकृति का रहस्य समझा दिया है तथा मानव-मन की नाना वृत्तियों का विश्लेषण भी कर दिया है। इस प्रकार का अनुभवजन्य ज्ञान काव्य के माध्यम से व्यक्त होकर मानव कल्याण का विधायक होता है। कभी-कभी बिहारी लाल जी ने आवश्यकतानुसार उपदेश भी दिये हैं और बड़ी ही प्रिय वाणी में जिन्हें हम आचार्य मम्मट के शब्दों में 'कान्ता सम्मित' कह सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि बिहारी कवि-कर्म के सच्चे और पूरे जानकार थे तभी तो उन्होंने ऐसी तत्वपूर्ण पंक्तियाँ हमें दी हैं—

दयौ सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अएरि।
जासौं सुख चाहत लियो ताके दुखहिं न फेरि॥

मानव प्रकृति का विश्लेषण करते हुए बिहारी लाल जी ने बतलाया है कि सद् और असद् ये दो प्रकृतियाँ मनुष्य में काम करती है लेकिन मनुष्य का व्यक्तित्व एक बार

जहाँ बन गया फिर समझिये वह लगभग अपरिवर्तनीय ही हो जाता है। सद् प्रवृत्तियों से परिचालित मनुष्य चकोर की भाँति दृढ़व्रती होते हैं—

चित दै चितै चकोर त्यों तीजै भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की चुगै कि चन्द मयूख।।

वे या तो अपनी अभीष्ट वस्तु को स्वीकार करते हैं अथवा उसकी अप्राप्ति में घोर दुःख ही सहते हैं परन्तु वे लक्ष्यच्युत नहीं होते। किसी अन्य वस्तु से उनका प्रयोजन नहीं हुआ करता। यह बात उनके समूचे व्यक्तित्व में देखी जा सकती है। यदि वे प्रेम करते हैं तो उसमें भी एक गंभीरता होती है, उसमें छिछलापन कभी नहीं मिलेगा। उनका प्रेम ऐसा सदाजीवी और चटकीला हुआ करता है जैसे चोल या मजीठ के रंग में रँगा हुआ कपड़ा[१]। विनीत सज्जन का प्रथम लक्षण है और उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण भी—

नर की अरु नलनीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ।।

दुर्जनों की प्रकृति ठीक इसके विपरीत हुआ करती है, यदि वे विनत होते दिखाई दें तो समझना चाहिए कि इसमें भी उनकी कोई चाल या दुष्टता है। उनका विश्वास नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि प्रत्यक्षतः नम्र होने पर भी वे घातक हो सकते हैं। ऐसे जीवों से हमें बिहारी लाल जी सचेत करते हैं—

न ये बिससिये लखि नये दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, काँटे लौं लगि पाय।।

नीच व्यक्ति का कितना ही निरादर हो अथवा उसे कितनी ही यातना दी जाय, उसकी कुटिलता नहीं छूटती, इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से ही नीच है उसके स्वभाव में परिवर्तन असम्भव है। उसकी तुलना बिहारी ने गेंद से की है[२]। यदि निकृष्ट व्यक्ति सुधार या उन्नति के लक्षण प्रदर्शित करे तो भी भ्रम में न पड़ना चाहिए, अन्ततोगत्वा वह फिर अपनी ही प्रकृति पर आ जायगा—

कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै तऊ नीच को नीच।।

यहाँ पर बिहारी की औपम्य-दृष्टि की सराहना करते ही बनती है 'नर की अरु नल नीर की' वाले दोहे में भी 'नल जल' की उपमा दी गई है। अपूर्व-कौशल के साथ कवि ने

---

[१]चटक न छाँटत घटत हू सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै; रँग्यो चोल रँग चीर।
[२]नीच हिये हुलस्यो रहै, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारिये त्यों त्यों ऊँचो होत।।

एक ही उपमा को सज्जन और दुर्जन दोनों पक्षों में सार्थक कर दिया है। यहाँ उक्ति और युक्ति दोनों का चमत्कार मिलेगा। ऐसे दुष्ट जनों पर किसी भी प्रकार का सद्-प्रभाव डालने की चेष्टा विफल ही होगी। इस बात को कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण द्वारा स्थापित किया है—

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं हींग न होत सुगंध ॥

जिन लोगों ने कुमति का पेशा ही अख्तियार कर लिया है उन्हें सत्संगति का असर नहीं ही हो सकता। बिहारी की यह उक्ति रहीम की इस उक्ति के मेल में है—

चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग। (रहीम)

दुष्ट के सम्बन्ध में बिहारी का अंतिम निश्चय है कि दुष्ट दुष्ट ही रहेगा। यह बात उन्होंने अनेक बार अनेक रूपों में कही है। एक बार वे इसके विपरीत स्थिति की भी कल्पना करते हैं कि कहीं दुष्ट अपनी प्रकृति बदल दे तो क्या हो? उस स्थिति में बिहारी का अनुभव यह है कि संसार उसके प्रति सशंकित ही रहेगा और इस कथन की पुष्टि में उनकी सादृश्य विधायिनी बुद्धि ज्योतिष की दुनियाँ से एक सुन्दर उदाहरण ढूँढ़ करके ले आई है—

बुरौ बुराई जौ तजै तौ चित खरौ सकातु।
ज्यौं निकलंक मयंक लखि गनैं लोग उतपातु ॥

एक अन्य छन्द में कवि ने श्रेष्ठ और नीच नरों की प्रकृति की विपरीतता एक ही स्थान पर उदाहरण सहित विश्लेषित कर दी है। 'केश तथा श्रेष्ठ पद वाले नर संपत्ति में नवते हैं, दोनों की एक ही प्रकृति है। पर कुच तथा नीच नर विभव में तनेने और विभव की हानि में नरम हो जाते हैं'—

संपति केस सुदेस नर नवत दुहुनि इक बानि।
विभव सतर कुच, नीच नर, नरम विभव की हानि ॥

यहाँ तक तो दुर्जनों और सज्जनों की बात हुई उनके प्रकृति की कतिपय विशेषताओं का उद्घाटन हुआ। अब हमें यह देखना है कि सामान्य मानव-मन की प्रवृत्तियाँ बिहारी के दोहों में किस प्रकार विश्लेषित हुई हैं। बिहारी की नीति विषयक रचनाओं में मानव-मन का विश्लेषण एकांगी रूप में ही हुआ है। धन संपदा के संसर्ग से मनुष्य की आचरण-विधि क्या और कैसी हुआ करती है इसी विषय पर बिहारी ने कुछ कहा है। शृंगार के प्रसंग में प्रेमपूर्ण नायक और नायिका का मन क्या और कैसा अनुभव करता है अथवा भक्ति के क्षेत्र में भक्त की भगवान के प्रति क्या भावना होती है तथा उसका चित्रण कैसा हुआ है उसकी चर्चा पहले ही की गई है। वे कहते हैं कि धन के बढ़ने से आदमी का मन भी बढ़ जाता है। आगे चलकर धन यदि न भी रहे तो मन नहीं घटता, वह ज्यों का त्यों अधिक ऐश्वर्य-लिप्सु ही रहता है

और यह ठीक भी है। अधिक धन प्राप्त करने से मनुष्य का जीवन-स्तर सामान्यतया उठ जाया करता है, एक बार गरीबी फिर आ जाय तो भी अधिक सुख का अभ्यस्त मन दु:ख सहकर मुरझा जाना अधिक पसंद करता है अपेक्षा इसके कि वह दरिद्र का-सा गलित जीवन व्यतीत करे। जिस दोहे में बिहारी ने जीवन की स्वस्थ विधि का निर्देशन किया है[1] वह उक्त मनोवृत्ति के मेल में ही है। उक्त कथन की पुष्टि में कमल की बड़ी सुन्दर उपमा दी गई है—

> बढ़त बढ़त सम्पति सलिल मन सरोज बढ़ि जाय।
> घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुम्हलाय॥

इसी प्रकार एक अन्य दोहे में वे लिखते हैं कि धन जब आने लगता है तो मनुष्य धैर्य खो देता है, वह चाहने लगता है कि कौन-कौन उपाय किये जाँय जिनसे धन अधिकाधिक मात्रा में शीघ्र से शीघ्र प्राप्त हो जाय। उसकी दशा ठीक सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी के मालिक की भाँति हो जाती है—

> जात जात बित होत है ज्यौं जिय मैं सन्तोषु।
> होत होत त्यौं होय तौ होय घरी मैं मोषु॥

यह कहकर कि धन नष्ट होने या लुट जाने पर मन में जिस प्रकार धीरे-धीरे आदमी संतोष कर लेता है, उसकी प्राप्ति पर भी यदि वह उसी तरह सन्तोष वृत्ति धारण करे अर्थात उचित अनुचित का ध्यान छोड़ धन एकत्र करने में न लगे तो उसका उद्धार हो जाय। कवि ने एक तो मनुष्य के धन-लोभी अधीर मन की व्याख्या की है दूसरी ओर यह उपदेश भी दिया है कि धन पाकर मनुष्य को लोभ पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करनी चाहिए अन्यथा उसके कुपथगामी होने की सम्भावना है—
बिहारी ने यह भी बताया है कि धन पाकर आदमी बावला हो जाता है[2]।

लोभी और कृपण पर बिहारी की दृष्टि विशेष रूप से गई है। उन्होंने देखा होगा कि संसार में लोभी व्यक्ति किस प्रकार के होते हैं[3]। जिनकी प्रकृति ही लालची बन गई है वे अपनी आत्मा बेचकर घर-घर दीन बने डोलते हैं तथा महाक्षुद्र व्यक्ति भी उन्हें बहुत बड़ा प्रतीत होता है—

---

[1] मीत न नीति गलीत यह जो धरियै धन जोरि।
खाए खरचै जो जुरै तौ जोरियै करोरि॥

[2] कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय॥

[3] इहिं आसा अटक्यौ रहै अलि गुलाब कैं मूल।
ऐहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल॥

घर घर डोलत दीन ह्वै जन-जन जाँचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि लघु पुनि बड़ो लखाय ।।

इस प्रकार उन्होंने अनुभव किया कि लोभ का प्रचलन संसार में सर्वथा अनुचित है। इससे जड़ता और मूर्खता को ही प्रश्रय मिलता है। लोभ केवल धन का ही नहीं हुआ करता। पद का भी लोभ हो सकता है और कभी-कभी यहाँ तक देखा जाता है कि उच्चपद को लोग निरादर सहन करते हुए भी नहीं छोड़ते। यह बात एक शृंगारिक अन्योक्ति द्वारा बिहारी ने व्यंजित की है—

गहैं न नेकौ गुन गरब हँसै सकल संसार।
कुच उचपद लालच रहैं गरे परे हू हार ।।

कृपण व्यक्ति की मनोवृत्ति क्या होती है इस बात को भी कवि बिहारी ने शृंगार का एक उदाहरण देकर समझाया है। कृपण व्यक्ति के पास जितना अधिक धन होता जाता है वह उतना ही अधिक क्रूर और कठोर हृदय वाला (कंजूस) होता जाता है—

जेती संपति कृपन कौं तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज त्यों त्यों होत कठोर ।।

बिहारी के निजी अनुभव ने उन्हें यह बात कहने को बाध्य कर दिया कि संसार में जो बहुत सारा दुख-दैन्य छाया हुआ है उसका मूल कारण धन है। कुछ लोग धन पाकर कृपण हो जाते हैं, पद पाकर लोभी हो जाते हैं निर्दय और अहंकारी तक हो जाते हैं, अपनी सीमा और मर्यादा में नहीं रहते—

अरे परेखो को करै तुहीं बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियौ खरे बढ़े पर पारि ।।

ऐसे संसार को भला बनाने के उद्देश्य से ही बिहारी को संतोष-वृत्ति धारण करने का बार-बार उपदेश करना पड़ा है। वे हमारे सामने परम संतोषी कपोत का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसके जीवन की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित हैं और जिसके जीवन में सुख का अचल साम्राज्य रहा करता है[1]। यदि उस क्षुद्र पक्षी से मनुष्य इतना भी सीख ले तो उसका उद्धार हो जाय। सुख में अति प्रफुल्लित और दुःख में एकदम विचलित होने के भाव का भी बिहारी ने विरोध किया है—

दियो सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अएरि।
जापै सुख चाहत लियो ताके दुखहिं न फेरि ।।

इस प्रकार मानवीय प्रकृति का अन्तर्पट खोलते हुए जहाँ आवश्यकता पड़ी है उपदेश

---

[1] ८ट पाँखै भखु काँकरै सदा परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं एकै तुही विहंग ।।

के भी कुछ मधुर वाक्य बिहारी लिख गये हैं इससे सिद्ध है कि वे शृंगार में ही डूबने वाले जीव न थे वरन् उन्हें जगत की भी सुधि थी, वे उसके प्रति जागरूक थे, अंधे नहीं।

जिस प्रकार बिहारी ने सज्जन और दुर्जन तथा मनुष्य की धन-लिप्सा, पद-लिप्सा, अहंकार, कृपणता आदि को लेकर अपने अनुभवों को शब्दबद्ध किया है उसी प्रकार जगत के विषय में भी अपने कुछ अनुभव बतलाये हैं। भक्ति के प्रसंग में यह बतलाया ही जा चुका है कि बिहारी ने किस प्रकार अपने भगवान को 'जगबाय' से प्रभावित कहा है। उन व्यञ्जनाओं से प्रकट है कि संसार की हालत बिहारी के समय में अच्छी नहीं थी, कम से कम बिहारी अपने समय की दुनियाँ से संतुष्ट नहीं थे। तमाम चुगलखोर भरे हुए थे दुनियाँ में जो ईर्ष्यावश किसी की बढ़ती न देख सकते थे। स्वयं बिहारी को ईर्ष्यालु व्यक्तियों के कारण अपने आश्रयदाता की अपेक्षा सहनी पड़ी जिसका बड़ी सुन्दर व्यंजना उन्होंने अपनी इस प्रसिद्ध अन्योक्ति में की है—

स्वारथ सुकृत न स्रमु बृथा देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर तू पंछीनु न मारि॥

उन्होंने यह कहा है कि इस संसार में गँवार ही गँवार तो बसे हैं। अज्ञों की इस दुनियाँ में पंडितों और कलाविदों की कोई कदर नहीं। इस बात को अत्यन्त बलपूर्वक अनेक बार बड़ी सुन्दर रीति से बिहारी ने व्यक्त किया है—

सबै हँसत कर तारि दै नागरता के नाँव।
गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव॥
जदपि पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल।
नये भये तु कहा भयो, ये मनहरण मराल॥
अरे हंस या नगर में जैयो आप बिचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि कोकिल दई बिड़ारि॥

संसार ऐसा हो गया है कि सच्चे गुण की इज्जत करना तो दूर उल्टे उसका निरादर और अपमान तक होने लगा है। हंस नीर-क्षीर विवेकी है काग विष्ठा-भोजी लेकिन जगत काग के आदर में लगा हुआ है। काग हँस, कोकिल, बक आदि बड़े सुन्दर-सुन्दर प्रतीक हैं जिन्हें प्रकृति के क्षेत्र से चुनकर बिहारी ने अपने भावों को चुभने वाली शैली में व्यक्त किया है। अन्य अनेक दोहे ऐसे हैं जिनमें ये ही भाव विविध

विधियों से व्यक्त हुए हैं जैसे गाँव में गुलाब का फूलना[1] गँधी का गाँव में इत्र बेचना[2] अथवा गाँव में हाथियों का व्यापार करना[3] आदि। बिहारी का गाँव या नगर शब्द इस संसार का बोधक है जिसमें मूर्ख और अज्ञानी लोग बसे हुए हैं।

जगत के सम्बन्ध में बिहारी के काव्य में इसी प्रकार की दो-चार अनुभूतियाँ और भी मिल जाती हैं। बिहारी का कहना है कि इस दुनियाँ में जो आदमी भला है और किसी का अनिष्ट नहीं करता उससे तो लोग आश्वस्त रहते हैं और उसकी ओर ध्यान इसलिए नहीं देते कि वह कर ही क्या सकता है लेकिन जो दोषों और दुर्गुणों से भरे होते है ऐसे दुर्जनों के सामने हम लोग इस भय से झुक जाते हैं जिससे वे हमारी क्षति न करें। इस आशय के दोहे में बिहारी ने सज्जनों को शुभ ग्रहों और दुर्जनों को अशुभ अथवा पाप ग्रहों से उपमित किया है—

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सन्मानु।
भलो भलो कहि छाँड़िये खोटे ग्रह जपदानु।।

संसार में दो प्रबल शक्तियों का राज्य होना भी बिहारी ने अनिष्ट का बहुत बड़ा कारण बतलाया है। सूर्य और चन्द्र के एक राशि पर आने से अमावस्या को घोर अन्धकार होता है इसी प्रकार एक ही स्थान पर दोहरा शासन होने से लोग विपत्ति में पड़ जाते हैं। यह बात सभी जगह देखी जा सकती है—

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढ़ै दुख दुंद।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चन्द।।

इसी प्रकार से नीति की कितनी ही बातें बिहारी सूक्ष्म रूप से समझा गए हैं। जिन युक्तियों में नीति अथवा बुद्धिमत्ता अथवा जीवन में व्यवहार करने की चतुरता अथवा जीवनयापन की सुन्दर विधि बतलाई गई है उनमें थोड़ा-सा उपदेश भी मिलता है। उदाहरण के लिए देखिए—

विषम वृषादित की तृषा जियो मतीरनु सोधि।
अमित अपार अगाध जल मारौ मूढ़ पयोधि।।

इस उदाहरण द्वारा अन्योक्ति पद्धति पर कवि ने हमें यह समझाया है कि हमें अल्प किन्तु उत्तम पदार्थ से काम चला लेना चाहिए तथा अधिक किन्तु अयोग्य पदार्थ

---

[1] वे न यहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयौ गँवई गाँव गुलाब।।

[2] कर लै सूँघि सराहि कै रहैं सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गँवई गाहक कौन।।
करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मति अंध तू अतर दिखावत काहि।।

[3] चले जाहु ह्याँ को करत हाथिन को व्यापार।
नहिं जानत या पुर बसत धोबी ओड़ कुम्हार।।

का त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर वे जीवन की विधि का सुन्दर निर्देशन करते हैं—

मीत न नीति गलीत यह जो धरिये धन जोरि।
खाए खरचे जौ जुरै तौ जोरिए करोरि॥

यह उपदेश उनके नीति के दोहों में बड़ी मधुरता से रक्खा गया मिलता है। मित्रता किस प्रकार से स्थायित्व प्राप्त कर सकती है इसका उपाय बतलाते हुए बिहारी उपदेश करते है कि हमें धन की धूल से मित्रता ऐसी चिकनी वस्तु को बचाने को चेष्टा करनी चाहिये। कतिपय अन्य भाव जो बिहारी की नीति के अन्तर्गत आते हैं, इस प्रकार हैं—

(क) समान शील गुण वालों का ही संग शोभा देता है—

सोहत संग समान को यहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन बनै काजर नैनन जोग॥

(ख) बिना परिश्रम के फल प्राप्ति संभव नहीं अथवा बिना त्याग के लाभ संभव नहीं—

नहि पावस ऋतुराज यह सुनि तरिवर मत भूल।
अपत भए बिनु पाइये क्यों नव दल फल फूल॥

(ग) जहाँ जिसका काम निकले वही उसके लिए सब कुछ है—

अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय॥

(घ) निर्बल को सभी दबाते हैं—

कहै यहै सब स्त्रुति सुमृति यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही पातक राजा रोग॥

इसी प्रकार राजनीति के एक बड़े काम का सिद्धान्त है कि राजशासन की बागडोर सुदृढ़ रखने के लिए योग्य शासक को चाहिए कि वह अपने पक्ष के लोगों का एक दल बना ले और उनका अधिक सम्मान करे यह बात शृंगार का पुट देकर कही गई है—

अपने अंग के जानि कै जोबन नृपति प्रबीन।
स्तन मन नैन नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन॥

बिहारी लाल जी की नीति विषयक रचनाओं के बीच अनेक ऐसे दोहे भी आ गए हैं जिनमें कुछ सांसारिक सत्य कहे गए हैं उदाहरण के लिए उनका यह कहना कि बड़े लोग कितनी ही बड़ी गल्ती करें उनसे कोई कुछ नहीं कह सकता अथवा समय की परिवर्तनशीलता का लक्ष्य करना। सबसे बड़ी बात जो इन कथनों में दिखाई देती है इनका चुटीलापन। बड़े चुभते हुए ढंग से ये बातें कही गई हैं—

जिन दिन' देखे वे सुमन गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥

अथवा

भरत प्यास पिंजरा परयो सुआ समय के फेर।
आदर दै दै बोलियत बायस बलि की बेर॥

अथवा

दिन दस आदर पाइकै करि लै आपु बखान ।
जौ लौं काग सराध पख तौ लौं तो सनमान ।।

इसी प्रकार वे कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति बिना गुण के बड़ा नहीं हो सकता । धतूरे को 'कनक' (सोना) तो कहा जाता है किन्तु क्या उससे गहना गढ़ा जा सकता है ? अर्क (मदार) के वृक्ष से क्या अर्क (सूर्य) के समान प्रकाश होते सुना गया है ?

बहकि बड़ाई आपनी सो रांचति मति भूल ।
बिन मधु मधुकर के हिये गड़ै न गुड़हर फूल ।।

मनुष्य के श्रेष्ठ होने का एकमात्र उपाय है गुणसम्पन्नता । बिहारी के मत में मनुष्य को मनुष्य होने के लिए किन्हीं गुणों का उपार्जन करना पड़ता है । उनका मत है, कि वही व्यक्ति संसार से तर सकता है जो (संगीत, काव्य आदि) ललित कलाओं का प्रेमी हो । शेष लोग इस संसार सागर का संतरण नहीं कर सकते । इस प्रकार से अपने अनेकानेक दोहों में बिहारी ने बहुत बड़ी विचार-सम्पदा हमारे सामने प्रस्तुत की है जो उनके जीवन के अनुभवों का निचोड़ कही जा सकती है, जिसके बलपर यह भी कहा जा सकता है कि बिहारी कोरे शृंगारी नहीं थे । तत्वचिन्तन और जीवन-दर्शन इन दोनों दिशाओं में बिहारी की बुद्धि धावित हुई थी । समाज और परिस्थिति की बाध्यता से शृंगारिक काव्य की रचना के साथ उन्होंने जो इतर विषयों को अपने काव्य के माध्यम से हम तक पहुँचाया है उसके लिए भी बिहारी की प्रशंसा करनी ही होगी ।

रीति मुक्त कवि

रसखान

रसखान प्रेमी जीव थे । बादशाह वंश में पैदा हुए थे पर बृन्दावन और बृन्दावन-प्राण श्रीकृष्ण के आकर्षण की डोर में बँध कर वे कृष्णभक्त हो गए । कृष्णाराग से परिपूर्ण चित्त की नाना भावमयी अभिव्यक्ति तो उन्होंने की ही है अनुराग-तत्व का निरूपण भी उन्होंने किया है । इस दृष्टि से उनकी प्रेमवाटिका देखने योग्य है ।

प्रेम-निरूपण

'प्रेमवाटिका' में प्रेम-तत्व का जो निरूपण रसखान ने किया है वह आनुभविक आधार पर हुआ है न कि किसी शास्त्रीय पद्धति पर चल कर । रसखान कहते हैं कि प्रेम का नाम लेने वाले और प्रेमी होने का दावा करने वाले तो बहुत से मिलेंगे परन्तु प्रेम की असल पहचान रखने वाले आदमी बहुत कम मिलेंगे । प्रेम स्वयं परमात्मा का ही रूप है उसी के समान है—अकथनीय अनिर्वचनीय । प्रेम परमात्मा से ही उत्पन्न है जिस प्रकार सूर्य से आतप और उसी के समान है—सूक्ष्म और इन्द्रियातीत । प्रेम कमल नाल के तंतुओं से भी सूक्ष्म है और कृपाणधारा से भी कठोर और

निर्मम। प्रेम में सिधाई भी है और टेढ़ापन भी, निकटता भी और दूरी भी। ये ही गुण ईश्वर के भी हैं। इन कारणों से भी प्रेम ईश्वर स्वयं ही हुआ।

रसखान की दृष्टि में सच्चा प्रेम सांसारिक वासना-विकारों से ऊपर की चीज है। वह निरीह और निर्विकार होता है। सांसारिक कामनाओं और संबंधों से भी ऊँची और शुभ्र सत्ता प्रेम की है। प्रेम अकारण होता है--निष्प्रयोजन सांसारिक संबंध सप्रयोजन हुआ करते हैं। प्रेम में प्रिय ही सर्वस्व हुआ करता है वहाँ वासना नहीं होती है आत्मोत्सर्ग और सर्वस्वार्पण की वृत्ति ही प्रधान रहा करती है—

इक अंगी बिनु कारनहि, इक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान।।
हरै सदा चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय।।

ऐसा प्रेम कोई आसान चीज नहीं, उसकी साधना बड़ी कठिन होती है। उसमें प्राण बेचैनी से तड़पते हैं परन्तु निकलते नहीं, केवल उलटी साँस भर चला करती है—'प्रान तरफि निकरैं नहीं, केवल चलत उसाँस।' प्रेम की इसी कठोरता को लक्ष्य करके लोगों ने इसे नेजा, भाला, तीर, तलवार, फाँसी आदि सब कुछ कह डाला है पर प्रेम पर जान कुर्बान करने वाले जाँबाज़ प्रेम पंथ पर आकर पीछे नहीं हटा करते। प्रेम को पाकर सच्चे प्रेमी में हरि-प्राप्ति की कामना भी समाप्त हो जाया करती है। प्रेम प्रिय और प्रेमी में अभेदत्व ला देता है—मैं और तू के निस्सार भावों का प्रेम में तिरोभाव हो जाया करता है। स्वार्थमूलक प्रेम प्रेम नहीं, वह अशुद्ध होता है। शुद्ध और सच्चा प्रेम इससे भिन्न कोटि का हुआ करता है—सरस, स्वाभाविक, स्वार्थ-रहित, स्थिर, एकरस और महान्।

रसखान ने प्रेम की कठोरता या कठिनता को ही उसकी सबसे प्रमुख विशेषता कहा है। प्रेम का पंथ सीधा नहीं होता। यह बात बोधा, घनआनंदादि तथा औरों ने भी कही है। प्रेम में जान की बाज़ी लगानी पड़ती है, अपना सिर काट कर चढ़ा देना पड़ता है। तभी दिल का दिल से मेल हो पाता है। सच तो यह है कि प्रेम मार्ग में यदि ऐसी कठोरता न हो तो वह बेमज़ा है। हर कोई प्रेमी के महत्वपूर्ण दर्जे को पा सकता है। प्रेम मार्ग की यह कठोरता ही प्रेमी को अमरत्व प्रदान करती है। जो सर्वस्वार्पण करता है वही जीता है अमर होता है—

प्रेम फाँस में फँसि मरै सोई जियै सदाहिं।
प्रेम-मरन जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं।।

सच्चा प्रेम लोक चिंता से मुक्त हुआ करता है,—वेद शास्त्र की मर्यादाओं को, विधि-निषेधों को अतिक्रांत करता चलता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रेम के

मार्ग को जो पकड़ लेता है उसकी दिशा निर्दिष्ट हो जाती है. उसका मन किसी प्रकार के भ्रम से धूमिल नहीं होता और उसका प्रणयभाव दिन-दिन रंग पकड़ता जाता है, उसमें किसी प्रकार का फीकापन नहीं आने पाता—

कबहुँ न जा पथ भ्रम तिमिर, रहै सदा सुखचंद ।
दिन दिन बाढ़त ही रहै, होत कबहुँ नहिं मंद ।।

प्रेम के महात्म्य का कथन करते रसखान थकते नहीं। वे कहते हैं कि वह सागर के समान अतल और अगाध होता है, उसकी उपमा दी ही नहीं जा सकती। प्रेम में ज्ञान अर्थहीन हो जाया करता है। प्रेम का अथाह सागर ज्ञान के बोहित के लिए मरुभूमि सिद्ध होता है। ऐसा ही भाव असाधारण सुन्दरता से बिहारी ने एक जगह प्रस्तुत किया है—

गिरि ते ऊंचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
सोई सदा पसु-नरन कों प्रेमपयोधि पगार ।। (बिहारी)

ज्ञान संचय में किया गया अपार श्रम प्रेमास्वाद के समक्ष व्यर्थ और फीका प्रतीत होता है। रसखान ने भी बहुत कुछ कबीर के ही लहजे में कहा है कि शास्त्र ज्ञान द्वारा पंडित हो जाने से क्या होता है, कुरान पढ़ कर मौलवी बन जाने से फायदा ही क्या यदि मनुष्य ने संसार में आकर मनुष्य से प्रेम करना ही नहीं सीखा—

शास्त्रन पढ़ि पंडित भए, कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यौ नहीं, कहा कियौ रसखान।।
जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यौ जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कैं, रहि न जात कछु सेस।।

रसखान ने प्रेम को वेदों, पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों का सार कहा है। उनके मत में प्राचीन भारतीय वाङ्मय की समूची महत्ता का आधार प्रेम ही ठहरता है। ईश्वरोप लब्धि के तीनों प्रसिद्ध मार्ग—ज्ञान, कर्म और उपासना—रसखान की दृष्टि में विशेष श्रेयस्कर नहीं क्योंकि इन मार्गों के पथिक अहंभाव के शिकार होते हैं। प्रेम ही ऐसा मार्ग है जिसका पथिक अहं का विसर्जन कर चुका होता है। प्रेम इसीलिए समस्त धर्मों का सार है। प्रेम के सामने संसार में और सब तुच्छ है, प्रेम मुक्ति से भी महत्तर है। जो प्रेम के लिए अपनी जान दे देता है वही सदा जीवित रहता है। प्रेम के उदित हो जाने पर संसार के सारे नियम टूट जाते हैं। पूरी की पूरी सृष्टि हरि के आधीन है किन्तु हरि ऐसे अधिनायक भी प्रेम की अधीनता स्वीकार कर उसे महिमा प्रदान करते हैं। प्रेम की महिमा का इससे अधिक ऊँचा व्याख्यान और क्या हो सकता है। प्रेम को पा लेने पर स्वर्ग-अपवर्ग कुछ भी अभिलषित नहीं रह जाता, स्वयं हरि की प्राप्ति की आकांक्षा भी शेष हो जाती है—

जेहि पाये बैकुंठ अरु हरि हू को नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि ।।

इस प्रेम ने कितनों को ऊँचा उठा दिया है। कितनों को अमर कर दिया है। लैला ने इस प्रेम को जाना था, यशोदा-नंद ग्वाल-बाल ने भी इस प्रेम का दिव्य स्वाद पाया था। गोपियों को प्रेम के कारण जो आनंद प्राप्त हुआ उसका तो कहना ही क्या ? वे तो प्रेम की अनन्य आराधिकाएँ हो गई हैं। उस प्रेमरस की माधुरी कुछ-कुछ उद्धव को भी मिली पर अब संसार में दूसरा कौन है जिसे वह दिव्य माधुर्य प्राप्त हो सके। प्रेम की महिमा अपार है, उसका रस अनिर्वचनीय है। इस प्रकार से प्रेम-तत्व का असाधारण विवेचन रसखान ने अपनी प्रेमवाटिका में किया है। सच पूछिये तो प्रेम-वाटिका का एक-एक दोहा प्रेम का एक-एक मधुर वृक्ष है।

कृष्ण-सौन्दर्य वर्णन

रसखान-काव्य के तथा रसखान के प्रेम भाव के प्रधान आलंबन श्रीकृष्ण हैं, उन्हीं की सर्वत्र चर्चा है। उन्हीं के रूप-गुण से बँधी गोपियाँ मुग्ध दिखाई गई हैं। गोपियों की मुग्धता या मुग्धावस्था मानों भावुक रसखान की अपनी ही मुग्धता या मुग्धावस्था है जिसका निदर्शन शत-शत रूपों में हुआ है। जड़ और चेतन सभी पर कृष्ण की रूप छटा हावी है। कृष्ण का यह रूप रसखान का जीवन सर्वस्व है जिसका वर्णन उन्होंने रूप सौन्दर्य के नाना अवयवों या उपकारणों के माध्यम से किया है—(१) कृष्ण की आँखों की सुन्दरता या चितवन के प्रभाव की व्यंजना करते हुए, (२) स्मिति या मुस्कान की वर्णना द्वारा (३) वेशविन्यास वर्णन द्वारा अथवा (४) कृष्ण की छवि चित्रण के बहाने। कृष्ण के नेत्रों तथा उनकी चितवन के प्रभाव को लक्ष्य पर रसखान ने लिखा है कि उनकी मार या चोट बहुत पैनी होती है, तीक्ष्णता में वे बरछी या तीर के समान हैं। उनमें घायल करने, चित्त अपहरण करने, उन्मत्त करने, हृदय को बेधने और बेधकर अचेत करने तथा दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करके अनुरक्त बना देने की असाधारण शक्ति है। कृष्ण की आँखें आँखों को जोड़ती हैं, चित्त को मोहती हैं तथा गृह संबंधों का विच्छेद भी कराती हैं। उनके नेत्र कभी मुस्कराते, कभी हँसते और कभी खुशी के मारे नाचते भी हैं। उनके नेत्रों की जोहन, विलोकन और अवलोकन गोपियों की सारी सम्हाल या होश को गायब कर देने वाली है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण आदि सभी शक्तियाँ हैं। कृष्ण की आँखों की इन्हीं शक्तियों पर गोपियाँ सब तरह से निसार हैं। श्रीकृष्ण की मुस्कान देखकर तो वे नहीं रह जातीं। कहीं गोपियाँ कृष्ण के ईषत् हास के वशीभूत हैं, कभी कृष्ण की मुस्कान उनके कुल बंधन को तोड़ती हैं, कभी उसके वश हो वे बेसुध हो जाती हैं आदि आदि। श्रीकृष्ण की मुस्कान के ऊपर शरदकालीन विकसित सरोज, दाड़िम,

बिबाफल तथा नाना मणियों के अनूठे उपमान निछावर हैं—वह माधुर्य और प्रसन्नता उनमें कहाँ जो कृष्ण के प्रसन्न भाव से खुले अधरोष्ठों में है —

> कातिक क्वार के प्रात ही प्रात सरोज किते बिकसात निहारे ।
> डीठि परे रतनागर के दरके बहु दाड़िम बिंब बिचारे ।।
> लाल सुजीव जिते रसखानि तरंगनि तोलनि मोलनि भारे ।
> राधिका श्री मुरलीधर की मधुरी मुसकानि के ऊपर वारे ।।

कुछ छन्दों में रसखान ने संक्षिप्ततः ही कृष्ण की छवि या मूर्ति, उनका समग्र रूप अंकित कर दिया है जिनमें उनकी बड़ी-बड़ी आँखों, प्रशस्त कपोल, मधुर वाणी, आनन पर लटकी लटों, अलबेली चितवन और चाल, वृक्ष की डाल पकड़ कृष्ण के खड़े होने तथा उनके अनुरक्त नेत्रों और झूमती हुई गति आदि का वर्णन हुआ है । कृष्ण की छवि या रूप छटा का पूरा साक्षात्कार करना हो तो गोचारण करते हुए कृष्ण का वह चित्र देखिये जिसे अंकित करते हुए रसखान ने कहा है'—गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल, आगे गैयाँ पाछें ग्वाल गावैं मृदु बानि री' लेकिन कृष्ण की वास्तविक छवि तो वह है जिस पर रसखान बेतरह लट्टू हैं और वह भी गोचारण प्रसंग की ही है—

> वह घेरनि धेनु अबेर सबेरनि फेरनि लाल लकुट्टनि की ।
> वह तीछन चच्छु कटाछन की छबि मोरनि भौंह भृकुट्टनि की ।।
> वह लाल की चाल चुभी चित मैं रसखानि संगीत उधुट्टनि की ।
> वह पीत पटक्कनि की चटकानि लटक्कनि मोर मुकुट्टनि की ।।

कृष्ण की यह छवि जितनी गोपिका के चित्त में चुभी हुई है उतनी ही रसखान के भी ।

कृष्ण की वेशभूषा जानी पहचानी वेशभूषा है । सिर पर मोर पंखी या मयूर चंद्रिका, बाँकी कलंगी या कसी हुई पाग, भाल पर गोरज या केसर का तिलक, कानों में सूर्य के समान देदीप्यमान छवि कुण्डल या मकराकृत कुण्डल, स्कंध देश पर नया चटकीला दुकूल, फहरता हुआ पीतपट, हृदय स्थल पर लहलही बनमाल या गुंजों की माला, अधर पर या हाथों में मुरली, कटि प्रदेश पर बैंजनी कछनी और कटिबंध, पैरों में पैंजनी और लाल पाँवरी—यही कृष्ण की रसखान कवि द्वारा भावित वेशभूषा है ।

रूप-प्रभाव वर्णन — कृष्ण के रूप-प्रभाव को रसखान ने विस्तार से वर्णित किया है । रसखान प्रेमी जीव थे । वे बादशाही खानदान की ठसक छोड़कर आये थे । यह श्री कृष्ण की छवि ही थी जो उन्हें आकृष्ट किये हुए थी, मुसलमान धर्म में ऐसी व्यामोहनी कोई शक्ति उन्हें नहीं दिखाई दी । उनका हृदय अवलंब ढूँढ़ ही रहा था, श्री कृष्ण का मधुर और दृढ़ अवलंब पाकर उन्हीं में ठिठक रहा । कृष्ण की परम

व्यामोहक छवि को अपना कर रसखान अपना सब कुछ भूल बैठे थे। उन्होंने अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर दिया था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि कवि अपनी भावना का, प्रिय की सुन्दरता के प्रभाव का शत-शत रूपों में विशदता से वर्णन करता। केवल रूप-वर्णन के ही नहीं अन्यान्य प्रसंगों के छंदों में भी रसखान की यह आत्माभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इस विशिष्ट्य के कारण रसखान की रचना आत्मपरक या आत्माभिव्यंजक हो गई है, वस्तुपरक या वाह्यार्थ निरूपक मात्र नहीं रहने पाई है। यह रूप प्रभाव वर्णन उतने सीधे ढंग से कथित नहीं हुआ है जितने वैयक्तिक ढग से वह घन आनंद में आया है परन्तु फिर भी रसखान के काव्य का आस्वादयिता इस तथ्य से अनवगत नहीं कि रसखान के काव्य में वर्णित प्रेम उधार लिया हुआ नहीं है और न शास्त्र चालित ही, अपितु वह उनकी अपनी निधि है—अर्जित और पोषित।

कृष्ण के रूप का प्रभाव प्रधानतः तो गोपियाँ स्वयं बतलाती चलती है। जिस पर जैसी बीतती है वह आप बीती खुद बताती चलती है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि एक गोपी आप बीती बखान कर किसी दूसरी गोपिका की सुसुप्त वासना को जागृत करती है। हर छंद जैसे एक गोपी की अपनी रामकहानी है। किसी-किसी छंद में राशि राशि गोपियों पर पड़े कृष्ण के रूप के प्रभाव का पता चलता है। एक बात और रूप-प्रभाव निर्देशक अधिकांश छंद संक्षेप में उस प्रभाव को सूचित करते हैं हालाँकि इस संक्षिप्तता के कारण प्रभाव-व्यंजना में लेश मात्र भी कमी नहीं आने पाई है किन्तु अपवाद रूप में कुछ छंद ऐसे भी मिलेंगे जो पूर्णतः प्रभाव व्यंजना के लिए ही नियोजित जान पड़ते हैं। ऐसे छंद भी दो प्रकार के हैं—एक प्रभावाभिव्यंजक और दूसरे प्रभाव की कथा कहने वाले। इस संबंध में अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रभाव रूप का हो चाहे रूपधारी के किसी कर्म या गुण का, परिणति उसकी आसक्ति रीझ और प्रणय में ही होती है। इसी में रूप की चरितार्थता भी है।

रूप का प्रभाव नेत्रों पर पहले पड़ता है बाद में मन पर। सच पूछिये तो नेत्रों के माध्यम से ही रूप हृदयंगम होता है। रसखान की गोपिका कहती है कि श्री कृष्ण को देख कर मेरे नेत्र अब मेरे वश में नहीं रहे, वे उन्हीं के रूप पर डटे रहते हैं, हटते नहीं। वे मोहन की छवि से संबंध स्थापित किये रहते हैं और मुझसे रूठे रहते हैं, मेरी बात नहीं मानते। ये नेत्र उनके सौंदर्य की लिप्सा में मछलियों की तरह फँस जाते हैं। कितने ही छंद कृष्ण के अपूर्व सौंदर्य से अभिभूत गोपियों के मन की दशा की सूचना देते हैं। अनेकानेक छंदों में स्पष्ट रूप से मन, चित्त, हृदय, जीव, प्राण आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए कवि ने अंतःकरण को इन विभिन्न नामों से पुकारी जाने वाली सत्ता पर कृष्ण के रूप का प्रभाव वर्णित किया है। गोपियाँ कहती हैं कि नंद का पुत्र मेरे मन रूपी मणि को चुरा ले गया, अब मन के बिना मैं अपने को व्यर्थ पा रही हूँ। इन नेत्र रूपी दलालों ने मन रूपी माणिक को चौहट्टे में प्रियतम के हाथ

बेच दिया, हृदय और जीव सब एक साथ ही बिक गए। कृष्ण ने अपने रूप का जादू चला कर हमारा चित्त चुरा लिया और शरीर के सारे सुखों का अंत कर दिया क्योंकि अब रूप का निरंतर दर्शन नहीं होता, कृष्ण की पगड़ी की मुरेड़ों या ऐंठनों में मेरा मन मुरेड़ खा गया है। सारे ग्वाल बालों में एक कृष्ण ही तो ऐसे हैं जो समस्त ब्रज-वासियों के हृदय को हर लेते हैं, कृष्ण का रूप ही ऐसा है जिसे देख कर हृदय अपने आप हुलसित होता है। रसखान लिखते हैं कि मोहन की छवि मन को भा रही है तथा उनके रूप के सिंधु में मन बेतरह डूब गया है। उधर गोपिका को लाल की कितनी ही चालें चित्त में चुभ कर कसक पहुँचा रही हैं। उनका गायें घेरना, लकुटी फिराना, कटाक्ष करना, भृकुटियों का मोड़ना, वेणु बजाना, पीतपट का चमकाना, मोरमुकुट की लटक आदि। उनकी जितनी रूप छटा है वह तो हृदय में चिरकाल के लिए अटक गई है, उनकी चितवन शरीर और प्राण को बेतरह बेधे दे रही है, वह चोट सम्हाले नहीं सम्हलती पर साथ ही साथ वह चोट ही है जो बंधन में बाँधती भी है। कृष्ण के दृग बाण हृदय को ऐसा बेधते हैं कि कोटि-कोटि गोपियाँ गिर-गिर पड़ती हैं, ब्रज में कृष्ण के रूप की रौर मची हुई है, गोपबालाओं की चेतना अपहृत हो चुकी है और उनका मन कृष्ण के ईषत् हास या स्मिति के हाथों बिक गया है। रूप और छवि की ऐसी निधि थे कृष्ण जो ब्रज की गोपांगनाओं के मन, प्राण और शरीर को अपने प्रति आसक्त किये हुए थे, उनमें आनंद वर्णन की अपूर्व शक्ति थी, तन की तृषा शान्त करना जिसका साधारण व्यापार था और उनके प्राणों को रिझा लेना उनके लिए खेल था अनेक छंदों में कृष्ण के रूप को उन्मत्त बना देने वाला, गोपियों के लोकलाज को बहा देने वाला कहा गया है। कृष्ण के मुस्कराते हुए रूप में, उनके उपांगों में, कामदेव से भी सुंदर उनके बानक में और नत्रों के चपल चालन में वह शक्ति है जो कोमल हृदय वाली गोपिका के हृदय की लज्जा की गाँठ को खोल कर ही रहती है। इस भाव को एक गोपिका के माध्यम से रसखान ने बड़े ही अनूठे ढंग से कहलाया है— 'माइ की अँटक तौ लौं. सासु की हटक तौ लौं, देखी ना लटक मेरे दूलह कन्हैया को'। जो रूप गोपियों को इस सीमा तक आकृष्ट कर लेता है वह अपनी परम मोहनी शक्ति से उन्हें उतावला और उन्मत भी बना सकता है। आँखों में कृष्ण का रूप भर कर, बसा कर या पीकर, एक गोपिका ने अपनी आखें बंद कर रक्खी हैं। क्यों? इसलिए कि वह रूप उन नैनों का ही होकर रहे, भाग न जाय या फिर इसलिए कि ऐसी छवि पा लेने के बाद लोक के प्रति आँखों का बंद रहना ही अच्छा! कारण जो भी हो, रूप का यह प्रभाव असाधारण है, सखियों के कहने पर भी वह प्रीतिमना गोपिका अपनी आँखें उघाड़ने को तैयार नहीं, कृष्ण की रूप छटा प्रमत्तता की दशा तक पहुँचा देने वाली है। रूप-दर्शन से बेसम्हाल हो जाना, आत्मविस्मृति, नेत्रशरों से बिंधे हुए प्राणों की सतत दर्शनाभिलाष तथा प्रिय के वियोग की असह्यता, देह-

चेतना का अपहृत हो जाना आदि अनेकानेक प्रभावों का कवि ने वर्णन किया है। प्रभाव चित्रण के उदाहरण स्वरूप एकाध छंद देखिये—

(क) पूरब पुन्यन तें चितई जिन ये अँखियाँ मुसकानि भरी जू।
कोऊ रही पुतरी सी खरी, कोउ घाट डरी कोउ बाट परी जू।
जे अपनै घर हीं रसखानि कहैं अरु हौंसनि जाति मरी जू।
लाल जे बाल बिहाल करी ते बिहाल करी न निहाल करी जू॥

राधिका का सौन्दर्य वर्णन

रसखान ने राधा के सौंदर्य का वर्णन तो दो-चार छंदों में किया भी है पर गोपियों के रूप के वर्णन में वे प्रवृत्त नहीं हुए। बात यह है कि रसखान स्वयं एक गोपी बने हुए थे। कृष्ण के प्रति प्रेम करते हुए उनकी भावना एक गोपिका की-सी हो गई है फलतः गोपी उनके प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हो सकी है, उनकी प्रेमाभिव्यक्ति का आलंबन नहीं। राधा की रूप-सुषमा के चित्रण में किञ्चित प्रवृत्त होने का कारण यह है कि राधा कृष्ण की अनन्य प्रेमिका थी, उसका हृदय भी रसखान के ही हृदय के समान बल्कि उससे भी कहीं अधिक प्रियतम कृष्ण के दृगबाणों से बिद्ध था—

तन चंदन खौर कै बैठी भट्ट रही आजु सुधा की सुता मन सी।
मनौ इन्दु बधून लजावन कों सब ज्ञानिन काढ़ि धरी गन-सी।
रसखानि बिराजति चौकी कुचौ बिच उत्तम ताहि जरी तन सौ।
दमकै दृग-बान के घायन कौं गिरि सेल कै संधि के जीवन सी॥

कैसा जीता-जागता प्रेमरंजित और पुनीत चित्र है राधिका का जो अपनी वर्णोज्वलता और चंदन-चर्चित वदन की अमृतोपमता के कारण अमृत की मानस-पुत्री ठहराई गई है। राधिका के सौंदर्य की दिव्यता की प्रतीति वहाँ होती है जहाँ कवि कहता है कि राधिका के सौंदर्य को देखकर सूर्य और चंद्रमा गति-शिथिल हो जाते हैं, वायु उसके निःश्वासों से सुरभि समेटने आता है आदि आदि। प्रकृति के सौन्दर्य की पराकाष्ठा का नाम वसंत है। इस वसंत के वैभव की ही प्रतिकृति का नाम राधिका है। इस भाव को कवि नाना उपमानों के विधान द्वारा प्रस्तुत करता है—राधिका के दुकूल पुष्प हैं, कुँतल भ्रमर हैं, गुँजों की माला किंसुक-समूह हैं, मोतियों के आभूषण आम्रमंजरियाँ हैं और वाणी कोकिल को भी लज्जित करने वाली है फिर यह क्यों न कहा जाय कि यह राधिका का नहीं, वसंत का आगमन है। अपने शरीर को सँवारती हुई राधिका रति को भी लज्जित करती है, ऐसी सृष्टि को देखकर विधाता स्वतः विस्मित है, वह इस प्रकार की दूसरी सृष्टि भला क्या रच सकता है। राधिका के इस पुण्य सौन्दर्य-सुधासागर में रसखान ने दो ही चार डुबकियाँ लगाई हैं क्योंकि उनका प्रेम मूलतः कृष्ण के प्रति था उनके मन में तो उनका परम काम्य ही बेतरह समाया हुआ था।

राधिका के विषय में जो दो-चार छंद वे लिख गए हैं वह इस कारण कि राधिका कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी थी, उस पथ की आदि पथिक थी जिस पर बहुत बाद में रसखान चले थे।

उद्दीपन वर्णन अथवा बाह्य-दृश्य चित्रण

रसखान के काव्य में उद्दीपनों का वर्णन न के बराबर है। केवल कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के सन्दर्भ में थोड़ी चर्चा ऋतुओं अथवा प्राकृतिक उपकरणों की मिलेगी और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त उदाहरण के लिए जब वे वन में होने वाली प्रेम-क्रीड़ाओं की चर्चा करते हैं उस समय कुञ्जों का, उनकी संकरी गलियों का, वन-पथ का अथवा वन प्रान्तर का नामोल्लेख मात्र करते हैं, ब्रज और वृन्दावन की छटा को सामने लाने की चेष्टा बिल्कुल नहीं करते। इसी प्रकार पास-पड़ोस के गाँवों की चर्चा भी हुई है पर उनका स्वरूप अंकित नहीं हुआ है। वन-क्रीड़ा के संदर्भ में भी प्राकृतिक दृश्यावली का कोई वर्णन नहीं मिलता। एकाध जगह इतना मात्र कह दिया गया है कि **'कुन्जन नन्द कुमार बसै तहाँ मार बसै कचनार की डारन'** अर्थात् उस वनस्थली के कचनार वृक्ष ऐसे मादक और मोहक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं जिससे कामोद्रेक हो उठता है। पनघट-क्रीड़ाओं अथवा रास प्रसंगादि के वर्णन में भी यमुना-पुलिन और रजत-ज्योत्स्ना के मुग्धकर वातावरण की सृष्टि का कोई प्रयास लक्षित नहीं होता। इससे यह ध्वनित होता है कि कृष्ण का रूप सौंदर्य और गोपियों का अनुराग आदि ही उनमें इतना समाया हुआ था कि इतर वस्तुओं की ओर उनकी दृष्टि भी न जाती थी। अपवाद रूप में ही एक छंद में रसखान ने बसन्त की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया है जो पर्याप्त सरस एवं चित्रात्मक है परन्तु वह श्रीकृष्ण के प्रेमपूर्ण संयोग की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करने के ही उद्देश्य से विरचित हुआ जान पड़ता है—

> डहडही बैरी मंजुडार सहकार की पै,
> चहचही चुहल चहूँकित अलीन की।
> लहलही लोनी लता लपटी तमालनि पै,
> कहकही तापै कोकिला की काकलीन की।
> तहतही करि रसखान के मिलन हेत,
> बहबही बानि तजि मानस मलीन की।
> महमही मंद मंद मारुत मिलनि तैसौ,
> गहगही खिलनि गुलाब की कलीन की॥

रसखान के काव्य में वियोग का वर्णन नगण्य होने के कारण ऋतुओं आदि को विरहोद्दीपक उपकरण के रूप में प्रस्तुत करने का अवसर नहीं आ पाया।

रूप प्रभाव का चित्रण ही विशेष है जो नाना गोपियों के कथनों द्वारा वर्णित किया गया है।

बहुत कुछ सूरदास आदि के ही ढंग पर १०-१२ छन्दों में रसखान ने दान-प्रसंग का भी वर्णन किया है। आभीरों के गाँव ब्रज में गोरस (दूध-दही-इत्यादि) ही जीवन का आधार हैं। वही खाना, वही बेचना। ब्रज गाँव के ही महर के लाड़ले कृष्ण हैं कि गोपियों को नित्य छेड़ते हैं और उन्हें तंग करते हैं। कभी उनका रास्ता रोकते हैं, कभी उनसे दूध-दही माँगते हैं, कभी उनकी आँखों में आँखें डालकर अपने मदिर मनोभावों को व्यक्त करते हैं। गोपियाँ हैं जो तंग होती हैं पर अपना धन्धा नहीं छोड़ती हैं। कभी-कभी यशोदा के पास शिकायतें लेकर जाती हैं और कभी-कभी कृष्ण को ही डाँटती-फटकारती हैं। कृष्ण कभी-कभी योजनाबद्ध रूप में काम करते हैं और ग्वालिनों को बेतरह तंग करते हैं। सब समय कृष्ण की यह छेड़-छाड़ गोपियों को नापसन्द ही हो ऐसी बात भी नहीं। नवयौवनाएँ मुग्ध होती हैं, मुग्धाएँ और मध्याएँ पूर्णकाम। सब छेड़ी जा कर अपनी-अपनी कथा एक दूसरे से कहती हैं। अधिक वयस्काएँ अल्प वयस्काओं को समझाती हैं कि जमुना के पार मत जाया करो अपने गाँव में ही दूध-दही बेचो नहीं तो सारे ब्रजगाँव में तुम्हारे प्रेम की डौंडी बज जायगी, तुम्हारा निकलना फिरना बन्द हो जायेगा। एक दृढ़ मनोबल वाली गोपिका को कृष्ण ने छेड़ा तो उसने निहायत शराफत से साफ-साफ कह दिया कि तुम्हें दूध नहीं चाहिए और न मक्खन ही। तुम जिस रस के इच्छुक हो उसे मैं भली-भाँति समझती हूँ लेकिन तुम मुँह धो रक्खो वह रस तुम्हें नहीं मिलेगा—

> छीर जो चाहत चीर गहें अजू लेउ न केतिक छीर अँचैहौ।
> चाखन के मिस माखन माँगत खाउ न माखन केतिक खैहौ॥
> जानति हौं जिय की रसखानि सु काहे कौं एतिक बात बढ़ैहौ।
> गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेकु न पैहौ॥

एक क्षीण मनोबल वाली सुन्दरी का जब कृष्ण से पाला पड़ा तो उस पर जो कुछ बीती वह अपनी सहेलियों से आकर इस प्रकार वर्णित करती है—

> आज महूँ दधि बेचन जाति हौ मोहन रोकि लियौ मग आयौ।
> माँगत दान मैं आन लियौ सु कियौ निलजी रस-जोबन खायौ।
> काह कहूँ सिगरी री बिथा रसखानि लियौ हँसि कै मुसकायौ।
> पाले परी मैं अकेली लली, लला लाज लियौ सु कियौ मनभायौ॥

अपने सर्वस्व हरण में वह अपने अकेलेपन को कारण ठहराती है और सारी घटनावली इस प्रकार कह चलती है जैसे कुछ हुआ ही न हो। जो कुछ उसने ऊपर वर्णित किया है वह उसके दुःख का नहीं वरन् हर्ष का कारण है।

वन क्रीड़ा के छन्दों में वनमार्ग से जाती हुई गोपियों के संग कृष्ण की शरारतों का वर्णन है। बहुतेरी गोपियाँ ऐसी थीं जो दही बेचने जाकर कृष्ण को देखे बिना या उन्हें गोरसदान दिये बिना तुष्ट न होती थीं। कुछ ऐसी भी थीं जो कृष्ण की समीपता तो चाहती थीं किन्तु कुल मर्यादा, लोक-लाज आदि के कारण जा नहीं पाती थीं, वैसे दो-चार बार जाकर वे वन-प्रांतर के सम्मोहक एवं उन्मादक वातावरण से परिचित भली-भाँति हो गई थीं। एक गोपिका कहती है कि उस वन प्रान्त में प्रवेश करते ही लज्जा की सँभाल मुश्किल हो जाती है, वहाँ लज्जा का त्याग करना ही पड़ता है क्योंकि वन मार्ग के कुंजों में नन्दकुमार बसते हैं और उस वनस्थली के कचनार वृक्ष ऐसे मादक एवं मोहक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं जिससे कामोद्रेक हुए बिना नहीं रहता। किसी-किसी छंद में वन प्रान्तर में राधा और कृष्ण की प्रेम क्रीड़ा का चित्रण हुआ है। उनकी आकस्मिक भेंट, फिर वनस्थली का रमणीय सौंदर्य और उस सबके ऊपर हृदय से फूटती हुई मनोभव की मधुर निर्झरिणी। इस सब के होते हुए अपार आनन्द की सृष्टि भला कैसे न होगी। वन में जो मिलन होता है उसके आनन्द का क्या कहना! ग्रीष्म का प्रखर आतप कोई व्यवधान नहीं डाल पाता, फिर जिसको आतप से विशेष सुरक्षा होनी चाहिए उसे पुरुष की स्निग्ध छाया भली भाँति प्राप्त होती है।

जलाशयों (पनघटों) के निकट भी कृष्ण और गोपियों के प्रणय-व्यापारों का मनोहर चित्रण रसखान ने किया है, उनमें सूरदास वाला विस्तार तो नहीं है परन्तु, उसका स्वरूप बहुत कुछ वही है कृष्ण यमुना में जल भरने वाली गोपियों को भी तरह-तरह से छेड़ते थे और गोपिकाएँ थीं जो लज्जा वश उनके इस प्रकार के आचरणों का विरोध करती थीं परन्तु कृष्ण इन व्यापारों के कारण उनके हृदय से उतरे नहीं—

> जात हुतीं जमुना जल कौं मनमोहन घेरि लियौ मग आइकै।
> मोद भर्‌यौ लपटाइ लयौ, पट घूँघट टारि दयौ चित चाइकै॥
> और कहा रसखानि कहौं मुख चूमत घातन बात बनाइ कै।
> कैसे निभै कुलकानि रही हियें साँवरी मूरति की छबि छाइ कै॥

ऐसे प्रसंगों में ऐन्द्रिक तृष्णा कृष्ण में ही विशेष दिखाई गई है। जब व्रजांगनाएँ यमुना में स्नान करने के लिए आया करती थीं उस समय घात लगा कर नंदलाल भी आस-पास फटकने लगते थे। उधर आने के तेरह बहाने उन्हें मालूम थे, और कुछ नहीं तो वेणु बजाते हुए और तान सुनाते हुए ही आ पहुँचे। एक छंद में कृष्ण द्वारा स्नान करती हुई गोपियों के चीर हरण का भी वर्णन आया है। पुनीत एवं अतीन्द्रिय भावों के कवि होने के कारण कवि ने इस तरह के अधिक छंद नहीं लिखे हैं।

रसखान के रास-विषयक छंदों में वह आनंद नहीं छलकता है जो सूर के पदों या नंददास की 'रास पंचाध्यायी' में उमड़ता दिखाई देता है। रास रचाने वाले श्रीकृष्ण जब वेणु बजाते हैं तो उसके मादक नाद से सारी ब्रज गोपियाँ अचेत हो जाती हैं। जब उन्हें होश आता है तो वे किसी प्रकार जल्दी-जल्दी अपने वस्त्र ठीक कर वन की ओर जाती हैं जहाँ कृष्ण उनके साथ विलास करते हैं। कोई कहती है कि आज तो महाबन में ग्वाल बालों की मंडली देखने योग्य है। सभी गोपकुमार सजधज कर आये हैं और कामकुमार से सुशोभित हो रहे हैं। कोई कितना भी शृङ्गार करे लेकिन आँखें घूमफिर कर श्यामल कृष्ण पर ही जा टिकती हैं। कभी कृष्ण मुरलीबट के समीप भी रास रचते हैं और नाना हावभावों का प्रदर्शन करते हुए गोपियों के चित्त में रमण करते हैं, वे तो उनके सौन्दर्य पर बिक-सी जाती हैं। जो गोपिका रास में श्रीकृष्ण का संसर्ग प्राप्त कर लती है वह अपने सौभाग्य पर फूली नहीं समाती।

कृष्ण की जिस वंशी को कवियों ने गोपियों की ईर्ष्या का विषय ठहराया है और जिस भाव परम्परा का अनुगमन करते हुए रसखान की गोपिका ने भी कहा है—

भावतो तोहि मेरो रसखानि जु तेरे कहे सब स्वाँग भरौंगी।
पै वा मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

वही वंशी सामान्यतया गोपियों को विमोहित करने वाली कही गई है। कृष्ण की व्यामोहिनी शक्ति मुरली के कारण और भी बढ़ जाती है, कृष्ण जिधर जाते हैं उनकी मुरली की ध्वनि के कारण गोपियाँ उसी तरफ दौड़ पड़ती हैं। सभी झरोखों से झाँकने लगती हैं, अटारियों पर चढ़ जाती हैं। कोई-कोई तो लोक लाज का तिरस्कार कर आँखों-आँखों में मोल-तोल भी कर लेती हैं। कृष्ण जिस गली से निकलते हैं वहीं गोपियाँ उन पर लहालोट हो जाती हैं—'वह बाँसुरी की धुनि कान परें कुल-कानि हियो तजि भावत है।' एक गोपिका तो कहती है—

काननि दै अँगुरी रहिबो जबही मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी ताननि सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तौ गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ सु कितो समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥

वेणु का शब्द सुनकर गोपियों की मिलनोत्कंठा इतनी प्रबल हो जाती है कि वे अपने वश में नहीं रहतीं, उनकी कामाग्नि दहक उठती है, तन-मन की ऐसी दशा उनके लिए जीना मुश्किल कर देती है। राधिका पर तो कृष्ण की वंशी का जादू इस तरह सवार हो जाता है कि कुछ पूछिये मत। उसका जीवन-मरन विधाता के आधीन हो जाता है, उसकी दशा देखकर अन्यान्य गोपियाँ भी बेहाल हो-जाती हैं और कहती हैं—"राधिका जीहै तौ जीहैं सबै न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारे।" इस प्रकार कृष्ण की बाँसुरी के आकर्षण में सारा ब्रज बँधा हुआ है, कौन सी गोपिका है जो उस

पर लट्टू नहीं है। इस प्रभाव की व्यापकता 'दूध दुह्यौ सीरो परयौ' वाले कवित्त में सुंदरता से निर्दशित हुई है जहाँ यह बताया गया है कि कृष्ण की वन्शी का स्वर कान में पड़ते ही सारे ब्रज के कारबार रुक जाते हैं, लोगों के अंग ढीले पड़ जाते हैं, जो व्यक्ति जैसा रहता है वैसा ही रह जाता है, जगत के सारे व्यापार धरे के धरे रह जाते हैं। कृष्ण की वंशी का जादू इस कदर झकझोर देने वाला है कि उसके प्रभाव में आई हुई गोपिका को लोग आसानी से पहचान लेते हैं और कहने लगते हैं कि यह देखो 'पगली आ गई'। कभी-कभी कृष्ण अपनी मुरली में ही किसी गोपिका का नाम ले लेते हैं, तुरन्त ही उसकी बदनामी होने लगती है लेकिन वह भी सोचती है कि जब बदनामी हो ही गई तो फिर वह प्रेम का रस पाने से क्यों वंचित रहे। दुनिया को वह पचड़ा समझकर छोड़ देती है और नगाड़े की चोट पर कृष्ण को अपना प्रिय स्वीकार करती है। अग-जग का मन मोह लेने वाली वंशी प्रीति की उत्पादिनी दिखाई गई है, लोक लाज का निगड़ टूट जाता है और प्रेम की स्वच्छंद धारा प्रवहमान हो उठती है, प्रेम की सकुचाई और बँधी हुई सरिता में बाढ़ आ जाती है। वंशी का प्रभाव रसखान ने दो रूपों में दिखलाया है। एक तो गोपिका का मुग्ध होना, प्रेम शिथिल और प्रेमोन्मत होना दिखाकर दूसरे उनमें कामोत्तेजना या प्रबल मिलन लालसा दिखाकर।

होली उन्मत्त मन का पर्व है फिर ब्रज की होली तो प्रसिद्ध है जहाँ स्त्री पुरुष मुक्त हृदय से इस पर्व को मनाते आए हैं। रसखान की गोपियाँ और कृष्ण बड़ी ही स्वच्छन्द पद्धति से होली खेलते हैं। गोपी है जो प्रेम से भरकर पूरे मौज के साथ कृष्ण पर केसर, अबीर और रंग की बौछार करती है और उनका मन चुराकर मदमत्त भाव से चल देती है। एक नवीन गोपिका के संग कृष्ण का होली खेलना देखिये —

> आवत लाल गुलाल लियें मग सूने मिली इक नारि नवीनी।
> त्यों रसखानि लगाइ हियें भटू मौज कियौ मन माहिं अधीनी।
> सारी फटी, सुकुमारी हटी, अँगिया दरकी, सरकी रंगभीनी।
> लाल गुलाल लगाई लगाई कै अंक रिझाइ बिदा करि दीनी॥

यह चित्र तरुण रसखान ने चाहे न भी लिखा हो पर तरुण हृदय रसखान की रचना अवश्य है। रीति-स्वच्छन्द शृंगारधारा में नीति, नियम और संयम या ध्यान नहीं दिया जाता, इन बातों को महत्वहीन समझ कर बलाए ताक कर दिया जाता है। केवल प्रेमी ही नहीं प्रेमिका भी नियम-संयम, लोक-लाज आदि का अतिक्रम प्रेम के लिए आवश्यक मानती हैं और विशेषरूप से होली में—"ताहि सरौ लखि लाख जरौ इहि पाख पतिव्रत ताख धरौ जू।" ऐसी पंक्तियों से रसखान के शृंगारी मन का परिचय मिलता है। होली में कौन सी गोपिका है जो निर्मर्याद नहीं होती— "का सजनी निलजी न भई अरु कौन भटू जिहिं मान बच्यौ है।" कोई

कितना भी रोके होली के पर्व पर प्रेमी प्रेमिकाओं का उन्माद रुकता नहीं। होली अनेक अवगुणों का मूल है, रसिक सलोना रिझवार बेहद ढिठाई करता है, हृदयहार तोड़ देता है, गोपिका के अंग-अंग में काम का संचार होता है, रंग, गुलाल, कुंकुम और बुक्के की धूम मच जाती है, धमार गीतों से सारा वायुमण्डल गूँज उठता है, तरह-तरह के तान छिड़ते हैं और चाँचरें होती हैं, कृष्ण क्या नहीं करते और गोपियाँ कौन सा आनंद नहीं लूटतीं।

प्रेम का वर्णन करते हुए रसखान ने कृष्ण की अपेक्षा गोपियों में प्रेम भावना का विशेष विकास दिखाया है क्योंकि कृष्ण एक थे गोपियाँ अनेक। एक गोपिका कहती है कि यदि बहुत सी आँखें होतीं तो गोचारण करते हुए कृष्ण का सारा सौन्दर्य आत्मगत कर लेतीं, यदि बहुत से कान होते तो उनकी अमृतमयी वाणी अपने कर्णपुटों में भर लेती। एक अन्य गोपिका सतृष्ण भाव से उस दिन की प्रतीक्षा करती है जब वह घुँघुचियों की माला बनाकर तथा मालती, मल्लिका और कुंद के फूलों के हार गूँथ कर किसी कुँज में अपने प्यारे कृष्ण को पहनाएगी। गोपियाँ नाना रूपों में कृष्ण के संसर्ग सुख की अभिलाषिणी दिखाई गई हैं। यदि किसी की बदनामी हो जाती है तो भी उसे कोई पछतावा नहीं होता, बस वह यही सोचती है कि "मो पछतावो यहै जु सखी कि कलंक लग्यो पर अंक न लागो।" गोपियाँ कृष्ण को पाने के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। ये अभिलाषाएँ तरह-तरह से व्यक्त की गई हैं। गोपियों के कृष्ण के प्रति आसक्त होने का वर्णन भी विशद रूप से किया गया है। रीझ के वर्णन में रसखान ने लिखा है कि प्रणयिनी गोपियाँ रात दिन प्रियतम के ही ध्यान में डूबी रहती हैं—

> उनहीं के सनेहन सानी रहैं उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
> उनहीं की लैन औ बैन त्यौं सैन सों चैन अनेकन सुठानी रहैं॥
> उनहीं संग डोलन मैं रसखानि सबै सुख सिंधु अघानी रहैं॥
> उनहीं बिन ज्यौं जल हीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अंसुवानी रहैं॥

सच्ची रीझ तो वही है जिसमें एकाग्रता हो, एकोन्मुखता हो और हम देखते हैं कि रसखान की गोपिका की रीझ ऐसी ही है—"और तो रंग रह्यो न रह्यो इक रंगरंगी सोइ रंग रह्यौ री।" इस रीझ के मार्ग में जो भी बाधाएँ हैं ये रिझवार गोपियाँ उन्हें सहर्ष पार करती हैं—तानें, व्यंग, चुगलियाँ, निंदा, कुल और लोक की लज्जा। प्रेम की दीवानी गोपियों ने प्रिय की छवि को अंग-अंग में भर रक्खा था—रूप को आँखों में, मोहक वचनावली को अपने कानों में, सुगंधि को घ्राणेन्द्रिय में और साँवली मूर्ति को अपने हृदय में। कृष्ण की आसक्ति के बिना वे जग और जीवन सब कुछ व्यर्थ समझती थीं। रीझना ही मानों उनका जीवन था, तप था, ध्यान था, योग था, संयम था, सब कुछ था। मानों वे इस संसार में रीझने के लिए ही पैदा हुई थीं।

यह उनका स्वभाव हो गया था जैसा कि उन्होंने कहा भी है—"मेरो सुभाउ चितैबे को माई।" इस रीझ का कारण है प्रिय का प्रेम भरी दृष्टि से देखना, उनकी मुस्कराती हुई रूप छटा, उनका वेणुवादन आदि। कृष्ण की स्निग्ध दृष्टि और मुसकान का बंधन सैकड़ों लौह शृंखलाओं से भी जबरदस्त है। रीझ या आसक्ति का यह मार्मिक एवं विशद निदर्शन उस प्रेमाभिव्यंजन का अंग ही है जिससे रसखान का समग्र काव्य ओतप्रोत है। स्वच्छन्द धारा के कवियों में रसखान मनोलोक की पुनीत भावनाओं के चतुर चितेरे हैं। उनके काव्य में रूप सौन्दर्य और आंगिक आकर्षण के बावजूद भी प्रेम का पुनीत मानसिक पक्ष ही विशेष चित्रित हुआ है, कामोत्तेजक संभोग प्रधान कायिक अनुभूतियों एव आंगिक तृष्णादि की चर्चा बहुत कम है। उनमें जो चतुरता है वह गाढ़ अनुभूति की है किसी काव्यशिल्प या वाग्विधि की नहीं।

रसखान का समस्त काव्य प्रेमभावना के माधुर्य से ओत-प्रोत है। उन्हें अपने जीवन में धन वैभव की प्रभूत राशि सुलभ थी किन्तु राजनीति की सिर पर लटकती हुई तलवार का भय निरंतर बना रहता था। रसखान ने ऐसे जीवन से फकीरी को बेहतर समझा और वे कृष्ण प्रेम में मग्न हो ब्रज भूमि चले गए थे। वहाँ कृष्ण के प्रेम में वे वैसे ही निमग्न हो गए जैसे कि गोपियाँ, रसखान का मन कृष्ण प्रेम से मनोज्ञ हो उठा था। वे ब्रज के मधुर और वासंती जीवन का राग गाने वाले कोयल थे, घनश्याम पर रीझने वाले कलापी थे। उनका मन श्याम रंग मे डूब कर उज्ज्वल हो उठा था। वे जीवन के लौकिक प्रणय से विरक्ति रख कर मात्र ईश्वर-भक्त न थे। प्रेम उनकी मूलवर्ती-चेतना थी। उनके काव्य में कृष्ण प्रेम के केन्द्र अथवा देवता के रूप में अधिष्ठित हैं इसके कारण उनकी रचना अति शृंगारिक होने से बच गई है किन्तु उसका (शृङ्गारिकता का) एकदम अभाव नहीं होने पाया है। इसका मूल कारण यही है कि वे लौकिक मनोभावों को, सहज ऐन्द्रिक अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक ईहा मानते थे इसी कारण उनके काव्य में गोपियों की, कृष्ण की ऐन्द्रिक ईहाओं को आकांक्षा व्यक्त हुई है। इच्छा, उपलब्धि, उपलब्धि का सुख और अनुपलब्धि का दुख यही तो प्रेम है और इन्हीं भावनाओं का विस्तार रसखान में नाना रूपों में सुलभ है। मन की शत-शत वृत्तियों का सुमधुर प्रकाश रसखान के छंदों से विकीर्ण हो रहा है। मन की ये प्रकाश रश्मियाँ अरुद्ध गति से फूट रही हैं, इसी कारण उनका प्रकाश प्रत्येक हृदय में समा जाता है। हृदय की मुक्ति उनके काव्य का सौंदर्य है। उसमें असहज और कृत्रिम कुछ नहीं। जो अंदर है वही बाहर है। मन की यही स्वच्छंदता और निर्बन्धता स्वच्छंद शृंगार प्रवृत्ति की पहली शर्त है। रसखान इसे भली भाँति पूरा करते हैं।

भक्ति भावना

रसखान प्रेम के कवि होने के साथ-साथ उच्च कोटि के भक्त भी थे, उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठतम भक्तों में भी की जाती है। उनकी भक्ति के आलंबन थे कृष्ण

जिनकी भावना उन्होंने साक्षात् ईश्वर या ब्रह्म के रूप में की है जिनके ध्यान में शंकर और ब्रह्मा रात दिन लगे रहते हैं। और भी कितने ही देवी-देवता, योगी-यती लगे रहते हैं। शारदा, शेष, गणेश, सूर्य, इन्द्र आदि भी उनके गुणों का पार नहीं पाते, वेद जिनका अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद आदि शब्दों द्वारा आख्यान किया करते हैं तथा नारद, शुकदेव और व्यास जैसे देवर्षि, महर्षि और ब्रह्मर्षि जिनका वर्णन करते हुए अंत नहीं पाते। रसखान के कृष्ण ऐसी महती विभूति और विराट सत्ता हैं। नर एवं देवता ही नहीं वरन् देवों, अदेवों और भूलोक की स्त्रियाँ भी जिनपर अपने प्राण निछावर किया करती हैं। ऐसे कृष्ण ने पृथ्वी तल पर अवतार लिया था। उनकी समृद्धि और संपदा देखकर कुबेर को संकोच होता था, उनके रूप को देखकर अनंग लज्जित होता था, उनका आनंदोपभोग देखकर इन्द्र ललचाया करता था। इन कृष्ण की वाणी मानों मुक्ति देने वाली तरंगिणी थी। इस प्रकार रसखान के कृष्ण में सौंदर्य, कृपालुता, रक्षणशीलता और भक्तवत्सलता आदि के कितने ही महान गुण थे। वे साक्षात् ब्रह्म के ही प्रतिरूप थे। उन्होंने कितने ही आर्त्तजनों का उद्धार किया था -- द्रौपदी, गणिका, गज, गीध, अजामिल, अहिल्या आदि। ऐसे कृष्ण को पाकर रसखान अपने भविष्य के संबंध में निश्चिन्त और आश्वस्त थे, उनकी कृपालुता और रक्षणशीलता पर उन्हें पक्का भरोसा था। ये कृष्ण अपने भक्तों के उद्धार के लिए, उनकी भावनाओं के आदर के लिए पृथ्वी पर नाना रूपों में अवतार लिया करते थे। उनकी क्रीड़ाओं पर कौन नहीं मुग्ध होता था—

(क) नंदरानी के तनक पय पीवे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनकत ठाढ़ो है।

(ख) काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटो।

ईश्वर का यही मुग्ध करने वाला लौकिक आचरण उसके भक्तों का हृदय हर लिया करता है।

रसखान निश्छल चित्तवृत्ति के भक्त थे, उन्होंने कृष्ण के प्रेम में पागल हो अपना सब कुछ उन पर निछावर कर दिया था। वे कृष्ण की छबि देखकर उनके अनन्य उपासक हो गए थे, उन्होने बड़े आवेशोन्मेष के साथ उनके प्रति अपनी उत्सर्ग पूर्ण भक्ति भावना निवेदित की है। वे कृष्ण की लकुटी और कमली पर तीनों लोकों का राज्य, आठों सिद्धियाँ, नवों निधियाँ तथा कोटि-कोटि कलधौत के धाम निछावर करने को तैयार थे। उनकी एक ही अभिलाषा थी—कृष्ण संसर्ग और उन्हीं का सान्निध्य। इसके अतिरिक्त वे और कुछ न चाहते थे --'मानुष हौं तो वही रसखानि' वाले छंद में उन्होंने अपने आने वाले जन्मों की भी अभिलाषा व्यक्तकर दी है। वे मोक्ष नहीं चाहते थे बल्कि उन कुंज कुटीरों को झाड़ने-बुहारने की सेवा करना चाहते थे जिनमें श्रीकृष्ण कभी गए हों, वे ब्रजरेणुका पर अंकित कृष्ण के चरण-चिह्नों को

सुरक्षित रखना चाहते थे—ऐसी निरीह और भोली आकांक्षाओं वाले भक्त थे रसखान। उनकी भक्ति में दूसरा मुख्य भाव यह था कि हम चाहे कुछ भी हो जायँ, कितनी ही ऊँची पदवी और कितनी ही विशाल संपदा पा जायँ किन्तु हमने यदि पीत पटवारे से प्रेम नहीं किया तो कुछ नहीं किया, इसके बिना हमारा जीवन निरर्थक है। भक्ति का यही अनन्य भाव रसखान को महान भक्तों की श्रेणी में बिठा देता है। वे कहते हैं कि वही वाणी, कान, हाथ, पैर, प्राण और जीवन सच्चा है जो कृष्ण के गुणों के गायन, श्रवण, उनके स्पर्श, अनुसरण और ध्यान के प्रति समर्पित है।

भक्ति विषयक छंदों के ही संदर्भ में उन्होंने कुछ उपदेशपरक पंक्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें यह कहा गया है कि हमारा जीवन संकल्प, नियम और संकल्प से परिपूर्ण होना चाहिए, उसमें दुर्भाव न होना चाहिए, उज्ज्वल सत्संग होना चाहिए — जीवन यापन की यही सच्ची और पुनीत पद्धति है, यही भक्ति है, यही अर्पण है, यही सेवा है, यही त्याग है और सबसे बड़ी बात यह है कि गोविन्द का विस्मरण कभी न होना चाहिए—

> मिलिये सब सों दुरभाव बिना, रहिये सतसंत उजागर मैं।
> रसखानि गुविंदहिं यों भजिये, जिमि नागरि को चित गागर मैं।।

जीवन का यही पवित्र यापन सच्ची ईश्वर भक्ति है। भक्ति अकर्मण्य का नाम जप नहीं है, वह नाम है सदाचार और सत्यपूर्ण जीवन का, निर्लिप्त और संयत आचरण का, सद्भाव और सत्संगयुक्त आत्म विकास था। ऐसे ही कर्मों से संकुल जीवन के बीच सच्ची ईश्वर भक्ति निहित समझनी चाहिए सभी कर्मों के बीच ईश्वर का ध्यान बना रहना चाहिए उसी प्रकार जैसे डोल खींचती हुई पनिहारिन किधर भी झूलती रहे किन्तु पल भर के लिए भी डोल से उसका ध्यान इधर-उधर नहीं होता। साधना की अन्य पद्धतियों की अपेक्षा रसखान को भक्ति, सेवा और प्रेम का रुचिर पथ ही अधिक सुगम और प्रिय था। अत्यंत दुःसाध्य तथा कष्टपूर्ण साधनाएँ उनके मनोनुकूल न थीं—

> कहा रसखान सुखसंपति सुमार कहा,
> कहा तन जोगी ह्वै लगाए अंग छार को।
> कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच जल
> कहा जीति लाए राज सिंधु आर पार को।
> जप बार-बार तप संजम बयार-व्रत,
> तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
> कीन्हों नहीं प्यार नहीं सेयौ दरबार,
> चित चाह्यौ न निहारियौ जौ पै नंद के कुमार को।।

रसखान मुसलमान होकर भी कृष्ण के अनन्य भक्त और प्रेमी थे किन्तु उनकी यह अनन्यता अन्य देवी देवताओं के प्रति सम्मान प्रकट करने में बाधक न थी। वे उदाराशय व्यक्ति थे तथा हिन्दू भक्तों के समान उनके आचार-विचार हो गए थे, वैष्णव धर्म और आदर्शों की उन्होंने श्रद्धापूर्वक महत्ता स्वीकार की थी। उनकी रचना से पता चलता है कि वे अन्य देवी-देवताओं को पर्याप्त सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। गंगा जी की महत्ता और गरिमा सूचक तथा शिवस्तुतिपरक एक दो छंद भी उनके काव्य में मिलते हैं। हरी और शंकर को एक ही रूप या मूर्ति में कल्पित कर रसखान ने इन देवताओं में तात्विक अभेद दिखलाया है।

आलम

आलम के काव्य की मुख्य भावना शृंगार ही है जिसे उन्होंने 'आलम केलि' में मुक्तकों के अन्तर्गत तथा 'माधवानल काम कन्दला' और 'श्यामसनेही' में कथा के माध्यम से अभिव्यंजित किया है। आलम में काव्य के भावपक्ष का विस्तार रसखान, घनआनंद, ठाकुर और द्विजदेव की अपेक्षा अधिक ही है। बोधा की अपेक्षा भी। दूसरे उनके काव्य में एक ओर जहाँ रीतिमुक्त प्रेम प्रवाह में बहने की प्रवृत्ति लक्षित होती है वहीं रीतिबद्धता भी सर चढ़ी बैठी नजर आती है। पहले हम उनके मुक्तक काव्य की भाव-भूमि का ही अवलोकन करेंगे।

आलम कवि ने अपनी कविता में मुख्य रूप से नायक-नायिका-प्रेम का वर्णन किया है। स्त्री पुरुष का पारस्परिक सम्मोहन जो सामान्यतया सभी रीति कवियों का प्रधान वर्ण्य रहा है आलम का भी काव्य विषय बना है। नायक नायिका का यह प्रेम कभी गोपी कृष्ण और कभी राधा कृष्ण का प्रेम हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि के मन में ब्रज और कालिंदी का वातावरण घूमता रहा है, कृष्ण और गोपी की भावना काम करती रही है। उनका वर्णन करते समय कवि ने कृष्ण गोपी राधिका आदि का नाम सामान्यतया नहीं लिया है यदि लिया है तो बहुत कम स्थानों पर ही लिया है। इस प्रकार से ब्रज के प्रेम-मंडित वातावरण की कल्पना के बीच कवि ने नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम वर्णित किया है।

नायिका का रूप-सौन्दर्य

इस प्रेम और शृंगार के आधार हैं नायक-नायिका और उनका रूप-सौन्दर्य। आलम कवि की दृष्टि नायिका के सौन्दर्य पर ही विशेष रूप से निबद्ध रही है, उसका वर्णन उन्होंने विशेष विस्तार और मनोयोग से किया है और यह उचित भी है क्योंकि जिसके अवलम्ब से शृंगार का उद्रेक होता है यदि उसी के स्वरूप की सम्मोहक प्रतिष्ठा न हो सकी तो रस निष्पत्ति किस प्रकार सम्भव है ?

नायिका के सौन्दर्य का वर्णन आलम ने तीन रूपों में किया है एक तो आलंबन रूप में जिसमें साक्षात् उसी का वर्णन किया गया है दूसरे दूती के माध्यम से जिसमें नायक के समक्ष दूतियाँ नायिका के सौन्दर्य सौकुमार्य आदि का कथन करती हैं तीसरे नायक को ही नायिका पर रीझा हुआ दिखलाकर।

शृंगार के आलंबन रूप में वर्णित नायिका का वर्णन अलंकृत शैली में विशेष किया गया है जिसमें उपमा, प्रतिपाद अलंकारों के सहारे उसका रूपोत्कर्ष व्यंजित हुआ है। नायिका के अंग-अंग पर कवि की दृष्टि गई है तथा उनके सौन्दर्य पर कभी कोई उपमा निछावर की गई है और कभी कोई उपमा तिरस्कृत। नायिका के बोल की मिठास, अंग की कांति, मुख का सौन्दर्य, कटि की क्षीणता, वेणी, छूटी हुई अलकें, हँसना, रूठना, अंग-अंग से छवि का छलकना, अंग-अंग के आभूषण, दाँत, नाक, आँख सभी पर कवि की दृष्टि दौड़ी है और इन्हीं के अलंकृत उल्लेखों से ही नायिका के रूप की सत्ता आलम की कविता में प्रतिष्ठित हुई है—

(क) हीरा से दसन मुख बीरा नासा कीर चारु
सोने से शरीर रचि चली चीर धाम को।

(ख) आलम कहै हो बड़े बार हैं सेवार भए,
तेरी तरुनाई सु जराइ सी जगति है।
मोतिन को हार हिये हौस ते पहीरै नहीं,
पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है।

ऐसे वर्णनों में परंपरागत विधियों को अपनाकर आलम चले हैं जहाँ चमत्कार ही प्रधान है, रूप चित्रण नहीं फिर भी रूप का उत्कर्ष तो व्यक्त हुआ ही है। सौन्दर्य चित्रण करते हुए जहाँ कहीं भावुकता अथवा सच्ची सहानुभूति आ मिली है वहाँ कविता भी निखर उठी है और रूपसि का रूप भी –

चितवत औरै लागै बोलै औरै जोति जागै,
हँसे कछू औरै रूसे औरई निकाई है।
अंग अंग मोहनी मोहन मन मोहिबे को,
एन-नैनी मानो मैन मोहनी बनाई है।
'आलम' कहै हो रूप आगरो समातु नाहीं,
छबि छलकति इहाँ कौन की समाई है।
भूषन को भाक है किसोरी बैस गोरी बाल,
तेरे तन प्यारी कोटि भूषन गोराई है।।

यहाँ वह सौन्दर्य नायिका में प्रतिष्ठित किया गया है जो प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ नव्य से नव्यतर होता चला जाता है। यही वास्तविक सौन्दर्य का भारतीय मानदंड भी है। नायिका ऐसी रमणीय और मनोमुग्धकारिणी है कि उसके एक-एक

क्रिया-कलाप से प्रभा के नए-नए द्वार से खुलते जाते हैं। उसका प्रत्येक आचरण नवीन कांति और शोभा का सृजन करता चलता है। ऐसी रूप की राशि भला किसी का मन कैसे न मुग्ध कर लेगी! उसे तो मदन ने अपने विशेष मनोयोग से विसृष्ट किया है। उसके अंगों से तो छवि छलकी पड़ रही है। उसके अंगों की वर्णच्छटा तो करोड़ों आभूषणों के समान है।

नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आलम ने एक स्थान पर लिखा है कि तेरे अंग-अंग से तो ऐसी-ऐसी नवीन कांति फूट रही है कि जान पड़ता है जैसे तूने किसी रूप और सौन्दर्य के मुल्क को ही लूट लिया हो। तू भला जुही की माला के समान लज्जावनत क्यों हो रही है? तू तो अपने सौन्दर्य के कारण श्रीकृष्ण के हृदय में चुभ गई है। घने श्यामल केशों के बीच अपने तारुण्य के साथ तू तो जड़ाऊ गहने के समान दमक रही है। तू अपने हृदय की प्रेम भरी उमंग के कारण मोती की हलकी सी माला का भी निषेध किये हुए है और काँच की गुरियों की छोटी-छोटी सी माला पहन कर भी अप्सरा सी प्रतीत हो रही है। नायिका के रूप सौन्दर्य का यह चित्रण अत्यंत प्रभावशाली है। स्वाभाविक सौन्दर्य का ही वर्णन करते हुए एक अन्य स्थान पर आलम ने लिखा है कि तेरे कनक से वर्ण वाले गात में हीरे की सी उज्वल आभा है। तेरे लिए शृंगार के सारे प्रसाधन तो व्यर्थ हैं, तू तो अपना शृंगार स्वयं है। स्वर्णकार विधाता ने स्वयं तुझे अनुपम शोभा प्रदान कर जड़ाऊ गहने-सा कान्तिपूर्ण बना दिया है—

> ऐसे रूप देस की लुनाई लुटि लई है सु
> नई नई छबि अंग-अंग उमगति है।
> मोतिन को हार हिये हौंस ते पहीरै नहीं,
> पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है॥

कहीं-कहीं आलम ने नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे कामकेलि के सर्वथा उपयुक्त बतलाया है और शरीर के समस्त संतापों को हर लेने वाला कहा है। ऐसी अभि-व्यक्तियों में आलम भावना की दृष्टि से बोधा के समीप आ गए हैं—

> (क) सौरभ सकेलि मेलि केलि ही की बेलि कीन्ही,
> सोभा की सहेली सु अकेली करतार की।
> (ख) तपति हरति कवि 'आलम' परस सीरो,
> अति ही रसिक रीति जानै रस चार की।
> ससि हूं को रसु सानि सोने को सरूप लैकै,
> अति ही सरस सो सँवारी घनसार की॥

नायिका के सौन्दर्य-सौकुमार्य आदि का जो अभिव्यंजन कवि ने दूतिकाओं के मुख से कराया है उससे भी कवि की ही सौन्दर्य दृष्टि और सौंदर्यानुभूति लक्षित होती है।

प्रयोजन भी नायिका का सौंदर्यांकन ही होता है, दूतिका मध्यस्थ मात्र रहती है। इस प्रकार से नायक में नायिका के प्रति रुचि उपजाने अथवा अनुराग जगाने का जो आयोजन किया गया है उसका कारण परम्परा पालन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इससे आलम की काव्यशक्ति कुंठित ही हुई है तथा अनपेक्षित पिष्टपेषण ही हुआ है जिससे स्वतंत्र-कवित्व-शक्ति के ह्रास का भी पता चलता है और साथ ही साथ कामुकता की दुर्गन्धि भी फूटी है उदाहरण के लिए एक ही छंद पर्याप्त होगा—

काम रस माते है करेरी केलि कीन्हीं कान्ह,
फूलनि की मालिका हू मींड़ि मुरझाई है।
'आलम' सुकबि यहि और सी न जानो बलि,
ऐसी नारि सुकुमारी कहौं कौने पाई है।।
कमल को पात लै लै हाथ याको गात छूजे,
हाथ लाये मैली होय गात की निकाई है।
अंचर दै मुख सनमुख तासों बात कीजै,
नातरु उसाँस लागै मुकुर की हाई है।।

अंतिम दो चरणों में सौकुमार्य की जो पवित्र भावना—अतिशयोक्तिमूलक वर्णनशैली में ही सही—जागृत होती वह पहले दो चरणों के कारण नितान्त मैली हो गई है। दूतिकाओं द्वारा वर्णित नायिका का सौंदर्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। वे तरह-तरह से नायिका के सौंदर्य का बखान करती हैं। इस पद्धति से भी आलम की ही रूप कल्पना व्यक्त हुई है। आलम के दिल और दिमाग में नायिका के सौंदर्य और रूप की जो भी कल्पना या भावना रही होगी वही दूतियों के माध्यम से भी अंकित हुई है। नायिका के स्वरूप चित्रण में दूतियों ने उसकी अंगकांति या वर्णच्छटा पर अधिक जोर दिया है उनकी उज्ज्वलता और गोरेपन को लेकर अनेक मनोहर कथन किये हैं—नायिका के अंगों में नई ज्योति है, अनंग-अंगना के समान अनिंद्य सुन्दर-श्वेत साड़ी में गौरवर्णी उज्ज्वलता को भी उज्ज्वल कर रही है तथा मौक्तिक दाम धारण करके तो वह विकसित चन्द्रप्रभा-सी प्रतीत होती है। उसके देह की गठन, वेश भूषा, आभा आदि को देखकर तो लगता है मानो क्षीर सागर को मथकर के चन्द्रमा निकाल लिया गया हो। रात्रि में जब वह किसी कुंज में प्रवेश करती है तब उजेला आप से आप पसरता चलता है। उसकी अंगों की जगमगाहट तो रवि रश्मियों के संभार से और भी अनुरंजक हो उठती है। चन्द्रमा उसमें है, बिजली की दमक उसमें है। इस प्रकार आलम की प्रेमपुनीत गोपिकाओं में शारीरिक कांति अछोर कही गई है। उसके अंग-अंग में सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति है। आभा तो उससे फूटी पड़ रही है। उसके एक अंग में, एक-एक रोम में यौवन और ज्योति पुंजीभूत है। जिस घर में ऐसी नायिकाएं पहुँच जायँ उसमें देहरी-दरवाजे तक दीपक

की क्या आवश्यकता –'पून्यो ऐसी आनि घर पैठिहै घरी में बाल, देहरी दुवार लागि दीपकु न चाहिहौ।' इस संदर्भ की कुछ ही पक्तियाँ लीजिये—

(क) ऊजरई को उज्यारी गोरे तन सेत सारी,
मोतिन की जोति सों जुन्हैया मानो बाढ़ी है।
देह की बनक वाके चीर म चमक छाई,
छीर निधि माथे किधौं चांद चीर काढ़ी है॥

(ख) जामिनी में जात सब कुंज में उज्यारी होति,
दामिनी कहोगे कहे कामिनी न मानिहौ।

जिन नायिकाओं की ऐसी अपूर्व शोभा और श्री का बखान दूतियों ने किया है उनका कोई प्रयोजन न हो ऐसी बात नहीं है। उनका प्रयोजन अनेक छंदों में कहा गया है—जरा चल कर उनकी द्युति देखो तो सही, मैं तो रीझ ही चुकी हूँ जरा तुम भी तो देखो, ऐसी युवती को पाकर जीवन को धन्य समझो, उसे देखने से ही तुम्हारा मन मानेगा आदि। इस प्रकार के कथनों से भी और कांति के वर्णन में वासना की मलिनता प्रवेश कर गई है जो परंपरागत चित्रण पद्धति के अनुसरण का स्वाभाविक परिणाम है। वैसे नायिका की तन कांति और वर्णोज्ज्वलता का वर्णन अत्यंत उत्कृष्ट है इसमें संदेह नहीं।

नायिका के अंग सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आलम ने एक-एक अंग-का पृथक-पृथक वर्णन नहीं किया है वरन एक समूचा चित्र उपस्थित करने के लिए कवि के दृष्टि पथ में नायिका के जितने अंग आ गए हैं उन्हीं भर का वर्णन हुआ है जैसे—

(क) उरज उतंग मानो उमगो अनंग आवै,
कसि बैठी आँगी उर गाढी जरीबंद की।
सुभर नितंब जंघ रंभा के से खंभ चलि,
मंद मंद आवै गति मद के गयंद की॥

(ख) आठो अंग निपट सुठानि बानि ठानि ठई
गाँठि से कठोर कुच जोबन की ठेंठी है।
गुन की गंभीर अति भारियै जघन जुग,
थोरे ही दिनन गोरी रूप रंग जेठी है॥

यहाँ नायिका के उमंग और काम मद भरे सुगठित अंगों का वर्णन मिलता है। गठीले अंगों के सौंदर्य चित्रण के साथ-साथ उनके प्रभाव की ओर भी जब तब संकेत कर दिया है कि यह नायिका अपने अंगों के सौंदर्य की भार से मन को मरोड़ या उमेठ डालेगी अथवा यह विधिकृत यौवन की मतवाली अवश्य ही किसी न किसी मनुष्य के प्राण ले लेगी। कवि के ऐसे अप्रत्यक्ष कथनों को यदि नायिका के रूप और अंग सौंदर्य की कल्पना से जनित उसके हृदय की निजी प्रतिक्रिया मान ली जाय तो कोई अनो-

चित्य नहीं। आलम ने अधिकतर वर्णन तो अकुंठ चित्त से ही किये हैं। अति अश्लील प्रसंगों में यह हिचक अवश्य मिलेगी जो स्वाभाविक है और अनुचित भी नहीं। अंग वर्णन करते हुए कहीं-कहीं एक या दो अंगों के संक्षिप्त उल्लेख या वर्णन से भी—एक छवि सामने आ गई है यथा—

(क) देह मैं बनक सी है लोक हू तनक सी है,
नूपुर झनक सी है महाछवि बढ़ी है।
(ख) भारी सो लागतु हियो ज्यों ही उर ऊँचो होतु,
डगनि भरति कटि टूटिबे डराति है॥

अंग वर्णन के साथ कहीं चलने, तिरछे देखने और मुस्कराने आदि का वर्णन है पर वह आंगिक सौंदर्य-शोभा के वर्णन को पूर्णता प्रदान करने के उद्देश्य से हुआ है।

सहज शोभा के साथ किये जाने वाले कृत्रिम शोभा विधान संयुक्त स्वरूप चित्रण की अब कुछ बानगी लीजिये—

(क) चन्द की मरिचि भरि साँचे ढारी साचि रस,
कंचन जड़ित जनु रतन की पाँति है।
भूषण की आभा अंग सोभा के सुभाइ मिलि,
चाहे चकचौंधे चितु रवि की सी कांति है।
(ख) गोरे गात गहनो जराउ को जगमगत,
ऐसी कबि 'आलम' है जोबन सुभालसी।
दीपति नवीन नग पाँति पट झाने मानो,
कंचन के खंभ में दिपति दीप माल सी॥

नायिका की शोभा और सुन्दरता कुछ अतिरिक्त शृङ्गार से ही अत्यंत चमत्कृत रूप में प्रत्यक्ष होती है। नायिका के स्वरूप का निर्माण चन्द्रमा की मरीचियों से किया गया है, उसके आभरण उसकी शोभा-समृद्धि में योग देते हैं। जिन वस्त्राभरणों से वह अलंकृत है जरा उस पर भी दृष्टिपात कीजिये। वह छविशालिनी अपनी अटा से उतर क्या गई जैसे चाँद ही डूब गया हो—

(क) कुसुंभी पहिरि हिये कुसुम के हार गूँथे,
केसरि कुसुम लखि लागैं दृग दूसरी।
अछा ते आछी आछे चच्छु छबि छोरनि लौं,
आछी-आछी काछी आँगी उरज अछूनी।
(ख) पहिरे कुसुंभी सारी सादी सेत आँगी आँग,
छाती छवि चाहि फेरि छाँह ही चहति है।
चूड़ा पाँदू फेरि करि बेसरि सुधारि धारि,
कंकन करनि फिरि मन उमंगति है॥

पट परिधान और आभरण नायिका की शोभा के बाह्य उपकरण हैं, उनका महत्व नायिका के सौंदर्य चित्रण में कम कैसे किया जा सकता है ?

कुछ छंदों में नायिका का वर्णन आलम ने अलंकृत पद्धति पर किया है। कभी 'उल्लेख' का प्रयोग करते हुए वह कहता है कि नायिका चकोरों के लिए चन्द्रमा है, भ्रमरों के लिए कमल की माला है तथा मृगों के लिए नाद सौंदर्य से परिपूर्ण है और कहीं पर रूपकातिशयोक्ति के सहारे इस प्रकार के बंधान बाँधता है—'चंपा सिंह सारस, करिनि कोकिला, कदलि, बीज, बिंबलीने सब ही को मन बंधु है।' अलंकृत शैली में किये गए सौंदर्य वर्णन में स्वरूप साक्षात्कार तो नहीं होता किन्तु वर्णित वस्तु के सौंदर्य को काल्पनिक उत्कर्ष अवश्य प्राप्त हो जाता है साथ ही साथ कलात्मक चमत्कार की विशेष सृष्टि हो जाती है। इस पद्धति पर नेत्रों के वर्णन से सम्बन्धित आलम का एक छन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नायिका के नेत्रों में ही समुद्र मंथन से निकले चौदह रत्नों की कल्पना की है जिस पर अलंकार प्रेम काव्यालोचक लाला भगवानदीन मुग्ध हो कह उठे हैं कि 'यह कमाल इसी कवि ने दिखलाया है।' वह छन्द इस प्रकार है—

सेत संख बिधु जोति अंजन जहर सजि,
बक्र धनु अरुन सुमनि सँग लाए हैं।
प्रेम सुरा सूधे धेनु सुन्दर समान रंभा,
'आलम' चपल हम काम के सधाए हैं।
प्रीति मधु पूतरी कलप लच्छो पूरन,
धनंतरि सुदिष्टि गज गति पलटाए हैं।
काहे को समुद्र मथि देवतान श्रम कीनो,
चौदह रतन तिय नैननि मैं पाए हैं।।

समग्र रूप से आलम के रूप-सौन्दर्य-वर्णन पर दृष्टिपात करते हुए कहना पड़ेगा कि आलम कवि ने सौंदर्य-चित्रण के क्षेत्र में भले ही किसी अभिनव पद्धति का श्री गणेश न किया हो परन्तु उनमें सौंदर्य को देखने-परखने और उस पर रीझने की सच्ची शक्ति प्राप्त थी और इसी के कारण उनका रूप सौन्दर्य वर्णन बहुविध है। रूप के प्रभाव और उसके आकर्षण, उसकी रमणीयता और अनूठेपन का जिन नाना रूपों में उन्होंने वर्णन किया है वह उन्हें श्रेष्ठ कवियों की कोटि में बिठाने में सहायक हुआ है। रूप के अलकृत और अनलंकृत तथा सामूहिक चित्रण में उन्होंने विशेष सिद्धहस्तता दिखाई है।

प्रेम-चित्रण

ऊपर आलम द्वारा अंकित उस रूप और सौन्दर्य की कुछ चर्चा हुई जिस पर प्रेम अथवा रति आश्रित हुआ करती है; अब उस प्रेम-भावना का स्वरूप देखिये जिसे रसिकवर आलम ने बड़े मनोयोगपूर्वक अंकित किया है।

सयोग शृङ्गार के अंतर्गत जो प्रणय के चित्र तथा प्रेम की जो भावनाएँ प्राप्त हैं उनके दो वर्ग पृथक-पृथक किये जा सकते हैं। एक तो इस प्रकार का प्रेम चित्रण जा सर्वथा स्वतंत्र, निर्व्याज, सहज और स्वाभाविक कहा जा सकता है, दूसरा परंपरा समर्थित रीतिबद्ध शैली का प्रेम चित्रण जिसके अंतर्गत खंडिताओं, मानिनियों, अभिसारिकाओं आदि के शास्त्रोक्त चित्र तो हैं ही, उत्तान शृंगार के भी अनेक चित्र आ गए हैं।

सहज और स्वच्छन्द शैली के प्रेम चित्रण में ब्रज भूमि का पावन वातावरण संसृष्ट हुआ है—यमुना, निकुंज और ब्रज बीथियों की चर्चा आई है, मन को मोह लेने वाले प्रेम के कथन हैं, एक दूसरे के प्रति कहासुनी और उलाहने हैं, गाँव घाट की बातें हैं, रूप का आकर्षण है। कोई रूप पर रीझ रही गोपिका तो कोई रंग पर, कोई चितवन पर लट्टू है तो कोई विहँसन पर, कोई उनके वेणुवादन पर विमुग्ध है तो कोई उनकी मोहिनी पर। तात्पर्य यह है कि कृष्ण के पास मोहने वाले उपकरणों की कमी नहीं और उधर मुग्ध होने वालों का भी कोई अभाव नहीं। कृष्ण की अचगरी और शरारतों ने किसे तंग नहीं कर रक्खा है परन्तु मुग्ध वे भी हैं। उनके उपालंभ और रोष-कथन परिवर्तित रूप में प्रेम कथन ही हैं। कभी कंकड़ी मार कर कृष्ण खिसक गए, गोपिका की आंख बाल-बाल बच गई, कभी किसी गोरस बेचती हुई गोपिका का रास्ता रोक लिया, कृष्ण की शरारतों के यही सब ढंग हैं। इन समस्त वर्णनों में एक भोलापन है, एक सरल स्वच्छन्दता है जिससे आलम की रचना में भावगत उत्कर्ष आ गया है।

कृष्ण कम उम्र में ही एक अधिक वय वाली किन्तु परिपूर्ण यौवना गोपिका से कुछ अपने हृदय की प्रेम पीड़ा कह चलते हैं। वह उम्र में बड़ी थी और अनुभव में भी इसलिए एक मीठी सी फटकार सुनाती हुई बढ़ चलती है—

> भारी बैस राचा जिनि भुरये हौ साँची नहीं,
>
> काँची प्रीति जानौ जहाँ कहूँ नैना लागे हैं।
>
> अजौं मसि भींजी नहीं ऐसी मन बसी बातैं,
>
> बोली ठोली हाँसी के कन्हाई दिन आगे हैं॥

बढ़ी हुई आयु में उठने वाली इस प्रकार की प्रतिक्रिया और कृष्ण की रस लोभ भरी शरारतों के लिए दी जाने वाली यह मधुर फटकार शाश्वत है और उसकी यह शाश्वतता ही हमारे मनस्तल को स्पर्श करने वाली है। कृष्ण एक गोपिका पर आसक्त हैं, वह गोपिका भी उन पर कम आसक्त नहीं। अंतर इतना ही है कि कृष्ण लोक का भय छोड़े हुए हैं और गोपिका लिये हुए। वह कृष्ण को समझाती है—मैं जानती हूँ कि तुम्हारा मन तुम्हारे हाथ अब नहीं रहा, तुम निडर होकर मेरे पास खड़े रहते हो या अगल-बगल बैठकर उसासें लेते रहते हो या आँसू गिराते हो। प्रेम के पंथ में तो दुःख

के काँटे रहते ही हैं, उसे पार कर लेने पर हम दोनों का मिलन होना ही है पर अभी एक बात का जरा ध्यान रक्खा करो। मेरे पास जरा कम फटका करो क्योंकि यदि कोई देख लेगा तो लोग हमारे पीछे पड़ जायँगे—'आँखिन के आगे तुम लागेई रहत नित, पाछें जिन लागो कोऊ लोग लागू होयगो।' यहाँ पर गोपिका के मन में छिपा हुआ लोकापवाद का भय नितांत स्वाभाविक है। एक चित्र है जिसमें एक गोपिका शृंगार करके अपने घर से दीपक लेकर नंदभवन में दीपक जलाने आती है। ज्योति से ज्योति जुड़े इसके पहले ही उसकी आँखें कृष्ण की आँखों से जा जुड़ीं। उस मतिमारी और आत्म विस्मृत गोपिका ने बाती की जगह अपनी उँगली ही जला ली। सब कुछ पा लेने पर सब कुछ भूल जाने का यह कैसा प्रेम भरा चित्र है—

> जोति सों जुरति जोति आगे नैना जुरे जाइ,
>
> चातुरी अचेत भई चितयो कन्हाई है।
>
> बाती रही हाती रसमाती छबि छाती पूरि,
>
> पाँगुरी भई है अति आँगुरी लगाई है।।

इसी प्रकार एक अन्य गोपिका है जिसकी अभी-अभी श्री कृष्ण से प्रीति जुड़ी है। वह उसे पूर्णतः गुप्त रखना चाहती है पर उसकी सहेलियाँ उसे गुप्त नहीं ही रहने देतीं। जब उसे अपने हृदय से लगाकर पूरी आत्मीयता जनाती हुई उसकी धाय ने पूछा कि क्या तुझे प्रेम हुआ है तो भी उसने जाहिर न होने दिया, वह प्रेम के उन बेश कीमती आँसुओं को ही पी गई—

> पूछे तिहि अँसुवा कहे हो ? कहै कैसे आँसू,
>
> पलकैं पसारी दई पुतरीनु पी गई।

वह अपने प्रेम के प्रति कितनी सच्ची थी ! प्रेम तो दो के बीच का व्यापार है, उसमें तीसरे की गुंजाइश कहाँ ?

प्रेम में फँसने का मार्मिक प्रभाव देखिये। गोपिका जब से कृष्ण से अचानक भेंट करके आई है उसकी छाती काँपती रहती है, वह खरिक में दूध दुहने गई, वहाँ से भी दोहनी फेंक कर प्रकंपित शरीर लिए चली आई। उसके प्रेम से काँपते हुए मन और शरीर का चित्र एक ही पंक्ति में मूर्त्त हो उठा है—'घाइल लराइल सी मानो करसाइल सी, बार-बार बाइल सी घूमति खरिक ते।' प्रेम में फँसने और रूप पर रीझने की कथा ही कुछ विचित्र हुआ करती है, वह विचित्रता आलम की प्रेम-वर्णना में भी अपना अनूठापन लिये हुए अवतरित हुई है। जो गोपिका गागर लेकर जल भरने जाती है वह गागर तो छोड़ आती है पर कृष्ण के रूप रस से अपने नैनों की गागर जरूर भर लाती है—'रूप रस प्यासी भई कान्ह तन डीठि दई, गागरि भरन गई नैना भरि लाई हैं।' ये गोपियाँ रीझती और आसक्त होती हैं कृष्ण के रूप पर, अंग-प्रत्यंग पर, आचरण और उनके क्रिया व्यापारों पर यहाँ तक

कि हँसने, बोलने, देखने और मुस्कराने पर। कृष्ण की मोहक शक्ति, उनका वेणुवादन, रासलीला और शरारतों से भरी अन्यान्य क्रीड़ाएँ ही गोपियों के आकर्षण का अवलंब हैं। एक गोपिका का मन तो खड़े ही खड़े बिक जाता है—कृष्ण आते हैं तथा जाते-जाते एक बार मुँह मोड़ कर उसे देख जाते हैं। बस इतने में ही तो उनके रूप का विष उसे चढ़ जाता है, उसके जीव या प्राण को जैसे वे खुरच कर ले जाते हैं-'नेकु मुख मोरि कै करोरि जिय लै गयो।' इस उद्दाम आकर्षण का मूल कारण था कृष्ण की अपार रूपराशि। कृष्ण का असीम रूप सौंदर्य गोकुल की कुलीन से कुलीन कन्या के लिए और सती से सती कुलबधू के लिए एक खुली चुनौती था। कृष्ण की मुरली की एक टेर उन्हें 'आर्यपथ' से विचलित करने को काफी थी, उन्हें कुल गली छोड़ने को बाध्य करने के लिए पर्याप्त थी। यह बात औरों की तो बात ही क्या स्वयं गोपियाँ स्वीकार करती थीं। उनका तो कहना था कि हमारा सारा सयानपन या अभिमान तभी तक ठहर सकता है जब तक हम कृष्ण की गली में नहीं जातीं—

तब लौं सयानु अभिमानु कबि 'आलम' हो,
जौ लौं आली नेकु खोरि कान्ह की नहीं गई।
आपै तें न आयो जात कीजतु राही को भायो,
वा तनु चितैये नेकु जनु वाही की भई॥

ये गोपिकाएँ आपस में कृष्ण की शरारतों की चर्चा करती हैं और कभी तत्परिणाम-स्वरूप होने वाली अपनी मनोदशा का। वे कहती हैं कि वह नम्बरी शरारती है इसमें संदेह ही क्या? पास चला आता है और धक्का दे देता है ऊपर से हमीं से लँगराई (ढिठाई) करता है। हमारा कहना लेश मात्र भी नहीं मानता, बस अपनी ही करता है और विशेष बात यह है कि डरता किसी को भी नहीं। अपने शरीर को नृत्य की मुद्रा में चपल करता हुआ समीप आ जाता है, मना करने पर भी दूर नहीं होता। सहसा मटकी छीन कर फोड़ देता है और वस्त्र खींचने लगता है। लटें मेरी बिखरकर अस्त-व्यस्त हो जाती हैं और वस्त्र भी। बस मेरी भुजा पकड़कर आँखों में आँखें टिका देता है तथा एक क्षण इसी प्रकार देखते रहकर सटक चलता है। बस उसकी इतनी सी शरारतों में मैं भी भूल भटक जाती हूँ। परन्तु कृष्ण की इन शरारतों से गोपियों की आसक्ति कम होने वाली न थी, उनकी खीझ में भी उनकी रीझ अंतर्हित है और देखिये इस रीझ को कि जिसके बस हुई गोपिका 'घर देखै बन देखै घरी घरी जाइ देखै, देखिबो करतु मनु ना देखि ना अघानो है।' गोपिका की आसक्ति ऐसी ही है कि उसका जी ही नहीं अघाता। इस अतृप्ति में ही उसके आकर्षण प्रेम और रीझ का वास्तविक सौंदर्य निहित है। जब दोष ही प्रेमाधिक्य के कारण गुण प्रतीत होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि रीझ अपनी चरम सीमा को पहुँच गई है। रीझ अथवा प्रेम का पंथ कुछ ऐसा ही माना गया है जहाँ इस प्रकार का कुछ निराला-

पन हुआ ही करता है। प्रिय के दुर्गुणों पर प्रेमी ध्यान ही नहीं देता! चकोर चन्द्रमा को ही देखा करता है उसे चन्द्रमा के मधुर शीतल प्रकाश के समक्ष सूर्य का इतना तीव्र प्रकाश फीका जान पड़ता है। भँवरा भी फूल के लोभ में बेल के काँटों की परवाह नहीं करता। आलम की एक रिझवार गोपिका भी इसी प्रकार कृष्ण की श्यामता में उज्ज्वलता के दर्शन करती है, उसे कृष्ण को काला कहने में गँवारपन-सा लगता है।

> कारो कान्ह कहत गंवारा ऐसी लागति है,
> मोहिं वाकी श्यामताई लागति उज्यारी है।
> मन की अटक तहाँ रूप को विचारु कहाँ,
> रीझिबे की पैंड़ो तहाँ बूझि कछू न्यारी है।।

प्रीति का यहाँ कैसा सच्चा और ऊँचा स्वरूप निखरा है।

कृष्ण की चितवन कभी गोपियों के हृदय को बेधती है कभी उनकी बंशी के स्वर उन्हें सर्वस्वार्पण के लिए विवश कर देते हैं। कृष्ण की एक चितवन प्रेम मूर्ति गोपिकाओं के सर्वस्व हरण के लिए पर्याप्त है, इतने में ही उनकी कौन-सी गति नहीं हो जाती? वे पूरी तरह उनके आधीन हो जाती हैं, उनके हृत्स्पंदन की गति महा-तीव्र हो जाती है और उनकी धमनियों का भी धीरज खो जाता है। बहुत कुछ ऐसी ही दशा का कारण कृष्ण की बाँसुरी भी हो जाया करती है। गोपियों को मोहने के लिए मुरली कृष्ण का एक बहुत बड़ा अस्त्र थी। कभी किसी को नजदीक से दृष्टि डालकर देख लिया फिर दूर जाकर बंशी के स्वर लहराने लगे। बस इतने में ही गोपियों के मन-प्राण ऊब-डूब होने लगते थे। किसी की सुध-बुध भूल जाती थी तो किसी के प्राण कृष्ण में अटक रहते थे। कृष्ण प्रायः बाँसुरी वन में बजाया करते थे या वन से लौटते हुए या फिर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना हुआ तो गलियों से गुजरते हुए घर के झरोखों के आस-पास। यह सब साभिप्राय हुआ करता था। गोपियाँ भी सब काम-धाम छोड़ एक छण झरोखे पर आ खड़ी होती थीं या न कुछ तो कार्य स्थगित कर दो छण जहाँ की तहाँ मुग्ध हो लेती थीं। उनके प्रेम की सूखी हुई सरिता में बाढ़ आ जाया करती थी।

गोरस याचन और दान का प्रसंग भी प्रणय भावना का अटूट माधुर्य लिए हुए है। दान माँगने की बात है। कृष्ण रास्ता रोक कर अड़ पड़े हैं कि हम तो दूध दही का दान 'गोरस' लेकर ही छोड़ेंगे। गोपियाँ 'गोरस' (इन्द्रियों का रस) न समझती हों सो बात नहीं। वे भी समझ बूझ कर उत्तर देती हैं—हे कृष्ण! हमें रास्ता दे दो हम जायँ, बसेरा हमारा दूर है और फिर हम युवतियाँ हैं, हमें तो वहाँ समय पर पहुँचना ही है (अर्थात शाम होने से पहले)। लो दही पी लो और हमें चली जाने दो, व्यर्थ मत छेड़ो। तुम जो रस सोचते हो हमें नहीं मालूम, हम सब आखिर तो गँवार

गूजरी ही ठहरीं। तुम जैसे अच्छे छबीले छैल हो वैसी ही अच्छी और छबीली बालाएँ अभी पीछे और भी आ रही हैं, उन पर रीझो, वे तुम पर रीझेंगी। स्वयं मुक्ति पाने के लिए यह गोपी कैसा सहज सुन्दर और स्वाभाविक बहाना कर रही है और कृष्ण को बहका रही है। इसी से मिलते-जुलते और भी अनेक चित्र हैं रास्ते की छेड़छाड़ के। कभी कृष्ण बाट में कभी घाट पर रास्ता चलते कंकड़ी मार देते हैं, वह भी चुपचाप चली नहीं जाती। उसकी बतरस-लोलुपता उसे कृष्ण से तरह-तरह की बातें करने को प्रेरित करती हैं, ईषत् रोष प्रदर्शित करती हुई वह कहती है —

> बातक सों बरु बैरु बढ़ावत बाटहि घाट अनीति सची है
> ताहि सो खेल करौ नँद के सुत जाके हिये यह बात खची है ॥
> आलम बादिहि दोषु लगै सब कोऊ कहै यह याहि रची है।
> काँकरि यों जु कपोलनि ह्वै गई देखत हौ कैसे आँखि बची है ॥

इसी प्रकार कृष्ण का रास्ते में रोकना देख कर एक अनर गई हुई गोपिका अपने हृदय का पट इस प्रकार खोलती है—

> टोकत हौ मग रोकत हौ सु कहा इन बातनि कान्ह अघैहौ।
> हौं उमही जु कह्यौ सो कह्यौ हम का कहिहैं तुम ही पछितैहौ ॥

इन छंदों में प्रेममयी गोपियों के बड़े ही मोहक चित्र हैं। उनके मनोजगत का जैसा भव्य और पवित्र चित्र इन चितेरों ने एक-एक कवित्त या सवैये में मूर्त कर दिया है वह हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि है। हर छन्द मानों एक मूर्तिमती गोपिका है।

एक दिन गोपिका और कृष्ण एक ही रास्ते चले जा रहे थे, बस इतनी ही बात की चवाई (चुगली) चारों ओर चलने लगी। इस लोक निन्दा ने उसके प्रेम को और दृढ़ कर दिया—'आलम नैनंनि रीति यहै कुलकानि तजो पुतरी मुँह मं मांस।' इन गोपियों की 'दिखसाध' बड़ी प्रबल थी। एक की तो यह हालत थी कि उसे कोई कितना ही बुरा भला कहे वह बीस बहाने करके नंद भवन हो ही आती थी। कभी दूध या दही माँग लाती थी फिर उसे लौटा कर आग माँगने के बहाने चली जाती थी। रुखाई रोष या उलाहने के स्वर में यदि कोई कुछ कहता कि तू बार-बार यहाँ क्यों आती है तो इसी लालच में बीसों बातें बना आती थी कि किसी भी प्रकार कृष्ण को भर आँखें देखने पाती—'कौनहु भाँति कछू छिन कान्हरु जो अँखियाँ भरि देखन पैये।' एसी ही तरसती हुई ब्रज में कितनी ही गोपिकाएँ थीं, कुछ एक दो थोड़े ही। बहुतेरी ऐसी भी थीं जिन्हें कृष्ण-संपर्क का संपूर्ण सुख प्राप्त था। आँख की देखने की ललक रखने वाली एक गोपिका क्या कहती है देखिये—

> मैं सखी रूप की छाहँ सी छ्वै कबहूँ अँखियाँ भरि कान्ह न देखे।
> मो तन चाहि उन्हें चितवैं सहिये कैसे माइ दै लोक परेखैं ॥

जिसे एक भी बार समीप से भर आँख देखने को ही कृष्ण कभी नहीं मिले थे वह इस बात को सहर्ष सह सकती थी कि कृष्ण एक बार उसे देख कर अन्य सौभाग्यशालिनी गोपियों को देखने लग जाते लेकिन लोक की निंदा उसे असह्य थी। सही बात है, लोक की निंदा वही सह सकती है जिसे प्रिय के दरस-परस का सुख मिला हो या मिलता रहता हो। एक अन्य गोपिका है जो प्रीति में पग कर लोक लाज ही छोड़ चुकती है और 'चबाइयों' के बीच बैठकर अपना उपहास भी सह लेती है। बस उसको यही लालच है कि आँखों से कृष्ण को जी भर देख तो कुछ अपने दिल के अरमान उन पर जाहिर करना उतना नहीं।

आलम के सहज स्वच्छन्द प्रेम निरूपण में वह अंश काफी मार्मिक और मोहक बन पड़ा है जिसमें गोपियाँ अपने प्रेम को स्वयं कृष्ण पर ही व्यक्त करती हैं। ऐसे प्रेमकथनों में दो प्रकार के भाव विशेष रूप से पाए जाते हैं एक तो प्रिय की निष्ठुरता से संबंधित दूसरे आत्मदशा निवेदनात्मक। पहले प्रकार के छन्दों में कुछ अधिक प्रगल्भता है जब कि दूसरे प्रकार के छंद अधिक मार्मिक हैं। आत्मदशा निवेदन करती हुई गोपियाँ कृष्ण को कुछ पुरानी यादें दिलाती हैं जिनसे मर्मस्पर्श का गुण उनमें अधिक सन्निविष्ट हो सका है। स्मृति प्रवण रचनाओं में मुग्ध करने की अनूठी ताकत हुआ करती है, वही बात इन छंदों में भी सहज है।

कृष्ण की यह रीति थी कि प्रेम का नाता सभी से जोड़ लेते थे किन्तु निभाते किसी-किसी के ही साथ थे। एक ही पुर में बस कर भी उन ग्वालिनों की कभी खबर लेते थे जिनका चित प्रेम से निहार कर चुरा चुके रहते थे। उनकी इस निष्ठुरता पर गोपियाँ व्यंगाघात किये बिना न रहती थीं—

> भली कीनी आवत जू पाँव धारे याहि खोरि,
> अनत सिधारे कि बसत याही पुर हौ।
> निकट रहत तुम एती निठुराई गही,
> अब हम जाने तुम निपट निठुर हौ॥

कृष्ण कभी किसी गोपिका से कतरा कर चल देते थे, जब उससे नहीं रहते बनता तो कुछ कहने का उनसे साहस करती है और कुछ पूछने का भी। कहती यह है कि यमुना से लौटती हुई जबसे तुम्हें यमुना की ओर जाते देखा है यह शरीर अंदर ही अंदर दहता रहता है, किसी की पीड़ा तो समझाकरो, न सही नजदीक से दूर से ही अपना प्यारा मुँह दिखा दिया करो। ये क्या बात है कि ऊपर मुँह उठाकर देखते ही नहीं, नीचे ही नीचे मुँह किये चले जाते हो—'ऊँचे चितवन नाही नीचे मुसकात जात, ऐसो निठुराई गही कौने बदी कब तें ?' कोई इतना ही कह कर चुप हो रहती है कि जब तुम्हारे जी में इतनी निष्ठुरता आ बसी है कि किसी की पीर नहीं समझते तो फिर भला मेरा क्या बस है। कोई उनकी निष्ठुरता पर यों कहती है कि

मुड़कर मुस्कराते हुए तो तुमने हमारा मन ही मरोड़ दिया तथा मुँह मोड़कर और भी मार डाला अब यह दशा हो गई है कि शरीर पीत हो गया है पीले पत्ते की तरह और उसी की तरह प्रतिक्षण काँपता भी रहता है। तुम्हारे प्रेम में पड़ना तो मानो फाँसी के फंदे में पड़ना है—

तेरी घाली ऐसी भई य हो कान्ह निरदई,
तेरे प्रेम परें भयो फाँसी को परनु।

कभी अतिशय अनुराग के भाव-प्रवाह में बहती हुई दीन, अधीन और विवश-सी होने पर परमदासता भी अपनी व्यंजित करती हैं और उस समय परिस्थिति और भी अधिक करुण हो उठती है और कृष्ण की कठोरता भी अधिक उघड़ पड़ती है—'नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होहु पीय, पायन की धूरि हमैं दूरि कै न जानिये।'

जब वे अपनी दशा कृष्ण से बतलाती हैं तब उनके हृदय में भावों का आरोह इस प्रकार हुआ करता है—प्यारे! तुम तो मुझे देखकर चले गए, कभी तुमने ख्याल भी न किया होगा कि तुमने एक नजर मुझे भी देखा था पर मेरे लिए तो वही चितवन जीवन-सर्वस्व हो गई है, उसकी साल (पीड़ा) से मेरी जो हालत है मैं ही जानती हूँ। तुम्हारे जी में मेरे लिए क्या कुछ होता है, तुम्हीं जानो। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ! जिस दिन से तुमने मुझे देखा लोग मुझे विवर्ण बतलाते हैं और कारण पूछते हैं। हे प्रिय उन्हें मैं क्या कारण बताऊँ? अब अपने हृदय की पीड़ा को भी अव्यक्त रखना है और अन्दर ही अन्दर घुटना भी है। पता नहीं कब तक मुझे इस प्रकार धैर्य धारण करना पड़ेगा—

जा दिन तें तुम चाहे लोग कहैं पीरी काहे,
पीरौ न जनैये पल-पल जिय जरिये।
घूंघट की ओट आँसू घूंटिबो करत नैना,
उमगि उसाँस कौ लौं धीरज यों धरिये॥

एक गोपिका कहती है कि हे प्रिय! कृपा दृष्टि से तुमने मेरा चित्त चुरा लिया परन्तु देखने और न देखने दोनों ही दशाओं में हमें तो दुःख ही भोगना है, मेरी पलकें लगतीं ही नहीं, देखने पर टकटकी-सी लग जाती है और न देखने पर प्रतीक्षा में पलकें खुली रहती हैं—

देखे टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै,
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आन की न चिंता, हम;
देखेहु दुखित अनदेखेहु दुखित हैं॥

यह कथन आलम ने शब्द भेद से एक अन्य गोपिका द्वारा और भी कराया है—

कछु न सुहात पै उदास परबस बास,
जाके बस हूजै तासों जीते हू पै हारिये ।
'आलम' कहै हो हम दुहूं बिधि थकी कान्ह,
अनदेखे दुख देखे धीरज न धारिये ।
कछुवै कहौगे कै अबोले ही रहोगे लाल,
मन के मरोरे कौ लौं मन ही में मारिये ।
मोह सों चितैबो कीजै चित हू की चाह के जू,
मोहिनी चितौनि प्यारे मोतन निवारिये ।।

हृदय की नानाविध व्यथा उक्त छंद में तीव्रता से फूट पड़ी है । इस आत्म निवेदन में अधीन की दुःखपूर्ण दशा अपनी व्यथा, मन की मरोड़ आदि सब कुछ करने के बाद एक अंतिम बात कही गई है और वह यह कि हे प्यारे ! या तो प्रेम से देखो ही या अपनी दी हुई प्रथम प्रेम दृष्टि का प्रभाव मुझ पर से खींच लो । यही एकमात्र विकल्प है जिसे संपूर्ण सचाई से गोपिका ने प्रस्तुत किया है ।

और भी अनेकानेक छंद हैं जिसमें प्रेम की भावभंगिमाएँ पर्याप्त सफाई से अंकित हुई हैं । किसी में आँखों के लगने की और प्रेम के विकास की बात कही गई है तो किसी में कृष्ण की एक मुस्कराहट पर गोपिका को सर्वस्वार्पण करते दिखाया गया है । कहीं पर कृष्ण को प्रेम में दगा देने पर फटकार बताई गई है । और कहीं पर उदात्त सपत्नीक भाव दिखाया गया है तथा कहीं पर रासरस की भी चर्चा है । इन विविध छंदों में भावगत कोई एकसूत्रता न होने पर भी प्रेम की सुन्दर निवृति है ।

इस प्रकार प्रेम का स्वच्छन्द रूप से चित्रण करते हुए आलम कवि ने अपने चित्त की स्वच्छन्दता प्रकाशित की है । आलम अनन्य प्रेमी जीव थे इसी से उन्होंने प्रेम का खुलकर वर्णन किया है । सहजता, सरलता और स्वच्छंदता उसकी विशेषता है पर समसामयिक धारा में बहते हुए भी उन्होंने कुछ प्रेम वर्णना उसी पद्धति पर की । फिर भी आलम का मन एकदम मुक्त था । अकुंठ चित्त से उन्होंने जो कुछ कहना चाहा है कहा है । यह अवश्य है कि उन्होंने सीधे कुछ नहीं कहा है जैसा कि घन आनंद ने कहा है । आलम को राधाकृष्ण या गोपी कृष्ण का अवलंब मिल गया जैसा कि समस्त रीतिकालीन कवियों को मिला था पर यह अवलंब पाते हुए भी रीतिकाल में ऐसे कवि कम थे जिनमें अपने हृदय की ही सच्ची प्रेम की तरंग आकुलता से फूट पड़ी हो । आलम का शक इसी दृष्टि से श्रेष्ठ है । सहज प्रेम के चित्रण में आलम ने ब्रजभूमि के वातावरण का सहारा लिया है और गोपी-कृष्ण-प्रेम के बहाने अपने हृदय की मधुर भावना को व्यक्त किया है । आलम के स्वच्छन्द चित्त से प्रसूत काव्य में भावों की मधुरता और उक्तियों की मिठास विशेष रूप से द्रष्टव्य है । वर्णन शैली में कुछ

अपनापन है। कृत्रिमता का उनके काव्य में बहिष्कार है। सहज स्वाभाविकता के कारण उनकी कविता हमारे मर्म के अधिक निकट पहुँच जाती है। यह बात गोपियों की प्रेम-प्रेरित उक्तियों में भी है तथा समूचे प्रेम वर्णन में भी।

माधवानल कामकंदला प्रबंध

आलम ने अपनी प्रेम भावना के प्रकाशन के लिए मुक्तक रचनाओं के साथ-साथ प्रबन्ध-रचना शैली का भी आश्रय लिया और दो प्रसिद्ध प्रबंध लिखे। दोनों ही प्रबंध प्रसिद्ध प्रेम कथाओं को लेकर रचे गए हैं जिसमें से पहला और अधिक महत्व-पूर्ण प्रबंध माधवानल-कामकंदला है। उसकी कथा इस प्रकार है।

पुष्पावती नगरी में गोपीचंद नाम का एक राजा था, उसके यहाँ माधवानल नाम का एक वैरागी था जो समस्त शास्त्रों में निष्णात कामदेव सा रूपवान था। वह राजा के यहाँ पुराण बाँचने शिक्षा देने आदि का काम करता था। उसे देख कर पुरनारियाँ अधीर हो उठती थीं उसके वीणावादन से पनिहारिनें बेसम्हाल हो उठती थीं और कुल बधुएँ चंचल। जब पुरवासियों द्वारा राजा तक उसकी शिकायत पहुँची तो राजा ने परिस्थिति की जाँच की। बीस तरुणदासियाँ कमल पत्र पर बिठा दी गईं और माधव के वीणातार के प्रभाव से उनका मदन बह चला और जब वे उठीं तो वे कमल पत्र उनके शरीर से चिपक गए थे। राजा ने माधव को राज्य निष्कासन का दंड दिया और फलस्वरूप माधव वीणा बजाता हुआ कामावती पहुँचा। वहाँ का राजा कामसेन था रसिक और कलाप्रेमी। एक दिन उसकी राज सभा मे नृत्य संगीत आदि का विशद आयोजन हुआ। अनाहूत माधव भी वहां पहुँचा। पहले तो उसे राजसभा में प्रवेश ही प्राप्त न हो सका किन्तु उस कलाविज्ञ ने जब रोज सभा के बाहर से ही माधव ने राजा के पास यह कहला भेजा कि तेरी सारी सभा मूर्ख है, १२ मृदंग वादकों में एक जो ७ और ४ के बीच बैठा हुआ है उसके दाहिने हाथ में ४ ही उँगलियाँ हैं जिसके कारण संगीत का सारा रस भंग हो रहा है तो राजा और राजसभा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह बड़े सम्मान के साथ सभा में बिठाया गया और विपुल धन एवं रत्नाभूषणों की उसे दक्षिणा दी गई, उसका रूप और बेश सबको मुग्ध कर रहा था। अनेक कार्यक्रमों के बाद राजनर्तकी कामकंदला का अद्वि-तीय कौशलयुक्त नृत्य हुआ जिससे माधव अत्यंत प्रभावित हुआ तथा जल भरा कटोरा सिर पर रखकर हाथों से चक्र घुमाते हुए उसने जिस प्रकार का नृत्य दिखलाया और कुचाग्र पर बैठे भ्रमर को जिस प्रकार स्तन स्रोत द्वारा प्रताड़ित वायु से उड़ा दिया उसे देखकर तो वह दंग रह गया। उसने समस्त प्राप्त संपदा कंदला को भेंट कर दी तथा राजा को अविवेकी सभा को मूर्ख बतलाते हुए उसने कंदला के कौशल का वर्णन किया। कामसेन उसके शब्दों से आहत हो उठा उसने माधव को कड़े शब्दों में फटकारा और राज्य से निकल जाने को कहा तथा उसे राज्य में शरण देने वालों के

लिए दंड की घोषणा भी करा दी। कंदला राजाज्ञा की उपेक्षा कर परम श्रेष्ठ उस कलाविद् को अपने भवन में ले जाती है और संभोग व्यापारों में थक-थककर दोनों बहुत दिन तक चूर होते रहते हैं। राजाज्ञा-भय से माधव जब भी विदा होने को कहता कंदला अनुनय विनय करके रोक लेती थी। अंत में एक दिन वह चल ही देता है और कंदला के वियोग में वन-वन भटकता मरणासन्न-सी स्थिति में दुःखहारिणी नगरी उज्जयिनी में पहुँचता है। वहाँ वह एक ब्राह्मण का आतिथ्य ग्रहण करता है। एक दिन विरही माधव उज्जयिनी के महादेव जी के मदिर के अंदर की दीवाल पर आत्मदशा व्यंजक एक दोहा लिख देता है।

कहा करौं कित जाऊं मैं राजा रामु न आहि।
त्रिय बियोग संताप बस रावौ जानत ताहि।।

परद्राव कातर उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य ने जब यह दोहा पढ़ा तो उन्होंने उस विरही को लाने के लिए एक लक्ष मुद्राओं के पुरस्कार की घोषणा करा दी। ज्ञानवती नामक एक दूती के उद्योग से विरही माधव राजा विक्रम की सभा में लाया जाता है। विक्रम ने उसका पता ठिकाना और इसके कारण आदि की पूछ-ताछ के अनंतर उसे वेश्या प्रेम से विरत होने की सलाह दी उसके प्रेम की जाँच की परन्तु माधव का प्रेम अविचल था। राजा ने उसके विविध शास्त्रों के ज्ञान की भी परीक्षा ली थी उसे परम निष्णात पाया और उसके सुख के लिए नृत्य संगीत आदि की भी व्यवस्था की परन्तु माधव को इससे न संतोष हुआ और न प्रसन्नता। इसके अनंतर विक्रम अपनी कटक सजाकर कामावती नगरी के लिए चल पड़ते हैं और नगर सीमा पर ही अपना शिविर डालकर कंदला के भवन में यह देखने के लिए पहुँचते हैं कि जिसके वियोग में माधवानल की यह दशा है उस कामकंदला नायिका की प्रीति कितनी और कैसी है? राजा ने उसे अत्यंत कृशकाय मलिन तन बस माधव के नाम की ही रट लगाते हुए पाया। राजा ने उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए उज्जैन में उसकी मृत्यु होने का समाचार दिया जिसे सुनते ही कंदला का तो प्राणान्त हो गया। राजा बहुत पछताया तथा उसकी सखियों को धैर्य देकर माधव के पास आया। कदला के प्राणान्त की सूचना जब माधव को दी तब तुरन्त ही माधव ने भी प्राण त्याग दिया अब विक्रम के पश्चात्ताप का ठिकाना न रहा, उसने जीते जी चिता में जल मरने का निश्चय किया। चिता सजी राजा भी स्वर्णदान आदि करके चिता पर बैठने को उद्यत हुआ। उधर यह समाचार सुनते ही विक्रम का मित्र बैताल स्वर्ग से दौड़ा। राजा के संताप का कारण जानकर बैताल ने सहायता का आश्वासन दिया। उसके द्वारा सुधाकुण्ड से लाए अमृत से माधव और कन्दला के प्राण फिर वापस आ गए। राजा विक्रम ने अब कन्दला को सारा वृत्तान्त बतलाया और आगे का कार्यक्रम भी। माधव और कन्दला के प्रेम की अनन्यता से प्रभावित हो राजा विक्रम ने श्रीपति नामक एक दूत

द्वारा राजा कामसेन के पास कामकन्दला को भेजने का प्रस्ताव प्रेषित किया परन्तु कामसेन ने अपमानजनक समझकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया जिसके फल-स्वरूप घमासान युद्ध हुआ जिसमें कामसेन की पराजय हुई। उसने दीन भाव से पश्चात्ताप व्यक्त करते हुए कामकन्दला को समर्पित कर दिया, राजा विक्रम अपना कार्य पूराकर उज्जयिनी चले गए। माधव और कन्दला का चिरर्णाक्षित मिलन और दोनों सुख पूर्वक रहने लगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध के आरम्भ में परब्रह्म की बन्दना की गई है इसके बाद सम-सामयिक सम्राट अकबर की प्रशंसा की गई है और आगरे के स्वामी टोडरमल का भी उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ का रचना काल सन् ६५१ हिजरी बताया गया है और वस्तु निर्देश करते हुए प्रबन्ध को वियोग श्रृंगार की कथा कहा गया है। आलम ने कहा है कि कुछ परिकृति चुराकर और कुछ अपनी कल्पना मिला कर मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ 'कछु अपनी कछु परकृति चोरौं।' किसकी कृति से इन्होंने माधवा-नल की कथा चुराई यह ठीक स्पष्ट नहीं हो पाता किन्तु इतना अवश्य पता चल जाता है कि इन्होंने संस्कृत भाषा में लिखित माधव-कन्दला आख्यान सुना था —

कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपही जोरी॥

माधवानल प्रबन्ध की कथा वस्तु परम्परा प्राप्त है परन्तु उसके ग्रहण का मूल कारण यह है कि कवि को अपने प्रेम सिद्धान्त के प्रकाशन के लिए इस कथानक में अपेक्षित अवसर मिलता है।

आलम प्रबन्ध-रचना में बहुत पटु थे। उनका कथा की धारा बिना टूटे चली चलती है, बीच-बीच में आने वाले वर्णन इतने सरस हैं कि मन उनमें भी मुग्ध होता चलता है और थोड़ी देर के लिए कथा का रुक जाना पता भी नहीं चलता। जितनी सरसता और धारावाहिक ढंग से वे कथा कहते हैं उतना ही रुचि उत्पन्न करने वाले ढंग से वे वस्तु वर्णन भी करते हैं। उनके काव्य में वर्णनों को आधिक्य रहा करता है (माधवानल प्रबंध और श्यामसनेही दोनों इसके प्रमाण हैं। फिर भी उनकी कथा की गति अप्रतिहत रहती है। कथावस्तु में नियोजित तत्वों के अनुपात का उन्हें इतना अच्छा ज्ञान था कि उनके दो प्रबन्धों में से एक में भी केशव की रामचन्द्रिका का सा उखड़ापन नहीं मिलता। ये वर्णन बीच-बीच में आकर जहाँ एक ओर पाठक के मन को रमा लेते हैं वहीं शीघ्र ही कथा की गति को आगे भी बढ़ा देते हैं। ये वर्णन न बहुत बड़े हैं और न बहुत छोटे उदाहरण के लिए माधवानल के संगीत का प्रभाव-वर्णन, कामावती पुरी का वर्णन, काम कंदला का रूप वर्णन, राजा कामसेन की सभा में माधव का रूप सौंदर्य और प्रभाव वर्णन, माधव का संगीत वर्णन, कंदला का नृत्य वर्णन, रति और सुरतांत वर्णन, कंदला-स्नान-वर्णन, उज्जयिनी वर्णन, युद्ध वर्णन आदि। जगह-जगह वर्णनों को अधिकता के बीच कथा की गति मथर हो गई है

पर वर्णन इतने सुन्दर और वर्णित प्रसंग इतने सरस हैं कि वे कहानी के क्षीण पड़ते हुए आनंद की पूर्ति कर देते हैं और पाठक सारे प्रबंध को शब्द-शब्द पढ़ डालना चाहता है। वर्णनों में आकर्षण का एक प्रधान कारण उनका अधिकतर शृङ्गारपरक होना भी है।

प्रस्तुत कथानक में अनेकानेक छोटी-बड़ी घटनाएँ अनुस्यूत हैं उदाहरण के लिए (१) स्नान के अनंतर माधव का वीणावादन और नगर की स्त्रियों का मुग्ध होना, (२) माधव के वीणावादन की परीक्षा और उसका देश निकाला, (३) कामावती नगरी में माधव का संगीत ज्ञान के कारण सम्मान और फिर देश-निष्कासन, (४) माधव-कंदला मिलन और संभोग, (५) माधव का बन बन भटकना, (६) उज्जयिनी के महादेव मंडप में माधव का दोहा लिखना और राजा से भेंट, (७) राजा विक्रम द्वारा माधव और कंदला के प्रेम की परीक्षा, (८) विक्रम का चितारोहण तथा बैताल की सहायता से माधव और कंदला का फिर से जीवित हो उठना, (९) विक्रम का कामसेन से युद्ध जिसके परिणामस्वरूप माधव और कंदला का मिलन होता है। ये घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। और एक के बाद एक घटती चली जाती हैं। इनके बीच कोई बाधक तत्व नहीं उपस्थित होता। ये घटनाएँ बड़ी रोचक और सरस हैं परन्तु इनमें अति मानवीय अथवा दैवी शक्तियों (supernatural elements) का योग भी हुआ है जैसा कि सूफी प्रेमाख्यानों में प्रायः देखा जाता है। माधव और कंदला के प्रेम की परीक्षा राजा विक्रम के लिए बड़ी महँगी पड़ती है। एक दूसरे की मृत्यु का समाचार सुनकर माधव और कंदला दोनों की मृत्यु हो जाती है। यदि बैताल द्वारा अमृत ले आने का प्रसंग नहीं जोड़ा जाता तो इस कथा की सुखद परिणति असंभव थी। राजा विक्रम के चितारोहण पर देवताओं का बिमान पर चढ़ कर अंतरिक्ष में आना और विक्रम के मित्र बैताल का व्याल रक्षित सुधाकुंड से अमृत ले आना जिनसे माधव और कंदला को नव जीवन प्राप्त होता है दो दैवी व्यापार हैं जिनसे कथा की नैसर्गिता को ठेस पहुँची है। मध्य-युगीन कवि ईश्वर और दैवी शक्तियों में आस्था रखने वाले प्राणी थे। देव शक्तियाँ बार-बार उनके जीवन के व्यापारों में आ-आकर योग दिया करती हैं ऐसा उनका विश्वास था। स्वयं तुलसी के ही प्रबंध में अति मानवीय तत्वों की प्रचुरता देखी जा सकती है। अच्छा होता यदि बैताल की सहायता के बिना ही यह प्रबंध अपना अभीष्ट सिद्ध करता।

माधवानल-कामकंदला कथानक की दृष्टि से एक बड़ा प्रबंध है। किसी महत् उद्देश्य के अभाव से आप इसे महा काव्य भले ही न कहें परन्तु एक अर्थ विशेष को और एक उद्देश्य विशेष को लेकर चलने के कारण हम इसे एकार्थ काव्य अर्थात् एक बड़ा प्रबंध कह सकते हैं। खण्ड काव्य का वृत्त छोटा होता है और उसमें आवांतर वृत्त नहीं होते किन्तु प्रस्तुत प्रबंध में अवांतर प्रसंगों एवं कथाओं की भी विनियोजना है।

घटनाएं ही इतनी हैं जो प्रबंध को विषदता प्रदान करती हैं। वर्णनों का आधिक्य और विविधता भी इसे प्रबंध काव्य ही कहने को बाध्य करती हैं। कथा के बीच-बीच में जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के वर्णन मिलते हैं स्थान-स्थान पर ठहरने आदि के ब्यौरे दिये गए हैं तथा छोटी-बड़ी विविध घटनाएँ वर्णित हुई हैं उनके कारण यह काव्य कुछ दीर्घकालीन अवधि को भी अपने में समेटे हुए है। घटनाओं की अधिकता के साथ-साथ अल्प महत्व वाले पात्रों की संख्या भी छोटी नहीं है। माधव का विरह, कंदला का वियोग, ऋतुओं का बीतना, युद्ध, माधव का जगह-जगह ठहरना, इधर से उधर संदेश भेजना आदि इतने विविध प्रसंग उक्त कथा में जोड़ दिये गए हैं कि रचना प्रबंध काव्य-सी लगती है, उसमें एक देशीयता नहीं रह गई है। वह एक उद्देश्य विशेष को लेकर लिखा जाने वाला विस्तृत प्रबंध काव्य या एकार्थ काव्य हो गया है।

सूफी प्रेमाख्यानों की एक ही बात इस प्रबंध में देखी जा सकती है वह है ग्रंथारंभ में परब्रह्म की वंदना और समसामयिक दिल्ली साम्राट (शाहे वक्त) अकबर की प्रशस्ति। इसमें कथा को निस्सार बता कर किसी अध्यात्मिक आशय को प्रधानता नहीं दी गई है। हाँ, एक स्थान पर माधव का वर्णन बिलकुल फारसी शायरी के आशिक की तरह अवश्य किया गया मिलता है—

तन दुर्बल अंखियाँ सजल, भरि भरि लेत उसास।
चित उचाट मन चटपटी, विरह उदेग उसास।।
मन उचाट छिन बीन बजावहि। जो रे सुनहि तिहि बिरह सतावहि।
खिन खिन कामकंदला रटई। स्वाति बूँद को चातक चहई।।
मन मारैं बस्तर मलिन, दृग भरि ऊँचे साँस।
तन दुर्बल पिंजर झलक, रंचक रकत न माँस।।

इस रचना में प्रेम का स्वरूप भी सूफियाना नहीं है अर्थात पुरुष प्रेम का आधिक्य चित्रित नहीं किया गया है, प्रेम का स्वरूप बहुत कुछ सम है—'दोनों तरफ है आग बराबर लगी हुई'। यदि आधिक्य का ही निर्णय करना पड़ेगा तो निर्णय कंदला के पक्ष में ही दिया जायगा, इस प्रकार प्रेम का भारतीय स्वरूप इस काव्य में सुरक्षित है। प्रेम का यही सम-रूप नारी पक्ष में किंचित प्रधानता लिए हुए श्याम सनेही में भी दिखाया गया है।

प्रस्तुत रचना में कवि का उद्देश्य जीवन में प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करना रहा है परन्तु कवि ने अपनी बात को प्रतिपादित करने के लिए कोई सिद्धान्त ग्रंथ नहीं बनाया है। उसने प्रसिद्ध प्रेमियों की ऐसी प्रेम कथा चुनी है जिसके बांचन से ही सहृदय हृदय द्रवीभूत हुए बिना न रहेगा और उसके हृदय पर वर्णित प्रेमियों के प्रेम का गाढ़ा रंग भी चढ़ जायगा। प्रेम यदि सच्चा है तो कुल और जाति का बंधन नहीं मानता, लोक परलोक की उसमें परवाह नहीं की जाती, मन जिसका हो जाता है

उसी का हो रहता है, प्रेम के बंधन को तोड़ने की मजाल संसार की बड़ी सी बड़ी शक्ति भी नहीं कर सकती परन्तु हाँ वह प्रेम होना बहुत कठिन है। कठिन इस अर्थ में कि उसमें प्राणांतक वेदना सहनी पड़ती है, वियोग होता है, असह्य संताप मिलता है। जो इन्हें झेल सकता हो वही इस अमृत पंथ का पथिक कहा जा सकता है। माधव और कंदला प्रेम की नाना परीक्षाओं को पार कर ऐसे ही प्रेमी सिद्ध होते हैं। उनका प्रेम कुल और जाति के बंधन को तोड़कर चलने वाला है। एक ब्राह्मण और बार वनिता में भी प्रेम संभव है। उनकी प्रेम निष्ठा में कुल, जाति, धर्म, पेशा सब कुछ पवित्र हो जाता है। जहाँ प्रेम में निष्ठा नहीं वहाँ प्रेम एक मज़ाक और छिछली रसिकता से अधिक कुछ नहीं। वेश्या से महापंडित माधवानल का प्रेम दिखला कर कवि ने प्रेम की स्वच्छन्दता का ही परिचय दिया है। सच्चा प्रेम निर्बन्ध होता है, उसमें कैसी लज्जा और किसकी लज्जा ?

श्याम सनेही

'श्याम सनेही' आलम का एक दुर्लभ ग्रंथ है जिसका पता भी हिन्दी के विद्वानों को कुछ समय पहले न था। आलम विरचित 'श्याम सनेही' की कथा और कुछ नहीं रुक्मिणी हरण की ही प्रसिद्ध कथा है जिसमें कुन्दनपुर के राजा भीष्मसेन की अत्यंत रूपवती कृष्णानुरागिनी कन्या रुक्मिणी का परिणय उसका उद्धत भ्राता रुक्म अपनी पिता की इच्छा के विरुद्ध अपने मित्र जरासंध की राय से चंदेरी नरेश शिशुपाल से करने का निश्चय करता है और तदनुसार विवाह की सारी तैयारी भी करता है किन्तु अपनी सहेलियों के परामर्श से रुक्मिणी एक ब्राह्मण दूत के हाथ द्वारावती के श्री कृष्ण के पास पत्र द्वारा अपनी दीनदशा का निवेदन करती है और अपना प्रेम संदेश भेजती है जिसके फलस्वरूप श्री कृष्ण अविलंब कुन्दनपुरी आते हैं रुक्मादि के शत-शत अवरोधों के होते हुए भी रुक्मिणी का हरण कर ले जाते और इस प्रकार उस परम दुःखिनी रुक्मिणी और उसके अत्यंत खिन्न एवं विपन्न माता-पिता का संकट से उद्धार करते हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में पहले शिव जी की वंदना है फिर निर्गुण निराकार निरंजन ब्रह्म की। आलम इसके पश्चात श्याम सनेही का स्मरण करते हैं। उनका विश्वास है कि वेदशास्त्रों द्वारा जो ब्रह्म अगम कहा गया है वह आर्त्त जन की पीड़ा देख सदा उसके निकट पहुँचता है। स्वयं रुक्मिणी की व्यथा इसका प्रमाण है। इसके बाद कथा प्रारम्भ होती है। दक्षिण में कुन्दनपुर नामक नगरी के राजा भीष्मसेन थे। शिव कृपा से उन्हें चार पुत्र और एक कन्या की प्राप्ति हुई। कन्या रुक्मिणी सबसे छोटी थी। उसके खेलने, विद्याध्ययन और यौवनावस्था प्राप्त करने तक की कथा बड़ी क्षिप्रगति से चलती है। यहाँ तक कवि विस्तारों में नहीं गया है न घटनाओं के विशद चित्रण में न वस्तु वर्णन आदि में प्रवृत्त हुआ है पर इसके आगे कथा की गति मंथर

हो गई है, वह धीरे-धीरे चली है सभी आवश्यक वर्णनों और चित्रणों के साथ । यहाँ कथा की गति का मंथरत्व दोष नहीं क्योंकि विविध अंतरंग और बहिरंग वर्णन यहाँ पर आवश्यक थे । सरल हृदय रुक्मिणी की अभिलाषाओं, पिता के वात्सल्य, गौरि मंदिर, रुक्मिणी के विवाह की चिंता, सहेलियों की बातों द्वारा रुक्मिणी में कृष्ण प्रेम का अंकुरित होना आदि बातें अच्छी तरह वर्णित हुई हैं । इसके पश्चात एक दिन रुक्मिणी राम और सीता की कहानी सुनते-सुनते सो जाती है । रात गए वह स्वप्न देखती है कि उसकी पूजा से प्रसन्न हो गौरी उन्हें वरदान माँगने को कहती हैं । जब वह कृष्ण को वर रूप में अपने लिए माँगती है तो पार्वती कहती हैं कि तेरा काम्य तो पूर्व जन्म से ही तेरा साथी है । जब तुम जनक की कन्या थी तब तुम्हारा वर दशरथ के घर का दीपक था । इस जन्म में वह वसुदेव के घर का चन्द्रमा है । उसके साथ तो तेरा सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से बँधा हुआ है । तू उसे पावेगी ही, इसमें मेरी कोई बड़ाई नहीं है । तुम और कुछ वर माँगो । इस पर रुक्मिणी कहती हैं कि मेरी कोख से कामदेव का अवतार हो । स्वप्न की यह घटना रुक्मिणी के मन को निश्चित दिशा देती है और दृढ़ता प्रदान करती है । जिस कृष्ण के प्रति सखियों के बार-बार गुणा-नुवाद द्वारा प्रेम जागृत हुआ था स्वप्न की यह घटना उसे अपूर्व रूप में पुष्ट कर देती है । इस स्वप्न-प्रदत्त दृढ़ता से ही रुक्मिणी आगे की कठिनाइयों का मजबूती से सामना करने में समर्थ होती है । इसीलिए यह स्वप्न-दर्शन कथानक योजना में एक महत्वपूर्ण बात है । इस देश का साधारण जन यों भी स्वप्न आदि की बातों का बड़ा विश्वासी रहा है, स्वप्न-प्रसंग द्वारा लोक-मानस में स्थिर विश्वासों को भी कवि ने कुशलतापूर्वक अंकित किया है ।

राजा भीष्म का अपनी रानी, भाई-बन्धुओं और परामर्शदाताओं को बुलाकर रुक्मिणी के लिए वर निश्चित करने का प्रस्ताव विचारार्थ रखना राजा के पारिवारिक जीवन का एक मनोहर चित्र है । सभी सज्जन एक मत हो कृष्ण को उचित वर निश्चित करते हैं किन्तु रुक्म उनके सारे किये कराए पर पानी फेर देता है । रुक्म कोरा विरुद्ध मत मात्र नहीं प्रकट करता । वह सबको डाँट-फटकार देता है और किसी की बात को चलने नहीं देता । यहीं से कथा की धारा में विरोध या अवरोध की स्थिति आ जाती है । उधर रुक्म के निर्णय के अनुसार चंदेरी नरेश शिशुपाल रुक्मिणी से विवाह करने की इच्छा से लाव लश्कर लेकर कुन्दनपुर पहुँच जाता है । इधर कुछ काल तक निश्चेष्टता-सी छा जाती है । राजा भीष्मसेन, रानी और उनके हितैषी कुछ नहीं कर पाते, पंडित और ज्योतिषी भी रुक्म की इच्छानुसार बातें करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि कपिला गाय अब म्लेच्छ के वश में पड़कर ही रहेगी । यदि रुक्मिणी के अन्तःकरण की वेदना समझने वाली सखियाँ और सहेलियाँ उसे ढाढ़स न बँधातीं, युक्ति न सुझातीं तो सारा खेल बिगड़ा ही था । विषाद के सघन

अंधकार में उनके उद्योग ही प्रकाश की किरन का काम देते हैं। रुक्मिणी पत्र भेजती है। कृष्ण जब तक पत्र पाकर आने के लिए उत्साहित नहीं होते तब तक कथानक में घोर निराशा की स्थिति रहती है। असद् सद पर छा-सा जाता है। कृष्ण का रुक्मिणी के उद्धार के लिए निश्चय करना कथा को फिर अनुकूल या अभीष्ट दिशा की ओर मोड़ देता है। कृष्ण के जिन गुणों और शक्तियों का वर्णन करके सखियों ने रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण का अनुराग जाग्रत किया था उनका विचार कर, कृष्ण की गुण-समृद्धि और सामर्थ्य को देखकर रुक्मिणी के उद्धार का विश्वास जगता है और पाठक कथानक की सुखद परिणति के प्रति आशावान हो उठता है। बड़ी कुशलता से पूर्ववर्ती निराशा के अन्धकार में कवि ने पहले भी एक आशा का संकेत दिया था। वह था शिशुपाल की तैयारी और विवाह के लिए राजाओं की बारात सजाकर चलने के समय देवताओं का हँसना बतलाकर परन्तु इतने मात्र से ही विरोध की स्थिति समाप्त नहीं हो जाती। संघर्ष बढ़ता ही है। वीर और अनुभवी पुरुष की भाँति कृष्ण भी पूरी सतर्कता बरतते हैं, यादवों की सबल वाहिनी और बलभद्र सरीखे योद्धा को साथ लेकर आते हैं। पवन के वेग वाला रथ, उत्तम, आयुध रुक्मिणी के उद्धार की रात्रि में ही योजना बनाना, प्रातःकाल लोगों को प्रभावित और आतंकित करने के साथ-साथ नगर और उसकी चतुर्दिक भौगोलिक स्थिति (topography) के अध्ययन के उद्देश्य से प्रातःकाल नगर-पर्यटन के बहाने कृष्ण का निकलना आदि अर्थगर्भित व्यापार हैं जिनकी कवि ने कुशलतापूर्वक योजना की है। विरोध की स्थिति कैसे उग्र हो जाती है और संघर्ष की सम्भावना कितनी तीव्र हो उठती है जब एक ही उद्देश्य से दो राजा एक तीसरे के राज्य में आ जाते हैं। एक आमंत्रित है दूसरा अनाहूत। एक प्रिय और सम्मान्य है दूसरा अप्रिय, शत्रुवत और दण्डनीय। यहाँ संघर्ष की स्थिति उत्तरोत्तर तीव्र होकर चरम सीमा की ओर बढ़ती दिखाई देती है। कृष्ण के कुन्दनपुरी पहुँचने से शत्रुपक्ष (रुक्म के साथियों) में भय, क्षोभ और सतर्कता के भाव भर गए। विवाह को निर्विघ्न संपन्न करने के लिए सैनिकों की सहायता से स्थान-स्थान की सुरक्षा का सुदृढ़ प्रबंध किया गया। रुक्म के सभी वीर साथी, राजे और सैनिक लौह कवचों और अस्त्र-शस्त्रों से लैस थे किन्तु कुशल योद्धा और मेधावी कृष्ण ने संयोग का पूरा लाभ उठाया। जिस समय अतिथि लोग मध्याह्न कालीन जेवनार कर रहे थे, पूजनार्थ गई हुई रुक्मिणी को अपने रथ पर विठालकर वे ले चले। उनके रूप, शक्ति, पौरुष और व्यक्तित्व की दिव्यता लोग देखते रह गए। यह भी एक प्रकार का दैवी संस्पर्श (Supernatural touch) या दैवी व्यापार है कथाक्रम में अन्यथा अपने जाने हुए शत्रु को देखते हुए भी सतर्क वाहिनी स्तब्ध और निष्क्रिय क्यों खड़ी रहती ? रुक्मिणी-हरण के इस प्रसंग में कथा की चरम सीमा है जहाँ रुक्मिणी का अभिलषित प्रिय उसे प्राप्त हो जाता है और खलनायक रुक्म के

सारे के सारे उद्योग धरे के धरे रह जाते हैं। रुक्म एक बार अपनी सारी शक्ति लगा देता है किन्तु कथा का पाठक 'यत्र कृष्णस्ततो जय:' की बात भली-भाँति मन में धारण किये रहता है। रुक्म के पक्षधर वीर भारी संख्या में मारे जाते हैं और रुक्म पकड़ लिया जाता है, उसके हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं। यहीं फलागम की स्थिति है। कृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारिका पहुँचते हैं और वहाँ सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगते हैं। इस प्रकार कथा की योजना बड़ी सुन्दर है, उसमें कोई बाधक तत्व बीच में नहीं आता। वर्णन, संवाद आदि के आधिक्य से कथा बोझिल नहीं होती। कवि उचित रफ्तार से कथा को उसके लक्ष्य की ओर अग्रसर करता रहता है। कथा में आरम्भ, विरोध की स्थिति, संघर्ष, चरमसीमा और फल प्राप्ति का विधिवत विधान हुआ है। कौतूहलादि के लिए इस काव्य में यों गुंजाइश नहीं है कि यह एक सुविख्यात कथा है।

रुक्मिणी और कृष्ण के विशद जीवन का खण्ड वृत्त या एकदेशीय कथा लेकर चलने के कारण यह काव्य 'खण्डकाव्य' कहा जायगा। थोड़ी सी प्रारम्भिक बातें कुन्दनपुर की ओर पुत्र और कन्या के जन्म आदि की केवल वृत्त को पूर्णता देने की दृष्टि से रक्खी गई हैं। इसमें न तो आवांतर कथाएँ हैं और न प्रमुख पात्रों के दीर्घ-कालीन जीवन का पूरा विवरण ही इसमें है। रुक्मिणी के कृष्णानुराग और कृष्ण के हृद्गत प्रेम का प्रदर्शन ही मुख्य है जो एक घटना के चित्रण द्वारा संपन्न हो गया है और प्रणयी युगल का मिलन होते ही काव्य भी समाप्त हो जाता है। एक छोटे से उद्देश्य को लेकर चलने के कारण यह खण्डवृत्त 'खण्डकाव्य' ही कहला सकेगा वैसे वर्णनादि की किंचित अधिकता या विशदता के कारण कोई-कोई इसे प्रबन्ध भी कहेंगे। प्रबन्धोपयुक्त वर्णन तो इसमें हैं परन्तु उसके अनुकूल कथा और घटनावली का विस्तार इसमें नहीं है।

जैसा कि कवि ने कथा के अंत में स्वत: स्वीकार किया है उसने यह कथा श्रीमद्भागवत का परायण सुनते हुए पहली बार सुनी थी। तभी से रुक्मिणी के प्रेम की यह कथा उसके मन में बस गई थी। इस कथा में कवि की अपनी प्रेम भावना और कृष्ण के प्रति प्रेम भक्ति अंकित हुई है। स्पष्ट ही है कि पौराणिक आधार लेकर अपनी प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के लिए आलम ने यह प्रबन्ध लिखा है।

घनआनंद

रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों की अनिवार्य रूप से रचना करने की जो एक परंपरा प्रचलित थी उससे पृथक रहकर भी काव्य रचना करने वालों की एक परंपरा बराबर चलती रही जिन्हें साहित्य के इतिहासकारों ने 'रीति मुक्त कवि' कहा है। इन रीति मुक्त काव्यकारों ने निश्छल आत्माभिव्यक्ति की है। इनका काव्य किन्हीं काव्यशास्त्रीय लक्षणों की पुष्टि के लिए नहीं वरन् वह उनके हृदय की सच्ची उमंग ही है जो फुटकर कविता बन गई है। अलंकारिक चमत्करण, रस-रीति विवेचन, नायक-नायिका भेद निरूपण, शब्द शक्ति, ध्वनि, काव्य दोष, गुणवृत्तिविवेचन आदि इनके काव्य का विषय नहीं बनने पाया। ऐसे निर्बन्ध और रीतिनिरपेक्ष काव्य-रचना करने वालों में रसखान, घनानंद, बोधा, ठाकुर और शेख का नाम प्रमुख रूप से आता है। ये सभी प्रेमोन्माद के गायक कवि हैं और लक्षणग्रंथों का अथवा निरूपित कवि रूढ़ियों का लेशमात्र भी ध्यान न रखकर इन कवियों ने अपने हृदय के उद्‌गार व्यक्त किये। यहीं इन रीतिमुक्त कवियों का प्रस्थान भेद हुआ।

घनआनंद के संबंध में कहा जाता है कि वे मुहम्दशाह रँगीले के मीरमुन्शी थे; गायक थे और उनके दरबार की सुप्रसिद्ध वेश्या सुजान के रूप के उपासक थे। उनकी यह लौकिक प्रीति दिन-दिन प्रगाढ़ होती गई और जब वेश्या सुजान ने एक झटका देकर उस प्रेम के संबंध को तोड़ दिया तो घनआनंद के मन में संचित वह प्रेम नष्ट न हो सका वरन वह विषाद और विरह व्यथा की गहराइयों में उतर कर और भी घनीभूत हो उठा। अन्त में चलकर उनकी यही लौकिक प्रीति, जब वे वृन्दावन पहुँचे, तब उनकी अलौकिक प्रीति का कारण बनी। कहा जाता है कि निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित भी हुए तथा सखी भाव से उन्होंने कृष्ण की उपासना करनी शुरू की। उन्होंने स्वयं लिखा है कि भगवती श्रीराधा जी ने मुझे अपनी सखियों में अच्छा स्थान प्रदान किया और मेरा नाम 'बहुगुनी' रक्खा। इनके जीवन के इस संक्षिप्त इतिवृत्त तथा अन्य अनेकानेक घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि घनआनंद प्रेम के ही बने हुए थे। वे प्रेममूर्ति थे।

उनके द्वारा लिखे गए ४० ग्रंथों का पता चलता है। इन ग्रंथों में राधा कृष्ण और राधा-कृष्ण से संबंधित वस्तुओं और विषयों का ही वर्णन उपलब्ध होता है। सैकड़ों की संख्या में उनके लिखे पद भी मिलते हैं जो पदावली नाम से संग्रहीत हैं। इन रचनाओं से उनकी अक्षय कृष्ण-प्रीति का द्योतन होता है। कभी वे

यमुना का यश गाते हैं, कभी वृन्दावन की महिमा का बखान करते हैं, कभी रसना की सार्थकता पर प्रवचन देते हैं और कभी प्रेम के सागर में गोते लगाते हैं।

घनआनंद की समस्त काव्य राशि में दो प्रकार की भावनाएँ देखी जा सकती हैं प्रेम और भक्ति। प्रेम अपनी प्रेमिका सुजान के प्रति भक्ति अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति। रसशास्त्र की भाषा में हम चाहें तो कह सकते हैं कि घनआनंद की प्रेम भावना के दो आलम्बन थे। एक सुजान और दूसरे श्रीकृष्ण-एक लौकिक आलंबन था दूसरा अलौकिक। घनआनंद मूलतः लौकिक प्रेमपात्र के रसिक थे इसी से हृद्गत प्रेम की जो लहर उनकी कविता में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी लौकिक प्रेयसी मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार की नर्तकी सुजान नाम्नी वेश्या के प्रति घनआनंद ने जो प्रणय निवेदन किया है वह हिन्दी काव्य की स्थायी संपदा है। वैसा आत्म-निवेदन वैसी प्रेम-पीड़ा, वैसी विरहानुभूति, वैसी आत्माभिव्यंजना वाला काव्य मध्ययुग में लिखा ही नहीं गया। इतना ही नहीं समूचे हिन्दी काव्य के सहस्राब्दिक वर्षों के इतिहास में भी ऐसी प्रेम-व्यथा का चितेरा दूसरा न मिलेगा। आत्मपीड़ा का ही दूसरा नाम घनआनंद का काव्य है। विरह-निवेदन या प्रेम-व्यंजना की व्यक्तिनिष्ठ शैली हिन्दी में बहुत कुछ आधुनिक युग की देन है, पुराकाल में कविजन आत्मव्यथा या उल्लास को गोपीकृष्ण आदि अन्य माध्यमों से मुखर करते रहे हैं परन्तु लौकिक प्रेम भावना का नितान्त आत्मगत पद्धति पर प्रकाशन घनआनंद का ही काम था। हिन्दी काव्य परम्परा में कदाचित पहली ही बार इतने भावोन्मेष के साथ किसी कवि ने अपने निजी लौकिक प्रणय के ही हर्ष-विषाद का विशेषतः विषाद का चित्रण इतनी व्यक्तिनिष्ठ शैली में किया था। घनआनंद के महत्व को चिरकाल तक अक्षुण्ण रखने के लिए उनका एक यही गुण पर्याप्त है। घनआनंद का लौकिक प्रेम और उनकी सुजान के प्रति रीझ मिलन अथवा संयोग में परिणत न हो सकी, वह चिर वियोग की गाथा हो गई इसीलिए घनआनंद सुजान के नाम की रट लगाते ही रहे और अंत तक उनकी यह टेक निभती ही चली गई। कहते हैं कि जब अहमदशाह अब्दाली का सं० १८१७ में मथुरा पर दूसरा आक्रमण हुआ जिसमें घनआनंद के साथ और कितने ही संत-पुरुष मारे गए मृत्यु के पूर्व घनआनंद ने अपने रक्त से जो कवित्त लिखा था उसमें भी वे सुजान का नाम लेना न भूल सके थे—

बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि के पत्यान तें उदास ह्वै कैं,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को ॥

पर घनआनंद का यह लौकिक प्रेम दीर्घ काल के अनन्तर कुछ बाह्य प्रभावों (निबार्क संप्रदाय में दीक्षित होने आदि) के कारण और कुछ आलंबन की निष्ठुरता, वियोग की अनंतता आदि के कारण कृष्ण प्रेम में परिणत हो गया। लौकिक से अलौकिक हो गया। कृष्णभक्ति को अपनाकर भी घनआनंद की भावना में प्रेम की मधुर वृत्तिही प्रधान रही, श्रद्धाभाव समन्वित पूज्य भावना कम। इसी से घनआनंद की भक्ति कांता भाव की भक्तिया मधुरा भक्ति कही जायगी। इस प्रेम लक्षणा भक्ति के अनुधावन से उनके भक्ति काव्य में भी सुजान के प्रेम की झलक मिलती या आती रही। उनका सुजान शब्द कृष्णवाची भी है। इस प्रकार उनके सुजान-प्रेम के काव्य में कृष्ण प्रेम की भावना और कृष्ण-प्रेम-परक काव्य में सुजान प्रेम की प्रतीति होती चलती है फिर भी इसमें संदेह नहीं कि वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनके काव्य के दो स्पष्ट विभाग हो जाते हैं एक सुजान प्रेम का काव्य (लौकिक प्रेम का काव्य) दूसरे कृष्ण भक्ति की कविता (अलौकिक प्रेम का काव्य)।

सुजान प्रेम का काव्य कृष्ण प्रेम के काव्य से परिमाण में बहुत कम है। उनके समस्त काव्य-साहित्य का चतुर्थांश या उससे भी कुछ कम अंश सुजान प्रेम से संबंधित है शेष तीन-चौथाई अंश कृष्ण प्रेम और कृष्ण भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। 'सुजानहित' मूलतः उनके सुजान प्रेम का स्मारक है यद्यपि इसका भी एक अंश कृष्ण प्रेम से संबद्ध है। शेष ग्रन्थों में कृष्ण के प्रति प्रेम और भक्ति का भाव ही अनुस्यूत मिलेगा। मात्रा में कृष्णपरक काव्य के आधिक्य के कारण अनेक हैं। एक तो यों भी उस युग के काव्य में प्रेम भावना के प्रकाशन साधनरूप में गोपी कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं या लीलाओं या गोकुल और व्रज में उनके मधुर प्रेममय जीवन को ही ग्रहण किया जाता था दूसरे दीर्घकाल तक वे व्रज में रहे फलस्वरूप मध्ययुग का कवि और फिर ब्रजवासी होकर अन्य किसी व्यक्ति को अपनी प्रेम प्रधान कविता का केन्द्र बना सकता था। तीसरा कारण उनका निबार्क संप्रदाय में दीक्षित होना है जिसमें कृष्ण ही एक मात्र उपास्य, भजनीय, सेव्य और पूज्य माने गए हैं तथा किसी दूसरे की सेवा-अर्चा व्यर्थ ठहराई गई है। नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'।

प्रेम-भावना

घनआनन्द की प्रेम-भावना का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन 'सुजान हित' नामक ग्रंथ में हुआ है। इसमें सुजान का प्रेम ही मूर्तिमंत हुआ है। इसके कवित्त सवैयों में घन आनंद की प्रेम-भावना अपने तीव्रतम रूप में मुखर हुई है। इसमें केवल कुछ छंद ही ऐसे हैं जिनसे यह पता चलता है कि घनआनंद सुजान नाम की किसी स्त्री से प्रेम रखते थे।

शेष सभी छन्द गोपी और कृष्ण के प्रेम की व्याख्या करते हैं। उनमें गोपियों का कृपण-प्रेम, गोपियों की कृष्ण के प्रति अविचल और एकनिष्ठ प्रीति, उनका संपूर्ण आत्मसमर्पण कृष्ण की निष्ठुरता, गोपियों के विरह की करुण दशा तथा विरह के आवेग में उठने वाली अनेकानेक भावनाओं का चित्रण मिलता है।

संयोग के चित्र कम मिलते हैं, मिलन की बातें कम होती हैं। संयोग और मिलन तो नाम मात्र के लिए हैं। एकाध स्थलों पर अवश्य इनकी चर्चा हुई है। मुख्य वर्ण्य विषय प्रेम की पीर ही है। प्रेम के आलंबन हैं कृष्ण और गोपियाँ, उनके रूप चित्रण का भी विशेष प्रयास नहीं किया गया है कदाचित इसलिए कि कृष्ण और गोपियों के सौंदर्याङ्कन से तो हिन्दी काव्य-साहित्य यों ही ओत-प्रोत है। उनका मुख्य काव्य विषय विरह ही है जिस पर बड़ी विशदता से उन्होंने लिखा है। आलंबन के रूप के चित्रण के जो दो-चार प्रयास किये गए हैं वे निश्चय ही बड़े चित्रात्मक, सजीव और हृदयग्राही हैं। नायक अथवा कृष्ण का चित्रण इस प्रकार हुआ है—

चटकीलो भेष धरे मटकीली भाँतिसों ही,
मुरली अधर धरे लटकत आय हौ।
लोचन ढुराय कछू मृदु मुसक्याय नेह,
भीनी बतियानि लड़काय बतराय हौ॥

या कृष्ण की मुद्रा विशेष का चित्रण जब उनकी रंग भरी घूम कर देखने की छवि को कवि मूर्त्त करने का प्रयास करता है। इन स्थलों पर कृष्ण का पूरा स्वरूप झलकाने की चेष्टा नहीं की गई है वरन् उनके स्वरूप की आंशिक झलक देने का ही प्रयास किया गया है। नायिका के रूप का चित्रण करते हुए भी इस प्रकार के मुद्रा-चित्रण का यत्किञ्चित प्रयास किया गया है। उसकी लाज से लिपटी हुई चितवन, मृदुल मुस्कराहट में रस का निचुड़ना, मोतियों के समान दाँतों की उज्ज्वल आभा का फैलना और अंगों से अनंग रंग का बरसना आदि दिखला कर रूप का बड़ा ही भव्य चित्र चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के सौंदर्याङ्कन का एक नमूना देखिये —

झलकैं अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजत कानन छ्वै।
हँसि बोलत मैं छबि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै।
अँग अँग तरंग उठै दुतिकी, परिहै मनौ रूप अबैधर च्वै॥

इसी प्रकार से कभी आलंबन के किसी अंग पर दृष्टि पड़ गई और कवि ने उसका चित्रण कर दिया परन्तु कवि रूप चित्रण या वाह्यस्वरूप चित्रण में प्रवृत्त नहीं हुआ है।

श्री कृष्ण के वियोग में गोपियों का तड़पना विशेष रूप से बड़े विस्तार तथा अभिनिवेश के साथ दिखलाया गया है। प्रिय का रह-रह कर स्मरण होता है और हृदय उससे मिलने के लिए बार-बार उद्विग्न हो उठता है। प्रिय का मुस्कराना, बतलाना, हँसना, झूम-झूम कर चलना, दृष्टि निक्षेप करना, अमृत सनी बातें करना, रस-रंग से गोपियों के अंग-अंग को सींचना[1] स्मरण आते ही हृदय उनसे मिलने के लिए उतावला हो जाता है और धीरे-धीरे वियोग का सताप तीव्रतर होने लगता है। विरही की पीड़ा तथा उसके प्राणों की व्यथा को लेकर अनेकानेक छंद लिखे गए हैं। वियोगिनी की उसाँसें उसे तपा देती हैं, उसके चेहरे का रंग उड़ चलता है। व्याकुलता के हाथों पड़कर वह एक क्षण के लिए भी सुखी नहीं रह पाती—

अकुलानि के पानि पर्यो दिन राति सुज्यौं छिनकौ न कहूँ बहरै।
फिरिबोई करै चित चेटक चाक लौं धीरज को ठिकु क्यौं ठहरै।
भए कागद नाव उपाव सबै घनआनंद नेह-नदी-गहरै।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी! बिरहा बिष की लहरै॥

चिंता की आँच में उसके प्राण फुँके जा रहे हैं। सोने ऐसा सोना नहीं और जागने ऐसा जागना नहीं। वियोगिनी के दुखों का कोई वार पार नहीं—

जियरा उड़्यौ सो डोलै हियरा धक्योई करै,
पियराई छाई तन सियराई दौ दहौं।
ऊनो भयो जीबो अत्र सूनो सब जग दीसै,
दूनो दूनो दुखे एक एक छिन मैं सहौं॥

रात दिन उसकी आँखों से आँसुओं की धार बहती रहती है। उसकी वेदना इस क़दर बढ़ गई है, 'बजमारा' विरह उसके पीछे इस तरह पड़ गया है कि उसके प्राणों को एक क्षण के लिए भी चैन नहीं। वह कहती है—हमारा हृदय ऐसा विदीर्ण हो गया है कि हम जीवित किस प्रकार हैं इसी पर मुझे आश्चर्य हो रहा है। जान पड़ता है मृत्यु ने भी मुझे अपनाने से अस्वीकार कर दिया है।

इस वियोग का वर्णन करते हुए कभी अन्तर्दाह या प्रेम की आग का वर्णन किया गया है कभी अपनी आँखों का दुखड़ा रोया गया है। कभी प्रिय की उदासीनता और उसके अन्याय को लेकर कुछ कहा गया है तथा कभी अपने मन को समझाने की चेष्टा की गई है। विरहिनी कहती है कि हमारे तन में प्रेम की ऐसी आग लगी हुई है कि कुछ कहते नहीं बनता। यह आग दिखाई नहीं देती, इसमें धुआँ नहीं उठता इसमें शरीर जल-जल कर भी ठंडा पड़ जाता है तथा आह भी नहीं निकलती। इसी अन्तर्दाह को ऊहात्मक प्रणाली का अनुसरण करते हुए कवि ने भावों के इस प्रकार के बंधान बाँधे हैं—

---

[1]देखिये पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घनआनंद कवित्त' छंद ३,४,११,३१

धिक्कारती हैं कि हम जैसी कामार्त्त दीन-दुखिया पर वियोग के विषम और विषाक्त बाण मारते हुए हे जीवन के आधार तुम्हें दया भी नहीं आई ! कभी उन्होंने प्रिय के नयन बाणों से अपने विद्ध होने की विषम परिस्थिति का भी चित्रण किया है और कभी अपने हृदय की अनोखी लगन का। वियोग की स्थिति में तो ये लगन तीव्र रहती है, संयोग में भी यह पीछा नहीं छोड़ती—

अनोखी हिलग दैया, बिछुर्यौ तो मिल्यौ चाहै,
मिल्यौ हू पै मारे जारै खरक बिछोह की।

अपने प्रेम का वर्णन करती हुई गोपियाँ पहले तो यह कहती हैं कि प्रिय की अनन्त प्रतीक्षा ही हमारा जीवन हो रहा है। गोपियाँ अपने वर्तमान और अतीत का तुलनात्मक निरूपण करती हुई यह कह कर सन्तोष कर लेती हैं कि क्या करें हमारे भाग्य में व्यथा ही लिखी है। किसी को क्या दोष दें !

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कासों उराहनो दीजियै जू।

प्रिय कृपा करे चाहे न करे गोपियों को इसी बात का बड़ा गर्व है कि उनकी प्रीति कितनी दृढ़ और पवित्र है। वे अपने प्रेम के सामने संसार के प्रसिद्ध प्रेमियों और प्रेमोपमानो को हेय समझती हैं चाहे वह मीन हो, चकोर हो, पतंग हो चाहे चातक। प्रिय की निष्ठुरता की ओर वे संकेत तो करती है पर वे पूर्णरूप से उन्हीं को दोषी नहीं ठहरातीं[1]। जिन छंदों में उलाहने दिये गए हैं उनमें भी बड़े मधुर भावों की अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण से कहा गया है कि तुमने हमेशा लेना ही जाना है देना नहीं। तुम किसी के दुख को क्या समझो—

उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ।

तुम तो उलटे अपने प्रेमियों को ही मारते हो, भला इससे तुम्हारी इज्जत क्या बढ़ेगी, तुम तो बहेलियों से भी कठोर हो—

अधिक बधिक ते सुजान! रीति रावरी है,
कपट चुगो दै फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै महा विषम दया छुरी॥
हौं न जानौं, कौन धौं, ही या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतर कथा दुरी।

---

[1] एक ही जीव हुत्यो सु तौ वार्यौ, सुजान। सकोंच और सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै॥

———

रूप की लोभनि रीझि भिजाय कै हाय इते पै सुजान मिलाई।
प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन को अँखियाँ दुखहाई॥

कैसे आसा द्रुम पै बसेरो लहै प्रान खग,
बनक निकाई घनआनंद नई जुरी।

बधिकौ सुधि लेत, सुन्यौ, हति कै गति रावरी क्यौंहू न बूझि परै।
मति आवरी बावरी ह्वै जकि जाय, उपाय कहूँ किन सूझि परै।
घन आनन्द यौं अधनाथ तजी इन सोचनि ही मन मूझि परै।
दिन रैन सुजान वियोग के बान सहैं जिय पापी न जूझि परै।।

वे कहती हैं—हे भगवान ! कभी निर्मोही से किसी का मोह न लगे। तुम्हें तो खेल हो जान पड़ता है पर अपने हृदय की पीड़ा तो मैं ही जान सकती हूँ। तुम तो हमारे दुख को देख सुनकर भी अनदेख और अनसुने रहते हो कहीं-कहीं बड़ी व्यथा से भरकर इन गोपियों ने अपना सन्देश भी प्रिय के पास भेजा है—

(क) परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
(ख) एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन।
बीरी तोसौं और कौन मनैं ढरकौंहीं बानि दै।

इस प्रेम अथवा विरह के वर्णन में कुछ छन्द ऐसे भी हैं जो प्रकृति की भावोत्तेजकता को लेकर लिखे गए हैं। जो चाँदनी कृष्ण के समीप होने पर शीतल किया करती थी वही अब आग की लपटें उगलने लगी है। फूल काँटे की तरह लगता है, जल दाहक प्रतीत होता है, संगीत कर्णकटु लगता है। कोयल मोर पपीहों की कूक प्राण घातक हो रही है[1]। कुछ छंद ऐसे भी हैं जिनमें प्रकृति पर ही गोपिका की विरह भावना का आरोप किया गया है। कवि कहता है कि वर्षा काल में बिजली जो चमक उठती है उसमें विरहिणी के तड़पन भरी हुई है, गोपियों के हृदय की उद्विग्नता को देखकर वायु भी दुख से 'हू-हू' करता फिरता है और यह बूंदें क्या हैं जैसे विरहिणी के हीआँसू हों—

विकल विषाद भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं जर्‌यौ करै।
जीवन-अधार-घन-पूरित पुकारनि सौं,
आरत पपीहा नित कूकनि कर्‌यौ करै।।
अथिर उदेग गति देखि कै अनंदघन,
पौन बिडर्‌यौ सो बन बीथिन रर्‌यौ करै।
बूँदैं न परति मेरे जान जान प्यारी। तेरे,
बिरही कौं हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै।।

---

1. कारी कूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कौरि लै।
बैरी बियोग की हूकनिजारत कूकि उठै अचवाँ अधरातक।
बेधत प्रान, बिना ही कमान सुबान से बोल सों, चातक है घातक।

भक्ति-भावना

घनआनंद प्रेमी होने के साथ-साथ परमोच्च कोटि के भक्त भी थे। यह भक्ति उनके उत्तर कालीन जीवन में परिस्थितियों की विवशता के कारण आई। प्रेम ही उनका जीवन-सर्वस्व था परन्तु उस क्षेत्र में अपार नैराश्य और कोरे अंधकार ने कालातंर में उनके जीवन की धारा ही मोड़ दी थी।

वियोग और क्लेश के अतिशय्य से घनआनंद में जगह-जगह वैराग्य का भाव पाया जाता है। जब सारा जीवन वियोग की वेदना का स्तूप मात्र हो रहता है तब अंतिम समय में या बहुत दुःख झेल लने के बाद कवि के मन में यह भाव आता है कि मन इन चक्करों में फँसा ही क्यों ? इसमें प्रेम का हल्कापन नहीं है वरन दीर्घ जीवनकाल व्यापी वेदना की यह तो एक अनिवार्य परिणति-मात्र है। कवि को अपने मूल्यवान जीवन को यों ही बिरह में तड़पते हुए बिता देने का कोई खेद नहीं है पर वह अंतिम समय में निराश हो भगवदोन्मुख हो गया अवश्य लगता है, सुजानहित में ही उनके जीव को प्रबोधन देने वाले वैराग्य-परक छद मिलते है, जिनके पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे ये विरक्तिमूलक भाव विरह-व्यथा से उत्पन्न हों। 'सुजानहित' के उत्तरवर्ती अंश में इस आशय के कई छंद हैं। उनके द्वारा वैराग्य के साथ भक्ति-भाव-परक छंदों के लिखे जाने का भी यही रहस्य है। प्रेम जब लौकिक से हटा तो अलौकिक में समा गया। आखिर घनआनंद के जीवन का सबसे मूल्यवान तत्व प्रेम ही तो था, वे अपनी समूची सत्ता को प्रिय के प्रति अशेष रूप से समर्पित कर देने वाले प्राणी थे। लौकिक प्रिय की अप्राप्ति में उन्होंने अपना सर्वस्व कृष्णार्पित कर दिया था। सुजानहित के अंतिम छंदों तक आते आते समूची भावधारा ही बदल गई है, प्रेम कृष्णोन्मुख हो गया है। अलौकिक प्रेम में यह परिणति असाधारण है। घनआनंद का प्रेम उनके जीवन में ही पूरी तरह व्याप्त था कुछ आरोपित नहीं। उस ओर सफलता न मिलने से वह अनुराग-भंडार कृष्णार्पित हो गया। वे स्वयं लिखते हैं कि अपने प्रेम को सब ओर से खींचकर कृष्ण में केन्द्रित करना मेरे लिए आवश्यक हो गया था—

'सब ओर तै ऐंचि कै कान्ह किसोर मैं राखि भलें थिर आस करैं।'

उनकी कृष्ण-भक्तिपरक रचनाएँ सुजान प्रेम वाली रचनाओं से स्पष्ट भिन्न हो गई हैं। यह अवश्य है कि सुजानहित में भक्त-मूलक रचनाएँ परिमाण में कम हैं परन्तु अन्य ग्रन्थों में उनकी भक्ति का स्वरूप और अधिक विकल रूप मे देखा जा सकता है।

निम्बार्क संप्रदाय में भगवान कृष्ण की चरण सेवा का ही महत्व सर्वोपरि है। ब्रह्मा, शिव सभी उनकी वन्दना करते हैं। अचिंतनीय शक्तियों वाले कृष्ण अपने

भक्तों का दुःख दूर किया करते हैं। कृष्ण की प्राप्ति भक्ति द्वारा संभव है जो इन पाँचों भावों में पूर्ण होती है —शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल-रस के भक्त हैं गोपी तथा राधा। निम्बार्क संप्रदाय में उज्ज्वलता अथवा मधुर भाव को सर्वोत्कृष्ट स्वीकार किया गया है। श्री निम्बार्काचार्य ने युगल उपासना के साथ भगवान कृष्ण की माधुर्य एवं प्रेमशक्ति राधा की उपासना को विशेष महत्व दिया था। क्योंकि उनका विश्वास था कि राधा में भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने की अक्षय सामर्थ्य है—

> अङ्गेतु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
> सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्॥

निम्बार्क मत में साधकों के लिए किसी विशेष भाव को ही स्वीकार करने का आग्रह नहीं किया गया इसीलिए श्री भट्ट जी तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य आदि ने जो माधुर्य रस के ही मान्य उपासक कहे जाते हैं दास्य वात्सल्यादि भावों से भी भक्ति-निवेदन किया है। भक्ति संबंधिनी यह भाव-विविधता घनआनंद में भी पाई जाती है फिर भी इतना अवश्य है कि इस संप्रदाय में प्रेम लक्षण अनुरागात्मिका पराभक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। भक्ति क्षेत्र में राधा को महत्व देने वाले इस निम्बार्क सम्प्रदाय से ही वृन्दावन में राधावल्लभीय एवं हरिदासी मतों का उद्भव हुआ। वृन्दावन के सखी संप्रदाय का संबंध स्वामी हरिदास से ही जोड़ा जाता है। वे भगवत्प्राप्ति के लिए गोपीभाव की भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट साधन मानते थे। उनकी इस भावना का बड़ा प्रचार हुआ और भक्ति के क्षेत्र में गोपी या सखी-भाव का पुष्कल साहित्य लिखा गया। घनआनंद की भक्ति भावना पर भी गोपी या सखी-भाव की भक्ति की छाप देखी जा सकती है।

घन आनंद ने अपनी भक्ति-भावना का निवेदन राधा और कृष्ण के प्रति किया है। ये दोनों एक से एक बढ़कर भक्ति के आलंबन है। जितना भावोन्मेष घनआनंद ने कृष्ण के प्रति भक्ति निवेदन में दिखलाया उससे कम आवेश राधा के प्रति भक्ति निवेदन में नहीं। निम्बार्क संप्रदाय में भक्ति के सभी भावों के लिए अवकाश था इसी कारण घनआनंद के भक्ति-काव्य में भी एकाधिक भावों की भक्ति देखी जा सकती है। मन जब जैसी वृत्ति कर लेता था तब उस भाव की भक्ति व्यक्त करता था। घनआनंद की भक्ति के आलंबन- राधा और कृष्ण ही नहीं उनकी निवास और लीलाभूमि भी है इसीलिए शत-शत रूपों में कवि ने कृष्ण के ब्रज, गोकुल, वृदावन, राधा के बरसाने आदि के प्रति अत्यंत भक्तिभावापन्न पंक्तियाँ लिखी हैं। उसके जीवन में इस समूचे ब्रज प्रदेश का ही अक्षय महत्व है।

ब्रज के माहात्म्य का, वहाँ के सुख और वैभव का, उस चिर अभिलिषत पावन भूमि के प्रति अटूट प्रेम का वर्णन कवि ने बार-बार अनेकानेक कृतियों में किया हैं—ब्रजप्रसाद, ब्रजस्वरूप, ब्रजविलास, धाम चमत्कार, ब्रज व्यवहार आदि में उक्त भावनाओं का अनूठा प्रकाश देखा जा सकता है। जिस भक्ति भावापन्नता के साथ कवि ने अपने आप को व्यक्त किया है वह सहृदय व्यक्ति को डुबो देने वाली है, बहा ले जाने वाली है, उसके चित्त में भक्ति की पुनीत भावना का उद्रेक करने वाली है। कवि के हृदय में ब्रज के प्रति अपार अनुराग और पूज्य भाव है। उन्होंने जिस ढंग से इसका वर्णन किया है उसकी ध्वनि यही है कि हर प्राणी को इस ब्रजमण्डल में आकर रहना और अपने जीवन को सार्थक करना चाहिए। श्री कृष्ण और राधा की इस लीला भूमि के विषय में काफी कुछ कह लेने पर भी उन्हें यही अनुभव होता रहा है कि यहाँ की शोभा, पवित्रता, महिमा आदि शब्दों में कथित नहीं हो सकती—

(क) यह सुख मुख ह्वै को उच्चरै। सुख ही निज सुख बरनन करै ॥

(ख) गोकुल छबि आँखिनि ही भावै। रहि न सकै रसना कछु गावै ॥

(ग) सब तें अगम अगोचर ब्रजरस। रसना कहि न सकति याको जस ॥

ब्रज मण्डल की शोभा के ये वर्णन नितान्त सरल, निर्व्याज, भक्तिभावापन्न, महिमा-गायन की शैली पर किये गए हैं जिसमें वर्ण्य के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने की अपेक्षा उसकी अनिर्वचनीय महत्ता का भाव मनोगत कराने का प्रयास किया गया है। आसक्त हृदय से उत्पन्न ये वर्णन पाठक के हृदय में ब्रज देश के प्रति सम्मान भावना और पूज्य बुद्धि जगाने में समर्थ हैं। प्रगाढ़ भक्ति-भावना से प्रेरित हो घनआनंद ने यमुना का भी यशोगान किया है। यमुना-जल की अपूर्व कांति, उसकी मधुरता, स्वाद की अकथ-नीयता, धारा की अगाधता, उसके रूप की रम्यता, लहरों की रुचिरोचता उसके जल की त्रितापहारिणी और परम पद दायिनी शक्ति, चिन्तामणि उपमित, मनकामना, पूरक शक्ति, उसके स्पर्श हर्षोत्तेजकता, उसकी परमार्थ साधन सक्षमता और मंगल-कारिणी शक्ति आदि का कवि ने उत्साहपूर्वक वर्णन किया है। गोकुल की महिमा घनआनंद ने वर्णनातीत बताई है जहाँ नंदमहर के द्वार पर गोप और ग्वालों की सतत भीड़ लगी रहती है। वृन्दावन का माहात्म्य-गायन तथा उसके प्रति अपनी पूज्य भावना का प्रकाशन करते हुए घनआनंद लिखते हैं कि उस वन में तो मनोमोहन का मन ही सतत रमण करता रहता है। यमुना के तीर पर ही यह वन बसा हुआ है। वृन्दावन में यमुना की तरल तरंगें शोभा देती हैं। इसके गुण गान से तो मेरी वाणी सरस हो गई है। गौर-श्याम युगल सतत एक रस हो यहाँ बिहार करते रहते हैं। यहाँ ललित लतालियों के संग रसवलित वृक्ष महामधुर फलों से परिपूर्ण हो शोभा देते हैं, सुखद सरोवर हैं, पवन मह-मह करता हुआ परिमल वहन करता है आदि आदि। इसी

उल्लास के साथ कवि ने गोवर्धन या गिरि पूजन का, 'भागनिभरी रंगभिनी' बरसाने की भूमि का, प्राणों में छा जाने वाली कृष्ण की मुरलिका आदि का भी माहात्म्य-गायन किया है।

घनआनंद ने भक्तों के रंग-ढंग पर चल कर सूर, तुलसी और मीरा के समान गेय-पदों की रचना की है जो संख्या में सहस्राधिक हैं। इन पदों में मुख्यत: तो गोपियों तथा राधा के कृष्ण-प्रेम को ही नाना रूपों में व्यक्त किया है किन्तु वह कुछ साधारण प्रेम नहीं, भक्ति की कोटि को पहुँची हुई 'परानुरक्ति' है जिसमें घन आनंद की निजी कांताभाव की उज्ज्वल भक्ति-भावना ही संवेदित हुई है। घनआनंद की भक्ति जिन अन्यान्य रचनाओं में मुखर हुई है उनमें 'कृपाकंद' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, इसी प्रकार 'पदावली' भी भक्ति की दृष्टि से देखने योग्य है। हम देखते है कि घन आनंद ने दास्य, सख्य और कांता भाव से अपनी भक्ति का निवेदन किया है। कांता, सखी या गोपी भाव की भक्ति निम्बार्क संप्रदाय में प्रचलित तो हुई परन्तु अन्य भावों से भगवद भजन का निषेध न था इसलिए भक्ति की भावना के क्षेत्र में ये कवि अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अपना भाव-निवेदन किया करते थे।

अपनी अनेक कृतियों में घनआनंद ने राधा के प्रति अपनी भक्ति और अनन्य निष्ठा का परिचय दिया है। निम्बार्क संप्रदाय की भक्ति-भावना के अंतर्गत राधा कौ अविकल प्रतीष्ठा थी ही क्योंकि वे भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने की अक्षय शक्ति से संपन्न मानी गई हैं। कवि ने उनके प्रति अपनी उत्सर्गपूर्ण निष्ठा का बारम्बार प्रकाशन किया है। घनआनंद के निबार्क संप्रदायानुयामी होने की बात विदित ही है, किन्हीं शेष ने इन्हें परंपरा की रीति का ज्ञान भी करा दिया था तथा संप्रदाय में प्रचलित सखी भाव की उपासना पद्धति इन्होंने अंगीकार कर ली थी। सखी भाव से उपासना करने वाले महात्मा भक्ति साधना का बहुत पथ पार कर चुकने के बाद ही सांप्रदायिक सखी नामों से पुकारे जाते हैं। घनआनंद का भी 'बहुगुनी' नाम रक्खा गया था जिससे यह सिद्ध है कि ये भी भक्ति साधना की ऊँची भूमिका पर पहुँच चुके थे तथा महात्माओं की कोटि में परिगणित होने लगे थे और संप्रदाय में सखी भाव का इनका 'बहुगुनी' नाम प्रचलित भी हो गया था। साधकों और सिद्धों से भी उच्चतर भक्ति-साधना करने वाले घनआनंद सुजानों की कोटि में ले लिए गए थे। इनकी सखी भाव की भक्ति का प्रकाशन करने वाली राधा भक्ति मूलक रचनाएँ हैं— बृषभानु पुर सुषमा वर्णन, प्रिया प्रसाद और मनोरथ मंजरी।

कलासौष्ठव

घनआनंद के काव्य के कलापक्ष पर विचार करते ही सर्वप्रथम हमारा ध्यान उनकी भाषा और शब्द-योजना पर पड़ता है। घनआनंद की भाषा रीतिकाल के अन्य

कवियों की भाषा से कुछ पृथक है। यह भेद उनकी कथन विधि अथवा शैली को देखने से और भी स्पष्ट हो जाता है। वे भाषा के प्रयोग में बड़े ही पटु थे। शब्दों में नई-नई व्यंजनाएँ भरना, सूक्ष्म से सूक्ष्म और गहरे से गहरे भावों को शब्दों में मूर्त करना वे भली भाँति जानते थे। आवश्यकता के अनुसार शब्दों में वे लोच, संकोच, विस्तार, वक्रता आदि भी पैदा कर सकते थे। फिर उनकी भाषा कोरी साहित्यिक भाषा भी नहीं है। उसमें ब्रज प्रान्त के (Colloqueal) प्रयोग भी मिलते हैं। ब्रजभाषा के ठेठ रूप की भी झलक उनकी रचनाओं में मिलती है। बहुत से नए शब्द भी उन्होंने प्रयुक्त किये हैं जिनका प्रवेश उनके पूर्ववर्ती ब्रजभाषा काव्य में नहीं हुआ था या कम हुआ था जैसे औंडी (गहरी), आवस (ओस, भाप) उदेग (उद्वेग, बेचैनी), सहारि (सहारे से, सम्भल कर) भभक (ज्वाला) दुहेली (दुख पूर्ण) आवरो (व्याकुल) हेली (खेल करने वाले) दिनदीन (सदा दीन) भोयो (भिगोया हुआ) सौंज (सामग्री) चुहल (विनोद या विनोदी) अरसाना (आलस्य) सरचौ (चुक गया) बघूरा (बवंडर), बिसारचौ (विषाक्त), आपचारचौ (मनमानी), डेल (ढेला) गुरझनि (गाँठ), बनी (वणिक या वणिज्य), अगिलाई (अग्निदाह), तेह (क्रोध या आँच), परतन्तर (परतंत्र), सुतंतर (स्वतन्त्र) आदि।

कभी-कभी उन्होंने 'लगियै रहै' या 'अनोखियै' ऐसे प्रयोगों के द्वारा शब्दों को कुछ खींचकर या टेढ़ाकर उनमें नया जीवन और नया अर्थ प्रतिष्ठित किया है। कभी-कभी मात्रा बिठाने के लिए शब्दों की असाधारण संधियाँ भी की हैं जैसे यौऽब (यौं+अब), जौऽब (जौं+अब) तौऽब (तौं+अब)। ऐसा करने से छंदों में मात्रा यालय सम्बन्धी दोष नहीं आने पाए हैं।

घनआनंद जी की उक्तियाँ भी जगह-जगह पर बड़ी ही अनूठी हैं जिस पर मुग्ध होकर घनआनंद की कविता के मर्मज्ञ आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि घनआनंद जी अपनी कविता को ऐसे-ऐसे पंथों से ले जाने का साहस कर सके हैं जिन पर जाने में आज के कवि भी झिझक सकते हैं। शरीर के अंगों को लेकर उन्होंने बड़ी सुन्दर उक्तियाँ की हैं विशेष रूप से आँखों के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ देखने योग्य हैं—

(क) लगियै रहै आँखिन के उर आरति।
(ख) चलत सजीवन सुजान दृग-हार्धान तें।
(ग) कृपाकान मधि नैन ज्यौं।
(ग फिरी दृग रावरे रूप की दोही।

इसी प्रकार उनके कुछ प्रयोग भी देखिये—रीझि के पानि परयौ दिन-रैन, लाज में लपेटी हुई चितवन, छके हुए दृग, आँसुनि औसर गारति, बिसास-दगानि-दगी आदि।

किन्हीं-किन्हीं पंक्तियों में रूप का चित्रण करते हुए अनूठी प्रयोग-भंगिमा पैदा की गई है—

(क) हँसि बोलन में छबि फूलन की बरखा उर ऊपर जाति है ह्वै ।

(ख) अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।।

प्रिय के एक झलक पाने के लिए उनका यह कथन कितना प्राणवान है—

घन आनद जीवन मूल सुजान की कौंधनि हू न कहूं दरसैं ।

घनआनंद जी के बहुत सारे प्रयोग तो कोरे विरोध पर ही आश्रित हैं । उनका सौंदर्य असाधारण है । उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग लीजिये :—

(क) हा हा न हूजिये मोहि अमोही ।

(ख) निरधार अधार दै धार मँझार दई गहिं बाहँन बोरिये जू ।

(ग) तब हार पहार से लागत हे ।

(घ) जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगे ।

(ज) सकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ।

(च) विरह विषम दशा मूक लौं कहनि है ।

(छ) प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन को अँखियाँ दुखहाई ।

कहावतों और मुहावरों से भी घनआनंद की भाषा सजीव हो जाती है । कहावतों की अपेक्षा मुहावरों का प्रयोग घनआनंद ने अधिक किया है । कहावत के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी में ठाकुर के टक्कर का दूसरा कवि नहीं है । कवि की भाषा में इसी प्रकार के जो सौंदर्य हमारे प्रधान किये कविता घनआनंद के कारण दार्शनीय हैं वह हिन्दी के किसी भी कविता से नहीं । घनआनंद जी के कहावतों का कुछ प्रयोग देखिये—

सुनी है कै नाहो यह प्रगट कहावत जू,
काहू कलपाइहै सु कैसें कलपाइ है ।

इसी प्रकार विष घोलना, छाए रहना, हाथों हारना, पाटी पढ़ना आदि कई मुहावरे भी प्रयुक्त हुए हैं । इन सभी साधनों के प्रयोग के कारण घनआनंद की भाषा सप्राण, अर्थ की शक्ति से संपन्न और विशिष्ट हो गई है ।

अलंकारों का प्रयोग घनआनंद की कविता में न हुआ हो ऐसी बात नहीं । यों इस कारण कि रीतिमुक्त कवियों में इनका स्थान अत्यंत श्रेष्ठ है यह भाव हम भले ही हृदय में ले आवें कि घनआनंद की कविता अलंकार रहित सरल और अकृत्रिम होगी किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है । प्रयोग वैचित्र्य, कथन वक्रता, अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य घनआनंद की एक स्वभावगत प्रवृत्ति-सी प्रतीत होती है । किसी भी बात को सीधे-सादे ढंग से रख देना उन्हें अभीष्ट नहीं । उनका प्रत्येक छंद किसी न किसी प्रकार का बाँकपन लिए मिलेगा । इस दृष्टि से वे हिन्दी के रीति कवियों के निकट

आ जाते हैं। जगह-जगह पर उनकी रचना में भी चमत्कार की वैसी ही बलवती स्पृहा लहरें मारती और अपने आप को प्रकट करती मिलती है परन्तु जो बात इन्हें फिर भी उन रीतिकाव्यकारों अथवा लक्षण ग्रंथकारों से पृथक कर देती है वह है संवेदना और प्रेरणा की भिन्नता। घनआनंद के काव्य रचना की प्रेरक शक्ति न तो राजाश्रय या राजप्रेरणा है न किसी का प्रशस्तिगान न किन्हीं लक्षणों को (ये लक्षण चाहे अलंकार चाहे रस, चाहे नायिका भेद के हों) दृष्टि में रखकर उदाहरणों को प्रस्तुत करना। यह आधार है जिसपर हम घनआनंद को लक्षण काव्य प्रेमी लोगों से भिन्न कोटि में रखते हैं। घनआनद को अलंकार प्रियता या उनका चमत्कार और वक्रोक्ति प्रेम बहुत कुछ स्वभावगत है। एक बात यह भी है कि अनुभूति जब गहरी होती है, व्यक्ति कुछ भावुक और प्रगल्भ होता है तो अभिव्यक्ति भी ऋजु और सरल न होकर यत्किञ्चित वक्र हो जाती है। यह वक्रता फिर काव्य की शोभा बन जाती है। घन-आनंद का काव्य भी कला कौशल को यथेष्ट महत्व प्रदान करता हुआ चलता है। उनका रचना का अनुभूति पक्ष जितना तीव्र, सच्चा और मार्मिक है अभिव्यक्ति पक्ष भी उतना ही सबल। उनका कोई भी अलंकार प्रयोग रीति बद्ध काव्यकार के अलंकार प्रयोगों से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है। घनआनंद की शैली ही निराली है क्योंकि घनआनंद की प्रकृति ही कुछ दूसरी थी। उनकी-सी स्वतंत्र भावुकता किसी भी रीतिकार में नहीं। रह-रह कर रूपकों का ठाठ खड़ा करना, हर छंद में विरोध का निदर्शन करना और सहज ही में अनायास अपने प्रयोग कौशल के द्वारा सुन्दर से सुन्दर अलंकार का प्रयोग करना उनका एक विशेष गुण है। किसी अलंकार को दृष्टि में रखकर वे छंदों की रचना नहीं करते बल्कि भाव से भरकर जब वे तीव्र अनु-भूति को काव्यबद्ध करने का प्रयास करते हैं। तो भाषा उनकी लेखनी से निकल कर आप ही आप अनूठी और वैचित्र्यपूर्ण हो जाती है।

'जीवगुड़ी' और 'प्रेम की आग' के रूपक[1] बड़े ही आकर्षक हैं—सांग निरंग और परंपरित। विरोधाभास उनकी अपनी चीज है जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

(क) बदरा बरसैं ऋतु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।

(ख) विरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह—
नीर भींज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै।

(ग) झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ

(घ) देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की,
भसमी बिथा पै नित लघन करति हैं।

(ङ) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देख्यौ,
सबस सूदेस जहाँ रावरे बसंत हौ।

श्लेष और यमक का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है। श्लेष का प्रयोग सामान्यतः घनआनंद, घनश्याम, सुजान आदि शब्दों को लेकर किया गया है।

[1]देखिए 'घनआनंद कबित्त' छंद संख्या १६,१८

इसी प्रकार कुछ रूपक घनआनंद को बहुत प्रिय हैं जिसे उन्होंने बारंबार प्रयुक्त किया है जैसे दृग चातक, विरहाग्नि, चातक और मेघ, चंद और चकोर, नेत्र, मीन पतंग आदि को लेकर लिखे गए रूपक। केशव-दास की तरह सभी अलंकारों के प्रयोग की चेष्टा घनआनंद नहीं करते किन्तु जिन अलंकारों के प्रयोग उनकी रचना में हुए हैं उनमें से प्रमुख अलंकार ये हैं —

तद्गुण—दसनि दमक फैलि हियैं मोती माल होति
विभावना — विरह समीर की झकोरन अधीर नेह—
नीर भींज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़यौ रहै।
उदाहरण—मोसों तुम्हैं सुनौ जान-कृपानिधि नेह निबाहिबौ यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सुरंकहि लै निज अंक बसावै।
अथवा
राग वधू चित चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहिं गावै।
त्यौं ही सुजान तियै घन आनन्द मो हिय बौरई रीति रिझावै॥
यथासंख्य—बिछुरै लिले मीन पतंग दशा, कहा मो जिय की गति कौं परसै।
अर्थान्तरन्यास—मोहिं तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं,
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है।
अपन्हुति—जारत अंग अंनग की आँचनि, जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई।

छंद प्रयोग के क्षेत्र में भी घनआनंद का प्रयोग कौशल और प्रयोग विस्तार कुछ कम नहीं। फारसी छंदों के प्रयोग भी उन्होंने किये हैं। छोटे-छोटे पद जो गीति शैली के लिए उपयुक्त होते हैं, उनकी रचना भी उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में की है तथा दोहे, सोरठे, चौपाइयाँ, चौपइयाँ, अरिल्ल, छप्पय आदि भी उन्होंने लिखे हैं परन्तु कवित्त और सवैया की समसामयिक प्रचलित शैली में ही उनकी प्रतिभा विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। उनके छंदों में कहीं भी लय, मात्रा, गति और यति के दोष नहीं। छन्द रचना शक्ति पर उन्हें पूरा अधिकार था। अपवाद स्वरूप ही ऐसी पंक्तियाँ एकाध मिलेंगी जिनमें लय कुछ विकृत हो गई हो अथवा वर्ण कुछ घट बढ़ गए हों जैसे—

जब जब आवै तब तब अति मन भावै,
अहा कहा विषम कटाच्छ सेर चौट दै।

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि घनआनंद के काव्य का कलापक्ष सबल और कर्ष है, उसमें किसी भी प्रकार की हीनता नहीं। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेम के ऐसे मर्मी कवि से इतनी चमत्कार-प्रियता की आशा न थी। कहीं-कहीं उनका चमत्कार प्रेम भावों की अभिव्यक्ति में अवरोधक भी हुआ है। कहीं-कहीं

घन आनंद स्वतः चमत्कार प्रदर्शन के लोभ में भावों को दबा बैठे हैं। अनुभूति की तीव्रता अवश्य उनके काव्य की संजीवनी शक्ति है फिर भी चमत्कार और प्रयोग कौशल के प्रति इतना आग्रह अनेक स्थलों पर सहायक नहीं हुआ है।[1]

एक अन्य प्रकार का दोष भी उनकी रचनाओ में व्याप्त है और वह है एक ही भाव की प्रकारान्तर से अनेक बार आवृत्ति। इस दृष्टि से सूर का विरह वर्णन घनआनंद की अपेक्षा अधिक विशद और व्यापक है। माना कि सूरदास का विरह वर्णन वाह्यार्थ निरूपक (Objective) है और घनआनंद का आभ्यंतरिक या व्यक्ति निष्ठ (subjective or personal) और इसलिए धन आनंद के विरह निवेदन में अधिक प्रगाढ़ता के लिए अवकाश और अबसर था किन्तु गोपियों की जिस विरहावस्था का वर्णन सूर ने किया उसमें उन्होंने अपने आप को अपनी गोपियों से एक मेक कर लिया है। घनआनंद की बात दूसरी थी। उनकी अपनी भावना, उनकी अपनी ही अनुभूति जब शब्दबद्ध हो जाती है तब वही विरह-काव्य की संज्ञा प्राप्त करती है किन्तु कथन और प्रतिकथन विधान न कर सकने के कारण भी घनआनंद की रचना में कुछ मोनाटनी आ गई है। यहाँ यह प्रस्तुत विषय नहीं, प्रासंगिक विषय है फिर भी निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाषा और भाव के धनी भावुक और कलाकार कविश्रेष्ठ घनआनंद जी समस्त मध्ययुगीन काव्यकारों के बीच निश्चय ही अत्यंत ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं। सूर, तुलसी के बाद हम जिन्हें श्रेष्ठ कह सकते हैं घनआनंद की कांति उनमें से किसी के सामने फीकी न पड़ेगी। वे जायसी, मीरा, रसखान, केशव, बिहारी, देव, मतिराम और दास किसी से भी पीछे नहीं।

बोधा

लोक में स्वच्छन्द वृत्ति वाले प्रेमोमंग के बोधा कवि लिखित दो ग्रन्थों की प्रसिद्धि है—१.इश्कनामा २. विरह वारीश। दूसरे ग्रन्थ का दूसरा नाम 'माधवानल काम कंदला चरित्र भाषा' भी है। इसमें आलम द्वारा कथित कथा को ही विस्तार-पूर्वक कहा गया है और कवि की निजी प्रेम भावना का योग देकर उसे और भी सरस एवं आस्वादनीय बनाया गया है। इश्कनामा अपेक्षाकृत एक छोटी रचना है जिसमें संयोग वियोग की कतिपय अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्त के साथ-साथ कवि ने अपने प्रेम अनुभवों का सार एकत्र कर दिया है। मार्मिकता निश्छल अभिव्यक्ति उमंगी बोधा के काव्य की सर्वोपरि विशेषता है और यदि इनके काव्य में निर्बंधता न होती तो इनकी विशिष्टता भी नहीं मानी जा सकती थी। बोधा स्वछन्द अभि-व्यक्ति के कवि थे।

---

१ देखिये 'घनआनंद कवित्त' छंद २०, २२, २८, ३०, ३८, ४२, ४६

प्रेम-निरूपण

'इश्कनामा' में बोधा ने प्रेम तत्व का अनुभवाधारित निरूपण किया है। उनका प्रेम निरूपण न तो किसी व्यवस्थित पद्धति पर ही है और न सांगोपांग ही उसे शास्त्रीय विवेचन नहीं कहा जा सकता फिर भी प्रेमसम्बन्धी अपने अनुभवों का निचोड़ उन्होंने जगह-जगह और बार-बार छंदबद्ध किया है। यह उनकी एक विशेष प्रवृत्ति भी कही जा सकती है। अन्य कवियों की अपेक्षा उनके प्रेमतत्व संबन्धी कथन अधिक परिमाण में उपलब्ध हैं।

प्रेम पंथ की करालता के संबन्ध में तो बोधा का अधोलिखित छंद हिन्दी जगत में अत्यंत प्रसिद्ध है —

> **अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।**
> **सुई द्वार ते बेह सकीन तहाँ परतीति को टांड़ो लदावनो है।।**
> **कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।**
> **यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है।।**

बोधा का कहना है कि प्रेम की कोठरी ताला लगा हुआ है उसमें सब नहीं जा सकते। प्रेम का पंथ हलाहल है उनके मतानुसार वेद पुराणों का ऐसा ही कहना है। देखिये शंकर जी को लोग अपना शीश तक समर्पित कर दिया करते हैं। प्रहलाद भी ऐसे ही थे। जो त्याग और बलिदान करने को तैयार होता है वही इस मार्ग का सफल पथिक है। एक स्थान पर बोधा ने प्रेम को ऐसा सौदा कहा है जिसमें आदमी लुट या बिक जाता है। प्रेम में असह्य शारीरिक क्लेश और मानसिक व्यथा सहनी पड़ती है। विरह प्रेम को परम कठोर बना देता है। 'विरह वारीश' में एक जगह प्रेम पीड़ा से हारकर प्रेमी को कहना पड़ा है कि 'हे स्वामी ! यदि तू नरदेह दे तो प्रेम मत दे, यदि भाग्यवश प्रेम मिले ही तो प्रिय का वियोग न हो और यदि प्रिय का वियोग ही बदा हो तो प्राणों का विसर्जन भी साथ-साथ ही लिख दे।' प्रेम-वियोग ऐसा असह्य हुआ करता है—'छाती फटि दो टूक न होई। तौ किमि जानब बिछुरा कोई।।'

बोधा की राय में प्रेमी को अपनी व्यथा किसी और से नहीं कहनी चाहिये क्योंकि संसार के स्वार्थी लोग उसकी पीड़ा बाँट नहीं पाते उलटे उसका परिहास करते हैं। संसार विरही की पीड़ा को समझता नहीं इसलिए अपना अच्छा बुरा अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। हमें जो पीड़ा होती है वह तो हमारा जीव ही जानता है, औरों को उससे सहानुभूति होती तो दूर उलटे मजा ही आता है। पीड़ा को मन ही मन पचा रखने की सलाह बड़ी पक्की है, इसमें संदेह नहीं—

(क) काहू सों का कहिबो सुनिबो कवि बोधा कहे में कहा गुन पावत ।
जोई है सोई है नेकी बदी मुख से निकसैं उपहास बढ़ावत ।।

(ख) बोधा कहे को परेखो कहा दुनियाँ सब मास की जीभ चलावत ।

बोधा का कहना है कि प्रेम की परिपक्वता विरह में ही सम्भव है । विरह में ही प्रेम का असली मजा है, उसी में वह निखार पाता है । उनका यह कथन अनुभवसिद्ध उक्ति के रूप में माना जाना चाहिए । वे कहते हैं कि सच्चा प्रेम एक के ही प्रति होता है—'लगनि वठै थल एक लगि दूजै ठौर बढ़ै न' । अनन्यता प्रेम का मूलमंत्र है । प्रेम जिसके प्रति हो जाता है उससे फिर विमुख नहीं होता, इसी में प्रेमकर्ता की महानता है । प्रेम में दो को छोड़ तीसरे की अपेक्षा नहीं । जिसे प्रेमी चाहता है वह न मिले दूसरे सौ-पचास मिलें तो प्रेमी को उनसे क्या लेना-देना 'जो न मिले दिलमाहिर एक अनेक मिलै तौ कहा करियै लै ।' प्रेमी उसी को पाना चाहता है जिससे उसका दिल लगता है और जिससे दिल लगता है उसे वह छोड़ना नहीं चाहता ।

प्रेमी को लोक की लाज या परवाह नहीं होती । लोक, परलोक, गाँव, घर और शरीर की चिन्ता करने वाला कोई जड़ ही हो सकता है प्रेमी हृदय नहीं । बोधा का स्पष्ट मत है कि जिसे लोक का भय हो वह भूल कर भी प्रेम के रास्ते पर न चले—

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ ।।
बोधा सुनीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंडे परै जनि कोई ।।

प्रेम सदा से नियमों और बंधनों को तोड़ता आया है, नियम और संयम की शृंखलाओं और लोक-लाज की अर्गलाओं को तोड़ने में ही प्रेम का मुख उज्ज्वल और महत्वमय होता है । यह बात प्रेमियों के जीवन-दृष्टान्तों और काव्य-परंपरा में प्राप्त वर्णनों से स्वतः सिद्ध है । जिस समाज में ये बंधन जितने जटिल और रूढ़ हैं उस समाज में प्रेम ने उतनी ही उच्छृङ्खलता से आचरण किया है और सहृदय समाज में प्रेम की यह मुक्तिकामिता कभी भी हेय दृष्टि से नहीं देखी गई है । बोधा की गोपिका का यह संकल्प भी इस बंधन की शृंखला को विशृंखल करने के ही उद्देश्य से प्रेरित है—'लाज सो काज कहा बनि है ब्रजराज सों काज बनाइबे ही है ।' बोधा के प्रबंध में भी हम देखते हैं कि लीलावती को लोक की लज्जा नहीं और परलोक की चिन्ता नहीं, उसने माधवानल तक को लोक-भय की अवहेलना करने की सीख दी थी और अपार दुःखों के झेलने का साहस संकलित करने की सलाह दी थी । प्रेमी निडर होता है, प्रेम की डगर पकड़ लेने पर भले बुरे कुछ की चिन्ता नहीं करता ।

प्रेम कर लेना तो बोधा के मत में सरल है पर करके उसे निभाना कठिन है, बड़े-बड़े कठिन काम सरलता से किये जा सकते हैं परन्तु प्रेम का निर्वाह बहुत कठिनता से होता है। प्रेम किसी का भी हो, किसी से भी हो सार वस्तु यह है कि प्रेम ऐसा करना चाहिए जो निभ सके, ऐसे ही प्रेमी की संसार सराहना करता है। दुनियाँ में बहुत सी बड़ी कही जाने वाली बातें सरल हैं किन्तु प्रेम करके निभा ले जाना बहुत कठिन है—

> है न मुसक्किल एक रती नरसिंह के सीस पै साँग उबाहिबो।
> दैबे को कोटिक दान अनेक महेश लों जोग हिये अवगाहिबो॥
> बोधा मुसक्किल सोऊ नहीं जो सती ह्वै सँभारै सखीन को दाहिबो।
> एकहि ठौर अनेक मुसक्किल यारी कै प्यारी सों प्रीति निबाहिबो॥

'विरह-वारीश' में प्रेम संबंधी सुभान के नाना प्रश्नों के उत्तर देते हुए बोधा ने चार प्रकार के प्रेम का होना बतलाया है—आँख, कान, बुद्धि और ज्ञान का प्रेम। इस आधार पर विरही जन क्रमशः चार प्रकार के होते हैं—पतंग, कुरंग, माधवानल और भृंगीकीट। प्रेम के अनेक आधार हुआ करते हैं, कोई रूप के वश होकर प्रेम करता है, कोई गुण के वश होकर कोई धन के वश। यह तो मन की लगन और रीझ की बात है। सूरज और कमल, चन्द्रमा और चकोर, दीपक और पतंग की प्रीति आँख लगाने की प्रीति है। चुम्बक और लौह चैसी जड़ वस्तुओं में भी प्रीति देखी जाती है। एक प्रकार का प्रेम श्रेति (कान) के माध्यम से भी होता है जैसे नाद को सुनकर कुरंग का प्रेम जो तत्क्षण अपने आपको अर्पित कर देता है। प्रम के ये सभी प्रकार सरस और श्रेष्ठ हैं, कोई किसी से कम नहीं। जिसका मन जिस प्रकार के प्रेम में उलझा है वह उसी में खुशी रहता है।

बोधा का कहना है कि प्रेम में विश्वास आवश्यक है। विश्वास या प्रतीति से ही प्रेम पल्लवित होता है उसी प्रकार जैसे यश से मनुष्य इन्द्र पद पाता है, योग से जीवन, दान से दौलत और तप से राज्य।

प्रेम में अभिमान या गुमान के लिए कोई स्थान नहीं, प्रेम तो त्याग का ही दूसरा नाम है। जब तक अहंकार होता है प्रेम का स्वरूप प्रकट नहीं होता। प्रेम के बाण से आहत हुआ व्यक्ति निरभिमान हो जाता है। यह बात उन्होंने दो मानवती और मगरूर नायिकाओं को सम्बोधित करते हुए असाधारण खूबसूरती से कहा है—

> (क) बोधा सुहाग औ सोभा सबै उड़ि जैबे के पंथ पै पाउँ न दीजै।
> मानि लै मेरी कहीं तू लली अहे नाह के नेह मथाह न कीजै॥

प्रेमी प्रेम से श्रष्ठतर कुछ नहीं समझता, मुक्ति भी उसके लिए प्रेम के समक्ष हेय और नगण्य है इसीलिए वह कहता है—'दिलदार पै जौ लौ न भेंट भई तब लौं तरिबो का कहावतु है।'

प्रेम-भावना

बोधा ने कुछ स्थलों पर अत्यंत कामुकतापूर्ण बातें भी लिखी है उदाहरण के लिए उन्होंने एक छंद में गुप्त रूप से की जाने वाली रति और कामकेलि की उत्कृष्टता घोषित की है—

काँपत गात सकात बतात हैं साँकरी खोरि निसा अँधियारी ।
पातहू के खरके धरके धरकै उर लाय रहै सुकुमारी ।।
बीच मैं बोधा रचै रसरीति मनो जग जीति चुक्यो तिहि बारी ।
यों दुरि केलि करै जग मैं नर धन्य वहै धनि है यह नारी ।।

ऐसी अनैतिक और कामुकतापूर्ण उक्तियाँ उनकी प्रेमभावना को दाग लगाने वाली सिद्ध हुई हैं । उनकी ऐसी ही काव्य पंक्तियों के आधार पर उन्हें लोगों ने बजारू प्रेम का वर्णन करने वाला कवि कहा है । उनकी यह अति ऐन्द्रिक वृत्ति एक अन्य स्थल पर इस प्रकार परिस्फुट हुई है—

जित बाल तितै खुसी हाल सबै जित बाल नहीं तित हाल दुखी ।
दुख ठौर सबै विधि और रचे सुख ठौर अकेली सरोज मुखी ।

स्पष्ट ही ये छंद नैतिक दृष्टि से बोधा के पक्ष में नहीं जा सकते । 'विरह वारीश' में इसी प्रकार के भाव अथवा विचार और भी देखे जा सकते हैं उदाहरण के लिए उनका यह कहना कि संसार में जिस अमृत की बात लोग करते हैं वह सब झूठी है, असली अमृत तो तरुणी की रति में है । इसी प्रकार 'अमृत कहाँ है' का उत्तर देते हुए उनकी यह उक्ति भी उनकी मनोभावना पर खासा प्रकाश डालती है—

उन्नत उरोजन मैं दृगन सरोजन मैं,
भौंहन के चोजन मैं मंद मुसकान मैं ।
रसना दशनहू मैं कंचुकी कसन हू मैं,
अंजन रसन हू मैं बेनी सुखदान मैं ।।
बेंदी के मसकबे मैं नाहीं के कसकबे मैं,
रोस के ससकबे मैं रस की रिसान मैं ।
भूले कोऊ अंत ही बतावत है बुद्धिसेन,
अमृत बसत है विशेष नबलान मैं ।

इस प्रकार बोधा की कामिनी संबंधिनी यह कामुकतापूर्ण दृष्टि इस बात का द्योतन करती है कि उनकी निगाह में तरुणी का क्या महत्व था, कदाचित वह कामवृत्ति के साधन से अधिक महत्व न रखती थी ।

बोधा के प्रबंध ग्रंथ 'विरह वारिश' को देखने से पता चलता है कि उन पर सूफी प्रभाव भी थोड़ा अवश्य था । दो-एक जगह उन्होंने 'इश्क मजाजी और इश्क

हकीकी' की चर्चा करते हुए सूफी प्रभावापन्न कुछ बातें लिखी हैं। सूफी मत में सांसारिक प्रेम से आगे बढ़कर ईश्वरी प्रेम तक पहुँचा जाना है, लौकिक प्रेम एक प्रकार से अलौकिक प्रेम का सोपान है। इस प्रसिद्ध सूफी विचारधारा को उन्होंने बहुत स्पष्ट ढंग से लिख दिया है —

(क) इश्क हकीकी है फुरमाया। बिना मजाजी किसी न पाया।
(ख) सुन सुभान यह इश्क मजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिलराजी ॥

इस सम्बन्ध में एक बात समझ रखने की है कि बोधा ने इश्क मजाजी और इश्क हकीकी में से पहले प्रकार के इश्क को अर्थात सांसारिक प्रेम को पकड़ लिया था, इश्क हकीकी का तो उन्होंने नामोल्लेख मात्र किया है। अलौकिक प्रेम का तो उनके काव्य में दर्शन तक नहीं होता, वे शुद्ध सांसारिक जीव थे और लौकिक तथा बासनामय प्रेम ही कदाचित उनके जीवन का सर्वस्व था इसलिए मात्र इश्क मजाजी और इश्क हकीकी की चर्चा कर देने से उन्हें सूफीमत का पोषक मान लेना भारी भूल होगी।

रूप-सौंदर्य-वर्णन

बोधा के मुक्तक काव्य में सुभान और कृष्ण तथा प्रबन्ध ग्रंथ में कृष्ण, लीलावती, माधव और कंदला के रूप सौन्दर्य के कुछ चित्र देखे जा सकते हैं। अपनी मुक्तक रचनाओं के संग्रह 'इश्कनामा' में बोधा ने रूप वर्णन विशेष नहीं किया है यहाँ तक कि अपनी परमप्रिया सुजान के रूप का वर्णन उन्होंने पूर्णतः तो क्या अधूरे रूप में भी नहीं किया है, केवल उसके रूप की अपारता और सौन्दर्य की अतिशयता का संकेत किया है —

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटियै तकि कै मुसकाहट ताको ॥

कभी सृष्टि का सौंदर्य उसके रूप पर निछावर किया गया है और कभी उसकी मुस्कराहट पर कितने इन्द्रपद निछावर कर दिये गए हैं। कभी उसकी मुख छवि को संसार में अतुलनीय कहकर अहने हृदय की दशा 'सावन के अंधे' सी बताई गई है। साक्षात् रूप के चित्रण से कवि ने अपना पल्ला खींच लिया है, हाँ हृदय पर पड़े प्रभाव को दिखाकर रूप-छटा का अतिशय्य अवश्य व्यंजित किया है। एक छंद में देव दर्शन और पूजन के लिए जाती हुई तरुणी का चित्र है जो पर्याप्त सुन्दरता से अंकित हुआ है —

देव दुआरे निहारि खड़ी मृग नैनी करै रवि की छबि छोटी।
भाल में रोड़ी की बेंदी लसी है ससी में लसी मनौं बीर बहूटी।

यहाँ उसकी कांति पूजा भावना, रूप-सुषमा के साथ-साथ कवि ने अपनी सौंदर्य चेतना का भी अच्छा परिचय दिया है। असम्भव नहीं कि यह चित्र सुभान का ही हो पर खेद है कि ऐसे सौंदर्य चित्र बोधा में और नहीं हैं। 'विरह-वारीश' में लीलावती के रूप तथा अंग सौंदर्य का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण और प्रभावशाली है। उसके रूप-लावण्य ने कामदेव के समान ब्राह्मण माधवानल को मुग्धकर दिया था—

> है द्विजराजमुखी सुमुखी अति। पीन कुचाह गरुरी गररी गति।।
> है हिरनाक्षय बाल प्रबीनिय। त्यों दुति दामिनी की करि छीनिय।।
> पन्नग मैचक सी वर बैनिय। कुंदन लौं झलकै सुख दैनिय।।
> है न बड़ी अति प्रीति भरी त्रिय। तीक्षण भौंह कटाक्ष करयौ बिय।।
> खेलत सी उलती भग डोलहि। कंचुकी आप कसै अरु खोलहि।।
> हार उतार हिये पहिरै पुनि। पांव धरै लहि त्यों न उराधन।।
> हार सिंगार सिंगारहि सुन्दर। क्यों न बसै तिय छैल दिलंदर।।
> यों कटि मोरत छाँह निहारत। ओढ़नी बारहि बार सम्हारत।। (विरहवारिश)

इन पंक्तियों में अंकुरित यौवना लीलावती का चित्र है। उसमें यौवन की चेतना कैसी सजग है और रूप सौन्दर्य एवं अंग लावण्य के साथ उसकी आंतरिक चपलता का रूप कैसा मोहक है। यहाँ लीलावती का सौदर्य अपने गत्यात्मक रूप में काव्य पाठक को मुग्ध कर रहा है।

कंदला तो बोधा की एक साहित्यिक सृष्टि है, उसका रूप-सौदर्य-व्यक्तित्व-चरित्र सभी कुछ देखने योग्य है। उसके रूप का वर्णन विशेष विस्तार और अभिनिवेश के साथ एक ही स्थल पर किया गया है—कामसेन की सभा में जब माधव की निगाह कन्दला की निगाह से जुड़ जाती है और वह उसे वह देखता ही रह जाता है। इसी प्रसंग में कन्दला के सोलह शृंगारों और शिखनख का वर्णन आता है। परम रूपवती कन्दला के सौंदर्य के भिन्न-भिन्न अंगों और उपकरणों का पृथक-पृथक और एक साथ दोनों प्रकार से वर्णन हुआ है। कन्दला के रूप और अंग सौंदर्य की कुछ रेखाएँ इस प्रकार हैं---

> नेत्र—दृग-मृग एक रीति सो बखाने वे तो,
> कानन बिहारी येऊ कामन बिहारी हैं।
> बिंदी—लसत बाल के भाल में रोरी बिन्द रसाल।
> मनोशरद शशि में बसी बीर बहूटी लाल।।
> दांत—चंद मंदकारी प्यारी मंद मुसकान तेरी,
> देखि दसनावलि को दारिम • दरकिगो।
> कटि—बोधा कवि सून के प्रवान ब्रह्मज्ञान जैसे,
> चलत हलत यों प्रमानियतु है।
> दृष्टि में परै ना यों अदृष्टि कटि तेरी प्यारी,
> ह्वै है तो विशेष उनमाई जानियतु है।।

इसी प्रसंग में कुछ अंगों का वर्णन एक साथ भी किया गया है जिनसे उनका समूचा प्रभाव हृदय पर उतर आता है। कामकन्दला की अंग समष्टि का एक दूसरा चित्र इस प्रकार है—

गुरु नितंब अरु गदकारी लखि कदली तरु लाजे।
पिंडुरी गुल्फ सुठार सुल्फ अतिचरण अंगुली लाजै ।।

कंदला के तथा अन्य आलम्बनों के रूप सौन्दर्य के बोधा द्वारा प्रस्तुत चित्र परंपरागत पद्धति पर हैं, उनमें कोई विशेष नवीनता नहीं फिर भी ये सम्पूर्ण काव्य के सौष्ठव को बढ़ाने वाले हैं और आलम्बनों के प्रभाव को पाठक के मन में घनीभूत करने वाले।

कृष्ण के रूप वर्णन में हृदय पर पड़े हुए उनके प्रभाव को दिखाकर रूप-सौंदर्य की असीमता व्यंजित की गई है, देखिये प्रभावाभिव्यंजक पद्धति पर चलकर गोपिका द्वारा रूप सौन्दर्य का कैसा प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है —

छुटि जाइंगे चेत के नेत सबै जो कहूँ मुरली अधराधरि है।
मुसकाइ कै बोलै तौ बाट परै नखहू शिख लौं विष सों भरि है ।।
कवि बोधा तिहारे समान सबै सुतौ सूधेई हेरनि मैं हरि है।
तुम्हैं भावते जानि मने को करै वह जादूगरी बनि कै करि है ।।

बोधाकृत माधवानल प्रबन्ध में कथा की भूमिका या पूर्ववृत्त के अन्तर्गत कृष्ण का जिक्र आता है, उसी प्रसंग में उनके रूप का विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। कवि कृष्ण के रूप के ब्यौरों के वर्णन में प्रवृत्त हुआ है—कन्ठ, बाहु, नख, हृदय-प्रदेश, कटि, नाभि, नितंब और पिंडली। इसी प्रकार से उनकी वेशभूषा के अंतर्गत मुक्तामाल गुंजमाल, पीताम्बर, पुष्पहार तथा अन्य आभूषण, चंदन के चित्रालेख, कछनी, किंकणी, पाँवड़ी, लकुटी और मुरली। इस विस्तृत और सूक्ष्म विवरणात्मक चित्रण से कृष्ण का समग्रस्वरूप आपके सामने उपस्थित हो जाता है। परम्परागत उपमान विधान के सहारे किये जाने पर भी इस वर्णन में समग्रता है और उसमें एक विशिष्टता है। उसमें बोधा की अपनी कल्पना और भावना सुरक्षित है। 'विरह-वारीश' प्रबन्ध का नायक माधवानल स्वतः अत्यन्त रूपवान है, वह जहाँ जाता है अपने रूप और बेश के कारण ही समादृत होता है। अनेक अवसरों पर कवि ने उसके रूप का वर्णन किया है। वह सौंदर्य और लावण्य से परिपूर्ण शृंगार की मूर्ति ही जान पड़ता है, उसके रूप-वर्णन के साथ-साथ वेशभूषा का वर्णन कवि ने विशेष रूप से किया है। महाराज गोविन्द चन्द कामसेन और विक्रमादित्य की राज सभाओं में उसकी मूर्ति के पर्याप्त सरस चित्र खींचे गये हैं। उसका तेजस्वी और प्रभावशाली रूप राजा-प्रजा, नर-नारी सबको मुग्ध करने की क्षमता रखता था। लीलावती और कामकंदला ऐसी रूपराशि स्त्रियाँ उसके प्रेम में पड़ कर बावली हो जाती हैं, यह भी उसके सौंदर्य की ही महिमा है।

शृङ्गार का संयोग-पक्ष

बोधा के श्रृंगार वर्णन में परम्परा पालन नहीं। उसमें न रास के चित्र हैं न यमुना-पुलिन और वृन्दावन कुन्जों एवं व्रज बीथियों के वे रमणीय प्रसंग हैं जिनमें बार-बार राधाकृष्ण और कृष्ण गोपियों का मिलन दिखाकर संयोग की अच्छी भूमिका प्रस्तुत की जाती है। बोधा लौकिक प्रेम के गायक थे, उन्होंने अपने प्रेम को भक्ति का आवरण नहीं दिया है। उनकी वासना-परक प्रेम भावना का संकेत हम आरम्भ में कर चुके हैं। बोधा ने निर्बंध प्रेम की वकालत की है। बोधा की गोपिका ने लोक बन्धन की शृंखलाओं का विशृंखल करने के ही उद्देश्य से यह संकल्प किया था—

> छांड़ि सखीन की सीख सबै कुलकानि निगोड़ी बहाइबे ही है।
> ह्वै फै लट्टू लपटाइ हिये हरि हाथ तें बंसी छुटाइबे ही है।
> बोधा जरैलुन के उपहास अंगेजु कै कुंजनि जाइबे ही है।
> लाज सों काज कहा बनि है ब्रजराज सो काज बनाइबे ही है॥

इस निश्चय की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होती हुई एक अन्य गोपिका के हृदय की अधीरता देखिये—वह कहती है कि निगोड़ी लाज का बन्धन मारे डाल रहा है, अपना नेह निभाने के लिए उस बन्धन को तोड़ना ही पड़ेगा। एक छंद में एक ऐसी प्रेमिका के मनोभावों का चित्रण हुआ है जो प्रेम तो करती है किंतु रात-दिन जिसके ऊपर घर वालों का पहरा रहता है, वह कहती है—

> खरी सासु घरी न छमा करिहै निसिबासर आसन हीं मरबी।
> सदा भौंहैं चढ़ाए रहै ननदा यों जिठानी की तीखी सुनै जरबी॥
> कवि बोधा न संग तिहारा चहैं यह नाहक नेह फँदा परबी।
> बड़ी आँखैं निहारी लगैं ये लला लगि जैहैं कहूँ तो कहा करबी॥

यह एक अतिशय मनोवैज्ञानिक चित्र है, अंतस के भीतर पैठकर कवि ने गोपिका का स्वरूप देखा और दिखाया है। एक तरफ बरबस रीझना है दूसरी तरफ उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न। वह विवेकमयी है, जानती है कि प्रेम के फन्दे में पड़ने को तो पड़ सकती है पर उससे निर्वाह न हो सकेगा क्योंकि इसपर कठोर नियन्त्रण है। वह विवेक की तुला पर तौल कर देख लेती है कि क्षणिक मानसिक सुख के लिए ताप और यंत्रणा का अपार दुःख नहीं सहा जा सकता इसी से वह विवेक बुद्धि से काम लेती है और कृष्ण से कह देती है 'कवि बोधा न संग तिहारों चहैं यह नाहक नेह फँदा परबी' फिर भी यह कौन कह सकता है कि उसकी ललक हमेशा के लिए समाप्त हो गई थी। लेकिन अधिकांश गोपियाँ ऐसी थीं जो अपनी प्रेमोन्मत्त स्थिति में घर और बाहर का भेद नहीं करतीं, अपने सुख के आगे सुरेश का वैभव भी तुच्छ समझती हैं। प्रेम

के रंग में रंग जाने पर उन्हें कुल मर्यादा की परवाह नहीं रह जाती, वे तो बिना मद पिये ही मदमयी हो गई हैं—व्रजराज की चाहि के आखिर या बिनही मद मतवारी भई।'

कुछ छंदों में बोधा ने अपने निजी प्रेम का भी वर्णन किया है। उन्होंने अनेक बार सुभान के प्रति अपनी आसक्ति प्रकट की हैं—'बस मेरो कछू ना हुतो मन मैं बिन देख तुम्हें मनु मानत ना।' गोपी कृष्ण प्रेम वर्णन द्वारा भी प्रायः उन्होंने अपने ही हृदय का प्रेम अंकित किया है। उनकी प्रेम कि अभिव्यक्ति किसी प्रचलित लीक को पकड़ कर नहीं हुई है; नायक-नायिका भेद की चाहारदीवारी में उनका प्रेमी हृदय क्रीड़ा के लिए अनुकूल क्षेत्र नहीं पा सका है। उनकी वृत्ति की स्वच्छन्दता और अभिव्यक्ति की रीति निरपेक्षता देखनी हो तो इस छंद में देखिये जिसमें उनके दिल की पुकार है और अंतःकरण की अभिलाषा—

> प्रेम की पाती प्रतीति कुंडी दृढ़ताई के घोटन घोटि बनावै।
> नैन मजेजन सों रगरै चित चाह को पानी घनो सरसावै॥
> बोधा कटाछन की मिरचैं दिल साफी सनेह कटोरे हिलावै।
> मो दिल होइ खुसी तबही जब रंग मैं भावती भंग पिआवै॥

रीति-मुक्ति का इससे बढ़कर दृष्टान्त दूसरा न मिलेगा, कैसी निर्बन्ध और उन्मद भाव तरंग है! क्या तबियत पाई थी बोधा ने और कहने का कैसा अनूठा ढंग उन्होंने निकाला है। बहुत से रूपक बाँधे गए पर हृदय के मुक्त उल्लास से बँधे इस 'भंग के रूपक' की बात ही कुछ और है। अभिव्यक्ति का ऐसा रूपकाश्रित कौशल हृदय की इतनी संवेदना के साथ ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा।

सँभोग के जैसे नग्न चित्र बोधा ने अंकित किये हैं वैसे स्वछंद धारा तो क्या समूचे हिन्दी साहित्य में शायद ही किसी कवि ने अङ्कित किये हों। इस दृष्टि से उनके 'बिरह वारीश' में आए हुए ऐन्द्रिक संभोग के वे चित्र देखने योग्य हैं जिनमें माधव-लीलावती तथा माधव-कंदला की काम-केलि का वर्णन हुआ है (देखिये तरंग संख्या ७, १५, १६ और २५)।

वियोग पक्ष

बोधा के काव्य में वर्णित प्रेम आरोपित अथवा भावित नहीं, वह बहुत कुछ घनआनंद के ही समान व्यक्तिगत प्रेम का प्रकाशन है और उसमें भी विरह का तत्व प्रधान है। लोक में यह प्रसिद्ध ही है कि बोधा एक आशिक मिजाज जीव थे और पन्ना दरबार की वेश्या सुभान से इनका इश्क हो गया था। इसी के विरह में इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इश्कनामा' और 'विरह वारीश' लिखे गए थे। सुभान के विरह में अपनी अंतर्दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि विरह की वेदना मन ही मन

सहनी पड़ती है, उस अथाह पीड़ा को कोई बाँट नहीं सकता । मन जोगी की तरह भाँव देता फिरता है, मुँह से कुछ बोलते नहीं बनता, आँखों से देखते नहीं बनता और चेहरे पर हँसी नहीं आती । ठीक भी है जिस सुभान की आँखें हृदय में शल्य की तरह धँसी हुई हों उन्हें चैन पड़ भी कैसे सकता है । बोधा कहते हैं कि सुभान के लिए हमारे हृदय में जो प्रेम-वेदना है उसे कोई क्या जाने ! 'पीर हमारी दिलन्दर की हम जानत हैं कइ जानन हारी' उसे हम जानते हैं या वह जानती है । हाँ यदि किसी ने ऐसी प्रणय की वेदना झेली हो तो वह भी उसे जान सकता है । इस प्राणान्तक पीड़ा से जीव रक्षा और कोई नहीं कर सकता, एक सुभान ही इस मर्मान्तिक वेदना की संजीवनी जड़ी है—'जाते मिटै यह पीर सरीर की है वह मूरि सजीवन सोई ।' बोधा के प्रेम में उतनी विपमता न थी जितनी घनआनंद में । सुभान के मन में भी बोधा के लिए पर्याप्त स्थान था, वह उनसे पूर्ण सहानुभूति रखती थी किन्तु कदाचित पन्ना नरेश की इच्छा ही उसके मार्ग की बाधा थी जिसके कारण वह बोधा का साथ न दे सकी । उसकी इस विवशता को बोधा ने भी सही-सही ढंग से समझा था और तभी वे लौट कर पन्ना दरबार में आये भी । उन्हें सुभान के प्रेम पर जरूर विश्वास रहा होगा तभी वे यह कह सके हैं कि हमारे दिल के अंदर की पीर या तो हम जानते हैं या वह सुभान ।

सुभान के प्रति बोधा की इतनी आसक्ति यों ही नहीं थी । वह अत्यंत रूपवती थी, उसके ऊपर बोधा सब कुछ निसार करने को तैयार थे । यही कारण है कि उससे वियुक्त होने पर वे अधीर हो उठे । लोगों ने उन्हें बहुत समझाया पर किसी को इनकी वास्तविक अंतर्व्यथा का क्या पता हो सकता था । सुजान की प्रेमभरी वह चितवन जो इनके चित्त में चुभ गई थी उसकी शक्ति, उसके प्रभाव और उसके मूल्य को इनका चित्त ही समझ सकता था । बोधा की विरह पीर की सघनता का यही कारण था कि वे सहृदय और प्रेमी जीव थे तथा सुभान की खूबसूरती पर दिलोजान से फिदा थे । कभी-कभी वियोग दशा में बोधा ने पुरानी स्मृतियों को जगाया है—नेबारी के फूलों का फूलना और लताबेलों का लहलहाना 'अरवती' त्यौहार का मनाया जाना आदि ।

अपनी विरह व्यथा का निवेदन बोधा ने गोपियों के माध्यम से भी किया है जिसका कारण मुख्यतः परम्परागत काव्य ही है, फिर व्यक्तिगत प्रेम के प्रकाशन की परम्परा भी ठीक से विकसित न हो पाई थी । फलस्वरूप बोधा ने कुछ छन्दों में अपनी व्यथाभिव्यक्ति का माध्यम गोपियों को बना लिया है पर ऐसे छंद भी बोधा की निजी विरह वेदना के कारण रीतिकालीन विरह वर्णनात्मक छन्दों से पृथक दिखाई देते हैं । कभी गोपियाँ गाँव के देवताओं का ध्यान करती हैं, उन्हें मनाती हैं और उनके पैर पड़ती हैं । उनसे वे प्रियतम को अंक में भरने की अभिलाषा व्यक्त करती हैं और अपनी विवशता भी सूचित करती हैं—

नित गाउँ के नेह के देवता ध्याय मनाय अलीं विधि पाउँ परौं ।
तिन सों धुनि या बिनती बिनवौं निरसंक ह्वै भाव तों अंक भरौं ।
यह चाव न बोधा सुरौ कबहूँ यह पीर ते बीर दिवानी फिरौं ।
परवाह हमारी न वाकौ कछू मन जाय न्यायौ कहु कैसे करौं ।।

अनेक स्थलों पर बोधा ने विरह वेदना के उद्दीप्त स्वरूप का भी चित्रण किया है जहाँ क्रमिक रूप से ऋतुओं के आने तथा प्रकृति में परिवर्तन होने के कारण विरहिणी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विकलता का स्वरूप देखा जा सकता है । पावस की श्याम घटाएँ घुमड़ आती हैं, चित्त अधीर हो उठता है और विरहाग्नि धधक उठती है—

रितु पावस स्याम घटा उनई लखि कै मन धीर धिरातो नहीं ।
पुनि दादुर मोर पपीहन को सुनि कै धुनि चित्त थिरातो नहीं ।
जबसे बिछुरे कवि बोधा हितू तब ते उर दाह थिरातो नहीं ।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नहीं ।।

कोई-कोई गोपिका तो वर्षा की काली घटाओं को देखकर मूच्छित हो जाती है, कितने उपाय कर-करके हकीम और वैद्य थक जाते हैं पर वह धैर्य धारण नहीं कर पाती । दक्षिण दिशा से उठ कर उमड़ी हुई काली घटाओं को देख उसका हृदय जल कर काला हुआ चाहता है, उसी समय करका पात होता है और वह प्रेमाधिक्य एवं वियोग वश मूच्छित हो जाती है । कितने ही वैद्य आ-आकर उपचार करते हैं पर वह धैर्य नहीं धारण कर पाती । उसकी बेकली मिटती नहीं और उसकी पीड़ा को जान सकने वाला भी नहीं मिलता, प्रियतम के प्रवासी होने के कारण विरहिणी भयंकर विरहाग्नि में जल रही है, वर्षा की अँधेरी रात में केकी (मयूरी) को कलाप सुन कर उसका हृदय हहर उठता है । अपने प्रिय को स्मरण करता हुआ पपीहा भी शोर मचा रहा है और बेचारी विरहिणी का हृदय इन सब के शोर से आधी रात में मग्न हुआ जा रहा है । वह कहती है—'तू अपने पिय को सुमिरै सुमिरैं हम तेरी जुबान की दापन' पपीहे की तो यह आदत ही पड़ी हुई है, वह आधी रात 'पी-पी' की रट लगाता है । गोपियाँ कहती हैं कि उसे अपने ही सुख की पड़ी है, वह हमारी व्यथा नहीं देखता, यह नहीं देखता कि जिस मेघ को देखकर उसके मुरझाये प्राण हरे हो जाते हैं वही मेघ हमारे हृदय को कितना दग्ध करता है—

पिय प्यारे की बानि पपीहै परी, अधराति कुलाहल गावतु है ।
कलकानि न बोधा हमारी लखै, इन्हें आपनोई सुख भावतु है ।।

कुछ छंदों में वसंत ऋतु की भी विरह विभावनी शक्ति का भी वर्णन किया गया है—कोयलें अमराइयों में शोर मचा रही हैं, उनकी टर्र-टर्र क्या अच्छी लगती है ? वनों पलाशों के झुंड के झुंड इतरा रहे हैं, उन्हें देखकर क्या मन को सुख और

धीरज मिलता है ? मनोज के संतापों से विरहिन का तन रुई की तरह दग्ध हो रहा है । जब कंत ही नहीं तो फिर वसंत के वैभव को लेकर हमें क्या करना—'घर कंत नहीं चिरतंत भट्ट अब कै धौं वसंत कहा करि है ।' वसंत में विरहिणी अधिक कामदग्ध दिखलाई गई है; आम कोयल और पलाश के सहारे वसंत का वातावरण प्रस्तुत करते हुए उसकी उद्दीपक शक्ति का बखान किया गया है । विरहिणी कहती है कि हे कोयल ! तेह में भर कर तू कूक मत ! तेरी कूक विरहिन की दुर्बल काया को बेध देती है—

(क) बबैलिया तेरी कुठार सी बानि लगे पर कौन को धीरज रैहै ।
थाले मैं तोसों करौं बिनती कवि बोधा तुही फिरि कैं पछितैहै ।
स्वारथ औ परमारथ को पथ तेरे कछू कुछु हाथ न ऐहै ।
ठौर कुठौर बियोगिनि के कहूँ दूसरी देहन मैं लगि जैहै ।।

कोयल का कूकना विरहिणी को ऐसा लगता है जैसे कोई आग जलाकर शरीर से उसका स्पर्श कराए दे रहा हो । प्रकृति और उसके नाना उपकरण—वर्षा, मेघ, दादुर, मोर, पपीहे, वसंत, पलाशवन, आम्रतरु और कोयल ये सब विरहिणी का विरह बढ़ाते हैं, उनके धैर्य की निर्बल रज्जु को क्षीण से क्षीणतर करते हुए काट देते हैं और वह बेसहारा हो जाती है । उनके प्राणों का स्पन्दन तीव्र हो जाता है, कभी वे कोसती हैं कभी मूर्च्छित होती हैं कभी काम-दग्ध । इन विरहोत्तेजक प्राकृतिक उपकरणों से उनका मन मथित हो उठता है और उनके अंतस में मन्मथ प्रबल हो जाता है । यदि बोधा परंपरा की लीक पीटने वाले कवि होते तो वे छओ ऋतुओं का वर्णन अवश्य करते । प्रेम का वास्तविक आनंद विरह में है, विरह में ही प्रेम परिपक्व होता है और निखार पाता है इस तत्व से बोधा पूर्णतः अभिज्ञ थे । वे स्वयं छः महीने या एक वर्ष ज्यों वियोगाग्नि में तपे थे इसी कारण उनके काव्य में विरह का वर्णन विस्तार से हुआ है । 'विरह-वारीश' नामक प्रबंध तो वियोग भावना की ही सृष्टि है । उसमें अंकित विशद विरह भावना पर कुछ कहना प्रस्तुत सीमा में संभव नहीं इसलिए फिर कभी ।

विरह-वारीश

'विरह-वारीश' या 'माधवानल कामकंदला चरित्र भाषा' के आरंभ में कवि ने गणेश, श्रीकृष्ण, शिव और सूर्य की वंदना की है तथा कथावस्तु का निर्देश किया है । स्वयं कवि के कथनानुसार यह रचना कवि ने अपनी 'महबूबा' की स्मृति में ऊबड़ूब होते हुए विरह की महादशा में लिपिबद्ध की है । इसी कारण इसमें शैथिल्य भी मिलेगा और विशेष अर्थवत्ता भी न मिलेगी परंतु फिर भी जो सज्जन होंगे वे इसे पढ़कर अवश्य सुख पाएंगे । बोधा ने अपने आश्रयदाता पन्नानरेश महाराज खेतसिंह का और अपनी निजी प्रीति का संक्षिप्त परिचय एवं वृत्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि

इस प्रबंध की रचना के पीछे उनकी प्रेमिका सुभान की प्रेरणा थी। रचना संवाद या प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है जिसमें प्रेम को लेकर सुभान नाना प्रश्न करती है और माधव उत्तर देते हैं। इसके बाद उसकी समस्त जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वे माधव और कंदला नामक प्रसिद्ध प्रेमी युगल की परंपरा-प्राप्त कथा का विस्तृत वर्णन करते हैं।

कथा के प्रमुख पात्रों माधव, कामकंदला और लीलावती के पूर्व जन्म का वृत्त प्रस्तुत करते हुए कवि पुहुपावती नगरी से कथा का आरंभ करता है। माधव और लीलावती का शंभुवाटिका में प्रथम मिलन और विष्णुदास पंडित की पाठशाला में सहाध्ययन और साहचर्य प्रणय में परिणत हो जाता है। वे गुप्त रूप से मिलने और प्रेमक्रीड़ा करने लगते हैं। तरुण माधव का कामदेव-सा रूप समस्त पुरनारियों को मोहित कर लेता है जिसके परिणाम स्वरूप लोकमत माधव के विरुद्ध हो जाता है और उसे पुहुपावती नगरी छोड़नी पड़ती है। लीलावती के विरह में जंगल-जंगल भटकता हुआ माधव बांधवगढ़ और कामदगिरि पहुँचता है। वृक्षों और वनस्पतियों तथा पशु-पक्षियों से अपनी विरह-व्यथा कहता हुआ माधव कामावती नगरी पहुँचता है। बाँधोगढ़ से ही एक सुवा उसका हितैषी और सहायक होकर उसका साथ देता है। कामावती के नागरिक उसके रूप-गुण के कारण उसका सम्मान करते हैं और एक बरई (तमोली) उसे अपना मित्र और अतिथि भी बना लेता है। अपने संगीत कला नैपुण्य के कारण वह राजसभा में सम्मानित होता है, वहीं कंदला नाम की नर्तकी से भी उसका प्रेम हो जाता है परन्तु वह राजा कामसेन और उसकी सभा को कला के परखने में मूर्ख और अज्ञ बतलाने के अपराध में कामावती से भी निष्कासित कर दिया जाता है। निष्कासित होने के बाद भी कंदला उसे बारह दिन तक अपने भवन में रोक रखती है जहाँ नाद-विद्या के आदान-प्रदान के साथ-साथ दोनों रतिक्रीड़ा में अहर्निश निमग्न रहते हैं। अंत में एक दिन माधव कंदला के भवन में एक पत्र छोड़कर और अपने बरई मित्र से आज्ञा लेकर कामावती से बिदा हो जाता है और अपना दुख उस सुवे पर प्रकट करता हुआ वह फिर दर-दर कंदला के विरह में भटकता हुआ उज्जैन पहुँचता है जहाँ महेशमठ के समीप मृगचर्म पड़ा देख उसे कंदला की उन्मादकारिणी स्मृति हो आती है। उसकी पीड़ा को कम करने के लिए सुवा कंदला के पास जाता है, उसे माधव का संदेश देकर उसका कुशल समाचार ले आता है। इधर माधव की विरह-व्यथा की गाथा सुनकर उज्जयिनी नरेश विक्रम सेना लेकर कामावती नगरी की ओर चल पड़ते हैं। नर्तकी कंदला के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए जब राजा विक्रम झूठ ही विरही माधव की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं तो कन्दला प्राण त्याग देती है और कन्दला की मृत्यु की सूचना पाकर उधर माधव भी

मर जाता है। पश्चाताप विगलित विक्रम जीते जी जल मरने के लिए चिता तैयार करता है। स्वर्ग के देवता भी इस दारुण दृश्य को देख नहीं सकते और यम-प्रेरित बैताल द्वारा लाए गए दो बूँद अमृत से माधव और कंदला पुर्नजीवित हो जाते हैं। इसके बाद विक्रम बैताल के द्वारा कामसेन के पास कंदला को समर्पित करने का प्रस्ताव भेजते हैं परन्तु कामसेन कंदला को समर्पित करने की अपेक्षा युद्ध करना स्वीकार करता है। दिन भर के युद्ध के बाद भी जय-पराजय का निश्चय न हो सकने के कारण विक्रम और कामसेन के पक्ष के असाधारण वीर योद्धाओं रनजोर और मैढ़ामल्ल के बीच युद्ध होता है। विकट युद्ध के पश्चात् विक्रम के पक्ष का वीर विजयी होता है और कामसेन पूर्ण सद्भाव तथा आदर-सत्कार के साथ कंदला को समर्पित कर देते हैं। अब माधव सुखपूर्वक भोग करता हुआ कंदला के साथ रहने लगता है। उधर वर्ष भर से अधिक लीलावती माधव के वियोग में तड़पती रहती है। इधर एक दिन स्वप्न में लीलावती को देख माधव भी विकल हो उठता है। कंदला अपने प्राणप्रिय का दुःख दूर करने के लिए राजा विक्रम और कामसेन की सहायता उपलब्ध करती है तथा पुहुपावती-नरेश गोविंद चंद भी माधव का स्वागत करते हैं। माधव और लीलावती का विवाह-सोत्साह संपन्न होता है तथा लीलावती और कामकंदला सुखपूर्वक माधव के साथ रहने लगती हैं।

उक्त कथा शतशत रोचक प्रसंगों, विवरणों और वर्णनों के साथ विस्तार-पूर्वक बोधा के द्वारा अत्यंत सरस रीति से कही गई है। 'विरह-वारीश' की कथा का आधार 'सिंहासन द्वात्रिंशत-का' की २१वीं कहानी है जिसे अनुरोधवती नाम की एक पुतली सुनाती है। इस ओर स्वयं बोधा ने ही दूसरे तरंग में संकेत किया है। बोधा का प्रबंध उक्त कथा का उल्थामात्र नहीं है, उसमें बोधा कवि की निजी भावना और कल्पना का योग पर्याप्त है। नख-शिख, बारहमासा, विरह, युद्ध, राग-रागिनी और नृत्य आदि के वर्णन तथा अनेकानेक छोटे-छोटे प्रसंग कवि की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं और कथा-कथन की शैली, संवाद आदि में भी बोधा का स्वतंत्र कृतित्व देखा जा सकता है। माधवानल की कथा ऐसी है कि जिसे कहने में बोधा को अपने हृदय की प्रेमव्यथा का प्रगाढ़ रंग घोलने का पूरा अवसर मिला है। इस प्रबंध की विशदता, वस्तु-विस्तार, वर्णनाधिक्य आदि को देखकर इसे महत्प्रबंध कहने में कोई बाधा नहीं है। संगीतशास्त्र, काव्यशास्त्र, लोक ज्ञान आदि संबंधिनी कवि की विस्तृत जानकारी तथा नाना परिस्थितियों और घटनाओं की विनियोजना के कारण प्रस्तुत प्रबंध सभी दृष्टियों से पर्याप्त उत्कर्षपूर्ण बन पड़ा है।

प्रेमी और प्रेमिका बोधा और सुभान की प्रश्नोत्तरी के रूप में यह प्रबंध लिखा गया है परन्तु कथा-कथन की संवाद या प्रश्नोत्तर शैली का निर्वाह ठीक रूप से आद्यन्त नहीं हो सका है क्योंकि बीच-बीच में केवल एकाध बार ही सुभान कुछ पूछती

है और बोधा उसका समाधान करके आगे बढ़ जाते हैं। बोधा की इस प्रेम-कथा को सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि एक तो यह प्रेमोन्माद की व्यंजना का लक्ष्य लेकर चलनेवाली लौकिक गाथा है जिसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक अभिप्राय नहीं, कथागत लौकिक प्रेम व्यंजना को रहस्य (mystify) नहीं किया गया है और न प्रेम की कथा को किसी रूपक (Allegory) में अध्यवसित ही किया गया है दूसरे इसकी कथा के आरंभ का ढंग भी सूफियाना नहीं है जिसमें मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा आदि की गई हो। तीसरी बात यह है कि सूफी प्रेमाख्यान मात्र दोहा चौपाई छंदों में लिखे गए हैं जब कि बोधा के प्रबंध में छंदों की इतनी विविधता है कि यह प्रेमगाथा दोहा चौपाई छंद प्रधान होते हुए भी शैली की दृष्टि से एकदम नवीन हो उठी है। इस प्रेम-कथा में प्रेम और जीवन की भारतीय मर्यादाएँ पूर्णतः सुरक्षित हैं। काव्य में वर्णित प्रेम सम या उभयपक्षीय है, एक पक्षीय नहीं—जितनी तड़प माधव में कंदला या लीलावती के प्रति है उतनी ही तड़प कंदला और लीलावती में भी माधव के लिए दिखलाई गई है। इसी प्रकार प्रेम के वीभत्स और रक्त प्राण चित्रों की विशेषतः विरह प्रसंगों में एकान्त कमी मिलेगी। इस प्रकार इस काव्य का वातावरण, प्रेम पद्धति आदि सब कुछ भारतीय ही है। प्रभाव की बात मैं नहीं कहता। सूफी कवियों और फारसी-शायरों का थोड़ा प्रभाव अवश्य है।

बोधा के प्रबंध की कथावस्तु ऋजु एवं सरल है। कथा-नायक माधव के साथ-साथ कथा भी घूमती है। माधव जिधर-जिधर मुड़ता है उधर ही उधर कथा की धारा भी मुड़ती है। माधव के प्रणय संबंध से ही कथा का प्रारंभ होता है और इसी से अंत भी। प्रणय-संबंधों की सफलता में जो बाधाएँ पड़ती हैं वे ही संघर्ष की स्थितियाँ हैं—ऐसी स्थितियाँ कितनी ही बार आती हैं। जब माधव का प्रेम लीलावती से स्थापित हो जाता है तो पुष्पावती नगरी के राजा गोविन्दचंद का मंत्री रघुदत्त और प्रजा माधव का विरोध करती है जिसका परिणाम होता है माधव का नगर-निष्कासन। स्थान-स्थान पर भटकता हुआ माधव जब कामावती पहुँचता है और कामसेन की सभा में नर्तकी कंदला के रूप और नृत्य पर मुग्ध होता है तथा अपने संगीत से कंदला को विमुग्ध और कामार्त्त बना देता है तो उसे राजा कामसेन का कोप सहना पड़ता है और कामावती नगरी से भी उसे निष्कासन दंड भुगतना पड़ता है। यह उसके जीवन का दूसरा प्रणय संबंध है और इसकी पूर्ति में भी असाधारण बाधाएँ सहनी पड़ती हैं। भटकते-भटकते वह उज्जैन पहुँचता है, वहाँ भी थोड़ी बहुत बाधाएँ आती ही हैं जैसे विक्रम द्वारा उसके प्रेम की परीक्षा आदि। यहीं से उन प्रयत्नों का आरंभ होता है जिससे कथावस्तु की सुखान्तता का आभास मिलने लगता

है । चौथी और सबसे बड़ी बाधा है कामावती का राजा कामसेन जो स्वाभिमानी है और कंदला को सहज अर्पित करने वाला नहीं । कामसेन और विक्रम की सेनाओं में युद्ध होता है, दोनों पराक्रमी हैं—यहीं पर उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । नहीं कहा जा सकता कि कौन विजयी होगा । दोनों दलों के दो वीरों के युद्ध में ही माधव की सफलता-असफलता का निश्चय निहित रहता है । मैढ़ामल्ल और रनजोर के द्वंद्वयुद्ध में, उनके घात-प्रतिघात में कथावस्तु अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचती है । रनजोर की विजय से माधव की सफलता निश्चित हो जाती है । कंदला उसे प्राप्त होती है । यह कंदला प्रणय-प्रसंग इतने मनोयोग और विस्तारपूर्वक लिखा गया है कि पाठक लीलावती को भूलने-सा लगता है किन्तु कवि की ओर से चूक नहीं होती । कंदला के साथ सुख-भोग करते हुए माधव को लीलावती का स्मरण आता है । कंदला अपने प्रियतम के सुख को अपना सुख मानती है, उसे लीलावती के सौभाग्य से ईर्ष्या नहीं होती । वह भी एक बाधा सी पाठक को अनुमित होती है परन्तु काव्य पाठक आश्चर्यान्वित हो यह देखता रह जाता है कि किस प्रकार कंदला स्वतः लीलावती की प्राप्ति के लिए उद्यमशील होती है । वह राजा विक्रम को प्रेरित करती है, विक्रम, कामसेन और दोनों राज्यों की सेनासहित पुष्पावती को प्रस्थान करते है । राजा गोविन्दचन्द उभय राजाओं का सहर्ष स्वागत करते हैं । माधव अपने माता-पिता से मिलकर उन्हें हर्ष पहुँचाता है । कंदला का भी उसके घर में सम्मानपूर्ण स्वागत होता है । गोविन्दचंद की अनुमति से मंत्री रघुदत्त अपनी कन्या का पाणि-ग्रहण माधव से करा देता है । वैवाहिक धूमधाम के बीच की सुखद समाप्ति होती है । संयोग का भी इस काव्य की कथावस्तु में एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है । उधर लीला-वती बेचैन होती है इधर माधव को सपना आता है और वह लीलावती के विरह में व्यग्र और विक्षिप्त हो उठता है । लीलावती की प्राप्ति के लिए यही बात एक प्रबल हेतु हो जाती है और इसी से माधव कंदला के मिलन-सुख के अनंतर भी कथा समाप्त न होकर आगे बढ़ती है और लीलावती की प्राप्ति के बाद इस प्रेम-कथा का वृत्त पूरा हो जाता है ।

माधवानल प्रबंध में आधुनिक दृष्टि से अनेक अस्वाभाविकताएँ और अयथार्थ-ताएँ हैं जो पाठक को खटके बिना न रहेंगी । काव्य को रमणीय बनाने के लिए कवि ने स्थान-स्थान पर वर्णनों का सुन्दर संयोजन किया है यथा नगरों का वर्णन, कामदगिरि, मंदाकिनी आदि के वर्णन संदर्भ में प्राकृतिक शोभा का विवरण, माधव-लीला-काम कंदला आदि के रूप सौन्दर्य का वर्णन, कंदला के संगीत-नृत्य आदि का मनोग्राही वर्णन तथा युद्ध की घटना का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण आदि । प्रबंध के अंत में हिन्दू संस्कारों के अनुकूल वैवाहिक कार्यक्रमों का विधिवत ब्यौरावार वर्णन भी देखने योग्य है । कथा के बीच-बीच में यथास्थान रोचक एवं रमणीय संवादों की भी

विनियोजना मिलेगी यथा माधव-कामसेन संवाद, माधव-विक्रम-संवाद, विक्रम-कंदला संवाद, मैढ़ामल्ल-रनजोर संवाद आदि। ये संवाद काव्यगत पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य के प्रकाशन में, प्रसंगों और परिस्थितियों के प्रभाव को तीव्र करने में एवं मानव हृदय की नाना वृत्तियों एव भावनाओं की प्रखर व्यंजना करने में अतिशय सहायक हुए हैं।

माधव-कन्दला की प्रेम कथा बड़ी मार्मिक है क्योंकि इसमें उन दोनों के प्रेम का निश्छल प्रकाशन हुआ है। इसमें उल्लासजनित संयोग और अतिशय प्रेमजन्य विरह व्यथा की ऐसी तीव्र अनुभूतियाँ अंकित है जिन्हें पढ़कर हृदय एक ओर प्रेमोन्मत्त हो उठता है तो दूसरी ओर विरहकातर। कभी प्रिय और प्रिया के भेजे गए पत्रों में, कभी मेघ या सुवा द्वारा भेजे गए संदेशों में उनका हृदय ही प्रत्यक्ष लक्षित होता है विशेष कर वेदना-व्यंजक प्रसंगों में यथा ऋतुकृत उद्दीपन, प्रकृतिजन्य पीड़ा, स्मृतिजनित कातरता आदि अवसरों पर हृदय को हृदय की पहचान मिलती है। इस प्रकार पूरा काव्य ही विरह की आवेगपूर्ण भावनाओं से ओतप्रोत है।

अब प्रश्न रह जाता है प्रस्तुत रचना की काव्य कोटि का। हम महाकाव्य इसे कह नहीं सकते क्योंकि इसका उद्देश्य कुछ बहुत महत् नहीं और न व्यापक और विशाल इसकी आधार-भूमि ही है, चरित्रों में भी विशाल जगत और जीवन को प्रभावित कर समुन्नत करने की क्षमता नहीं और इसे खण्डकाव्य कहना भी उचित नहीं क्योंकि यह किसी के जीवन का खंड चित्र नहीं प्रस्तुत करता और न अधिक संकीर्ण सीमा में लिखा ही गया है। दीर्घकाल तक इसकी कथा का प्रसार है और पात्रों के जीवन वृत्त भी कुछ विस्तृत हैं तथा रचना शैली में वर्णनप्रियता और महाकाव्योचित विस्तार भी है। कथा भी खंडकाव्य के लिए अपेक्षित कथा से पर्याप्त वृहद है और कथा का ट्रीटमेण्ट, उसका विधान खण्डकाव्य से कहीं अधिक बड़े पैमाने पर हुआ है, ऐसी दशा में इसे हम महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचना 'एकार्थ काव्य या प्रबंधकाव्य' कहेंगे जिसमें किसी एक उद्देश्य विशेष को लेकर विस्तृत कथा का बंधान किया जाता है। कथा के बंधान में तो महाकाव्यात्मकता है अर्थात चरित्रों पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है, वर्णन-संवाद आदि की बहुलता है तथा भावों का सूक्ष्म और विस्तृत प्रकाशन है किन्तु उद्देश्य में खण्डकाव्य जैसी संकीर्णता है।

ठाकुर

ठाकुर नामधारी अनेक कवियों के बीच जैतपुर निवासी जाति के कायस्थ बुन्देलखण्डी ठाकुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये प्रेम के उन्मुक्त गायक हो गए हैं तथा स्वच्छन्द शैली की प्रेमवर्णना इनके काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है।

आचार्यप्रवर लाला भगवानदीन ने बहुत पहिले सन् १९०६ में बड़े श्रम और खोज के साथ इन्हीं ठाकुर के १९० मुक्तक छंदों का संग्रह 'ठाकुर ठसक' प्रकाशित किया था जिसके आधार पर ही हमें इन ठाकुर कवि का कुछ परिचय मिलता है। ठाकुर नाम से प्रसिद्ध अनेक कवियों की रचनाएँ आपस में इतनी समान हैं कि आज उन्हें निर्भ्रान्त रूप से पृथक-पृथक घोषित कर सकना असंभव ही हो गया है।

ठाकुर का व्यक्तित्व

लाला भगवानदीन जी द्वारा प्रस्तुत वृत्त के अनुसार ठाकुर के पूर्वज उच्च राजकीय ओहदों के अधिकारी होते आए थे। ओरछे में सं० १८२३ विक्रमी में इनका जन्म हुआ तथा पुराने ढंग से ही ठाकुर को विद्याभ्यास कराया गया। इन्हें गणित में लीलावती तथा कविता में अनेकार्थ-नाम-माला, मान मंजरी, कविप्रिया, रामचंद्रिका आदि पढ़ाए गए। बौद्धिक विकास की दृष्टि से इन्होंने कुछ पुराणों के भाषानुवाद भी पढ़े और थोड़ी संस्कृत भी सीखी। कालांतर में इनके कुल के लोग बुन्देलखण्ड के अंतर्गत जैतपुर (बिजावर राज्य) में बस गए। ठाकुर के किशोर एवं क्रमशः तरुण होते हुए व्यक्तित्व पर बुन्देलखण्ड की काव्य प्रेरणा प्रदायिनी दृश्यमाला का प्रभाव पड़ा होगा तथा बुन्देलखण्ड में परंपरागत रीति से व्याप्त काव्यप्रेम की भी प्रेरणा रही होगी। काव्य रचना में प्रवीणता प्राप्त कर ये जैतपुर नरेश केशरीसिंह के आश्रित कवि हो गए तथा बिजावर राज से भी इन्हें पर्याप्त दान-सम्मान मिला। केशरी सिंह की मृत्यु के अनंतर ये राजा परीक्षित के भी राजकवि रहे। राजकवि की हैसियत से ये अन्य राजदरबारों में भी जाया करते थे। बाँदा नरेश हिम्मत बहादुर सिंह ठाकुर की कविता का बड़ा आदर करते थे और कभी-कभी वे विनोद में ठाकुर और पद्माकर की मुठभेड़ करा दिया करते थे। एक बार पद्माकर के आश्रयदाता हिम्मत बहादुर ने पद्माकर को छेड़ते हुए कहा—'पद्माकर जी, कहिये ठाकुर की कविता कैसी होती है?' पद्माकर ने ईर्ष्यालु भाव से कहा—ठाकुर की कविता तो अच्छी होती है परन्तु उनके चरण जरा हलके होते हैं।' इस पर ठाकुर ने तुरंत ही जवाब दिया—'हाँ! इसी से तो हमारी कविता उड़ी-उड़ी फिरती है।' ठाकुर की वाक्पटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, दूरदर्शिता, साहस, स्वाभिमान आदि से संबंधित अनेक किंवदंतियाँ है। एक बार इन्हीं हिम्मत बहादुर द्वारा अपने आश्रयदाता तथा स्वयं अपने प्रति उनके अपमानजनक शब्द सुनकर ठाकुर आगबबूला हो गए थे। तथा उन्होंने अपनी तलवार म्यान से खींच ली थी। उस समय उन्होंने अपने भाव जिस रूप में व्यक्त किये वे अधोलिखित छंद में दर्ज हैं—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देन वारे हैं मही के महिपालन को,
कवि उनहीं के जे सनेही साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजन के चोर रस मौजन के पातसाह,
ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के।।

ठाकुर ने एक ओर जहाँ अपने आश्रयदाता के लिए चेतावनी भरे छंद लिखे वहीं उन्होंने अन्य राज्यों के कलहपूर्ण वातावरण के प्रति भी विषाद व्यक्त किया है। इस सबके साथ ही साथ ठाकुर की प्रेम-प्रवणता और रसिकतासूचक अनेक छंद भी मिलते हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पन्ना नरेश महाराज किशोर सिंह के राजदरबार में फैले हुए स्वार्थ और कलह के वातावरण को लक्ष्य कर उन्होंने यह सवैया उनके दरबार में पढ़ा था—

वे परबीन बिचच्छन लोग बने पै समय कछु आन भयो री।
चीखे सवाद जहाँ अति मीठे सो सीख स्वभाव नयेई नये री।
ठाकुर कौन सो का कहिए अब तो चित चाहबे वे समये री।
वे दिन वे सुख वैसे उदराइ सो वे सब बीर हेराय गये री।।

आगे ठाकुर को जब यह पता चला कि इन्हीं महाराज की नवोढ़ा वधू महाराज से एकांत में भी अत्यधिक लज्जा करती है और अवगुंठन नहीं हटाती तो ठाकुर ने तुरंत ही एक सवैया रचकर महाराज को दिया और अपनी रानी के समक्ष सुनने को कहा। सवैया इस प्रकार था—

यों तरसाइबो कौने बदो मन तो मिलिगो पै मिलै जल जैसो।
कौन दुराव रहो उन सों जिनके संग साथ करौं सुख ऐसो।
ठाकुर या निरधार सुनौ तुम्हें कौन सुभाव परी है अनैसो।
प्रानप्रिया घट में बसि कै हँसि कै फिर घूँघट घालिगो कैसो।।

कहा जाता है कि इस छंद ने महारानी के लिए अच्छे नुस्खे का काम दिया तथा खुश होकर उसने भी इन्हें अच्छा इनाम दिया। इसी प्रकार और भी किंवदंतियाँ चलती हैं—कभी ये किसी रूपवती सुनारिन के रूप के पीछे दीवाने हो घूमते रहे और उसके लिए कविताएँ भी लिखा करते थे, कभी किसी दुःशील स्त्री को इन्होंने कविता में ही फटकार भी बतलाई थी। जैतपुर नरेश महाराज पारीक्षित सायंकाल एक स्थान पर आ बैठते और वहीं उनके अंतरंग लोग भी आ जमते। ठाकुर भी उस गोष्ठी में भाग

लेते । उस रास्ते से प्रसिदिन एक रूपवती किन्तु सुशील श्रेष्ठी वधू आया-जाया करती, वह घूँघट काढ़कर नित्य उसी राह जाती और भूलकर भी किसी की ओर न देखती । एक दिन एक व्यक्ति ने हंसी ही हँसी में कहा—ठाकुर ! यदि इस युवती की दृष्टि तुम अपनी कविता से हम लोगों की ओर आकर्षित कर दो तो हम मान लेंगे कि तुम्हारी कविता सच्ची कविता है । दूसरे दिन वह युवती जब अपने नियमित ढंग से उस रास्ते से निकली तो ठाकुर ने ऊँचे स्वर से यह कविता पढ़ी—

> आँख न देखत ध्यान में बोलत नेह बढ़ाये नितै आ नितै जा ।
> चन्दमुखी यह सोच बिहाय कै मानौ खुसी अभिमानी कितै जा ।
> ठाकुर छैल छबीले छिपे कहुँ सौतिन माहिं सुहाग जितै जा ।
> दै जा दिखाई री कै जा निहाल बितै जा वियोग चितै जा चितै जा ।।

वह युवती इस छंद को सुनकर उस समाज और उस छंद के रचयिता ठाकुर की ओर दृष्टिपात करने के लिए विवश हो गई । ठाकुर कवि कृष्णोपासक थे तथापि वे राम और कृष्ण में भेद नहीं मानते थे । कहते है एक समय ये किसी रोग से ग्रस्त होकर उसकी पीड़ा से इतना व्याकुल हो गए कि प्राण बचना कठिन हो गया । महाराज पारीक्षित ने अपने निजी वैद्य को ठाकुर की चिकित्सा के लिए भेजा । वैद्यराज ने औषधि बनाई और कहा कि परसों शुभ दिन से इस औषधि का सेवन करियेगा । ठाकुर रोज की पीड़ा से व्याकुल थे, धीरज न धर सके और निम्नलिखित कवित्त कह कर उसी दिन औषधि का सेवन करने लगे—

> राम मेरे पंडित अखंडित सुदिन सोधैं,
> राम मेरे गुरू जप मेरे राम नाम हैं ।
> राम राम गावतहिं राम राम ध्यावतहिं,
> राम राम सोचत कटत आठौ जाम है ।
> ठाकुर कहत साँची आस मोहिं राम ही की,
> राम ही से काम धन-धाम मेरे राम हैं ।
> राम मेरे वैद बिसराम मेरे राम साँचो,
> राम मेरी औषधि जतन मेरे राम हैं ।।

कहते हैं कि औषधि का कोई भी असीमित प्रभाव नहीं पड़ने पाया और उनकी व्यथा शांत हो गई । उपर्युक्त किंवदंतियों से ठाकुर के व्यक्तित्व की एक झलक तो हमारे सामने आ ही उपस्थित होती है ।

काव्य विषयक दृष्टिकोण

ठाकुर की रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि वे प्रकृति से मुक्त एवं स्वच्छन्द थे तथा काव्य रचना के क्षेत्र में वे पिटे-पिटाए मार्ग को छोड़कर ही चलना

चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि रीतिकालीन कवियों की अनेकानेक दशाब्दियों से चली आती हुई परंपरा की लीक पीटी जाय, वे नहीं चाहते थे कि काव्य विभूति को खुशामदपसन्द राजाओं-महाराजाओं के चरणों पर लुंठित होने दिया जाय, वे नहीं चाहते थे कि रीति के सँकरे पथों पर ही सँभल-सँभल कर चरण निक्षेप किया जाय और वे नहीं चाहते थे कि कवि की सौंदर्य-भावना केवल सीखे-सिखाए या लिखे-लिखाए सादृश्य विधानों अथवा सौन्दर्यादर्शों पर अवलंबित रहे। वे अनुकरणजीवी कवियों पर रुष्ट जान पड़ते थे क्योंकि उन्होंने ऐसे यंत्रनिर्मित कवियों की भर्त्सना या अवमानना भी किञ्चित रोष के साथ की है—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामनि
सीख लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

और यह सचमुच उस काल के कवियों के लिए स्वस्थ मार्गदर्शन था। जहाँ घिरे हुए विषय-दीवारों के बीच कविता-कामिनी का नृत्य होता था, सौन्दर्य की एक ही सी झाँकियाँ यत्किंचित परिवर्तन के साथ सभी कवि दिखाते आ रहे थे, अनावश्यक रूप से रस-अलंकार-छंद आदि पर साधारण रीतिग्रंथों के ढेर लगा रहे थे, लक्षणों का अनुधावन करते हुए उदाहरण प्रस्तुत करने में ही लोग कवि कर्म की सफलता समझ बैठे थे वहाँ इस प्रकार का नवीनतावादी संकेत एक बड़ी ही सुन्दर, स्वस्थ एवं महत्वपूर्ण घटना थी जिसका सद्प्रभाव निश्चय ही ठाकुर कवि की समसामयिक एवं अनुवर्तिनी कवि प्रतिभाओं पर पड़ा। अधिक दिन नहीं बीतने पाये कि ब्रज काव्य की परंपरा में स्वच्छन्द प्रकृति का भारतेन्दु जैसा कवि उदित हुआ तथा आगे भी श्रीधर पाठक, ठाकुर जगमोहनसिंह, मुकुटधर पाण्डेय, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवी-प्रसादपूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति स्वच्छंद वृत्ति के कवि हिन्दी काव्य-जगत में आविर्भूत हुए।

ठाकुर ने भाषा और संस्कृत काव्य का थोड़ा बहुत अनुशीलन किया था किंतु उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और प्रांजल थी। भाषा काव्य की गतिविधि का उन्होंने भली-भाँति निरीक्षण किया था, रीतिकालीन काव्य के दोषों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाले घनआनंद के बाद वे ही थे। उनकी अपनी कविता स्वयं उन दोषों

से बचकर चलने का प्रयत्न है । भक्ति कालीन काव्य से परिचय प्राप्त करके ही उन्होंने तुलसी के काव्य गुणों की ऐसी सुन्दर समीक्षा की है—

> ठाकुर कहत धन्य तुलसी तिहारी बानी
>
> अकथ कहानी रसखानी सरसत है ।
>
> चंद सी चमेली सी गिरा सी गंगधार कैसी
>
> मघा मेघ भई रामजस बरसत है ।।

कविजनोचित भावुकता के साथ-साथ हमें ठाकुर में एक कुशल समालोचक की भी शक्ति दिखाई पड़ती है । कवियों और उनके काव्य की आलोचना करते हुए ही हम उन्हें नहीं देखते वरन् काव्य रचना के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए भी हम उन्हें नहीं पाते हैं—

> मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुकि अच्छर जोरि बनावै ।
>
> प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै ।
>
> ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै ।
>
> पंडित लोक-प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै ।।

हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थानीय समीक्षा गुरु आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी ठाकुर की प्रगल्भ आलोचनात्मक उक्तियों से प्रभावित हुए थे तथा उनका भी काव्यादर्श ठाकुर के ही काव्यादर्श के मेल में था । काव्य की श्रेष्ठता का निर्धारक ठाकुर द्वारा प्रतिपादित यह मानदण्ड हमें काव्य के अत्यंत मान्य रससिद्धान्त के ही समीप ले जाता है । रीतिकाल में केशव, भूषण, सेनापति, देवदास, ऐसे अनेक अलंकारप्रिय एवं चमत्कारवादी कवि हो गए थे जिन्होंने भ्रमवश काव्य का जीवन तत्व अलंकार-चमत्कार, वक्रोक्ति अथवा रीति मान रक्खा था किन्तु ठाकुर ने एक बार भ्रमजाल में उलझे कवियों को काव्य का स्वस्थ एवं प्रकृत पथ दिखलाया तथा अपने द्वारा निर्धारित काव्यादर्श में काव्य के समस्त अंगों को उनका उचित स्थान दिया । 'जोइ चित्त हरै' कह-कह ठाकुर हमें पंडितराज जगन्नाथ की 'रमणीयता' और विश्वनाथ आचार्य की 'रसात्मकता' का ध्यान दिलाते हैं । इस चित्तहारिणी रस अथवा प्राण-शक्ति की ओर तो उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया ही किन्तु काव्य की रूप सज्जा की शैलियों एवं विधियों को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया । उन्होंने कहा कि काव्य की शब्दावली या पदावली में मोतियों की माला के समान मनोहारिता होनी चाहिए तथा लय, छंद एवं शब्द मैत्री 'तुक अच्छर जोरि' का भी बराबर ध्यान रखना चाहिए । कहने की शैली में नवीनता होनी चाहिए 'बात अनूठी बनाइ सुनावै' तथा काव्य का विषय प्रेम अथवा हरिभक्ति होना चाहिए । इस प्रकार ठाकुर की काव्य-रचना के आदर्श ऊँचे थे स्वस्थ और प्रकृत धरातल पर थे, वे किन्हीं

पूर्वाग्रहों से आच्छन्न न थे। रीतियुग के कवि में ऐसी विचारशैली का उद्‌भव तथा ऐसी स्वच्छन्द काव्यरचना कोई साधारण बात न थी इसीलिए ठाकुर अपने युग के शत-शत कवियों के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और रक्खेंगे।

ठाकुर की कविता में पवित्रता है, हल्कापन कहीं नहीं। प्रेम की सान्द्र गाढ़ विवृति में कहीं भी वासना की दुर्गंधि नहीं। नई-नई वाक्य प्रणालियों में मन की प्रीति विवेचित हुई है उनकी भी कथन रीतियाँ और वचन भंगी भावानुभूति से ही प्रेरित हैं।

प्रेम-व्यंजना

ठाकुर की कविता का मुख्य विषय प्रेम है। प्रेम की अनुभूति विना उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति संभव नहीं। यह अनुभव जितना तीव्र प्रगाढ़ और एकान्तिक होगा अभिव्यक्ति भी उतनी ही मार्मिक होगी। ठाकुर के प्रेम वर्णन गोपीकृष्ण मूलक। गोपीकृष्ण की प्रेम-वर्णना की तह में हम ठाकुर के प्रेमी हृदय को छिपा हुआ देख सकते हैं। राधाकृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण के प्रेम को लेकर उन्होंने भी अभिनव भावों एवं प्रसंगों की उद्‌भावना की– उनके रूप, अंगोपांगों, वाग्विनोद, क्रीड़ाओं एवं मनोभावों का नाना परिस्थितियों के बीच चित्रण किया।

आलंबन वर्ण

ठाकुर की कविता के आलंबन राधा और कृष्ण हैं। कभी-कभी राधिका का स्थान गोपिकाएँ ग्रहण कर लेती हैं। आलंबन के रूप रंग के वर्णन में ठाकुर कवि कुछ विशेष दत्तचित्त न हुए और काव्य-रचना की स्वच्छन्द वृत्ति रखने के कारण नखशिख की प्रचलित परिपाटी भी उन्होंने ग्रहण नहीं की। कहीं-कहीं राधा या कृष्ण के रूप प्रभाव मात्र का वर्णन कर दिया है और इस प्रकार उनकी असाधारण रूप-सुषमा की व्यंजना कर गए हैं—

(क) ठाकुर को सुखमा बरनै अरे काभ लगै जिनको छबि पाइक।
काहे न जाइँ सबै ब्रज देखन साँच हूँ साँवरो देखिबे लाइक॥

(ख) येई हैं वे वृषभानु सुता जिन सों मन मोहन मोह करै है।
कामिन तौ उन सी नहिं दूसरी दामिनि की दुति कों निदरै है॥

रूप लावण्य की यह प्रभावमूलक व्यंजना उसका उत्कर्ष अवश्य व्यंजित करती है परंतु किसी रूप विशेष का साक्षात्कार नहीं कराती। 'छोटी नथूनी बड़े मुतियान बड़ी अँखियान बड़ी सुघरै हैं' ऐसी एकाध पंक्तियों में रूप का चित्र प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न मिलता है वह भी कुछ बहुत प्रौढ़ चित्रण नहीं कहा जा सकता। नायक-नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन तो ठाकुर ने किया नहीं परन्तु नेत्रों को लेकर दो एक छंद उनके अवश्य हैं। नेत्रों में ठाकुर के मत से विशालता, शील, तीक्ष्णता,

चपलता, सुकुमारता, अरुणाई, रसीलापन आदि गुण अपेक्षित है। कटाक्षों के वर्णन में भी प्रभाव सूचन की ही ओर कवि की दृष्टि रही है। एक जगह वे कहते हैं कि तलवार, बरछी और वज्र की चोट से आदमी बच सकता है; सर्पदंश, विषपान और मृत्यु से भी एक बार जीवन की रक्षा हो सकती है परन्तु नैन कटाक्षों से घायल हुआ व्यक्ति नहीं बच सकता 'न जियै इक नैन कटाच्छ को मारा'। बात यह है कि इन नेत्रों में घातकता बहुत होती है और इनका निशाना भी अचूक होता है--

लागत न दारू उपचार करि हारे बैद
ठाकुर कहत ऐसे हिय में अरे रहैं।
एक दय सौ लौं औ सहस्र लौं कहाँ लौं कहौं
आँखन के मारे कैयो लाखन डरे रहैं।।

इस प्रकार ठाकुर कवि का आलंबन वर्णन साधारण ही हुआ है और सामान्यतः प्रभावाभिव्यंजक पद्धति पर।

उद्दीपन वर्णन

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ठाकुर ने दो प्रमुख ऋतुओं वसंत और वर्षा और क्रमशः इन्हीं से संबंधित होली और हिंडोला का वर्णन किया हैं। दो अन्य व्रतोत्सवों अखती (अक्षय तृतीया) और दशहरा का वर्णन किया है। वसंत वर्णन के सभी छंद किसी विरहिणी की व्यथा के उत्तेजक रूप में ही वसंत को प्रस्तुत करते हैं उसमें वसंत ऋतु का वर्णन या प्रकृति की छबि छटा का निदर्शन कवि का अभीष्ट नहीं। वसंत ऋतु में प्रकृति के स्वरूप का किंचित आभास हमें प्राकृतिक उपकरणों के प्रासंगिक उल्लेख से होता है—'आम पर मौर देखु मौर पर भौंर देखु, भौंरन पर पै भौंर देखु, गुँजत सुहावने।' ऐसे छन्दों में विरहिणी की जो कसक अंतर्हित है वही कवि का मुख्य प्रतिपाद्य है। रसाल द्रुमों में मौर आ गए, पलाश के वृक्षों में लाल फूल छा गए तथा आठों जाम निर्मम वासंती पवन बहने लगी है आदि कहकर कवि ने गोपिका की वियुक्तिजनित रिक्तता और अंतर्वेदना ही व्यंजित की है, ऋतु की शोभा नहीं। प्रायः सभी छन्दों की मूल भावना यही रही हैं—'लीजियें खबर प्यारे कीजिये गहर निज; अब ऋतुराज की अवाइ आन भई है।' उन्मादिनी वसंत ऋतु में सारी की सारी प्रकृति उस प्रेमिका की दुश्मन बन जाती है —कोयल मंजरित आम्र वृक्षों पर चढ़कर शोर मचाती है और चुप होना नहीं जानती, मलयज वातास अंगों को विचलित किये देती है, गुन-गुन गुँजार करते हुए भौंरे भी बेकली पैदा किये देते हैं फिर भी विरहिणी का संदेश प्रिय तक कोई नहीं ले जाता। प्रिय के दूर रहने पर वसंत का सारा वैभव व्यर्थ है, हाँ वे कुछ असूया मिश्रित भाव से उन स्त्रियों के भाग्य की सराहना अवश्य करती हैं जिनका विरह वसंतागम पर प्रिय मिलन में परिणत हो जाएगा—'धन्य बनिता हैं सुर

बनिता सराहैं ते जे फूलत फिर पाइहैं बसंत की अवाइ में ।' इसी वसंत ऋतु में हमारा लोकप्रिय होली महोत्सव पड़ता है । होली के शुभ पर्व की प्रतीक्षा कितनी ललक और उमंग से प्रेमियों का समाज किया करता है । वह दिन कुछ ऐसा होता है जब हम अपने आप को निर्बन्ध मानते हैं, किन्हीं भी मर्यादाओं से अपने को घिरा नहीं समझते । उस एक दिन के लिए तो निर्मर्याद आचरण और व्यवहार भी क्षम्य और वैध समझा जाता है —

डार्यो जो गुलाल रंग केसर को अंग अंग
आन झकझोर्यौ मीड्यो दौर मुख रोरी मैं ।
चाहि चितवारी हितवारी नितवारी करी,
काहै कहौं कौन अब जैहै ब्रजखोरी मैं ।
ठाकुर कहत ऐसे रस मैं निरस होत
कहा भयो छाती जो छबीले छुई चोरी मैं ।
अंक भरि लीनो तो कलंक की न संक कीजै
आज बरजोरी कौ न दोष होत होरी मैं ।।

ठाकुर के होली वर्णन के छन्द बहुत सुन्दर हैं, यों मेरी समझ में होली के प्रसंग को लेकर मध्यकाल में बड़ा ही सुन्दर और प्रीतिजनक काव्य लिखा गया है जिसका पृथक संग्रह एक सराहनीय कार्य होगा । ठाकुर के होली वर्णन में होली खेलने के कई बड़े रमणीय चित्र हैं । एक में एक मतवाली ग्वालिन का कृष्ण का लिए-दिये केसर के कीच में गिरने का वर्णन है—

ठाकुर ऐसो उमाह मचो भयो कौतुक ऐक सखीन के बीच मैं ।
रंगभरी रसमाती गुवालि गोपालहि लै गिरी केसर कीच मैं ।।

दूसरे में एक रुष्ट हुई ग्वालिन की कृष्ण को डाँट फटकार है—

होरी की हौंस हमैं ना कछू हम जानती हैं तुम रार करैया ।
फूलौ न मोहि अकेली निहारि कै भूलियौ ना तुम गाय चरैया ।
ठाकुर जो बरजोरी करौ तुम हौं हू नहीं कछू दीन परैया ।
फारिहौं काहू की आँख लला रहो नोखे गोपाल गुलाल डरैया ।।

फटकार खासी थी जिसमें कृष्ण को उनकी असली औकात बता दी गई थी, फटकारने का ढंग कितना स्वाभाविक है और संपूर्ण चित्र कितना अनूठा है । तीसरा चित्र होरिहारों से बचकर भाग निकलने वाली एक गोपी का है ।

ठाकुर दौरि परे मोहिं देखत भागि बची जू कछू सुघरी ती ।
बीर जो द्वार न देहुँ केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती ।

और चौथे में चारों ओर से गोपियों का दौड़ कर कृष्ण को घेर लेने का दृश्य है—

दौरी लै गुलाल ब्रजबाल चारयौ ओरन तैं
होरी लाल होरी लाल होरी लाल होरी है ।

पावस का वर्णन कवि ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया है जिसमें नाना वर्ण के मेघों से आच्छन्न आकाश का, चातक की रट और मयूरों के नृत्य का, इन्द्र-बधूटियों के रेंगने और झिल्लियों के झनकारने का, बगुलों के उड़ने और चपला के चमकने आदि का वर्णन किया है। ठाकुर कवि का वर्षा वर्णन उनके वसंत वर्णन से अधिक बन पड़ा है क्योंकि वर्षा ऋतु में प्रकृति का जो स्वरूप हो जाता है उसकी झलक दिखाने की भी कवि ने अनेक छन्दों में सफल चेष्ठा की है— रंग-रंग के बादल काले, सफेद, लाल, पीले यत्र-तत्र दिखाई दे रहे हैं, मेघों की गड़ गड़ाहट के बीच बिजली कौंध-कौंध जाती है, चातकों और मयूरों में उमङ्ग की लहर दिखाई देती है, मन्द मन्द शीतल बयार बहने लगी है। ऐसे वर्णन पर्याप्त यथातथ्यता लिए हुए हैं— बिजली का दौड़ना, दमकना, छिपना, और कड़कना, मेघों का घिर-घिर कर घहराना और गरजना पिकों का पीकना और असाढ़ का रिमझिम-रिमझिम बरसना बहुत ही चित्रात्मक वर्णन बन पड़ा है। इन वर्णनों में कहीं-कहीं कोरे चमत्कार का विधान है या मात्र कल्पना का ही खिलवाड़ किया गया है, जैसे कवि का यह कहना है कि रंग विरङ्गे बादल आकाश में क्या छाये हुए हैं मानों वे किसी रंगरेज द्वारा सूखने के लिए डाले गए कपड़ों के रंग-बिरगे थान हैं अथवा मेघों से आच्छादित आकाश के बीच जब-तब दिखाई दे जाने वाले तारे इस प्रकार मंद-मंद दिखाई देते हैं जैसे वे चौंधिया कर चन्द्रमा को ढूँढ़ते फिर रहे हों। ऐसी चमत्कारकमूलक उक्तियाँ परम्परा के प्रभाव से ही ठाकुर में आई जान पड़ती हैं अन्यथा दूर की कौड़ी ले आना ठाकुर की प्रकृति न थी। हाँ, वर्षा प्रणयभावना का उद्दीपन करती हुई अवश्य दिख-लाई गई है। संयोग में वर्षा कृष्ण को कदंब के तले अपनी कमली में छबीली को छिपाने का अबसर प्रदान करती है तो दूसरी ओर विरहिणी के हृदय की दुर्गति किये डालती है। यदि वे संतप्त विरहिनियाँ संयोगिनियों का सुख देखकर किंचित ईर्ष्यालु होकर कहें—'धनी वे धनी पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवती हैं' तो स्वाभाविक ही है। हिंडोले का वर्णन भी इसी प्रसंग में आया है जिसमें राधाकृष्ण के झूला झूलने का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है।

अखती (अक्षय तृतीया, वैशाख शुक्ल तीज) हिन्दू स्त्रियों के बीच व्रत एवं पूजन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पर्व है। बुन्देलखण्ड में तो यह अत्यन्त उत्साह से मनाया जाता है। जिस किसी में वट वृक्ष के नीचे स्त्रियाँ पुतली की पूजा करती हैं। पुरुष भी सजधज कर पूजा देखने आते हैं। पूजा के उपरान्त स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से अपने-अपने प्रिया और प्रियतम का नाम पूछते हैं और उत्तर देने में संकोच

इस संकल्प का परिणाम यह हुआ कि प्रियमिलन की संभावना बढ़ी और धीरे-धीरे उसके अवसर भी सुलभ होने लगे। लोगों की निंदा की उसे अब परवाह न रह गई। प्रिय का दर्शन या बार-बार साक्षात्कार होते रहने पर थोड़ी ढिठाई भी मन में समा चली। वह पानी भरकर लौटते हुए जब प्रिय को जलाशय की ओर जाते देखती है तो अपनी पड़ोसिन का घड़ा लेकर फिर पानी भरने चल देती है। एक अन्य लज्जावती तरुणी की मानोभावना देखिये जिसने प्रीति की डगर में लगता है अभी-अभी पाँव दिया है—

> घर बाहर पास परोस के बैर अकेले कबै कर पैयत है।
> मग माँझ कजात मिले सजनी तो बिलोकत चित्त डरैयत है।
> कह ठाकुर भेंटिबे के उपचार बिचारत धौंस बितैयत है।
> बतियाँ न बनै जिनसो कबहूँ छतियाँ तिन्हें कैसे लगैयत है।

एक तरफ हौंस और दिल की उमंग देखिये और दूसरी तरफ संकोच। भला हबिस की इस तीक्ष्ण धार के आगे संकोच का परदा टिका रह सकेगा ?

कृष्ण की शरारतों और गोपियों से छेड़छाड़ का वर्णन भी कई छंदों में किया गया है। वे किसी को खिझाते हैं, उसके संग ढिठाई करते हैं, घूर-घूर कर देखते हैं और उसका नाम ही अपनी मुरली में ले लेकर पुकारते हैं और वह कृष्ण के इस आचरण पर खीझ कर कह उठती है—

> यह को है कहाँ को न जानिये चीन्हिये नित्तहि मो मग घेरत है।
> ब्रज में यह रीति कुरीति चली यह न्याउ न कोऊ निबेरत है।
> नख ते शिख लौं तनै ताकि रहै एजू ऐसें कहा कोउ हेरत है।
> मुरली में ह्वै नाम सुनाय सखी मोहि राधिका राधिका टेरत है॥

परन्तु क्या इन उक्तियों में अपनी निर्दोषता प्रकट करने वाली सुकुमारी के हृदय की चाह नहीं झलक रही है ? कृष्ण की प्रीति में कितनी ही गोपांगनाएँ बेसुध हैं—कोई विश्वस्त है कि प्रेम में भगवान जिसे उलझा देता है उसे सुलझाता भी है जिसके हृदय में सच्चा प्रेम होता है उसे उसके प्रिय से मिला भी देता है, कोई गोपिका अपने मन की दृढ़ता इन शब्दों में प्रकट करती है—'प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तो अपनो सो कियो अरु कीयो' तथा कोई अपने मन की अभिलाषाएँ ही प्रिय से परोक्ष में व्यक्त कर रही है कि हे मनमोहन यदि रोज आ सकना संभव न हो तो दूसरे तीसरे पाँचवें सातवें तो भला आया कीजिये क्योंकि 'प्रान हमारे तुम्हारे अधीन तुम्हें बिन देखे कैसे मैं जीजिये।' वह कहती है कि राह चलते की भेंट से क्या होता है, दिन यों ही तरसते हुए व्यतीत करने पड़ते हैं, अब तो अधिक दूरी सह्य नहीं होती, हमारे समझ में तो एक ही रास्ता है 'कै हमही बसिये ब्रजगाँव

कि आप ही आय बसौ बरसाने ।' इस प्रकार के एक से एक मनोहर छंद ठाकुर रच गए हैं। मन की सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों के निरूपण में ठाकुर बड़े प्रवीण थे। अब जो छंद हम सामने रख रहे हैं बहुत संभव है वह ठाकुर ने उस सुनारिन के लिए लिखा हो जिसके रूप के ये परम उपासक हो गए थे—

> वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न मानति ह्वै है।
> बारहू बार बिलोकि घरी घरी सूरत तौ पहिचानति ह्वै है।
> ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
> आवत हैं नित मेरे लिये इतनो तो बिशेष कै जानति ह्वै है।।

संयोगजनित प्रीति का चित्रण करते हुए ठाकुर ने बराबर संयम का ध्यान रक्खा है और प्रेम भावना की पावनता को अक्षुण्ण रहने दिया है। प्रेम चित्रण में उनका भी आदर्श यही था कि संसार में जो कुछ भी पुनीत है और उज्ज्वल है उसी का नाम प्रेम अथवा शृङ्गार है —'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं तच्छृङ्गारेणोपमीयते।' सम्मिलन और रूपाकर्षण के भी चित्र जहाँ ठाकुर ने प्रस्तुत किये हैं वहाँ भी उनकी प्रेमवर्णना ऊर्ध्वगामिनी ही लक्षित होती है उसमें किसी भी प्रकार के छिछलेपन का लेश नहीं। ठाकुर के प्रेम चित्रण की यह सर्वोपरि विशेषता है फिर चाहे अटा पर चढ़कर झाँकने वाली प्रियतमा का चित्र हो और चाहे स्वप्न में पाने वाली अनुरागिनी का। प्रियतम के प्रेम की व्यंजना के नाना विधान ठाकुर ने भी ढूंढ़ निकाले थे। उनकी राधिका यह जानकर कि अमुक व्यक्ति ज्योतिषी है उसका बड़ा आवभगत करती है और फिर कहती है ज्योतिषी जी 'मेरो मन मोहन सों लागत है भाँति-भाँति मोहन को मन मोसों लागिहै विचारो तो।' तनिक उनका प्रेम में पगना तो देखिये। उधर ज्योतिषी भी उन्हें निराश नहीं करता और कहता है कि कृष्ण तेरे लिये ही गली-गली डोलते फिरते हैं और जब तुझे देख लेते हैं या तेरी बोली भर सुन लेते हैं तब तो वे अपने घर का रास्ता तक भूल जाते हैं। तू क्यों अकारण परेशान हो रही है—'जैसी रट तोहि लागी राधे श्याम सुन्दर की तैसी रट वाहि लागी राधे तेरे नाम की।' इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर ज्योतिषी से अपने मन की बात सुनकर उनका मन मारे उमंग के नाच उठता है। ज्योतिषी पूछता है कि उस दिन तुम मुझे क्या इनाम दोगी जिस दिन मोहन का मन तुझ से लगेगा और तू मन मोहन के हृदय से जा लगेगी ? इस प्रश्न का उत्तर जरा अपने हृदय से पूछ करके दे। राधिका मारे हर्ष के पागल हो जाती है, उसका उमंग भरा कथन सुनिये —

> बिप्र की बानी सुने सकुची कही वा दिन तेरे बिषाद नसैहौं।
> रंक ते ह्वैहौं निसंक कहा मनमोहन को जब अंक लगैहौं।
> ठाकुर सौंटो बरौं सुख रावरो पाँव परौं जग कीरति गैहौं।
> हाथन चूरा गरे मणिमाल सु कानन कों मुकताहल दैहौं।।

राधाकृष्ण के प्रेम वर्णन के कुछ बहुत सुन्दर चित्र ठाकुर उरेह गए हैं जो अपनी पवित्रता और मधुरता के कारण मन पर अमिट हो रहते हैं। राधा और कृष्ण की प्रीति इसे कहेंगे या ठाकुर की भावना का रंग जो समूची प्रकृति में ही परिव्याप्त दिखाई गई है —

> अपने अपने निज गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
> अंगनान में भींजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाँउ पै री।
> कह ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
> सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नंद गाँव पै री।।

वियोग वर्णन—वियोग दशा का वर्णन करते हुए ठाकुर कवि ने वियुक्त की मनोदशाओं का चित्रण ही मुख्य रूप से किया है। उन्होंने रीतिबद्ध कवियों की भाँति ऊहा की शरण लेते हुए दूरारूढ़ कल्पनाएँ नहीं प्रस्तुत की हैं साथ ही वियोग का वर्णन करते हुए जहाँ राधिका अथवा गोपियों का विरह दिखलाया है वहीं कृष्ण की भी वियोग व्यथा का वर्णन किया है। वियोग के लिए शारीरिक बिछोह तो आवश्यक होता ही है किन्तु कभी-कभी मानसिक वैषम्य अथवा विरोध, असहमति अथवा असंतोष भी वियोग व्यथा का उत्तेजक हो जाया करता है। कृष्ण भी प्रियाके विरह में सारे सुखों से बंचित दीन और विपन्न दिखाए गए हैं, उनके विरहोन्माद का निदर्शन ठाकुर ने इस प्रकार किया है —'घन को निहारै तब वारै होत आपुन पै बीजुरी निहारै तब वारै होत तो पै री।' वास्तव में कृष्ण के मन की व्यथा की ओर भी सहृदय समाज का ध्यान आकर्षित कर ठाकुर ने जैसे एक नई दिशा का निर्देश किया है। गोपियों की व्यथा का चित्रण तो अधिक हुआ ही है। जिस प्रेम में निर्वाह की बात न हो वह भी कोई प्रेम है! प्रेम में कितनों को ही धोखा खाते देखा गया है इसी कारण बोधा के ही समान ठाकुर भी प्रेम के निर्वाह पक्ष पर बार-बार जोर देते हुए मिलते हैं। गोपियों के मुख से स्वयं कृष्ण के प्रेम की चर्चा कराते हुए उन्होंने बार-बार कहलाया है कि श्रीकृष्ण अत्यंत स्वार्थी मित्र हैं, प्रेम करके उसे तोड़ने में उन्होंने तनिक भी विलंब न किया और इधर कुबड़ी कुब्जा से अलग प्रीति ठान बैठे हैं —

> (क) छोड़ि प्रतिव्रत प्रीति करी निबही नहि ओछा सुनी हम सोऊ।
> माया मिली नहिं राम मिले दुबिधा में गए सजनी सुन दोऊ।।
> (ख) हरि लाँबी औ चौरी बखानत ते अब गाढ़े परे गुन और बढ़े जू।
> (ग) याहि ओर सनेह की आँखिन सों अब तो हरि हेरत हो नहियाँ।
> (घ) जु कियो बदनाम सबै ब्रज में अब आँखै लगाइ दिखात न आँखिन
> (ङ) कहि ठाकुर कूबरी के बस ह्वै रस में बिस बादरो ह्वै गयो है।
> मनमोहन को हिलिबो मिलिबो दिन चारिक चैत सो ह्वै गयो है।।

फिर इस प्रेम पंथ में कितनी विपदाएँ और ऊपर से आती हैं। घर घर 'बैर' चलती है, 'घरहाइयों' के कारण मिलना-जुलना, बाहर आना-जाना दूभर हो जाता है, मन की कसक चौगुनी होकर सालने लगता है—

> ठाकुर या घर चौचंद को डर तातें घरी घरी ऐयत नाहीं।
> भेटन पैयत कैसे तिन्हें जिन्हें आँखिन देखन पैयत नाहीं।।

कभी-कभी मन को अपरिसीम निराशा भी आतंकित कर लेती है और वियोगिनी को अपने प्रारब्ध अथवा दुर्दैव से समझौता कर लेना पड़ता है—'इन चौचँदहाइन मैं परि कै समयौ यह और बरावनें हैं।' धीरे-धीरे उसे यह मान लेना पड़ता है कि यह दुख का समय किसी प्रकार काटना ही पड़ेगा फिर यह वियोग की वेदना भी कुछ ऐसा वैसा नहीं होती। उसकी दारुण असह्यता का किसी को अन्दाज भी क्या लग सकता है। विरह में विरही की मनोव्यथा कितनी तीव्र हो जाती है इसके चित्रण में तो घनआनंद ही विशेष लगे है और काफी गहराई में जाकर अपने भावों को मुखर कर सके हैं, ठाकुर तो इस संबंध में इतना ही कहकर जैसे संतुष्ट हो गए हैं कि '**पर बीर मिलि-बिछुरे को बिथा मिलि कै बिछुरै सोइ जानतु है।**'

भक्ति-भावना

ईश्वर भक्ति तो प्रकारान्तर से समस्त मध्ययुगीन भाषा-कवियों में किसी न किसी परिमाण में और किसी न किसी रूप में अवश्य ढूँढ़ी जा सकती है। वह संस्कार वश थी या परंपरागत थी या शृंगार के लिए ओट के रूप में थी इस विषय की विवेचना हम आरंभ में ही कर आये हैं। सभी शृङ्गारी कवि एक सीमा तक राधाकृष्ण के भक्त रहे हैं तथा उनकी भक्ति विषयिणी दृष्टि में भक्त कवीश्वरों की ही भावना का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इन रीति कवियों की भक्ति भावना में भी वही उदारता देखी जा सकती है जो इनके पूर्ववर्ती सूर-तुलसी आदि में गोचर होती है। इन कवियों ने भी राम, कृष्ण, शिव तथा इतर देवी-देवताओं गणेश, हनुमान, काली आदि का नाम समान श्रद्धा से लिया है। ठाकुर कवि इस सामान्य एवं सर्वव्यापिनी प्रवृत्ति के अपवाद न थे। उन्होंने अपनी भक्तिपरक रचनाओं में कहीं तो बालक कृष्ण, राम, राधिका, गणेश आदि का गुण स्तवनात्मक शैली में अभिवदन किया है, कहीं ईश्वर की महिमा और गति वैचित्र्य का वर्णन किया है, कहीं दास्य भाव से विनय प्रदर्शित किया है, कहीं सखा के समान उन्हें लांछित किया है और उलाहना दिया है और कहीं संपूर्ण रूप से उनकी महा मोहिनी शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है। ठाकुर की भगवद्भक्ति जब अपने चरम उन्मेष पर पहुँचती है तो वे यह कहते हुए पाए जाते हैं 'या जग मैं जनमे को जिये को यहै फल है हरि सों हित कीजै।' यही उनका अखंड

मत है। जिसने संसार में मनुष्य जन्म धारण किया उसने यदि भगवत्प्रीति में अपने आपको लीन नहीं किया तो उसका जन्म ही व्यर्थ गया —

> आनन प्रेम की साँस नहीं नहिं कानन बाँसुरी को सुर छायो।
> बैनन सों न जप्यो नंदनंदन नैनन ना ब्रजचंद लखायो।
> ठाकुर हाथ न माल लई नहीं पाइन सों हरि मंदिर धायो।
> नेक कियो न सनेह गोपाल सों देह धरे को कहा फल पायो॥

जहाँ तक 'हाथ में माला लेने' और 'हरि मंदिर जाने' का प्रश्न है यह हमें इस युग में आडंबर अवश्य लगता है, स्वयं ठाकुर के ही समय में या उनसे भी पूर्व बिहारी, तुलसी, कबीर आदि के समय में भी लोगों को ऐसा लगा था किन्तु सर्वसाधारण के लिए स्वामी रामानंद एवं महाप्रभु वल्लभाचार्य सरीखे महात्माओं ने भी भक्ति के इन बाह्य उपकरणों को शास्त्रोक्त और वैध ठहराया था। आसक्ति और तन्मयता लाने के लिये एवं वृत्तियों को भगवदोन्मुख करने के लिए जन समाज के बीच उन्होंने मूर्तिपूजा, नवधा भक्ति (वैधी भक्ति), षोड़षोपचार, नाम-जप, माल-धारण, एक निश्चित प्रकार के वेश-विन्यास आदि का विधान किया था और सर्वसाधारण को इस बाह्योपकरण-सापेक्ष धर्म ने इतना अधिक आकृष्ट किया कि वह हमारे बीच और पुरुषों से अधिक स्त्रियों के बीच इतना बद्धमूल हो गया है कि उसके आज तो क्या ५०० वर्ष बाद भी हटने की कोई संभावना नजर नहीं आती। मूर्तिपूजा और माल-जप की उपयोगिता यहाँ हमारा प्रतिपाद्य नहीं, लक्ष्य यह दिखलाना भर है कि ठाकुर ने सर्वसाधारणी धर्म के रूप में इसे भी अंगीकार किया था।

ठाकुर ने एक स्थान पर भगवान से बड़ी ही मनोहारिणी विनय की है जो इस प्रकार है—हे भगवन्! यदि हमें भारी संपदा देना तो इतना वरदान और देने की कृपा करना कि मेरा जन्म न बिगड़ने पावे तथा कुसंगति में पड़कर मेरा आचरण भ्रष्ट न होने पावे (जैसा कि संसार में बहुधा होते देखा जाता है)। मुझे प्रवीणों की संगति मिले, दीनों के प्रति दया-भाव दिखला सकूँ तथा आपके प्रेम में डूबा हुआ जन्म व्यतीत करूँ तथा सबसे बड़ी बात जो हो वह यह कि 'ऐ हो ब्रजराज तेरे पाइँ कर जोरे गहौं, प्रान हू नजर पै न नियत बिगारियौ।' ठाकुर कवि इस प्रकार के शुद्ध और सात्विक हृदय वाले व्यक्ति थे; वे जानते थे कि दुनियाँ के प्रायः सभी धनवान नीयत के बुरे होते हैं और इससे संसार में अपरिमित भ्रष्टाचार का प्रसार होता है। वे संपदा को तो शायद उतना बुरा नहीं समझते थे परन्तु उसके अवश्यंभावी दुष्परिणामों से अवश्य पूर्णरूपेण अवगत थे। ऐसी याचना करने से स्पष्ट है कि वे ऊँची नैतिकता से चालित प्राणी थे। फिर भी ठाकुर भक्ति की दृष्टि से सूर, तुलसी और मीरा की कोटि के कवि नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनमें सांसारिक लालसाएँ थीं, पूर्ण निष्कामिता न थी। वे आस्थावान प्राणी थे ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखने

वाले । आर्त्त भक्त की भाँति रुग्ण होने पर और रोग के कष्ट के भीषण संताप से व्यथित हो उठने पर उनके भगवद् नामोच्चारण वाले छंद 'राम मेरे पंडित अखंडित मुदिन सोधैं' का उल्लेख हम कर आए हैं । इसी आस्था-बुद्धि के कारण वे मनुष्य की अशक्तता के कायल हो गए हैं और ईश्वर की इच्छा या कर्तृत्व शक्ति को ही सब कुछ मानने के पक्षपाती—

जो सुख देइ तो देइ दई दुख देइ न देख हिये डरने हैं ।
होत न काहू की नेकी करी अब यों निरधार हिये धरने हैं ।
ठाकुर भाँतिन भाँति अधीर ह्वै दीन ह्वै आइ पर्‌यो सरने हैं ।
को करि सोच वृथा ही मरै हरि होने वही जो तुम्हें करने हैं ॥

वे ईश्वर के गुणों का ध्यान करके पूर्ववर्ती भक्तों की भाँति प्राणिमात्र के प्रति हरिकृत अनंत उपकारों का नामोल्लेख सहित स्मरण करते हैं—गज और ग्राह, प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, अजामिल और नारायण—और उन्हें आशा है कि इसी प्रकार भगवान उनके प्रति भी कृपादृष्टि रक्खेंगे । कभी-कभी ठाकुर कवि मित्रता या बराबरी के भाव से ईश्वर की आलोचना और भर्त्सना भी करते हुए पाए जाते हैं—

(क) मेवा बई घनी काबुल में बिंदराबन आनि करील जमाए ।
राधिका सी सुभ बाम बिहाय के कूबरी संग सनेह बढ़ाए ।
मेवा तजी दुरजोधन की बिदुराइन के घर छोकल खाए ।
ठाकुर ठाकुर को का कहौं सदा ठाकुर बावरे होत ई आए ।

(ख) नीच परसंगी जानि पाति के न अंगी ऐसे
ठाकुर दो रंगी तो सदा ते होत आए हैं ।

(ग) ऐसे अन्ध अधम अभागे अभिमान भरे
तिन्हैं रचि रचि दिन नाहक गँवाए तैं ।
भकुआ भरंगी अरु हिरसी हरामजादे,
लाबर दगैल स्यार आँखिन दिखाए तैं ।
ठाकुर कहत ये अदानियाँ अबूझ भोंदू
भाजन अजस के वृथा ही उपजाए तैं ।
निपट निकाम काम काहू के न आवैं ऐसे
सूरत हराम राम काहे को बनाए तैं ॥

ठाकुर की भक्ति विषयिणी रचनाओं के आधार पर यदि हम उनके भक्तिभाव को निर्धारित करना चाहें तो कह सकते हैं कि उनकी भक्ति भावना दास्य और सख्यभाव मिश्रित थी । वे ईश्वर की अपार शक्ति और अपनी नगण्यता से अभिज्ञ हो दास्यभाव की विनम्रता प्रकट करते हैं और किन्हीं क्षणों में अपने को भगवान के अत्यंत निकट

अनुभव कर उनसे बराबरी का व्यवहार करते हुए अपने काव्य में सख्य भक्ति की झलक देते हैं।

नीति कथन

ठाकुर कवि की प्राप्य रचनाओं का एक अंश ऐसा भी है जिसमें उन्होंने जगत की गति का वर्णन किया है। संसार की दशा दिखलाने के अनंतर उन्होंने मनुष्य के रहने की विधि भी निर्दिष्ट की है। ऐसी रचनाओं में कवि ने जमाने के दाषों को देखने और दिखाने की चेष्टा की है तथा इन्हीं रचनाओं से उनकी सामाजिक जागरूकता का पता चलता है। ठाकुर ने भक्त कवियों की ही तरह कहा है कि देखो कलियुग में समाज और जाति की यह दशा है, यह है कुकर्म का प्रसार और यह है अनीति की पिटती हुई डौंडी। संसार में अब कुछ रह नहीं गया। खाने के लिए लोगों के पास कसम बच रही है, करने के लिए पाप, लेने के लिए अपजस और देने के लिए दोष—'खैबे को जु सौंह राखी कैबे को सु पाप राख्यौ लैबे कों अजस अरु दैबे को सु लाबरी।' कवि का क्षोभ कभी-कभी स्वयं ईश्वर के प्रति कटु उलाहने के रूप में फूट पड़ा है—'निपट निकाम काम काहू के न आवैं ऐसे सूरत हराम राम काहे को बनए तैं।' ऐसे संसार के प्रति ठाकुर के हृदय का कोई लगाव नहीं। वे इस भौतिक जगत और उससे भी अधिक इस पंचभौतिक काया की नश्वरता से भली भाँति अवगत थे इसी से उन्होने कुछ-कुछ कबीर के ही ढंग से (यद्यपि उनकी सी अनुभूति की तीव्रता के साथ नहीं) कहा है कि जिस शरीर के सुख के लिए हम अनेक प्रकार के व्यंजनों हय, गजरथादि, धनधाम और भेषजादि का आयोजन करते हैं उसी को प्राण विसर्जित हो जाने पर हम जलाकर राख कर डालते हैं। इस प्रकार का तत्वज्ञान रखने वाले ठाकुर ने फिर भी हमें अकर्मण्यता अथवा जगत की अवहेलना का कोई पाठ नहीं पढ़ाया। और न ही हमें जीवन के प्रति कोई अव्यावहारिक पाठ ही पढ़ाया। वे संसार और उससे भी अधिक संसार प्रकृति से वाकिफ थे। उनकी मानवी प्रकृति की जानकारी भी देखने योग्य है। वे जानते थे कि मनुष्य बड़ी सामर्थ्य वाला प्राणी है, उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं, अपराजेय शक्तियों को भी वह अपनी अनुगामिनी बना सकता है किन्तु कुपंथ पर चल कर वह असाधारण रूप से नीचे भी जा सकता है। जरा-जरा सी बात का उसे डर रहता है और यों उसे यम की भी परवाह नहीं रहती। कभी वह परम धर्मात्मा हो जाता है और कभी चरम अधर्माचरण भी करता है। जब उसकी नीयत खराब हो जाती है तो स्वार्थ साधन और पदार्थ विनाश में उससे चतुर दूसरा नहीं हो सकता। लोभ मोह माया में लिप्त हो वह शरीर को ही अजर-अमर कहने लगता है तथा उसे लोक-परलोक का भी भय नहीं रहता। उसका अभिमान जब उद्बुद्ध होता है तो वह

विधाता को भी कुछ नहीं गिनता किन्तु उसके स्वरूप के इसी पक्ष को ही सत्य मान लेना भारी भूल होगी क्योंकि—

कबहूँ यौ सँयोग के भोग करै जिनकी सुरराज को चाह सी है।
कबहूँ यौ बियोग बिथा को सहै जोऊ जोगिन हूँ कौं अकाह सी है।
कवि ठाकुर देखो बिचारि हिये कछु ऐसी अलाहदा राह सो है।
यह मानस को तन मे ी भट्ट समयां परै को बड़ो साहसो है।।

वह सचमुच ब्रह्मा की सबसे विलक्षण सृष्टि है। मनुष्य के मन के हठीलेपन को लक्ष्य करके भी ठाकुर ने कुछ छन्द लिखे हैं। उसे उन्होंने 'मोह के कीच में फँसा हुआ मतवाला हाथी' कहा है जो माया के समुद्र में आ धँसा है। वह ज्ञान के महावत, लज्जा के अंकुश और भय अथवा शंका की श्रृंखलाओं में भी जकड़ा नहीं जा सकता। वह मौत के कीच में ऐसा फंस गया है कि उससे निकलता नहीं. उसे सिर पर सवार मौत भी नहीं दिखाई देती। उसे नियंत्रित होने की विधि बताते हुए देव कवि की तरह ठाकुर ने चेतावनी भी दी है—

मेरौ कही मान मन सपनौ सो जान जग,
छोड़ि अभिमान फेर ऐसो नहीं दाँव रे।
दीन ह्वै दया की सीख संपति बिपति भीख,
एक सम दीख नहीं बनै है बनाव रे।
ठाकुर कहत ब्रजचंद चंदमुखी राधा,
बृन्दावन बीथिन मैं हरि गुन गाव रे।
बीति जात ऊमर भँडार तन रीति जात,
बीति जात काल के हवाले होत बावरे।।

मन को मोह से मुक्त करने तथा मन को प्रबोधित करने का कारण है उसकी भटक-भटक जाने की आदत। इस आदत को छुड़ाने की सख्त आवश्यकता भी रहती है। इसी आदत के पड़ने या सुधरने पर कितना अनिष्ट और इष्ट निर्भर करता है लेकिन मन को लेकर जो सबसे ऊँची बात ठाकुर ने कही है वह यह है कि इस मन को भगवान के प्रेमरस की रंगभूमि में डुबोये रहकर संसार में निर्द्वंद्व रहो—

ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निरसंक रस रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव।।

संसार की गति और दशा को देखते हुए तथा मनुष्य की आचरण विधि से अभिज्ञ हो अपने जीवन के अनुभवों से उत्पन्न ज्ञान को उन्होंने उपदेश अथवा नीतिमूलक

उक्तियों के रूप में हमारे सामने रक्खा है वे । बार-बार मनुष्यता को सर्वोपरि धर्म बतलाते हैं, इसी मनुष्यता को वे पौरुष या मरदानगी भी कहते हैं । ठाकुर की राय में हमारी मनुष्यता इस बात में है कि हम जिसकी बाँह पकड़ें उसका अंत तक निर्वाह करें, अपने वचनों को व्यर्थ में न जाने दें, साहस पूर्वक सिर पर जो आ पड़े उसके बावजूद भी समस्त जीवन धर्मों का निश्चल भाव से निर्वाह करें । इतनी वे हमसे मनुष्यता के नाम पर उम्मीद करते हैं और उनकी यह उम्मीद बिल्कुल जाँ है । उनके कुछ उपदेश इस प्रकार हैं— प्रवीणों की संगति करो, मन को आंतरिक तोष देने वाले कार्य करो, नीचों की संगति से बचो तथा रूप और यौवन ऐसा दुर्लभ रत्न और धन पाकर उसका दुरुपयोग न करो । यथाशक्ति दूसरों की–विशेषकर उनकी जो तुमसे कुछ आशा रखते हैं—भलाई करो, दीनों का सदा दुख दूर करो, यदि गाँठ से खर्च करने में कष्ट होता हो तो अन्य ऐसे उपकार करने से बाज न आओ जिनमें तुम्हारी गाँठ से कुछ न लगता हो । इस प्रकार के ऐसे अनेक उपयोगी एवं व्यावहारिक संकेत ठाकुर हमारे लिए कर गए हैं जो उनकी जीवन विषयक परिपूर्ण जागृति के सूचक हैं । ऐसे अवतरण ठाकुर कवि की रचना से अनेक प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें वे सहज मस्ती में आकर लाख रूपये की बात कह गए हैं—

> दान दया बिन दीबो कहा अरु लीबो कहा जब आपु ते माँगो ।
> प्राण गए रस पीबो कहा पग छीबो कहा उर प्रेम न जागो ।
> नारि कहा जेहि लाज तजी गुरु कीबो कहा भ्रम दूर न भागो ।
> या जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागो ।।

ठाकुर कवि की ये जगत विषयक रचनाएँ जिनमें संसार की दशा, उसकी गति, संसारियों की प्रकृति, मनुष्य के मन तथा उसके उज्ज्वल और अनुज्ज्वल पक्षों का दार्शनिक अथवा बौद्धिक नहीं बल्कि आनुभाविक आधार पर विश्लेषण किया गया है, अपने आप में बड़ी सबल हैं । इन उक्तियों की सत्यता और प्रबलता के पीछे अनुभव की शिला जो रक्खी हुई है इसीलिये ये कथन आदि किसी को नीरस नैतिक उक्तियों सी लगें तो भी इनमें निहित सत्य की आलोकदायिनी किरणें हमें आज तथा आगे भी बहुत काल तक पथ दिखलाती रहेंगी । क्या यह पंक्ति हमारे अंतस् के स्तर-स्तर को बेधती हुई हमारे अंतर्तम में पहुँच कर वेग से गूँज नहीं उठती—'या जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागो ।'

द्विजदेव

परिचय

रीतियुग में शृङ्गार धारा के अंतिम महत्वपूर्ण कवि 'द्विजदेव' माने जाते हैं। ये अपनी स्वच्छंद काव्य प्रवृत्ति के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं। महाराज मानसिंह जी 'द्विजदेव' का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल ५ सं १८७७ बिक्रमी (१० दिसम्बर १८२०) को हुआ। ये 'सरकोबे सरकशाने सल्तनत बहादुर' अयोध्यानरेश महाराज दर्शनसिंह के भ्रातृपुत्र होने के साथ-साथ उनके दत्तक पुत्र भी थे। ये शाकद्वीपी ब्राह्मण थे और संस्कृत, हिन्दी, फारसी तथा अंग्रेजी के ज्ञाता थे। राजा दर्शनसिंह की मृत्यु (सं १९१२) के बाद इन्होंने वीरता और साहस के अनेक कार्य किये जैसे विद्रोहियों का शमन, महत्वाकांक्षियों का दमन और डाकुओं का दलन आदि जिसके कारण इन्हें 'राजा बहादुर' 'कायमजंग' आदि की पदवी तथा यथेष्ट सम्मान एवं उपहार आदि मिले।[1] भिनगा के महाराज पर चढ़ाई, हनुमान राजगढ़ी के प्रसिद्ध हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के कारण की खोज में प्रकट बुद्धिमत्ता (जिसपर इन्हें 'राजएराजगान' की उपाधि मिली) तथा सं० १९१४ के आस-पास अवध-लखनऊ में होने वाले विद्रोहों बलवों आदि में इनके साहस एवं धैर्यपूर्ण कार्यों के कारण सं० १९१६ में लखनऊ के बड़े दरबार में इन्हें 'महाराजा' की पदवी तथा और भी अनेक उपहार मिले[2]। ये अवध के प्रधान ताल्लुकेदारों में थे और सं० १९२६ में इन्हें के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। ये अवध के ताल्लुकेदारों के एसोसिएशन के सभापति थे तथा 'ब्रिटिश-इन्डियन-एसोसिएशन' की स्थापना में इनका प्रधान हाथ था। कार्तिक कृष्ण २ सं० १९२७ (१० अक्तूबर सन् १८७०) को ५० वर्ष की आयु में ये दिवंगत हुए।

महाराज मानसिंह एक रणकुशल योद्धा, राजनीतिज्ञ, विद्वान एवं गुणीजन के आश्रयदाता थे। पण्डित प्रवीण और उदयचन्द भंडारी इनकी सभा के कवि थे। ये स्वयं एक साहित्यिक वातावरण का अनुमान करने की दृष्टि से इनके समसामयिक कवियों का नामोल्लेख अनुचित न होगा —ललित किसोरी, ललित माधुरी, उमादास, जीवनलाल नागर, निहालदेव, काष्ठजिह्वा, नवीन, कृष्णानन्द व्यास, गणेश प्रसाद (फर्रुखाबाद), माधव, कासिमशाह, गिरधरदास, पजनेश, सेवक, महाराज रघुराजसिंह (रीवा), शम्भूनाथ मिश्र, सरदार, बलदेवसिंह, अनीस, राजा शिव प्रसाद, गुलाबसिंह, बाबा रघुनाथदास, रामसनेही, लेखराज आदि।[3]

---

१. शृङ्गार—लतिका—सौरभ: ब्रजरत्नदास की भूमिका पृ० १६-१७

२. वही : पृ० १७-१८

३. मिश्रबन्धु विनोद पृ० १०६५

अश्वारोहण और मृगया में इन्हें विशेष रुचि थी। सैन्य संचालन, विद्रोह-दमन, राजकार्य आदि में संलग्न होते हुए भी 'द्विजदेव जी' काव्य-रचना के लिए अवकाश निकाल लेते थे, यह बात और भी महत्वपूर्ण और सराहनीय हो जाती है। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों इनके दायें-बायें घूमती रहती थीं। कवि के लिए ऐसा सौभाग्य विरल हुआ करता है। सरलता और प्रजा का दुःख-निवारण इनके हार्दिक गुण थे। अवध के क्षत्रिय बलदेवसिंह को शिवसिंह सेंगर और मिश्रबन्धुओं ने 'द्विजदेव' का काव्य गुरु बतलाया है।[1] द्विजदेव जी कवियों और विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। इनके व्यक्तित्व के संबंध में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' लिखते हैं कि ये 'नीतिज्ञता, गुणज्ञता, सहृदयता, उदारता, भावुकता अथच बहुदर्शिता के लिये प्रसिद्ध थे। आपके दरबार में कवियों का बड़ा सम्मान था क्योंकि उनमें कविकर्म की यथार्थ परख थी। वे स्वयं भी बड़ी सुन्दर कविता करते थे।[2]

कृतियाँ

द्विजदेव जी के उत्तराधिकारी महाराज सर प्रताप नारायण सिंह उपनाम 'ददुआ साहब' ने 'रस कुसुमाकर' नामक अलंकार और रस संबंधी हिन्दी कविता का एक बड़ा संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें द्विजदेव कवि के भी छंद संग्रहीत हैं। 'द्विजदेव' के लिखे दो ग्रंथ बताये जाते हैं 'शृङ्गार बत्तीसी' और 'शृङ्गार लतिका'।[3] इनके ये दोनों ग्रंथ नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हो चुके हैं जिनका सम्पादन लाल त्रिलोकीनाथ सिंह ने किया है। उन्होंने शृङ्गार बत्तीसी की रचना का कारण इस प्रकार दिया है—"कम्पनी ने जब १२६३ फसली में लखनऊ अपने अधीन किया तब महाराज मानसिंह को हू कैद करि राज्य नष्ट करन चाह्यौ, इस कारण महाराज ने पहिले ही अभिप्राय जान बनबास में मन दियौ। श्रावण-भादों मास बन में व्यतीत भयौ, तहाँ चित्त के विनोदार्थ पावस ऋतु वर्णन पूर्वक राधा-माधव की लीला स्मरण कियौ ताही कौं 'शृङ्गार बत्तीसी' संज्ञा दीनी......।" द्विजदेव की कीर्ति श्री के प्रधान आधार शृङ्गार लतिका की दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक तो सुमेरपुर, जिला उन्नाव के जगन्नाथ अवस्थी की ब्रजभाषा टीका और दूसरी महाराज मानसिंह जी 'द्विजदेव' के दौहित्र तथा उत्तराधिकारी महाराज प्रताप नारायण सिंह की जिसमें संदर्भ, शब्दार्थ, पदार्थ, विस्तृत भावार्थ देकर काव्यगत गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, ध्वनि नायिका आदि का निर्देश कर काव्य को विद्वतापूर्ण रीति से सुगम बनाया गया है। यथा स्थान संस्कृत काव्य से अवतरण दे देकर ग्रंथ को और भी साहित्यिक रुचिरता प्रदान की गई है। निश्चय ही यह टीका प्रथम की अपेक्षा अधिक उपादेय है। 'द्विज-

---

१. मिश्रबंधु विनोद, पृ० १०५२
२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—हरिऔध, पृ० ४६८
३. कविता कौमुदी (पहला भाग) रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ५२१-२२

देव' की मुक्तक रचनाओं के एक अन्य संग्रह 'शृंगार चालीसी' का भी पता चलता है, जो अमर यत्रालय काशी से प्रकाशित हुआ था। 'द्विजदेव' जी की समस्त रचनाएँ आगे चलकर 'शृंगार लतिका-सौरभ' नाम से प्रकाशित हुई।

शृङ्गार लतिका-सौरभ—शृंगार लतिका का जो संस्करण अयोध्या की श्रीमती महारानी जगदम्बा देवी ने प्रकाशित किया है वह दीर्घकाल के अध्यवसाय, कठिन परिश्रम, सुरुचि और अत्यधिक व्ययपूर्वक सम्भव हुआ है। सजधज बाह्या-वरण, मुद्रण आदि की दृष्टि से हिन्दी का कोई भी काव्य ग्रंथ आज तक इस प्रकार प्रकाशित नहीं किया गया है। बड़ी योजना, तैयारी और उत्साह के साथ उक्त ग्रंथ का सम्पादन हुआ है। पहले तो इसके प्रकाशन के लिए ही राजसदन में 'राजराजे-श्वर' नामक एक प्रेस तक स्थापित किया गया जिसमें १२ फार्म इस ग्रंथ के यशस्वी टीकाकार अयोध्या-नरेश महाराज प्रताप नारायण सिंह ने स्वतः अपनी देख रेख में प्रकाशित कराये थे किन्तु उनके आकस्मिक निधन से यह कार्य रुक गया तथा बाद में एक न एक बाधा आती ही रही। उक्त महाराज की धर्मपत्नी महारानी जगदम्बा देवी ने यह कार्य अपने प्राइवेट सेक्रेटरी बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को सौंप दिया और उन्होंने इस कृति के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य प्रारंभ भी कर दिया किन्तु इसी समय अयोध्या राज्य का प्रबंध 'कोर्ट आफ वार्ड्स' के अधीन चले जाने तथा राज-कार्य संबंधी अनेक जटिल समस्याओं के उपस्थित हो जाने के कारण यह कार्य भी रुक गया। फिर 'रत्नाकर' जी का भी देहावसान हो गया और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि और आचार्य डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को इसके संपादन का कार्य सौंपा गया। संपादित होकर यह ग्रंथ इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वारा मुद्रित भी हुआ किन्तु इसमें भी महारानी जगदम्बा देवी की इच्छानुरूप अपेक्षित चारुता (संपादन और मुद्रण दोनों की) न आ सकी। फलस्वरूप यह कार्य प्रसिद्ध ब्रजभाषा विद्वान मथुरा निवासी पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी को दिया गया जिन्होंने दो वर्ष के अथक परिश्रम के अनंतर इस ग्रन्थ का सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर संपादन किया और इंडियन प्रेस प्रयाग ने इसे अपेक्षित चारुता और सजधज के साथ मुद्रित किया। इस प्रकार महारानी जगदंबा देवी ने अपने पति की चिर संचित इच्छा की पूर्ति का अपना दायित्व निर्वाह किया और काव्य रसिकों के लिए यह अनुपम ग्रन्थ सामने आया।[1] इसका प्रकाशन सं० १९९३ (सन् १९३६) में हुआ। यह ग्रन्थ 'शृंगार-लतिका-सौरभ' नाम से प्रकाशित हुआ है। जैसा विदित ही है 'शृङ्गार लतिका' के यशस्वी रचयिता "सरकोब सरकशान राजैराजगान महाराज सर मानसिंह बहादुर, 'द्विजदेव' कायमजंग, के० सी० एस०

१. देखिये शृंगार-लतिका-सौरभ का महारानी जगदम्बा देवी द्वारा लिखित 'वक्तव्य' प्रकाशिका—श्रीमती महारानी जगदम्बा देवी, राजसदन, अयोध्या (सं० १९९३) मुद्रक—के० मित्र, इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

आई० 'अयोध्या नरेश' है और इसके 'सौरभी टीकाकार' "द्विजराज सूर्योद्भव, ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन के यावज्जीवन सभापति महामहोपाध्याय महाराज सर प्रताप नारायण सिंह बहादुर, के० सी० एस० आई० अयोध्यानरेश। 'शृंगार-लतिका-सौरभ' में एक नहीं दो दो टीकाएं दी हुई हैं। पहली टीका उक्त महाराज की है और दूसरी टीका ब्रजभाषा में है जो सुमेरपुर जिला उन्नाव के पं० जगन्नाथ अवस्थी की लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका द्विवेदी युग के प्रसिद्ध लेखक और समालोचक बा० ब्रजरत्नदास द्वारा लिखी गई है जिसमें उन्होंने ग्रन्थ के कर्त्ता और कृति दोनों का अच्छा परिचय दिया है।

'शृंगार-लतिका-सौरभ' तीन सुमनों में विभाजित हुआ है। प्रथम सुमन में १६५ छंद हैं द्वितीय में १७४ और तृतीय में ३६। परिशिष्ट में १० छंद और दिए गए (४ कवित्त और ६ सवैये) जो विविध संग्रहों में यत्र-तत्र प्राप्त तो हुए हैं किन्तु संपादक की दृष्टि में सदिग्ध हैं।

वैसे तो इसके पूर्व महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की रचनाओं के कुछ संग्रह शृंगार बत्तीसी, शृंगार चालीसी तथा शृंगार लतिका पहले भी प्रकाशित हो चुके थे किन्तु उनकी कविताओं का पूर्ण विवेचनात्मक संग्रह अब तक नहीं प्रकाशित हो सका था। प्रस्तुत संपादन एवं प्रकाशन द्वारा 'द्विजदेव' कवि की समस्त रचनाओं का प्रामाणिक संस्करण सामने लाया जा सका है। चूंकि इस ग्रन्थ के रचयिता अयोध्या राज्य के एक प्रतापी महाराज थे और उनके ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि तथा उसकी अन्यान्य हस्तलिखित प्रतियाँ और प्रकाशित सामग्री उपलब्ध थी तथा उसके प्रकाशन में रचयिता के ही वंशधर रुचि ले रहे थे फलतः उनकी रचना का पूर्ण प्रामाणिक रूप ही प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन द्वारा हिन्दी जगत के समक्ष आ सका है। यों भी हिन्दी में प्राचीन काव्य के प्रामाणिक संपादन के कार्य का श्रीगणेश अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन और संपादन हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक संपादन और प्रकाशन के इतिहास में प्रारंभिक प्रकाशनों में ही परिगणित किया जायगा। वैसे अब यह ग्रन्थ भी सुलभ नहीं। प्रयाग ऐसे साहित्यिक तीर्थ में बहुत प्रयत्न के बाद और नाना ग्रन्थागारों की छानबीन के बाद भी यह ग्रन्थ मुझे अप्राप्य ही रहा। इसके प्रकाशन की सूचना सर्वप्रथम मुझे आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से मिली तथा अध्ययन की सुविधा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के व्यवस्थापकों के सौजन्य से और दूसरी बार लखनऊ में डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक की कृपा से प्राप्त हुई।

द्विजदेव कवि के 'शृंगार-लतिका-सौरभ' के संपादन में ग्रन्थ के जिन भूतपूर्व प्रकाशित संस्करणों और पाण्डुलिपियों का आधार बनाया गया है उनकी नामावली इस प्रकार है[1] :—

१. शृङ्गार लतिका सौरभ (सं० १९९३) पृ० ७६३

१. शृङ्गार चालीसी—द्विजदेव कृत, पं० मन्नालाल संपादित, अमर यंत्रालय, काशी।

२. शृङ्गार बत्तीसी—लाल त्रिलोकीनाथ सिंह संपादित, नवल किशोर प्रेस, तृतीय संस्करण।

३. शृङ्गार लतिका—पं० जगन्नाथ अवस्थी कृत, ब्रजभाषा टीका सहित, नवल किशोर प्रेस, लीथो की छपी।

४. शृङ्गार लतिका—पं० जगन्नाथ अवस्थी कृत ब्रजभाषा टीका सहित, नवलकिशोर प्रेस में टाइप से छपी और काशी निवासी पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से प्राप्त।

५. शृङ्गार लतिका—मूलमात्र, पं० नकछेदी तिवारी उपनाम 'अजान' कवि संपादित और चंद्र प्रभा प्रेस, काशी की छपी, नागरी प्रचारणी सभा काशी से बा० ब्रजरत्नदास द्वारा प्राप्त।

६. शृङ्गार लतिका—मूल, पं० मन्नालाल द्वारा संपादित, प्रथम पृष्ठ नदारत, भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग।

७. शृङ्गार लतिका—हस्तलिखित प्रति, महाराज प्रतापनारायण सिंह (ददुआसाहब) कृत सौरभी टीका सहित और महारानी साहिबा अयोध्या से प्राप्त।

८. शृङ्गार लतिका—मूलमात्र, हस्तलिखित बनारस के लाला रामचरन द्वारा प्राप्त।

९. शृंगार लतिका—मूल हस्तलिखित, ठाकुर दुर्जन सिंह मिर्जापुर से प्राप्त।

'शृंगार लतिका सौरभ' में महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की समस्त रचनाओं का संपादन हुआ है।

'द्विजदेव' जी के काव्य को देखने से उनकी काव्य-प्रवृत्ति के विषय में निम्नलिखित बातें स्पष्ट रूप से अवगत होती हैं—

(१) कि प्रकृति की विभूति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।

(२) द्विजदेव भी मूलतः शृङ्गारी प्रवृत्ति के कवि थे।

(३) काव्य की बँधी रूढ़ियों से कुछ हटकर चलने का प्रयास किया है।

प्रकृति चित्रण

प्राकृतिक-विभव के प्रति उनका स्वभावगत प्रेम वसंत और वर्षा के सजीव वर्णनों में देखा जा सकता है। वसंत ऋतु में वृक्षराजियों की समग्र शोभा जहाँ हमारा मनहरण करती है वहीं उनमें से प्रत्येक की पृथक् छटा भी कम मनोहारिणी नहीं होती —

डोलि रहे बिकसे तरु एकै सु एकै रहे हैं नवाइ कै सीसहिं।
त्यौ द्विजदेव मरंद के ब्याज सों एकै अनंद के आँसू बरीसहिं।।
कौन कहै उपमा तिनकी जे लहैंई सबै बिधि संपति दीसहिं।
तैसेंई है अनुराग भरे, वर-पल्लव जोरि कै एकै असीसहिं।।

वसंतागम से प्रफुल्लित कोई वृक्ष मुसकरा रहा है तो कोई शोभावनत हो रहा है, कोई मरंद दान के मिस आँसू बहा रहा है, कोई अभिनव संपदा से समृद्ध प्रतीत हो रहा है तो कोई प्रेम से परिपूर्ण हो अपने पल्लव-करों से आशिष दे रहा है। वृक्षों की पृथक-पृथक छटा कैसी चित्रात्मक है। उनका जो मानवीकरण किया गया है वह और भी व्यामोहक है। वसंत की मादक ऋतु प्रकृति में किस प्रकार के अनिर्वचनीय परिवर्तन लाती है इसे दिखाने के लिए कवि ने भेदकातिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग द्वारा वासंती शोभा का कैसा आकर्षक चित्रण किया है—

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं बृन्द बृन्द तरु
औरै छबि पुंज कुंज कुंजन उनै गए।।
औरै भाँति सीतल सुगंध मंद डोलैं पौन
द्विजदेव देखत न ऐसें पल द्वै गए।
औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग
औरै बन औरैं छन औरै मन ह्वै गए।।

वसंत ऋतु समूची प्रकृति को किस प्रकार बदल देती है, प्रकृति के उपकरणों में कैसी अभिनव सुषमा सन्निविष्ट हो जाती है, मधुभार से पुष्पावलियाँ किस प्रकार झुक-झुक कर झूम-झूम उठती हैं, भौरों की भीड़ किस प्रकार गुञ्जार करने लगती है, कोयल किस प्रकार कूकने लगती है, गुलाबों में कैसी चटकाहट दिखाई देती है—

खोलि इन नैननि निहारौं लौं निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाइ रही अति भौन भौन।
चाँदनी के भार न दिखात उनयौ सौ चंद
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन।।

उपर्युक्त वर्णनों में कवि प्राकृतिक सुषमा पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करता जान पड़ता है। नीचे के वर्णन में देखिए वह किस प्रकार आत्मज्ञान शून्य होकर जड़-चेतन का भेद भूलकर प्रकृति से एकमेक हो रहा है। वैभवपूर्ण वसंत को आता हुआ देखकर वह स्वतः कैसा उल्लसित हो उठा है! वह प्राकृतिक पदार्थों को भी उल्लसित होने का आवाहन करता है—

गावौ किन कोकिल बजावौ किन बैनु बैनु
नचौ किन भूमरि लतागन बने ठने।
फैंकि फैंकि मारौ किन निजकर पल्लव सौं
ललित लवंग फूल पातन घने घने॥
फूलमाल धारौ किन, सौरभ सँवारौ किन
एहो परिचारक समीर सुख सौं सने।
मौर धरि बैठो किन चतुर रसाल! आज
आवत बसंत ऋतुराज तुम्हें देखने॥

ये तथा सदृश वर्णन द्विजदेव के प्रकृति-प्रेम के द्योतक हैं। वर्षा या पावस वर्णन के छन्दों में भी ऐसी ही मनोहारिता है—

होते ह्वै नव अंकुर की छवि छार कछारन में अनियारी
त्यों द्विजदेव कदंबन गुच्छ नए-ई-नए उनये सुखकारी॥
कीजिए बेगि सनाथ उन्हें चलिगे बन कुंजन कुंज बिहारी।
पावस काल के मेघ नए, नव नेह नई वृषभानु कुमारी॥

यह छंद तो कुञ्जबिहारी की संभोगवासना को जागृत करने के लिए लिखा गया है, इसमें प्रकृति का शुद्ध और निर्व्याज चित्रण नहीं है प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण कर उसके संश्लिष्ट रूप चित्रण की चेष्टा नहीं है। इसी प्रकार अगले छन्द में काली घटाएँ, पपीहा के शब्द और सावन की बूँदें चावों में चुभी हुई मन-भावन के अंक में बैठी हुई नायिकाओं को आनंद के पीयूष में पागने के लिए ही वर्णित हुई हैं—

चूनरी सुरंग सजि सोहो अंग अंगनि
उमंगनि अनंग अंगना लौं उमहति हैं।
झुकि झुकि झाँकति झरोखन तें कारी घटा
चौहरे अटा पैं बिज्जु छटा सी जगति हैं॥
द्विजदेव सुनि सुचि सबद पपीहा के
पुनि पुनि आनंद पियूष में पगति हैं।
चावन चुभी सी मन भावन के अंक तिन्हें
सावन की बूँदें ए सुहावनी लगति हैं॥

यह प्रवृत्ति किसी स्वच्छन्दता की सूचक नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार के वर्णन रीतिबद्ध अथवा रीतिकाल के परंपरापोषक सभी कवियों में मिलते हैं।

शृङ्गारी काव्य—अब द्विजदेव की शृंगारी प्रवृत्ति की तरफ आइये। रीतिकाल के अधिकांश कवियों की भाँति द्विजदेव की कविता भी शृंगारिक है, उसमें वयःसंधि से लेकर संभोग तक के चित्र हैं। मेरे कहने का यह प्रयोजन नहीं है कि नायिका भेद के ग्रन्थों में वर्णित पद्धति पर द्विजदेव ने नायिका के अंग-प्रत्यंगों और भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है। अभीष्ट इतना ही है कि इन वर्णनों में रीतिबद्ध काव्यकारों की छाया स्पष्ट है अथवा यों कहना अधिक संगत होगा कि द्विजदेव के वर्णन किसी सीमा तक उसी पद्धति के हैं। वयःसंधि का चित्र देखिए—

कौन कौ प्रान हरैं हम यों दृग काननि लागि मतौ चहैं बूझन।
त्यों कछु आपुन ही मैं उरोज कला कसी कै कै चहैं बढ़ि जूझन॥
ऐसे दुराज दुहूँ बय के सब ही कौं लग्यौ अब चौचंद सूझन।
लूटन लागी प्रभा कढ़ि कै बढ़ि केस छबान सौं लागे अरूझन॥

सौकुमार्य और अंगद्युति का वर्णन पर्याप्त चित्रात्मक है—

जावक के भार पग परत धरा पै मंद
गंधभार कुचन परी हैं छुटि अलकैं।
द्विजदेव तैसिए विचित्र बरुनी के भार
आधे आधे दृगनि परी हैं अध पलकैं॥
ऐसी छबि देखि अंग अंग की अपार
बार बार लोल लोचन सु कौन के न ललकैं।
पानिप के भारन सँभारत न गात लंक
लचि लचि जात कचभारन के हलकैं॥

नायिका के किन्हीं नियत अंगों की ओर संकेत करते हुए कवि ने उसके समस्त अंग सौन्दर्य को साक्षात्कृत कराने की चेष्टा की है। वर्णन पद्धति का वैशिष्ट्य भी कुछ कम उल्लेखनीय नहीं है। वह मंद-मंद चरण-निक्षेप क्यों करती है? क्योंकि उसके चरण जावक (महावर) के भार से बोझिल हैं। उन्मद नेत्रों में अर्ध निमीलन क्यों हैं? क्योंकि बड़ी-बड़ी बरौनियों के भार से पलकें दबी जा रही हैं। केश शिथिल होकर नायिका के वक्ष देश पर क्यों बिखर गए हैं? क्योंकि उनमें सुगंधि का भार है। लंक क्यों लचक-लचक जाती है? क्योंकि उनपर देहगत सौन्दर्य की आभा और केशों का भार पड़ रहा है। कैसी सुकुमार और अनूठी कल्पना है, फिर भला इस प्रकार की अंग-अंग की अपार छबि को देखकर बार-बार देखने के लिए किसके नेत्र न ललकेंगे? कवि नायिका के सौन्दर्य पर रीझा हुआ कभी उसकी गति का वर्णन करता

है कभी उझककर झाँकते समय उसकी आभा का। उसकी गति को देखकर कोई कहता है कि उसने गयंदों की सी चाल पाई है, कोई कहता है उसने मरालों की चाल सीख ली है। कवि कहता है इस प्रकार के कुतर्कों में कितनों की मति बौरा गई है सच तो यह है कि उसे धीमें चलना चाहिए क्योंकि उसकी चाल पर लाखों की आँखें अटकी हुई हैं। कहीं उसे नजर न लग जाय! कहीं उसकी चाल को कुछ हो न जाय—

वह मंद चलै किन भोरी भटू पग लाखन की अँखियाँ अटकी ॥

एक जगह कवि ने प्रतीप-पद्धति पर मुख के प्रसिद्ध उपमानों को निरादृत किया है—

मंद भए दीपक बिलोकि क्यों अनंद होते
भोरै चारु चंद के चकोर चित चोखे तैं।
होती समताई दिखवारन के भाखैं कब
चिंतामनि आरसी को आनन अनोखे तैं॥
'द्विजदेव' की सौं एतो होतो उपहास कब
मानसर हूँ के अरबिन्द अलि ओखे तैं।
आलिन के संग दीपमाली के बिलोकिबे कौं
औझकि उझकि जो न झाँकती झरोखे तैं॥

पूर्वोल्लिखित छन्द में गति का वर्णन है, इसमें गत्यात्मक सौन्दर्य का यह छन्द बिहारी की इन पंक्तियों का स्मरण दिलाता है—

नावक सर सी लाय कै, तिलक तरुनि इत ताकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥ (बिहारी)

नायिका के सौन्दर्य के साथ-साथ नायक के सौन्दर्य का भी संकेत है, सौन्दर्य का वर्णन नहीं। यह सौन्दर्य-संकेत अभिनय प्रसंगोद्भावना के साथ-साथ है। एक दिन की बात है, प्रेमिका उद्यान में जाती है। वहाँ उसने जो कुछ देखा और उस पर जैसी बीती उसका उसी की ज़बानी हाल सुनिये—

आज सुभाइन हीं गई बाग बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहाँ आए गुवाल तिन्हैं लखि औरै गयौ हियरो ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि परयो धौं कहा तिहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कहै सखि! लोनो सरूप सो मो अँखियान मैं लोनी गई लगि॥

अंतिम पंक्ति में नायिका के मनोगत प्रभाव का कैसा मर्मस्पर्शी वर्णन है। नायक का रूप चित्रित नहीं किया गया उसका प्रभाव मात्र दिखलाया है। सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया है उसकी व्यंजना हुई है। उसका अनुमान आप करते रहिये। रीतिकाल के कवियों में यह पद्धति विशेष प्रचलित रही है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रत्यक्ष चित्रण न करते हुए उसके एक दो या बहुत व्यक्तियों पर पड़े प्रभाव का चित्रण करना

तथा इस पद्धति से काव्य पाठक पर सौन्दर्यातिशय्य की छाप डालना इस शैली पर रीतिबद्धों ने ही वर्णन किया हो ऐसी बात नहीं। रीतिमुक्त काव्यकारों ने भी इसे अपनाया है। आलम आदि के प्रसंग में यह बात विस्तार के साथ दिखाई जा चुकी है। उपर्युक्त छन्द से एक बात का संकेत और मिलता है कि द्विजदेव के काव्य में नायक कदाचित् 'गोपाल' (कृष्ण) हैं। नायिका यदि राधा मान ली जाय तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए। कवित्त का यह चरण इसका स्पष्ट संकेत दे रहा है—

आधी लै उसास मुख आँसुवा सों धोवै कहूँ
जोवै कहूँ आधे आधे पलन पसारि कैं।
नींद भूख प्यास ताहि आधी हू रही न तन
आधे हू न आखर सकत अनसारि कैं॥
द्विजदेव की सौं ऐसो आधि अधिकानो जासों
नैकऊ न तन मन राखति सँभारि कै।
जा दिन तें जोरि मनमोहन लला तैं दीठि
राधे आधे नैननि तैं आई तू निहारि कै॥

इतना ही नहीं द्विजदेव के अन्यान्य छन्दों से भी यह बात स्पष्ट है कि उनके काव्य में वर्णित प्रणय के आलंबन कृष्ण और राधा अथवा अन्य कोई गोपिका ही हैं। कृष्ण का उल्लेख तो बारंबार उनके पर्यायवाची नामों से हुआ है जैसे कुंजबिहारी, मनभावन, स्याम, मनमोहन, गिरधारी, माखन चोर, गुपाल, मधुसूदन, घनस्याम, ब्रजराज आदि—

क—कीजिए बेगि सनाथ उन्हें चलिए बन कुंजन, कुञ्जबिहारी।

ख—चावन चुभी सी मनभावन के अंक तिन्हें
सावन की बूँदैं ए सुहावनी लगति हैं।

ग—सावन के दिवस सुहावने सलौने स्याम
जीति रति समर बिराजे स्याम-स्यामा संग।

घ—बेगि लिखि पाती वा सँघाती मनमोहन कौं

ङ—ए हो गिरधारी राखौ सरन तिहारी अब
फेरि इहि बारी ब्रज बूड़न चहत है।

च—इक माखन चोर के जोर लई छबि छीनि सिखी पखवारन की।

छ—मधुसूदन जु होते तौन औते कहौ काहे कौं।

ज—होते घनश्याम तौ बरीते कहौ काहे कौं।

झ—ए हो ब्रजराज मेरो प्रेमधन लूटिबे कौं।

इसी प्रकार स्यामा, वृषभानुकुमारी, राधे आदि शब्द द्विजदेव के काव्य में राधा की भावना की पुष्टि करते हैं। सिद्धान्त रूप से यदि मान लिया जाय कि द्विजदेव कवि के काव्य के वर्ण्य कृष्ण और राधा और गोपियाँ हैं तो कोई अनौचित्य न होगा। अब इस बात पर भी थोड़ी दृष्टि डालने की आवश्यकता है कि द्विजदेव द्वारा वर्णित प्रेम का स्वरूप क्या है। इतना तो बिल्कुल स्पष्ट है कि द्विजदेव के काव्य का उपजीव्य मूलतः परंपरागत 'भाषा-साहित्य' है। उसमें वर्णित प्रेम और वातावरण ही द्विजदेव की निजता (वैशिष्ट्य) के निदर्शक कारण और उपकरण अधिक नहीं है। वह वैशिष्ट्य जो प्रेम विषमता के कारण घनानंद को प्राप्त है प्रेम की तीव्रता के कारण बोधा को सुलभ है, प्रेम की भक्तिवत अनन्यता के कारण रसखान को मिली है और प्रेम की स्वच्छन्दता के कारण ठाकुर के भाग्य में आई है, द्विजदेव को भी मिली है ऐसा कहने में हिचक होती है। और कवियों में रीति परंपरा की छाप कम है प्रेम भावना और वर्णन शैली की विशेषता अधिक। द्विजदेव में परंपरा की छाप अधिक है प्रेमवृत्ति गति निजत्व और वर्णन विधिगत विशिष्टता कम। उनके प्रत्येक छन्द में 'द्विजदेव' नाम की छाप अवश्य है यही 'उनकेपन' का द्योतक है। प्रकृति वर्णन के क्षेत्र में उनके जो छन्द हैं उनमें भी सेनापति की सी व्यापक दृष्टि नहीं और आलंबनगत चित्रण का अभाव है। उनमें अन्य स्वच्छन्द कवियों के समान तीव्र प्रेमानुभूति की कमी भी लक्षित होती है। अन्य रीतिमुक्त कवियों में हृदय का प्रेम ही काव्य का रूप ले बैठा है। द्विजदेव में यह बात नहीं दिखाई देती उनका प्रेम वर्णन बहुत कुछ 'सेकेंड हैन्ड' सा लगता है। वे बिहारी, पद्माकर आदि के अधिक समीप लगते हैं। स्फुट रूप में उनका जो काव्य उपलब्ध है उसमें प्रासंगिक रूप से तो प्रेम-भावना का प्रसार सर्वत्र है तथा उसमें ब्रजभूमि का प्रणयस्वरूप दिखाई देता है। जिन छन्दों में श्रृंगार का वर्णन विशेष रूप से हुआ है उनमें उसका रूप कुछ विशेष नहीं है, वह रूढ़िगत ही है। संभोग श्रृंगार का यह चित्रण लीजिये—

सावन के दिवस सुहावने सलौने स्याम,
जीति रति समर बिराजे स्याम स्यामा संग।
द्विजदेव की सौं तन उघटि चहूँधा रह्यौ
चुंबन कौं चहल चुचात चूनरी कौ रंग।।
पीतपट तातें हरखाने लपटाने लखें
उमहि उमहि घनस्याम दामिनी कौ ढंग।
रति रन भीजे पै न मैन मद छीजे अति
रस बस भीजे तन पुलकि पसीजे अंग।।

इसमें रति-रस छके प्रणयी युग्म का चित्र है! एक कृष्णाभिसारिका का चित्र देखिये जो वर्षा ऋतु को अंधकारपूर्ण रात्रि में भी प्रियतम से संभोग सुख प्राप्त करने जाती

है। उसे किसका डर—मनोरथ उसकी सवारी है, मिलन की उमंग उसकी सहचरी है, कामोन्माद रक्षक भट है और मुखचंद्र 'मशाल' है। क्या कल्पना है और संभोग का कैसा प्रबल उन्माद है—

कारौ नभ कारी निसा कारिऐ उरारी घटा
झूकन बहत पौन आनँद कौ कंद री।
द्विजदेव साँवरी सलौनी सजी स्याम जू पैं
कीन्हौं अभिसार लखि पावस अनंद री॥
नागरी गुनागरी सु कैसैं डरैं रैनि डर
जाके सँग सोहैं ए सहाइक अमंद री।
बाहन मनोरथ उमाहि संगवारी सखी
मैनमद सुभट मसाल मुखचंद री॥

ऐसे छन्द जब राधाकृष्ण के नाम पर मढ़े जाते हैं तभी कृष्ण का व्यकलंकित होता है। रीतिमुक्त कवियों ने उत्तान शृंगार का वर्णन किया है। इस कार्य में बोधा को हिन्दी के दूसरे कवि नहीं पा सकते। पर बोधा ने यह करतूत कृष्ण-राधा के आड़ में नहीं की है। वह बहुत कुछ उनकी अपनी वासना की ही अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त रीति के वर्णन रीति-बद्ध काव्य में भरे पड़े हैं। इसी प्रकार सहेट स्थल पर प्रिय की प्रतीक्षा करने वाली नायिका को भी देखिए जिसके उत्कंठित श्रवण अपने ही आहट से सतर्क हो जाते हैं और पत्ते की खड़क भी जिसे प्रस्वेदमय कर देती है—

दाबि दाबि दंतन अधर छतवंत करै,
आपने हीं पाइन कौ आहट सुनति औन।
द्विजदेव लेति भरि गातन प्रसेध अलि
पातहू की खरक जु होतीं कहूँ काहू भौन॥
कंटकित होत अति उसास उसासिन ते
सहज सुबासन सरीर मंजु लागै पौन।
पंथ ही मैं कंत के जु होत यह हाल तो पै
लाल की मिलनि ह्वै है बाल की दसा धौं कौन॥

द्विजदेव के ऐसे छन्दों में जहाँ लुक, छिपकर प्रेम व्यापार दिखाया गया है काव्य के वर्ण्य राधा कृष्ण न होकर 'नायिका भेद के ग्रंथों के नायक-नायिका हो गये हैं। कृष्ण का प्रणय व्यापार खुले आम होता था, वह सब की जानी हुई चीज थी, वहाँ न तो लोक का डर था न किसी परलोक की आकाँक्षा। उस प्रणय लीला में सब कुछ कृष्णार्पित था क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान थे जैसा कि श्रीमद्भागवत में स्वीकृत हुए हैं—कृष्णस्तु भगवान स्वयं। द्विजदेव के इन छन्दों के कृष्ण अत्यंत साधारण धरातल के कामुक जीव हो गए हैं। एक खण्डिता की उक्ति में देखिए तो ब्रजराज का चित्र—

बाँके, संक हीने, राते-कंज-छबि-छीने, माते,
झुकि-झुकि झूमि-झूमि काहू कौं कछू गनैं न ।
द्विजदेव की सौं ऐसी बनक बनाइ
बहु भाँतिन बगारैं चित चाहन चहूँधा चैन ।।
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे
बार बार तातैं तुम्हैं पूछती कछूक बैन ।
एहो ब्रजराज ! मेरे प्रेम धन लूटिबे कौं
बीरा खाइ आए कितै आपके अनोखे नैन ।।

वियोग वर्णन—ब्रजभाषा के कवियों ने वियोग का वर्णन भी बड़े समारोह के साथ किया है। द्विजदेव ने कृष्ण की विरहिणी के वियोग चित्रण में ऋतुओं का विशेष रूप से सहारा लिया है। एक तो ऋतुकृत विरहोद्दीपन परंपरा विहित शैली भी है; दूसरे मनोगत वेग के उत्कर्षापकर्ष में ऋतु एवं प्रकृति का स्थान सचमुच महत्वपूर्ण है। विरहिणी और ऋतुएँ तो किसी प्रकार पार कर ले जाती है किन्तु बसंतागम की सोचकर एकदम उन्मादिनी हो जाती है, वह सोचने लगती है कि यदि श्याम न आए तब तो वसंत का क्लेश कदापि सहन नहीं किया जा सकता। विरह की बला को किसी-न किसी प्रकार निर्मूल करना होगा—

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जायँ हैं ।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि क्रूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताय हैं ।।
आवत बसंत के न ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै
बावरी बलाय सों, हमारेऊ उपाय हैं ।
पीहैं पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहैं ।।

वियोगिनी वसंत की विरह वेदना सहने को प्रस्तुत नहीं विषपान भले ही कर लेगी। एक विरहिणी की अजीब दशा है, कोई निश्चय नहीं कर पाता कि इसे रोग क्या है। कोई कहता है इसे कोई रोग हो गया है, कोई कहता है भूत लगा है, कोई कहता है किसी ने टोना कर दिया है। हर कोई अपने-अपने कारण-ज्ञान के अनुसार अपना-अपना निदान बतलाता है पर एक सखी का कथन है कि उपर्युक्त समस्त कारण और सभी निदान व्यर्थ हैं असली बात तो यह है—

सखि बीस बिसे निसि याही कहूँ
बन बौरे बसंत की बाय लगी ।

वियोग यदि अल्प कालिक हो तो भी वह व्यथाकर ही है ।

> हाय इन कुञ्जन तें पलटि पधारे श्याम,
> देखन न पाई वह मूरति सुधामई ।
> आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज,
> चलन समै में चल पलन दगा दई ।।

और यदि वह दीर्घकालिक हुआ तब तो उसकी पीड़ा का कहना ही क्या । उसकी तीव्रता और आकुलता से तो साहित्य ही भरा हुआ है । बदलती हुई ऋतुएँ वियोग की वेदना में और रंग लाती हैं । वर्षा के पहले बादलों को घुमड़ते देख हा प्रवीण सखियाँ विरहग्रस्त कामिनियों को नसीहत देने लगती हैं—

> घूँघुरित धूरि धुरवाँन की सुछाई नभ
> जलधर धारा धरा परसन लागी री ।
> 'द्विजदेव' हरी भरी ललित कछारैं त्यौं
> कदंबन की डारैं रस बरसन लागी री ।।
> कालि ही तैं देखि बन-बेलिन की बनक
> नवेलिन की मति अति अरसन लागी री ।
> बेगि लिखि पाती वा सँघाती मनमोहन कौं
> पावस अवाती ब्रज दरसन लागी री ।।

वे कहती हैं शीघ्र अपने प्रियतम को पत्र लिखो अभी तो बरसात के प्रथम लक्षण हैं । आगे तो दिन-दिन भर मेघ घिरे रहेंगे, रात-रात भर वर्षा होगी । उस समय तो दिन और रात कल्पवत प्रतीत होगे फिर अभी तो वर्षा का जोर नहीं है, नदी नालों में बाढ़ नहीं आई है यह सब कहीं होने पाया तब तो प्रियतम के बिना पावस में प्राण नहीं बचेंगे । आगे चलकर सचमुच यही होता भी हैं—

> उमड़ि घुमांड़ घन छंडत अखंड धार
> अति ही प्रचण्ड पौन झूँकन बहतु है ।
> 'द्विजदेव' संपा कौ कुलाहल चहूँधा नभ
> सैल तैं जलाहल कौ जोग उमहतु है ।।

गोपियों को लगता है कि आज ब्रज का गोपिकाएँ कृष्ण के बिना अनाथ हैं इसीलिए मेघ इतने जोरों में घिर आए हैं और जल की लहा छेहैं वर्षा कर रहे हैं और अपना बदला चुकाना चाहते हैं । जब वर्षा ऋतु विरहिणी को प्राणान्तक कष्ट देकर उसकी सब प्रकार दुर्दशा कर डालती है तब वह जीवन से सब प्रकार निराश होकर वर्षा के उपकरणों को और भी ललकारती है—

घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घेरि,
छहरि छहरि विष बूँद बरसावै ना ।
'द्विजदेव' की सौं अब चूकि मत दाँव अरे
पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना ॥
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ अरे
मटकि मटकि मोर ! सोर तू मचावै ना ॥
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चाहत तज्यौई अब
कत नभचंद तू अकास चढ़ि धावै ना ॥

ऐसा दुख भरा जीवन लेकर उसे क्या करना है। ऋतुजनित तीव्र विरहावेग में भर कर घनानंद की विरहिणी ने भी बहुत कुछ इसी प्रकार की बात कही थी—

कारी क्रूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै ।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यौं ही,
चातक ! घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै ॥
आनंद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे
तौ लौं रे डरारे बजमारे घनघोरि लै ॥ (घनआनंद)

ऋतुओं की दुःखदायिनी प्रवृत्ति को देख कर ही विरहिणी कृष्ण के अनेक नामों को निरर्थक सिद्ध करती है—

देखि मधुमास की इतीक अनरीति
मधुसूदन जु होते तौ न औते कहो काहे कौं ।
जानि ब्रजबूड़त जु होते गिरधारी तौ पै
ऊधो इत तुमहिं पठौते कहौ काहे कौं ॥
'द्विजदेव' प्यारे पिय पीतम जु होते तौ पै
ब्रज में बढ़ौते दुख सोते कहौ काहे कौं ।
बसि कै बिदेस बीजुरी सी ब्रजबालनि कौं
होते घनस्याम तौ बरौते कहौ काहे कौं ॥

द्विजदेव जी की कल्पना शक्ति अच्छी जान पड़ती है, उसका नवोन्मेष सराहनीय है। अनेक अभिनव भावों और चित्रों तक पाठक उनकी कल्पना की डोर के सहारे जाता है। ऊपर का छंद ही इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। अन्यान्य उद्धरणों में भी कल्पना शक्ति का यथेष्ट विकास देखा जा सकता है। उनकी कल्पना संभावना की सीमा कम लाँघती है—

द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोंगरे मरुअ दौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयौ सो चंद;
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ।।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्विजदेव का विरह वर्णन प्रभावपूर्ण है और ऋतु-प्रकृति द्वारा उद्दीप्त होने पर विरह की व्यंजना अत्यन्त रमणीय है।

अब समग्र रूप से द्विजदेव के भाव पक्ष के संबन्ध में इतना सहज ही कहा जा सकता है कि उनके काव्य में ऋतु-वर्णन पर्याप्त सहृदयता से किया गया मिलता है और प्रणय के भी संयोग-वियोग परक रम्य चित्र उनके काव्य में उपलब्ध हैं। ऋतुओं विशेष कर वर्षा और वसन्त का वर्णन कवि ने जिस समारोह ,और अभिनिवेश से किया है वह देखते ही बनता है तत्संबन्धी एक एक छन्द वर्णित ऋतु का वातावरण प्रस्तुत करने अथवा चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। कवि ने इन वर्णनों को सहज कल्पना शक्ति द्वारा अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान करने की सफल चेष्टा की है। उन्होंने दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय लिया है। फिर ऋतु छटा के बीच प्रणय के नाना मधुर भावों का स्वाभाविक विकास भी सराहनीय सफलता से किया गया है। द्विजदेव में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है और रीति में ही बँधे रहने का कोई आग्रह नहीं है। उन्हें स्वच्छन्द धारा का कवि मानने का कदाचित यही कारण है। द्विजदेव ने कोई रीति-ग्रन्थ नहीं लिखा पर इस दृष्टि से वे मुझे बिहारी और सेनापति के अधिक निकट प्रतीक होते हैं ; घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर के निकट उतना नहीं। द्विजदेव का प्रेम वैयक्तिक न होने के कारण उसमें उक्त कवियों की सी स्वच्छन्दता और अनुभूति-तीव्रता का अभाव है किन्तु इससे उनकी रचना की श्रेष्ठता में कोई बाधा नहीं पड़ती। मेरे विवेचन का आधार यह नहीं है कि रीतिबद्ध होने से ही कोई कवि हीन कोटि का है और रीतिमुक्त होने से ही कोई उच्चत्तर कोटि में पदार्पण करता है। प्रेम चित्रण करते हुए द्विजदेव ने जैसी मधुर और हृदयग्राहिणी उद्भावनाएँ की हैं वे अपनी उपमा आप हैं —

'तू जो कहै सीख लौनौ रूप सों मों अँखियान कौं लोनी गई लगि।'

कला पक्ष

अब कवि के काव्य की शैली अथवा कला पक्ष पर संक्षिप्त विचारण के अनंतर यह प्रसंग समाप्त किया जाएगा। द्विजदेव की भाषा परिमार्जित ब्रज भाषा है। उसमें जहाँ ब्रज बोली के ठेठ रूप का त्याग है वहीं संस्कृत शब्द-बाहुल्य का भी अभाव हैं। संक्षेप में कथ्य यह है कि संस्कृत-प्रधान शब्दावली द्वारा ब्रजभाषा का माधुर्य उनकी भाषा में आहत नहीं होने पाया है। दूसरी विशेषता यह है कि उनकी भाषा में प्रवाह

और मिठास में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाई है और भाषा के स्वरूप में साहित्यिकता विद्यमान है। साहित्यकता से अभिप्राय यह है कि उनकी भाषा ब्रजभाषा के धुरीण साहित्यिकारों —बिहारी, देव, दास, पद्माकर, मतिराम, घनानन्द, रसखान, सेनापति आदि—की भाषा के मेल में है। तीसरी बात यह है कि उनकी भाषा में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं, वह सर्वथा स्वाभाविक है। चौथी बात यह कही जा सकती है कि उनकी भाषा में भाषा के दक्ष प्रयोक्ता की भाँति लोच और लाघव मिलता है, मुहावरेदानी मिलती है और अधिकारपूर्ण भाषा लिखने वाले की सी उक्तिभँगिमा मिलती है। संक्षेप में यह कि द्विजदेव भाषा मात्र के आधार पर ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाने के अधिकारी हैं। उनकी भाषा में शैथिल्य तो दूर सुघड़पन, सुसंगठन और प्रभाव है। उसमें चित्र प्रस्तुत करने और नाना प्रकार की व्यंजनाएँ देने की पूर्ण क्षमता है। वैसे तो द्विजदेव की कविता के अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं किन्तु इस समय उनकी भाषा की जिन विशेषताओं का आकलन किया गया है उसे चरितार्थ करने वाली कुछ पंक्तियाँ मात्र उद्धृत की जा रही हैं—

क. होते हरे नव अंकुर की छवि छार कछारन में अनियारी।
त्यों 'द्विजदेव' कदंबन गुच्छ नए-ई-नए उनए सुखकारी॥

ख. धूँधुरित धूरि धुरवाँन की सुहाई नभ
जलधर धारा धरा परसन लागी री।
'द्विजदेव' हरी भरी ललित कछारैं त्यों
कदंबन की डारैं रस बरसन लागी री॥
(प्रवाह और सहज सानुप्रासिकता)

ग. डोलि रहे बिकसे तरु एकै, सु एकै रहे हैं नवाइ कै सीसहिं।
त्यौं 'द्विजदेव' मरंद के ब्याज सौं एकै अनंद के आँसू बरीसहिं॥

घ. औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलै
औरै भाँति सबद पपीहन के बै गए।
औरै भाँति पल्लव लिए हैं बृन्द बृन्द तरु
औरै छविपुञ्ज कुंज कुंजन उनै गए॥
(चित्रात्मकता)

ङ. फेरि वैसे सुरभि समीर सरसान लागे
फेरि वैसैं बेलि मधु भारन उनै गईं।

च. 'द्विजदेव' जू नैक न मानी तबै बिनती करी बार हजारन की।
इक माखन चोर के जोर लई छवि छीनि सिखी पखवारन की॥
(व्यंजना प्रवणता और भावतारल्य)

छ. बीरा खाइ आए कितै आपके अनोखे नैन।

ज. या कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै।

झ. इन अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई।

(मुहावरेदानी)

ञ. पानिप के भारन सँभारत न गात, लंक
लचि लचि जाति कच भारन के हलकैं।

ट. तू जो कहै सखि लोनो सरूप सौ मो अँखियान मैं लोनी गई लगि।

ठ. पंथ ही मैं कंत के जु होत यह हाल तौ पै
लाल को मिलनि ह्वैहै बाल की दसा धौं कौन।

ड. आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज
चलन समै में चल पलन दगा दई॥

ढ. सखि बीस बिसै निसि आहीं कहूँ
बन बौरे बसंत की बाय लगी।

(उक्ति सौन्दर्य)

शैली अथवा अलंकृति की ओर द्विजदेव का ध्यान साधारणतः नहीं है। शैली उनके व्यक्तित्व का अंग है और कवि उस दिशा में लेशमात्र भी सचेष्ट नहीं। शब्द और अर्थ दोनों के अलंकार उनकी कविता में सर्वत्र सुलभ हो ऐसा नहीं है जैसा कि रीतिकाल के कवियों में साधारणतया दृष्टिगोचर होता है। द्विजदेव की कविता में अलंकार ढूंढने पर मिलते हैं। अलंकारों का अभाव है ऐसा मेरा आशय नहीं वरन् यह कि द्विजदेव भावप्रवण कवि थे, भाव संवेदित करना उनका मूल लक्ष्य होता था। यदि प्रसंग के लिए अलंकृत भाषा शैली अपेक्षित रही है तभी उसका प्रयोग हुआ है अन्यथा नहीं। द्विजदेव के कितने ही छन्द ऐसे दिये जा सकते हैं जिनमें काव्य सौन्दर्य पूरा विद्यमान है पर अलंकार एक भी नहीं। ऐसे छन्दों में काव्य-सौन्दर्य भाव पर आधारित है और आधारित कवि की सहज कथन शैली पर। सहजता और निर्व्याजता का भी अपना सौन्दर्य होता है। वे अलंकारिक जो अलंकार के बिना काव्य की कल्पना ही नहीं कर सकते ऐसे स्थलों पर कोई अलंकार न पाकर स्वभावोक्ति मान लेते हैं। द्विजदेव के ऐसे छन्द काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता का खण्डन करते हैं—

सुर ही के भार सूधे-सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि रहैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नैकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥

खोलि इन नैननि निहरौं तौ निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौन भौन ।
चाँदनी के भारन दिखात उनयौ सौ चंद
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ।।

उनकी निरलंकृत सरल-स्वाभाविक-निर्व्याज शैली जिसमें वक्तव्य वस्तु ही प्रधान है स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का द्योतन करती है । अलंकार निरपेक्षता भी रीतिमुक्त काव्य का एक प्रमुख लक्षण है । जहाँ तहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, मानवीकरण, वीप्सा आदि के उदाहरण मिलते हैं । उन्हें नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

क. भाजीई भभरि सो तो मान मधुकर आली,
आज ब्याज-कज्जल कलित अँसुवान के । (रूपक)

ख. बाहन मनोरथ, उमाहि संगवारी सखी,
मैनमद सुभट मसाल मुखचंद री । (रूपक)

ग. त्यौं द्विजदेव मरंद के व्याज सौं एकै अनंद के आँसू बरीसहिं ।
तैसैई ह्वै अनुराग भरे, कर पल्लव जोरि कै एकै असीसहिं ।।
(मानवीकरण)

घ. द्विजदेव की सौं एतो हो तो उपहास कब
मानन्द हूँ कै अरविन्द-अवि ओले तें । (प्रतीप)

ङ. दाबि-दाबि दंतन अधर छतवंत करै
आपने ही पाइँन की आहट सुनति स्रौन । (वीप्सा)

संक्षेप में द्विजदेव की कलात्मक प्रवृत्तियाँ यही हैं । कवित्त-सवैया रीतिकाव्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध छन्द रहे हैं । द्विजदेव ने इन्हें ही अपने काव्य में व्यवहृत किया है । उन्हें सवैया की अपेक्षा कवित्त अधिक प्रिय रहा है । छन्दों में निर्दोषिता है यह कहने की आवश्यकता नहीं । उनमें नाद और लय का सौन्दर्य विद्यमान है । रीतिबद्ध धारा के कवियों के समान द्विजदेव सचेत कलाकार न थे । वे भी भावविवश हो कि कविता लिखते थे किन्तु उनके भाव विवशता घनानंद या बोधा की कोटि की न थी । वे सांसारिक जीव थे, महाराज थे । लौकिक संपदा और भोग सामग्री की उन्हें क्या कमी थी ? किन्तु वृत्ति उनकी सांसारिक ही थी, उनका काव्य इसका प्रमाण है । रीति स्वच्छन्द अधिकांश कवियों में भी यही बात मिलती है । उनके लिए यह लोक ही सर्वस्व रहा है । परलोक की उन्हें परवाह न थी । राधाकृष्ण का प्रेम वर्णन

करते हुए उन्होंने परलोक की कामना नहीं की। उन्हें लौकिक प्रेम का ही प्रतीक मान कर चले हैं। प्रेम और सौन्दर्य यही उनके जीवन की पिपासा थी। उनके काव्य में यह शुभ लक्षण है कि प्रेम की परिणति उन्हें राधा और कृष्ण अथवा गोपी और कृष्ण में दिखाई पड़ी तथा सौन्दर्य का चरम रूप भी इन्हीं पौराणिक देवताओं अथवा प्रकृति के विराट प्रांगण में दिखाई पड़ा। रूप और छटा के इन रूपों में तन्मय होने वाले द्विजदेव ने चमत्कार प्रवण काव्य कला को तिलांजलि दे दी और इसीलिए ऋतु-रूप सौदर्य और प्रेम का उपासक यह कवि ब्रजकाव्य साहित्य में अमर हो गया है।